हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला—४

अरिस्तू की राजनीति

(अरिस्तू-कृत पौलिटिक्स और अथनइयोन् पौलितेइया का
मूल ग्रीक से अनुवाद)

अनुवादक
श्री भोलानाथ शर्मा
(अध्यक्ष संस्कृत विभाग, बरेली कालेज)

प्रकाशन ब्यूरो
उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

1089

मूल्य
आठ रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भंडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह

सचिव

हिन्दी परामर्श समिति

निवेदन

प्लातोन की पौलितेइया के हिन्दी अनुवाद "आदर्श नगर-व्यवस्था" की प्रस्तावना लिखते समय मैंने अरिस्तू की राजनीति के हिन्दी अनुवाद को आरम्भ करने की सूचना दी थी। हर्ष है कि अब इस ग्रन्थ के भी प्रकाशन का अवसर प्राप्त हुआ है। राजनीति के विषय पर अरिस्तू की दो पुस्तकें उपलब्ध हैं— "राजनीति" और "अथेन्स का संविधान"। इन दोनों ही रचनाओं का अनुवाद हिन्दी-प्रेमियों के लिए प्रस्तुत कर दिया गया है। अरिस्तू के कुछ राजनीति-संबंधी विचार उसके सदाचार शास्त्र और भाषण-कला संबंधी ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं परन्तु उनको यहाँ संगृहीत नहीं किया गया है क्योंकि एक तो वे सब विचार उपर्युक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित विचारों की प्रतिध्वनि मात्र हैं और दूसरे यथावसर इन दोनों ग्रन्थों का भी पूरा अनुवाद भविष्य में करने का विचार है। आशा है कि इस पुस्तक में पाठकों को अरिस्तू के राजनीतिक विचारों का पूरा परिचय मिल जायगा।

मैंने अपने पौलितेइया अथवा रिपब्लिक के हिन्दी अनुवाद को एक "धृष्टता" कहा था। प्रस्तुत अनुवाद उस धृष्टता की पुनरावृत्ति है। अनुवाद का कार्य आज से लगभग ८ वर्ष पूर्व साहित्य-सम्मेलन के द्वारा प्रेषित एक प्रकार के "नस्तालीक" ग्रीक टाइप में १६०५ ई० में छपी मूल पुस्तक से आरंभ किया गया था। यदि पिछली शताब्दी के एक ग्रीक व्याकरण में इस टाइप की कुञ्जी न मिल जाती तो अनुवाद-कार्य आरंभ नहीं हो सकता था क्योंकि इधर हाल में प्रकाशित ग्रीक भाषा के मेरे देखे हुए व्याकरणों में उस 'टाइप' का परिचय नहीं मिला। यह भी एक प्रकार से अनायास और अकस्मात् लाभ ही हुआ। फिर आगे चलकर तो बरेली कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल सुधांशुभूषण बनर्जी की कृपा से अरिस्तू की राजनीति का न्यूमैनवाला अधिक कीमती संस्करण भी प्राप्त हो गया और अनुवाद-कार्य में उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया।

यद्यपि यूनानी अथवा ग्रीक भाषा आर्य परिवार की भाषा है और संस्कृत भाषा के साथ इसका निकट संबंध है तथापि यह एक कठिन भाषा है। मेरा इस भाषा

१०४९

से जो परिचय है वह किसी भी अर्थ में पूर्ण नहीं है। अतएव इस अनुवाद में मुझे कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा है और इसमें कितनी त्रुटियाँ हैं इसे जितना मैं जानता हूँ उतना संभवतया अन्य लोग कम जान सकेंगे। फिर भी मैंने यह धृष्टता की ही है और वह इसलिए कि एक तो ऐसे कार्य द्वारा ही मुझे अपने ग्रीक भाषा के ज्ञान को बढ़ाने और परिमार्जित करने की प्रेरणा और गति मिलती है और दूसरे मैं समझता हूँ कि मेरी इस धृष्टता से खीजकर, संभव है, कोई सचमुच योग्य व्यक्ति इस आवश्यक कार्य को अपना लें। ग्रीक भाषा के कुछ चोटी के अमर-अमूल्य ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करना ऐसा कार्य है जिसे हमारे प्रथम श्रेणी के विद्वानों को हाथ में लेना चाहिए। मेरी आकांक्षा इससे अधिक नहीं है कि मेरी लेखनी की कृतियाँ इस क्षेत्र में आगे चलकर प्रवेश करनेवाली प्रतिभाओं के लिए "पायंदाज" बनें।

चतुर पाठक देखेंगे कि प्रस्तुत अनुवाद में एक कमी है। अनुवादक संस्कृत भाषा का अध्यापक है और उसको भली भाँति विदित है कि संस्कृत भाषा में अरिस्तू के समकालीन कौटिल्य की अर्थशास्त्र नामक रचना विद्यमान है। फिर भी अनुवादक ने कहीं भी इन दोनों ग्रन्थों की तुलना नहीं की है। सच तो यह है कि मैंने अरिस्तू की राजनीति की अपेक्षा अर्थशास्त्र का अध्ययन अधिक किया है और एक समय मेरा विचार अरिस्तू की राजनीति और अर्थशास्त्र की तुलना करते हुए "डाक्टरेट" का निबन्ध लिखने का था। इतना सब कुछ होते हुए भी जो मैंने प्रस्तुत अनुवाद में दोनों ग्रन्थों की तुलना नहीं की है उसके दो कारण हैं, एक तो यह कि टिप्पणियों में यत्र-तत्र तुलनात्मक विचार प्रस्तुत करने पर इन दोनों महान् लेखकों और उनकी कृतियों के प्रति पूर्ण न्याय होना संभव नहीं था, दूसरे यदि भूमिका में यह विषय उठाया जाता तो उसका कलेवर इतना बढ़ जाता कि अनुचित प्रतीत होता।

अरिस्तू और उसके गुरु प्लातोन के विचारों की तुलना भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। यदि संभव होता तो उपर्युक्त कारणों से इनकी तुलना को भी बचा जाता, क्योंकि थोड़े से स्थान में इन दोनों की तुलना भी कठिन है। पर अरिस्तू की राजनीति के अनुवाद और उसकी भूमिका में प्लातोन की चर्चा और अरिस्तू के साथ उसकी तुलना न करना संभव नहीं था। तथापि जान-बूझकर इस दिशा में अनिवार्य अल्पतम विषयों की ओर संकेत किया गया है। भूमिका और टिप्पणियों में ऐसी सामग्री का समावेश किया गया है जो राजनीति की पृष्ठभूमि और तत्कालीन वातावरण को समझने में सहायक होगी।

ग्रीक भाषा के ग्रन्थों के अनुवाद के संबंध में एक कठिन समस्या नामों और शब्दों के उच्चारण की है। इस समस्या का मेरा अध्ययन आज भी चल रहा है। कठिनाई यह है कि ग्रीक वर्णमाला इतनी अपूर्ण है कि उसमें उच्चारण झमेला बन ही जाना चाहिए था; फिर कोढ़ में खाज यह कि ग्रीक शब्दों का उच्चारण अनेक युगों में बदलता रहा है। प्राचीन ग्रीक भाषा का उच्चारण आज एक पहेली है। प्रो० स्टूर्टेंवाण्ट इत्यादि विद्वानों की रचनाओं से इस पहेली की जटिलता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। नग्न सत्य है यह कि प्राचीन उच्चारण का वास्तविक ज्ञान लुप्त हो चुका है और आजकल के भिन्न-भिन्न देशों के विद्वानों के व्यवहार में भी एकता नहीं है। यह स्थिति देखकर देवनागरी वर्णमाला के प्रति मस्तक झुक जाता है जिसकी कृपा से ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक के भारतीय साहित्य का उच्चारण "अधिकतम" निर्भ्रान्त बना हुआ है। सबसे अधिक जटिल समस्या प्राचीन ग्रीक भाषा के स्वरों के उच्चारण की है। प्रस्तुत लेखक का विचार अरिस्तू के काव्यशास्त्र का एक ऐसा संस्करण प्रस्तुत करने का है जिसमें इस पुस्तक का ग्रीक वर्णमाला का पाठ, नागरी लिपि में प्रत्यक्षरीकृत पाठ, तथा संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद, सम्मिलित ों। इसके लिए मैं ग्रीक वर्णमाला की सभी संभव ध्वनियों का नागरी रूपान्तर प्रस्तुत करने में लगा हुआ हूँ। पर इस समय तो मैं पाठकों से प्रस्तुत अनुवाद में आये हुए नामों और शब्दों के नागरी-रूपान्तरों के लिए क्षमा-याचना ही कर सकता हूँ।

इस अनुवाद-कार्य में मुझे पग पग पर अनेकों ग्रन्थों और ग्रन्थकारों से सहायता मिली है। इस संबंध में प्रयुक्त ग्रन्थों की तालिका अन्यत्र दे दी गयी है। यहाँ मैं उन सब महानुभावों का आभार सहर्ष और सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ। पर कुछ ग्रन्थकारों एवं विद्वानों की रचनाओं से मुझे अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है। इन महानुभावों में प्रो० न्यूमैन, सर डेविड रॉस, जौवेट, सर अर्नेस्ट बार्कर, डा० याएगर, डा० जैलर, डा० टेलर, म्यूर एवं लियों रोबिन का नाम उल्लेखनीय है। अरिस्तू के अध्ययन के लिए इन विद्वानों का आभार मानना एक हर्षप्रद कर्तव्य का पालन करना है।

माघ शुक्ला एकादशी, २०१२

निवेदक
भोलानाथ शर्मा

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

द्वितीय पुस्तक

तृतीय पुस्तक

चतुर्थ पुस्तक

पंचम पुस्तक

विषय पृष्ठ

षष्ठ पुस्तक

सप्तम पुस्तक

अष्टम पुस्तक

परिशिष्ट

(अरिस्तू के अथेनाइयोन् पौलितेइया (अथेन्स का संविधान) का हिन्दी अनुवाद)

भूमिका

यूनानी चिन्तन की धारा में अरिस्तू का महत्त्व

ग्रीक दर्शन के किसी भी इतिहास को पढ़ने पर यह पता चल सकता है कि यूनानी चिन्तन की धारा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान सॉक्रातेस, प्लातोन और अरिस्तू की गुरु-शिष्य-परम्परा का है। एक भारतीय लेखक ने तो यहाँ तक कह डाला है कि इस प्रकार के श्रेष्ठ चिन्तकों की तीन पीढ़ियाँ अन्यत्र सारे संसार में कहीं नहीं मिलतीं। संभवतया वह पराशर, व्यास और शुकदेव की परम भागवतों वाली पिता, पुत्र, पौत्र की तीन पीढ़ियों से अपरिचित हैं, अन्यथा ऐसा न लिखते। तथापि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यदि यूनानी दर्शन में से सॉक्रातेस, प्लातोन और अरिस्तू को निकाल दिया जाय तो कुछ भी शेष नहीं रह जाता। सॉक्रातेस से पूर्व का चिन्तन यूनानी दर्शन की पूर्व-पीठिका है और अरिस्तू के पश्चात् का चिन्तन निर्वाण की ओर अग्रसर होते हुए दीपक की टिमटिमाहट है जो प्लोतिनस की रचनाओं में निर्वाण के पूर्व अन्तिम बार भड़ककर बुझ जाती है।

फिर भी इन तीन गुरु-शिष्यों से संसार को जो प्रकाश मिला है वह मानव की अमूल्य निधि है। इनमें से सॉक्रातेस ने तो कुछ लिखा नहीं। उसकी तुलना तो कबीरदास से की जा सकती है जिन्होंने कहा था कि "मसि कागद छूवो नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ"। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि एक समय समग्र अथेन्स नगर उसके वार्तालापों से आन्दोलित हो उठा था। अपनी अन्तरात्मा की पुकार का अनुसरण करते हुए उसने अन्य सब व्यवसायों को लात मार सत्य, सदाचार और न्याय इत्यादि की खोज को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। इस खोज में उसने निर्ममतापूर्वक बड़े बड़ों की धारणाओं का खोखलापन उद्घाटित किया। अन्त में उसको अपने विचार-स्वातंत्र्य का मूल्य चुकाना पड़ा। अथेन्स ने अपने आलोचक को क्षमा नहीं किया। लोक न्यायालय ने सॉक्रातेस के शरीर को विष का प्याला पिलाकर मिटा दिया पर उसके सत्यान्वेषण ने उसको अमरता प्रदान की। मनुस्मृति में ब्राह्मण के लिए जो आदेश निम्नलिखित श्लोक में मिलता है वह सॉक्रातेस के जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुआ।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेद्विपादिव ।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

सॉक्रातेस का शिष्य प्लातोन यह सब देखकर कितना विषण्ण हुआ होगा, यह कल्पना करने का विषय है। पर जिस लोक-विक्षोभ ने सत्यान्वेषक सॉक्रातेस के प्राण ले लिये, वह क्या प्लातोन और सॉक्रातेस के घनिष्ठ संबंध से परिचित नहीं था ? अतएव कुछ समय तक प्लातोन को अपने प्राणों की रक्षा के लिए अथेन्स को त्यागना पड़ा। उसने अपना जीवन अपने गुरु के उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्सर्ग कर दिया। उसने कहा कि जब तक नगरों के शासक विचारवान् दार्शनिक नहीं होंगे तब तक अन्याय का अन्त और शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए उसने क्या क्या कष्ट नहीं सहे। वह अथेन्स के सम्भ्रान्त परिवारों से संबद्ध था एवं उसके संबंधियों का नगर की राजनीति में पर्याप्त प्राबल्य था। यदि वह चाहता तो राजनीति में सक्रिय भाग लेकर उच्च पद पर आरूढ़ हो सकता था। पर उसने यह सब महत्त्वाकांक्षाएँ त्यागकर शिक्षक और लेखक के जीवन को वरण किया। परन्तु जब उसको ऐसा अवसर प्राप्त होता प्रतीत हुआ कि वह ग्रीक जगत् की राजनीति को अपने आदर्शों की दिशा में मोड़ सकेगा तो उसने दो बार सिराकूज के शासकों को आदर्श शासक बनाने का प्रयत्न भी किया। उसको इस उच्चाकांक्षा का महँगा मूल्य चुकाना पड़ा—दास के रूप में बिकना पड़ा। एक प्रकार से हरिश्चन्द्र की कथा की पुनरावृत्ति उसके जीवन में हुई। किंबहुना जब उसने देखा कि समय इतना विपरीत है कि उसके विचारों को वास्तविक राजनीति में कार्यान्वित करना संभव नहीं है तो उसने यूरोप के प्रथम विश्वविद्यालय—अकादेमी—की स्थापना की और अपने राजनीतिक आदर्शों को अनिन्द्य गद्य-रचनाओं के रूप में अमर रूप प्रदान किया।

जब प्लातोन अपने विद्यालय से दूसरी बार आदर्श राजा के निर्माण की अभिलाषा हृदय में लेकर सिराकूज गया हुआ था तो उसकी अनुपस्थिति में अरिस्तू ने अकादेमी में विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया। और वह लगभग २० वर्ष अकादेमी में ज्ञान-संचय करता रहा। प्लातोन इस शिष्य की प्रतिभा और परिश्रम से अत्यन्त प्रभावित था। अरिस्तू विद्यालय का "मस्तिष्क" था और पुस्तकों का प्रेमी। अपने गुरु के प्रति उसके हृदय में अगाध श्रद्धा थी पर जैसे जैसे अरिस्तू की प्रतिभा परिपक्वता की ओर बढ़ती गयी वैसे वैसे दोनों के दार्शनिक विचारों का भेद भी स्पष्ट होता गया।

तथापि यह बात निर्विवाद थी कि अरिस्तू भी अपने गुरु और दादागुरु की भाँति विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था ।

यूनानी राजनीति और दर्शन की किसी पुस्तक को उठाकर देखिये तो जहाँ आरंभ में भूमिका भाग में इन पुस्तकों के विद्वान् लेखक यूनान की प्रतिभा की तुलना प्राच्य देशों की प्रतिभा से करते पाये जायँगे वहाँ यही कहते मिलेंगे कि यूनानी मस्तिष्क अथवा बुद्धि की विशेषता उसकी युक्तियुक्तता अथवा विवेकपरायणता है । अर्थात् यूनानी बुद्धि लॉजिकल है, रैशनल है । पर जब हम उसी यूनानी मस्तिष्क के व्यवहार को देखते हैं तो हमको इन मनीषियों का दावा निराधार प्रतीत होता है । सॉक्रातेस को अथेन्स के न्यायालय द्वारा विषपान द्वारा प्राणदण्ड दिया जाना, प्लातोन को दासरूप में बेचना और अरिस्तू जैसे प्रकाण्ड एवं प्रतिभाशाली विद्वान् को अकादेमी का प्रधान न बनाकर स्प्यूसिप्पस् जैसे साधारण व्यक्ति को यह पद देना, अलैक्ज़ाण्डर का विश्वविजय की महत्त्वाकांक्षा धारण करके अपने पर भी संयम न रख सकना एवं इसी कारण अकाल कालकवलित होना---इत्यादि कितने ही प्रमाण यूनान के इतिहास में से ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि व्यक्तियों की बात दूसरी है, सामूहिक रूप से यूनानी प्रतिभा विवेकशील नहीं थी । तभी तो अरिस्तू को अलैक्ज़ाण्डर की मृत्यु के पश्चात् (अथेन्सवासी कहीं फिलासफी, दर्शन, के प्रति दूसरी बार अपराध न कर बैठें इसलिए) अथेन्स को त्याग देना पड़ा ।

यद्यपि अरिस्तू को अपने विद्यामातृमन्दिर---अकादेमी---में अभीष्ट सम्मान प्राप्त नहीं हुआ, उसने अपने अध्यवसाय से तथा अपने शिष्य अलैक्ज़ाण्डर और मित्रों की सहायता से एक दूसरा विद्यालय स्थापित किया और वहाँ पर एक नवीन वैज्ञानिक शोध की प्रक्रिया आरंभ की । जीवन के अन्तिम २० वर्षों में उसने अपने विविध विषयों के ग्रन्थों के रूप में प्रथम ज्ञानकोष का निर्माण किया । इस समग्र उद्योग से उसके द्वारा वह ज्ञानज्योति जगाई गई जो सहस्रों वर्षों तक पाश्चात्य देशों में मानव के जीवन-पथ को आलोकित करती रही ।

पाश्चात्य जगत् में आज जिस सभ्यता का बोलबाला है उसकी जड़ें प्राचीन यूनान की सभ्यता में निहित हैं । यह यूनानी सभ्यता अरिस्तू की प्रतिभा में अधिकतम आत्मचेतना को प्राप्त हुई । अतएव आज के पाश्चात्य जगत् को (रूस के सहित) समझने के लिए अरिस्तू को समधिक मात्रा में समझना आवश्यक है । आज का युग

विज्ञान का युग है और अरिस्तू ने संसार को सबसे प्रथम वैज्ञानिक भाषा दी थी। यूरोप का कोई नवीन और प्राचीन दर्शन-प्रस्थान ऐसा नहीं जो बिना अरिस्तू के संदर्भ के भली भाँति समझा जा सके। चाहे डाइलैक्टिकल मैटीरियलिज्म (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) हो चाहे फिलॉसफी आफ औगैंनिज्म (अवयवी दर्शन) हो, सबके कल्पना-भवन की नींव अरिस्तू के विचार में है---वे सब उसी वाणी का उपयोग करते हैं जो अरिस्तू ने उन्हें सिखाई है।

अनेकों शताब्दियों तक ईसाई धर्म को सबसे समर्थ समर्थन अरिस्तू के तर्कशास्त्र और परा विद्या से ही मिला। यदि ईसाई धर्म को यह बल न मिला होता तो इस धर्म पर क्या बीती होती, यह कहना कठिन है। ईसाइयों के धर्म-विज्ञान का नाम "थियोलॉजी" सीधे अरिस्तू की भाषा में से ही उठा लिया गया है। यही बात "एक्लेलीसिया" (कलीसा, चर्च) के विषय में भी कही जा सकती है। इतना ही नहीं, ईसाई धर्म अपने अनेक सिद्धान्तों के लिए भी अरिस्तू का ऋणी है। ईसाइयों के सभी प्रसिद्ध दार्शनिक विचारक अरिस्तू के शिष्य थे। दूसरी ओर यदि इस्लाम के विकास पर दृष्टिपात करें तो वहाँ पर भी बहुत कुछ इसी प्रकार की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। अरब और स्पेन में इस्लाम के स्वर्णयुग में मुसलमान विद्वानों द्वारा अरिस्तू के दर्शन का व्यापक अध्ययन किया गया। अरबी भाषा में अरिस्तू की बहुत सी रचनाओं का अनुवाद हुआ। आजकल यह अनुवाद अरिस्तू के सम्पादकों के लिए पाठ-निर्धारण के साधक बन रहे हैं। सूद को अग्राह्य मानने का सिद्धान्त इस्लाम को अरिस्तू से ही मिला प्रतीत होता है।

राजनीति और समाजनीति के क्षेत्र में भी अरिस्तू ने समग्र यूरोप का पथ-प्रदर्शन किया है। इतिहास के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप देने में उसने पर्याप्त योगदान दिया था। अथेन्स के संविधान के रूप में उसने हमको विश्व के प्रथम संविधान की रूपरेखा प्रदान की है। काव्यकला के क्षेत्र में उसका काव्यशास्त्र यूरोप के आलोचना-साहित्य में सबसे अधिक व्यापक प्रभाववाला ग्रन्थ रहा है। यह छोटा सा अधूरा ग्रंथ सर्वथा विलक्षण है। अरिस्तू की प्रतिभा के आलोक की चमक और उसके विचारों का चक्रव्यूह हजारों वर्ष तक पश्चिम के देशों के मनीषियों के चिन्तन को बन्दी बनाकर अभिभूत किये रहा। आज भी उसका आकर्षण और उपयोगिता बिलकुल समाप्त हो गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। दान्ते के अमर शब्दों में, अरिस्तू ज्ञानवानों का गुरु ((ई)ल् माएस्त्रो दी कोलोर के साप्नो = विद्यावतां गुरुः) है।

अरिस्तू का जीवनचरित

अरिस्तू का जन्म ई० पू० ३६५-६४ में हुआ था और वह ६२ वर्ष तक जीवित रहा। भारतीय इतिहास में इस समय नन्द राजाओं का शासन-काल था। उसका जन्मस्थान स्तागिरा (स्तागिरस्) नामक नगर था जो खाल्किदिक प्रायद्वीप में स्थित था और आजकल स्तात्रो कहलाता है। यह नगर एक सामान्य सा छोटा नगर है। कुछ लोगों ने अरिस्तू को इस उत्तरी नगर का निवासी होने के कारण पूर्णतया ग्रीक चरित्र से युक्त नहीं माना है। पर उनकी यह धारणा ठीक नहीं है। स्तागिरा के निवासी शत-प्रतिशत सच्चे ग्रीक थे और वे यवन भाषा की एक उपभाषा बोलते थे। उसके पिता का नाम निकोमारवस् था और वह वैद्यों की पंचायत का सदस्य था। पिता के वंशधर मेसेनिया से ई० पू० ८वीं अथवा ७वीं शताब्दी में स्तागिरा में आ बसे थे। अरिस्तू की माता का नाम फ़ैस्तिस् था और उसके पूर्वज यूबोइया प्रदेश की खाल्किस् नगरी से आये थे। जीवन के अन्त में अरिस्तू ने इसी नगरी में अपना निवासस्थान बना लिया था और यहीं उसका शरीर छूटा।

अरिस्तू का पिता निकोमाखस् मकैदोनिया के राजा अमिन्तास् द्वितीय का राजवैद्य और मित्र था। ऐसा अनुमान करना असंभव नहीं है कि अरिस्तू का लड़कपन मकैदोनिया की राजधानी पैल्लास में व्यतीत हुआ होगा। अरिस्तू ने जो अपने वैज्ञानिक जीवन में भौतिक विज्ञान और जीवविज्ञान के क्षेत्र में अधिक रुचि प्रदर्शित की इसका मूल इसी वैद्यकुल में जन्म होने और बाल्यकाल में एक विख्यात वैद्य-पिता के प्रभाव में रहने में छिपा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि इन वैद्यों के परिवारों में लड़कों को जर्राही का काम बालकपन से ही सिखाने की परम्परा थी। संभव है,अरिस्तू ने इस दिशा में अपने पिता की यदा-कदा सहायता भी की हो। दुर्भाग्यवश अरिस्तू के लड़कपन में ही उसके माता-पिता दोनों का ही शरीरान्त हो गया। पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसके माता-पिता ने उसके लिए पर्याप्त सम्पत्ति छोड़ी थी। इस दुर्घटना के पश्चात् उसका एक संबंधी प्रौक्षेनस् उसका संरक्षक बना। प्रौक्षेनस् ने उसको १८ वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्राप्त करने के लिए अथेन्स भेज दिया जो उस समय सारे ग्रीक जगत् में शिक्षा और विद्या का श्रेष्ठ केन्द्रस्थान था। अरिस्तू ई० पू० ३६७-६६ में अथेन्स में आया।

अथेन्स में अरिस्तू ने प्लातोन की अकादेमी नामक शिक्षा-संस्था में प्रवेश किया। लगभग १९ या २० वर्ष तक, प्लातोन की मृत्यु के समय तक, अरिस्तू अकादेमी का

सदस्य रहा। जिस समय वह अकादेमी में प्रविष्ट हुआ प्लातोन सिराकूज गया हुआ था। क्योंकि अकादेमी उस समय की सबसे श्रेष्ठ शिक्षा-संस्था थी अतएव अरिस्तू उसमें प्रविष्ट हुआ। जब गुरु और शिष्य का परिचय बढ़ा तो प्लातोन ने अरिस्तू के गुणों को पहिचाना। वह इस होनहार शिष्य को "सर्वोत्तम पढ़नेवाला" और "विद्यालय का मस्तिष्क" कहा करता था। अरिस्तू ने इसी समय से अपने पुस्तकालय का संग्रह आरंभ कर दिया था। इतना ही क्यों, क्या अरिस्तू जैसा व्यक्ति ३८ वर्ष की अवस्था तक कोरा समित्पाणि शिष्य ही बना रह सकता था ? उसने अपने गुरु की शैली का अनुसरण करते हुए अनेकों संवादों की रचना की। संभवतया इन संवादों का विषय अपने गुरु के विचारों की व्याख्या करना था। पर दुर्भाग्यवश यह सब संवाद, जिनकी शैली अत्यन्त हृदयहारिणी थी, अब विलुप्त हो गये हैं। याएगर इत्यादि विद्वानों ने बड़ी खोज से उनके कुछ वाक्यों और उनमें वर्णित सिद्धान्तों को एकत्रित करने का प्रयास किया है।

आरंभिक विद्यार्थी जीवन में अरिस्तू पूर्णतया प्लातोन के प्रभाव से अभिभूत था। पर धीरे धीरे जैसे जैसे उसका अपना विचार परिपक्वता को प्राप्त हुआ वैसे वैसे उसका अपने गुरु से मतभेद प्रकट होने लगा। कहते तो यहाँ तक हैं कि मतभेद के कारण दोनों के संबंध भी पूर्ववत् अच्छे नहीं रहे। कुछ भी हो अरिस्तू की समग्र रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर प्लातोन के प्रभाव की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। फिर मतभेद हो जाने पर भी अरिस्तू ने अपने गुरु के जीवन-काल में "गुरुकुल" को नहीं छोड़ा और आजीवन वह प्लातोन के प्रति श्रद्धावान् ही बना रहा। इस विद्यार्थी-जीवन के अनेकों मित्र उसके अभिन्न सखा बने रहे। अकादेमी कोई आजकल के ढंग की शिक्षा की संस्था नहीं थी। वह स्वतंत्र प्रकार से ज्ञान की खोज करनेवाले जिज्ञासुओं का समाज था। किसी विशेष प्रकार की विचार-पद्धति का कठोर नियंत्रण उसमें नहीं चलता था। ऐसे उत्तम वातावरण में जिस प्रथम कोटि के कुशाग्र बुद्धिवाले अध्ययनशील व्यक्ति ने अपने जीवन के श्रेष्ठ वर्ष "नून तेल लकड़ी" की चिन्ता से मुक्त रहकर केवल ज्ञानार्जन और सत्संस्कारों की उपलब्धि के निमित्त व्यतीत किये हों उसकी मानसिक कमाई का क्या कहना ? यह आशा करना ही व्यर्थ था कि "विद्यालय का मस्तिष्क" अन्त तक गुरु के विचारों का दर्पण-मात्र बना रहेगा। यदि ऐसा होता तो यह कहने की नौबत आती कि या तो अकादेमी की शिक्षा कोरी तोतारटन्त है अथवा अरिस्तू की प्रतिभा ही मौलिकताशून्य है। पर यह दोनों ही बातें ऐसी नहीं थीं। अरिस्तू का अपना मौलिक विकास अकादेमी के समय से ही आरंभ हो गया।

पर अपने नये मार्ग पर चल पड़ने पर भी अरिस्तू कृतघ्न नहीं था। अपने गुरु के विषय में उसने एक सुन्दर कविता लिखी थी। उस कविता के रहते हुए कोई व्यक्ति अरिस्तू को गुरुद्रोही सिद्ध नहीं कर सकता। उस कविता की कतिपय पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :—

"वह नर था, दुर्जन को करना जिसका नामोच्चार नहीं,
और प्रशंसा का भी जिसकी है उनको अधिकार नहीं।
वाचा और कर्मणा जिसने प्रथम व्यक्त यह किया विचार,
जो है साधु सुखी है सोई, और सभी निष्फल निःसार।
हाय नहीं कोई हममें है उसकी ममता करने योग्य।"

अकादेमी को छोड़ने के पूर्व संभवतया अरिस्तू ने प्राकृतिक विज्ञान का अत्यन्त गंभीर अध्ययन स्वयं आत्मप्रेरणा से किया था। स्यात् उसने कुछ शिक्षण कार्य भी आरंभ कर दिया था, पर उसके भाषण "रेतोरिक्" के विषय पर थे जिनमें उसने इसॉक्रातीस् के इस विषय के विचारों का खंडन किया था। तथापि वह स्वयं इसॉक्रातीस् की पद्धति से बहुत प्रभावित था। ऐसा भी संभव है कि उसके अकादेमी के निवासकाल की समाप्ति के आसपास उसके उपलब्ध ग्रंथों में से कुछ की रचना आरंभ हो गई थी। इन सब तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्लातोन के शरीरान्त के समय अकादेमी में अरिस्तू से अधिक योग्य व्यक्ति कोई नहीं था।

पर ३४८-४७ ई० पू० में प्लातोन की मृत्यु के पश्चात् प्लातोन के उत्तराधिकारी के पद पर स्प्यूसिप्पस् नियुक्त हुआ जो दर्शनशास्त्र को गणित में रूपान्तरित करने के लिए तुला रहता था। अरिस्तू इस प्रवृत्ति का विरोधी था। फिर अथेन्स का राजनीतिक वातावरण भी परदेशियों के लिए—विशेषकर मकैदौनिया से संबंध रखनेवाले व्यक्तियों के लिए—कुछ विक्षुब्ध हो उठा था। अतएव अरिस्तू को अकादेमी में बने रहना रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। वह अपने एक सहाध्यायी ग्जैनोक्रातीस् के साथ अथेन्स से अस्सौस् नामक नगर को चला गया। वहाँ पर अकादेमी की एक शाखा स्थापित थी। यहाँ आने के लिए उसको अतार्नेयस् के शासक हर्मेइयस् ने आमंत्रित किया था जो स्वयं एक समय अकादेमी में शिक्षार्थी के रूप में रह चुका था। हर्मेइयस जन्म से एक दास था पर अपनी योग्यता और कर्मठता के आधार पर उन्नति करते करते अतार्नेयस् का राजा बन गया था। अस्सौस् की

विद्वन्मण्डली इसी की संरक्षता में एकत्रित हुई थी। अपने मित्रों के प्रभाव से हर्मेइयस् दर्शनप्रेमी अथवा दार्शनिक वन गया। इस अनुकूल वातावरण में अरिस्तू ने लगभग ३ वर्ष व्यतीत किये। इन्हीं दिनों हर्मेइयस् की भानजी और गोद ली हुई पुत्री पीथियास् के साथ अरिस्तू का विवाह भी हो गया। इस संवंध से अरिस्तू की पुत्री का जन्म हुआ जिसका नाम माता के नाम पर पीथियास् ही रखा गया। अरिस्तू की प्रथम पत्नी का देहान्त थोड़े समय पश्चात् हो गया। तदुपरान्त उसने स्तागिरा की एक स्त्री हैर्पीलिस को बिना विधिवत् विवाह के अपनी जीवन-सहचरी वना लिया। हैर्पीलिस् से एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम निकोमाखम् था।

अस्सौस् से अरिस्तू लैस्बौस् द्वीप के नगर मितीलेन को चला गया। संभव है कि उसके अकादेमी के सहाध्यायी थियौफ्रास्तस् ने अरिस्तू के लिए मितीलेन में अच्छे निवासस्थान की व्यवस्था कर दी हो। एक दूसरा कारण यह हो सकता है कि इसी समय के लगभग अरिस्तू की रुचि जलचर जीवों के अध्ययन की ओर थी अतएव उसने चारों ओर समुद्र से घिरे हुए द्वीप को अपना निवासस्थान बनाना अधिक अच्छा समझा हो। उसके प्राणिविद्या संबंधी ग्रंथों में इस समय के निरीक्षण-परीक्षण का परिणाम भले प्रकार दृष्टिगोचर होता है। इसी समय के आसपास अरिस्तू के तत्त्वदर्शन और भौतिक विज्ञान के ग्रंथों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई होगी, इस प्रकार का निष्कर्ष आधुनिक शोध के आधार पर निष्पन्न हुआ है।

ई० पू० ३४३ में अरिस्तू का जीवन एक नवीन दिशा में मुड़ा। मकैदौनिया के राजा फिलिप के निमन्त्रण पर वह राजकुमार अलैक्ज़ाण्डर के गुरुपद पर नियुक्त हुआ। राजभवन पैल्ला नामक स्थान पर था। इस समय राजकुमार की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। इस पद की उपलब्धि से अरिस्तू के सम्मान और प्रभाव में वृद्धि अवश्य हुई होगी। फिलिप तो संभवतया अरिस्तू को बाल्यकाल से ही राजवैद्य निकोमाखस् के पुत्ररूप में जानता था और आगे चलकर संभवतया उसने उसके विशाल और विलक्षण ज्ञानार्जन की कथा भी सुनी होगी। अतएव अपने पुत्र के लिए उसने अरिस्तू को श्रेष्ठ अध्यापक समझकर अपने यहाँ वुलाया होगा। अरिस्तू ने भी अपने प्रभाव का उपयोग अपने जन्मस्थान स्तागिरा, अपने गुरुकुल अथेन्स और अपने मित्र थियौफ्रास्तस् के जन्मस्थान एरेसस् की ओर से फिलिप के रोप को निवारण करने के लिए किया। कहते हैं उसका मित्र थियोफ्रास्तस् भी उसके साथ पैल्ला को गया था।

पर इस बात का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता कि अरिस्तू का प्रभाव अलैक्ज़ाण्डर के जीवन पर कितना और कैसा पड़ा। संभवतया उसने अपने शिष्य को होमर के काव्य और नाटककारों की रचनाएँ मुख्यरूपेण पढ़ाई होंगी। उस समय की शिक्षा में इन्हीं ग्रंथों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। परम्परागत किंवदन्ती है कि अरिस्तू ने अपने शिष्य के लिए होमर के इलियाद् नामक महाकाव्य का सम्पादन किया था और "एकराट्तंत्र" एवं "उपनिवेश" नामक दो ग्रंथों की रचना की थी। संभव है कि पैल्ला के दरबार और मियैज़ा के कोट में निवास करते हुए अरिस्तू के मन में धीरे धीरे राजनीति के अध्ययन का बीज आरोपित हुआ हो तथा उसने सभी उपलब्ध राज्य-व्यवस्थाओं के संग्रह और अध्ययन की योजना बनाई हो। पर यह सब कल्पना की बातें हैं। वास्तविकता यह है कि अरिस्तू और अलैक्ज़ाण्डर के इस समय के संबंध के विषय में निर्भ्रान्त रूप से कुछ भी पता हमको नहीं है। संभव है कि दोनों के मध्य में घनिष्ठता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। ई० पू० ३४० में अलैक्ज़ाण्डर अपने पिता के स्थान पर शासक नियुक्त हुआ और उसकी शिक्षा की समाप्ति हो गई। अरिस्तू को यहाँ रहने से जो सबसे ठोस लाभ हुआ वह था अन्तिपातेर नामक सरदार की मित्रता। जब अलैक्ज़ाण्डर अपने एशिया की विजय के अभियान पर गया तो वह यूनान में अन्तिपातेर को अपना स्थानापन्न शासक नियुक्त कर गया और उस समय वह समग्र यूनान में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो गया।

ई० पू० ३४० में अरिस्तू अपने जन्मस्थान में आकर बस गया। कुछ समय पश्चात् ई० पू० ३३५-३४ में फिलिप की मृत्यु के पश्चात् अरिस्तू पुनः अथेन्स को लौट आया। इस समय से उसके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग आरंभ हुआ। एक ओर उसके शिष्य ने अपने पिता के सिंहासन को प्राप्त किया, दूसरी ओर अलैक्ज़ाण्डर के गुरु ने ज्ञानाराधन आरंभ किया।

शीघ्र ही अलैक्ज़ाण्डर विश्वविजय की ओर बढ़ा और उसका गुरु ज्ञानविजय की ओर। एक बार पुनः अकादेमी के मुख्याधिष्ठाता का पद रिक्त हुआ। पर अकादेमी ने अरिस्तू की ओर दृष्टिपात न करके उसके साथी खैनोक्रातेस् को मुख्याधिष्ठाता चुना। यद्यपि अरिस्तू ने इतने पर भी अकादेमी से अपना संबंध नहीं तोड़ा तथापि उसने अपने स्वतंत्र विद्यालय की ई० पू० ३३५ में स्थापना कर दी। अथेन्स नगर के उत्तर-पूर्व की ओर के उपनगर अपोलो में लीकेयस् का मन्दिर था। यहीं उसने अपना विद्यालय आरंभ किया। मन्दिर के नाम पर इसका नाम भी लीकेयस्

पड़ा। संस्कृत में इसको वृकेश्वर विद्यालय कह सकते हैं क्योंकि लीकेयस् संस्कृत के वृक शब्द का सजातीय है। सॉक्रातेस किसी समय इस स्थान पर प्रायः घूमने-फिरने आया करता था। परदेशियों को अथेन्स में अचल सम्पत्ति खरीदने का अधिकार नहीं था अतएव अरिस्तू ने यहाँ कुछ मकान किराये पर ले लिये और अपने विद्यालय की स्थापना कर दी। इस पर अकादेमी के कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति भी उससे आ मिले। शिक्षण-पद्धति यह थी कि प्रातःकाल वह अपने शिष्यों के साथ घूमते-टहलते हुए दर्शनशास्त्र की जटिल समस्याओं का विवेचन किया करता था। इस कारण उसके दर्शन-प्रस्थान का नाम पैरीपैटेटिक (=पर्यटक) पड़ गया। सायंकाल को वह अपेक्षाकृत कम जटिल विषयों पर बहुसंख्यक श्रोताओं के समक्ष व्याख्यान दिया करता था। इस प्रकार उसके कुछ प्रवचन अन्तरंग और सूक्ष्मेक्षिका से युक्त होते थे और कुछ बहिरंग तथा सुबोध होते थे। इसका आशय यह नहीं है कि उसके अन्तरंग प्रवचनों में कोई गूढ़ छिपा हुआ रहस्य था। वास्तविक बात यह है कि कुछ विषय—जैसे कि तर्कशास्त्र, भौतिकी और पराविद्या—ऐसे हैं जो अधिक गंभीर अध्ययन की अपेक्षा करते हैं और मुट्ठी भर विद्यार्थियों को आकृष्ट करते हैं। साहित्यशास्त्र और राजनीति इत्यादि विषय ऐसे हैं जो अधिक जनप्रिय हैं और जनता अधिक संख्या में इनकी ओर आकृष्ट होती है और इनको समझने में अधिक माथापच्ची नहीं करनी पड़ती।

इस विद्यालय में अरिस्तू ने अपने जीवन के लगभग १२ वर्ष व्यतीत कर अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण किये। उसने सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें एकत्रित करके प्रथम पुस्तकालय स्थापित किया जो आगे चलकर अलक्ज़ाण्ड्रिया और पर्गामॉन् के विशाल पुस्तकालयों के लिये आदर्श बना। इसी प्रकार उसने अनेकों मानचित्रों और अद्भुत वस्तुओं का प्रथम संग्रहालय अथवा म्यूज़ियम भी स्थापित किया। कहते हैं, उसके शिष्य अलैक्ज़ाण्डर ने उसको प्रभूत आर्थिक सहायता प्रदान की, एवं शिकारियों, बहेलियों और मछुओं को यह निर्देश किया कि यदि उनको अपने क्षेत्र में कोई अद्भुत अथवा वैज्ञानिक महत्त्व का जीव-जन्तु अथवा वस्तु प्राप्त हो तो वे शीघ्रातिशीघ्र उसकी सूचना अरिस्तू को दें। विद्यालय में उसने उस समय की सभी विद्याओं और कलाओं के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया। विद्यालय के संचालन के नियम भी अरिस्तू ने बनाये थे। इन नियमों के अनुसार विद्यालय के प्रत्येक सदस्य को बारी बारी से १० दिन संस्था का शासन कार्य करना पड़ता था। संभव है कि इसका आशय यह भी रहा हो कि इस दस दिन के शासक को दस दिन तक किसी

सिद्धान्त का समर्थन और मण्डन भी करना होता था। सब सदस्य एक साथ भोजन करते थे और महीने में एक बार सम्भोज (सिम्पोज़ियम) होता था जिसके नियम अरिस्तू ने निश्चित कर दिये थे। अनेकों बातों में अरिस्तू का विद्यालय अकादेमी की सन्तान था पर कुछ अन्तर भी दोनों में अवश्य था। अकादेमी का झुकाव गणित की ओर अधिक था पर लीकैयम् ने जीव-विज्ञान और इतिहास के विकास में अधिक योगदान दिया।

पर जिन बारह या तेरह वर्षों में अरिस्तू लीकैयम् का अधिष्ठाता रहा उनका सर्वोपरि कार्य था उन व्याख्यानों की रचना जिनकी सूत्ररूप टिप्पणियों को आजकल अरिस्तू के ग्रंथ कहा जाता है। इस विशाल ज्ञानयज्ञ में उसके सहयोगियों और शिष्यों ने भी अरिस्तू की सहायता की थी परन्तु इस सहायता की मात्रा बहुत अधिक नहीं थी। इस समग्र रचना-कार्य के लिए जिस मानसिक शक्ति और संलग्नता की अभिव्यक्ति अरिस्तू ने की वह अनन्यसामान्य थी। उसने विभिन्न विज्ञानों का जो विभाजन प्रस्तुत किया, यूरोप आज तक उसको मानता चला आ रहा है। अनेकों विज्ञानों के क्षेत्र का उसने पूर्वापेक्षा बहुत अधिक विकास और विस्तार किया एवं तर्कशास्त्र का तो वह आद्य प्रवर्तक और शताब्दियों तक एकच्छत्र नियन्ता बना रहा। व्यावहारिक क्षेत्र में भी अरिस्तू के विद्यालय ने राजनीति और सदाचारशास्त्र की विवेचना के कारण तात्कालिक राजनीति और समाज पर अकादेमी की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाला। अकादेमी के मुख्याधिष्ठाता का पद उसे भले ही नहीं मिला पर जो प्रभाव और प्रतिष्ठा सॉक्रातेस और प्लातोन को अपने समय में प्राप्त थी वह इस समय अरिस्तू को प्राप्त थी और उसके प्रतिद्वन्द्वी अकादेमी के मुख्याधिष्ठाता की प्रतिष्ठा उसकी अपेक्षा बहुत कम थी।

पर अलैक्ज़ाण्डर के साथ अरिस्तू का संबंध अन्त तक अच्छा नहीं रह सका। जब वह एशिया की विजय के लिए निकला था तब उसके साथ अरिस्तू का एक संबंधी, जिसका नाम कल्लिस्थेनेस् था, इतिहास-लेखक के रूप में गया था। उस युवा ने सम्राट् के व्यवहार की आलोचना करके उसको रुष्ट कर दिया। अलैक्ज़ाण्डर ने उस पर यह दोषारोपण किया कि उसने सम्राट् की हत्या के षड्यन्त्र को भड़काया था। इस आरोप के परिणाम-स्वरूप कल्लिस्थेनेस् को फाँसी दे दी गई। इसके पश्चात् उसने अरिस्तू को भी अपने संबंधी के दुष्कर्मों के लिए उत्तरदायी ठहराया। पर इसी समय वह भारतीय अभियान में ऐसा उलझा कि उसको अरिस्तू के लिए दण्ड निर्धारण करने का अवकाश ही नहीं मिला। तो भी क्या हुआ, अरिस्तू के सौभाग्य

का नक्षत्र तो मानों अस्त हो चुका था। ई० पू० ३२३ में अलैक्ज़ाण्डर की मृत्यु हो गयी। ज्यों ही यह समाचार अथेन्स पहुँचा वहाँ मकैदौनिया के शासन के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। यद्यपि अरिस्तू को फिलिप और फिलिप के पुत्र सम्राट् अलैक्ज़ाण्डर की साम्राज्यवादी नीति के साथ कोई सहानुभूति नहीं थी, अथेन्स में यह तो सभी को विदित था कि अरिस्तू का मकैदौनिया के राजकुल से पुराना संबंध था और अलैक्ज़ाण्डर का स्थानापन्न शासक अन्तियातेर उसका घनिष्ठ मित्र था। पर क्योंकि अरिस्तू को सीधे यों ही दण्ड नहीं दिया जा सकता था अतएव उसके विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि उसने देवापमान किया था। इस आरोप का आधार यह था कि अरिस्तू ने अतार्नेयस् के राजा हर्मेइयास् की ई० पू० ३४२-३४१ में हत्या के उपरान्त उसकी प्रशंसा में एक कविता लिखी थी और इस कविता में अरिस्तू ने अपने मित्र पर प्रायः देवत्व का आरोप किया था। यह लगभग २० वर्ष पूर्व की बात थी पर तो भी इसको पर्याप्त दोष समझा गया। अरिस्तू ने अपनी दूरदृष्टि से वातावरण को भली भाँति समझ लिया और समय रहते हुए अपने कुछ शिष्यों को साथ लेकर अथेन्स का परित्याग कर दिया और (इ)यु बोइया प्रदेश की खाल्किस् नामक नगरी में शरण ली। उसका जन्मस्थान स्तागिरा इसी नगरी का उपनिवेश था। यहाँ पहुँचने के अगले वर्ष ई० पू० ३२२ में ६२ वर्ष की अवस्था में अरिस्तू ने शरीरत्याग किया। अथेन्स को त्यागते समय उसने कहा था कि मैं अथेन्सवासियों को दर्शनशास्त्र के विरुद्ध दूसरी बार अपराध न करने देने के लिए दृढ़संकल्प हूँ।

यूनानी दार्शनिकों के जीवन की कहानियाँ लिखनेवाले दियोगेनेस् लाएर्तियस् ने अरिस्तू की जीवनी में उसके वसीयतनामे को उद्धृत किया है। इसके अनुसार अरिस्तू ने अपनी द्वितीय सहचरी हैर्पीलिस् की भलमनसाहत का उल्लेख कर उसके शेष जीवन के लिए आर्थिक प्रबन्ध किया था। पर वह अपनी प्रथम पत्नी पीथियास् और उसके प्रणय को भी नहीं भुला सका था अतएव उसने लिखा कि उसके अवशेष अरिस्तू की ही कब्र में रखे जायँ। उसने अपने दासों के लिए भी कुछ धन दिया था और ऐसा निर्णय किया था कि उनको बेचा न जाय। अनेक दासों को उसने स्वतंत्र कर दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि अरिस्तू कोरा बुद्धिवादी ही नहीं था प्रत्युत उसका स्वभाव अत्यन्त स्निग्ध और कृतज्ञतापूर्ण था।

अरिस्तू की आकृति और वेशभूषा के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी ज्ञात नहीं, यद्यपि इस दिशा में अटकलबाजियाँ बहुत कुछ की जाती हैं। कहते हैं कि वह खल्वाट

हो गया था। उसकी वाणी में हल्की तुतलाहट थी और उसको अच्छे वस्त्र धारण करने का शौक था। यह भी कहा जाता है कि उसकी आँखें छोटी छोटी थीं और पैर पतले थे। रहन-सहन में वह अति संयमी नहीं था। वातचीत करने में उसका मखौल करने का स्वभाव था एवं दियोगेनेस् ने उसकी वाक्पटुता के उदाहरणों का संग्रह प्रस्तुत किया है।

उसके जीवन की गतिविधि और उसके वसीयतनामे से पता चलता है कि अरिस्तू की आर्थिक स्थिति आजीवन अच्छी रही। जब तक उसकी अपने शिष्य से अनवन नहीं हुई थी तब तक अलैक्ज़ाण्डर ने उसकी पर्याप्त सहायता की थी। जब वह अपने गुरु से रुष्ट हुआ उसके थोड़े समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। यूनान का स्थानापन्न शासक अन्तिपातेर उसका मित्र था। राजाओं के क्रीड़ा-सहचर, सम्राट् के गुरु और शासकों के मित्र अरिस्तू की आर्थिक स्थिति अच्छी होनी ही चाहिये थी।

अरिस्तू की रचनाएँ

प्राचीन काल में अरिस्तू की रचनाओं के संबंध में बड़ी अनोखी कहानियाँ प्रचलित थीं। उसकी रचनाओं की तीन पुरानी सूचियाँ मिलती हैं। पर इन सूचियों पर विचार करने के पूर्व अरिस्तू के ग्रंथों की रक्षा की विचित्र कहानी जान लेना आवश्यक है। उसने अपनी समग्र रचनाओं को अपने विद्यालय में अपने उत्तराधिकारी और मित्र थियौफ्रास्तस् को सौंप दिया था। थियौफ्रास्तस् ने उनको नेलेयस् को दे दिया। नेलेयस् उनको स्रोआद् में अपने घर पर ले गया। यहाँ वे बहुत समय तक उसके वंशधरों के पास पड़ी रहीं। इन लोगों का विद्या और विज्ञान तथा दर्शन से कोई संबंध नहीं था। अतएव यह सब ज्ञान एक प्रकार से बाह्य जगत् के लिए अज्ञात ही पड़ा रहा। पर इन पुस्तकों के स्वामी यह अवश्य जानते थे कि यह ग्रंथ बहुमूल्य सम्पत्ति हैं। उस समय पर्गामम् के राजा पुस्तकों को एकत्रित करने पर जुटे हुए थे अतएव अपनी पुस्तकों को उनके हाथ में पड़ने से बचाने के लिए नेलेयस् के वंशधरों ने उनको भूमिगृह में बन्द कर दिया। वहाँ सीलन और कीटों ने इन ग्रंथों को पर्याप्त हानि पहुँचाई होगी। अन्त में इस संग्रह को अथेन्स के एक पुस्तक-प्रेमी ने मूल्य देकर ले लिया। इस सज्जन का नाम अपैलिकन् था। अपैलिकन् का पुस्तक-भण्डार एक युद्ध में रोमन अधिनायक सुल्ला को लूट के भाग के रूप में प्राप्त हुआ। यह घटना ई० पू० ८६ की है। वह इस संग्रह को रोम लाया। अन्ततोगत्वा पैरेपैतेतिक

विद्यालय के ११वें प्रधान आन्द्रोनिकस् रोद्स ने इन ग्रंथों का सम्पादन करके सिसरो के जीवनकाल में इनको प्रकाशित कराया। लेखक की मृत्यु के लगभग २५० वर्ष पश्चात् उसकी रचनाएँ प्रकाश में आईं। यह कथा स्त्राबो नामक विद्वान् के कथन पर आश्रित है। कुछ आलोचकों को इसकी सत्यता पर सन्देह है पर अधिकांश विद्वान् इसको ठीक समझते हैं।

अरिस्तू की रचनाओं की पुरानी सूचियों में उसकी पुस्तकों की संख्या ४०० बतलाई गई है। एक सूची दार्शनिकों के जीवनचरित लिखनेवाले दियोगेनेस् लाएर्तियस् ने अरिस्तू के जीवनचरित के साथ दी है। एक दूसरी सूची आन्द्रोनिकस् ने प्रस्तुत की है। इन दोनों सूचियों में पूर्ण साम्य नहीं है। एक तीसरी सूची हर्मिप्पस् नामक विद्वान् ने लगभग ई० पू० २०० में बनाई थी एवं ऐसा ख्याल किया जाता है कि दियोगेनेस् लाएर्तियस् की सूची हर्मिप्पस् की सूची के आधार पर प्रस्तुत की गई थी। इन सूचियों की परस्पर तुलना करने से यह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि अरिस्तू की बहुत सी रचनाएँ लुप्त भी हो गई हैं। प्लातोन और अरिस्तू दोनों ही लेखक भी थे और मौखिक भाषण द्वारा शिक्षा देनेवाले गुरु भी थे। पर विधि की विडम्बना से अरिस्तू के लिखित ग्रंथ लुप्त हो गये। उसके भाषणों की टिप्पणियाँ जो उसके शिष्यों इत्यादि के द्वारा संगृहीत और सम्पादित होकर बच गई हैं आज अरिस्तू की रचनाएँ कहलाती हैं। इसके विपरीत प्लातोन के लिखित ग्रंथ उपलब्ध होते हैं पर उसके भाषणों में क्या था और उसका विषय क्या था, इसका कुछ पता नहीं चलता।

अरिस्तू की आरंभिक रचनाएँ तो प्लातोन के संवादों के समान वार्तालाप की शैली पर लिखी गई थीं। उनमें अरिस्तू ने अपने गुरु का अनुकरण करते हुए भाषा और शैली को साहित्यिक दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न किया था। चाहे उनमें उसके गुरु के संवादों के समान अत्यधिक नाटकीय तत्त्व न रहा हो तथापि उनमें पर्याप्त मर्मस्पर्शिता रही होगी तभी सिसरो और क्विन्तीलियन् सरीखे विद्वानों ने उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। संभवतया यह रचनाएँ उस समय की थीं जब वह प्लातोन की अकादेमी का सदस्य था। उसके कुछ संवादों के नाम तक वही हैं जो प्लातोन के संवादों के थे——जैसे पॉलितिकस्, सौफिस्तेस्, मैनेक्षेनस्, सींपोसियॉन्, ग्रीलस् इत्यादि। स्यात्, प्रोत्रैप्तीकस् नामक संवाद, जो याएगर की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, लगभग इसी समय लिखा गया था। यह क्रीप्रस् द्वीप के राजा थैमिसो

के लिये लिखा गया था। यह प्राचीन काल में अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक समझी जाती थी और इयाम्ब्लिखस् और सिसरो ने इसको आधार और आदर्श मानकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। इसके कुछ समय पश्चात् स्यात् (पैरी फिलोसौफ़ियाम्) दर्शनशास्त्र, (अलैक्षान्द्रस्) अलैक्ज़ाण्डर, (पैरी दिकाइयोन्) न्याय, (पैरी पोइएतोन्) कवि, (पैरी प्लुतू) धन-सम्पत्ति, (पैरी यूगैनैइयास्) सुकुल में जन्म, (पैरी यूखेस्) प्रार्थना, (पैरी पाइद्युमेओस्) शिक्षा, नेरिन्थस् और एरोतिकस् इत्यादि लिखे गये होंगे। इनमें से कुछ के विषय में उनके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी विदित नहीं है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त अरिस्तू ने कुछ काव्य-रचना भी की थी। उसकी कविता के तीन उदाहरण अवशिष्ट हैं। इनमें कुछ काव्य-रचना सच्चे कवि-हृदय का परिचय देती है।

यह भी निश्चित रूप से ज्ञात है कि अरिस्तू के द्वारा वैज्ञानिक शोध के लिए और ग्रंथ-रचना के लिए बहुत सी सामग्री और टिप्पणियाँ एकत्रित की गई थीं। यह सब सामग्री भी काल के गाल में समा गई। पुरानी सूचियों में अरिस्तू की उपलब्ध रचनाओं के भागों को भी स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में प्रकट किया गया है। विद्वानों ने परिश्रमपूर्वक अन्य लेखकों की रचनाओं में मिलनेवाले उद्धरणों को एकत्रित करके उसके लुप्त ग्रंथों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन प्रयत्नों से अरिस्तू के उपलब्ध और लुप्त ग्रंथों के संबंध पर भी प्रकाश पड़ा है। फिर भी अरिस्तू के तत्वज्ञान की विश्वसनीय रूपरेखा तो उसके आजकल मिलनेवाले ग्रंथों के आधार पर ही प्रस्तुत की जा सकती है।

प्रस्तुत ग्रंथों का विवरण विषयानुसार संक्षेप में निम्नलिखित है :—

(१) तर्कशास्त्र संबंधी ग्रंथ। इस शास्त्र का नाम औगानिन् है। इसके भाग हैं-(क) कैटेगोरीज़ (कातेगौरियाई), (ख) डी इण्टरप्रीटैशियौन् (पैरी हर्मेनैइथास्), (ग) प्रायर अनालीटिक्स (अनालीतिकाप्रौतैरा), (घ) पोस्टीरियर अनालीटिक्स (अनालीतिकाह्युस्तैरा), (च) टौपिक्स (तौपिका), (छ) सौफिस्टिक ऐलैंखी।

(२) भौतिक शास्त्र संबंधी ग्रंथ। (क) फीजिक्स (फीसिका), (ख) डी कएलो (पैरी ऊरानू), (ग) डी गैनेरैशियोन् ऐट कर्रप्शियौन् (पैरी गैनैसेओस् कैफ्थोरास्), (घ) मेटिरियोलोगिका (मैटैओरोलौगिकोन्)।

(३) एक पुस्तक का नाम "डी मुण्डो" (पैरी कौस्मू) है। यह सामान्य दर्शनशास्त्र की पुस्तक है। अधिकांश विद्वानों ने इसको अरिस्तू की रचना नहीं माना है।

(४) मनोविज्ञान के विपय में अरिस्तू के कई एक छोटे छोटे प्रामाणिक ग्रंथ मिलते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं--(१) डी अनिमा (पैरी प्सीरवेस्), (२) पार्वा नातुरालिया (जिसके अन्तर्गत (क) डी सैन्सू ऐट सैंसी विलीवस (पैरी ऐस्थेसेओस् कै ऐस्थेतोन), (ख) डी मैमौरिया ऐट रिमिनी सैन्शिया (पैरी मूनेमेस क अनाम्नेसैओस), (ग) डी सौम्नो एट् विगिलिया (पैरी हिप्नूकै एग्रे गौरसेओस्), (घ) डी इन्सौम्नीम् (पैरी एनीप्नियोन्), (च) डी डिवीनीशियोन् (पैरी तेसकाथ हिपनौन् मन्तिकेस्, (छ) डी लौंगीटीड्यून ऐट व्रीवीटेट् विताए (पैरी माक्रोवियौतेतस्), कै व्रारवीवियौतेतस्, (ज) डी विटा एट् मौर्त (पैरी ज़ोएस् कैथानातू), (झ) रैस्पि-रैशियोन् (पैरी अनापौनेस्)। डी विटा एट मौर्त के प्रथम दो अध्यायों का नाम डी जुवेंटूट एट् सैनेक्टूट भी है। डी स्पिरेटु (पैरी प्नुमातस्) इस गुच्छक में अन्तिम पुस्तक है परन्तु इसको अरिस्तू की रचना नहीं माना जाता क्योंकि इसमें मानवीय शरीर के कुछ ऐसे तत्त्वों का उल्लेख है जो अरिस्तू के समय तक ज्ञात नहीं थे।

(५) प्राकृतिक विज्ञान (अर्थात् जीव-जगत् संवंधी विज्ञान) के क्षेत्र में अरिस्तू की रचनाएँ हैं--हिस्टोरिया अनीमालियुम् (पैरी ज़ोओन् इस्तौरियास्), डी पार्टी-वुस अनीमालियुम् (पैरी ज़ोओन् मौरियोन्), डी मोटु अनीमालियुम् (पैरी किनेसै-ओस्), डी इनकैस्सु अनीमालियुम् (पैरी ज़ोओन् पौरेइयास्), डी गेनेरेशियोने अनी-मालियुम् (पैरी ज़ोओन् गैनेसैओस्)। अरिस्तू के ग्रन्थ-संग्रह में इसी विपय से संवंध रखनेवाली निम्नलिखित पुस्तकें भी पाई जाती हैं पर उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है-- डी कॉलॉरीवुस् (पैरी रव्रोमातोन्), फीजियोग्नोमोनिका (,, ,,), डी प्लाण्टिम् (पैरीफू (फी)तोन्), डी मिराविलीवुस् आउस्कुल्टाटियौनीवुस् (पैरी थाउमासियोन् अकूस्मातोन्), मेकानिका (मेखानिका)। डी प्लाण्टिस् नाम की पुस्तक अरिस्तू ने लिखी अवश्य थी पर वह नष्ट हो गई। इस समय जो पुस्तक इस नाम से उपलब्ध होती है वह स्यात् दामस्कस् के निकोलाऊस् की रचना के अरवी अनुवाद के लैटिन अनुवाद का रूपान्तर है।

प्रौव्लैम्स (समस्याएँ) नाम की पुस्तक निश्चय ही अरिस्तू की रचना नहीं है। शताव्दियों से प्रौव्लैम्स के जो संग्रह एकत्रित होते आ रहे थे उनमें से ही इसका संकलन किया गया था। संभवतया यह संकलन ५ वीं अथवा ६ठी शताव्दी में प्रस्तुत किया गया होगा। इनमें सवसे अधिक जनप्रिय हैं संगीत के प्रौव्लैम्स के दो संग्रह जो ई० पू० ३०० अथवा १०० सन् की रचना माने जाते हैं।

डी लीनेइम् इन्सैकाविलीबुस् (पैरी अतौमोन् ग्राम्मोन्), डी सिग्निस् और इसी का एक भाग वेण्टोरुम् सिटुस् डी मैलिस्सो (प्रौस ता मैलिस्सू), खेनोफाने (पैरी क्षेनोफानूस्), गौर्गिया (पैरी गौर्गियू) यह सब रचनाएँ अरिस्तू के पश्चात्कालीन शिष्यों की रचनाएँ हो सकती हैं पर स्वयं अरिस्तू की रचनाएँ नहीं हैं। कुछ अन्य व्यक्तियों के द्वारा किये हुए (अरिस्तू के ग्रंथों के) रूपान्तर भी हो सकते हैं।

(६) मेटाफीज़िक्स अरिस्तू की अत्यन्त प्रख्यात रचना है। परन्तु इसकी विभिन्न पुस्तकों का इतिहास बड़ा उलझा हुआ है। इस छोटी सी भूमिका में उस उलझन का विवरण उचित नहीं है।

(७) सदाचार के संबंध में अरिस्तू की रचनाएँ निम्नलिखित हैं---निकोमाखियन् एथिक्स (एथिकोन् निकोमाखैयोन्), यूदेमियन् ऐथिक्स (एथिकोन् यूदेमियोन्), माग्ना मौरालिया (एथिकोन् मैगालोन्), डी विर्टुटीवुम्एट विटाइम् (पैरी अरैतोन् कै काकियोन्)। कुछ आलोचक यूदेमियन् एथिक्स को अरिस्तू की रचना नहीं मानते थे। पर अब इस विषय में कुछ मत-परिवर्तन हो गया है। फिर दोनों एथिक्स नामवाले ग्रन्थों का पारस्परिक संबंध अभी तक एक समस्या बना हुआ है। शेष दोनों पुस्तकें संभवतया अरिस्तू की रचनाएँ नहीं। उसके सम्प्रदाय की पश्चात्कालीन रचनाएँ हो सकती हैं।

(८) राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अरिस्तू के निम्नलिखित ग्रंथ आजकल उपलब्ध होते हैं---पौलिटिक्स (पौलितिकोन्), दी अथीनियन् कॉन्स्टीटयूशन (अथेनइयोन् पौलितेइया), औइकोनौमिका (औइकोनौमिकोन्)। इनमें से तीसरी पुस्तक में तीन अध्याय हैं पर तीसरा अध्याय मूल ग्रीक भाषा में नहीं मिलता, केवल लैटिन अनुवाद के रूप में मिलता है। वास्तव में यह पुस्तक अरिस्तू की रचना है ही नहीं। कहते हैं अरिस्तू ने राजनीति के विस्तृत अध्ययन के लिए १५८ नगर-राष्ट्रों के संविधानों को एकत्रित किया था। पर वे सब विलुप्त हो गये। पर १८९१ में इन संविधानों में से अथेन्स का संविधान उपलब्ध हो गया। यह छोटी पुस्तक भी अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(९) भाषण-कला, लेखन-कला और काव्यकला पर अरिस्तू की तीन पुस्तकें हैं---(१) रेटोरिक्स (तैक्ख्नेस् रेतौरिकेस्), (२) रेतोरिका आड् अलेक्ज़ाण्ड्रुम् (रेतोरिके प्रौस् अलेक्क्षान्द्रौन्) और (३) पैरी पोइतिकेस्। इनमें से दूसरी पुस्तक की

प्रामाणिकता संदिग्ध है। पैरी पोइतिकेस् खंडित रूप में उपलब्ध होती है और छोटी सी पुस्तक है। पर इस पुस्तक ने यूरोप के साहित्य पर हजारों वर्षों तक गंभीर प्रभाव डाला है।

अरिस्तू ने उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ लिखा था। उदाहरणार्थ उसने नाटकों के प्रदर्शन का पूरा इतिहास प्रस्तुत किया था, औलिम्पिक खेलों के विजेताओं की सूची प्रस्तुत की थी और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १५८ नगर-राष्ट्रों के संविधान एकत्रित किये थे। पर आजकल उसकी रचनाओं के संग्रह में यह सब कुछ नहीं मिलता। उसके ग्रंथों की जो पुरानी सूचियाँ मिलती हैं उनमें से बहुत सी रचनाएँ भी अब नहीं मिलतीं। पर उन सूचियों के विषय में भी यह विश्वास-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे उसकी ही रचनाओं की सूचियाँ हैं। कई एक स्थलों पर तो ऐसा है कि प्रस्तुत रचनाओं के एक विभाग अथवा अध्याय को एक अलग पुस्तक का नाम देकर सूची में सम्मिलित कर लिया गया है। फिर जब इस समय उपलब्ध एवं अरिस्तू के नाम से संबद्ध अनेकों ग्रंथ उसके नहीं हैं तो जो उपलब्ध नहीं हैं उनके विषय में तो यह जानने का कोई साधन ही नहीं है कि वे उसकी रचना थीं अथवा नहीं। पर प्राचीन काल के विश्वास के योग्य विद्वानों के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि अरिस्तू का पर्याप्त साहित्य लुप्त अवश्य हो चुका है।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के मुद्रणालय ने अरिस्तू के उपलब्ध ग्रंथों को मूल ग्रीक भाषा और अंग्रेजी अनुवाद में प्रकाशित किया है। मूल और अनुवाद दोनों ही बारह बारह जिल्दों में हैं और इन दोनों ही संस्करणों की पृष्ठ-संख्या लगभग ३५०० होगी। लोएब् क्लासिकल लाइब्रेरी में अब तक अरिस्तू के ग्रंथों की २२ जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं और अभी कुछ और जिल्दें प्रकाशित होनी शेष हैं। प्राचीन काल की दन्तकथाओं में तो यहाँ तक कहा जाता था कि अरिस्तू की रचनाएँ ऊँटों पर लदकर जाया करती थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरिस्तू के ग्रंथों पर विविध भाषाओं में विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है और आज भी इस साहित्य का निर्माण चालू है।

अरिस्तू की शैली भी अपने ढंग की अनोखी ही है। यों कहने को वह कवि भी था और प्राचीन काल में उसकी कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती थीं जो अपनी शैली के सौष्ठव के कारण अनुकरणीय मानी जाती थीं। पर इस समय उसकी जो गद्य-रचनाएँ उपलब्ध हैं उनकी शैली साहित्यिक नहीं वैज्ञानिक ढंग की है। बहुत कम स्थल उसके ग्रंथों में ऐसे मिलेंगे जिनको मनोरम कहा जा सके। परन्तु उसमें आकर्षक प्रकार

से लिखने और बोलने की क्षमता थी यह बात प्रस्तुत साहित्य के कुछ स्थलों और प्राचीन काल के विद्वानों के साक्ष्य के आधार पर निर्विवादरूपेण सिद्ध ठहरती है। उसके विद्यमान ग्रंथों में प्रतिसंकेतों (Cross-references) की भरमार है। उसकी सभी रचनाओं से परिचित हुए बिना उसकी किसी भी रचना का मर्म भली भाँति समझ में नहीं आ सकता। डी० एस० मार्गोलियूथ ने अपने अरिस्तू के काव्यशास्त्र के संस्करण की भूमिका में २२ पृष्ठ पर अरिस्तू की शैली की तुलना पाणिनि की सूत्रात्मक शैली से की है और दोनों की समानता समधिक विस्तारपूर्वक समझाई है। इस शैली की विचित्रता का अनुमान कुछ इस बात से लगाया जा सकेगा कि न्यूमैन का पालिटिक्स का संस्करण मूल ग्रंथ के २२४ पृष्ठों को २५०० पृष्ठों की चार जिल्दों में समझाने का उद्योग करता है। इस प्रकार की शैली और इस प्रकार की विराट् व्याख्याएँ संस्कृत भाषा के ग्रंथों में ही मिल सकती हैं।

एक समय था जब यह समझा जाता था कि अरिस्तू की रचनाएँ विकास-क्रम की परिधि से परे की वस्तु हैं। लोग समझते कि अरिस्तू ने जो लिखा है वह परिपक्व बुद्धि की उपज है। परन्तु वह श्रद्धा का युग अब नहीं रहा। आलोचकों ने, विशेषकर जर्मन विद्वान् याएगर (Jaeger) ने यह स्पष्ट सिद्ध करके दिखला दिया कि अरिस्तू भी अन्य मानवों के समान ही था। उसकी बुद्धि का विकास भी अन्य लोगों के समान हुआ था, एवं उसकी रचनाओं में भी विभिन्न कालों के विकास-क्रम द्वारा प्राप्त विभिन्न स्तर पाये जाते हैं। इस विकास की दिशा क्या थी ? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों ने यह दिया है कि उसने अपना विचारक और लेखक का जीवन अपने गुरु प्लातोन की प्रतिभा के जादू के प्रभाव की छाया में आरंभ किया, पर शनैः शनैः इस जादू का प्रभाव फीका पड़ता गया और अन्त में जाकर उसने अपना पिंड उस प्रभाव से पूर्णतया छुड़ा लिया और वह एक स्वतंत्र विचारक बन गया। एक प्रकार से जो बात सॉक्रातेस और प्लातोन के संबंध में ठीक है वही प्लातोन और अरिस्तू के संबंध में भी सत्य है। किसी महान् व्यक्ति का प्रभाव जहाँ एक महान् प्रेरणा प्रदान करता है वहाँ चिरकाल तक हमारी श्रद्धा को भी बाँध रखना चाहता है। अतएव अरिस्तू को अपने गुरु के प्रभाव से मुक्त होने में पर्याप्त समय लगा। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णतया उस प्रभाव से मुक्त हो ही गया। विल् ड्यूरैण्ट ने अपनी "ग्रीस का जीवन" (Life of Greece) नामक पुस्तक के ५२४ पृष्ठ पर लिखा है कि "उस (अरिस्तू) ने प्रत्येक मोड़ पर प्लातोन का खंडन किया है क्योंकि वह अपनी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर उसका ऋणी है।" इसी प्रकार

टेलर ने अपनी "अरिस्तू" नामक रचना के ९२ पृष्ठ पर चरितनायक की "पराविद्या' (मेताफीसिक्स) नामक कृति की आलोचना के अन्त में यह बतलाया है कि यद्यपि इस ग्रंथ के आरम्भ में अरिस्तू ने प्लातोन का खंडन करने की प्रतिज्ञा की थी पर अन्त में ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण करते हुए उसको अपने गुरु की ही वाणी बोलनी पड़ी है। अस्तु, फिर भी दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त मतभेद है और यहाँ तक कहा जाता है कि दार्शनिक चिन्तन का समग्र क्षेत्र प्लातोन और अरिस्तू की विचार-पद्धतियों में बँटा हुआ है और जो कोई भी दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति रखता है वह या तो प्लातोन की पद्धति और दृष्टि को अपनाता है अथवा अरिस्तू की दृष्टि और पद्धति को।

अरिस्तू के दार्शनिक विचारों पर एक विहङ्गम-दृष्टि

जिस प्रकार भाषा का मुख व्याकरण है इसी प्रकार विचार का मुख तर्कशास्त्र है। सॉक्रातेस और प्लातोन ने जिस विचार-पद्धति का सूत्रपात किया था अरिस्तू ने उसको और परिष्कृत और व्यवस्थित करके एक नवीन शास्त्र का रूप दे दिया। उसने इसको "अनालीतिका" नाम दिया था, पर पश्चात्कालीन लेखकों ने उसकी तर्कशास्त्र संबंधी रचनाओं को "और्गानन्" नाम दिया। यूरोप में यह ग्रंथ २००० वर्ष तक तर्कशास्त्र की एकमेवाद्वितीय पाठ्य पुस्तक बना रहा। अरिस्तू के मत में ज्ञान का साधन ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनसे जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है उसमें से एक ही प्रकार के प्रत्यक्षों से हमको जाति का ज्ञान होता है जो व्यक्ति या वस्तु नहीं होती। समग्र अनुभव को दस प्रकारों में विभक्त किया गया है जो कैटैगरीज़ (कातागौरियाए) कहलाते हैं---(१) ऊसिया अथवा ती एस्ति = पदार्थ अथवा जो है; (२) पौसॉन् = कितना, मात्रा; (३) पौइयॉन् = कैसा, किस गुणवाला; (४) पौस् ति = संबंध; (५) पू = कहाँ, स्थान; (६) पौतैं = कब, समय; (७) कैइस्थाइ = स्थिति; (८) एखैइन् = अधिकार, रखना; (९) पौइऐइन् = कर्तृत्व; (१०) प्रौइस्टवैइन् = कर्मत्व।

प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान के आधार पर वाक्यों की रचना होती है। तर्क में प्रयुक्त वाक्य प्रौतासिस् कहलाते हैं जो चार प्रकार के होते हैं---(१) सामान्य अथवा सार्विक, (२) विशेष, (३) विधिरूप, (४) निषेधरूप। इन वाक्यों में कुछ परिभाषा-वाक्य होते हैं। अरिस्तू ने परिभाषा की परिभाषा को अत्यन्त परिष्कृत रूप प्रदान किया था। यदि किसी वस्तु की जाति (गैनॉस्) के कथन के साथ उस वस्तु

की उपजाति के भेदक गुण का कथन कर दिया जाय तो उस वस्तु की परिभाषा उपलब्ध हो जाती है। अनुमान-वाक्य को सिल्लौगिस्मस् कहते हैं। इसके तीन अवयव होते हैं, भारतीय अनुमान-वाक्य के समान पाँच अवयव नहीं होते। इसका उदाहरण है "सब मनुष्य मर्त्य हैं, सॉक्रातेस मनुष्य है, अतएव सॉक्रातेस मर्त्य है।" इस प्रकार का तर्क डिडक्टिव तर्क कहलाता है। पर अरिस्तू ने इण्डक्टिव तर्क का विवरण भी उपस्थित किया और व्यवहार में भी उसका उपयोग किया है।

तर्कशास्त्र में उसने हेत्वाभासों का भी वर्णन किया है और उनसे बचने के उपाय भी लिखे हैं और यह सब होते हुए स्वयं अनेकों हेत्वाभासों की सृष्टि भी की है। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह विचार के नियमों और अनुमान की विधियों एवं अन्य तार्किक पद्धतियों के आविष्कारक होने के नाते वैज्ञानिक पद्धति का जन्मदाता था एवं उसने सर्वप्रथम वैज्ञानिक चिन्तन एवं आविष्कार के निमित्त विद्वानों के सहयोग की प्रणाली का सूत्रपात किया।

अरिस्तू का तर्कशास्त्र और उसका अनुमान-वाक्य विचारों की व्याख्या और स्पष्टीकरण के सर्वोत्तम साधन हैं पर वे नवीन सत्य के आविष्कार के साधन नहीं हैं। नवीन आविष्कार के साधन के लिए पाश्चात्य जगत् के बेकन और गैलीलियो के समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। फिर भी ईसाई धर्म और इस्लाम को अरिस्तू के तर्कशास्त्र से बहुत कुछ पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ। स्वर्गीय म० म० डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मत में अरिस्तू के अनुमान का प्रभाव भारतीय अनुमान-वाक्य के विकास पर भी पड़ा है। यद्यपि उनके मत में भारतीय न्याय-दर्शन की उत्पत्ति अरिस्तू के समय से पूर्व हो चुकी थी पर भारतीय अनुमान-वाक्य आगे चलकर अरिस्तू के सिल्लौगिस्मस् के प्रभाव से विकसित हुआ। पर दोनों अनुमान-वाक्यों के अंतर को देखते हुए यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया के मार्ग को प्रशस्त करके अरिस्तू ने विज्ञान के क्षेत्र में क्या सिद्धि प्राप्त की? यह प्रश्न स्वाभाविकतया पूछा जा सकता है। उस समय विज्ञान और दर्शन——साइन्स और फिलासफी——के क्षेत्र विभक्त नहीं हुए थे। अतएव अरिस्तू की विज्ञान संबंधी गवेषणा की चर्चा भी उसके दार्शनिक विचारों के साथ करना अनुचित नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में उसने खोज का सूत्र वहाँ से पकड़ा जहाँ देमौक्रीतस् ने उसको छोड़ा था। गणित के क्षेत्र में अरिस्तू और उसके विद्यालय की रुचि और गति दोनों ही अधिक नहीं थीं। इस दिशा में प्लातोन की अकादेमी

अधिक आगे बढ़ी हुई थी । गणित के विषय में अरिस्तू ने केवल प्रारम्भिक सिद्धान्तों की चर्चा की है । भौतिकी पर उसने एक बड़े ग्रंथ की रचना अवश्य की है पर इसमें उसने पदार्थ, मैटर, गति, स्थान, समय, सातत्य, असीम, भूमा, परिवर्तन, अन्त (उद्देश्य) इत्यादि शब्दों की स्पष्ट परिभाषाएँ निश्चित करने का प्रयत्न अपेक्षाकृत अधिक किया है । उसको स्थिति, गुरुत्वाकर्षण, गति, गतिवृद्धि, इत्यादि की समस्याओं का भान था पर वह इनका हल प्रस्तुत करने में असफल रहा । वेग के समानान्तर चतुर्भुज का भी उसको कुछ आभास था । लीवर (टेक) संबंधी नियम को उसने स्पष्ट वर्णित किया है ।

चन्द्रग्रहण के निरीक्षण के आधार पर उसने यह निर्णय किया था कि आकाशीय पिण्ड—और पृथ्वी तो निश्चय ही—गोलाकार हैं । उसको यह भी पता था कि पृथ्वी की आयु विशाल है और इस पर अनेकों युग-परिवर्तन हो चुके हैं । उसकी यह भी धारणा थी कि प्रायः सभी कलाएँ और विज्ञान बार बार पूर्णता को पहुँचकर विनष्ट हो चुके हैं । भौमिक परिवर्तन का मुख्य कारण उसकी सम्मति में ताप है । इसी प्रकार उसने मेघ, कुहरे, ओस, पाले, वर्षा, हिम, ओले, वायु, मेघ-गर्जन, बिजली, इन्द्रधनुष और उल्का इत्यादि अनेकों भौतिक तथ्यों की व्याख्या का प्रयत्न किया है । यद्यपि आज के ज्ञान की दृष्टि से उसकी व्याख्याएँ विकट एवं परिहास योग्य प्रतीत होती हैं तथापि उसकी विशेषता यह है कि उसने प्राकृतिक तथ्यों की व्याख्या प्राकृतिक हेतुओं से ही करने का प्रयत्न किया । किसी अति-प्राकृतिक हेतु को उसने स्वीकार नहीं किया है ।

यह पहले कहा जा चुका है कि अपनी कुलक्रमागत शिक्षा के कारण अरिस्तू का झुकाव जीव-विज्ञान की ओर अधिक था । इस क्षेत्र में उसने बहुत अधिक श्रम और खोज की थी । अपने सम्राट् शिष्य की आर्थिक सहायता एवं अन्य शिष्यों और सहयोगियों की व्यक्तिगत वैज्ञानिक सहायता से उसने ऐगियन् सागर के तटवर्ती प्रदेशों के पशु-पक्षियों एवं लता-वृक्षों के संबंध में असंख्य तथ्यों और नमूनों को एकत्रित किया । अलैक्ज़ाण्डर की अपने बहेलियों, शिकारियों और मछुओं को यह आज्ञा थी कि अरिस्तू को जिस पदार्थ अथवा जीव के नमूनों की अथवा जानकारी की आवश्यकता हो वह उसको दी जाय । अरिस्तू का दृष्टिकोण इस प्रकार संतुलित था कि वह तथ्यों की विलक्षण विविधता और उनमें निहित आधारभूत नियम दोनों ही के पीछे समान रूप से पागल था । दोनों में से किसी की भी उपेक्षा करना उसको अभीष्ट

नहीं था। उसका विचार था कि सभी प्राकृतिक पदार्थों में चमत्कारपूर्णता उपलब्ध होती है, अतएव जो निम्न कोटि के जीवों की उपेक्षा करता है वह स्वयं अपनी उपेक्षा करता है।

जीवों को उसने सरक्त और अरक्त दो कोटियों में बाँटा जो यद्यपि हमारे आज के मेरुदण्डवाले और बिना मेरुदण्डवाले जीव-विभाग से बिलकुल तो नहीं मिलता पर लगभग वैसा ही विभाजन माना जा सकता है। उसने प्राणियों के इन्द्रिय-संस्थानों का और प्रवृत्तियों का भी विस्तृत वर्णन किया है। पशु, पक्षी, मछली इत्यादि के विषय में उनके रहने के स्थान, गर्भाधान के समय, स्थानान्तरगमन, उनके रोग इत्यादि सभी संभव तथ्यों का विवेचन किया है। उसने यह भी लिखा है कि कुछ नर प्राणी भी दूध देते हैं। प्रजनन-प्रक्रिया का उसने बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया था क्योंकि इसी के द्वारा प्रकृति व्यक्तियों का संहार और जातियों का संरक्षण करती है। इस प्रजनन-विज्ञान के क्षेत्र में १८वीं शताब्दी के अन्त तक अरिस्तू की समता करनेवाला कोई अन्य वैज्ञानिक यूरोप में नहीं हुआ। प्राणियों की प्रवृत्तियों के दो केन्द्र हैं भोजन करना और प्रजनन करना। सन्तान का लिंग क्या होगा इसके विषय में भी उसने विचार किया था। उसने जुड़वाँ मानव सन्तानों के तथ्य का भी अध्ययन किया था और उसने बतलाया है कि अधिक से अधिक पाँच शिशुओं के एक साथ जन्म का उल्लेख इतिहास में मिलता है। एक ऐसी माता का भी उल्लेख उसने किया है जिसने चार बार में २० बच्चों को उत्पन्न किया था। संभवतया उसको हमारे पौराणिक ४९ मरुद्गणों का पता नहीं था।

गर्भाधान और डिम्ब के विकास के संबंध में भी उसने बहुत कुछ लिखा है। मुर्गी के अण्डे में चूजे का विकास-क्रम उसने एक प्रयोग द्वारा अत्यन्त रोचक प्रकार से वर्णन किया है। इसी के सादृश्य पर उसने मानवीय गर्भ के विकास का भी वर्णन प्रस्तुत किया है। उसको जीवों के अंग-सादृश्य के आधार पर समग्र प्राणिजगत् की एकता का भान था। एकाध स्थल पर तो वह आधुनिक विकासवाद के अत्यन्त समीप पहुँचा जैसा प्रतीत होता है। उसका कहना था कि प्रकृति के सतत विकास में कहीं स्पष्ट सीमाएँ नहीं बनी हैं। जड़ जगत् से वनस्पति जगत्, वनस्पति जगत् से प्राणि जगत् और प्राणि जगत् से मानव जगत् में क्रमशः परिवर्तन थोड़ा थोड़ा करके होता गया है। वह वानर अथवा वनमानुष को प्राणियों और मनुष्यों की मध्यवर्ती कड़ी मानता है। पर यह जो उत्क्रान्तिक्रम प्रकृति में दृष्टिगोचर हो रहा है इसकी प्रेरणा

कहीं बाहर से नहीं किन्तु सर्वत्र एक आन्तरिक उद्देश्य की सत्ता में मिल रही है जिसको अरिस्तू ने "ऐन्तैलैखी" कहा है।

यह तो नितान्त स्वाभाविक है कि अरिस्तू ने इस क्षेत्र में बहुत सी विचित्र भूलें भी की हैं। इन भूलों में से कुछ उसके शिष्यों एवं सहयोगियों की भूलें भी हो सकती हैं। उसका "पशुओं का इतिहास" नामक ग्रंथ जहाँ एक ओर अरिस्तू के समय की दृष्टि से महान् वैज्ञानिक प्रगति का परिचायक है वहाँ आजकल की वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भूलों का भंडार भी है। क्योंकि उस समय मानव-शरीर की चीरफाड़ को धार्मिक दृष्टि से गर्हणीय समझा जाता था अतएव मानव-शरीर की आन्तरिक गठन का उसका ज्ञान पशुओं की शारीरिक गठन के ज्ञान की अपेक्षा हीन कोटि का था। इसी कारण उसने कहा है कि मनुष्य की पसलियों की संख्या आठ है ; स्त्रियों के दाँत संख्या में पुरुषों के दाँतों से कम होते हैं ; चेतना का स्थान मस्तिष्क नहीं हृदय है ; हृदय की धड़कन का रोग मनुष्यों को ही होता है। पशुओं के विषय में उसके कुछ भ्रान्त विचारों का नमूना यह है :—चूहे ग्रीष्म ऋतु में पानी पीने पर मर जाते हैं ; हाथियों को केवल दो रोग होते हैं—सरदी और अफरा। फिर भी बहुत सी बातों में इस दिशा में मनुष्य ने अभी हाल में ही अरिस्तू से आगे कुछ ज्ञान प्राप्त कर पाया है।

अरिस्तू की जिस रचना को आज "पराविद्या" (मेताफीसिक्स) नाम दिया जाता है अरिस्तू उसको प्रथम दर्शनशास्त्र (प्रोते फिलौसोफिया) अथवा देवविद्या (हे थियौलौगिके) कहता था। इसका विषय है मानव-विवेक की पहुँच की सीमा तक वास्तविक जगत् के मूल में निहित कारणों और सिद्धान्तों की खोज करना। यही विद्या सर्वश्रेष्ठ विद्या है। शेष सब विद्याएँ मानवीय ज्ञान के विशेष विभागों से संबंध रखती हैं अतएव एकदेशीय हैं परन्तु पराविद्या समग्र मानव के समूचे ज्ञानक्षेत्र को अपनाती है अतएव उसका महत्त्व अद्वितीय है। फिर अन्य सब विज्ञान कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को मानकर उनके ऊपर अपना निर्माण करते हैं, जैसे भौतिकी गति के अस्तित्व को स्वीकार करके अपना कार्य आरंभ करती है। परन्तु यह विज्ञान इन सिद्धान्तों की तथ्यता अथवा असत्यता के विषय में कुछ विचार नहीं कर सकते। पराविद्या इन आधारभूत सिद्धान्तों का भी परीक्षण और स्थापन करती है। मुख्य-तया पराविद्या में (१) आदिकारणों, (२) सत्ता-तत्त्व एवं (३) उस नित्य अशरीरी और गतिशून्य, का अनुसन्धान किया गया है जो जगत् की सब गतियों और आकृतियों का कारण है।

सत्ता के अनुसन्धान में अरिस्तू ने पदार्थ को प्रधानता दी है। यह पदार्थ उसके मत में पूर्णतया व्यक्तिगत तत्त्व है तथा यह सर्वदा उद्देश्य हो सकता है विधेय नहीं हो सकता। पदार्थ अपने सत्ताकाल में परिवर्तनों के होते रहने पर भी एकरूप रहता है। प्रश्न हो सकता है कि इस पदार्थ के विश्लेपण करने पर इसके घटक तत्त्वों के रूप में हमको किन तत्त्वों की उपलब्धि हो सकती है तथा इसके विश्लेपण से इसका जो स्वरूप अथवा लक्षण हमको उपलब्ध होता है वह इसको किस प्रकार प्राप्त होता है? उदाहरण के लिये किसी पदार्थ को ले सकते हैं, चाहे वह मनुष्य के द्वारा निर्मित हो चाहे प्रकृति द्वारा---जैसे एक ग्लास अथवा घोड़ा। प्रत्येक पदार्थ (ऊसिया) किसी भौतिक तत्त्व से निर्मित होता है तथा उसका कोई आकार होता है। जिस भौतिक तत्त्व से कोई पदार्थ बना होता है उसको अरिस्तू ने ही(ह्यु) ले(भौतिक तत्त्व, मैटर) कहा है। इस शब्द का अर्थ लकड़ी अथवा काष्ठ भी है। पदार्थ के रूप में अथवा आकार के लिए अरिस्तू ने अइदॉस् (फॉर्म) शब्द का प्रयोग किया है। यह "मैटर" और फ़ॉर्म का भेद ऐसा नहीं है जिसको हम किसी पदार्थ में एक दूसरे से पृथक् करके देख सकें; हाँ, वुद्धि के द्वारा हम उसका विवेक कर सकते हैं। अरिस्तू ने इस विश्लेपण को केवल मूर्त्त पदार्थो तक ही सीमित नहीं रखा है। उसने इसका विस्तार करके मानव-चरित्र जैसे अमूर्त्त तत्त्व के लिए भी इसको लागू किया है। एक सीमा तक इस विश्लेपण की तुलना हम सांख्य दर्शन के प्रकृति-विकृति संवंध से कर सकते हैं। पर अरिस्तू सांख्य की मूल-प्रकृति को स्वीकार करने से हिचकिचाता है। अतएव वह वास्तविकता में प्रकृति के मूलरूप चार तत्त्वों---पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि---को ही मानता है। यद्यपि उसका तर्क इन तत्त्वों को भी इनसे परे किसी सरलतर तत्त्व की विकृतियाँ मानने को विवश करता है तथापि वह किसी ऐसे तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहता जो विकृति (विशेप आकृति) से सर्वथा शून्य हो।

किसी भी पदार्थ में प्रकृति और आकृति---मैटर और फ़ॉर्म---का संवंध कोई स्थिर अथवा स्थायी संवंध नहीं है। प्रत्येक विकृति आगे विकसित होनेवाली विकृति (विशेप आकृति) के लिए प्रकृति हो जाती है। उदाहरण के लिए टकसाल में जिस धातु के सिक्के वनने हैं वह प्रकृति अथवा मैटर कहलायेगी। पहले यह धातु छोटे गोल खंडों में विभक्त की जायगी। इन खंडों की धातु इनकी प्रकृति होगी और इनकी मोटाई और गोलाई इनकी आकृति विशेप। अव इन्हीं खंडों में ठप्पे के द्वारा मूर्त्ति और अन्य चिन्ह अंकित किये जायँगे। इस प्रकार जो परिपूर्णता को पहुँचे

हुए सिक्के तैयार होंगे उनकी दृष्टि से उनका पहले का गोल खंडों वाला रूप उनकी प्रकृति था और उन पर अब अंकित किये हुए चिन्ह उनकी आकृति—फ़ॉर्म। इसी प्रकार रुई अथवा ऊन से लेकर सूट की निर्मिति तक अनेकों प्रकृति-विकृतियों का सिलसिला होना संभव है। वनस्पति-जगत्, जीव-जगत् और मानव-जगत् में भी यही प्रकृति-विकृति का सिलसिला चला करता है। वट-कणिका अंकुरित होकर पादप का रूप ग्रहण करती है, पौदा बढ़कर फलच्छायासमन्वित महान् वट वृक्ष बन जाता है। जीव-जगत् में भी छोटा शिशु युवा बनता है अथवा अंडे में से बच्चा निकलता है और कालान्तर में पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार का विकास क्रम मानव-जगत् में भी दृष्टिगोचर होता है। पर यह विकास-क्रम तभी तक चलता है जब तक प्रारंभ की संभावना पूर्णतया अर्थवती नहीं हो जाती। वट-कणिका से पादप और उससे पूर्ण विकसित वट वृक्ष बस इससे आगे यह क्रम नहीं जाता। इसका आशय यह है कि वट-कणिका में जो संभावना अर्थवती होने के लिए निहित थी उसकी क्षमता पूर्ण वट वृक्ष के रूप तक पहुँचने की थी। इसके उपरान्त वह स्वयं वट-कणिकाओं को उत्पन्न करने लगती है। यही बात अन्य क्षेत्रों में भी चरितार्थ होती है। अरिस्तू ने संभावना को "दीनामिस्" और उसकी पूर्णता-प्राप्ति को "एनर्गेइया" कहा है।

जगत् में जो परिवर्त्तन चलता रहता है—वह चाहे प्रकृति-कृत हो चाहे मानव-कृत—उसकी व्याख्या करने के लिए अरिस्तू ने अपना चार प्रकार के कारणों का सिद्धान्त निर्धारित किया। "किं कारणम् ?" यह प्रश्न अत्यन्त पुराना है। उपनिषदों की भाँति यह प्रश्न प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने भी पूछा था और इसके विविध प्रकार के उत्तर दिये थे। अरिस्तू का विश्वास था कि इस जटिल प्रश्न का उत्तर यदि किसी ने सन्तोषप्रद प्रकार से दिया तो स्वयं उसने ही। कारण के लिए ग्रीक भाषा में "अइतिया" शब्द आता है। इसका अर्थ हेतु और निमित्त भी होता है। चार प्रकार के कारण अरिस्तू ने इस प्रकार गिनाये हैं—(१) मैटीरियल कॉज़ = समवायी कारण (तौ एक्ष् हू) वह पदार्थ जिससे कोई वस्तु निर्मित होती है ; (२) फ़ॉर्मल कॉज़ अर्थात् वह नियम जिसके अनुसार कोई वस्तु विकसित या निर्मित हुई है ; (३) कर्ता अथवा वह शक्ति (एजेण्ट) जो परिवर्तन को गति प्रदान करता है (तौ हौथेन्) (जिसको एफ़ीशिएण्ट कॉज़ कहा गया है) ; और (४) परम अथवा चरम कारण फ़ाइनल कॉज़ जो इस समग्र प्रक्रिया का परिनिष्ठित परिणाम है (तौ हू हैनेका = जिसके लिये जो)। यह चार प्रकार के कारण प्राकृतिक और मानव दोनों

ही स्तरों पर निरन्तर काम करते रहते हैं। प्राकृतिक जगत् से यदि वट वृक्ष का उदाहरण लें तो वट-कणिका प्रथम कारण, वट के विकास का नियम द्वितीय कारण, जिस वट वृक्ष की कणिका से यह नया वृक्ष उगा वह तृतीय कारण और चरम विकास—अर्थात् उस अवस्था की प्राप्ति जब कि यह वट भी वट-कणिकाओं को उत्पन्न करने लगे तथा जिसके लिए यह सब प्रक्रिया चलती है—चतुर्थ कारण है। मानव जगत् में कुम्हार के द्वारा बने हुए घट को उदाहरण-स्वरूप ले सकते हैं। इस प्रसंग में मिट्टी प्रथम कारण है, घट की विशिष्ट आकृति अथवा घट-निर्माण का नियम दूसरा कारण है, कुम्भकार जिसकी चेष्टा से घट बना तीसरा कारण है और वह उद्देश्य अथवा निमित्त जो घट के निर्माण से सिद्ध होता है, जिसके लिये घट बना वह चौथा कारण है। कहीं कहीं अरिस्तू ने "एफ़ीशिएण्ट कॉज़" के अन्तर्गत गीता के पंचहेतुवाद के दैव अथवा यदृच्छा को भी गिनाया है। किसी समवायी कारण से कर्ता के द्वारा किसी अन्य वस्तु के निर्माण की प्रक्रिया में गति (किनेसिस्) की आवश्यकता होती है। अरिस्तू के मत में कार्य की उत्पत्ति के लिए समवायी कारण में गति होना अनिवार्य है, कर्ता में उसका होना संभव नहीं। कर्ता के लिये तो समवायी कारण में गति को प्रेरित करना भर पर्याप्त है। सभी संकल्पित कार्यों में मूलभूत निमित्त कारण तो कर्ता का संकल्पित उद्देश्य अथवा विचार होता है और यह विचार तो स्वयं गतिमान होता नहीं। गतिरहित निमित्त कारण का पदार्थों में गति को प्रेरणा देना अरिस्तू के धर्मदर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। अरिस्तू गति के अनेकों प्रकार मानता है जैसे (१) संभूति, (२) विनाश, (३) अन्यथाकरण, (४) वृद्धि, (५) हानि, (६) देशान्तरीकरण—(क) सरल, (ख) वर्तुल—इत्यादि। इसके अतिरिक्त वह गति को सतत और शाश्वत मानता है और इसी प्रकार सृष्टि को भी शाश्वत स्वीकार करता है।

गति-सातत्य के लिए गति को नित्य प्रेरणा देनेवाले तत्त्व एवं ऐसे नित्य पदार्थ की आवश्यकता है जिसमें नित्य गति की सत्ता बनी रह सके। जिस पदार्थ में नित्य गति की सत्ता रहती है मैटर है; इसी नित्यगति से मैटर में उत्तरोत्तर विशिष्ट आकारों का प्रादुर्भाव हुआ करता है। तथा जो तत्त्व इस गति को प्रेरणा देता है वह है देव (थियौस्) अथवा ईश्वर। यही अप्रेरित आद्य प्रेरक है (हो ऊ किनूमेनॉन् किनेइ)। अरिस्तू ने मेताफीसिक्स की १२वीं पुस्तक में ईश्वर के स्वरूप का जो निरूपण किया है उसमें उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द तथा नित्यत्व आदि लक्षण तो मिलते हैं पर मुख्य भेद यह है कि अरिस्तू का ईश्वर जगत में व्याप्त नहीं है, वह संसार

के संसरण अथवा प्रक्रिया से परे और नितान्त निर्लिप्त है। उसकी उत्कृष्ट सत्तामात्र में वह कमनीयता है कि (मैटीरियल=) भौतिक जगत् उससे प्रेरणा ग्रहण करके गतिमान वना रहता है और उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता जाता है। पर ईश्वर शुद्ध सनातन तत्त्व है जिसका न इतिहास है न विकास। उसमें भौतिकता का लेश भी नहीं है। उसकी सत्ता जगत् के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। प्रश्न हो सकता है कि यह ईश्वर, जो पूर्णतया निरंजन है, क्या निष्क्रिय भी है? अरिस्तू का ईश्वर शुद्ध क्रिया है पर ऐसी क्रिया जो गतिरहित है। ईश्वर की क्रिया शुद्ध चिन्तन-स्वरूप है और इस चिन्तन का विषय वह स्वयं अपने आप है। वह स्वयं चिन्तन करता है और उसका चिन्तन चिन्तन के विषय में है। क्योंकि इस चिन्तन-क्रिया में किसी प्रकार की विघ्न-वाधा नहीं है अतएव यह निरन्तर चलनेवाला चिन्तन नित्य आनन्द से समन्वित रहता है। ईश्वर स्वयं जगत् के विषय में निश्चिन्त ही नहीं वेसुध है पर उसकी सत्ता भौतिक जगत् में एक लालसा अथवा क्षुधा को जगाकर उसको निरन्तर गतिमान बनाये रहती है। जिस प्रकार संसार के अच्छे पदार्थ स्वयं स्थिर रहते हुए भी दूसरों को अपनी अच्छाई से प्रेरित करके गतिमान करते हैं इसी प्रकार ईश्वर भी, जो कि सर्वोत्तम, शाश्वत, आनन्दमय सजीव चिन्मय सत्ता है, सारे विश्व को कितनी प्रवल प्रेरणा दे सकता है यह कल्पना से परे की वात है।

पर जिस १२वीं पुस्तक में ईश्वर की उपर्युक्त उदात्त सत्ता का विवरण मिलता है वहीं लगभग खगोलों के समधिक ५० अन्य स्वतंत्र प्रेरकों का भी वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन प्रेरकों का और आद्य प्रेरक का परस्पर कोई संबंध है भी या नहीं, इसकी चर्चा कहीं नहीं मिलती। जर्मन विद्वान् याएगर के मत में उपर्युक्त दो विभिन्न सिद्धान्त अरिस्तू के जीवन के विभिन्न समयों से संबंध रखते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों विचारों में समन्वय करने का प्रयत्न नहीं किया गया। मध्यकालीन जिन ईसाई सन्त दार्शनिकों ने अरिस्तू की देवविद्या को अपने धर्मशास्त्र का आधार वनाया उनको ईसाई ईश्वर और अरिस्तू के ईश्वर में समन्वय स्थापित करने में वड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा और फिर भी वे इस कार्य में पूर्णतया कृतकार्य नहीं हो सके।

अरिस्तू ने अपनी पराविद्या का आरंभ अपने गुरु के सिद्धान्तों का खंडन करने के लिये किया था। प्लातोन ने जो परिदृश्यमान जगत् से परे आकृति जगत् (World ideas) की सत्ता का प्रतिपादन किया था वह अरिस्तू को मान्य नहीं था। पर उसने जो ईश्वर के स्वरूप का निरूपण किया है उसके अनुसार वह शुद्ध आकृति

(Idea) के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता क्योंकि उसमें भौतिकता का तो लेशमात्र भी नहीं है।

समग्र दार्शनिक-चिन्तन और ज्ञानप्राप्ति का उद्देश्य है मानव-जीवन की उन्नति--मनुष्य के सुख की वृद्धि। अतएव अरिस्तू ने मानव-जीवन के व्यावहारिक समुत्थान के विषय में भी विस्तार से विचार किया एवं सदाचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में अनेकों ग्रंथों की रचना की। मनुष्य के कार्यों को अरिस्तू ने दो दृष्टिकोणों से देखा है--(१) व्यक्ति के कार्यों की दृष्टि से और (२) नागरिक समाज के सदस्य की दृष्टि से। पर यह तो दृष्टिकोण का भेद है और यह भेद मनुष्य के कार्यों को समझने की दृष्टि से किया गया है। व्यक्ति के कार्यों की नीति का विवेचन सदाचार-शास्त्र (ऐथिक्स) में किया गया है और मानव के नागरिक रूप और तत्संबंधी नागरिक व्यवस्था का विवेचन राजनीतिशास्त्र (पौलिटिक्स) में किया गया है। पर उपर्युक्त दोनों विवेचन और दोनों ग्रंथ एक दूसरे से बिलकुल पृथक् और अछूते हों, ऐसी बात नहीं है। दोनों ग्रंथों में बहुधा एक दूसरे की ओर संकेत किया गया है।

व्यावहारिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ कला राजनीति है क्योंकि यह अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अन्य सब कलाओं द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं का उपयोग करती है। अन्य सब कलाओं के लिए मार्ग-निर्देश भी राजनीति से ही प्राप्त होता है। पर राजनीति की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा आचारशास्त्र है जिसमें नगर के प्रत्येक व्यक्ति के लिये श्रेष्ठ जीवन की खोज की जाती है। जहाँ तक श्रेष्ठ जीवन के सामान्य लक्षण का संबंध है इसके विषय में अरिस्तू और उसका गुरु प्लातोन दोनों का एक मत था कि सुखी जीवन श्रेष्ठ जीवन है। मानव के लिए सुखी जीवन की तीन शर्तें प्लातोन ने निर्धारित की थीं--(१) ऐसा जीवन स्वतः वांछनीय होना चाहिये, (२) स्वतः पर्याप्त होना चाहिये और (३) एवं बुद्धिमान् मनुष्य की दृष्टि में अन्य सब प्रकार के जीवनों से वरेण्य होना चाहिये। इन तीन शर्तों को पूरा करनेवाले जीवन का लक्षण बतलाने के पूर्व हमको मनुष्य की वृत्ति को भी जान लेना आवश्यक है। किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति की वृत्ति से तात्पर्य उस विशेष कर्म से है जिसको वह वस्तु या व्यक्ति ही कर सकता है। जैसे नेत्र की वृत्ति देखना है। इसी प्रकार मनुष्य की वृत्ति जीवन का वह विशिष्ट प्रकार होगा जो मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी का--ईश्वर अथवा मनुष्येतर प्राणी का--भागधेय नहीं है। इन सब बातों पर विचार करके

अरिस्तू इस निर्णय पर पहुँचता है कि मनुष्य के लिए सुखी जीवन वह होगा जो सक्रिय हो और परिपूर्णतया श्रेष्ठ अच्छाई के अनुसार व्यतीत किया गया हो। इस प्रकार के जीवन के लिए कुछ भौतिक सुविधाओं का सौभाग्य भी आवश्यक होता है। मित्रों का साहचर्य, पर्याप्त धन-सम्पत्ति और स्वास्थ्य यह सुखी जीवन के वाह्य साधन हैं।

सुखी जीवन श्रेष्ठ भलाई अथवा अच्छाई के अनुसार व्यतीत किया गया जीवन है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि श्रेष्ठ भलाई क्या है। भलाई दो प्रकार की होती है, एक बुद्धि की भलाई और दूसरी चरित्र की भलाई। बुद्धि की भलाई अथवा सद्-बुद्धि हमको यह बतलाती है कि सुखी जीवन का नियम क्या है और चरित्र की भलाई अथवा सच्चरित्रता हमको उस नियम के अनुसार आचरण करने में समर्थ बनाती है। इन दोनों की ही सहायता से मनुष्य आचारवान् मनुष्य बनता है। मनुष्य की शिक्षा में सदनुशासन द्वारा चरित्र की भलाई बुद्धि की भलाई की अपेक्षा पहले सिखाई जानी चाहिए। जब हम मनोवेग एवं कामनाओं आदि सहज प्रवृत्तियों पर संयम रखना सीख लेते हैं तब हमारी बद्धि को वह सौम्यावस्था प्राप्त होती है जिससे हम जीवन के सन्नियमों को समझ सकते हैं। सच्चरित्रता की उपलब्धि सत्कर्मो को बारंबार करने से प्राप्त होती है!

सच्चरित्रता के लिए सत्कर्म का लक्षण जानना आवश्यक है। अरिस्तू ने सच्चरित्रता और सत्कर्म का निर्णय करने के लिये मध्यममार्ग (मैसॉतेस्) का निरूपण किया है। सच्चरित्रता हमारी संकल्पशक्ति की वह व्यवस्था है जो हमारे व्यक्तित्व की अपेक्षा में मध्यममार्ग का अनुसरण करती है और मध्यममार्ग का निर्धारण विवेक द्वारा उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार कोई समझदार कर सकता है। इसका उदाहरण देने के लिये अरिस्तू ने अनेकों सहज मानवीय प्रवृत्तियों का विवरण उपस्थित किया है। अपने विषय में दूसरों को सूचना देना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, इस आत्मप्रकाशन के तीन प्रकार हो सकते हैं—(१) गर्वोक्तियों द्वारा अपने को वास्तविकता से बढ़कर बतलाना, (२) आत्मावसादन द्वारा अपने को वास्तविकता से हीन बतलाना और (३) अपने विषय में यथार्थ तथ्य कहना। इस प्रसंग (१) और (२) में अति का आश्रय लिया गया है और (३) में मध्यममार्ग का। इसी प्रकार साहस, उदारता, संयम, सत्यपरायणता, स्वाभिमान इत्यादि सद्गुण, सत्कर्म अथवा सच्चरित्रता के अंग दो अतिशयों के मध्यवर्ती गुण हैं। इस मध्यममार्ग को अपने संबंध में जानकर

उसका अनुसरण करना सच्चरित्रता है। इसके लिये (जैसा कि ऊपर कह आये हैं) सद्‌बुद्धि और सदाचरण के अभ्यास की आवश्यकता होती है। अरिस्तू को मनुष्य की इच्छा (संकल्प)-शक्ति की स्वतंत्रता का सिद्धान्त मान्य है और वह मनुष्य को उसके कार्यों के लिये उत्तरदायी मानता है। उसके मत में व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का लक्षण है मानव के लिए श्रेष्ठ जीवन के सामान्य स्वरूप को जानते हुए उसके प्रकाश में उन कार्यों को करना जो वास्तव में मनुष्य के लिये भले हों।

पर सबसे अन्त में अरिस्तू चिन्तन और मननपूर्ण जीवन को सर्वोच्च स्थान देता है। नै[illegible]क जीवन के सब कार्य और सारी व्यवस्थाएँ हैं अवकाश की उपलब्धि के लिए। अवकाश-काल में मनुष्य भौतिक जीवन के बाधा-बंधनों से मुक्त होकर आत्मतंत्रता की स्थिति को प्राप्त करता है। इसका उपयोग मनुष्य आत्मचिन्तन, ज्ञानचिन्तन और कलाचिन्तन में करके मानवीय सीमाओं के भीतर ईश्वरीय अनुभव प्राप्त करना है। जो सुख ईश्वर को स्वतः नित्य उपलब्ध है उसको मनुष्य अवकाश के चिन्तनमय क्षणों में उपभोग करके मानव के विकास के चरम शिखर पर आरूढ़ हो पाता है। अरिस्तू के मत में इस प्रकार का जीवन मानव-जीवन में निहित दिव्य-जीवन का अनुसरण करता है और इसके अनुसरण से मनुष्य को यथाशक्ति अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार प्लातोन की प्रतिध्वनि अरिस्तू के चिन्तन में पुनः पुनः हठात् फूट पड़ती है।

सदाचार-शास्त्र के पूरक राजनीति-शास्त्र, गृह-प्रबन्ध-शास्त्र एवं अथेन्स के संविधान में अरिस्तू ने अपने राजनीति और अर्थनीति संबंधी विचारों को व्यक्त किया है। इस विषय पर हम अगले प्रकरण में पृथक् से विचार करेंगे। इस प्रकरण के शेष भाग में काव्य-कला और भाषण-कला के संबंध में अरिस्तू के विचारों का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय देकर इसको समाप्त करेंगे।

अरिस्तू की राजनीति संबंधी रचनाओं को पढ़ने से पता चलता है कि यूनानी लोग पर्याप्त राजनीतिक चेतना से युक्त और व्यवहारप्रवण (मुकदमेबाज़) थे। सॉक्रातेस से कुछ समय पहले से ही सौफिस्त नामक विदेशी आचार्य लोग अथेन्सवासियों को भाषण-कला एवं श्रोताओं के विचारों के नेतृत्व करने की कला की शिक्षा देने लगे थे। इतना ही नहीं इस विषय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी जा चुकी थीं। इसॉक्रातेस् का विद्यालय तो विशेष रूप से इसी कला की शिक्षा देता था। अरिस्तू की "रेतौरिका" नामक पुस्तक की विशेषता यह है कि पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा उसने भाषण में युक्ति-

युक्तता को अधिक महत्त्व प्रदान किया है जब कि पूर्ववर्ती विद्वानों ने श्रोताओं की भावुकता और मनोवेगों को उत्तेजित करने पर अधिक बल दिया था। अरिस्तू के अनुसार रेतौरिक मनुष्यों को किसी भी विषय पर अपने अनुकूल बनाने के संभव उपायों को देख पाने की शक्ति है। मनुष्यों को मना लेने के दो उपाय हैं–(१) बिना विशेष अध्ययन के साक्षियों, यंत्रणा अथवा लिखित प्रमाणों द्वारा तथा (२) वक्ता के विशेषाध्ययन इत्यादि से प्रस्तुत भाषण द्वारा। इस द्वितीय के तीन प्रकार हैं—(१) वक्ता के चरित्र अथवा व्यक्तित्व से संबंध रखनेवाला प्रकार, (२) श्रोताओं में मनोवेगों को भड़कानेवाला प्रकार और (३) केवल युक्तियों के बल पर उपपत्ति अथवा उसके आभास को उत्पन्न करनेवाला। युक्तियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—विशेष और सामान्य।

भाषण-कला के तीन भेद हैं–(१) परामर्शदाता की वक्तृत्व कला किसी भावी कार्य-पद्धति की भलाई-बुराई को प्रदर्शित करती है, (२) समर्थक की वक्तृत्व-कला किसी भूतकालिक कर्म की वैधता अथवा अवैधता को सिद्ध करती है और (३) प्रदर्शनात्मक वक्तृत्व-कला किसी विद्यमान वस्तु अथवा व्यक्ति की उत्तमता अथवा नीचता को प्रदर्शित करती है। इसके अतिरिक्त अरिस्तू ने यह भी बतलाया है कि (क) राजनीतिक भाषणों में, (ख) घोषणात्मक व्याख्यानों में तथा (ग) न्यायालयों की वक्तृताओं में किस प्रकार की युक्तियाँ उचित और उपयोगी होती हैं। "रेतौरिका" की अन्तिम पुस्तक में अरिस्तू ने शैली का विस्तृत विवेचन किया है एवं (१) स्पष्टता अथवा प्रसादगुण और (२) औचित्य, यह दो शैली के विशेष गुण माने हैं। इन गुणों की उपलब्धि के उपायों की चर्चा भी की गई है। भाषण की गद्यशैली में प्रच्छन्न भाव से लय का भी उपयोग किया जाना चाहिये।

अरिस्तू के पूर्ववर्ती लेखकों ने भाषण को अनेकों भागों में विभक्त करने की योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। अरिस्तू ने इनका परिहास किया है। उसके मत में किसी भी भाषण के केवल दो ही अंग हो सकते हैं—(१) अपने पक्ष का कथन और (२) उसका उपपत्तिपूर्वक प्रतिपादन। इसके विपरीत इसॉक्रातेस् ने भाषण के चार अंग गिनाये थे—(१) भूमिका, (२) अपने पक्ष का कथन, (३) उपपत्ति और (४) समारोप। अरिस्तू इन चार अंगों को तो यथाकथंचित् स्वीकार कर लेने को तैयार था पर इससे अधिक अंगविभाग उसको कदापि मान्य नहीं था। प्राचीन काल में इस विद्या का अधिक मान था पर आजकल इसकी उतनी प्रतिष्ठा

नहीं रही है। हाँ, हाल ही में अमेरिका में इसके प्रति आस्था का पुनरुत्थान घटित हुआ है।

अरिस्तू का काव्यशास्त्र (पैरी पोइतिकेस्) आकार में अत्यन्त छोटी किन्तु महत्त्व में अत्यन्त गौरवशाली पुस्तक है। इसका नामार्थ है काव्यरचना अथवा केवल रचनाशास्त्र। इस पुस्तक का यूरोप के साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इटली, फ्रांस और स्पेन की नाट्य-रचनाओं का नियंत्रण इस ग्रंथ के द्वारा सुदीर्घ काल तक होता रहा। अरिस्तू ने इसका प्रणयन बड़ी तैयारी के उपरान्त किया था पर यह अत्यन्त खेद का विषय है कि यह ग्रंथ अभी तक खंडित रूप में ही मिलता है। कहते हैं कि इसकी एक पुस्तक और थी जो आजकल उपलब्ध नहीं होती।

प्लातोन ने अपनी कल्पना के आदर्श-नगर से कवियों को बहिष्कृत कर दिया था। उसके मत में वास्तविक जगत् आदर्श जगत् की धुधली प्रतिकृति है और काव्य इस धुँधली प्रतिकृति की और भी धुँधली प्रतिकृति होने के कारण सत्य से दुगुनी दूरी पर है अतएव त्याज्य है। अरिस्तू ने इस सिद्धान्त का विरोध किया और काव्य एवं उसकी विभिन्न शाखाओं के विषय में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की। यह दुर्भाग्य ही माना जायगा कि इस पुस्तक का जो भाग उपलब्ध है उसमें सामान्य भूमिका के पश्चात् केवल नाटक और नाटक के क्षेत्र में भी केवल गंभीर प्रकृति के त्रागेदी (दुःखान्त नाटक) का ही विशेष प्रतिपादन मिलता है। गीतिकाव्य, महाकाव्य इत्यादि अन्य काव्यांगों के विषय का प्रतिपादन जिस भाग में था वह या तो लिखा ही नहीं गया या सर्वदा के लिये खो गया है।

काव्य के विषय में अरिस्तू के दृष्टिकोण में किसी प्रकार की रहस्यात्मक भावना नहीं थी। इस विषय में उसका दृष्टिकोण नितान्त व्यवहारिक और व्यक्तिनिरपेक्ष है। काव्य को अरिस्तू भी अपने गुरु के समान जीवन की अनुकृति (मीमेसिस्) मानता है। इस परिभाषा के विषय में ग्रीक जगत् में किसी को आपत्ति नहीं थी क्योंकि उनकी कला सभी क्षेत्रों में अनुकरणात्मक थी। पर इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिये जो प्लातोन ने समझा था। कविता जीवन का अनुकरण है अतएव वह जीवन की निर्जीव छाया है, ऐसा समझना भारी भूल होगी। हम सोते-जागते सब समय जीवन और उसके अनुभवों से घिरे रहते हैं, यही दशा कवियों और कलाकारों की भी होती है। पर उनकी सहानुभूतिपूर्ण अनुभव करने की शक्ति—संवेदनशीलता—अन्य साधारण जनों की अपेक्षा अधिक समर्थ और सूक्ष्म होती है।

जब वे इस अनुभव का कलाकृतियों में अनुकरण करते हैं तो वे उसके साथ में अपने व्यक्तित्व और अपनी कल्पना का योग कर देते हैं जिसके कारण उनकी रचनाएँ न तो जीवन की फोटोग्राफ के सदृश शत-प्रतिशत (मक्षिकास्थाने मक्षिका) नकल होती हैं और न जीवन की निर्जीव धुँधली छाया। कल्पना का योग उनको अनुप्राणित करके आनन्दमय और आकर्षक बना देता है। काव्य और नाटक के क्षेत्र में ग्रीक कलाकारों ने अपने देश की पौराणिक गाथाओं को बार बार ग्रहण किया है। यदि कविता और नाटक केवल अनुकृतिमात्र होते तो एक विषय पर विविध कवियों द्वारा रची गई कृतियाँ बिलकुल एक सी होतीं। पर वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। एक ही कथावस्तु विभिन्न कलाकारों के व्यक्तित्व और कल्पना के रंग से अनुरंजित होकर हमारे सामने एक पृथक् कलाकृति के रूप में आती है। प्रत्येक कवि की रचना एक ही कथावस्तु की अनुकृति भी है पर क्योंकि उसके व्यक्तित्व ने उसकी अपनी सी व्याख्या प्रस्तुत की है अतएव वह अन्य कवियों की उसी विषय की अन्य प्रकार के व्यक्तित्व द्वारा की गई व्याख्या से पृथक् है। भारतवर्ष में रामचरित को लेकर वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण, कम्बरामायण, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, कृत्तिवासी रामायण एवं पं० राधेश्याम की रामायण इत्यादि न जाने कितनी रचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। वे सभी रामचरित की अनुकृतियाँ हैं पर विभिन्न कवियों के व्यक्तित्व और कल्पना की अनिवार्य पृथक्ता के कारण वे सब एक दूसरे से भिन्न हैं।

इसी सिद्धान्त से संवद्ध पर नाटक के (विशेषकर गंभीर अथवा दुःखान्त नाटक के) संबंध से उदाहृत अरिस्तू का काव्य की उपयोगिता का सिद्धान्त है। इसको भाव-विरेचन का (कार्थासिस् का) सिद्धान्त कहा जाता है। दैनिक जीवन में हमको अनेकों बार भावातिरेक का अनुभव करना पड़ता है। बहुत सी परिस्थितियों में मन्युवेग (क्रोध अथवा शोक के वेग) के कटु घूँट को पीना पड़ता है। यह सब हमारे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य और संतुलन के लिये खतरे की बात है। इसी प्रकार के मनोवेगों के प्रशमन के लिये अथेन्स में एवं अन्य स्थानों में भी दियौनीसिया नामक उत्सव के समय नाटकों का अभिनय किया जाता था। कवि अपनी कल्पना द्वारा प्राचीन यूनानी देवी-देवताओं और वीर पुरुषों तथा रमणियों के कार्यकलाप को अपनी नाट्य-कृति के रूप में प्रस्तुत करता था। अभिनेता और नृत्यमंडलियाँ उसी को रंगमंच पर प्रस्तुत करते थे और जनता अपनी कल्पना के द्वारा उसके साथ तन्मय होकर यथाशक्ति उनके प्रेम, शोक, क्रोध का अनुभव करते हुए इन भावों के अपने हृदय में संचित अतिरेक की अभिव्यक्ति (परोक्षापरोक्ष-अभिव्यक्ति) द्वारा उससे मुक्त होकर पुनः मानसिक

और शारीरिक संतुलन और स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेती थी। यह तो हमको ज्ञात ही है कि अरिस्तू राजवैद्य का पुत्र था और उसको वैद्यकशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। यह भाव-विरेचन का सिद्धान्त उसने इसी ज्ञान के सहारे प्रतिपादित किया था। पर इस सिद्धान्त में आधुनिक मनोविज्ञान के अवचेतन मानस के सिद्धान्त का पूर्वाभास भी दृष्टिगोचर होता है। अरिस्तू के समय की जनता वर्ष भर में दो बार इस भाव-विरेचन-योग को ग्रहण करती थी। आधुनिक जगत् के दैनिक नाटक और सिनेमा के तमाशों को तो अरिस्तू भावसंग्रहणी का ही नाम देता एवं मानव-चरित्र पर इन तमाशों का जो प्रभाव पड़ रहा है उसको देखते हुए उसका ऐसा कहना अनुचित भी नहीं होता। कला के रूप में सार्विकता (Universality) रहती है, यह तथ्य अरिस्तू ने अपने गुरु से ग्रहण किया था पर कला का उद्देश्य जीवन की प्रत्यभिव्यक्ति के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द-प्रदान हमारे जीवन में भाव-संतुलन की स्थापना करना है, यह अरिस्तू की आलोचनाशास्त्र को अपनी देन थी। आदर्श नगर-व्यवस्था में कवि की शिक्षक और भाव-संशोधक के रूप में आवश्यकता रहती है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि अरिस्तू ने इस ग्रंथ में विशेष रूप से त्रागेदी नामक नाटक का ही विवरण उपस्थित किया है। यह नाटक ऐसे कार्य की प्रत्यभिव्यक्ति है जो गंभीर, पूर्ण और कुछ विशालता लिये हो। इसकी भाषा नाटक के विविध भागों में प्राप्त होनेवाले कलात्मक अलंकारों से सजी-बजी होनी चाहिये। प्रत्यभि-व्यक्ति क्रियात्मक होनी चाहिये, वर्णनात्मक नहीं। करुणा और भय को (दर्शकों और पाठकों में) उत्पन्न करके नाटक को उनमें इन्हीं तथा अन्य मनोवेगों का परिष्कार करने की क्षमता होनी चाहिये। त्रागेदी के ६ अंग अथवा तत्त्व होते हैं—(१) दृश्यमान रूप (औप्सिस्), (२) गीति (मैलोपोइया), (३) शब्द-चयन (लैक्सिस्), (४) कथावस्तु (मीथॉस्), (५) चरित्र (एथॉस्) और (६) विचार (दियानोइया)। आधी से अधिक पुस्तक में अरिस्तू ने इन्हीं विषयों का विवेचन किया है। तदुपरांत भाषा के संबंध में व्याकरण और अलंकारों का भी थोड़ा विवेचन किया है। शेष पुस्तक में महाकाव्य एवं महाकाव्य और त्रागेदी के भेद का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत लेखक अरिस्तू के काव्यशास्त्र और भरत मुनि के नाटचशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन में संलग्न है और इस विषय में निकट भविष्य में विस्तारपूर्वक लिखने का संकल्प किये है। इस समय इतना ही पर्याप्त है।

उपर्युक्त पृष्ठों में अरिस्तू के विपुल साहित्य में निहित विचारों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का असंभव प्रयत्न किया गया है। ऐसी आशा नहीं है कि इस

विवरण को संतोषप्रद समझा जाय। संस्कृत की पुरानी लोकोक्ति को कि अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः अथवा अंग्रेजी की उक्ति को कि Something is better than nothing दृष्टि में रखकर यह धृष्टता की गई है। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् लियाँ रोबिन् ने अपनी पुस्तक La Pensee Grecque = Greek Thought में अरिस्तू के विषय में सबसे लम्बा अध्याय लिखकर उसकी महत्ता का प्रतिपादन एक वाक्य में इस प्रकार किया है—"He was a mighty encyclopaedist and a master teacher." "समर्थ विश्वज्ञ और सिद्ध शिक्षक" एवं "ज्ञानिनां गुरुः" अरिस्तू दर्शन-जगत् में सर्वदा के लिए अमर है। चिरकाल तक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति में उसके विचार बाधक बने तो इसमें उसका दोष नहीं था। उसने कहीं भी सर्वज्ञता का दावा नहीं किया। गलती की तो उसके पश्चात् आनेवाली पीढ़ियों ने। दार्शनिकों का सच्चा सत्कार है उनके विचारों की निर्मम आलोचना—जैसा कि स्वयं अरिस्तू ने अपने गुरु के विषय में किया। पर उसके शिष्यों ने उसकी आलोचना न करके उसको सर्वज्ञ मान लिया।

अरिस्तू की राजनीति (बहिरङ्ग)

अरिस्तू की राजनीति नामक पुस्तक उसकी सदाचार-शास्त्र नामक पुस्तक से घनिष्ठ संबंध रखती है। वास्तव में यह दोनों पुस्तकें एक दूसरी की पूरक हैं। दोनों पुस्तकों में यत्र-तत्र एक दूसरी के प्रति संकेत मिलते हैं। पर कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो अरिस्तू की प्रायः सभी रचनाओं के संबंध में समान रूप से पाई जाती हैं। इन रचनाओं का वर्तमान रूप इनके संपादकों के द्वारा दिया हुआ है जो आधुनिक संपादकों के लिये कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। अनेकों रचनाओं की अवान्तर पुस्तकों का क्रम इतना उलझा हुआ है कि उसका सर्वसम्मत हल उपलब्ध हो ही नहीं सकता। विशेष रूप से यह कठिनाई मेताफीसिक्स (पराविद्या) और पौलिटिक्स (राजनीति) नामक रचनाओं के विषय में सामने आती है। अनेकों स्थानों पर लेखक ने प्रतिज्ञा की है कि वह अमुक विषय पर आगे चलकर विचार करेगा पर उसने ऐसा नहीं किया। एकाध बार जिस बात का उसने तत्काल आगे विचार करने का संकेत दिया है उसका विवेचन बहुत दूर आगे चलकर किया है। अनेकों बार जो बात उसने एक स्थान पर कही है उसका अन्यत्र कहीं स्वयं विरोध अथवा खंडन किया है।

पुनरावृत्ति की तो कोई वात ही नहीं। ऐसी विचित्र स्थिति का कारण यह है कि अरिस्तू के प्रकाशित ग्रंथ—वे ग्रंथ जिनको उसने अंतिम एवं पूर्ण रूप देकर स्वयं प्रकाशित किया था——सव लुप्त हो गये। जो रचनाएँ आज उसके नाम से हमको उपलव्ध हैं वे या तो स्वयं उसके द्वारा अथवा उसके शिष्यों द्वारा प्रस्तुत किये उसके व्याख्यानों के संक्षिप्त स्मृति-सूत्र—नोट्स——हैं। इन्हीं को उनके संपादकों ने अपनी सूझ वूझ के अनुसार नाना ग्रंथों के रूप में ग्रथित कर दिया है। क्योंकि संपादन का कार्य लेखक के जीवन-काल से सैकड़ों वर्ष पीछे हुआ अतएव उसके सम्प्रदाय के अन्य विद्वानों की कतिपय रचनाएँ भी विचार-साम्य के आधार पर अज्ञात भाव से अरिस्तू की रचना-राशि में सम्मिलित हो गई। वहुत सी सामग्री स्वयं अरिस्तू ने ही नोट्स के रूप में जानकारी का संग्रह करने के लिये एकत्रित की थी; इसमें से वहुत कुछ नष्ट हो गई और कुछ उसकी रचनाओं में संगृहीत हो गई।

इन्हीं सव कारणों से अरिस्तू की राजनीति की पुस्तकों का क्रम भी एक समस्या वन गया है। आधुनिक विद्वानों और संपादकों ने इस क्रम की वड़ी वारीकी के साथ आलोचना की है। प्राचीन ग्रीक ग्रंथों में पुस्तकों के भागों की गणना वर्णमाला के अक्षरों द्वारा की जाती थी। ग्रंथ का एक भाग पुस्तक कहलाता था और उसका संवंध विषय विवेचन नहीं होता था। कारण यह था कि ग्रंथ उस समय विशेप प्रकार से तैयार किये हुए चमड़े पर लिखे जाते थे। ग्रंथ का जितना भाग एक खाल पर आ जाता था एक पुस्तक कहलाता था। प्लातोन की रिपव्लिक में १० और अरिस्तू की राजनीति में ८ पुस्तकें हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रथम ग्रंथ १० खालों पर लिखा जाता था और दूसरा ८ खालों पर। कॉर्नफोर्ड ने इसीलिए अपने रिपव्लिक के अनुवाद में इस चर्म-वुद्धि का परित्याग कर विपय के प्रतिपादन की दृष्टि से अध्यायों की कल्पना की है।

इस विपय पर प्रायः सभी संपादक एकमत हैं कि "राजनीति" एकीकृत अथवा समरस रचना नहीं है। यह परस्पर संवंध रखनेवाले विविध निवंधों का समूह है जो किसी आदर्श क्रम में ग्रथित नहीं किये जा सके। यह भी संभव है कि यह सव निवंध विभिन्न समय पर प्रस्तुत किये गये हों। जिन पृथक् पृथक् निवंधों का संग्रह इस ग्रंथ को वतलाया जाता है उनकी संख्या ५ अथवा ६ है। (१) प्रथम निवंध में गृहस्थी का वर्णन किया गया है जो नितान्त स्वाभाविक और आवश्यक है क्योंकि गृहस्थियाँ ही क्रमशः विकसित होकर कालान्तर में नगर-राष्ट्र का रूप धारण कर लेती हैं।

यह निबंध प्रस्तुत ग्रंथ की प्रथम पुस्तक है। (२) दूसरा निबंध आदर्श व्यवस्थाओं का वर्णन करता है। इसमें उन आदर्श व्यवस्थाओं का भी वर्णन है जिनका केवल सैद्धान्तिक रूप में प्रस्ताव किया गया था और उन व्यवस्थाओं का भी वर्णन है जो अनेकों राष्ट्रों में व्यवहार में आ रही थीं और आदर्शरूप होने के कारण सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। राजनीति में यह निबंध दूसरी पुस्तक है। (३) तीसरे भाग में (जो कि राजनीति की तीसरी पुस्तक है) राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा है--जैसे नागरिकता का स्वरूप, संविधानों अथवा व्यवस्थाओं के भेद, विविध व्यवस्थाओं में न्याय-वितरण के सिद्धान्त एवं राजपद के सिद्धान्त इत्यादि। (४) चौथे भाग में जो कि राजनीति की दो (एवं कुछ विद्वानों के मत में तीन) पुस्तकों में फैला हुआ है क्रियात्मक एवं वास्तविक राजनीति का वर्णन है। व्यवहार में विविध प्रकार के सिद्धान्तों में किस प्रकार समझौता और सम्मिश्रण होता है और आदर्श सिद्धान्त किस प्रकार नीचे उतर आते हैं यह सब विषय इस भाग में पाये जाते हैं एवं राजनीति की चौथी और पाँचवीं पुस्तकें इसी विषय को समर्पित हैं। छठी पुस्तक को भी कुछ आलोचक इसी चौथे भाग के अन्तर्गत मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इसको पाँचवाँ भाग मानते हैं। इस भाग में उन विविध उपायों का वर्णन है जिनके द्वारा विविध प्रकार की व्यवस्थाओं को स्थायी बनाने में सफलता मिलने की आशा की जा सकती है। शेष दो पुस्तकों (सातवीं और आठवीं) में राजनीति के अन्तिम (छठे) भाग का--राजनीतिक आदर्श और आदर्श व्यवस्था का--विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन भागों को अरिस्तू ने मैथड्स कहा है जिसका अर्थ विभाग या व्यवस्था है।

कह नहीं सकते कि उपर्युक्त छः विभागों और आठ पुस्तकों को यह परम्पराप्राप्त क्रम स्वयं अरिस्तू ने दिया था अथवा उसकी रचनाओं के आरंभिक संपादकों ने। परन्तु आधुनिक विद्वानों ने इस क्रम को एक समस्या के रूप में ही देखा है। इसका कारण यह है कि तृतीय पुस्तक के अन्तिम खंड में यह कहा गया है कि अब आदर्श अथवा श्रेष्ठ व्यवस्था का वर्णन आरंभ होगा पर वास्तव में यह वर्णन सातवीं पुस्तक में आरंभ हुआ है। इतना ही नहीं सातवीं पुस्तक का प्रथम वाक्य कुछ त्रुटित रूप में तृतीय, पुस्तक के अन्तिम वाक्य के रूप में विद्यमान है जिससे यह सूचित होता है कि अरिस्तू अथवा उसके प्रारंभिक संपादक का उद्देश्य सातवीं पुस्तक को तृतीय पुस्तक के उपरान्त रखने का था। इसके अतिरिक्त चौथी पुस्तक में श्रेष्ठ व्यवस्था के वर्णन की ओर संकेत हैं पर सातवीं आठवीं पुस्तकों में चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकों के प्रति कोई संकेत नहीं हैं। इससे भी यही सूचित होता है कि सातवीं और आठवीं पुस्तकें तृतीय पुस्तक के तत्काल

पश्चात् आनी चाहिये थीं और चौथी, पाँचवीं तथा छठी उनके पश्चात् आनी चाहिये थीं। इसी प्रकार चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकों के क्रम के विषय में यह आपत्ति है कि छठी पुस्तक में चौथी पुस्तक की समाप्ति के विषय को चालू रखा गया है और पाँचवीं पुस्तक का विषय इन दोनों के मध्य में एक व्यवधान के रूप में रख दिया गया है। अधिक अच्छा क्रम होता ४,६,५ पुस्तकों का। इन्हीं अड़चनों को दृष्टि में रखकर कुछ आलोचकों और संपादकों ने राजनीति की पुस्तकों के नवीन क्रमों का प्रस्ताव किया है। न्यूमैन ने तो अपने संस्करण में थोड़ा परिवर्तन कर भी दिया है।

पर अधिक विचार करने पर यही उचित प्रतीत होता है कि राजनीति की पुस्तकों का परम्परागत क्रम ही अन्य प्रस्तावित क्रमों की अपेक्षा अधिक तर्कसम्मत है। यह जो कहा जाता है कि तृतीय पुस्तक के पश्चात् सातवीं पुस्तक आनी चाहिये, तो यह बात भाषा के विचार से भले ठीक हो, तर्क की दृष्टि से ठीक नहीं है। आदर्श-व्यवस्था के विषय में अपना विचार प्रस्तुत करने के पूर्व विद्यमान व्यवस्थाओं और प्रस्तावित व्यवस्थाओं के स्वरूप, उनकी त्रुटियों और उनकी आलोचना का ज्ञान आवश्यक है। इन्हीं के आधार पर आदर्श-व्यवस्था के भवन का निर्माण हो सकता है। अतएव तृतीय पुस्तक के पश्चात् राजनीति की वास्तविकता का पर्यालोचन आवश्यक है। इसी प्रकार सभी प्रकार की व्यवस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करनेवाले उपायों का विचार करने से पूर्व व्यवस्थाओं में क्रान्ति और परिवर्तन होने के कारण जानना आवश्यक है अतएव पाँचवीं पुस्तक का चतुर्थ पुस्तक के पश्चात् आना आवश्यक है। इन सब युक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राजनीति की पुस्तकों का परम्परागत क्रम भले ही नितान्त आदर्श न हो तथापि उनके जो नवीन क्रम प्रस्तावित किये गये हैं उनकी अपेक्षा अवश्य अधिक युक्तियुक्त है। आरंभ में समग्र संगठित समाज और राजनीति की जड़ गृहस्थी के स्वरूप का विवेचन करके तदुपरान्त मनीषियों द्वारा प्रकल्पित ग्रंथगत आदर्श-व्यवस्थाओं एवं सुशासित माने जानेवाले राष्ट्रों में वास्तव में व्यवहृत श्रेष्ठ संविधानों का विचार किया गया है। इसके उपरान्त राजनीति के स्वरूप का और संविधानों के संभाव्य प्रकारों की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इसके पश्चात् उपर्युक्त प्रकारों के विभिन्न प्रकार के मिश्रणों से जो वास्तविक संविधान उत्पन्न हुए हैं अथवा हो सकते हैं एवं इन विभिन्न प्रकार के संविधानों की छत्र-छाया में किस प्रकार की मनोवृत्ति की जनता का विकास और किस प्रकार का न्याय संभव हो सकता है, इस समग्र उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। तदुपरान्त विभिन्न

प्रकार के संविधानों में किन कारणों से क्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं यह समझाया गया है। जिस प्रकार रोग हो जाने के पश्चात् उसका उपचार किया जाता है, इसी प्रकार क्रान्तियों के कारणों के पश्चात् संविधानों को क्रान्ति से बचाने और स्थायी बनाने के उपाय बतलाये गये हैं और अन्त में अरिस्तू ने सारे अनुभव और ज्ञान के आधार पर समग्र अध्ययन के निचोड़ के रूप में आदर्श संविधान एवं आदर्श शासन-व्यवस्था की अपनी कल्पना प्रस्तुत की है। अरिस्तू की रचनाएँ जिस रूप में उपलब्ध होती हैं उसको देखते हुए यह क्रम युक्तियुक्तता की दृष्टि से अत्यन्त संतोषप्रद है।

इसके आगे यह प्रश्न आता है कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई? इस प्रश्न का उत्तर कठिन इसलिए हो गया है क्योंकि यह पता नहीं कि स्वयं अरिस्तू ने इस ग्रन्थ को किस रूप में छोड़ा। यदि यह मानें कि अरिस्तू ने इस पुस्तक को विद्यमान क्रम दिया तब तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि इस ग्रंथ को उसने किसी विशिष्ट अवसर पर और सीमित समय के भीतर प्रस्तुत रूप दिया होगा। यह बात दूसरी है कि इस ग्रंथ में सम्मिलित सामग्री का संकलन उसने अलग अलग अवसरों और स्थानों पर किया हो। ऐसा तो सभी ग्रंथकार करते हैं। पर अरिस्तू के ग्रंथों की समस्या अन्य ग्रंथकारों की समस्या से भिन्न है। उसके ग्रंथों की जो सूचियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें से बहुत ग्रंथ सर्वदा के लिये विलुप्त हो गये हैं एवं कुछ नाम उन सूचियों में ऐसे मिलते हैं जो उसके कुछ उपलब्ध ग्रंथों के भाग मात्र हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कभी उसके ग्रंथों के अलग अलग भाग पृथक् पृथक् ग्रंथ माने जाते थे। सदाचार-शास्त्र के संबंध में जो दो ऐथिक्स नाम के ग्रंथ अरिस्तू-कृत माने जाते हैं उनके कुछ भाग बिलकुल एक समान और शेष भाग एक दूसरे से भिन्न हैं। अतएव यदि यह माना जाय कि अरिस्तू की रचनाओं का वर्तमान रूप उसके संपादकों का दिया हुआ है तो ग्रंथों के समय की समस्या अत्यन्त जटिल हो उठती है। एक विकल्प यह भी हो सकता है कि कुछ ग्रंथों को अरिस्तू ने स्वयं ग्रथित और प्रकाशित कर दिया हो और कुछ को उसके संपादकों ने सम्पादित करके प्रकाशित किया हो। इस अनिश्चित स्थिति के कारण आधुनिक विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। जर्मन विद्वान् वैर्नर याएगर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ Aristotele'sGrundlegung einerGeschisteseinerEntwicklung (अरिस्तू—उसके विकास के इतिहास का आधार) में बड़े परिश्रम से अरिस्तू की रचनाओं के विविध स्तरों को एक दूसरे से पृथक् किया है और उनके समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। परिणामतः याएगर ने बतलाया है कि राजनीति की अंतिम दो पुस्तकें अरिस्तू की प्रारंभिक रचना हैं क्योंकि उनमें उसके गुरु प्लातोन का प्रभाव

दृष्टिगोचर होता है और जिन रचनाओं अथवा रचनांशों में इस प्रकार का प्रभाव पाया जाता है वे उस समय की रचनाएँ मानी जानी चाहिये जिस समय तक अरिस्तू प्लातोनके आदर्शवाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया था। इसके विपरीत याएगर के अनुयायी प्रॉ० फॉन आर्निम् ने याएगर की पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने Zur Entstehungsgeschiste der airastotelischen Poltik अरिस्तू की 'राजनीति' की उत्पत्ति का इतिहास नामक ग्रंथ में यह निष्कर्ष निकाला है कि दो अंतिम पुस्तकें सबसे पीछे की रचनाएँ हैं। रेव०बाकर ने अथेन्स के संविधान के संबंध में एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (११वाँ संस्करण) में लिखा है कि अथेन्स का संविधान पौलिटिक्स के पश्चात् काल की रचना है क्योंकि उसमें सम्राट् फिलिप की मृत्यु (ई० पू० ३३६) के पीछे की किसी घटना का संकेत नहीं है। जब कि अथेन्स के संविधान में इसके पश्चात् ई०पू०३२९ तक की घटनाओं का उल्लेख है। बार्कर का मत है कि पौलिटिक्स अरिस्तू के अथेन्स के द्वितीय निवासकाल की रचना है अर्थात् ई० पू० ३३५ से ई० पू० ३२२ के मध्य की रचना है। इसकी कुछ पुस्तकों का दृष्टिकोण यथार्थवादी और कुछ का आदर्शवादी है जिसके कारण इसको विभिन्न समयों की रचना का संग्रह मात्र माना गया है। बार्कर के मत में यह दलील निःसार है क्योंकि कोई भी लेखक ऐसा करता। जहाँ वह यथार्थ स्थिति का वर्णन करता है उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है तथा जहाँ वह आदर्श संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करता है वहाँ उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। तथा जिन दोषों और खामियों के कारण इसपर असंगति का अपराध लगाया जाता है वैसे दोष तो कुछ सीमा तक आजकल तक की रचनाओं में पाये जाते हैं। अतएव पौलिटिक्स को अरिस्तू के जीवन के प्रौढ़तम भाग की—अर्थात् उस समय की जब कि वह "लीकेयम्" में मुख्याधिष्ठाता था—रचना स्वीकार करना ठीक होगा; साथ ही यह भी स्वीकार करना ठीक होगा कि यह पुस्तक सामग्र्येण एक इकाई है और सुग्रथित है। प्रायः सभी पुस्तकों में आगे पीछे की पुस्तकों के प्रति संकेत मिलते हैं।

अरिस्तू की उपलब्ध रचनाओं और समग्र रचनाओं की पुरानी तालिकाओं को देखने से पता चलता है कि उसने अपने जीवन में किसी समय ऐसा संकल्प अवश्य किया होगा कि मैं समग्र ज्ञान को संगृहीत करके संग्रथित कर जाऊँगा। बहुत संभव है कि यह संकल्प उसने अकादेमी में अध्ययन करते समय किया हो। इतना तो इस समय उपलब्ध होनेवाले यूनानी साहित्य से पता चलता है कि अन्य किसी ग्रीक लेखक की महत्त्वाकांक्षा इस प्रकार की नहीं थी। अपने इस संकल्प के अनुसार उसने तथ्यों का

संग्रह भी बहुत पहले से आरंभ कर दिया था और होना भी ऐसा ही चाहिये था। पर इससे यह अनुमान तो नहीं निकाला जाना चाहिये कि उसकी सब रचनाएँ फुटकर असंगत तथ्यों की गठरियाँ भर हैं। ऐसा कहना विश्व के एक महान् बुद्धिमान् के प्रति घोर अन्याय होगा। बीसवीं शताब्दी जो अधिक अच्छा, अधिक स्पष्ट और अधिक दूर तक देख पाती है यह उसके कंधों पर खड़े होने के कारण है।

अरिस्तू की रचनाएँ, शैली की दृष्टि से तीन प्रकार की थीं--(१) संवादात्मक रचनाएँ जो उसने अपने गुरु की शैलीके अनुकरण पर प्रस्तुत की थीं परन्तु जो अब नहीं मिलतीं। प्राचीन काल में इनकी पर्याप्त ख्याति थी और अनेकों विद्वानों ने इनका अनुकरण किया था। इनके लुप्त हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार की कला में अरिस्तू केवल अनुकरण करनेवाला था अतएव उसकी रचनाएँ अपने गुरु की रचनाओं की तुलना में अधिक समय तक नहीं टिक सकीं। (२) दूसरे प्रकार की रचनाएँ अनेक प्रकार की सूचियाँ थीं जिनको अरिस्तू, उसके सहयोगियों और शिष्यों ने परिश्रम और खोज से प्रस्तुत किया था तथा जिनका उपयोग शिक्षण और ग्रंथ रचना में किया गया था। अथेन्स का संविधान इस प्रकार की रचनाओं में से बच रहा है और यह स्वयं अरिस्तू की रचना माना जाता है। अरिस्तू निगमनात्मक (इन्डक्टिव) दार्शनिक था अतएव उसकी विचार-पद्धति और ग्रंथ-रचना इस प्रकार की सूचियों के आधार पर ही चल सकती थी। अब इस प्रकार की सूचियाँ तो उपलब्ध नहीं होतीं पर इतना निश्चय है कि उनमें से बहुतों का निचोड़ उसकी विविध रचनाओं में आ गया है।

अरिस्तू की (३) तीसरे प्रकार की रचनाएँ उसकी विविध विषयों की स्मृति-संहिताएँ हैं। आजकल अरिस्तू की यही रचनाएँ उपलब्ध हैं। अपने विद्यालय में विविध विषयों पर व्याख्यान देना अरिस्तू की पाठविधि का स्वरूप था। इन व्याख्यानों में वह जिस विषय का प्रतिपादन करता था और अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचता था उसको स्मृति की सहायता के लिए सूत्ररूप में वह भी लिखता रहा होगा और उसके शिष्य भी। यही (लेक्चर नोट्स) व्याख्यानों के सूत्र अरिस्तू की उपलब्ध रचनाएँ हैं। इनको समधिक आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है--(१) अनुभव के विश्लेषण का शास्त्र अथवा तर्कशास्त्र, (२) भौतिकी विद्या, (३) पराविद्या, प्रथम दर्शन अथवा देवविद्या, (४) जीव-विज्ञान, (५) आत्म-विज्ञान या मनोविज्ञान, (६) सदाचारशास्त्र, (७) राजनीतिशास्त्र और (८) साहित्य और भाषण कला।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से इनमें से (१), (३), (५), (६) दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आयेंगे ; (२) और (४) विज्ञान के अन्तर्गत; (६) और (७) सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत एवं (८) आलोचना के अन्तर्गत गिने जायँगे। यदि भारतीय दृष्टि-कोण से इनका विभाजन किया जाय तो धर्म के अन्तर्गत (३) और (६) की गणना होगी, अर्थ के अन्तर्गत (७) की गणना होगी, काम के अन्तर्गत (८) और (४) के कुछ अंशों की गणना होगी एवं मोक्ष के अन्तर्गत पुनः (३) की गणना होगी। शेष सब रचनाएँ बहुत कुछ अर्थ और धर्म के अन्तर्गत आ सकेंगी।

इस प्रकार अरिस्तू की राजनीति उसकी राजनीति-शास्त्र संबंधी रचनाओं में से एक है। इसी प्रकार की अन्य उपलब्ध होनेवाली रचनाएँ अथेन्स का संविधान और "आइकोनोमिका" (गृह-प्रबन्ध-विद्या) हैं। लुप्त हुई रचनाओं में प्रोट्रेप्टिकस्, राजविद्या और उपनिवेशिकी का नाम लिया जाता है। इनमें से प्रथम की रचना क्रीप्रस् द्वीप के किसी राजा को उपदेश देने के निमित्त की गई थी और शेष दो की रचना अलैक्ज़ाण्डर को उपदेश देने के लिए। यह संभव है कि इन लुप्त हुए निबंधों के विचार अरिस्तू की पॉलिटिक्स में भी कहीं आ गये हों। ओइकोनोमिका अरिस्तू के उपलब्ध ग्रंथों में गिनी अवश्य जाती है पर सभी विद्वान् इसको पश्चात्कालीन रचना मानते हैं। अधिक संभावना यही है कि यह उसकी परम्परा के किसी विद्वान् के द्वारा बहुत वर्षों के पश्चात् लिखी गयी है। इसकी तीन पुस्तकों में से एक पुस्तक (अन्तिम पुस्तक) तो केवल लैटिन भाषा के अनुवाद में मिलती है, मूल ग्रीक रूप में नहीं मिलती।

पॉलिटिक्स का अन्तरङ्ग

पॉलिटिक्स के आरंभ में अरिस्तू ने यह सिद्ध किया है कि राज्य कोई कृत्रिम अथवा मनुष्य के ऊपर बाहर से लादी हुई संस्था नहीं है। इसका विकास मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव से हुआ है। उसके गुरु प्लातोन का मत था कि राज्य अथवा नगर-राज्य मानव का ही विकसित रूप है। इसी तथ्य की पुष्टि अरिस्तू ने भी की है। अरिस्तू का कहना है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अर्थात् वह दूसरे मनुष्यों के साथ हिल-मिलकर रहता है और इसी सामाजिकता के द्वारा उसके स्वरूप की अधिकाधिक अभिव्यक्ति संभव हुई है। अरिस्तू ने जीव-विज्ञान का भी अत्यन्त गंभीर और विस्तृत अध्ययन किया था। उसने यह भी देखा ही था कि यह साथ

मिल-जुलकर रहना केवल मनुष्यों में ही नहीं मनुष्य से निचली योनियों के भी वहुत से प्राणियों में पाया जाता है। पर मानव प्राणी में अन्य प्राणियों की अपेक्षा यह विशेषता है कि वह विचारशील—विवेकशील प्राणी है अतएव उसकी सामाजिकता निम्न श्रेणी के पशुओं की सामाजिकता से उच्च कोटि की—सजग और आगा पीछा सोचनेवाली—सामाजिकता है।

यह विचारशील सामाजिक प्राणी जव अपनी अंकुरित होती हुई विचारशीलता के आधार पर अन्य जीवधारियों से पृथक् हुआ तो इसने किसी न किसी प्रकार की अपेक्षाकृत स्थायी विवाह-पद्धति द्वारा सबसे प्रथम सामाजिक संस्था को उत्पन्न किया। इस प्रकार कुटुम्ब की स्थापना हुई। कुछ अधिक वलशाली व्यक्तियों ने कुटुम्ब को अधिक सक्षम और समृद्ध वनाने के लिए अन्य किसी मनुष्य को दास भी वनाया। अरिस्तू ने इसी प्रकार के परिवार की कल्पना में—जिसमें पति, पत्नी, सन्तान और दास घटक-रूप में विद्यमान हों—नगर-राष्ट्र और उसकी शासन पद्धति का वीज देखा। इस कुटुम्ब का स्वामी इस वीजरूप राज्य का शासक है। पर उसका शासन इस राज्य के प्रत्येक घटक के प्रति पृथक् प्रकार का है। स्वामी का पत्नी के प्रति जो शासन का प्रकार है वह उस कोटि का है जो राजनयिक के अपने साथी नागरिकों पर शासन की कोटि है। पिता का सन्तान के प्रति शासन उसी प्रकार का है जैसा किसी राजा का अपने प्रजाजनों के प्रति होता है। स्वामी का दास के प्रति शासन-संवंध एक पूर्णतया स्वतंत्र स्वच्छन्द शासक—किंतु समझदार स्वच्छन्द शासक—के शासन के समान है।

पशु-जीवन को पार करके समुन्नत मानव ने जो प्रथम सामाजिक संस्था को—कुटुम्ब को—स्थापित किया तो इससे उसका जीवन पूर्वापेक्षा अधिक विकसित और विशाल वना; उसमें मानवता का और अधिक प्रस्फुटन हुआ। मानव में नवीन अच्छाइयाँ विकसित हुई—स्नेह, वात्सल्य और प्रवन्धक्षमता अंकुरित हुई। पर इस विकास के लिये भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी आवश्यक है एवं काम करनेवाले दासों की आवश्यकता भी है। अतएव प्रथम पुस्तक में अरिस्तू ने दास-प्रथा और धनार्जन-कला का विशेष रूप से विवेचन किया है। इसका कारण यह है कि जीवन के सुख-सुविधामय होने के लिये भौतिक साधनों का होना आवश्यक है एवं जीवन के अच्छाई की ओर अग्रसर होने के लिये अवकाश की अनिवार्य आवश्यकता है।

अरिस्तू के समकालीन ग्रीक जगत् में तथा होमर के समय से आरंभ होनेवाले ग्रीक इतिहास में दास-प्रथा नागरिक जीवन का एक अविभाज्य अंग थी। ग्रीक सभ्यता के भव्य भवन की नींव दासों के श्रम पर पड़ी थी। यह ठीक हो सकता है कि यूनानियों की दास-प्रथा उतनी नृशंस नहीं थी जितनी रोमन लोगों की तथापि यह थी तो एक सामाजिक बुराई ही। विद्वान् व्यक्ति के लिये भी किसी समय-विशेष के वातावरण से ऊपर उठना कितना कठिन होता है, इसका उदाहरण अरिस्तू का दास-प्रथा का विवेचन है। उसके मत में दास स्वतंत्र नागरिक के जीवन-यापन करने का साधन है और उसकी सजीव सम्पत्ति है। दास में शारीरिक शक्ति अधिक होती है पर बुद्धि केवल इतनी ही होती है कि वह अपने स्वामी की आज्ञाओं को समझ सके। उसका कार्य स्वामी के जीवन-यापन में सहायक होना है। अरिस्तू के मत में प्रकृति में उत्तम और अधम की विरोधी कोटियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं एवं जहाँ इस प्रकार की कोटियाँ पाई जायँ वहाँ उत्तम शासन करे और अधम शासित हो यह दोनों पक्षों के लिये लाभ-दायक होता है। मनुष्यों में भी प्रकृति ने इस प्रकार भेद उत्पन्न किया है। पर वास्तविकता ऐसी नहीं थी। बहुधा विजित लोगों को दास बना लिया जाता था। यहाँ तक कि एक बार तो प्लातोन तक को दास बनना पड़ चुका था। इस प्रकार की दासता अरिस्तू को मान्य नहीं थी। वह तो स्वाभाविक दास की दासता को ही स्वीकार करता है। साथ ही यह भी मानता था कि यह आवश्यक नहीं है कि दास का पुत्र भी दास हो; यह बिल्कुल संभव है कि स्वाभाविक दास का पुत्र स्वतंत्र नागरिक के समान विवेक-संपन्न हो। इस प्रकार स्वाभाविक दास और स्वाभाविक स्वतंत्र नागरिक का अन्तर नितान्त स्पष्ट नहीं है।

अरिस्तू का कहना है कि ग्रीक लोगों को अपनी ही जाति (ग्रीक जाति) के लोगों को दास नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि युद्ध में सर्वदा उत्तम पक्ष की ही नहीं उत्तम बल की विजय होती है और केवल बल की उत्तमता सब प्रकार की उत्तमताओं से अभिन्न नहीं है। अतएव ऐसा हो सकता है कि युद्ध में विजित व्यक्ति उत्तमता में विजेताओं से बढ़कर हों। ऐसी स्थिति में उनको दास बनाने में कोई औचित्य नहीं है क्योंकि वे प्रकृत दास नहीं हैं। यह मानकर कि स्वामी और दास के हित एक समान हैं अरिस्तू ने स्वामियों को दासों के प्रति मित्रता और समझदारी का बर्ताव करने की सीख दी है और यह भी कहा है कि अच्छी सेवा करने पर दासों को मुक्ति की आशा बँधानी चाहिये। अपने दासों के प्रति बर्ताव में उसने इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया था। तथापि वास्तविकता यह है कि मानव-जाति में इस प्रकार स्वाभाविक विभाजन कहीं नहीं

पाया जाता कि कुछ व्यक्ति सर्वदा विवेकशील रहते हों और अन्य व्यक्ति सर्वदा विवेक-शून्य। कभी कभी मुनियों को भी मतिभ्रम हो जाता है और कभी कभी मूर्ख भी कालान्तर में घोर परिश्रम करने के फल-स्वरूप कालिदास बन सकते हैं। अतएव स्वाभाविक स्वामी और स्वाभाविक दास का भेद प्रकृतिकृत नहीं है।

स्वतंत्र नागरिक के लिये जीवन के सजीव साधन--दास--के अतिरिक्त और बहुत सी वस्तुएँ चाहिए। इसको धन-सम्पत्ति कहते हैं। इनको प्राप्त करने के तीन प्राकृतिक प्रकार हैं--(१) पशुचारण, (२) आखेट करना और (३) कृषि। द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत आखेट ही नहीं जल और स्थल पर दस्युकर्म और मछली मारना भी हैं। मनुष्य को भोजनाच्छादन के लिये जितनी आवश्यकता हो उसी सीमा तक इन वृत्तियों का अनुसरण करना चाहिये। यह गृहस्थी के प्रबंध के लिये आवश्यक भी है। इन प्रकारों को सम्पत्ति प्राप्त करने का स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक उपाय इसलिए कहा है कि इनके द्वारा उपयोगी वस्तुओं की उपयोगी मात्रा में प्राप्ति की जाती है। पर इन प्रकारों के अतिरिक्त धन-सम्पत्ति कमाने के अप्राकृतिक उपाय भी हैं जिनमें वस्तुओं की अदलाबदली साधन बनती है। इसके साथ वस्तुओं में विनिमय-मूल्य का सिद्धान्त स्थापित होता है। प्रत्येक वस्तु का एक मूल्य उसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता होती है जैसे लेखनी की स्वगत अथवा प्रत्यक्ष उपयोगिता लिखना है, इसके अतिरिक्त उसका दूसरा मूल्य उसकी विनिमय की उपयोगिता है। हम लेखनी को किसी अन्य वस्तु अथवा रुपये-पैसे से बदल सकते हैं। जहाँ तक वस्तुओं का वस्तुओं के साथ विनिमय किया जाता है यह एक सीमा तक स्वाभाविक है क्योंकि इसके द्वारा एक सीमा तक अपने पास की अनुपयुक्त अधिक वस्तुओं को दूसरे को देकर उसके बदले उपयोगी वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है। पर विनिमय का अप्राकृतिक स्वरूप तब प्राप्त होता है जब वस्तुओं का विनिमय धन (रुपये-पैसे) के साथ होने लगता है। धन (सिक्के) की विशेषताएँ दो हैं; एक तो ताँबे, चाँदी अथवा सोने के रूप में यह स्वयं उपयोगी होता है, तथा दूसरे इसका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना वस्तुओं को ले जाने की अपेक्षा अधिक सरल काम होता है। अरिस्तू के मत में विनिमय और व्यापार द्वारा अपरिमित धन एकत्रित करना अस्वाभाविक और नीति-विरुद्ध है। इसी प्रकार उसने चतुर मनुष्यों द्वारा हस्तगत किये व्यापार संबंधी एकाधिकार का वर्णन तो किया है पर उसको नीति-विरुद्ध ही बतलाया है। व्याज द्वारा धन की वृद्धि करना तो अरिस्तू के मत में सबसे बुरी बात है। संभवतया उसकी दृष्टि में अत्यधिक व्याज लेने और उसके द्वारा होनेवाले ऋणियों के विनाश के उदाहरण रहे होंगे।

वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा एवं वैंकों द्वारा सभ्यता के विकास में जो सेवा की गई है वह उसकी समझ में नहीं आई थी।

इस प्रकार अरिस्तू ने, आरंभिक वस्तुओं को आरंभ में वर्णन करने की अपनी पद्धति के अनुसार, राजनीति अथवा नगर-नीति के बीज गृहस्थ-जीवन का स्वरूप और धनार्जन का स्वरूप वर्णन किया। गृहस्थी में गृहस्वामी दास पर, पत्नी पर और बच्चों पर जिस प्रकार के शासन चलाता है वही आगे चलकर वर्णित विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों के बीज स्वरूप हैं। अनेक परिवार, गृहस्थियाँ अथवा कुटुम्ब मिलकर ग्रामों का निर्माण करते हैं और प्राय: यह परिवार एक ही पुराने परिवार की शाखाएँ होते हैं। इन ग्रामों के मिलने से नगर, पुर अथवा पौलिस् बन जाते हैं। यह सामाजिक समुदाय मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निर्मित होते हैं अतएव इनका विकास नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु इनको स्वाभाविक कहने का यह आशय नहीं है कि इनके निर्माण में मानव-संकल्प का योग नहीं होता और न इसका तात्पर्य यह है कि अन्त तक इन समुदायों का उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र बना रहता है। जैसे जैसे मानव-संस्कृति का विकास होता है और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से अवकाश मिलने लगता है वैसे वैसे मानव-जीवन अनेक प्रकार के अच्छे जीवन की कल्पना और प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील होता है। अतएव नागरिक जीवन का लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अपने पेटे में डालकर अधिक व्यापक और समुन्नत हो जाता है—अर्थात अच्छे जीवन की प्राप्ति हो जाता है।

अच्छे जीवन की प्राप्ति नागरिक जीवन का लक्ष्य मान लेने पर अब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि दार्शनिकों के चिन्तन में और राजनयिकों के व्यवहार में अच्छे जीवन की क्या क्या कल्पनाएँ हैं और उसकी प्राप्ति के लिये क्या क्या उपाय कहे और व्यवहार में लाये गये हैं। विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य प्रथम तो अपनी योजना बनाता है और फिर उसको कार्यान्वित करता है। अतएव अरिस्तू ने नगर के विकास-क्रम का वर्णन करने के उपरान्त अपने समय तक की अच्छे जीवन को प्राप्त करने की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नागरिक व्यवस्थाओंका वर्णन और फिर उनका आलोचन किया है। इस दिशा में सबसे पहले उसने अपने गुरु प्लातोन की राजनीति संबंधी रचनाओं की ही ओर ध्यान दिया है। प्लातोन ने अपनी "पौलितेइया" अथवा आदर्श-नगर-व्यवस्था नामक पुस्तक में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि "नागरिक जीवन में जितनी अधिक एकता होगी उतना ही अच्छा नागरिक जीवन

होगा।" इस एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है कामिनी और काञ्चन का मोह। इसको दूर करने के लिये प्लातौन ने अपने "स्त्रियों और बच्चों के संबंध में सब के समानाधिकार" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और संपत्ति के संबंध में भी इसी प्रकार का लक्ष्य नागरिकों के समक्ष रखा। अरिस्तू ने इस मत का खंडन किया क्योंकि उसने कहा कि नगर तो स्वरूपतः अनेकता से समन्वित होता है उसमें एकता नहीं लाई जा सकती। पर प्लातोन को नगर की अनेकविधता का भान था और उसने स्वयं नगर को तीन वर्गों में विभक्त किया था। उसने स्त्रियों, बच्चों और संपत्ति के संबंध में जो सब के समानाधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह केवल शासकों और सैनिकों के लिए किया था क्योंकि इन्हीं वर्गों में कामिनी, काञ्चन और संपत्ति के संबंध में जो विवाद उठ खड़े होते हैं वे नगर के लिए घातक सिद्ध होते हैं। इसके आगे अरिस्तू का कहना यह है कि यदि एकता के आदर्श को नगर के लिये सर्वोपरि आदर्श मान भी लिया जाय तो भी वह एकता प्लातोन के द्वारा बतलाये हुए मार्ग पर चलने से प्राप्त नहीं हो सकती। आदर्श नगर के बच्चों की दशा अनाथों की जैसी होगी। जो सब की सन्तान होगा उसके प्रति उसके अनगिनती माता-पिताओं का स्नेह गुणित नहीं हो सकेगा, बँटकर पतला अवश्य हो जायगा। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके तीव्र से तीव्र मनोवेग व्यापक होकर विवर्ण हो जाते हैं और उनकी तीव्रता, सघनता और गंभीरता औदासीन्य और उथलेपन में बदल जाती हैं। आखिर, परमात्मा तक को विश्वव्यापित्व का मूल्य निराकारता के रूप में चुकाना पड़ता है। परिणामतः सामाजिक माता-पिता और सामाजिक पुत्र-पुत्रियों में एक सार्वत्रिक उदासीनता के अतिरिक्त सच्चे वात्सल्य का दर्शन कहीं भी नहीं होगा। इसी प्रकार सब की संपत्ति की, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति की अपनी संपत्ति नहीं होगी, ऐसी ही दशा होगी ; कोई उसकी सार-संभाल देख-भाल करने का दायित्व क्यों अपने ऊपर लेगा ?

संपत्ति के स्वामित्व और उपभोग के तीन संभव विकल्प हो सकते हैं---(१) स्वामित्व व्यक्तिगत, उपभोग सार्वजनिक, (२) स्वामित्व सार्वजनिक, उपभोग व्यक्तिगत, (३) स्वामित्व और उपभोग दोनों सार्वजनिक। इन तीनों विकल्पों में से अरिस्तू को प्रथम विकल्प मान्य है। अन्य विकल्पों के विषय में उसने अनेकों आपत्तियाँ उठाई हैं। सब मनुष्य न एक समान परिश्रमी होते हैं और न एक समान दायित्वपूर्ण अतएव यदि संपत्ति का स्वामित्व और उपभोग दोनों सार्वजनिक होंगे तो वितरण किसी प्रकार भी संतोषप्रद नहीं हो सकेगा। यदि सार्वजनिक समानता का पालन किया जायगा तो जिन्होंने अधिक परिश्रम किया है उनके प्रति अन्याय होगा और यदि वितरण

न्यायपूर्ण होगा तो समानाधिकार का सिद्धान्त नहीं निभ सकेगा। फिर जिस संपत्ति पर सबका समानाधिकार होता है उसके विषय में अनन्त झगड़े टंटे नित्य उठा करते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से एक प्रकार की आत्मतृप्ति की ही प्राप्ति नहीं होती प्रत्युत उदारता दानशीलता इत्यादि सद्गुणों का भी विकास इसी से संभव होता है। यदि यह कहें कि प्लातोन ने इस साम्यवाद का प्रतिपादन केवल शासकों और रक्षकों के लिये किया है सब नागरिकों के लिये नहीं तो प्रश्न यह उठता है कि यदि यह अच्छा आदर्श है तो इसको सीमित क्यों किया और यदि यह कष्टदायक है तो नागरिकों में से श्रेष्ठ व्यक्तियों ने क्या अपराध किया है कि वह कष्ट भोगें और अन्य लोग उनके बलिदान के आधार पर मौज उड़ायें। इन सब कारणों से अरिस्तू ने सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपभोग का समर्थन किया है। यह सत्य है कि सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण झगड़े अवश्य होंगे पर इसका कारण तो मनुष्य के स्वभाव की त्रुटि हो सकती है जो सम्पत्ति के स्वामित्व के दूर करने से दूर नहीं हो सकती प्रत्युत उचित प्रकार की शिक्षा-दीक्षा के दूर की जा सकती है। और फिर झगड़े सम्पत्ति के स्वामित्व को सार्वजनिक बना देने पर भी शान्त तो क्या होंगे घटेंगे भी नहीं, बढ़ भले ही जायँ। प्लातोन और अरिस्तू दोनों का ही दृष्टिकोण आधुनिक अर्थविज्ञान के सिद्धान्तों से प्रभावित नहीं था। दोनों ही नगर के जीवन में से अच्छे जीवन की प्राप्ति में आड़े आनेवाली बाधाओं को दूर करना चाहते थे। अतएव जब अरिस्तू सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व का विरोध करता है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि वह पूजीवाद का समर्थन करता है। अधिक सम्पत्ति के राशिकरण का उसने विरोध किया है। उसका दृष्टिकोण यह है कि सम्पत्ति और परिवार पर व्यक्तिगत अधिकार नागरिकों के सुख और सद्वृत्तियों के विकास का आधार है अतएव इसको समाप्त नहीं करना चाहिये। अतिगामी एकता न संभव है न वांछनीय। अरिस्तू का मार्ग सर्वदा सम्यक् प्रकार का मध्यममार्ग है। सम्पत्ति की समानता और सार्वजनिकता पर उसने गंभीरता के साथ विचार किया है। सम्पत्ति की समानता के मार्ग में दो महान् बाधाएँ है—एक मनुष्यों की योग्यता और क्षमता की असमानता और दूसरे नागरिकों की संख्या की अस्थिरता। अतएव सब बातों का विचार करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये कि अच्छे आदमियों को अत्यधिक धन-दौलत की चाह न हो और बुरे आदमियों को प्राप्ति न हो।

इसके उपरान्त अरिस्तू ने स्पार्टा क्रेते (अथवा क्रीट) और कार्खी दौन् (अथवा कार्थेज) की शासन-पद्धतियों का विवरण उपस्थित किया है एवं उनके गुण-दोषों का

विवेचन किया है। यह तो एक से अधिक बार बतलाया जा चुका है कि अरिस्तू ने १५८ संविधानों का संग्रह किया था। इसी ज्ञान का उसने यहाँ उपयोग किया है। इन तीनों नगर-राष्ट्रों के संविधानों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् उसने अथेन्स के पुराने संविधान के संबंध में भी कुछ विवरण उपस्थित किया है जो संभवतः प्रक्षिप्त है। इस भाग का महत्त्व ऐतिहासिक और विवरणात्मक है।

इस प्रकार आदर्श नगरों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपों का विवरण और आलोचना प्रस्तुत करने के पश्चात् अपनी निगमनात्मक (इण्डक्टिव) पद्धति के अनुसार अरिस्तू नगरराष्ट्र सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों अथवा नियमों का स्वरूप निर्धारित करता है। उसकी सबसे मुख्य विशेषता है शुद्ध लक्षणों अथवा परिभाषाओं का प्रतिपादन। अतएव वह यह निश्चित करने का प्रयत्न करता है कि नागरिक और नगर-राष्ट्र और उसका संविधान किसको कहते हैं? शासन-व्यवस्थाओं के कितने प्रकार होते हैं? इत्यादि।

नगर और नागरिक सापेक्षिक शब्द हैं। ग्रीक नगरों का स्वरूप एक समान नहीं था। इनकी संख्या लगभग १६० थी और एक विद्वान् ने भूमध्यसागर के चारों ओर के तटों पर स्थित इन छोटे छोटे नगरों को परिहास में एक सरोवर के किनारों पर बैठे हुए मेंढकों से उपमा दी है। इनमें से बड़े से बड़े नगर-राष्ट्र क्षेत्रफल में लगभग १००० वर्गमील था और बहुत से नगरों का क्षेत्रफल १०० वर्गमील से भी कम था। एक भारतीय विद्वान् ने इनकी तुलना प्राचीन भारतीय जनपदों से की है। पर भारतीय जनपदों में और इन यवन नगर-राष्ट्रों में समानता की अपेक्षा विभिन्नता अधिक थी। भारत के सुदीर्घकालीन इतिहास में जनपद एकाधिक बार राजनीतिक एकता में आबद्ध हो सके पर यवन नगर-राष्ट्रों में इस प्रकार की परिपूर्ण राजनीतिक एकता कभी स्थापित न हो सकी। भारतीय एवं उनकी संस्कृति आज भी भारतीय संस्कृति के भंडार में सुरक्षित है पर ग्रीक नगरों की संस्कृति को आज ग्रीक प्रदेश के बाहर अधिक त्राण मिला है। भारतीय जनपदों में क्षेत्रफल की अधिकता के कारण एकाधिक बड़े नगर होना कोई असंभव अथवा अनहोनी बात नहीं थी पर यूनानी नगर-राष्ट्रों में एक राष्ट्र में एक ही बड़ा नगर होता था—शेष सारे क्षेत्रफल में कृषि इत्यादि कार्य करनेवाले ग्रामीण लोगों के ग्राम होते थे। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से यह नगर भी भारतीय जनपदों के समान एक भाषा (जिसकी उपभाषाएँ परस्पर समझी जा सकती थीं)

बोलते थे और एक धर्म को मानते थे और उनकी शासन-व्यवस्थाएँ भी अधिकांश में जन-तंत्रात्मक अथवा धनिक-(अल्पजन-)तंत्रात्मक थीं। उनके धार्मिक विश्वास, देवी-देवता एवं तीर्थस्थान भी एक थे। भारतीय जनपदों के शासकों में चक्रवर्तित्व का जो आदर्श परम्परा से चला आता था---सम्राट् बनने की जो महत्त्वाकांक्षा जाग उठती थी--उसने इस विशाल देश को अनेक बार एक बड़ी इकाई होने की ऐसी अमिट विशेषता प्रदान की जो ग्रीक नगरों के भाग्य में नहीं बदी थी। यह भी स्वीकार करना होगा कि ग्रीक नगर-राष्ट्रों के नागरिकों में राजनीतिक चेतना भारतीय जनपदों के निवासियों की अपेक्षा अधिक थी, इसी कारण भारतीय इतिहास में जनतंत्र और गणतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र अधिक फला-फूला---पर इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास में जनतंत्र और गणतंत्र शासन-पद्धति का नितान्त अभाव था एवं यूनानी नगर-राष्ट्रों में राजतंत्र नहीं था।

अरिस्तू को इन १५८ अथवा १६० नगरों के इतिहास एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं अन्य परम्पराओं का अच्छा ज्ञान था एवं वह यह भी जानता था कि शासन-पद्धति केवल बाहरी प्रभाव का नाम नहीं है, वह नागरिकों एवं शासकों की जीवन-पद्धति भी है अतएव उसको नगर और नागरिक की परिभाषा का निर्माण करने में विशेष कठिनाई का अनुभव हुआ। इतिहास ने उसे यह भी बतलाया कि अनेक बार शासन-पद्धति में क्रान्ति हो जाने पर नये शासकों ने पुराने शासकों के दायित्वों को निभाने से इन्कार कर दिया और कह दिया कि वह तो राष्ट्र का काम नहीं था। इसका अर्थ यह कि शासन-पद्धति बदली कि राष्ट्र बदला। १५ अगस्त १९४७ को दो नये राष्ट्र जिनका अस्तित्व पहले नहीं था उत्पन्न हुए। इन राष्ट्रों को थोड़े से समय के जीवन में ही नागरिकता के नियम को बनाना और बदलना पड़ा। अतएव नगर और नागरिकता की परिभाषा झमेले की बात है। यूनानी नगरों में इसके साथ तुर्रा यह भी था कि नगर की भौगोलिक सीमा में रहनेवाले सब लोग नागरिक नहीं होते थे। दासों को और शिल्पकारों को प्रायः नागरिक नहीं माना जाता था। अतएव नागरिक की एक परिभाषा यह थी कि नागरिक वह है जो वयःप्राप्त हो और जिसके माता-पिता दोनों नागरिक हों। इस परिभाषा की त्रुटि यह है कि यह किसी नगर के आरंभिक नागरिकों के संबंध में लागू नहीं होती। फिर ग्रीक नगरों में बसे हुए विदेशी भी नागरिक नहीं माने जाते थे। नगरों की पारस्परिक सन्धियों के अनुसार यह विदेशी नागरिकों के साथ विवाद-व्यवहार (मुकदमेबाजी) का और न्याय पाने का अधिकार रखते थे पर पूर्ण नागरिकता का अधिकार उनको नहीं मिलता था। इन कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए अरिस्तू ने नागरिक का लक्षण यह बतलाया कि

जिस व्यक्ति को न्याय-कार्य में शासन-संसद में भाग प्राप्त है वह व्यक्ति नागरिक है। पर यह परिभाषा केवल प्रत्यक्ष जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति के नागरिकों के लिए उपयुक्त है, अन्य पद्धतियों के लिये उपयुक्त नहीं। आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र के नागरिक के संबंध में भी यह लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि आधुनिक जनतंत्र में प्रत्येक नागरिक को अपने प्रतिनिधि को चुनने का एवं स्वयं प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होता है। इस प्रकार की प्रथा प्रत्यक्ष जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति में नहीं थी। यह नागरिकता का अधिकार उपनिवेशों और अधीन नगरों के निवासियों को भी प्राप्त नहीं था।

नगर की परिभाषा के संबंध में अरिस्तू का विचार है कि नगर नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो जीवन के (अथवा अच्छे जीवन के) उद्देश्यों अथवा प्रयोजनों के लिये पर्याप्त हो। नगर के संबंध में अरिस्तू ने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी सूक्ष्मता से विचार किया है कि नगर की एकता और अभिन्नता किस तत्व पर निर्भर है। क्या इसके लिये नगर का एक ही स्थान पर बसा होना आवश्यक है? अरिस्तू भौगोलिक एकता को महत्त्व नहीं देता। उसका विचार है कि नगर की एकता एवं अभिन्नता उसकी शासन-पद्धति की एकता और अभिन्नता पर निर्भर है। इसी कारण तो शासन अपने से पूर्व वाले शासन के उत्तरदायित्व से मुख मोड़ने का उपक्रम करते देखे गये हैं। यद्यपि कोई ऐसा नियम नहीं है कि शासन-पद्धति बदल जाने पर पुरानी पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार किये गये दायित्वों को त्याग देना चाहिये।

नागरिक के चरित्र के विषय में भी अरिस्तू ने विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। क्या उत्तम मनुष्य और उत्तम नागरिक के चरित्र एक और अभिन्न हैं? क्या शासक और शासकों के चरित्र समान हो सकते हैं? श्रेष्ठ नागरिक का लक्षण क्या है? इत्यादि। क्योंकि विभिन्न नागरिकों को राष्ट्र के जीवन में पृथक् पृथक् कर्तव्य पालन करने पड़ते हैं अतएव सब नागरिकों की उत्तमता एकरूप नहीं हो सकती। पर नगर की रक्षा और उन्नति सब नागरिकों का समान लक्ष्य है। अतएव जो नागरिक इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए अपने कर्तव्य का पालन करता है वह उत्तम नागरिक है। पर उत्तम मनुष्य और उत्तम नागरिक सामान्यतया एक और अभिन्न नहीं हो सकते, इतना ही नहीं आदर्श नगर-व्यवस्था में भी ऐसा होना संभव नहीं है क्योंकि नागरिकों के कर्त्तव्यों की बहुविधता तो आदर्श व्यवस्था में भी अनिवार्य है और भले आदमी का चरित्र सर्वथा एकविध होता है। केवल एक प्रकार का नागरिक ऐसा हो सकता है

जो एकपदे भला आदमी और भला नागरिक हो। आदर्श नगर-व्यवस्था में वह अच्छा नागरिक, जिसको शासक के लिये अपेक्षित नैतिक बुद्धिमत्ता भी प्राप्त हो एवं अच्छे शासित प्रजाजन के लिये अपेक्षित अन्य गुण भी प्राप्त हों, ऐसा विरल व्यक्ति होगा। अरिस्तू के मत में स्वतंत्र नागरिकों पर स्वतन्त्र व्यक्ति के सदृश शासन करने की कला को स्वतंत्र नागरिक के समान स्वतंत्र व्यक्ति से शासित होकर सीखा जा सकता है जैसे कि सैनिक शिक्षण में सैनिक अनुशासन में रहकर ही उत्तरोत्तर सैनिक-शासन की कला को सीखा जाता है।

अरिस्तू ने समग्र नगर-वासियों को दो भागों में विभक्त कर दिया है-एक भाग नागरिकों का है और दूसरा भाग शिल्पकारों, श्रमिकों, कृपकों, दासों इत्यादि का है जिनको वह नागरिक जीवन के लिये आवश्यक तो मानता है पर नागरिक जीवन का अंग नहीं मानता। उसके मत में अवकाश की कमी और शरीर-श्रम के कारण यह लोग राजनीतिक जीवन में भागीदार होने की योग्यता नहीं रखते। पर यह तो मानव-स्वभाव का एक परम्परागत विकृत कल्पना के आधार पर विभाजन है जिसके अनुसार अकारण ही अधिकांश जनता नागरिकता के अधिकारों से वंचित की जाती रही। पूर्णतया न्यायपूर्ण पद्धति इस प्रकार के विभेद को स्वीकार नहीं कर सकती। पर अरिस्तू को ही क्या दोप दिया जाय, शत-प्रतिशत न्यायपूर्ण शासन-पद्धति तो इस बीसवीं शताब्दी में भी वास्तविकता नहीं आदर्श ही है।

नगर और नागरिक की परिभापा के अन्वेपण में शासन-पद्धति की चर्चा स्वयं आ गई। प्रश्न होना स्वाभाविक है कि शासन-पद्धतियाँ कितने प्रकार की होती हैं और उनमें श्रेष्ठ पद्धति कौन-सी है? नगर नागरिकों का समूह है और उसकी शासन-पद्धति नागरिकों के सामूहिक जीवन का प्रबन्ध है। जब गृहस्थों का समूह अपने सामान्य हितों की प्रेरणा से एक स्थान पर बसता है तो नगर की स्वाभाविक उत्पत्ति होती है। जहाँ मनुप्यों का समूह बाधित किया जाकर एक जगह अनिच्छा से रहता हो तो उसको कारागार कहना चाहिये। इस दृष्टि से शासन-पद्धतियों के दो विभाग बनते हैं—(१) वे शासन-पद्धतियाँ जिनमें शासक अथवा शासक-वर्ग सार्वजनिक हितों को ही दृष्टि में रखकर शासन-कार्य चलाते हैं—इनको हम प्रकृत शासन-पद्धतियाँ कह सकते हैं। (२) दूसरे वे शासन-पद्धतियाँ जिनमें शासक अथवा शासकवर्ग केवल अपने हित पर दृष्टि रखते हैं और सार्वजनिक हित की उपेक्षा अथवा विरोध करते हैं—इनको हम विकृत शासन-पद्धतियाँ कहेंगे। यद्यपि शासन-पद्धतियों पर विचार करने पर शासक

और शासित उभय पक्षों पर निरन्तर दृष्टि रखनी पड़ती है तथापि इस विचार में मुख्य रूप से शासक पक्ष पर ही ध्यान अधिक दिया जाता है अतएव अरिस्तू ने शासन-पद्धति की परिभाषा में बतलाया है कि शासन-पद्धति अथवा संविधान अथवा व्यवस्था किसी राष्ट्र में शासकपदों अथवा विशेष रूप से सर्वोच्च शासकपदों की व्यवस्था का ही नाम है। उपर्युक्त प्रकृत और विकृत शासन-पद्धतियों में, अरिस्तू के मतानुसार, शासन-सत्ता एक व्यक्ति, अल्पसंख्यक व्यक्तियों अथवा बहुसंख्यक व्यक्तियों के हाथ में रह सकती है। इस प्रकार से निम्नलिखित भेदों की उपलब्धि होती है––

प्रकृत पद्धतियाँ	विकृत पद्धतियाँ	सत्ता का स्थान
एकराट्तंत्र (बसीलेइया)	तानाशाही (तिरान्नी)	एकजन
श्रेष्ठजनतंत्र (अरिस्तौक्रातिया)	धनिकतंत्र (ऑलिगार्किया)	अल्पजन
जनतंत्रव्यवस्था (पौलितेइया)	प्रजातंत्र (देमौक्रातिया)	बहुजन

अरिस्तू के इस विभाजन का आधार है उसके नागरिक समाज के विश्लेषण का परिणाम। उसने देखा कि प्रायः नागरिक समाज में एक ओर धनी-मानी लोग हैं तो दूसरी ओर निर्धन जनता है और कहीं-कहीं इन दोनों के मध्य में एक मध्यवित्त लोगों का मध्यमवर्ग भी पाया जाता है। पर केवल संख्या को विभाजन का आधार बनाने में एक कठिनाई उत्पन्न होती है जिसका विवेचन करके अरिस्तू इस निर्णय पर पहुँचता है कि यद्यपि "ऑलिगार्किया" का शब्दार्थ अल्प-जनतंत्र है और देमौक्रातिया का अर्थ जनतंत्र है तथापि व्यवहार में "आलिगार्किया" धनिकतंत्र है और देमोक्रातिया निर्धन लोगों का प्रजातंत्र। अन्यत्र अरिस्तू ने संख्या और सम्पत्ति दोनों तत्त्वों को संयुक्त करके यह बतलाया है कि ऑलिगार्किया अल्पसंख्यक-धनिक लोगों का शासन है और देमोक्रातिया बहुसंख्यक निर्धन जनता का शासन।

उपर्युक्त शासन-पद्धतियों में शासकपदों का वितरण अथवा निर्धारण विभिन्न आधारों पर हुआ करता है। एकराट्तंत्र अथवा बसीलेइया में राजा अपने सदाचारातिशय अथवा गुणातिशय के कारण सर्वोच्च शासन-सत्ता पर आरूढ़ होता है। श्रेष्ठ-जनतंत्र में अल्पसंख्यक शासक वर्ग भी अन्य लोगों की अपेक्षा गुणों में सज्जनता में बढ़े-चढ़े होने के कारण अपने पदों को प्राप्त करता है। जनतंत्र व्यवस्था में पद-वितरण का आधार धन और जन का सम्मिलित तत्त्व रहता है अथवा सैनिक-सज्जा प्रस्तुत करने

की सामर्थ्य होता है। "देमोक्रातिया" में पद-वितरण स्वतंत्र नागरिकों की समानता के आधार पर होता है, "ऑलिगार्किया" में लोगों की आर्थिक क्षमता के आधार पर और तानाशाही शासन-पद्धति का आधार तो छल-कपट एवं धींगामुश्ती है।

एक अन्य दृष्टि से भी राष्ट्र-व्यवस्थाओं के विभाजन पर विचार किया जा सकता है। अरिस्तू ने नगर-राष्ट्रों की व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करके यह देखा कि शासन-व्यवस्था को राष्ट्र के प्रायः निम्नलिखित अंगों का प्रवन्ध करना पड़ता है—भोजन-सामग्री उत्पन्न करनेवाला वर्ग, शिल्पकारों और श्रमिकों का वर्ग, व्यवसायी-वर्ग, योद्धावर्ग, न्यायकर्ता-वर्ग, राष्ट्रीय पर्वों और उत्सवों के लिये व्यय करनेवाला धनिक-वर्ग, अधिकारीवर्ग और राष्ट्र का चिन्तन करनेवाला वर्ग। इन्हीं वर्गों के द्वारा नगर-राष्ट्र का जीवन घटित और संचालित होता था । यद्यपि अरिस्तू ने उपर्युक्त राष्ट्राङ्गों का विवरण एकाधिक स्थानों पर प्रस्तुत किया है और उनके प्रबंधक-पटलों की भी व्यवस्था का वर्णन किया है पर इनको उसने व्यवस्थाओं के विभाजन का आधार नहीं बनाया। संभव है कि उसको इन अंगों के सार्वकालिक स्थायित्व का विश्वास न रहा हो और संभव है कि उसने यह भी देखा हो कि यह सब अंग सब राष्ट्रों में समान रूप से उपलब्ध भी नहीं होते । राजनीति-विज्ञान के विकास के साथ अरिस्तू के विभाजन की उपयोगिता उतनी नहीं रह गई है जितनी प्राचीन काल में थी । उसके विभाजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में थे केवल नगर-राष्ट्र और वह भी यूनान के । साम्राज्यों, और आधुनिक कालीन महान् राष्ट्रों के विषय में एवं उनसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओं के विषय में हम अरिस्तू की रचनाओं से अधिक पथप्रदर्शन नहीं पा सकते। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि अरिस्तू का विभाजन आज पूर्णतया निकम्मा हो गया है। तानाशाही, देमौक्रेसी, एकराट्तंत्र, धनिकतंत्र, श्रेष्ठजनतंत्र आज भी चल रहे हैं और अरिस्तू ने उनके विषय में जो कहा था वह अब भी एक सीमा तक हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। पर आज की राजनीति कुछ नवीन भाषा भी बोलती है—आज समाजवाद, साम्यवाद, न्यू देमौक्रेसी, वर्गविहीन समाज, पूँजीवाद, वर्गविहीन पूँजीवाद, विश्वशासन इत्यादि इतने अधिक नवीन शब्द राजनीति की भाषा का अंग बन गये हैं और उनके ठीक-ठीक अर्थ के विषय में इतना सचेत और अचेत मतभेद है कि अर्थ-विचार नामक भाषा-विज्ञान का अंग आज राजनीतिक मनोविज्ञान का एक आवश्यक अध्याय बन गया है।

केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य विनोबा द्वारा "स्वराज्य-शास्त्र" में दिया हुआ व्यवस्थाओं का विभाजन अधिक युक्तियुक्त और व्यापक प्रतीत होगा। इस छोटी-सी पुस्तक पर अभी तक राजनीति के अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा जो ध्यान दिया जाना चाहिये था वह नहीं दिया गया। आधुनिक समय में यह छोटी-सी पुस्तक राजनीतिक चिन्तन में भारतीय दृष्टिकोण की ओर से एक मौलिक देन है।

पर अरिस्तू ने इन नामरूपों की माया से परे भी राष्ट्र के रूप पर विचार किया था। उसने देखा था कि सभी मतों को माननेवाले न्याय की दुहाई देते हैं और उसी के आधार पर सत्ता को आत्मसात् करना चाहते हैं। पर यह न्याय है क्या वस्तु? उत्तर मिला समानों के प्रति समानता और असमानों के प्रति असमानता अर्थात् जो जिस योग्य हो उसके प्रति वैसा ही वर्त्ताव करना। पर जब इस सिद्धान्त के व्यवहार की वेला आती है तब अरिस्तू ने देखा कि व्यवहार में सब युक्तियुक्तता को तिलांजलि दे देते हैं। व्यावहारिक राजनीति यह है कि जनता की नाड़ी को परखकर बहुमत को प्रिय लगनेवाले नारों को खड़ा करना, तदुपरान्त शक्ति को हस्तगत करके मनमानी करना। अतएव अरिस्तू ने गहरे पैठकर देखा कि धनी मानी लोग धन में अन्य लोगों से बढ़कर हैं तो इसके आधार पर वे अपने को सभी बातों में बढ़कर समझने का दम भर रहे हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो स्वतंत्रजन्मा होने की समानता के आधार पर अपने को सभी बातों में समान समझकर सब अधिकारों में समानता की माँग कर रहे हैं। यदि धनिकों के दावे को स्वीकार किया जाय तो बहुसंख्यक लोगों का असन्तोप उत्पन्न होता है और यदि समानतावादियों की बात मानी जाय तो अधिक योग्यता और क्षमता वाले व्यक्तियों के प्रति अन्याय होता है। और फिर इन दोनों के कलह में राष्ट्र के लक्ष्य की क्या दशा होती है। यदि राष्ट्र का लक्ष्य केवल धनार्जन होता तो धनाधीश का दृष्टिकोण ही मान्य स्वीकार किया जा सकता और ऐसी स्थिति में ऐसे कोई भी दो नगर जिनमें व्यापारिक सन्धियाँ हुई होतीं, एक नगर माने जाते। दूसरी ओर यदि राष्ट्र का लक्ष्य केवल अन्याय से रक्षा पाना होता और सबकी स्वतंत्रता और समानता की रक्षा करना होता तो बहुसंख्यक स्वतंत्र नागरिकों का ही पक्ष औचित्यपूर्ण होता। पर वास्तविकता यह है कि राष्ट्र का चरम लक्ष्य उपर्युक्त दोनों लक्ष्यों को अपनी नींव में लेकर मानव की परिपूर्ण उत्तमता के शिखर तक पहुँचता है। मानवता के पूर्ण विकास के लिये भौतिक सम्पत्ति की आवश्यक मात्रा भी (ही नहीं) चाहिये और समान स्वतंत्रता भी (ही नहीं)। यह दोनों ही मानवता के विकास के लिये आवश्यक शर्तें हैं, उसकी सीमाएँ नहीं हैं।

नगर मानव-कल्याण के निमित्त निर्मित समाज है जो आत्म-निर्भरता के लिये धन और सेना इत्यादि को भी साधन रूप में संग्रह करता है पर जिसका अन्तिम साध्य परिपूर्ण मानव-जीवन है। स्थान की एकता, सुरक्षितता, विवाह-संबंधी नियम, व्यापार संबंधी सन्धियाँ, धनप्राप्ति इत्यादि आंशिक लक्ष्य सब यथास्थान इस विशद एवं व्यापक लक्ष्य में समन्वित हो जाते हैं। यदि ऐसा है तो "कस्मै देवाय हविषा विधेम" किसको शासक के पद के लिये वरण करें? धनवान् को? स्वतंत्र नागरिक को? कुलपुत्र को? नेति नेति! केवल भले को यह शक्ति प्राप्त होनी चाहिये। मानव की श्रेष्ठता मानव में निहित भलाई है और मानव की समानता भी यही भलाई है और इस भलाई की रक्षा के लिये ही स्वतंत्रता का मूल्य है। पर सॉक्रातेस, प्लातोन और अरिस्तू के चिन्तन में अच्छाई, भलाई, सद्गुण इत्यादि के अर्थों को पूर्णतया समझाने के लिये तो अलग स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये हैं। यहाँ तो उसकी ओर संकेतमात्र करना संभव हो सका है।

एक आलोचक ने कहा है कि इससे अधिक ऊँचे और अधिक सुविधायक राष्ट्रीय आदर्श की अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकी है। निश्चय ही (जैसा एक दूसरे विद्वान् ने कहा है) अरिस्तू का राजनीतिक आदर्श अल्पसंख्यक श्रेष्ठ जनतंत्र की कल्पना पर आश्रित है जिसके पास पर्याप्त अवकाश है, जिसके पास अत्यधिक धन नहीं है और जिसकी भौतिक सम्पत्ति में द्वेष को उत्पन्न करनेवाली विषमता नहीं है, जो विक्रम-पराक्रम की भावना से मुक्त ज्ञान-विज्ञान और कला के अनुसन्धान में निरत है, जिसकी भौतिक आवश्यकताएँ नागरिकता से वंचित नगर-निवासियों के श्रम द्वारा पूरी हो जाती हैं तथा जिनको इसके बदले में केवल दयापूर्ण व्यवहार मिलता है। गेटे के तत्त्वावधान में शासित वाईमार आधुनिक इतिहास में इस आदर्श की मूर्त्त कल्पना हो सकता है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के ग्रीक-जगत् और उसके पूर्व इतिहास के संदर्भ में अरिस्तू का आदर्श अवश्य स्तुत्य है। इसी संबंध में पुनः पाठकों से आचार्य विनोबा के "स्वराज्य शास्त्र" के १५वें खण्ड को पढ़ने का अनुरोध करेंगे। उपर्युक्त आदर्श की सिद्धि के लिये अरिस्तू सत्कर्मों के लिये राष्ट्र की ओर से पुरस्कार और दुष्कर्मों के लिये दण्ड की व्यवस्था द्वारा जनसाधारण को सत्कर्म-परायण बनाने का भी विधान करता है और व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक भी है।

पर मनुष्य की अच्छाई उसके मस्तक पर अंकित नहीं होती। अतएव अरिस्तू ने नितान्त निष्पक्ष भाव से सब प्रकार की शासन-पद्धतियों का समीक्षण करके यह जानने

का प्रयत्न किया है कि उपर्युक्त शासन-पद्धतियों में सर्वश्रेष्ठ कौन है। ऐसा लगता है कि अरिस्तू का झुकाव जनतंत्रवाद की ओर अधिक है। थोड़े से बहुत अच्छे मनुष्यों की अपेक्षा बहुत से साधारण मनुष्य भी सामूहिकरूप में अधिक अच्छे होते हैं। चाहे चतुर व्यक्ति कुछ कहें पर यह व्यवहार का कसौटी पर कसा हुआ अनुभव है कि एक और एक दो नहीं, ११ होते हैं और पंचों में परमेश्वर बसता है। चतुर से चतुर व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की योजनाएँ जब बहुत से साधारण व्यक्तियों की सम्मिलित आलोचना का विषय बनती हैं तो उनमें ऐसी त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जो चतुर-नेत्रों को नहीं सूझ सकी थीं। फिर भी अरिस्तू इस तथ्य को शत-प्रतिशत व्यवहार में लाने का आग्रह नहीं करता। उसका कहना यही है कि बहुसंख्यकों की सामूहिक बुद्धिमत्ता और अनुभव समाज में सारवान् वस्तु है, उसका उपयोग होना चाहिये उपेक्षा नहीं। उसका आग्रह यह कदापि नहीं है कि सब कुछ उन्हीं को सौंप दिया जाय। यदि इस उपयोगी सामाजिक योग्यता को शासनाधिकार से पूर्णतया बहिष्कृत किया जाता है तो इससे विशाल एवं व्यापक असन्तोष उत्पन्न होता है। शासक जो कार्य करते हैं उसका अच्छा या बुरा प्रभाव तो बहुसंख्यक शासितों पर ही पड़ता है। शासक स्वयं अपने कार्यों के विषय में उसी कुँजड़ी के समान व्यवहार करता है जो अपने बेरों को कभी खट्टा नहीं बतलाती। उसके कार्यों का सच्चा मूल्यांकन शासितों का समुदाय ही कर सकता है अतएव न्यायोचित व्यवहार यही है कि शासकों की नियुक्ति अथवा पदच्युति इत्यादि बहुसंख्यक शासितों की सम्मति के अनुसार होनी चाहिये। अरिस्तू के मतानुसार बहुसंख्यक जनता व्यक्ति के समान भावाविष्ट भी नहीं होती। पर यह ठीक नहीं, जनता को उत्तेजित होने में समय अवश्य लगता है पर उत्तेजित भीड़ की उत्तेजना के समक्ष व्यक्ति की उत्तेजना कुछ भी नहीं है।

पर क्या किसी राष्ट्र में ऐसे पुरुष की उत्पत्ति कभी संभव नहीं है जो गुणातिशय के कारण शेष सब नागरिक समुदाय से व्यक्तिशः नहीं समष्टितः भी बढ़कर हो? इतिहास के मनन के आधार पर और गम्भीर चिन्तन के परिणाम-स्वरूप अरिस्तू यह जानता था कि ऐसा होने का दावा तो न जाने कितनों ने किया है (और आज भी ऐसा दावा करनेवाले विद्यमान हैं) पर तो भी ऐसे व्यक्ति का होना विरल हो सकता है, असंभव नहीं है। यदि ऐसा व्यक्ति किसी राष्ट्र में उत्पन्न हो जाय तो? अरिस्तू ने जिन इतिहास के पृष्ठों को पढ़ा था उनमें ऐसे व्यक्तियों के लिये जनतांत्रिक राष्ट्रों में निर्वासन, हत्या, विष का प्याला इत्यादि पुरस्कार प्राप्त हुए थे। पर दार्शनिक अरिस्तू के मत में जनता के लिये कल्याणकारी एवं उचित मार्ग खुशी से उनका अनुसरण

करना ही है। यह है पुरुपोत्तम (पूर्णपुरुप) का एकराट्तंत्र। इससे बढ़कर अन्य कोई शासन-व्यवस्था नहीं हो सकती। पर इतिहास ने ऐसे पुरुपों को प्रथम सताकर मारा है और मृत्यु के पश्चात् उनकी पापाण-प्रतिमाओं और समाधियों को पूजा है और कालान्तर में उस पूजा को भी दूसरों को पीड़ित करने का साधन बनाया है। अरिस्तू को स्वयं इसी प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपने जीवन की संध्या में अथेन्स से पलायन करना पड़ा था।

यह तो रही "मानव रूप में देवता" के एक राट्तन्त्र की बात जिसको अरिस्तू सर्वश्रेष्ठ किन्तु असंभवप्राय मानता है। अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं के विपय में अरिस्तू का विचार है कि हम उनकी भलाई और बुराई का विचार निरपेक्ष रूप से नहीं कर सकते। किन नागरिकों के लिये किस प्रकार की व्यवस्था सर्वोत्तम है? इस प्रश्न का उत्तर तभी ठीक प्रकार से दिया जा सकता है जब यह पता चल जाये कि किन नागरिकों का स्वरूप अथवा स्वभाव किस प्रकार का है "यथा प्रजा तथा व्यवस्था।" यदि कोई नागरिकजन ऐसे हों जिनके मध्य में एक व्यक्ति अथवा एक परिवार सद्-गुणों में सर्वोत्तम हो तो उनके लिये एकराट्तंत्र सर्वोत्तम है। यदि नागरिकजन ऐसे हों कि स्वतंत्र नागरिक होते हुए वे उत्तमता के कारण शासनादेश की क्षमता रखनेवाले मनुष्यों के शासन को सह सकते हों तो उनका श्रेष्ठ (उत्तम) जनतंत्र सबसे अच्छा है। यदि नागरिक समुदाय में प्रकृत्या ऐसे योद्धाओं का समूह है जो धनिकों को उनकी योग्यतानुसार शासक बनाने वाले नियमानुसार पर्याय-क्रम से शासन करने और शासित होने की क्षमता रखता है तो उसके लिये "पौलितेइया" नाम की व्यवस्था ही ठीक है। और यदि नागरिक जन इन प्रकारों की अपेक्षा अधिक विकृत प्रकार के हों तो उनके लिये विकृत प्रकार की व्यवस्थाएँ ही संभव होंगी।

यदि असंभव स्थिति संभव न हो और पुरुपोत्तम का आविर्भाव न हो तो एक राट्तंत्र (मोनार्खिया) के अन्य प्रकार तो संभव होते ही हैं। स्पार्टा का राजतंत्र एक प्रकार का है जहाँ दोनों राजकुल सीमित नेतृत्व से युक्त हैं। पर यह सच्चा राजतंत्र नहीं है। सच्चा राजतंत्र वहाँ होता है जहाँ राजसत्ता एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित होती है। पर यदि यह राजा पूर्ण पुरुपोत्तम न हो तो उस एक अच्छे के शासन की अपेक्षा अनेक (अल्प-संख्यक) अच्छों का शासन (अरिस्तोक्रातिया) ही अधिक अच्छा होगा। मान लिया जाय कि राजा पर्याप्तरूपेण अच्छा है तो भी यह तो उसकी हार्दिक इच्छा होगी ही कि उसके पश्चात् उसके वंशधरों के हाथ में शासन की बागडोर रहे। यह

वंशधर भी उसी के समान भले होंगे इसका क्या पता ? आचार्य विनोवा ने लिखा है "मूल संस्थापक को कमाई करनी होती है। इसलिये इच्छा हो न हो, उसे अनेकों से सहयोग करना पड़ता है। वाद में आने वाले इस तरह की कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं करते। इसलिये वे अधिक गैर जिम्मेदार वन सकते हैं। कहा भी है सूर्य उतना नहीं तपता, जितनी कि वालू तपती है।" (स्वराज्य-शास्त्र पृ० ९)। फिर यूनान देश के राजाओं के पास व्यक्तिगत रक्षक होते थे और वे चाहते तो इनका मनमाना उचितानुचित उपयोग कर सकते थे। अथेन्स के संविधान में अरिस्तू ने इनके दुरुपयोग के उदाहरण दिये हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम के लिये तो अरिस्तू ने नियम-वंधन को अनावश्यक माना था। पर अन्य राजा लोग तो वैसे पूर्ण होते नहीं अतएव इनके प्रसंग में अरिस्तू ने इस समस्या पर भी विचार किया है कि प्राधान्य नियम का होना चाहिये या राजा का। मानव मनोवेगों के वशीभूत होकर न जाने क्या कर वैठे अतएव राजा का प्राधान्य नहीं होना चाहिये; निरुद्वेग विवेक द्वारा निर्धारित नियम (क़ानून) को सर्वोपरिता प्राप्त होनी चाहिये। पर कठिनाई यह है कि नियम भी तो किसी शासन-व्यवस्था अथवा नियमनिर्माता या स्मृतिकार के द्वारा ही वनाया गया होगा और उसके निर्माता की अपूर्णता उसमें भी प्रतिफलित होगी ही। फिर नियम के तो आँखें होती नहीं। किस नियम का कहाँ उपयोग हो यह वात तो सर्वदा शासनसापेक्ष्य रहेगी। इसके अतिरिक्त त्रिकालोपयुक्त नियम हैं भी कहाँ ? पर अरिस्तू ने जो नियमों के प्रति पक्षपात दिखलाया है इसका कारण उसकी राजा अथवा शासकों की स्वच्छन्द स्वेच्छा-चारिता का नियमन करने की इच्छा थी। वह क़ानूनों में मौलिक परिवर्तन करने के लिये अत्यन्त सावधानी वरतने के पक्ष में था। वह नियमों का स्थायित्व चाहता था। अरिस्तू हृदय से क्रान्तिकारी नहीं था अतएव वह नियमों के क्षेत्र में परिपूर्त्ति तो चाहता पर जड़मूल से क्रान्ति नहीं।

जनतंत्रों के विविध रूपों में सवसे प्रथम अरिस्तू ने उस व्यवस्था का वर्णन किया है जिसमें निर्धन और धनवान् सवको एक समान माना जाता है। तदुपरान्त दूसरे नंवर पर उस व्यवस्था को लिया है जिसमें शासकों और अधिकारियों को निम्नकोटि की साम्पत्तिक योग्यता के आधार पर चुना जाता है। जिन लोगों में कृषि अथवा पशुचारण के व्यवसाय का प्राधान्य होता है उनमें इस प्रकार का जनतंत्र स्वाभाविकतया पाया जाता है और ऐसी जनता जनतंत्र के लिये समुपयुक्त भी होती है। कारण यह है कि इस प्रकार की जनता को अपने व्यवसाय की विशिष्टता के कारण सुदूर स्थानों पर विखरे हुए रहना पड़ता है और अवकाश भी कम मिलता है। अतएव वे आये दिन शासन के

साथ छेड़छाड़ करने से विरत रहते हैं और शासन-कार्य को अपने से अच्छे व्यक्तियों को सौंपकर अपने धंधों में लग जाते हैं। अच्छे प्रकार के लोग जनता द्वारा चुने जाकर शासन चलाया करते हैं और इस चुनाव के नियंत्रण के अतिरिक्त उन पर अन्य कोई नियंत्रण नहीं रहता। तृतीय प्रकार के जनतंत्र में निर्दोषजन्मा होने के आधार पर सब नागरिकों को शासनकार्य में भाग प्राप्त होता है परन्तु अवकाश के अभाव में उनका ऐसा करना व्यवहारतः संभव नहीं होता और परिणाम यही होता है कि शासनकार्य में क़ानून को प्रधानता प्राप्त होती है। इसी से मिलती-जुलती स्थिति स्वतंत्रजन्मा नागरिकों के जनतंत्र में भी उपस्थित होती है। जिन नगरों में जनसंख्या पूर्वापेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती है और करवृद्धि के कारण कोश में धन भी अधिक होता है तो वहाँ ऐसे जनतंत्रों की उत्पत्ति होती है जिनमें संख्याधिक्य के कारण सबको अधिकार प्राप्त होता है और राष्ट्र के सार्वजनिक अनुदान के कारण सबको राज्यशासन में व्यवहारतः भाग लेने का अवकाश भी सुलभ होता है। धनिक लोग प्रायः अपने राजनीतिक कर्तव्यों के पालन से विमुख अथवा अनुपस्थित रहते हैं। परिणाम यह होता है कि नियमों के प्राधान्य के स्थान पर निर्धन लोगों के समूह का शासन कार्य में प्राधान्य स्थापित हो जाता है। यह व्यवस्था तानाशाही से बहुत मिलती है एवं इसको एक प्रकार से व्यवस्था का अभाव कहना चाहिये।

इसके उपरान्त अरिस्तू पौलितेइया (पौलिटी) नामक व्यवस्था का वर्णन प्रस्तुत करता है। अरिस्तू के पूर्व के लेखकों ने इस पद्धति की ओर ध्यान नहीं दिया था अतएव इसके लिये कोई विशेष नाम तक नहीं दिया गया। वास्तव में यह पद्धति धनिकतंत्र और जनतंत्र के उस सम्मिश्रण का नाम है जिसका झुकाव जनतंत्र की ओर होता है। यदि इस मिश्रण का झुकाव धनिकतंत्र की ओर अधिक होता है तो इसको श्रेष्ठजनतंत्र (अरिस्तौक्रातिया) कहते हैं। मिश्रण कई प्रकार से संभव है पर उन सबका उद्देश्य धनिकतंत्र और जनतंत्र के मध्यवर्ती मार्ग पर चलना है। अतएव इस व्यवस्था में न तो पदाधिकार की प्राप्ति के लिये उच्च साम्पत्तिक योग्यता की आवश्यकता होती है और न इसके विपरीत साम्पत्तिक योग्यता का नितान्त अभाव ही स्वीकार किया जाता है। परिणामतः इस व्यवस्था में सत्ता मध्यमवर्ग के हाथ में रहती है।

अरिस्तू के मत में मध्यममार्ग का जीवन सर्वश्रेष्ठ है। जो लोग बहुत धनवान् होते हैं उनमें निरंकुशता और हिंसा का भाव रहता है और वे अनुशासन नहीं मानते।

दूसरी ओर जो निर्धन होते हैं उनको शासन करना नहीं आता। जिस समाज में केवल यही दो वर्ग होते हैं वह स्वामी और दासों का नगर तिरस्कार और द्वेष की ज्वाला में जला करता है। पर जिस नगर में मध्यवित्तवाले मध्यमवर्ग का आधिक्य होता है वही नगर सुखी हो सकता है क्योंकि इस वर्ग को दोनों ही शेषवर्ग (धनी और निर्धन) विश्वास की दृष्टि से देखते हैं। यदि इस वर्ग का अभाव हो तो शासनपद्धति बड़ी आसानी से धनिकतंत्र अथवा जनतंत्र को लाँघकर तानाशाही की अवस्था को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आदर्श-व्यवस्था के उपरान्त अरिस्तू के मत में वास्तविक व्यवहार में यही व्यवस्था नाम की (पौलितेइया) पद्धति सर्वोत्तम है। पर इसके उदाहरण-स्वरूप उसने किसी नगर की व्यवस्था का उल्लेख नहीं किया है। संभवतया स्पार्टा की व्यवस्था इस आदर्श के समीप पहुँचती है। अथवा यदि अथेंस के संविधान पर दृष्टिपात करें तो ई० पू० ४११ की थेरामेनेस् की व्यवस्था इस प्रकार की प्रतीत होगी।

विविध प्रकार की व्यवस्थाओं के विकास के ऐतिहासिक क्रम के विषय में अरिस्तू का मत है कि वे प्रायः एकराट्तंत्र से श्रेष्ठजनतंत्र, धनिकतंत्र, और तानाशाही के रूपों को धारण करती हुई जनतंत्र की अवस्था को प्राप्त हुआ करती हैं। पर यह सामान्य प्रवृत्ति का दिग्दर्शन है। इसी प्रकार जनतंत्र की प्रवृत्ति भी सौम्य जनतंत्र से अतिगामी जनतंत्र की ओर जाने की रहती है। इसी प्रसंग में अरिस्तू ने धनिकतंत्र के चार और तानाशाही के तीन भेद बतलाये हैं।

धनिकतंत्र के प्रथम भेद में पदाधिकार आर्थिक योग्यता के आधार पर प्राप्त होता है। दूसरे भेद में नागरिकों को पदाधिकार प्राप्ति के लिये और भी ऊँची आर्थिक-योग्यता की आवश्यकता होती है और पदाधिकारियों का चुनाव भी ऐसे नागरिकों द्वारा किया जाता है जो उच्च आर्थिक-योग्यता से संपन्न होते हैं। धनिकतंत्र के तीसरे भेद में पदाधिकार कुलक्रमागत होता है। अन्तिम भेद में कुलक्रमागत शासनपद्धति के साथ ही साथ शासनकार्य में कानून के स्थान पर व्यक्ति का प्राधान्य होता है। तानाशाही के तीन भेदों में से प्रथम दो भेद तो अर्द्ध-एकराट्तंत्र और अर्द्धतानाशाही तंत्र कहे गये हैं। इनमें शासक चुनाव द्वारा शासक बनता है और उसका शासन नियमानुसार चलता है अतएव इस सीमा तक उसका शासन एकराट्तंत्र पद्धति के तुल्य है पर क्योंकि वह अपने को स्वामी समझ कर प्रजाओं पर दासों के समान शासन करता है अतएव उसका शासन एक सीमा तक तानाशाही प्रकार का होता है। पर तानाशाही

का असली रूप वह होता है जिसमें शासक प्रजाजनों पर एक मात्र अपने स्वार्थ की दृष्टि से शासन करता है।

राष्ट्रशासन के तीन अंग हैं (१) विचारक (२) कार्यसंचालक और (३) न्यायकर्तागण। इन सबकी नियुक्ति और संघटन के विषय में भी अरिस्तू ने विस्तार से विचार किया है। परन्तु आजकल की शासन-पद्धतियों की तुलना में उसके विचार प्रारंभिक प्रकार के ही प्रतीत होंगे। इन अंगों की व्यवस्था विभिन्न शासन-पद्धतियों के अनुसार किस प्रकार होनी चाहिये इस पर विचार करते हुए उसने विचारकमंडल के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह दिया है कि विचारकमंडल में नागरिकों के विभिन्न वर्गों में से समानसंख्यक सदस्य चुनकर आने चाहिये। कार्यसंचालक मंडल के संबंध में नियुक्तियों की २७ प्रकार की संभावनाओं पर उसने विचार किया है और यह बतलाया है कि कौन प्रकार किस प्रकार की व्यवस्था के लिये उचित होगा। न्यायालयों के उसने आठ विभिन्न प्रकार गिनाये हैं और उनके संघटन की तीन पृथक्-पृथक् विधियाँ बतलाई हैं। यह विधियाँ क्रमशः जनतंत्र, धनिकतंत्र और व्यवस्थातंत्र पद्धतियों के अनुरूप होती हैं। इस प्रकार विविध व्यवस्थाओं का विवरण समाप्त हो जाता है।

व्यवस्थाओं के स्वरूप के अध्ययन के पश्चात् अरिस्तू उनमें होनेवाली क्रान्तियों के कारण एवं उनको दूर कर शान्ति स्थापित करने के उपायों की मीमांसा करता है। मानव-शरीर की भाँति शासन-व्यवस्थाएँ भी रुग्णावस्था को प्राप्त हो सकती हैं और समुचित उपचार द्वारा उनके रोगों का भी निराकरण और उपशम संभव है। जनतंत्रात्मक मनोवृत्तिवाला जनसमूह समानता का प्रबल समर्थक होता है, वह असमानता को नहीं सह सकता और उसको सभी क्षेत्रों से हटाने का प्रयत्न करता है। धनिकतंत्र के प्रेमी धनसंपत्ति की असमानता के आधार पर यह दावा करते हैं कि जो सम्पदा में दूसरों से बड़े हैं वह सभी बातों में अन्य लोगों से बढ़कर माने जाने चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो वह समझते हैं कि न्याय नहीं हुआ। इसी प्रकार की मनोवृत्तियों को क्रान्तिकारी मनोवृत्ति कहा जा सकता है। क्रान्ति के कारणों को पूर्णतया नहीं गिनाया जा सकता। प्रमुख कारण हैं, कुछ लोगों का लाभ और सम्मान को अत्यधिक प्राप्त कर लेना और अन्य लोगों को अन्यायपूर्वक उनसे वंचित रखना, शासकों की धृष्टता, कुछ व्यक्तियों को अतिशय महत्त्व की प्राप्ति, प्रजाजनों अथवा महत्त्वाकांक्षी प्रजाजनों का तिरस्कार, राष्ट्र के किसी अंग की असंतुलित वृद्धि, चुनावों में षड्यंत्र और चालबाजियाँ, अविश्वासपात्र लोगों को शासनाधिकार की प्राप्ति,

छोटे-छोटे परिवर्तनों के प्रति असावधानी इत्यादि। यदि इन कारणों को और सूक्ष्मता के साथ देखा जाय तो हमको गेटे की उक्ति से सहमत होना पड़ेगा कि क्रान्तियाँ सर्वदा शासकों के दोषों के कारण उत्पन्न होती हैं, शासितों के दोषों के कारण नहीं। क्रान्तियों का प्रभाव एक-सा नहीं होता। कभी क्रान्तिकारी लोग समग्र व्यवस्था को बदल डालते हैं तो कभी वे सत्ता को हस्तगत करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। कभी क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जनतंत्र अथवा धनिकतंत्र का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक गहरा हो जाता है तो कभी अधिक हलका हो जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी क्रान्ति का लक्ष्य केवल किसी शासन की विशेष संस्था को ही बदल डालना होता है, एवं कभी-कभी क्रान्ति का रोष किसी व्यक्तिविशेष को ही अपना लक्ष्य बनाता है।

क्रान्ति के सामान्य कारणों के अतिरिक्त पृथक्-पृथक् व्यवस्थाओं में क्रान्ति के कुछ विशेष कारण भी होते हैं। उदाहरणार्थ जनतंत्र में लोकनायकों की अतिगामी प्रवृत्तियों के कारण धनिकवर्ग जनतंत्र के विरुद्ध मोर्चा बनाकर उसको उखाड़ फेंकता है और धनिकतंत्र को स्थापित कर देता है अथवा कभी-कभी लोकनायक ही जनतंत्र को समाप्त करके उसके स्थान पर तानाशाही की स्थापना कर देते हैं। धनिकतंत्र के दुःखदायी एवं पीड़ापूर्ण शासन के विरुद्ध कभी प्रजा विद्रोह खड़ा कर देती है और कभी धनिकतंत्र के भीतर फूट पड़ जाती है, तब कोई धनी व्यक्ति लोकनायक बन जाता है। श्रेष्ठजन-तंत्र में क्रान्ति उत्पन्न होने का कारण होता है अत्यल्प संख्यक लोगों का सम्मानभाजन होना जिससे अन्य महत्वाकांक्षी लोगों की द्वेष-भावना भड़कने लगती है। व्यवस्थातंत्र में यदि जनतंत्रात्मक और धनिकतंत्रात्मक तत्वों का सुसंतुलित सम्मिश्रण नहीं हो पाता तो क्रान्ति हो जाया करती है। यह कह सकना सर्वदा सरल नहीं होता कि किस प्रकार की व्यवस्था का क्रान्ति के पश्चात् क्या रूपान्तर होगा। व्यवस्था-पद्धति प्रायः जनतंत्र के रूप को ग्रहण कर लेती है पर कभी धनिकतंत्र में भी बदल सकती है, इसी प्रकार यद्यपि श्रेष्ठजनतंत्र क्रान्ति द्वारा प्रायः धनिकतंत्र में परिवर्त्तित हुआ करता है पर कभी जनतंत्र भी उसका स्थान ग्रहण कर सकता है।

अरिस्तू ने इन सब प्रकार के परिवर्त्तनों से बचने और सब प्रकार की व्यवस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करनेवाले उपाय भी बतलाये हैं। इन उपायों को देखकर कुछ आलोचकों ने अरिस्तू को माकियावेली को स्फूर्ति देनेवाला कहा है। पर ऐसा कहना उचित नहीं, जो व्यक्ति परिपूर्ण पुरुषोत्तम के शासन को सर्वश्रेष्ठ मानता है उसका निकृष्ट पद्धतियों के स्थायित्व की विधि बतलाना केवल राजनीतिशास्त्र की पूर्ण

वैज्ञानिकता की दृष्टि के कारण है न कि कुटिलता के प्रचार के निमित्त। क्रान्तियों को रोकने के उपायों में अरिस्तू के मत में सर्वप्रथम है शासकों के द्वारा कानून का पालन और रक्षण। यदि शासक छोटी-से-छोटी बातों में भी नियमों का पालन करें एवं मामूली से मामूली परिवर्त्तन की अवहेलना न करें तो उनका शासन उथल-पुथल से मुक्त रह सकता है। जनता के प्रति छल का व्यवहार भी नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि छल का भंडाफोड़ अवश्यंभावी है। अरिस्तू के मत में शासन-पद्धति का नाम अथवा बाह्यरूप उसके स्थायित्व से विशेष संबंध नहीं रखता। शासन-पद्धति किसी भी प्रकार की हो, यदि शासक जनता के प्रति समझदारी का वर्ताव करें, उसके प्रति अच्छे संबंध बनाये रहें, महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के सम्मान को ठेस न पहुँचायें, सामान्य जनता के धन का अपहरण न करें, यथा-संभव जनता को अथवा कम-से-कम उसमें से मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को शासन-कार्य में कुछ भाग प्रदान करें तो किसी भी नाम और प्रकारवाली पद्धति स्थायी हो सकती है। जनता के सम्मुख किसी प्रकार के भय को विशेषकर विदेशी शत्रुओं के आक्रमण के आतंक को बनाये रखना भी लाभदायक होता है। शासक-दल के मध्य में ठोस एकता रहनी परमावश्यक है। प्रजाओं के मध्य में भेदनीति को इस सीमा तक बरतना चाहिये कि किसी भी एक दल को अत्यधिक सबल नहीं बन जाने देना चाहिये। यदि प्रजाजनों में किसी कारण से सम्पत्ति के वितरण में परिवर्त्तन उपस्थित हों तो इन परिवर्त्तनों का बड़ी सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये क्योंकि यदि कोई व्यक्ति एक साथ निर्धन से धनवान् अथवा धनवान् से निर्धन हो जाता है तो इसका प्रभाव राष्ट्र के लिये भयावह हो सकता है। सबसे अधिक क्रान्ति का भय कोश-संबंधी गड़बड़ से होता है अतएव राजकीय आय-व्यय का लेखा-जोखा बिलकुल ईमानदारी और स्पष्टता के साथ तैयार किया जाना चाहिये। यदि शासन-पद्धति धनिकतंत्र हो तो उसको जनतंत्रात्मक विचारवाली जनता के प्रति और यदि जनतंत्र हो तो उसको धनिकतंत्रात्मक विचारवाली जनता के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं किन्तु न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि जो अपने विरोधियों को सन्तुष्ट कर सकता है वह सब भयों से मुक्त हो जाता है। उच्च पदों पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति से भी जनता में अशान्ति नहीं फैलती। प्रमुख शासकों में शासन-पद्धति के प्रति श्रद्धा, शासन-कार्य की क्षमता और प्रामाणिकता यह तीन गुण पाये जाने चाहिये। पर यदि तीनों गुण एक साथ न मिल सकें तो दो मिलें और यदि किसी पद के लिये विशिष्ट प्रकार की योग्यता एवं क्षमता आवश्यक हो तो उस क्षमता का विशेष विचार किया जाना चाहिये, शेष दो गुणों का अधिक ख्याल नहीं किया जाना चाहिये। यों तो अरिस्तू प्रायः सदाचार

अथवा सद्वृत्ति (अरैते) पर ही वल अधिक देता है पर वह अच्छे अर्थ में यथार्थवादी है और सद्वृत्ति में आचरण की और वुद्धि की दोनों ही की उत्तमता सम्मिलित है; जैसा कि ऊपर वतलाया जा चुका है अरिस्तू जनतंत्र और धनिकतंत्र का त्राण विरोधी-वाद के साथ समझौता करने में ही समझता है। उसके अनुसार विशुद्ध प्रकार की व्यवस्थाओं की अपेक्षा मिश्रित व्यवस्थाएँ अधिक स्थायी हो सकती हैं। तानाशाही शासन को दो प्रकार से सुरक्षितता प्राप्त हो सकती है। वुरा उपाय तो यह होगा कि तानाशाह जनता को इतना दीन-हीन निर्धन और अपंग वना दे कि वह सिर न उठा सके। यह वही उपाय है जिसका उपदेश गिरधर कविराय ने इस प्रकार दिया था "जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग। जो सँग राखे ही वने तो करि राखु अपंग।" अच्छा उपाय है यह कि तानाशाह केवल अपने स्वार्थ छोड़कर राजा के समान प्रजा का हितैषी वन जाय।

राजनीति की अन्तिम दो पुस्तकों में अरिस्तू ने आदर्श नगर-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर वास्तव में वह आदर्श व्यवस्था के संवंध में सामान्य विचारों को व्यक्त करके उसकी शिक्षा की रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सका है। शासन-पद्धति केवल शासन-प्रवन्ध का ही नाम नहीं है वह एक जीवन-पद्धति भी होती है अतएव आदर्श शासन-पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पूर्व अरिस्तू ने वांछनीयतम जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। सव प्रकार की सम्पदाएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं, वाह्य भौतिक सम्पदाएँ; शारीरिकसम्पदा (स्वास्थ्य इत्यादि), और आध्यात्मिक सम्पदा। अपने सदाचार-शास्त्र में अरिस्तू ने अनुभव के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि यद्यपि इन सम्पदाओं में से उपेक्ष-णीय कोई नहीं है तथापि उच्चकोटि की सद्वृत्ति के योग में भौतिक सम्पदाओं की साधा-रण मात्रा की प्राप्ति से भी मनुष्य को उससे अधिक सुख प्राप्त होता है जो भौतिक सम्प-दाओं की अत्यधिक मात्रा और थोड़ी-सी सद्वृत्ति के योग से उपलब्ध होता है। सच तो यह है कि भौतिक सम्पदाएँ एक सीमा तक ही सम्पदा रहती हैं पर सीमा का उल्लंघन करने पर विपदा वन जाती हैं; पर सद्वृत्ति की मात्रा जितनी अधिक हो उतनी ही अच्छी, इस दिशा में 'अति' वर्जित नहीं है। भौतिक और शारीरिक सम्पदाएँ आत्महित के लिये अभीष्ट हैं अन्यथा उनका कोई महत्त्व नहीं है। एवं जो वात व्यक्ति के पक्ष में ठीक है वही राष्ट्र के लिये भी ठीक है। पर राष्ट्रजीवन में सद्वृत्ति के साथ-साथ भौतिक सम्पदाओं की भी पर्याप्त मात्रा होनी चाहिये जिससे सत्कर्मपरायण जीवन-पद्धति संभव हो सके। सद्वृत्तिमय जीवन को सर्वोत्तम मान लेने पर भी अरिस्तू व्यवसाय

और राजनीति में संलग्न जीवन की अपेक्षा चिन्तन-एवं मननपरायण जीवन को ही अधिक वरेण्य मानता है। उसके मत में कर्मठता अनेक प्रकार की हो सकती है पर जो व्यक्ति दूसरों पर शासन करना और अधिक-से-अधिक राजनीतिक सत्ता को अपनी मुट्ठी में रखना ही कर्मठता का आदर्श मानते हैं अरिस्तू उनसे सहमत नहीं। इसी प्रकार वह उनसे भी सहमत नहीं जो यह मानते हैं कि वैधानिक शासन भी व्यक्ति-कल्याण का विरोधी है। सर्वोपरि सत्ता तभी अच्छी होती है जब उसका व्यवहार निकृष्टकोटि के दासतुल्य जनों के प्रति किया जाता है अन्यथा वह बुराई में परिणत हो जाती है; दूसरी ओर यद्यपि स्वतंत्र जीवन परतंत्र जीवन की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है पर सभी शासन-व्यवस्थाएँ प्रभुशासन-स्वरूप नहीं होतीं। एवं कर्मठ जीवन का तात्पर्य केवल उस जीवन से नहीं है जिसमें इतरजनों का सम्पर्क अनिवार्य हो। स्वयं विचार भी क्रिया है और साधारण क्रिया नहीं दिव्य-क्रिया है।

इस प्रकार अभीप्टतम जीवन के स्वरूप का निर्धारण करके अरिस्तू आदर्श-नगर के चित्र की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। ऐसे नगर की प्रथम शर्त है पर्याप्त जनसंख्या जो न तो सुखी जीवन की आवश्यकताओं के लिये कम हो और न अत्यधिक। अरिस्तू ने कृपक, व्यवसायी, शिल्पी और श्रमिकों के अतिरिक्त स्वतंत्र नागरिकों की जो न्यूनतम और अधिकतम संख्या का संकेत किया है वह उभय पक्ष में अस्पप्ट है। अधिक से अधिक संख्या इतनी होनी चाहिये कि उसको एक नज़र में देखा जा सके और एक व्यक्ति की आवाज़ उन सबको सुनाई पड़ सके। अरिस्तू को विशाल-नगरों की कल्पना प्रिय नहीं थी। एवं उसके शिप्य ने जो साम्राज्य निर्माण आरंभ किया था उसके प्रति उसकी सहानुभूति नहीं थी। वह तो राजनीतिक चरम-विकास के रूप में ऐसे नगर को ही देख रहा था जिसके स्वतंत्र नागरिक एक दूसरे से परिचित हों। उसके मतानुसार जिस नगर के नागरिक परस्पर परिचित न हों, वहाँ श्रेप्ठशासन और निर्दोप न्याय संभव नहीं है। पर भविष्य ने उसकी इस प्रकार की आशंकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

राज्य की भूमि के विपय में उसका मत यह था कि उसका क्षेत्रफल इतना होना चाहिये कि उसकी उपज से स्वतंत्र एवं सावकाश जीवन का पोपण संभव हो सके पर इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि जिससे विलासिता का विकास संभव हो। युद्ध की संभावना को दृप्टि में रखते हुए नगर का स्थान शत्रु के प्रवेश के लिये दुर्गम एवं नगर-निवासियों के निर्गमन के लिये सुगम होना चाहिये। अच्छा हो यदि समग्र क्षेत्रफल

एक दृष्टिपात में देख लिया जा सके। यदि स्थिति समुद्र के समीप हो तो युद्ध और जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिये सुविधा रहती है। फिर यह नगर व्यापार की मंडी भी होना चाहिये जिससे नगर की आवश्यकताएँ अन्य स्थानों से पूर्ण की जा सकें और अपनी आवश्यक वस्तुएँ दूसरे स्थानों को भेजी जा सकें। पर व्यापार का उद्देश्य अमर्यादित धन कमाना नहीं होना चाहिये। ग्रीक जाति के चरित्र के विषय में भी अरिस्तू की अपनी धारणा थी कि यह जाति उत्साह एवं बुद्धिमत्ता दोनों से ही युक्त है और यदि यह किसी प्रकार से एक राष्ट्र में संघटित हो सके तो सब संसार पर शासन कर सकती है।

शासन-व्यवस्था का विचार करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि इस आदर्श नगर-राष्ट्र में कितने प्रकार के कार्य मुख्यतया आवश्यक होंगे और उनको पूर्ण करने के लिये किस-किस वर्ग के व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। इस दृष्टि से नगर को निम्नलिखित वर्गों की आवश्यकता होगी :--(१) कृषकवर्ग, (२) शिल्पकारवर्ग, (३) योद्धावर्ग, (४) धनिकवर्ग, (५) पुरोहितवर्ग, और (६) न्यायकर्त्तागण। इन वर्गों में से कृषक अवकाश के अभाव के कारण एवं शिल्पकार सद्वृत्ति के अभाव के कारण राजनीतिक जीवन में भाग नहीं ले सकते। शेष वर्गों की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये कि जब वे युवा हों तो वे योद्धादल में रहें, युवावस्था पार कर चुकने पर शासक बना दिये जाएँ और वृद्ध होने पर पुरोहित। स्थावर सम्पत्ति भी इन्हीं लोगों के हाथ में रहनी चाहिये, न कि कृषकों के। इस प्रकार अरिस्तू के आदर्श नगर में भी लगभग उसी प्रकार का सामाजिक भेद होगा जैसा कि भारतीय समाज में द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) और द्विजेतर वर्गों में था। यद्यपि अरिस्तू को भू-सम्पत्ति पर सबके समान अधिकार का सिद्धान्त मान्य नहीं था तथापि उसने सार्वजनिक पूजा-अर्चा के व्यय और सम्मिलित भोजों के व्यय के लिये भू-सम्पत्ति के एक भाग को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाने का सुझाव अवश्य उपस्थित किया था। सम्मिलित भोज उसकी दृष्टि में नागरिक एकता की वृद्धि में सहायक होते हैं। शेष भू-सम्पत्ति पृथक्-पृथक् नागरिकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में इस प्रकार बँटी होनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को एक भूखंड बस्ती के समीप और दूसरा सीमा के पास मिले जिससे विभाजन न्यायसंगत हो और युद्ध उपस्थित होने पर सब उसको जीतने के लिये समानरूप से सन्नद्ध रहें।

इस प्रकार नगर के बस जाने पर यह प्रश्न सामने आता है कि नगरनिवासियों को सुखी होने का सबसे महान् अवसर किस प्रकार की शासन-व्यवस्था से उपलब्ध हो

सकता है ? यह तो पहले कहा जा चुका है कि सुख की उपलब्धि मुख्यतया सद्वृत्ति से एवं गौणतया वाह्य भौतिक पदार्थों से होती है और सद्वृत्ति का संबंध प्रकृति, आदत और युक्तिसिद्ध जीवन-नियम से है। अन्तिम दो उपाय शिक्षा से संबद्ध हैं। सर्वथा निर्दोष परिपूर्ण पुरुषोत्तमकी उत्पत्ति तो न मनुष्य के हाथ की वात है और न शिक्षा द्वारा ही उसका निर्माण संभव है। जब कोई एक नागरिक अथवा कुछ नागरिक इतने निर्विवादरूपेण उत्तम होंगे ही नहीं तो उनके स्थायी शासक बनाने का प्रश्न भी नहीं उठ सकेगा। अतएव यही उपाय शेष रह जायगा कि नागरिकों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे आरंभ में आज्ञाकारी और अच्छे नागरिक वन सकें और कालान्तर में इस आज्ञाकारिता को सीखकर अच्छे शासक भी वन सकें। इस प्रकार शासित होने में कोई गिरावट की वात नहीं है क्योंकि इसका उद्देश्य उत्तम है। स्वयं मानव-जीवन का उद्देश्य है विवेक जो मानव-जीवन के नियमों का निर्माता है। यह विवेक भी व्यवहारात्मक और चिन्तनात्मक भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार के विवेक का संबंध युद्ध और व्यवसाय से है और दूसरे का संबंध शान्ति और अवकाश से है। दूसरे प्रकार का विवेक प्रथम प्रकार के व्यवसायात्मक विवेक से बढ़कर है, क्योंकि व्यवसाय और युद्ध का भी प्रत्यक्ष उद्देश्य शान्ति और अवकाश को उपलब्ध करना ही तो है। अतएव युद्ध और अधिकार जमाने को ही राष्ट्रीय-सत्ता का चरम उद्देश्य मानने से बढ़कर और अधिक बड़ी भूल हो नहीं सकती। हमारे साहस और वल का प्रथम उपयोग यह होना चाहिये कि हमको कोई दास न बना सके, तदुपरान्त यदि जीतकर साम्राज्य की प्राप्ति कर सकें तो हमारा शासन शासितों के हित के लिये होना चाहिये और प्रभुता तो हमको केवल उन लोगों पर चलानी चाहिये जो प्रकृत्या दास हैं। अरिस्तू के मत में व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिये सदाचार के नियम एक समान हैं। अतएव उसकी तुलना माकियावेली से कदापि नहीं की जानी चाहिये।

शिक्षा का उद्देश्य विवेक का साधन है पर विवेक की उपलब्धि वासनाओं पर संयम प्राप्त करके होती है और वासनाओं का संयम शरीर के संयम द्वारा उपलब्ध होता है और शरीर के संस्कार वहुत कुछ हमको माता-पिताओं से प्राप्त होते हैं। अतएव अरिस्तू ने शिक्षा के संबंध में व्यापक दृष्टि रखी है और सुप्रजनन एवं विवाह इत्यादि के संबंध में और शरीर के विकास के संबंध में भी अच्छे सुझाव उपस्थित किये हैं। वच्चों के भोजन, व्यायाम और मनोरंजन के विषय में भी उसने उत्तम सीख दी है। आदर्श-व्यवस्था के नागरिकों का आचरण भी आदर्श होना चाहिये और एक समान आदर्श होना चाहिये। ऐसा तभी संभव है जब वच्चों की शिक्षा व्यक्तिगत रूप में उनके

माता-पिताओं के ऊपर न छोड़ी जाय प्रत्युत राष्ट्र ही सबको समान रूप से, अपना अंग मानकर एक समान शिक्षा का सबके लिये प्रबन्ध करे। नगर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले वर्ग तो नागरिक होते नहीं अतएव अरिस्तू ने शिक्षा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसमें उद्योग-धंधों की शिक्षा के लिये कोई स्थान नहीं है। यह शिक्षा मुख्यतया सदाचार और सद्वृत्ति की शिक्षा है। शिशुओं के अंग-संचालन से लेकर ५ वर्ष की अवस्था तक की शिक्षा में शिशुओं के पोषण इत्यादि की चर्चा है और जब वे भाषा समझने लगें तो उनको सदाचारपरक कहानियाँ सुनाने और कुसंगति से बचाने का विधान किया गया है। पाँच से सात वर्ष तक की अवस्था के मध्य में बच्चों को दूसरे बड़े बच्चों को उन कार्यों को करते हुए देखना चाहिये जो आगे चलकर उनको भी करने होंगे। इसके उपरान्त पढ़ने-लिखने, चित्राङ्कन करने, व्यायाम करने और संगीत का अभ्यास करने की शिक्षा का समय आता है जो २१ वर्ष की अवस्था तक चलता है। अरिस्तू अत्यधिक व्यायाम का भी समर्थन नहीं करता। संगीत-शिक्षा की विविध प्रकार की उपयोगिता का विचार करके अरिस्तू उसके आचार-संबंधी महत्त्व पर ही बल देता है। पर संगीत की शिक्षा का उद्देश्य पेशेवर संगीतज्ञ बनाना नहीं, आत्मा को संस्कृत बनाना है।

राजनीति की समाप्ति एक समस्या है। आदर्श-व्यवस्था की चर्चा संगीत-शिक्षा के विवरण के साथ समाप्त हो जाती है। स्पष्ट ही पाठक यह सोचने के लिये विवश हो जाता है कि इस ग्रंथ का कुछ भाग या तो नष्ट हो गया है अथवा लेखक उसको पूरा नहीं कर सका। आठवीं पुस्तक के छोटे आकार से भी इस धारणा को बल मिलता है। पर यह भी संभव है कि अरिस्तू का ऐसा विचार रहा हो कि यदि शिक्षा ठीक प्रकार की हो तो और सब बातें स्वतः ठीक हो जाती हैं। पर वास्तव में शिक्षा का वर्णन भी तो पूरा नहीं हो पाया है। जिस प्रकार अन्य एकाधिक स्थलों पर अरिस्तू के विवेचन अचानक अधूरे रह गये हैं इसी प्रकार यहाँ भी हुआ है।

इस प्रकार यूनानी नगर-राष्ट्र की परम्परा के माध्यम से अरिस्तू ने अपने राजनीति संबंधी विचारों को व्यक्त किया। यह परम्परा स्वतंत्र नागरिकों और दासों तथा कृषकों के और यवन (ग्रीक) तथा बर्बर के भेद को मानकर चलती है। अरिस्तू ने अपने शिष्य अलैक्ज़ाण्डर को इस भेद को बनाए रखने का उपदेश दिया पर उसने इस विषय में अपने गुरु के उपदेश को न माना और ऐसे साम्राज्य की नींव डाली जिसमें उसने अपने को ग्रीक और पारसीक दोनों का समान रूप से प्रभु माना और अपने अधीन यवन

और पारसीक में कोई भेद नहीं किया। इस प्रकार नगर-राष्ट्र की धारणा के साथ ही साथ विश्व-राष्ट्र की भावना का उदय हुआ। ग्रीक और वर्बर को और स्वतंत्र नागरिक एवं श्रमिकों को एक समान समझने की भावना अंकुरित हुई। यह भावना यूरोप में ई० पू० ३०० से १५०० ई० तक वनी रही। इसके उपरान्त लूथर और माकियावेली के सिद्धान्तों के प्रसार के फलस्वरूप राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इन अठारह शताब्दियों में पश्चिम में तीन साम्राज्यों--माकेदौनियन्, रोमन और शार्लमान के साम्राज्यों--का उत्थान और पतन हुआ। इसी काल में ईसाइयत का जन्म और विकास हुआ जो कटु अनुभव के पश्चात् विश्वनागरिकता की पोपक वनी। पर इस विश्वनागरिकता के सिद्धान्त को पुष्ट करनेवाले ग्रंथ की रचना दीर्घकाल तक नहीं हुई। ईसा की पाँचवीं शताव्दी में सन्त औगुस्तीन् ने "प्रभु का नगर" नामक पुस्तक में इस सिद्धान्त का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया। प्लातोन और अरिस्तू की राजनीतिक रचनाओं के पश्चात् यह यूरोप की राजनीति के संवंध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। "दे किविताते देइ" (प्रभु का नगर) की रचना के उपरान्त सन्त थौमस् अक्विनास् की राजनीतिक रचनाओं में १३वीं शताव्दी ईसवी में अरिस्तू के विचारों ने पुनः यूरोप की राजनीति में प्रवेश किया। इस प्रकार अरिस्तू और औगुस्तीन् के विचारों का सम्मिश्रण थौमस् अक्विनास् ने प्रस्तुत किया और कैथोलिक ईसाइयों के विचार अव तक इसी मिश्रण से प्रभावित हैं। यूरोप के राजनीतिक चिन्तन पर और विशेपकर अंग्रेज जाति के राजनीतिक चिन्तन पर अरिस्तू का प्रभाव कानून और संविधान को सर्वोपरि सत्ता मानने के रूप में पड़ा है। इस विचार की परम्परा अरिस्तू से आरंभ होकर सन्त थौमस्, हूकर, लॉक और वर्क में होती हुई १८वीं शताव्दी तक अपना प्रभाव फैलाती रही है।

अरिस्तू ने राजनीति को कभी सदाचार से पृथक् नहीं माना। पर यूरोप में मध्य-काल की समाप्ति के पश्चात् ऐसे राजनीतिक विचारकों की एक प्रवल परम्परा उत्पन्न हुई जिन्होंने राजनीति को सदाचारशास्त्र से पूर्णतया स्वतंत्र माना। इस विचार का कटु परिणाम आज भी संसार को भुगतना पड़ रहा है। महात्मा गाँधी ने इस जगत् में पुनः राजनीति, धर्म और सदाचार को एक साथ चलाया। पर अव देखना है कि हमारा सेक्यूलरवाद कौन-सा मार्ग ग्रहण करता है। भय है कि कहीं शब्दों की फैशनपरस्ती में नीति-परायणता हमारे हाथों से न छूट जाय।

अथेन्स का संविधान

अथेन्स का संविधान अरिस्तू की रचनाओं में एक महत्त्वपूर्ण छोटी पुस्तक है। अरिस्तू के संबंध में प्रचलित परम्परागत कथाओं में यह बात प्रसिद्ध थी कि उसने ग्रीक जगत् के नगरों के १५८ संविधानों का संग्रह किया था। बहुत संभव है कि इनमें से अनेकों संविधानों को उसके सहयोगियों और शिष्यों ने प्रस्तुत किया हो। इन्हीं में एक संविधान अथेन्स का भी था जिसको संभवतया स्वयं अरिस्तू ने ही लिखा था। सातवीं शताब्दी ईसवी तक अथेन्स के संविधान के अस्तित्व के प्रमाण मिलते थे। पर सातवीं शताब्दी के कुछ समय पश्चात् यह लुप्त हो गया। १९वीं शताब्दी के अन्त की ओर मिस्र देश में इस पुस्तक की एक प्रति उपलब्ध हो गई। इसमें चार पृथक् पृथक् व्यक्तियों की लिखावट थी और संभवतया यह प्रति प्रथम शताब्दी ईसवी की थी। सम्पूर्ण रचना पापीरस् के चार वैठनों पर लिखी हुई थी। इसको ब्रिटिश म्यूजियम के ट्रस्टियों ने खरीद लिया और केन्यॉन् ने इसको प्रथम वार १८९१ के आरम्भमें प्रकाशित किया। बेर्लिन के मिस्रदेशीय म्यूजियम ने इससे कुछ पहले १८८० में किसी एक अत्यन्त खंडित प्रतिलिपि के कुछ भाग प्रकाशित किये थे। जिस प्रकार भारतवर्ष में कौटिलीय अर्थ-शास्त्र और भास के नाटकों का प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है उसी प्रकार इस ग्रंथ का प्रकाशन ग्रीक साहित्य और इतिहास के संबंध में विशेष महत्त्व रखता है।

आरंभ में तो इसके रचना-काल और रचयिता के संबंध में पर्याप्त विवाद रहा। पर धीरे धीरे विद्वानों के परिश्रम के परिणाम-स्वरूप अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि यह संविधान अरिस्तू की ही रचना है और इसका रचना-काल भी अथेन्स में अरिस्तू के द्वितीय निवास-काल की सीमाओं के भीतर निश्चित हो चुका है। जब टीकाकारों और वैयाकरणों के ग्रंथों में पाये जानेवाले अरिस्तू के लुप्त ग्रंथों के उद्धरणों की तुलना इस पुस्तक में की गई तो उनमें से बहुत बड़ी संख्या इस पुस्तक में मिल गई। इसी प्रकार अरिस्तू के संविधान संबंधी बहुत से विचार भी इसमें मिल गये। जो नहीं मिले उनके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि उनमें से कुछ इस रचना के आरंभ में रहे होंगे जो ब्रिटिश म्यूज़ियमवाली प्रति में नहीं है और कुछ अन्त में रहे होंगे जो उपलब्ध प्रति में बुरी तरह खंडित हैं। जिन संकेतों से इस पुस्तक का रचना-काल निर्धारित होता है उनकी ओर पाठकों का ध्यान हमने अपनी टिप्पणियों में आकर्षित किया है। इसमें अथेन्स की जिस व्यवस्था का वर्णन विद्यमान संविधान कहकर किया

है उसको जनतंत्र कहा है। पर ई० पू० ३२२ में अन्तिपातेर के शासन-काल में जनतंत्र को समाप्त कर दिया गया था। इस संविधान में सामॉस् को अथेन्स के अधीन कहा गया है। यह तथ्य ई० पू० ३३८ की स्थिति की ओर संकेत करता है। ई० पू० ३२२ के लगभग सामॉस् अथेन्स के हाथ से निकल गया था। नौसेना से संबंध रखनेवाले कुछ संकेत ई० पू० ३३४ के बाद की घटनाओं की ओर संकेत करते हैं। एक घटना ऐसी भी वर्णित है जिसका संबंध ई० पू० ३२९ से है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी रचना ई० पू० ३२९ और ३२२ के मध्य हुई होगी। यह समय पॉलिटिक्स की रचना के पश्चात् का है क्योंकि उसमें मकैदौनिया के फिलिप की मृत्यु (ई० पू० ३३६) के उपरान्त की किसी घटना का उल्लेख नहीं है।

इस पुस्तक की शैली, एवं अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों के विषय में इसका "राजनीति" से विरोध होने के कारण अनेकों आलोचक एवं संपादक आरंभ में इसको अरिस्तू की रचना नहीं मानते थे। उनका यह भी विचार था कि इस पुस्तक के लेखक को तथ्यों के महत्त्व के अनुपात का भान नहीं था, और ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त नहीं थी। बस कहानियाँ कहने की रुचि उसमें आवश्यकता से अधिक अवश्य थी। पर जैसे जैसे इसका अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया गया विद्वानों की आस्था इसकी प्रामाणिकता के विषय में अधिक दृढ़ होती गई। प्राचीन काल में जहाँ भी इसका उल्लेख मिलता है इसको निरपवादरूपेण अरिस्तू की रचना बतलाया गया है। इसका रचनाकाल जो कि अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध होता है वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है क्योंकि वह समय अरिस्तू के दूसरे अथेन्स-निवास से अभिन्न है। जब इसकी तुलना "राजनीति" से करते हैं तो समता और विरोध दोनों ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसका समाधान यह है कि अथेन्स का संविधान "राजनीति" के अनेकों वर्ष पीछे प्रस्तुत किया गया था और कालान्तर में अरिस्तू का मत अनेक विषयों में बदल जाना संभव है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि अरिस्तू ने जो १५८ संविधानों का संग्रह किया था उसमें से अनेकों संविधान उसके शिष्यों और सहयोगियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये होंगे। पर अथेन्स का संविधान उन सबमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, अतएव अधिक संभावना इसी बात की है इसको स्वयं उसी ने लिखा हो। इसकी शैली में मिश्रण का आभास नहीं मिलता।

अरिस्तू इतिहास के प्रति गंभीर अभिरुचि रखता था। इस क्षेत्र में स्वयं भी उसने बहुत कुछ सामग्री का संग्रह किया था। इस सामग्री का उपयोग उसने अपनी रचनाओं में यथास्थान समुचित प्रकार से किया है। प्रस्तुत पुस्तक में उसने ऐतिहासिक सामग्री

को कहाँ से ग्रहण किया इसके विषय में विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। अथेन्स के संविधान की सामग्री हेरोदोतस्, थूकीदिदेस्, क्षेनोफ़ॉन् की ऐतिहासिक रचनाएँ और सौलॉन् की कविताएँ हैं। पर इन सब की अपेक्षा संभवतया अरिस्तू ने आन्द्रातियौन् की पुस्तक "अत्थिस्" का प्रयोग अधिक किया था। इसके अतिरिक्त कुछ और ऐतिहासिक पुस्तकों का उपयोग अरिस्तू ने इसको लिखने में किया होगा, जैसे ऐफोरस्, क्लैदेमस् और फानोदेमस् की रचनाएँ।

अथेन्स का संविधान दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग ऐतिहासिक विकास का विवरण उपस्थित करता है और आरंभ से लेकर ४१वें खंड के अंत तक चलता है। इसमें अथेन्स के मौलिक संविधान और उसमें समय समय पर हुए परिवर्त्तनों का वर्णन है। पर प्रारंभ का भाग खंडित है अतएव यह कहना कठिन है कि अनुपलब्ध भाग में क्या था। संभव है कि उसमें मौलिक संविधान का संक्षिप्त रूप और एक दो शासकों द्वारा किये हुए परिवर्त्तनों का वर्णन रहा हो। शेप भाग में ड्राको, सौलॉन्, पैइसिस्त्रातस्, क्लैइस्थेनेस् क्षैरक्षस् का अभियान, अरियौपागस् की महत्ता और अफियाल्ते(ती)स् द्वारा उसकी महत्ता का अपहरण, पेरीक्ली(ले)स्, लोकनायकों का उत्थान, ४०० की क्रान्ति एवं ३० का शासन इत्यादि व्यक्तियों और विषयों का वर्णन है। दूसरे भाग में अथेन्स के उस संविधान का विवरण दिया गया है जो इस पुस्तक की रचना के समय (ई० पू० ३२९–३२२) तक विद्यमान था। अथेन्स के नागरिक होने की शर्ते, नवयुवक नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा, संसद का स्वरूप और कार्य, शलाका द्वारा चुने जानेवाले पदाधिकारी, नौ आर्खन और उनके कार्य, मतदान से चुने जानेवाले सैनिक अधिकारी और न्यायालयों के न्यायकर्ताओं की नियुक्ति और कर्त्तव्य इत्यादि विविध विषयों का वर्णन दूसरे भाग में पाया जाता है। प्रारंभिक भाग के समान पुस्तक का अंतिम भाग भी बहुत कुछ खंडित है। यह कहना कठिन है कि शेप भाग में क्या था। इसके अतिरिक्त पाठक देखेंगे कि अरिस्तू ने इस पुस्तक को अनेकों कथाओं एवं प्राचीन परम्पराओं की गाथाओं को इसमें सम्मिलित करके सर्वसाधारण की रुचि के योग्य बना दिया है।

"अथेन्स का संविधान" का महत्त्व अनेकों दृष्टियों से आँका जा सकता है। प्रथम तो अरिस्तू के नाम से जिसका संबंध हो ऐसी किसी भी रचना की पुनरुपलब्धि स्वतः महत्त्वपूर्ण हो जाती है। फिर अथेन्स के इतिहास के विषय में––विशेपकर वैधानिक इतिहास के विषय में––भी इसकी रचना का महत्त्व कम नहीं है। इस रचना

का वह भाग जो अरिस्तू के समय के संविधान का वर्णन करता है सर्वथा विश्वसनीय है क्योंकि अरिस्तू की वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया हुआ विवरण सारवान् होना ही चाहिये। पर जो घटनाएँ अरिस्तू के लिये परोक्षभूतकाल की हैं उनका विवरण अरिस्तू के अपने अनुभव पर आश्रित नहीं है ; वह तो तत्तत् समय के लेखकों के साक्ष्य पर आश्रित है। उनमें भी कुछ लेखक ऐसे थे जो अत्यधिक विश्वास के योग्य थे और शेष लेखक उतने अधिक विश्वास योग्य नहीं थे। अतएव समग्र पुस्तक पूर्णतया विश्वसनीय है, ऐसा नहीं कह सकते।

फिर, यद्यपि इसकी शैली सीधी-सादी और सरल है और ग्रंथकार की आलोचनाएँ भी समझदारी की परिचायक हैं, तथापि यह कोई महान् रचना नहीं कही जा सकती। अरिस्तू का काव्यशास्त्र भी छोटे आकार की पुस्तक है पर वह महत्त्व में "संविधान" की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पॉलिटिक्स की तुलना में यह पुस्तक आकार में ही नहीं प्रकार में भी घटकर है। जो सूक्ष्म दार्शनिक अन्तर्दृष्टि "पॉलिटिक्स" में बहुधा दृष्टि-गोचर होती है उसका इसमें सर्वथा अभाव है। अनेकों स्थलों पर लेखक के कथनों में भी पूर्वापर विरोध देखने में आता है।

इन सब दोषों के होते हुए भी "अथेन्स के संविधान" का महत्त्व असाधारण ही माना जाता है। पाश्चात्य देशों के इतिहास में उपलब्ध होनेवाला यह सबसे पुराना संविधान है। जब से १८९१ ई० में इसका पता चला है उससे पूर्व की अथेन्स के संविधान से संबंध रखनेवाली सब रचनाएँ निकम्मी सिद्ध हो गई हैं। इस पुस्तक से इस विषय में सर्वोत्तम कोटि का साक्ष्य हस्तगत हो गया है। पाश्चात्य जगत् के प्रमुख जनतंत्र का संविधान समधिक पूर्ण रूप में हमारे सामने आ गया है। अरिस्तू की "राजनीति" के अध्ययन के लिये भी यह पुस्तक बहुत सहायक हो सकती है। यह संभव है कि द्वितीय भाग की अपेक्षा प्रथम भाग कम विश्वास के योग्य है तथापि उससे भी जो जानकारी प्राप्त होती है वह भी उपेक्षणीय नहीं है।

अथेन्स नगर के राजनीतिक इतिहास की रूप-रेखा तो पाठकों को उसके संविधान के इतिहास के साथ ही साथ ज्ञात हो जायगी पर इस नगर का सामान्य वर्णन उसमें नहीं मिल सकेगा। अतएव यहाँ इस नगर का संक्षिप्त वर्णन दे देना उचित होगा। अथेन्स नगर यूरोप के दक्षिण में अत्तिका प्रदेश में स्थित है। समुद्र से इसकी कम से कम दूरी तीन मील है। नगर की चारदीवारी के भीतर तीन ऊँचे स्थान हैं—१. अक्रौपोलिस् जो अथेन्स का गढ़ अथवा किला था, नगर के मध्य भाग में स्थित था ; २. अरेयोपागस्

अक्रौपोलिस् से पश्चिम की ओर है, और ३. प्नीक्स जो अक्रोपोलिस् से उत्तर पश्चिम की दिशा में है। नगर की मंडी का नाम अगोरा था। यह नगर के कैरामिकस् भाग में थी जो अक्रौपोलिस् और अरेयोपागस् से पश्चिम और उत्तरपश्चिम की ओर था। इसी के समीप दो पृथक् पृथक् स्तम्भांकित मार्ग थे। वाहरी कैरामिकस् चारदीवारी के वाहर था, इसमें नगर का श्मशान था। अक्रौपोलिस् के दक्षिणी ढाल की ओर दियौनीसियस् का रंगस्थल (थ्येटर) था। दक्षिणपूर्व दिशा में ज़िउस् (द्यौस) का मन्दिर था जो अपूर्ण पड़ा हुआ था। चारदीवारी में यों तो अनेकों द्वार थे पर मुख्य द्वार नगर के उत्तर पश्चिम में था और दिपीलॉन् कहलाता था। यहाँ से कौलोनस् और प्लातोन के अकादेमी नामक महाविद्यालय की ओर सड़कें जाती थीं। इसी द्वार के समीप एक दूसरा द्वार था जो धर्मद्वार कहलाता था जिससे एल्युसिस् की ओर मार्ग जाता था। अन्य द्वारों से पिराएयस् (अथवा पिरेइयस्) फालेरम् और सूनियम् इत्यादि स्थानों को सड़कें जाती थीं। संभवतया ई० पू० छठी शताब्दी में, पिसिस्त्रातस् के शासनकाल में सारे नगर का जलकष्ट निवारण करने के लिये एक जलागार वनाया गया था। नगर-निवासियों के भवन धूप में पकाई हुई ईंटों के वने होते थे और अक्रौपौलिस् के आसपास तंग टेढ़ी-मेढ़ी गलियों के दोनों ओर वने रहे होंगे। यह मकान देखने में अच्छे नहीं लगते थे। नगर के पश्चिम में कैफ़ीसस् नामक नदी वहती थी एवं इलीसस् नदी दक्षिण पूर्व और दक्षिण की ओर, पर यह नदी प्रायः सूखी पड़ी रहती थी।

अत्यन्त प्राचीन काल में यहाँ ग्रीक जाति के लोग नहीं वसते थे। उस समय यहाँ की सभ्यता मीकेनाइ की सभ्यता थी। उसमें इयोनिया से ग्रीक लोगों ने आकर अपनी सभ्यता का मिश्रण आरंभ कर दिया और कालान्तर में पुरानी सभ्यता का अन्त हो गया। आठवीं शताब्दी ई० पू० तक सारा नगर एक इकाई नहीं वना था। आठवीं शताब्दी से विभिन्न वस्तियाँ मिलकर एक वड़ी नगरी वन गई। कहते हैं यह एकता थीसियस् के समय में स्थापित हुई थी। अक्रौपोलिस् इस नगरी की राजधानी थी। नगर का नाम अथेना देवी के नाम पर पड़ा। कहते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में अथेना देवी और पोसेइदन् नामक देवता के वीच में अत्तिका प्रदेश पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिये कलह छिड़ गया। अन्य देवताओं ने यह निश्चय किया कि कलह करनेवालों में से जो भी अत्तिकावासियों के लिये अधिक उपयोगी वस्तु की भेंट देगा उसी का अधिकार अत्तिका पर हो जायगा। पोसेइदन् ने अपने त्रिशूल को पृथ्वी पर पटक दिया जिससे एक घोड़ा (अथवा अन्य मतानुसार एक खारी जल का स्रोत) उत्पन्न हुआ पर अथेना

देवी ने ज़ितून का वृक्ष उत्पन्न किया। देवताओं ने ज़ितून के वृक्ष को अधिक उपयोगी समझकर विजयश्री अथेना को प्रदान की।

आरंभ में नगर का शासन राजाओं द्वारा होता था। तत्पश्चात् श्रेष्ठ जनतंत्र की स्थापना हुई। तदनन्तर तीन आर्खनों का शासन आरंभ हुआ। आरंभ में यह आर्खन दस वर्ष पश्चात् चुने जाते थे पर आगे चलकर प्रतिवर्ष चुने जाने लगे। यह तीन आर्खन थे (१) राजा आर्खन, (२) न्यायाधीश आर्खन और (३) सेनाध्यक्ष आर्खन। कुछ समय पश्चात् ६ आर्खन और बढ़ा दिये गये। इस राजनीतिक विकास का विवरण संविधान के प्रथम भाग में दिया हुआ है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में अथेन्स में २१००० स्वतंत्र नागरिक, १०००० विदेशी और लगभग ४ लाख दास थे। अत्तिका की उपज से इस जनसंख्या का भरण-पोषण होना संभव नहीं था अतएव अथेन्स में बहुत बड़ी मात्रा में भोजन की सामग्री एवं अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ विदेशों से आती थीं। अथेन्स के बंदरगाह का नाम पिराएयस् था और यह बड़ा भारी व्यापार का केन्द्र था। यहाँ के जहाज विशालकाय होते थे वे किनारे किनारे चलनेवाले जहाज नहीं थे महासागरों को पार कर सकते थे और रात्रि में भी यात्रा किया करते थे। स्थल पर सड़कों की दशा अच्छी नहीं थी।

साहित्य, कला, दर्शन और इतिहास इत्यादि के क्षेत्र में अथेन्स नगर की देन अतुलनीय है। ई० पू० पाँचवीं और चौथी शताब्दी में इस नगर ने जो सर्वतोमुखी उन्नति की उसके कारण इसका नाम विश्व के इतिहास में अमर हो गया है। राजनीति के क्षेत्र में अथेन्स अधिक उन्नति नहीं कर सका। उसका साम्राज्य टिकाऊ नहीं रहा। पर संस्कृति के क्षेत्र में उसको शाश्वत गौरव प्राप्त है। सारा यूरोप और अमेरिका सर्वदा अथेन्स के चरणों पर नतमस्तक है। पुरानी मूर्त्तियों के खंड और पुरानी पुस्तकों के पन्ने आज भी खोजे जा रहे हैं। सहृदयों के हृदय आज भी अथेन्स के नाम पर सरसता से भर जाते हैं। अथेन्स यूरोप की विश्वनाथपुरी काशी है।

प्रथम पुस्तक

१

समाज और राष्ट्र—अध्ययन की पद्धति

देखने में आता है कि प्रत्येक राष्ट्र[1] (=नगर-राष्ट्र) एक प्रकार का समाज[2] होता है, तथा प्रत्येक समाज की स्थापना किसी भलाई[3] को प्राप्त करने के लिये हुआ करती है—क्योंकि सभी मनुष्य सर्वदा सारे काम उसी वस्तु की प्राप्ति के लिये किया करते हैं जो उनके विचार में अच्छी प्रतीत होती है। तब तो यह स्पष्ट ही है कि जब सब समाजों का लक्ष्य कुछ न कुछ भलाई ही है, तो वह समाज जो सबसे श्रेष्ठ है, तथा जिसमें अन्य सब प्रकार के समाज सन्निविष्ट रहते हैं, इस लक्ष्य का अनुसरण (भलाई को प्राप्त करने का अनुसरण) सबसे अधिक करेगा, तथा उसका उद्देश्य सर्वोत्तम भलाई को प्राप्त करना होगा। यही (सर्वश्रेष्ठ और सर्वव्यापी) समाज (नगर-) राष्ट्र अथवा नागरिक समाज कहलाता है।

कुछ लोगों[4] का विश्वास है कि राजनीतिज्ञ, राजा, गृहपति और प्रभु सब एक (समान) हैं, पर उनका यह कहना ठीक नहीं। जो व्यक्ति उपर्युक्त विश्वास रखते हैं उनकी धारणा यह है कि (राजनीतिज्ञ, राजा, गृहपति तथा प्रभु[5]) में गुणगत वैशिष्ट्य के कारण अन्तर नहीं है, प्रत्युत यह सब लोग (अपने प्रजाजनों की) अधिक अथवा अल्प संख्या के कारण ही परस्पर भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये थोड़े से व्यक्तियों का अधिपति 'प्रभु' कहलाता है, उससे अधिक का गृहपति और उससे भी अधिक का राजनीतिज्ञ अथवा राजा। मानों, जैसे इनके विचार में बड़ी गृहस्थी और छोटे (नगर-) राष्ट्र में कोई अन्तर ही न हो। राजनीतिज्ञ और राजा का अन्तर इन लोगों के मत में केवल इतना ही है कि यदि शासक शासन कार्य मात्र में अपने ऊपर निर्भर रहे (उस पर अन्य किसी का नियन्त्रण न हो) तो वह राजा कहलाता है; परन्तु जब वह राजनीति विज्ञान के नियमों के अनुसार शासन करता हो एवं अपनी बारी के अनुसार शासक तथा शासित बनता हो तो राजनीतिज्ञ कहलाता है। पर यह विचार ठीक नहीं है। यदि इस विषय पर हमारी पूर्वानुसृत पद्धति (विश्लेषणात्मक पद्धति) के

अनुसार विचार किया जाय तो हमारा यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा (कि शासकों और शासित समाजों में गुणगत भेद होता है)।

जैसा कि (ज्ञान के) अन्य क्षेत्रों में होता है वैसा ही राजनीति के क्षेत्र में भी होना चाहिये; अर्थात् किसी भी मिश्रित वस्तु[६] (संघात) का उसके सघंटक तत्त्वों में तब तक विश्लेषण करते जाना चाहिये जब तक हमको उसके मूलभूत अविमिश्रित तत्त्वों की उपलब्धि न हो जाय; अर्थात् समग्र अवयवी को उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में बाँट देना चाहिये। अतएव हमको राष्ट्र के घटक अवयवों का भी इसी विश्लेपणात्मक पद्धति[७] के अनुसार निरीक्षण करना चाहिये, जिससे हम यह भली प्रकार देख सकें कि (उपर्युक्त शासक तथा उनके द्वारा शासित समाजों में) परस्पर किस बात में अन्तर है तथा यह भी पता लगा सकें कि प्रकृत प्रश्नों में से प्रत्येक के विषय में कोई सुव्यवस्थित (वैज्ञानिक) परिणाम प्राप्त कर लेना संभव है अथवा नहीं।

टिप्पणियाँ

१. राष्ट्र के लिये मूल पुस्तक में पौलिस् शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द संस्कृत के पुर शब्द का सजातीय है। अरिस्तू की राजनीति का संबंध प्रत्यक्षतया ग्रीक नगर-राष्ट्रों से है। बड़े राष्ट्रों और साम्राज्यों की राजनीति का अनुभव उसको नहीं था। उसके शिष्य अलैक्ज़ाण्डर ने जिस साम्राज्य का निर्माण किया वह अरिस्तू की रुचि के अनुकूल नहीं था। राजनीति के यथार्थ स्वरूप का अध्ययन करने के लिये उसने १५८ नगरों की शासन-व्यवस्थाओं (संविधानों) का संग्रह किया था। इनमें से केवल अथेंस का संविधान खंडित रूप में हाल में उपलब्ध हुआ है। अरिस्तू की राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय यह बात सर्वदा दृष्टि में रखना आवश्यक है कि उनके व्यवहार का क्षेत्र ग्रीक नगर के स्वरूप से सीमित था।

२. समाज अथवा समुदाय के लिये मूल में 'कोइनौनिया' शब्द का प्रयोग हुआ है। अरिस्तू के मत में मैत्री, गृहस्थी, स्वामि-सेवक-संबंध, तथा राष्ट्र इन सब में ही समाज की भावना पाई जाती है। पर राष्ट्र ऐसा व्यापक समाज है कि अन्य सब समाज उसके अंगमात्र हैं।

३. भलाई के लिये अगाथॉस् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसको संस्कृत सत् शब्द का पर्याय मान सकते हैं। सब समाज किसी भलाई की प्राप्ति के लिये निर्मित होते हैं।

४. अरिस्तू का संकेत प्लातोन की ओर है। प्रत्यक्षतयाउ सके पौलितिकस् नामक ग्रंथ (२५८ङ--२५९घ) की ओर है।

५. राजनीतिज्ञ, राजा, गृहपति तथा प्रभु के लिये मूल में पौलितिकस्, वसीलिकस्, औइकोनौमिकस् तथा दैस्पौतिकस् शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग आगे बहुत बार होगा। पौलितिकस् तो पॉलिटीशियन का ही ग्रीक रूप है। वसीलिकॅस् शब्द को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति नहीं मिली। औइकोनौमिकस् का अर्थ होता है गृह का प्रबन्ध करनेवाला। औइकॉस् नामक ग्रीक शब्द संस्कृत के विश् शब्द का सजातीय है। दैस्पौतिकस् दासों पर मनमाना शासन करनेवाले को कहते हैं। इन शब्दों का अर्थ आगे चलकर और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

६. अरिस्तू के मत में राष्ट्र एक मिश्र संघात है। इसके स्वरूप को समझने के लिए इसके अवयवों अथवा घटकों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। संघात के लिए मूल में सियेतस् (सं० संस्थान) शब्द है।

७. विश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करना अरिस्तू के दर्शनशास्त्र की विशेषता है। पर अरिस्तू ने राष्ट्र के अवयवों का केवल विश्लेषण ही नहीं किया है, प्रत्युत उसने उनके विकास का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है।

२

नगर-राष्ट्र का विकास

यदि इस प्रकार कोई भूयमान वस्तुओं पर उनके आरंभ में ही दृष्टिपात करे तो अन्य ज्ञान के क्षेत्रों के समान इस राजनीति के क्षेत्र में भी उसको स्पष्टतम दर्शन प्राप्त होगा। सबसे पहले तो उनका संयोग होना आवश्यक है जो एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। उदाहरणार्थ पुरुष और स्त्री का संयोग मनुष्य जाति की उत्पत्ति के लिये होना ही चाहिये (--तथापि यह संयोग किसी परिनिष्ठित उद्देश्य से नहीं होता प्रत्युत इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सामान्यतया अन्य पशुओं और पौदों में अपने पश्चात् अपने सदृश् अन्य प्राणियों को छोड़ जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है उसी प्रकार मनुष्य जाति में भी उपलब्ध होती है।) और इसी प्रकार स्वाभाविक शासक और स्वाभाविक शासित तत्त्वों का भी संयोग घटित होना चाहिये, जिससे दोनों की रक्षा हो सके। जो अपनी बुद्धिमत्ता के द्वारा आगे देखने में समर्थ है वह प्रकृत्या शासक है---स्वाभाविकतया प्रभु है, दूसरी ओर जो अपनी शारीरिक शक्ति से बुद्धि-

मान की योजना को कार्यान्वित कर सकता है वह प्रकृत्या शासित और दास है। अतः प्रभु तथा दास दोनों परस्पर (एक दूसरे के पूरक होने के कारण) उपयोगी होते हैं। स्त्री और दास में तो प्रकृति[१] से ही भेद पाया जाता है। प्रकृति ऐसे दारिद्रय की भावना से कुछ नहीं बनाती जैसे दारिद्रय की भावना से लुहार दैल्फ़ी के चाकू[२] बनाते हैं कि एक ही चाकू के अनेकों उपयोग हो सकें; वह तो एक वस्तु को एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये बनाती है। ऐसा (वह इसलिये करती है कि प्रत्येक वस्तु सर्वोत्तम निर्मित तभी होती है जब कि वह एक ही कार्य के लिये उपयोगी हो, अनेकों के लिये नहीं। पर (असभ्य) बर्बरों में तो स्त्री और दास दोनों का स्थान एक (अभिन्न) है। इसका कारण यह है कि उनके मध्य में प्रकृत शासक कोई नहीं होता उनका समाज (सहवास) तो दासियों और दासों का ही समूह होता है। इसीलिये तो कवियों ने कहा है,

"यही उचित है, बर्बर पर शासक हों हैलैनेस्"[३]

मानों इन कवियों की दृष्टि में बर्बर और दास एक समान प्रकृति के हों।

इन (स्त्री तथा पुरुष एवं दास तथा प्रभु के) दोनों अनिवार्य प्रकृत संबंधों से उत्पन्न होनेवाला प्रथम परिणाम है गृहस्थी अथवा घर। और हेसियद्[४] ने जो अपनी कविता में यह कहा तो सच ही कहा कि,

"सबसे पहले घर, तब गृहिणी, खेत जोतने को तब बैल"

क्योंकि निर्धन के घर के दास तो बैल ही होते हैं। इस प्रकार दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जो प्रथम समाज प्रकृति के द्वारा स्थापित किया जाता है वही कुटुम्ब (अथवा गृहस्थी) है, तथा खारोन्दास्[५] इसके सदस्यों को "भोजनभाण्ड-सहचर" का नाम देता है एवं क्रेते-निवासी ऐपीमैनिदेस् उनको "नाँद के साथी" कहता है। और जब अनेक कुटुम्बों से मिलकर एक ऐसा प्राथमिक समाज बनता है जो दैनिक अथवा अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं (प्रत्युत अधिक व्यापक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होता है) तो उसको गाँव कहते हैं। गाँव का भी सबसे अधिक स्वाभाविक स्वरूप वह प्रतीत होता है जो एक ही कुटुम्ब के उपनिवेश के रूप में हो, तथा जिसके घटक एक ही दूध के पले हुए (अथवा) पुत्र एवं पुत्रों के पुत्र कहलाते हों।[६] इसीलिये तो आरंभ में हैलैनेस् बस्तियाँ राजाओं द्वारा उसी प्रकार शासित होती थीं जिस प्रकार कुछ जंगली कबीलों का शासन अब तक होता है। यह नगर ऐसे

मनुष्यों के एकत्रित होने से बने थे जो कि राजकीय शासन में रह चुके होते थे (अर्थात् यह नगर कुटुम्बों और कुटुम्बों से बढ़कर बने हुए गाँवों से निर्मित होते थे तथा) प्रत्येक कुटुम्ब तो (उसी प्रकार) कुलज्येष्ठ के द्वारा राजावत् शासित होता ही है जिस प्रकार सगोत्रों के उपनिवेश रूप में बसे हुए गाँवों में भी समानरक्तता के आधार पर राजकीय पद्धति का शासन चलता है। (चक्राक्षों[3] का वर्णन करते हुए) होमर ने यही बात तो कही है,

"शासन करता है हर कोई पुत्रों और पत्नियों पर।"

क्योंकि आरंभिक काल की प्रथा के अनुसार लोग छितरे हुए पृथक् पृथक् बसे रहते थे और क्योंकि कुछ मनुष्यों पर तो अभी तक राजाओं का शासन चल रहा है, तथा अन्य लोगों पर आरंभिक काल में इस प्रकार का शासन रह चुका है, अतएव हम लोग कहा करते हैं कि देवताओं पर भी इसी प्रकार राजा का शासन है (अथवा देवताओं का भी राजा होता है)। जिस प्रकार मनुष्य देवताओं के स्वरूप को अपने समान कल्पित किया करते हैं उसी प्रकार उनकी जीवन-पद्धति को भी।

बहुत से गाँवों के मिलने से अन्ततोगत्वा जो पूर्णता को पहुँचा हुआ समाज बनता है बस वही (नगर-) राष्ट्र है, जो अब सब वस्तुओं के विषय में आत्मनिर्भरता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ कहा जा सकता है, तथा जिसकी उत्पत्ति तो मात्र 'जीवन' की आवश्यकता के कारण हुई थी (अतएव जो विकास-काल में पूर्ण आत्मनिर्भरता[4] की ओर अग्रसर हो रहा था) परन्तु (पूर्णता को पहुँचने पर) जिसकी सत्ता अच्छे जीवन[5] (की प्राप्ति) के लिये बनी रहती है। अतएव, यदि प्रारंभिक समाज प्राकृतिक (स्वाभाविक) थे तो सब (नगर-) राष्ट्र भी प्राकृतिक हुए, क्योंकि ये उन्हीं का चरम-विकास तो हैं; किसी वस्तु का चरम-विकास ही उसका स्वभाव होता है। उदाहरण के लिये हम चाहे मनुष्य को लें, चाहे घोड़े को अथवा कुटुम्ब को, पूर्णतया विकसित होकर किसी वस्तु का जो रूप निष्पन्न होता है वही उसका स्वाभाविक रूप (अथवा स्वरूप) कहलाता है। इसके अतिरिक्त, जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिये वस्तुओं की सत्ता है वह तथा चरम विकसित रूप ही सर्वोत्तम होता है, तथा आत्मनिर्भरता (जो कि राष्ट्र की सत्ता का लक्ष्य है) ही (मानव-जीवन का परम) लक्ष्य है, अतएव सर्वोत्तम (स्थिति) है।

इन (उपर्युक्त विचारों) से यह स्पष्ट है कि (नगर-) राष्ट्र की सत्ता प्रकृति से

ही है तथा मनुष्य प्रकृत्या राजनीतिक (राष्ट्र में रहनेवाला तथा उससे संबंध रखनेवाला) प्राणी है। और जो कोई मनुष्य, किसी आकस्मिक कारण से नहीं, प्रत्युत प्रकृति से ही अराजनीतिक (अर्थात् असामाजिक, या नगर वाह्य) है, वह या तो निरा निरर्थक जीव है या मनुष्य से वहुत ऊँचा उठा हुआ है[१०]। वह ऐसा व्यक्ति है जिसकी होमेर के द्वारा निम्नलिखित भर्त्सना की गई है,

"भ्रातृहीन, नियमहीन, गृहविहीन !"

जो मनुष्य इस प्रकार के स्वभाव का होता है वह अत्यन्त कलह-प्रवण भी होता है, उसकी दशा ऐसी होती है जैसी पैत्तेइया[११] के खेल में छटक कर अलग अकेले पड़े हुए पाँसे की।

मनुष्य मधुमक्खियों और अन्य सव मिलजुल कर रहनेवाले प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक सामाजिक जीव क्यों है, यह वात स्पष्ट है। जैसा कि हमारा कहना है, प्रकृति किसी वस्तु को व्यर्थ नहीं वनाती ; सव प्राणधारियों के मध्य में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसको भाषा का वरदान प्राप्त है। केवल शब्द (नाद) तो सुख-दु:ख को सूचित करनेवाला संकेत है, अतएव अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है ; उनकी प्रकृति उनको इसी योग्य बना सकती है कि वे सुख-दु:ख की वेदना का अनुभव कर सकें तथा उसको परस्पर एक दूसरे को (नादसंकेत द्वारा) सूचित कर सकें। पर भाषा तो उपादेय और हेय दोनों को ही स्पष्टतया व्यक्त करने का काम देती है अतएव वह यह भी स्पष्ट कर देती है कि क्या न्यायोचित है और क्या अनुचित। अन्य सव प्राणियों की तुलना में केवल मनुष्य की ही यह विशेषता है कि उसको भले वुरे, उचित (न्याय्य) अनुचित एवं इसी प्रकार की अन्य वातों का चेत होता है, और इन्हीं गुणों में साहचर्य होना कुटुम्ब और (नगर-) राष्ट्र का निर्माण करता है।

और इसके अतिरिक्त प्रकृति के क्रम में राष्ट्र, कुटुम्व और हम में से प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा प्राग्भावी[१२] है, (काल अथवा इतिहास की दृष्टि से चाहे यह उल्टा ही क्यों न हो)। इसका कारण यह है कि अवयवी (प्रकृति के क्रम में) अवयव से अनिवार्यतया प्राग्भावी होता है। यदि समग्र शरीर (अवयवी) नष्ट हो जाये तो, नाममात्र की समानार्थकता के अतिरिक्त न पैर रहेंगे, न हाथ ; नाम के लिए (मृतक के हाथ को भी इसी प्रकार हाथ कहेंगे) जिस प्रकार पत्थर के वने हाथ को हाथ कहते हैं ; क्योंकि (समग्र अवयवी के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ हाथ) पत्थर के हाथ के

ममान (निकम्मा) होता है। सभी वस्तुओं के स्वरूप का विनिश्चय उनके कार्य और शक्ति के द्वारा किया जाता है ; इसलिये यदि किन्हीं वस्तुओं में अपना विशिष्ट कार्य करने की क्षमता न रहे तो हमको यह नहीं कहना चाहिये कि वही वस्तुएँ हैं, हाँ, नाममात्र की ममानार्थकता के कारण हम यह कह सकते हैं कि वे उसी नामवाली वस्तुएँ हैं।

अतएव यह बात स्पष्ट है कि नगर की सत्ता प्रकृति से ही है तथा वह व्यक्ति से पूर्ववर्त्ती है। क्योंकि अकेले पड़ जाने पर व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं रह जाते अतएव सभी व्यक्ति समान भाव से अवयवी (अर्थात् राष्ट्र) के साथ अंशांशीभाव का संबंध रखते हैं। जो व्यक्ति समाज से अलग है---चाहे तो इसलिए कि उसमें सामाजिक जीवन में भागीदार बनने की क्षमता नहीं है अथवा इस कारण कि पूर्णतया आत्मनिर्भर (आत्मतृप्त) होने से उसको समाज की आवश्यकता ही नहीं है---वह या तो पशु है या देवता।[13] अतएव इस प्रकार के समाज की ओर प्रेरित करनेवाली एक सहज प्रबल प्रवृत्ति स्वभावतः सब मनुष्यों के अन्तःकरण में स्थित रहती है ; तथापि वह व्यक्ति, जिसने सबसे पहले इस प्रकार के समाज (अर्थात् नगरराष्ट्र) की संस्थापना की वह मानव-जाति के लिये सबसे महान् उपकारक रहा होगा। जिस प्रकार, चरम-विकास को प्राप्त हुआ मनुष्य सब जीवों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार नियम और न्याय से विरहित होने पर वह प्राणिमात्र में सब से बुरा भी हो जाता है। शस्त्रास्त्र से सज्जित हो जाने पर अनीति अत्यन्त भयावह हो जाती है ; और मनुष्य तो जन्म से (भाषा, बुद्धि इत्यादि) ऐसे शस्त्रास्त्रों से लैस रहता है जो शीलपूर्ण विवेक और साधुता के उद्देश्यों की सिद्धि के लिये निर्दिष्ट हैं, पर जिनका उपयोग विपरीत प्रकार के उद्देश्यों के लिये किया जा सकता है और उसे भी अधिक अच्छा समझते हुए। इसीलिए साधुता (सज्जनता) से रहित होने पर वह नितान्त दुष्ट और जंगली हो जाता है तथा शिश्नोदरपरायणता में सब से नीचे गिर जाता है। पर न्याय (जिसमें मानव-त्राण निहित है) (नगर-) राष्ट्र की वस्तु है---क्योंकि न्याय[14] ही तो, जो इस बात का निर्णय करता है कि क्या उचित है, नागरिक समाज में सुव्यवस्था का मूलमंत्र है।

टिप्पणियाँ

प्रथम पुस्तक का यह द्वितीय खण्ड अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें अरिस्तू ने (नगर-)राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास का वर्णन करते हुए उसके स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रसंगतः इसमें हमको वस्तु के स्वरूप के संबंध में उसके दार्शनिक विचारों की भी एक झलक मिलती है। एक ओर जहाँ हमको अरिस्तू की

सुलझी हुई विचारसरणी का दिग्दर्शन प्राप्त होता है, वहाँ दूसरी ओर उसके अनुभव की सीमा को भी हम पश्चात्कालीन सामाजिक विकास के प्रकाश में भली भाँति देख पाते हैं। वह राष्ट्र को नगर के रूप में ही पूर्णता को पहुँचा हुआ मानता है। जातीय-राष्ट्र (नेशन स्टेट) और साम्राज्य उसकी कल्पना से परे हैं।

इस खण्ड में अरिस्तू ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि (नगर–) राष्ट्र का विकास पूर्णतया स्वाभाविक तत्वों से हुआ है अतएव वह स्वाभाविक वस्तु है। मानव-समाज का पूर्णता को पहुँचा हुआ रूप (नगर–) राष्ट्र है। मानव और मानव के स्वाभाविक सामाजिक संयोग के मूल में अरिस्तू ने दो सहज नैर्सगिक प्रवृत्तियों का व्यापार देखा है। इनमें से प्रथम सहज प्रवृत्ति पुरुष और स्त्री को परस्पर आकृष्ट कर प्रजनन व्यापार द्वारा मानवप्राणी की उत्पत्ति-शृंखला को विच्छिन्न होने से बचाती है। दूसरी प्रवृत्ति प्रभु और दास को पारस्परिक संयोग में आबद्ध कर मानवजाति के सामाजिक संस्थान को सुरक्षित रखती है। इन दोनों नैर्सगिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप कुटुम्ब की उत्पत्ति होती है। कुटुम्ब बढ़कर ग्राम के रूप को ग्रहण करता है और ग्रामों का समुदाय मिलकर (नगर–) राष्ट्र बन जाता है। ग्रीक-जाति में स्त्री और दास पृथक् स्थिति रखते हैं पर असभ्य बर्बर जातियों में स्त्रियों के प्रति भी दासों जैसा व्यवहार किया जाता है। इसी सामाजिक भेद के आधार पर अरिस्तू ग्रीक लोगों के बर्बर जातियों पर शासन के अधिकार का औचित्य प्रतिपादन करता है। अरिस्तू स्वयं जिस समाज में उत्पन्न हुआ था उसमें दास-प्रथा प्रचलित थी, इसलिये उसने न केवल उसको स्वीकार किया, प्रत्युत उसकी स्वाभाविकता और उचितता का प्रतिपादन भी किया। इससे स्पष्ट है कि महान् से भी महान् विचारक अपने समय की परिस्थितियों से पूर्णतया ऊपर नहीं उठ पाते हैं। इस विषय में अधिक चर्चा यथावसर आगे की जायेगी।

१. प्रकृति—अरिस्तू ने अपने अन्य वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ग्रंथों में प्रकृति के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। यहाँ तो वह इतना ही कहता है कि प्रकृति एक वस्तु को एक ही कार्य को करने के लिए बनाती है।

२. दैल्फ़ी के चाकू—दैल्फ़ी ग्रीस देश का एक सुविख्यात तीर्थ स्थान था। यहाँ सूर्यदेव का विशाल मन्दिर था। यहाँ के चाकू अथवा छुरे पशुओं की बलि देने तथा उनके चमड़े को उतारने और मांस को काटने में (संभवतया) काम में आते थे। एक विद्वान् का सुझाव यह भी है कि वे चाकू और चम्मच दोनों का काम देते थे।

३. बर्बर जातियों के सभी मनुष्य दास होते हैं तथा उन पर ग्रीक लोगों का शासन होना उचित है, यह दोनों विचार यूरीपिदेस के नाटकों से लिये गये प्रतीत होते हैं।

४. हेसियद् प्राचीनता में ग्रीस देश के आदि कवि होमेर के पश्चात् है। प्रस्तुत उद्धरण उसके "कार्य और दिवस" नामक काव्य से लिया गया है।

५. कारोन्दास और ऐपीनैनिदेस (क्रेते द्वीप का निवासी) अत्यन्त प्राचीन महापुरुषों के नाम हैं जिनके विषय में अनेकों चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित थीं।

६. इस प्रकार के वाक्यांश का प्रयोग प्लातोन ने अपने 'कानून' नामक ग्रंथ में तथा होमेर ने "इलियड" नामक काव्य में (पं० २०।३०८) किया है।

७. 'चक्राक्ष' के लिये मूल में 'किक्लोप्स' शब्द का प्रयोग हुआ है। चक्राक्ष इस शब्द का नपा-तुला रूपान्तर है। 'चक्राक्ष' नाम के प्राणी किसी वन्य द्वीप में रहते थे। देखने में यह मनुष्यों के ही समान होते थे पर इनकी आँखें दो नहीं होती थीं। एक गोल आँख इनके मस्तक के मध्य में होती थी। इस पंक्ति को प्लातोन ने भी अपनी "कानून" नामक पुस्तक में उद्धृत किया है।

यहाँ तक अरिस्तू यही सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है कि मानव समाज का विकास प्रकृति द्वारा गृहस्थी, गाँव इत्यादि के रूपों में होता हुआ नगर की स्थिति को पहुँचता है। अतएव (नगर–) राष्ट्र कोई कृत्रिम समाज नहीं है।

८. पूर्ण 'आत्मनिर्भरता' के लिए मूल में "औतार्केइया" शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी परिभाषा अरिस्तू ने अपनी "आचारशास्त्र" नामक पुस्तक में इस प्रकार दी है कि आत्मनिर्भरता वह गुण है "जिसके द्वारा स्वतः जीवन वांछनीय वन जाता है तथा जिसमें कोई अभाव नहीं होता।" (पुस्तक १ खंड ७।७)।

९. मानव समाज की उत्पत्ति जीवन को बनाये रखने और सुरक्षित रखने की भौतिक आवश्यकताओं से हुई तथा जब वह समाज विकसित होकर (नगर–) राष्ट्र के रूप को प्राप्त हुआ तो भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार "अच्छे-जीवन" का भवन निर्मित हुआ। मूल में 'अच्छे जीवन' के लिए 'यु जेन्' शब्द का प्रयोग हुआ है जो "सुजीवन" का सजातीय है।

१०. तुलना कीजिये "नृपशुरयवायं पशुपतिः।"

११. पेत्तेइया का खेल = ड्राफ़्ट का खेल।

१२. अंशांशी अथवा अवयव और अवयवी के संबंध में अंशी अथवा अवयवी का प्राग्भाव (पूर्वसत्ता) मानना ही पड़ेगा क्योंकि अंश, अंग अथवा अवयव तभी होगा जब पहले अंशी, अंगी अथवा अवयवी की सत्ता हो।

१३. देखो टिप्पणी संख्या १०।

१४. न्याय के विवेचन के लिये ही प्लातोन ने अपनी पॉलितेइया नामक पुस्तक की रचना की। अरिस्तू ने भी इस ग्रंथ की रचना इसी के विवेचन के लिये की है।

(नगर–) राष्ट्र को अरिस्तू ने समाज का परम विकसित रूप माना है और इस संबंध में यह भी कहा है कि किसी भी वस्तु का चरम विकसित रूप ही उसका लक्षण-सूचक

स्वरूप होता है। अरिस्तू ने जीव-विज्ञान का गहरा अध्ययन किया था। जीवन निरन्तर विकासशील है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि किसी जीव का वास्तविक स्वरूप क्या माना जाय। अरिस्तू ने इसका उत्तर यही दिया कि जब कोई वस्तु (या जीव) विकसित होकर चरमशक्ति को प्राप्त हो जाये तथा जिस कार्य के लिये प्रकृति ने उसका निर्माण किया है उसको भली प्रकार सम्पादन कर सके तो उस स्थिति अथवा अवस्था को उसका वास्तविक रूप मानना चाहिये। मानव-समाज (नगर-) राष्ट्र के रूप को प्राप्त करके इस अवस्था को प्राप्त करता है। समाज के इस विकासक्रम में किस स्थिति में किस उद्देश्य की पूर्ति होती है यह निम्नतालिका से स्पष्ट हो जायेगा तथा यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि उत्तरकालीन स्थिति में पूर्वकालिक उद्देश्य सिद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है।

स्थिति	उद्देश्य
१. कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति = क
२. ग्राम	क + (न्याय के लिये ग्रामपंचायत तथा धार्मिक उत्सव इत्यादि = ख)।
३. (नगर-) राष्ट्र	क + ख + (न्याय और सैनिक संरक्षण की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा विद्या और कलाओं का विकास = ग)।

विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रीक नगरों के विकास में विद्वानों ने जिन भौगोलिक, आर्थिक, सैनिक, तथा राजनीतिक-सामाजिक कारणों का उल्लेख किया है उनका विवरण अरिस्तू ने प्रस्तुत खंड में तथा आगे चलकर ७ वीं पुस्तक के खण्ड ६ और ११ में किया है।

३

गृहस्थी के तत्त्व

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्टतया जान लेने पर कि (नगर-) राष्ट्र की स्थापना किन छोटे छोटे अंशों के मिलने से होती है, अब हमको सबसे पहले गृहव्यवस्था के विषय में कुछ कहना आवश्यक है, क्योंकि सब नगर गृहस्थियों के समूह से निर्मित होते हैं। और गृहस्थी के अंग तो वही होते हैं जिनके मिलने से गृहस्थी बनती है। पूर्णविकास को प्राप्त गृहस्थी के घटक होते हैं (कुछ) दास और (कुछ) स्वतंत्र व्यक्ति। पर

प्रत्येक विषय के परीक्षण का आरंभ उसके सरलतम घटकों के विचार से होना चाहिये; तथा गृहस्थी के प्रारंभिक और सरलतम घटक-तत्त्व हैं प्रभु और दास, पति[1] और पत्नी, पिता और सन्तति। अतएव अब हमको इन तीनों संबंधों के स्वरूप को देखना चाहिये कि वह कैसा है और उसमें कौन से गुण होने चाहिएं। यह संबंध हैं--प्रथम स्वामित्व संबंध, द्वितीय वैवाहिक संबंध[2] (हमारी ग्रीक भाषा में पत्नी और पति के संबंध को ठीक प्रकार से व्यक्त करने के लिये कोई शब्द नहीं है) तथा तृतीय प्रजोत्पादन संबंध (और इस संबंध के लिये भी हमारी भाषा में कोई पृथक् नाम नहीं है।) यही वह तीन संबंध हैं जिनका विवरण हम उपस्थित कर रहे हैं। पर इन अंगों के अतिरिक्त गृहस्थी का एक अंग और भी है, जिसको कुछ लोग तो समग्र गृह-व्यवस्था से अभिन्न समझते हैं तथा कुछ अन्य लोग इसको गृह-व्यवस्था का सबसे प्रमुख अंग मानते हैं। इसका स्वरूप कैसा है, इसका भी हमको विचार करना चाहिये। इस अंग से हमारा तात्पर्य 'धनोपार्जन' कहलानेवाली कला से है।

सबसे पहले स्वामी और दास के संबंध का ही कथन करें, जिससे कुछ तो हमको व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के संबंध में ज्ञान प्राप्त हो सके, तथा यदि संभव हो तो इस समय तक एक विषय में जो सिद्धान्त उपलब्ध हैं हम उनसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक अच्छे सिद्धान्त प्राप्त करने के योग्य हो सकें। कुछ लोग यह मानते हैं कि दासों के ऊपर प्रभुत्व चलाना एक विद्या है। जैसा कि हमने आरंभ में ही कहा था, इन लोगों की ऐसी धारणा है कि गृह का प्रबन्ध, दासों पर प्रभुत्व, राजनीतिज्ञों का शासन (नगर की व्यवस्था) तथा एकराट्तंत्र यह सब एक ही बात हैं। अन्य कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह समझते हैं कि प्रभु के द्वारा दासों पर अधिकार चलाया जाना प्रकृति[3] के प्रतिकूल है। विधि (कानून) में दास और स्वतंत्र के भेद को भले ही माना जाता हो, पर प्रकृत्या उनमें इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। (केवल) बल पर आश्रित होने के कारण यह संबंध न्याय्य नहीं है।

टिप्पणियाँ

द्वितीय खंड में मानव के सामाजिक विकास का ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विश्लेपण प्रस्तुत करके अब अरिस्तू उस विकास क्रम की प्रथम कड़ी कुटुम्ब अथवा गृहस्थी के विवरण का उपक्रम करता है। गृहस्थी का विश्लेपण करने पर उसमें तीन अथवा चार अंग दृष्टिगोचर होते हैं। इस खंड के अन्त में गृहस्थी के एक संबंध--स्वामी और दास के संबंध--के वर्णन का सूत्रपात किया गया है।

१. पति के लिए मूल ग्रंथ में इसी शब्द का सगोत्र शब्द पौसिस् आया है।

२. वैवाहिक संबंध के लिये 'गामिके' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो संस्कृत का सजातीय है।

३. प्रकृति के लिये मूल में 'फौसिस्' शब्द आया है जो संस्कृत के 'भूति' शब्द का सजातीय है।

४

दासता

धनसंपत्ति गृहस्थी का एक अंग है और धनोपार्जन-कला गृहप्रबंध का एक विभाग है ; क्योंकि (जीवन की) आवश्यकताओं (की पूर्ति) के बिना अच्छी प्रकार जीवन-यापन करना अथवा जीवित रहना तक संभव नहीं है। फिर, जिस प्रकार किसी सुनिर्धारित कार्य-क्षेत्रवाली कला के लिये, अपने कार्य को भली प्रकार संपादन करने के लिये, तदुपयोगी विशिष्ट उपकरण अनिवार्यतया आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार की स्थिति गृहप्रबंध कला की भी है। उपकरणों में भी कुछ निर्जीव होते हैं, तथा कुछ सजीव; उदाहरण के (नौकासंचालन की कला में) नियंत्रक[1] निर्जीव तथा पुरोदृष्टा[2] सजीव उपकरण का काम देता है (पुरोदृष्टा को उपकरण इसलिए कहा क्योंकि कलाओं (अथवा व्यवसायों) में अधियुक्तकर्मी उपकरण स्थानीय ही होते हैं)। बस इसी प्रकार सम्पत्ति (के सब अंगोपांग) जीवन के लिये उपकरण स्वरूप हैं; सम्पत्ति वास्तव में इन्हीं अंगोपांगों का समूह ही है; दास सम्पदा के अन्तर्गत सजीव उपकरण हैं तथा जिस प्रकार कोई उपकरण अन्य उपकरणों में अग्रणी होता है इसी प्रकार नौकर (अर्थात् सजीव उपकरण) अन्य (निर्जीव) उपकरणों की अपेक्षा अग्रगण्य होते हैं (अर्थात् निर्जीव उपकरणों से तभी काम लिया जा सकता है जब उनसे पहले सजीव उपकरण विद्यमान हों)। यदि प्रत्येक निर्जीव उपकरण (स्वामी की) आज्ञा मानकर अथवा इच्छा को जानकर इसी प्रकार अपना कार्य संपादन कर सकता, जिस प्रकार दायदालस्[3] की मूर्त्तियाँ और हिफाएस्तस्[4] के तिपाए करते थे (जिनके विषय में कवि ने कहा है,

"स्वतः प्रवेश किया देवमण्डली में जा"),

इसी प्रकार यदि करघे की नली स्वयं बुन लेती और कोण (मिज़राब) स्वतः सितार को स्पर्श कर लिया करता तो प्रमुख कारीगर को नौकरों की और (गृह-)स्वामी को दासों

की आवश्यकता भी न हुआ करती। यहाँ पर एक अन्तर और ध्यान देने योग्य है कि जिन उपकरणों की चर्चा हम कर चुके हैं (यथा करघे की नली इत्यादि) वे उत्पादन के उपकरण हैं, परन्तु गृहसम्पत्ति के उपकरण (यथा दास, शय्या, वाहन इत्यादि) कार्य-संपादन के उपकरण हैं[४]। जब नली को काम में लाया जाता है तो उससे कुछ ऐसी वस्तु (अर्थात् कपड़ा) उत्पन्न होती है जो नली की क्रिया से भिन्न तथा पृथक् है, पर गृहसम्पत्ति के वस्त्र तथा शय्या इत्यादि उपकरणों में केवल (जीवन के लक्ष्यसाधन कार्य की) उपयोगिता ही पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि, क्योंकि उत्पादन और कार्य में प्रकार-भेद है, तथा दोनों को ही अपने अपने लिये समुचित उपकरणों की आवश्यकता होती है, अतएव उनके इन उपकरणों में भी अनुरूप भेद अवश्यमेव होना चाहिये। पर जीवन तो कार्य है, उत्पाद (निर्माण) नहीं है; इसलिए दास (जीवन के उद्देश्य की सिद्धि का उपकरण होने के कारण) कार्यार्थ उपयोग में आनेवाला उपकरण है, (उत्पादन का उपकरण नहीं)।

फिर, सम्पत्ति शब्द का उपयोग अंग अथवा भाग के अर्थ में भी किया जाता है, और अंश तो केवल किसी (अपने से भिन्न) अन्य वस्तु का भाग-मात्र नहीं होता, प्रत्युत पूर्णतया दूसरे के स्वत्व में होता है; बिलकुल ऐसी ही बात सम्पत्ति के विषय में भी लागू होती है। इसलिए स्वामी तो केवल दास का स्वामी मात्र होता है पर उसके स्वत्व में नहीं रहता, इसके विपरीत दास केवल अपने स्वामी का दास ही नहीं होता, प्रत्युत पूर्णतया उसी के स्वत्वाधीन होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि दास का स्वरूप और वृत्ति (अथवा क्षमता) क्या हैं; जो प्रकृत्या अपना (स्वामी) नहीं प्रत्युत दूसरे का आदमी है, वह प्रकृत्या दास होता है; तथा जो मनुष्य होते हुए भी किसी की सम्पत्ति में अन्तर्भुक्त है वह दूसरे का आदमी है, एवं सम्पदा का (अंग) वह उपकरण होता है जो कार्यार्थ उपयोग में आता है तथा अपने स्वामी से पृथक् होता है[५]।

टिप्पणियाँ

१. नियंत्रक—वह यंत्र जिसके द्वारा नौका का संचालन होता है।

२. पुरोदृष्टा—वह व्यक्ति जो नौका का पथप्रदर्शन करता है। इसको निर्याम अथवा निर्यामक भी कहते हैं।

३. दायदालस् और हिफाएस्तस् पौराणिक युग के यंत्र-निर्माता थे। हेफ़ाएस्तस पूर्वज है और दायदालस् उसके पश्चात् हुआ कहा जाता है। इन्होंने अनेकों चमत्कार-

मयी वस्तुओं का निर्माण किया था। हेफ़ाएस्तस् जन्म से देवता था पर लँगड़ा होने के कारण इसकी माता हीरा ने इसको स्वर्ग से पृथ्वी पर फेंक दिया। पृथ्वी पर यह लौह-कारों का देवता बन गया और इसने अनेकों विचित्र वस्तुओं का निर्माण किया। दाय-दालस् ने भूलभुलइयों का निर्माण क्रेते द्वीप के राजा मिनौस् के लिये किया। स्वयं-चालित मूर्त्तियाँ बनाईं। एक बार यह और इसका पुत्र पंख लगाकर आकाश में उड़े भी।

४. अरिस्तू ने उपकरणों की दो श्रेणियाँ मानी हैं (१) उत्पादक–उपकरण जो किसी अन्यवस्तु के निर्माण में काम आते हैं––जैसे करघे की नली अथवा तुरी। (२) जीवनोपयोगी उपकरण––जो किसी वस्तु के उत्पादन में सहायक नहीं होते पर जीवन के किसी उद्देश्य के लिये उपयोगी होते हैं। इस दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत दास, वस्त्र, शय्या इत्यादि आते हैं। उत्पादन और कार्य के लिये मूल में 'पोइसिस्' और 'प्राक्सिस्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका शब्दार्थ 'बनाना' और 'करना' है।

५. अन्तिम अनुच्छेद में अरिस्तू ने स्वामी (प्रभु) दास तथा सम्पत्ति की परि-भाषाएँ सार रूप में दे दी हैं।

५

दास का स्वरूप

इसके पश्चात् अब यह देखना चाहिये कि क्या प्रकृत्या कोई मनुष्य ऐसा (अर्थात् दास) होना इष्ट है अथवा नहीं; क्या किसी भी मनुष्य के लिये दासता करना अच्छा और उचित है अथवा नहीं; अथवा इसके विपरीत समग्र दासता प्रकृति-विरुद्ध है। विवेक की दृष्टि से देखने से अथवा वास्तविक तथ्यों पर विचार करने से, दोनों ही प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। क्योंकि (कुछ का) शासन करना और (अन्य कुछ का) शासित होना न केवल आवश्यक है प्रत्युत व्यवहारोपयोगी भी है; ऐसा लगता है कि सीधे जन्म से ही कुछ के भाग्य में शासित होना तथा (अन्य) कुछ के भाग में शासन करना नियत होता है। और शासक तथा शासितों के भी बहुत से प्रकार होते हैं; अतएव जो शासन अपेक्षाकृत अच्छे प्रकार के शासितों पर किया जाता है वह अच्छा शासन होता है, जैसे कि मनुष्य के ऊपर किया गया शासन पशु के ऊपर किये गये शासन से अपेक्षाकृत अच्छा होता है। कारण यह है कि जब कोई कार्य अच्छे तत्त्वों के द्वारा संपादित होता है तो वह अपेक्षाकृत अच्छा कार्य होता है; जहाँ कहीं कोई शासन करता है और दूसरा शासित होता है तो यह उन दोनों का (सम्मिलित) कार्य कहा जा सकता

है। जो भी वस्तुएँ अनेक भागों से मिलकर बनी होती हैं, तथा मिश्रित प्रकार की होती हैं, तो चाहे उनके अंग परस्पर बिल्कुल मिले-जुले हों (जैसे कि शरीर के अवयव) अथवा स्पष्ट विभक्त हों (जैसे स्वामी और दास के संबंध में), उनमें शासक तत्त्व और शासित तत्त्वों (अंगों) का भेद प्रकट हो ही जाता है। यह (शासक और शासित तत्त्वों की सत्ता) सजीव प्राणियों में समग्र प्रकृति की संघटना से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि (प्रकृति में) जो वस्तुएँ जीवधारी नहीं भी हैं उनमें भी एक शासक तत्त्व पाया जाता है, जैसे कि स्वरमण्डल में (प्रधान स्वर होता है)। पर यह तो स्यात् प्रकृत विषय से बहक जाना है। अतएव हम केवल जीवधारियों के विषय में विचार करेंगे जो कि आत्मा और शरीर के संयोग से बने हैं तथा इन दोनों में एक (अर्थात् आत्मा) प्रकृत्या शासक और दूसरा (अर्थात् शरीर) शासित है। पर प्रकृति के उद्देश्य को जानने के लिये हमको उन्हीं वस्तुओं पर दृष्टिपात करना चाहिये जो अपनी प्रकृति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं, न कि उन पर जो प्रकृतिभ्रष्ट हो गई हैं। अतएव हमको ऐसे मनुष्य का अध्ययन करना चाहिये जिसका शरीर और आत्मा दोनों श्रेष्ठ अवस्था में वर्त्तमान हों, जिसमें आत्मा का शरीर पर यह शासन स्पष्ट प्रतीत हो सके; क्योंकि जो व्यक्ति (स्थायी रूप से) बुरे हैं अथवा (थोड़े से समय के लिये) विकृत दशा में हैं उनमें तो, उनके दोषपूर्ण और प्रकृतिविपरीत दशा में स्थित होने के कारण, बहुधा शरीर आत्मा पर शासन करता प्रतीत होगा।

कुछ भी सही, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, जीवधारियों में प्रथमतः प्रभुशासन और विधिशासन दोनों ही प्रकार के शासनों को देख सकते हैं। आत्मा शरीर पर जो शासन करती है वह प्रभुशासन—अर्थात् प्रभु का दास पर शासन—है; जब कि बुद्धि कामनाओं (=एषणाओं) पर वैधशासन अथवा राजशासन करती है। (मानव के अन्तर्जगत् के) इस क्षेत्र में शरीर पर आत्मा तथा आवेगात्मक अंश पर बुद्धि और विवेकात्मक अंश द्वारा शासन किया जाना स्वाभाविक और उपयोगी दोनों ही है; इसके विपरीत उपर्युक्त दोनों (शासक और शासित तत्त्वों) की समानता अथवा उनके संबंध का विपर्यय सर्वदा हानिकर है। जो बात मनुष्य के आन्तरिक जीवन में उसकी आत्मा और शरीर के संबंध में ठीक है वही मनुष्य और पशुओं के संबंध में भी सही है; क्योंकि पालतू जानवर जंगली पशुओं की अपेक्षा अच्छे स्वभाववाले होते हैं, एवं मनुष्य के द्वारा शासित होने पर यह (पालतू) जानवर अधिक अच्छे रहते हैं; कारण कि मनुष्य के शासन में उनको सुरक्षा की प्राप्ति हो जाती है। फिर, नर और (नारी) मादा का संबंध प्रकृत्या उच्चतर और अवर का—शासक और शासित

का जैसा संबंध है। यही सिद्धान्त अनिवार्यतया समग्र मानवजाति के विषय में भी लागू होता है (और इसी कारण स्वामी और दास के संबंध में भी ठीक है)।

अतएव जहाँ कहीं भी (मनुष्यों में) ऐसा अन्तर पाया जाता है जैसा कि आत्मा और शरीर में तथा मनुष्य और पशुओं में उपलब्ध होता है (-ऐसी ही स्थिति उन सब मनुष्यों की होती है जिनकी वृत्ति केवल शारीरिक सेवा करना है, तथा जिनसे प्राप्त होनेवाली सर्वोत्तम वस्तु यही है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं–) तो वहाँ निम्नश्रेणी के मनुष्य प्रकृत्या दास होते हैं, तथा उसी सिद्धान्त के अनुसार जो अन्य प्रसंगों में (अर्थात् शरीर और पालतू पशुओं के प्रसंग में) उल्लिखित हो चुका है इनके लिये यही अधिक अच्छा है कि यह किसी स्वामी द्वारा शासित रहें। प्रकृति से ही दास वह होता है जो दूसरे का होने की योग्यता (सामर्थ्य) रखता है (तथा इसीलिए दूसरे का है भी) तथा जो वहीं तक विवेकभाजन है जहाँ तक कि वह दूसरे में विवेक की सत्ता को ग्रहण कर सकता है पर जो स्वयं उस से वंचित है। रही निम्नकोटि के प्राणियों की बात, सो वे दासों से इस बात में भिन्न हैं कि वे तो विवेकतत्त्व की सूझबूझ से बिलकुल शून्य होते हैं; केवल अपनी सहज प्रवृत्तियों का ही अनुसरण करते हैं। इन दोनों––दास और पालतू पशुओं–का जो उपयोग किया जाता है वह एक दूसरे से थोड़ा ही हटता हुआ होता है; क्योंकि दोनों ही अपने शरीरों के द्वारा (अपने स्वामी के) जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक होते हैं। (इस बौद्धिक अन्तर के अतिरिक्त) प्रकृति स्वतंत्र पुरुष और दास के शरीरों में भी भेद करना चाहती है, अतः वह एक (अर्थात् दास) के शरीर को आवश्यक सेवाओं के लिये तगड़ा बनाती है तथा स्वतंत्र पुरुष के शरीर को सरल अनवनत; और यद्यपि स्वतंत्रपुरुष का शरीर टहल चाकरी के लिये उपयोगी नहीं होता तथापि उस नागरिक जीवन के लिये उपयुक्त होता है (जो अपने विकासक्रम में सैनिक-सेवा तथा शान्तिकालीन व्यवसायों में बँट जाया करता है)। पर प्रायः प्रकृति के इस उद्देश्य का विपर्यय भी घटित हो जाता है––अर्थात् कुछ (दासों) को स्वतंत्र पुरुषों का शरीर प्राप्त हो जाता है एवं कुछ दूसरों को उनकी आत्मा।[१] यह तो स्पष्ट है कि यदि मनुष्यों के शरीर की आकृतियों में परस्पर इतना अन्तर हुआ करता जितना कि देवताओं की मूर्त्तियों और मनुष्यों के शरीरों में है तो सभी इस विषय में एकमत हो जाते कि निम्नवर्ग के लोगों को उच्च वर्गवालों की दासता करनी चाहिये। और यदि यह बात शरीर के अन्तर के आधार पर इतनी सत्य है तो भला जब आत्मा के अन्तर का प्रसंग हो तब तो इस बात को और भी अधिक औचित्य-पूर्ण सिद्ध किया जा सकता है; यद्यपि आत्मा के सौन्दर्य को देख सकना उतना सरल नहीं

है जितना कि शरीर के सौन्दर्य को। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कुछ मनुष्य स्वभाव (प्रकृति) से स्वतंत्र होते हैं और अन्य कुछ प्रकृत्या दास होते हैं, तथा इन (दास प्रकृति के) मनुष्यों के लिये दासता उपयोगी और उचित दोनों ही है[२]।

टिप्पणियाँ

इस खंड में अरिस्तू ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि शासक और शासित तत्त्व का भेद समग्र जड़ और चेतन प्रकृति में व्याप्त है। आत्मा और शरीर में भी यही अन्तर है। मनुष्य समाज में जो व्यक्ति विवेक-शक्ति से शून्य है तथा केवल शारीरिक शक्ति रखता है वह दास होता है तथा जो विवेक शक्ति सम्पन्न होता है वह स्वामी। अरिस्तू दास में विवेक की मात्रा इतनी ही मानता है जितनी से स्वामी की विवेकवत्ता की स्वीकृति हो सके। पालतू पशुओं में दास के बराबर भी विवेक नहीं होता। दास अपने स्वल्पविवेक के सहारे एक तो अपने स्वामी में विवेक की सत्ता को ग्रहण कर सकता है तथा दूसरे उसकी आज्ञाओं को और निर्देशों को समझ सकता है। यद्यपि प्रकृति, स्वामी और दास के भेद को स्पष्ट करना चाहती है पर वह सर्वदा ऐसा करने में कृतकार्य नहीं हो पाती।

१. इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार भी होना संभव है, "बहुधा ऐसा संयोग बन पड़ता है कि दासों को स्वतंत्र पुरुषों का शरीर प्राप्त हो जाता है, पर स्वतंत्र पुरुषों को केवल आत्मा ही मिल पाती है।"

२. इस अनुखंड में जहाँ हमको दास प्रथा के संबंध में अरिस्तू के विचारों का पता चलता है वहाँ अथेन्स के समाज की एक झलक भी मिलती है।

६

वैध और प्राकृतिक दासता

परन्तु यह देख सकना भी कठिन नहीं है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त विचारों के विपरीत मत रखते हैं, एक प्रकार से वे भी ठीक ही कहते हैं। "दासता" और "दास" इन दोनों शब्दों का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। (उपर्युक्त प्रकृत्यनुसारिणी दासता के अतिरिक्त) दासता और दास का एक प्रकार और भी है जो नियम अथवा सामाजिक रूढ़ि पर आश्रित है। वह नियम जिसके अनुसार युद्ध में विजितों पर विजेताओं का

अधिकार माना जाता है वास्तव में एक रूढ़ि ही है। पर बहुत से स्मृतिकार दासता के इस औचित्य-प्रतिपादन का इसी प्रकार विरोध करते हैं जिस प्रकार किसी संविधान-विरोधी वक्ता का—अर्थात् वे इस रूढ़ि के विरुद्ध अवैधता का आरोप लगाते हैं। उनको यह विचार घृणोत्पादक प्रतीत होता है कि यदि कोई मनुष्य शक्ति से बलात्कार करता है और जो केवल बल में दूसरों से बढ़कर है तो दूसरों को उसके बलप्रयोग से जबरदस्ती दास और शासित होना पड़ेगा। विद्वानों में भी इस विषय पर विभिन्न मत हैं; कुछ इसका समर्थन करते हैं तो दूसरे विरोध। इस विषय में मतविप्रतिपत्ति का हेतु और विभिन्न विरोधी दृष्टिकोणों के परस्पर अतिव्याप्त होकर उलझ जाने का कारण निम्नलिखित है। एक अर्थ में, (भौतिक) साधनों से सम्पन्न होने पर, साधुता (दूसरों को) वश में करने की सबसे बड़ी शक्ति रखती है; और (इसके विपरीत) विजेता किसी न किसी प्रकार की अच्छाई में सदा प्रमुख होता ही है। यह जो साधुता अथवा किसी प्रकार की अच्छाई का शक्ति के साथ संबंध है इससे यह विचार उत्पन्न होता है कि "शक्ति बिना साधुता के नहीं होती।"[१] पर (क्योंकि दासतासंबंधी विवाद में यह विचार दोनों पक्षों को मान्य रहता है) अतः (अन्ततोगत्वा) उभय पक्षों का विवाद केवल न्याय-संबंधी ठहरता है। इस (न्याय) के संबंध में एक पक्ष का मत यह है कि न्याय पारस्परिक सुहृदयता का नाता है (अतएव रूढ़ि द्वारा आरोपित दासता का विरोधी है); दूसरे पक्ष का मत यह है कि अधिक शक्तिशाली का शासन स्वतः एवं स्वयमेव न्याय है (अतएव रूढ़ि द्वारा अनुमोदित दासता उचित ही है)। (पर उपर्युक्त विचार की द्व्यर्थकता, जिसका आधार दोनों पक्ष लेते हैं, वास्तविकता को स्पष्ट नहीं होने देती), किन्तु जब इन पृथक् पृथक् मतों को (सामान्य आधार को हटाकर) अलग अलग स्पष्ट अभिव्यक्त कर दिया जाता है तो इस मत के समक्ष कि 'जो साधुता में बढ़कर है उसी को शासन करना और स्वामी होना चाहिये' उपर्युक्त दोनों ही विरोधी मतों में न तो कोई बल ही रह जाता है और न किसी को आश्वस्त करने की क्षमता[२]।

एक और प्रकार से विचार करने पर भी यही परिणाम निकलता है। कुछ अन्य व्यक्ति, यह समझते हुए कि हम तो एक प्रकार के न्याय का ही पक्ष ग्रहण किये हुए हैं, (क्योंकि नियम एक प्रकार का न्याय ही तो है) यह मान लेते हैं कि युद्ध की नीति के अनुसार दासता सर्वत्र और सर्वदा न्यायोचित है। पर इसके साथ ही साथ वे इस धारणा का प्रतिवाद भी करते हैं। क्योंकि प्रथमतः यह संभव है कि युद्ध का मूल कारण ही उचित न हो (तब तो इस प्रकार आरोपित दासता उचित नहीं होगी) और दूसरे जो व्यक्ति दास होने के योग्य नहीं हैं उनको तो कभी कोई यह नहीं कहेगा कि वह दास है[३]।

यदि ऐसा होता तो उच्च से भी उच्च कुल के लोग युद्ध में वन्दी वनाकर वेच दिये जाने पर दास अथवा दासों की सन्तान हो जाते। यही कारण है कि हैलैनेस् (ग्रीक) लोग (युद्धजनित दासता के समर्थक होते हुए भी) इन अपनी ही जाति के वन्दियों को दास कहना नहीं चाहते प्रत्युत इस शब्द का प्रयोग असभ्य वर्बर लोगों तक सीमित रखते हैं। परन्तु इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते समय (वह स्वयं अपने कथन का प्रतिवाद करते हैं और) उनका उद्देश्य उस प्राकृतिक दास की ओर संकेत करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जिसका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं; क्योंकि यह तो अवश्य ही मानना पड़ता है कि कुछ लोग (अर्थात् वर्बर लोग) सर्वत्र और स्वतः दास होते हैं तथा अन्य कुछ लोग (अर्थात् ग्रीक) सर्वत्र और स्वतः दास नहीं होते (स्वतंत्र होते हैं)। कुलीनता (आभिजात्य) और दासता दोनों ही के संबंध में एक समान विचार-सरणी का अनुसरण किया जाता है। हैलैनेस् (ग्रीक) लोग अपने को केवल अपने देश में ही कुलीन (=अभिजात) नहीं मानते, प्रत्युत सर्वत्र अपने को ऐसा ही समझते हैं, किन्तु वर्बर लोगों को वे तभी अभिजात मानते हैं जब वे अपने घर पर होते हैं, मानों वे इससे सूचित करते हैं कि एक प्रकार की कुलीनता और स्वतंत्रता वह होती है जो निरपेक्ष है तथा दूसरी वह जो सापेक्ष होती है,[१] जैसा कि थियोदैक्तेस् के नाटक में हैलन्[१] ने कहा है,

> "दोनों (माता-पिता) की ओर से जो जन्मी देवकुल में, मैं
> चाकरनी कहे मुझे साहस है किसका ?"

जब वे लोग इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं तो इसके अतिरिक्त इसका अन्य कोई अर्थ नहीं होता कि ग्रीक लोग दासता और स्वतंत्रता तथा कुलीनता और अकुलीनता का भेद साधुता और असाधुता के तत्त्वों के आधार पर करते हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार मनुष्य से मनुष्य का जन्म होता है और पशु से पशु का इसी प्रकार भले (आदमी) से भले (आदमी) का जन्म होता है। परन्तु यह ऐसी बात है जिसको प्रकृति करना तो बहुधा चाहती है, किन्तु प्रायः कर नहीं पाती।

अतएव यह तो स्पष्ट है कि इस मतभेद के लिये कुछ सहेतुक आधार है तथा वे सब मनुष्य जो कि वास्तव में दास हैं अथवा स्वतंत्र हैं प्रकृत्या वैसे नहीं हैं। और यह भी स्पष्ट है कि कुछ स्थितियों में दोनों (प्रकृत्या दास और प्रकृत्या स्वतंत्र-जन) में स्पष्ट विभिन्नता मिलती है तथा ऐसी अवस्था में एक के लिये वास्तव में दास तथा दूसरे के लिये शासक होना एवं एक के लिये आज्ञा पालन करना और दूसरे के लिये प्रकृति द्वारा

निर्दिष्ट शासनाधिपत्य चलाना उपयोगी भी हो जाता है तथा न्यायोचित भी। पर इस (अधिकार) का दुरुपयोग दोनों ही पक्षों के लिये हानिकारक होता है; क्योंकि अवयव और अवयवी, तथा शरीर और आत्मा दोनों के हित अभिन्न होते हैं, और दास तो स्वामी का अवयव—उसके शरीर-संस्थान से पृथक् किन्तु सजीव अवयव—ही है। अतएव जब स्वामी और दास[१] प्रकृति के अनुसार अपनी स्थिति के योग्य होते हैं तो उनके हित समान होते हैं और उनमें आपस में मित्रता[७] होती है ; परन्तु जहाँ ऐसी परिस्थिति नहीं होती किंतु उनका पारस्परिक संबंध केवल नियम (कानून) और बलात्कार पर आश्रित होता है वहाँ परिणाम इसके विपरीत होता है (अर्थात् दोनों के हितों में विरोध रहता है, और मित्रता के स्थान पर पारस्परिक वैर-भावना रहती है)।

टिप्पणियाँ

१. इस खंड में वैध दासता और प्राकृतिक दासता का अन्तर समझाया गया है। अरिस्तू की राजनीति के सम्पादक न्यूमैन ने इस खंड पर बहुत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। पिछले खंड में प्राकृतिक दास का स्वरूप-निरूपण किया जा चुका है। ग्रीक जाति में यह नियम अथवा रूढ़ि चली आती थी कि बलवान् विजेता को विजितों को दास बना लेने का अधिकार है। अरिस्तू ने नियम के लिये "नौमस्" शब्द का प्रयोग किया है तथा रूढ़ि (कन्वेंशन) के लिये 'होमोलौगिया' का। पर अन्य स्मृतिकार इस नियम अथवा रूढ़ि को अवैध मानते हैं। विद्वानों में भी इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। मतभेद का मूल कारण यह है कि दोनों पक्षों के पोषक एक सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार करके उसकी परस्पर विरोधी व्याख्याएँ करते हैं। वह सामान्य सिद्धान्त है "शक्ति बिना साधुता के नहीं होती" अथवा "शक्ति और साधुता का साथ है" "शक्तिर्नास्ति साधुतां विना।" मूल ग्रीक वाक्य है "मे अनिउ अरेतेस् ऐनाई तेन् बियान्" इसका शब्दशः अर्थ "नहीं बिना साधुता के होना शक्ति को" है (१) एक पक्ष इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है कि शक्ति में साधुता का अर्थ सन्निहित है अतः अपने में निहित साधुता के आधार पर शक्ति शक्तिशाली पुरुष को अपने द्वारा विजित वन्दियों को दास बनाने का अधिकार प्रदान करती है। (२) दूसरे पक्ष का कहना है कि शक्ति के साथ साधुता अवश्य रहना चाहिये अर्थात् शक्ति के साथ साधुता का योग होना चाहिये जिससे शक्तिशाली में सुहृदयता का समावेश हो सके। शक्ति के द्वारा जो विजित हों उनको साधुताजन्य सुहृदयता के आधार पर विजेता अपना प्रकृत दास बना सकता है।

ऐसा होने पर ही स्वामी दास का संबंध उचित ठहराया जा सकता है, किसी नियम अथवा रूढ़ि के आधार पर ऐसा नहीं किया जा सकता।

२. यदि इन विरोधी पक्षों की युक्तियों में से उपर्युक्त सामान्य आधार को निकाल दिया जाय तो दोनों पक्षों का स्वरूप इस प्रकार प्रतीत होगा। (१) विजेता को विजितों को दास बनाने का अधिकार देनेवाली रूढ़ि उचित है। (२) यह रूढ़ि उचित नहीं है। अरिस्तू इन दोनों पक्षों को अमान्य ठहराता है। उसका अपना मत यह है कि जो व्यक्ति उच्चकोटि की साधुता से युक्त है उसी का दासों का स्वामी होना उचित है। यदि विजेता में यह गुण है तो उसका विजितों को दास बनाना उचित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

३. ग्रीक जाति में एक नियम यह भी था किसी स्वतंत्र ग्रीक को युद्धबंदी दास के रूप में खरीदा न जाय।

४. ग्रीक और बर्बर लोगों की तुलना तो अरिस्तू के जात्यभिमान को सूचित करती है। कहते हैं कि उसने अपने शिष्य सिकन्दर को भी यही उपदेश किया था कि तुम जिन ग्रीक राज्यों को विजय करो उनके प्रति एक प्रकार का (राजनीतिज्ञ का) शासन करना पर इतर जातियों पर प्रभु तुल्य राज्य करना।

५. हैलेन, ज़िउस् (द्यौः) और लैदा की पुत्री थी। उसका विवाह मैनेलाउस् नामक राजा से हुआ था। त्रॉय के राजकुमार पारिस् ने उसका हरण किया। इसी के कारण त्राय का युद्ध हुआ और त्राय नष्ट भ्रष्ट हो गया। इसी युद्ध की कथा का वर्णन होमेर के इलियड् नामक काव्य में हुआ है। यहाँ जिस नाटक से यह पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं वह अब नहीं मिलता।

६. मूल में दास और स्वामी के लिए 'दूलस्' तथा "देस्पौतेस्" शब्दों का प्रयोग हुआ है।

७. अरिस्तू ने अपनी "ऐथिक्स' नामक पुस्तक में स्वामी और दास की मित्रता की संभावना का प्रतिपादन किया है। दास में दासता के साथ ही मानवता भी एक सीमा तक होती है। यही स्वामी और दास की मित्रता का आधार है। अरिस्तू की "ऐथिक्स" (आचारशास्त्र) और "पॉलितिक्स" (राजनीति) दोनों परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं।

1089

७

दास और स्वामी की विद्याएँ

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि स्वामी का दास पर शासन[1] तथा वैध शासन[2] (= राजनीतिज्ञ का शासन) दोनों अभिन्न नहीं हैं, और न (जैसा कि कुछ लोगों का कहना है) अन्य प्रकार की शासन पद्धतियाँ ही परस्पर एक समान हैं। जो व्यक्ति प्रकृत्या स्वतंत्र हैं उन पर एक (अर्थात् वैध-) प्रकार का शासन चलता है; जो लोग प्रकृति से दास हैं उन पर दूसरे प्रकार का (अर्थात् प्रभुशासन) चला करता है; और जो शासन-प्रणाली प्रायेण गृहस्थी में चला करती है वह एकराजतंत्र[3] प्रणाली है (क्योंकि प्रत्येक कुटुम्ब में मुखिया का शासन एकराजकीयतंत्र के समान होता है) तथा विधि-विहित (वैधानिक) शासन वह होता है जो स्वतंत्र और समान व्यक्तियों पर चलता है। (जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है) स्वामी इसलिए स्वामी नहीं कहलाता कि उसको कोई विशिष्ट विद्या[4] आती है, प्रत्युत इसलिए कि वह एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र से युक्त व्यक्ति होता है; यही बात प्रायेण दास और स्वतंत्र व्यक्ति के विषय में भी लागू होती है। तथापि विद्या तो स्वामी की भी हो सकती है (जो स्वामी को दास पर शासन करना सिखाये) और दास की भी (जो उसको सेवाविधि बतलाये)। यह दासवाली विद्या तो (कुछ) वैसी ही होगी जैसी सिराकूस्[5] का निवासी सिखलाता था, तथा जिसके द्वारा वह दासों को उनके साधारण कर्तव्यों के पालन करने की शिक्षा देकर उनसे पैसा कमाया करता था। इस प्रकार की शिक्षा का क्षेत्र और भी बढ़ाया जा सकता है; उदाहरणार्थ इसमें सुपाकविद्या तथा इसी प्रकार की अन्य घरेलू टहल-चाकरियों को सम्मिलित कर लिया जा सकता है। कारण यह है कि कर्तव्यों में भी परस्पर पृथकत्व (अर्थात् ऊँच-नीच) होता है; कुछ कर्तव्य अधिक आदर के योग्य होते हैं जबकि कुछ अन्य अपेक्षाकृत अधिक अनिवार्य होते हैं, जैसा कि इस लोकोक्ति में कहा है,—

"दास के आगे दास और स्वामी के स्वामी"

परन्तु इस प्रकार की सब विद्याएँ चाकरी की विद्याएँ हैं। इसी प्रकार स्वामी की भी विद्या है जो दासों का उपयोग सिखलाती है, क्योंकि स्वामित्व की विशेषता दासों की उपलब्धि में नहीं प्रत्युत उनके उपयोग में है। तथापि यह स्वामी की विद्या न तो महत्त्वपूर्ण है, न गुरुगंभीर। कारण कि दास को जिस काम को करना जानना

आवश्यक होता है स्वामी के लिये उसका आदेश करना जानना पर्याप्त होता है। इसलिए जो लोग अपनी (आर्थिक-) स्थिति के कारण इस प्रकार के कष्ट से मुक्त रह सकते हैं वे दासों के प्रबंध का कार्य गृहाव्यक्ष को सौंप देते हैं (तथा इस प्रकार बचे हुए समय में) या तो राजनीति के कार्यों को करते हैं अथवा दर्शनाभ्यास में लगे रहते हैं।[६] परन्तु दासों को प्राप्त करने की कला—अर्थात् न्यायोचित्त कला-उपर्युक्त दोनों (स्वामी तथा दास की) विद्याओं से भिन्न है; क्योंकि यह तो युद्ध अथवा आखेट कला का एक अंग है। स्वामी और दास के पारस्परिक विभेद के विषय में इतना ही पर्याप्त है।[७]

टिप्पणियाँ

१, २, ३. के लिए मूल में "दैस्पोतेइया", "पोलितिके" तथा "मोनार्खिया" शब्दों का प्रयोग किया गया है। ग्रीक तथा यूरोपीय राजनीति में यह शब्द बहुधा आया करते हैं।

४. विद्या के लिये मूल ग्रीक में "ऐपिस्तेमे" शब्द आया है जो यूरोप की दार्शनिक शब्दावली में विशिष्ट स्थान रखता है।

५. सिराकूस नगर सिसिली (सिकैलिया) द्वीप के दक्षिण-पूर्व में है।

६. इस वाक्य से यह पता चलता है कि यूनानी लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में दासों की क्या स्थिति थी। जिस अवकाश के आधार पर ग्रीक लोगों के साहित्य, कला, राजनीति का भव्य भवन निर्मित हुआ उसको देनेवाले यह दास ही थे। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह दास लोग केवल शारीरिक श्रम ही किया करते थे, क्योंकि पिछले दिनों में घरेलू वैद्य भी दास ही होते थे एवं कुछ दास तो वाणिज्य, दर्शन और शासन के क्षेत्र में पर्याप्त उच्च स्थान प्राप्त कर सके थे।

७. इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग अरिस्तू ने अनेकों प्रकरणों के अन्त में किया है। इसकी तुलना संस्कृत ग्रंथों की पुष्पिका से की जा सकती है।

८

धनोपार्जन-कला

अब हम सामान्यरूपेण धन-सम्पत्ति के सब प्रकारों, तथा धनोपार्जन की कला[१] के विषय में पूर्वानुसृत पद्धति—समग्र को उसके अवयवों, तथा पूर्ण विकसित रूप को आरंभिक रूप के द्वारा समझने की पद्धति—द्वारा विचार करें, क्योंकि यह तो हम देख

ही चुके हैं कि दास भी धन-संपत्ति का ही अंग है। इस विषय में प्रथम दुविधाजनक कठिनाई यह है कि धनोपार्जन-कला गृहप्रवन्ध के साथ अभिन्न है, अथवा उसका एक अंग है, या उसके लिये सहायक है; और यदि सहायक अथवा उपयोगी है तो क्या इस प्रकार जिस प्रकार नली (तुरी) बनाने की कला कपड़ा वुनने की कला के लिये उपयोगी होती है, अथवा इस प्रकार जिस प्रकार काँसा ढालने की कला मूर्त्ति-निर्माण कला के लिये उपयोगी होती है; (यह प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है) क्योंकि यह दोनों कलाएँ (प्रधान कलाओं के लिये) समान रूप से उपयोगी नहीं होतीं, किन्तु एक उपकरण प्रस्तुत करती है तो दूसरी उपादान। उपादान से हमारा तात्पर्य उस आधारभूत द्रव्य से है जिससे कोई प्रस्तुत की गई वस्तु बनाई जाती है, उदाहरणार्थ वुननेवाले के लिये ऊन उपादान है तथा मूर्त्तिकार के लिये काँसा। यह तो स्पष्ट है कि गृह-प्रबंध-विद्या धनोपार्जन-कला के साथ अभिन्न तो नहीं है, क्योंकि इनमें से एक अर्थात् धनोपार्जन-कला का कार्य (उस उपकरण अथवा उपादान को) प्रस्तुत करना है जिसका उपयोग करना दूसरी (अर्थात् गृहप्रबंध-विद्या) का कार्य है। क्या जो कला-घर के साधन संग्रह का उपयोग करती है वह गृहप्रबंध-कला के अतिरिक्त और कुछ हो सकती है? फिर भी यह प्रश्न कि धनोपार्जन-कला गृहप्रबंध-कला का एक अंग है अथवा उससे बिलकुल भिन्न कला है, मतभेद का विषय बना हुआ है। यदि द्रव्योपार्जन करनेवाले व्यक्ति को यह देखना पड़े कि धन और संपदा कहाँ कहाँ से प्राप्त की जा सकती है, तथा संपत्ति और धन के भी बहुत से अंग हों (जो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होते हों) तो (धनप्राप्ति के विषय में सामग्र्येण विचार करने से) पहले हमको (इन अंगों के विषय में) विचार करना होगा और सोचना होगा कि कृषि धनोपार्जन-कला का अंग है अथवा किसी अन्य कला का; सच तो यह है कि हमको यह प्रश्न सामान्यतया उन सभी धनोपलब्धि के साधनों और वृत्तियों के विषय में पूछना होगा जिनका संबंध भोजन प्रस्तुत करने तथा उसकी देखभाल करने से है। इसके आगे चलकर यह तत्त्व दृष्टिगोचर होता है कि स्वयं भोजन के बहुत से प्रकार होते हैं और इसी भोजन की बहुविधता के कारण पशुओं और मनुष्यों के जीवन भी विविध प्रकार के होते हैं। भोजन के बिना उनका जीवन नहीं चल सकता, परिणामतः पशु-जगत् में हम देख सकते हैं कि उनके भोजन के प्रकारों की भिन्नता ने उनके जीवन के प्रकारों को भी भिन्न कर दिया है। पशुओं में कुछ तो ऐसे होते हैं जो इकट्ठे मिलकर रहते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो अलग अलग एकाकी रहते हैं—अर्थात् भोजन-प्राप्ति के लिये जिस प्रकार का जीवन उपयोगी (अथवा सुविधाजनक) होता है उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं, क्योंकि उनमें

से कुछ तो मांसभक्षी होते हैं और कुछ तृण-भक्षी एवं कुछ सर्वभक्षी। प्रकृति ने उनकी सुगमता तथा अपनी पसन्द के भोजन की प्राप्ति के निमित्त उनके जीवन की पद्धतियों को इस प्रकार विभाजित कर दिया है[३]; और क्योंकि एक ही वर्ग के उपवर्गों को प्रकृत्या एक ही प्रकार का भोजन प्रिय नहीं होता प्रत्युत विभिन्न उपवर्गों को विभिन्न प्रकार का भोजन अनुकूल पड़ता है, अतएव हम देखते हैं कि मांसभक्षी और तृणभक्षी पशुओं के उपवर्गों में भी परस्पर विभिन्न प्रकार की जीवनपद्धतियाँ पाई जाती हैं। यही बात मनुष्यों के विषय में भी लागू होती है; उनके जीवन में भी परस्पर बहुत अन्तर होता है। सबसे अधिक निठल्ले तो घुमक्कड़ गड़रिये होते हैं, जो अपनी जीविका बिना कष्ट के यों ही अवकाश के समय में पालतू जानवरों से प्राप्त कर लेते हैं; पर क्योंकि उनकी भेड़ों के रेवड़ों को चारे की खोज में घूमते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़ता है अतएव मानों जीती-जागती खेती-बाड़ी करते हुए उनको भी विवश होकर अपने पशुओं का अनुसरण करना पड़ता है। अन्य कुछ लोग अपनी जीविका आखेट के द्वारा चलाते हैं, एवं आखेट के विभिन्न प्रकारों के अनुसार इन लोगों का जीवन भी विविध प्रकार का होता है; उदाहरणार्थ कुछ लोग डाकेजनी[४] द्वारा अपना जीवन पालते हैं; कुछ लोग, जो ऐसी झीलों, दलदलों, नदियों अथवा समुद्रों के पास निवास करते हैं जिनमें मछलियाँ रहती हैं, अपना पालन मछली पकड़कर करते हैं; अन्य कुछ लोग चिड़ियों अथवा जंगली पशुओं के आखेट से अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। मनुष्यों की सबसे अधिक संख्या अपनी जीविका धरती में से कृषि द्वारा तथा उत्पादित वृक्षों (पौदों) से प्राप्त करती है। जो लोग केवल अपने ही परिश्रम पर निर्भर रहनेवाले व्यवसायों को करते हैं, तथा जिनका भोजन विनिमय अथवा दूकानदारी के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता, उनके विभिन्न जीवन-प्रकार लगभग इन (पाँच) कोटियों में आते हैं—घुमक्कड़ गड़रिया, कृषक, डाकू, मछुवा और बहेलिया। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उपर्युक्त व्यवसायों में से दो प्रकार की वृत्तियों को मिलाकर एक से प्राप्त होनेवाली जीविका की कमी दूसरी से पूरा करते हुए एक स्वतःपूर्ण जीविका प्राप्त कर लेते हैं; उदाहरणार्थ कुछ लोग गड़रिये और डाकू की एवं अन्य लोग कृषक और बहेलिये की वृत्तियों का योग कर लेते हैं। इसी प्रकार जीवन की अन्य वृत्तियाँ भी अभावों (आवश्यकताओं) की विवशता की प्रेरणा से उपर्युक्त प्रकार से मिश्रित की जा सकती हैं (एवं मनुष्यों का जीवन भी वैसा ही बन सकता है)।

केवल इस प्रकार की सम्पत्ति (अर्थात् वह सम्पत्ति जिससे जीवन-पोषण हो सके) तो ऐसा प्रतीत होता है, जन्म से लेकर पूर्ण वृद्धि को पहुँचने तक के समय के लिये स्वयं

प्रकृति के द्वारा सबको दी जाती है। कुछ जीवधारी तो अपने बच्चों के जन्म के साथ ही इतना भोजन भी उत्पन्न करते हैं जो उन बच्चोंके लिये उस समयतक पर्याप्त होता है जब तक वे स्वयं भोजन प्राप्त करने के योग्य नहीं हो जाते। इस तथ्य के उदाहरण कीटज और अण्डज जीव हैं। जरायुज जीवों के पास तो अपने बच्चों के लिये भोजन स्वयं अपने (शरीर) में ही कुछ समय तक विद्यमान रहता है जो दूध कहलानेवाले पदार्थ की प्रकृति का होता है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि हमको विश्वास करना चाहिये कि (प्रकृति-द्वारा) इसी प्रकार का प्रबन्ध जन्म के उपरान्त विकास को प्राप्त हुए जीवधारियों के लिये भी किया गया है। वृक्ष-वनस्पति की सत्ता पशुओं के भोजन के लिये है तथा अन्य जीवों की मनुष्य के पोषण के लिये।––जो पालतू पशु हैं वे मनुष्यों के व्यवहारोपयोग एवं भोजन के निमित्त हैं, एवं वन्यपशु, यदि सब नहीं तो अधिकांश तो मनुष्य के भोजन ही नहीं प्रत्युत वस्त्र एवं अन्य विविध उपकरणों एवं सहायों के काम आते हैं। यदि (यह बात ठीक है) कि प्रकृति कोई भी वस्तु अपूर्ण और निरर्थक नहीं बनाती, तो अनिवार्यतया यह निष्कर्ष निकलेगा कि उसने इन सबको[५] (वृक्ष और पशुओं को––अथवा पशुओं को) मनुष्य के ही निमित्त बनाया है। अतएव किसी अर्थ में युद्धकला अर्थोपलब्धि का एक प्राकृतिक उपाय है। मृगया भी उसी कला का एक अंग है, और ऐसी कला है जिसका प्रयोग जंगली जानवरों तथा ऐसे मनुष्यों के प्रति होना चाहिये जो प्रकृति द्वारा शासित होने के लिये निर्दिष्ट होने पर भी अधीन नहीं होना चाहते––क्योंकि इस प्रकार का युद्ध प्रकृत्या न्यायोचित है।[६]

अतएव धनोपार्जन-कला का एक प्रकार (=मृगया) ऐसा है जो प्रकृत्या गृह-प्रबंध का अंग है। क्योंकि यह कला उन सब पदार्थों की उपलब्धि का आश्वासन दिलाती है जो नगर और गृहस्थी के जीवन के लिये आवश्यक तथा संघटन के लिये उपयोगी हैं एवं जिनका संग्रह किया जा सकता है, अतएव इस धनोपार्जन-कला को या तो गृहप्रबंधक को प्रतिपादित हुआ प्राप्त करना चाहिये अथवा स्वयं प्रस्तुत करना चाहिये।[७] यही वह पदार्थ हैं जो सच्ची सम्पत्ति के घटक माने जा सकते हैं। अच्छे जीवन के लिये सम्पत्ति की जो मात्रा पर्याप्त होती है वह अपरिमेय नहीं होती; यद्यपि सौलोन् ने अपनी एक कविता में कहा है,

"मानव के लिये नहीं सीमा है धन की"

परन्तु जिस प्रकार अन्य विद्याओं के लिये अभीष्ट साधनों की सीमा होती है इसी प्रकार इस क्षेत्र में (गृह-प्रबन्ध के लिये आवश्यक सम्पत्ति की उपलब्धि के क्षेत्र में) भी सीमा

है। किसी भी कला के लिये अभीष्ट उपकरण संख्या तथा आकार की दृष्टि से कभी सीमारहित नहीं होते, तथा धन-सम्पत्ति गृहस्थी अथवा राष्ट्र में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों के समूह को ही तो कहते हैं।[3]

अतः यह स्पष्ट हो गया कि धनोपार्जन की एक प्राकृतिक कला है जो गृहस्वामियों और राजनीतिज्ञों के लिये है तथा इसकी सत्ता के लिये जो कारण है (अर्थात् जो मानव के उपयोग के लिये प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट है, उसको प्राप्त करना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है) वह भी स्पष्ट हो गया।

टिप्पणियाँ

इस खंड में अरिस्तू ने धनोपार्जन के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। दास को वह गृहस्थ की सम्पत्ति का सजीव अंग मानता है, अतएव एक अंग की चर्चा के उपरान्त वह सम्पत्ति के अन्य अंगों और उनकी प्राप्ति के प्रकारों का विचार करता है। यहाँ से लेकर ११ वें खंड तक हमको ग्रंथकार के आर्थिक विचारों का परिचय मिलता है। प्राचीनकाल में अर्थशास्त्र और राजनीति दोनों मिले-जुले रहते थे। अरिस्तू के समकालीन कौटिल्य ने अपनी राजनीति की पुस्तक का नाम 'अर्थशास्त्र' ही रक्खा है। अब से कुछ समय पूर्व तक 'अर्थशास्त्र' को अंग्रेजी "पोलिटिकल इकौनौमी" नाम दिया जाता था। यह सब तथ्य इस बात के सूचक हैं कि राजनीति और अर्थशास्त्र का संबंध अत्यन्त घनिष्ठ है।

१. मूल में धनोपार्जन-कला के लिये "ख्रेमातिस्तिके" तथा धन-संपत्ति के लिये "क्तेसिस्" शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. उपादान शब्द अरिस्तू के दर्शनशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसने अपनी "परा विद्या" (मेताफीसिका) नामक पुस्तक में जिन चार महत्त्वपूर्ण कारणों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उनमें उपादान कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उपादान के लिए अरिस्तू ने "ह्यली" अथवा "हुली" शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अक्षरार्थ तो लकड़ी होता है पर दर्शनशास्त्र में इसका लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण किया गया है।

३. यहाँ संनिहित विचार यह प्रतीत होता है कि घास खानेवाले पशु तो इकट्ठे होकर रहते हैं तथा मांसभक्षी एकाकी जीवन बिताते हैं। इस विषय में हिन्दी की कहावत भी है "जैसा खाये अन्न वैसा बने मन; जैसा पिये पानी, वैसी बोले बानी"। जीवों के भोजन के अनुसार उनकी जीवनपद्धति होती है, यह एक अत्यन्त पुराना विचार है।

४. डाकेजनी एक समय स्वतंत्र व्यवसाय माना जाता था। यह मनुष्य के सामाजिक विकास का एक विचित्र पहलू है।

५. "इन सबको" से क्या तात्पर्य है इस विषय में व्याख्याकारों में मतभेद है। तीन अर्थ संभव हैं--(१) सब पौदे और पशु, (२) सब जंगली पशु और (३) सब पशु। पूर्वापर संबंध पर विचार करने से तीसरा अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

६. अरिस्तू ने युद्ध के औचित्य का प्रतिपादन किया है, प्लातोन ने सामाजिक विकास-क्रम में तथा सम्मान की रक्षा के लिये युद्ध को आवश्यक माना है पर यूरीपिदेस नामक नाटककार ने अपने "ट्राय की रमणियाँ" नामक नाटक में युद्ध की विनाशक विभीषिका का नग्न-चित्रण प्रस्तुत करके जातियों को युद्ध से विरत होने का उपदेश किया है।

७. यह एक जटिल वाक्य है और विभिन्न व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। इस अनुच्छेद के आरंभ में अरिस्तू केवल गृहप्रबन्ध की चर्चा करता है पर दूसरे वाक्य में नगर के जीवन और संघटन के लिये भी धनोपार्जन कला को आवश्यक और उपयोगी मानता है। कारण यह है कि नगर गृहस्थियों का समूह होता है अतएव धनोपार्जन केवल गृहस्थी के लिए आवश्यक और उपयोगी नहीं होता, नगर के लिये भी होता है।

८. सौलोन (ई० पू० ६४० से ई० पू० ५५८) एक शासक और स्मृतिकार हुआ है। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिये "अथेंस का संविधान" देखो।

९. यह स्पष्ट है कि धन-संपत्ति का तात्पर्य रुपया-पैसा नहीं है।

९

दूसरे प्रकार की धनार्जन-कला

(सामान्य) धनार्जन-कला का एक दूसरा प्रकार है जो विशेषरूपेण एवं उचित-रूपेण अर्थकरी विद्या कहलाता है। इसी की विशेषताओं के कारण यह मतवाद प्रचलित हुआ है कि धन और संपदा की कोई परिमिति नहीं है। पूर्वोक्त अर्जन-कला के साथ इसका अत्यन्त समीप का संबंध होने के कारण बहुत से व्यक्ति इस दूसरे प्रकार को उससे अभिन्न मानते हैं। वास्तव में यह प्रकार उस उपर्युक्त प्रकार के साथ अभिन्न नहीं है तो बहुत भिन्न भी नहीं है। वह (जिसका वर्णन हो चुका है) प्राकृतिक है, यह

दूसरा प्रकार प्राकृतिक नहीं है, इसकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत कुछ अनुभव और कौशल से होती है।

इस विषय के विवेचन का आरंभ हम निम्नलिखित प्रकार से करें। संपदा के अन्तर्गत परिगणित होनेवाली प्रत्येक वस्तु के दो उपयोग होते हैं ; दोनों ही उस वस्तु मे स्वरूपतः संबद्ध हैं, पर यह न तो एक ही प्रकार से संबद्ध होते हैं और न एक ही मात्रा में ; क्योंकि इनमें से एक तो उस वस्तु का स्वकीय और विशिष्ट उपयोग होता है, तथा दूसरा ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ एक जूते को लें, यह पहनने के काम में भी आता है और विनिमय के काम में भी। यह दोनों उपयोग जूते के ही होते हैं। जो मनुष्य धन अथवा भोजन के बदले में जूते की आवश्यकता रखनेवाले व्यक्ति को जूता देता है, वह भी तो जूते का जूते के ही रूप में उपयोग करता है, पर यह उसका अपना विशिष्ट उपयोग नहीं है, क्योंकि जूता विनिमय के उद्देश्य से नहीं बनाया जाता। सम्पत्ति के अन्तर्गत गिनी जानेवाली अन्य सब वस्तुओं के विषय में भी यही बात सत्य है। विनिमय उन सब का ही हो सकता है, तथा पहले-पहल इसकी उत्पत्ति स्वाभाविकतया (प्रकृत्या) हुआ करती है—अर्थात् ऐसी परिस्थिति में होती है कि मनुष्यों की आवश्यकताओं के लिये जितनी वस्तुएँ पर्याप्त होती हैं किसी के पास तो उनसे अधिक होती हैं तथा किसी के पास कम। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि क्षुद्र व्यापार (जिसमें वस्तुओं का लाभार्थ क्रय-विक्रय होता है) प्रकृत्या धनार्जन-कला का अंग नहीं है ; यदि ऐसा होता तो उभय पक्षों की आवश्यकताओं के लिये जितना पर्याप्त है उतनी सीमा तक विनिमय का होना आवश्यक हुआ करता (न कि एक पक्ष के लाभार्थ दूसरे को हानि पहुँचाने की सीमा तक)।

समाज के आदिम स्वरूप, अर्थात् गृहस्थी में, स्पष्ट ही इस (विनिमय) का कुछ भी काम नहीं है, पर जब समाज का क्षेत्र विस्तीर्ण हो जाता है (और ग्राम की सत्ता उपस्थित होती है) तब इसके उपयोग का उद्भव होता है। आरंभ में तो एक कुटुम्ब के सदस्यों में सब सम्पत्ति पर सब का अधिकार होता था, पर जब कुटुम्ब आगे चलकर बहुत से भागों में बँट गया (और इस प्रकार ग्राम की उत्पत्ति हुई) तो ग्राम के लोगों के पास बहुत सी विभिन्न वस्तुएँ ऐसी रहीं जो आवश्यकता पड़ने पर वे परस्पर अदल-बदल लेते थे—यह बहुत कुछ इसी प्रकार होता था जिस प्रकार बहुत सी बर्बर जातियाँ अभी तक करती हैं। इस विधि के अनुसार उपयोगी वस्तुएँ स्वतः प्रत्यक्षरूपेण अन्य उपयोगी वस्तुओं से बदली जाती हैं, इसके आगे और कुछ नहीं होता (रुपये-पैसे का झंझट पैदा

नहीं होता) ; उदाहरणार्थ अन्न के बदले में मदिरा का आदान-प्रदान एवं इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं का विनिमय इसी प्रकार से किया जाता है । इस प्रकार का आदान-प्रदान (अथवा विनिमय) प्रकृति-विरुद्ध नहीं है, और न (इस खंड के आरंभ में वर्णित दूसरी प्रकार की) वित्तोपार्जन-कला का ही एक प्रकार है; प्रत्युत यह तो प्राकृतिक आवश्यकताओं के संबंध में मनुष्य की आत्म-निर्भरता की पूर्ति के लिये उपयोगी है । तथापि इतना निश्चय है कि इस प्रथम प्रकार के (प्राकृतिक) विनिमय से ही, समझ में आनेवाले एवं प्रत्याशित ढंग से, दूसरे प्रकार की वित्तोपार्जन कला उत्पन्न हुई । जब मनुष्य उन वस्तुओं का (विदेश से) आयात करने लगे जिनकी अपने यहाँ कमी थी तथा उनका निर्यात करने लगे जो अपने यहाँ अधिक थीं तो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकाधिक विदेशी सहायता पर निर्भर रहने लगी तथा परिणामस्वरूप अनिवार्यतया मुद्रा का[1] प्रचलन आरंभ हो गया । प्राकृतिक आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु को इधर-उधर ले जाना सरलता से नहीं हो सकता था इसलिए वे अपने परस्पर के लेन-देन में किसी ऐसी वस्तु का व्यवहार करने के लिये सहमत हो गये जो स्वयं उपयोगी हो, और जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिये सरलता से व्यवहृत हो सके । ऐसी वस्तु लोहा, चाँदी एवं इसी प्रकार की अन्य धातुएँ थीं । आरंभ में इनका मूल्य इनके आकार और तौल से निर्धारित किया जाता था, पर अन्ततोगत्वा, तौल की कठिनाई से मुक्ति पाने के लिये तथा मूल्य का चिह्न सूचित करने के लिये इन धातुओं को मुद्रांकित किया जाने लगा ।

इस प्रकार जब मुद्रा का प्रचलन स्थापित हो गया तो आवश्यक वस्तुओं के विनिमय से वित्तार्जन की दूसरी कला का जन्म हुआ जिसको 'क्षुद्र[2] व्यापार' कहते हैं । आरंभ में तो यह बिलकुल सरल सी बात थी (लाभार्जन की भावना इसके साथ ग्रथित नहीं हुई थी) पर कुछ समय पश्चात् जब अनुभव से पता चल गया कि कहाँ से और किस प्रकार के विनिमयों से सबसे अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, तब यह व्यापार अपेक्षाकृत अधिक चतुरता से किया जाने लगा । इसलिए यह माना जाने लगा है कि धनार्जन-कला मुद्रा (के प्रयोग) के साथ विशेष प्रकार से संबद्ध है, तथा इसका कार्य यह देख सकना समझा जाता है कि धन का भंडार कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है । (इसके समर्थन में यह कहा जाता है कि) यह कला धन और रुपया-पैसा कमाने के निमित्त ही है । सच तो यह है कि वित्तार्जन-कला तथा क्षुद्र-व्यापार के मुद्रा के साथ संबद्ध होने के कारण बहुत से मनुष्य बहुधा मुद्राराशि को ही धन संपत्ति मानते हैं । इसके विपरीत कुछ लोगों की सम्मति में मुद्रा नितान्त तुच्छ वस्तु है तथा पूर्णतया व्यावहारिक

रूढ़ि पर निर्भर है। प्रकृत्या इसमें कुछ भी अन्तःसार नहीं है। क्योंकि यदि इसका उपयोग करनेवाले एक मुद्रा को त्यागकर दूसरी को ग्रहण कर लेते हैं तो यह व्यर्थ है, और इसलिए भी निरर्थक है कि जीवन की आवश्यकताओं में कुछ काम नहीं आती। और जो मुद्राधनी व्यक्ति है वह प्रायः आवश्यक भोजन-सामग्री तक से विरहित हो सकता है। उस वस्तु को संपत्ति कहना निश्चय ही मूर्खता की बात है जिससे सम्पन्न व्यक्ति, पौराणिक कथा के मिदास[3] के समान, जिसकी लोलुप (अतृप्त) प्रार्थना की पूर्ति के कारण प्रत्येक सम्मुख प्रस्तुत हुई वस्तु सोना बन जाती थी, भूखों मर सकता है।

इन्हीं युक्तियों के आधार पर यह लोग धन तथा धनार्जन की (इस मुद्रार्जन की अपेक्षा) अधिक अच्छी धारणा को खोजने का प्रयत्न करते हैं, और उनका ऐसा करना ठीक ही है। प्राकृतिक धनार्जन-कला और प्राकृतिक धनवस्तु ही दूसरी हैं, अपने सच्चे रूप में वह गृहप्रबन्ध-कला हैं, जब कि दूसरी धनार्जन-कला का संबंध क्षुद्र वाणिज्य से है, सब प्रकार के धनार्जन से नहीं तथा यह विनिमय के द्वारा धनराशि (मुद्रा) संचय करने की कला है।[4] ऐसा ख्याल किया जाता है कि इसका संबंध मुद्रा से है, क्योंकि विनिमय का आदि और अन्त सब मुद्रा ही है,। और इस दूसरी (अप्राकृत) वित्तार्जन कला से उपार्जित धन की कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार आयुर्वेद में स्वास्थ्य के अनुसंधान की सीमा नहीं होती, तथा जिस प्रकार प्रत्येक (अन्य) कला में भी अपने अपने लक्ष्यानुसंधान की सीमा नहीं है, (क्योंकि अपने लक्ष्य की पराकाष्ठा को प्राप्त करना उनका इष्ट होता है) किन्तु लक्ष्य की सिद्धि के लिये जो साधन काम में लाये जाते हैं वे असीम नहीं होते, क्योंकि स्वयं लक्ष्य ही उनकी सीमा होता है। इसी प्रकार पैसा कमाने की इस कला (अर्थात् क्षुद्र व्यापार) में लक्ष्य की कोई सीमा नहीं है; तथा जिस लक्ष्य का अनुसंधान यह कला करती है वह यही मुद्रारूपी धन और संपत्ति की प्राप्ति है। पर गृहप्रबन्ध-कला के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने की सीमा है, तथा इस कला का काम अपरिमित धनराशि प्राप्त करना नहीं है। अतएव, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सब प्रकार की सम्पदाओं की सीमा अवश्य होनी चाहिये; तथापि वास्तविकता में बिलकुल इसके विपरीत होता हुआ देखने में आता है; वित्तार्जन में संलग्न सब मनुष्य अपरिमित मुद्रासंचय किया करते हैं।

इस विप्रतिपत्ति का कारण है इन दोनों धनोपार्जन-प्रकारों का निकट संबंध। दोनों एक दूसरे को अतिव्याप्त करके इसलिए गड़बड़ पैदा कर देते हैं क्योंकि दोनों समान उपकरणों को काम में लाते हैं और एक ही क्षेत्र में व्यापृत रहते हैं, तथापि उनकी क्रिया

की दिशा एक ही नहीं होती---(उनका लक्ष्य एक ही नहीं होता)---एक का लक्ष्य होता है केवल संचय तथा दूसरे का इससे नितान्त भिन्न। इसी अतिव्याप्ति के कारण कुछ लोगों का ऐसा विश्वास हो जाता है कि गृहप्रबन्ध-कला का काम केवल धन-संचय करना है एवं उनके जीवन में यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि या तो उनको अपने मुद्रारूपी धन को सुरक्षित वनाये रखना चाहिये या उसको अनन्त सीमा तक बढ़ाते रहना चाहिये। इस प्रकार की मनःस्थिति का मूल कारण यह है कि मनुष्य केवल जीविका के लिये चिन्तामग्न रहते हैं, न कि भले प्रकार से जीवित रहने के लिये ; और, क्योंकि जीविका के लिये उनकी इच्छाएँ अपरिमित होती हैं, अतएव वे उसको प्रदान करनेवाली वस्तुओं की भी अनन्त इच्छा किया करते हैं। तथा वे मनुष्य भी जो कि भले जीवन की ओर ध्यान देते हैं, केवल शारीरिक सुख के साधनों की खोज किया करते हैं, और क्योंकि इन (सुखों) की उत्पत्ति भी धन से ही होती प्रतीत होती है अतएव उनका समग्र कालयापन धनार्जन के संवंध में ही होता है। दूसरे (अर्थात् हीन) प्रकार की धनार्जन-कला प्रचलित हो जाने का मुख्य कारण यही है। और क्योंकि उनका सुखोपभोग अतिशयता' (धन की अत्यधिकता) पर निर्भर रहता है, अतएव वे उस कला की खोज करते हैं जो सुखोपभोग के लिये आवश्यक अतिशयता को उत्पन्न कर सके ; तथा जव वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति वित्तार्जन-कला द्वारा करने में समर्थ नहीं होते, तव वे अन्य साधनों के द्वारा वैसा करने का उद्योग करते हैं ; एवं अपनी प्रत्येक शक्ति का प्रकृति के प्रतिकूल ढंग से उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिये साहस को लें, इसका मुख्य कार्य धनोपार्जन करना नहीं, प्रत्युत आत्मविश्वास (ढारस) उत्पन्न करना है; और न सेनाध्यक्ष अथवा वैद्य की कला का ही उद्देश्य यह (वित्तार्जन) है, प्रत्युत एक का उद्देश्य विजय है तथा दूसरी का स्वास्थ्य। फिर भी कुछ व्यक्ति (जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं) ऐसी सव योग्यताओं और कलाओं को धनोपार्जन का साधन वना डालते हैं, जैसे मानो धन कमाना ही (उनका) एकमात्र लक्ष्य हो, तथा इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये सवको सर्वथा योगदान देना आवश्यक हो।

इस प्रकार हम अर्थार्जन की उस विधि का विचार कर चुके जो अनिवार्य नहीं है; हमने उसके स्वरूप का वर्णन कर दिया तथा उन कारणों को भी वतला दिया, जिनसे यह मनुष्यों के लिये आवश्यक प्रतीत होती है। हम धनार्जन-कला के अनिवार्य प्रकार का भी विवेचन कर चुके, तथा यह प्रदर्शित कर चुके कि यह दूसरे प्रकार से भिन्न है, तथा प्रकृत्या गृहप्रवन्ध-कला का विभाग है, जो भरण-पोषण की उपलब्धि से संवद्ध है, अतएव जो दूसरी कला के सदृश असीम नहीं है प्रत्युत निश्चिततया परिसीमित है।

टिप्पणियाँ

इस खंड में धनार्जन-कला के दो स्वरूपों का विवेचन किया गया है। इनमें एक अप्राकृतिक है तथा दूसरा प्राकृतिक। प्राकृतिक प्रकार गृह-प्रवन्ध-कला का एक अंग है तथा उसका काम जीवन—अर्थात् अच्छे जीवन—के लिये उपयोगी पदार्थों की सीमित मात्रा में उपलब्धि करना है। अर्थोपार्जन का अप्राकृतिक प्रकार मुद्रा के रूप में धन का अपरिमेय संचय करना है। यह गृह-प्रवन्ध-कला के सम्पर्क से विरहित है। अरिस्तू के मत में यह वित्तोपार्जन का हेय प्रकार है। इन दोनों प्रकारों में एक सीमा तक अतिव्याप्ति पाई जाती है पर दोनों के लक्ष्यों का अन्तर दोनों के स्वरूपों को पृथक् कर देता है। हेय प्रकार के धनार्जन का विकास विदेशी व्यापार के फल-स्वरूप उत्पन्न हुई मुद्रा-प्रणाली के अस्तित्व में आने के उपरान्त होता है।

१. मुद्रा के लिये मूल ग्रंथ में "नोमिस्मातस" शब्द आया है जिसका अर्थ होता कानून द्वारा (अथवा रूढ़ि द्वारा) स्वीकृत चालू सिक्का। इसी से अंग्रेजी शब्द "न्यूमिस्मैटिक्स" निकला है, जिसका अर्थ "मुद्राशास्त्र" है।

२. 'क्षुद्र व्यापार' को अरिस्तू हेय दृष्टि से देखता है, क्योंकि इसका लक्ष्य विकृत प्रकार का धन-संचय है। मूल में इसके लिए "कपेलिके" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३. मिदास् फ्रीगिया प्रदेश का राजा था। इसको सिलेनस् नामक वनदेवता ने वरदान दिया था कि तुम जिस वस्तु को छू दोगे वह सोने की हो जायगी। परिणामतः मिदास को शीघ्र ही भूखे रहने को वाध्य होना पड़ा। भोजन भी उसके मुख में स्वर्णपिंड वनने लगा। अन्त में दुःखी होकर मिदास ने यह वरदान त्याग दिया। एक दूसरी दन्तकथा में यह भी आता है कि मिदास के कान गधे के कानों के समान लम्वे हो गये थे। यह भी कहा जाता है कि 'मिदास' फ्रीगिया के राजाओं का सामान्य नाम था।

४. इस वाक्य में प्राकृतिक धनार्जन-कला और अप्राकृतिक धनार्जन का अन्तर स्पष्ट समझाया गया है। प्राकृतिक धनार्जन-कला वह है जो गृहस्थी के जीवन के लिए उपयोगी साधनों का संग्रह करती है। इसके विपरीत अप्राकृतिक धनार्जन-कला केवल मुद्रा का संचय करती है।

५. व्यवहार के क्षेत्र में अरिस्तू मध्यममार्ग का उपदेश करता है। किसी भी प्रकार की अतिशयता उसको अभीष्ट नहीं है। अतिशयता के अनुसरण में ही मनुष्य अपनी शक्तियों का अस्वाभाविक प्रयोग करने के लिये वाध्य हो जाता है। यहाँ जिस वित्त-संचय की ओर अरिस्तू संकेत कर रहा है वह सुदीर्घ काल के अभ्यास से मानव-स्वभाव का अंग वन गया प्रतीत होता है। अरिस्तू इस प्रवृत्ति को अच्छे जीवन की भावना के नियंत्रण में रखने का उपदेश करता है तथा यह अच्छा जीवन केवल शारीरिक

सुख नहीं है। अरिस्तू के अच्छे जीवन के स्वरूप को समझने के लिये उसके "ऐथिक्स" नामक ग्रंथ को देखना चाहिये। वास्तव में "ऐथिक्स" और "राजनीति" दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय विचारकों ने भी अर्थ-संचय की प्रवृत्ति की प्रबलता और उपयोगिता का विचार कर कहा था--

"अजरामृतवत्प्राज्ञः विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥"

१०

प्रकृति की उदारता। सूदखोरी

इस प्रकार, वह जो हमारा प्रारंभिक प्रश्न[1] था कि "धनोपार्जन-कला गृहप्रबंधक अथवा राजनीतिज्ञ का धन्धा है अथवा नहीं अथवा क्या दोनों को ही धन की पूर्वसत्ता को मानकर चलना चाहिये ?" उसका भी स्पष्ट उत्तर हमको उपर्युक्त विवेचन से मिल गया। जिस प्रकार राजनीति मानव-जाति का निर्माण नहीं करती, प्रत्युत प्रकृति से मनुष्यों को ग्रहण करके उनका उपयोग करती है, इसी प्रकार प्रकृति जीवन का पोषण करनेवाले भौतिक साधनों के उद्गम के रूप में पृथ्वी, समुद्र एवं अन्य ऐसे पदार्थों को अवश्य प्रदान करती है। यहीं से[2] गृहस्वामी का कार्य--प्रकृति द्वारा प्रदान किये हुए साधनों की समुचित व्यवस्था करना--आरंभ हो जाता है। बुनाई की कला का काम ऊन को बनाना नहीं, प्रत्युत उसका उपयोग करना है और यह जानना है कि कौन ऊन खरी और उपयोगी तथा कौन सी खोटी और अनुपयोगी है। (यही बात गृह-प्रबन्ध-कला के विषय में भी लागू होती है)। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह समझना कठिन होता कि धनोपार्जन-कला गृहप्रबंध-विद्या का अंग क्यों है तथा वैद्यक क्यों नहीं है, क्योंकि गृहस्थी के सदस्यों को निश्चयमेव स्वास्थ्य की भी तो उसी प्रकार आवश्यकता होती है जिस प्रकार जीवन की अथवा किसी अन्य आवश्यक वस्तु की। इसका समाधान यह है कि एक अर्थ में तो (अर्थात् सामान्य अध्यक्षता की दृष्टि से तो) गृहपति और शासक को स्वास्थ्य के विषय में देख-भाल करनी पड़ती है; पर दूसरे अर्थ में (अर्थात् वास्तविक उपचार की दृष्टि से) उसको देखरेख नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत वैद्य को करनी पड़ती है। इसी प्रकार अर्थोपार्जन-कला के विषय में भी कह सकते हैं कि एक अर्थ में तो गृहस्वामी को उसकी चिन्ता करनी पड़ती है, पर दूसरे अर्थ में यह काम

उसका नहीं प्रत्युत किसी तदधीन कला का है। पर बहुत कुछ तो बात यही है कि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, जीवन के साधन तो पहले से ही प्रकृति के द्वारा जुटा दिये जाने चाहिये[३]। प्रत्येक उत्पन्न हुए जीव के लिये भोजन प्रस्तुत करना प्रकृति का काम है; क्योंकि हम देखते हैं जीवधारियों की सन्तान जिस कोष से जन्म लेती है सर्वदा उसी का अवशिष्टांश उसको भोजन (पोषण) प्रदान करता है (अर्थात् अवशिष्टांश ही उसका भोजन होता है[४])। अतएव धनोपार्जन का प्राकृतिक प्रकार सर्वदा फलों और पशुओं के जीवन-साधनों को उपलब्ध करना है।

जैसा कि हम कह चुके हैं, अर्थोपार्जन-कला के दो प्रकार हैं। इनमें से एक का संबंध क्षुद्र व्यापार से है तथा दूसरे का गृहप्रबंध से। यह दूसरा प्रकार आवश्यक और प्रशंसा के योग्य है, पर प्रथम विनिमय-पद्धति पर आश्रित है तथा उसका निन्दनीय होना उचित ही है; क्योंकि इससे होनेवाला लाभ प्रकृत्या (फलों और पशुओं से) प्राप्त नहीं किया जाता, प्रत्युत परस्पर मनुष्यों से ही प्राप्त होता है। सबसे अधिक घृणित वित्तोपार्जन का उपाय सूद[५] लेना है, तथा इसका घृणिततम होना नितान्त युक्ति-संगत है, क्योंकि इसमें तो मुद्रा का उपयोग करनेवाली विनिमय की पद्धति से लाभ कमाने के स्थान पर स्वयं मुद्रा से ही लाभ प्राप्त किया जाता है। विनिमय के साधन के रूप में मुद्रा का प्रचलन हुआ था, न कि सूद के द्वारा बढ़ाये जाने के लिये। यही कारण है कि इस सूद (=वृद्धि) के लिये हम लोग "तौकस्" शब्द का साधारणतया प्रयोग किया करते हैं (इस शब्द का अर्थ सन्तान है), क्योंकि जिस प्रकार सन्तान अपने जन्मदाता के समान होती है इसी प्रकार धन से उत्पन्न हुई सूद रूपी सन्तान अपने पिता मूल के समान होती है तथा "मुद्रा की सन्तान मुद्रा" कही जा सकती है। अतएव धन कमाने के उपायों में यह सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।

टिप्पणियाँ

१. देखो इसी पुस्तक के ८वें खंड का आरंभ।

२. "यहीं से" भोजन एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि हो जाने पर।

३. संसार के अनेकों महापुरुष इस विषय में एकमत हैं कि प्रकृति के भंडार में मानव के भरण-पोषण के लिए आवश्यक पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। पर मानव-जाति में सत्ताधारी लोगों ने प्राकृतिक साधनों की सर्वदा से ऐसी कु-व्यवस्था की है कि अधिकांश मानव समाज आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण पीड़ित रहा

है और आज भी है। २०वीं शताब्दी में भी एक ओर कुछ देशों की जनता भूखों मर रही है तथा अन्य देशों में अधिक उत्पन्न हुए अन्न को जला दिया जा रहा है। इसीलिये अंग्रेज कवि वर्ड्स्वर्थ ने कहा था--

"मानव ने जो मानव के प्रति व्यवहार किया।
देख उसे मेरा अति पीड़ित हुआ हिया ॥"*

४. यही बात ८वें खंड में भी कही जा चुकी है।

५. सूद अथवा वृद्धि को अरिस्तू अत्यन्त घृणित मानता है। मुद्रा का उपयोग आवश्यक पदार्थों के विनिमय की सुविधा उत्पन्न करना है, पर जो मनुष्य उससे सूद कमाते हैं वे उससे अप्राकृतिक लाभ उठाते हैं। अरिस्तू इसका आलंकारिक भाषा में वर्णन करता है और कहता है कि यह लोग मुद्रा से प्रजनन-कार्य करवाते हैं। अरिस्तू के समय में ऋण देनेवाले बैंक स्थापित होने लगे थे और उनसे अथेंस ने आर्थिक और व्यापारिक जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

११

अर्थोपार्जन की विधियाँ

इस (धन कमाने के) विषय के ज्ञानात्मक पक्ष का तो पर्याप्त विवेचन किया जा चुका; अब हमको इसके क्रियात्मक पक्ष का वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार के सब विषयों का सैद्धान्तिक विवेचन तो उदारतापूर्ण माना जाता है पर उनके व्यावहारिक पक्ष का विवरण परिस्थिति पर आश्रित होता है। अर्थोपार्जन कला के व्यावहारिक अंग निम्नलिखित हैं। प्रथम है सजीव पालतू पशुओं के संबंध में अनुभव---अर्थात् उनके विषय में यह जानना कि उनमें से कौन से पशु सबसे अधिक लाभदायक हैं तथा कहाँ और किस प्रकार से वे सबसे अधिक लाभप्रद होंगे। उदाहरण के लिये हमको यह जानना चाहिये कि घोड़े, बैल, भेड़ एवं इसी प्रकार के अन्य पशुओं के पालन में (अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये) किस मार्ग का अनुसरण किया जाय। अनुभव द्वारा हमको यह पता लगा लेना चाहिये कि पशुओं की विभिन्न जातियों में कौन सबसे अधिक लाभदायक है, तथा कौन-सी जातियाँ किस स्थान पर अधिक लाभदायक सिद्ध होंगी; क्योंकि विभिन्न

* "And much it grieved my heart to think
What man has made of man."

पशुओं की जातियाँ विभिन्न स्थानों पर अच्छी पनपती हैं। सम्पत्ति अर्जन करने की कला के अन्य अंग हैं कृषि (जो दो प्रकार की होती है---वृक्ष-रहित स्थान पर अन्न की एवं अन्य स्थानों पर वृक्षारोपण की); मधुमक्खियों का पालना तथा मछली एवं चिड़ियों में से ऐसे अन्य जीवों का पालना जो (भरण-पोषण के लिये) सहायक हो सकते हैं। वास्तविक धन कमाने की कला के यही विभाग हैं तथा इनका स्थान सबसे आगे है। इसके पश्चात् विनिमयात्मक धन कमाने की कला आती है तथा इसका प्रथम और प्रधान प्रकार व्यापार है (इसके भी तीन अंग हैं, नौका का प्रबंध, परिवहन तथा विक्रयार्थ पण्यप्रदर्शन)---इनमें से कुछ अपेक्षा कृत अधिक सुरक्षित, एवं दूसरे अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद होने के कारण एक दूसरे से भिन्न हैं), दूसरा व्याज पर ऋण देना है एवं तीसरा भृति (अर्थात् वेतन के बदले सेवा करना) है। यह भृति एक तो यंत्रकला में निपुण व्यक्तियों के द्वारा की जाती है, दूसरे अनिपुण श्रमिकों द्वारा जो केवल शारीरिक श्रम से ही सेवा कर सकते हैं। धनोपार्जन का तीसरा प्रकार इस (दूसरे) और पहले प्रकार का मध्यवर्ती है (क्योंकि इसके कुछ अंश प्रथम अर्थात् प्राकृतिक प्रकार के होते हैं तथा कुछ दूसरे अथवा विनिमयात्मक प्रकार के)। तात्पर्य उस व्यवसाय से है जो धरती में निकाली हुई वस्तुओं और धरती से उत्पन्न हुई ऐसी वस्तुओं से लाभ प्राप्त करता है जो फलवान न होते हुए भी उपयोगी हैं। लकड़ी काटने और धरती के भीतर स्थित सब खानों को खोदकर धातु निकालने का व्यवसाय इस प्रकार के उदाहरण हैं। इस अन्तिम व्यवसाय की भी अनेक शाखाएँ होती हैं, क्योंकि धरती में से खोदकर निकाली जाने-वाली धातुओं के बहुत से प्रकार होते हैं। धन कमाने की कला के प्रत्येक विभाग के विषय में सामान्य विवरण अब प्रस्तुत किया जा चुका। उनके अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म और संकीर्ण वर्णन करना व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हो सकता है, पर इस प्रकार का अतिविस्तार विषय को भाराक्रान्त कर देगा तथा अशिष्ट होगा।

इतना कहना अलं होगा कि ऐसे व्यवसाय जिनमें सबसे अधिक कार्य-कौशल की अपेक्षा की जाती है वे होते हैं जिनमें आकस्मिकता का तत्त्व कम से कम पाया जाता है; सबसे निम्न कोटि के वे होते हैं जिनमें शरीर का अत्यधिक हानिकारक दुरुपयोग किया जाता है; सबसे अधिक दासतापूर्ण वे व्यवसाय होते हैं जिनमें शरीर (की शक्ति) का सबसे अधिक उपयोग होता है; सबसे अधिक अनुदार वे धंधे होते हैं जिनमें उत्तमता (अथवा साधुता) के उपयोग की कम से कम आवश्यकता होती है।

कई लेखकों ने इस विषय पर ग्रंथ-रचना की है; उदाहरण के लिये पारस् निवासी

खारेतिदेस् तथा लैम्नस् निवासी अपौलोदोरस्[1] ने वृक्षविहीन भूमि पर अन्न की खेती तथा (अन्यत्र) फलोंवाले वृक्षों को लगाने के विषय में लिखा है एवं इसी प्रकार अन्य लेखकों ने अन्य विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं ; जिसको इन विषयों में रुचि हो उसको इन ग्रंथों से इस विषय का अध्ययन करना चाहिये। जिन उपायों से कुछ लोग श्रीसम्पन्न बनने में सफल हुए हैं उनके विषय में बिखरी हुई कहानियों को एकत्रित करना[2] भी अच्छा होगा। जो लोग धन कमाने की कला की कद्र करते हैं उनके लिये यह सब बातें काम की हैं। उदाहरण के लिये मिलैतस् निवासी थालेस्[3] के विषय में कही जानेवाली कथा को ले सकते हैं। यह अर्थोपार्जन की योजना की एक कहानी है, जिसमें एक सिद्धान्त निहित है जिसका सामान्यतया सर्वत्र उपयोग किया जा सकता है पर थालेस् की बुद्धिमत्ता की ख्याति के कारण इस कहानी का संबंध उससे जोड़ दिया गया है। निर्धनता के कारण उसको उलाहना दिया जाया करता था एवं उसकी यह अकिंचनता दर्शनशास्त्र के निकम्मेपन को सूचित करनेवाली मानी जाती थी। इस कथा के अनुसार उसको अपने नक्षत्रज्ञान के द्वारा शरत्काल में ही यह ज्ञात हो गया कि जैतून की आगामी (ग्रीष्म की) फसल बहुत भारी होनेवाली है; अतएव उसने अपने थोड़े से धन से, सरलता से उपलब्ध होनेवाले मिलैतस् और खियौस्[4] के (जैतून को पेरनेवाले) सब कोल्हुओं के ठेके का बयाना देकर उनकी रोक कर ली ; क्योंकि (उस समय) कोई दूसरा ग्राहक नहीं था, वे उसको बहुत थोड़े से किराये पर मिल गये। फसल का समय आने पर एकदम एक साथ बहुत से कोल्हुओं की माँग हुई, तो एकत्रित किये हुए कोल्हुओं को उसने मनचाहे किराये पर उठाया और प्रचुर धनराशि एकत्रित कर ली। इस प्रकार उसने (दुनिया को) दिखला दिया कि यदि दार्शनिक लोग चाहें तो सरलता से धनवान् बन सकते हैं ; पर वास्तव में वे जिस काम के लिये प्रयत्नशील होते हैं वह यह (संपन्न होना) नहीं है। यह कहानी यह दिखलाने के लिये कही जाती है कि थालेस् ने इस प्रकार अपनी बुद्धि का चमत्कार-पूर्ण प्रदर्शन किया। परन्तु जैसा हम कह आये हैं, धनोपार्जन की यह योजना---जो एकाधिकार[5] की सृष्टि के अतिरिक्त और क्या है---सार्वत्रिक प्रयोग की चीज है। और इसीलिये कुछ (नगर-) राष्ट्र (तथा कुछ व्यक्ति)---जब उनको धन की आवश्यकता होती है---इसी धन कमाने के उपाय का प्रायः प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ वे भरण-पोषण के द्रव्यों का एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं।

सिकैलिया (सिसली) द्वीप में किसी मनुष्य ने---जिसके पास धन एकत्रित किया हुआ था---लोहे के कारखानों का सारा लोहा खरीद लिया। पीछे जब विभिन्न मंडियों

(अथवा दूकानों) से व्यापारी लोग (लोहा लेने) आये तो वही अकेला लोहा बेचनेवाला था। उसने लोहे का मूल्य बहुत अधिक नहीं बढ़ाया ; फिर भी उसने ५० मुद्रा की लागत के माल से १०० मुद्रा का (२०० प्रतिशत) लाभ प्राप्त किया। इस (सट्टेबाज़ी) का पता सिराक्यूस के राजा दियौनीसियम्[६] को चला तो उसने आज्ञा की कि तू अपना लाभ का रुपया ले जा सकता है, पर तुझको सिराक्यूस् नगर में कदापि नहीं रहना चाहिये। इस (आज्ञा का) कारण यह था कि उस आदमी ने धन कमाने का ऐसा मार्ग देख पाया था जो स्वयं राजा के हित का विरोधी था। उसने भी वही मार्ग देख पाया था जो कि थालेस् ने देखा था ; दोनों ने ही अपने लिये एकाधिकार की स्थापना की योजना की थी। पर इन उपयोगी तथ्यों का ज्ञान (नगर-प्रबंधकों), राजनीतिज्ञों (एवं साधारण व्यक्तियों) को भी प्राप्त करना चाहिये। जिस प्रकार गृहस्थियों के लिये धन की आवश्यकता हुआ करती है उसी प्रकार (पर कभी-कभी उससे भी अधिक) धन कमाने की एवं उसके लिये इस प्रकार के उपायों की आवश्यकता बहुधा नगरों के लिये भी हुआ करती है। इसीलिए राजनीति के व्यवसाय को अंगीकार करनेवाले कुछ लोग तो अपने को केवल इसी (धनोपार्जन के उपाय-चिन्तन) में लगा देते हैं।[७]

टिप्पणियाँ

इस खंड की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया गया है, क्योंकि इसमें वर्णित बातें विषय और शैली दोनों ही की दृष्टि से पूर्ववर्ती खंडों से मेल नहीं खातीं। न्यूमैन ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और इसको प्रामाणिक माना है। बार्कर के मत में इसका विषय "पॉलिटिक्स्" से उतना मेल नहीं खाता जितना "ऑइकॉनॉमिका" से और "ऑइकॉनॉमिका" तो निश्चय ही अरिस्तू की रचना नहीं है।

पूर्ववर्ती खण्डों में धनार्जन के दो विभाग किये गये थे---१. प्राकृतिक, २. अप्राकृतिक। इस खण्ड के पूर्वार्द्ध में इसके तीन भाग किये गये हैं (१) सर्वोत्तम प्रकार--पशु-पालन एवं खेतीबारी करना, मधुमक्खी पालना इत्यादि, (२) विनिमयात्मक प्रकार जिसमें ब्याज का भी समावेश हो जाता है और (३) लकड़ी काटना और खनिज पदार्थों को पृथ्वी में से निकालना। इसके अतिरिक्त निपुणता के आधार पर व्यवसायों का भी विभाजन किया गया है। तुलना कीजिये, "उत्तम खेती, मध्यम बान (= वाणिज्य)। निखध चाकरी, भीख निदान।"

१. खारेतिदेस् तथा अपौलोदोरस के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। अरिस्तू को पुस्तकों के संग्रह करने तथा पढ़ने का शौक था। संभवतया वह प्रथम व्यक्ति था जिसने

पुस्तकालय निर्माण किया। ग्रीक-साहित्य का अधिकांश नष्ट हो चुका है। अतएव उपर्युक्त लेखकों के ग्रंथों का लुप्त हो जाना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है।

२. बिखरे हुए ज्ञान को एकत्रित करके उसको सु-व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करना अरिस्तू और उसके शिष्यों को अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार उसने जो ज्ञान का संचय किया था उसका प्रमाण उसके उपलब्ध ग्रंथों में पग-पग पर मिलता है। उसने यूनान के नगर-राष्ट्रों के १५८ संविधानों का संग्रह भी किया था। "पॉलिटिक्स" की बहुत कुछ सामग्री इसी संग्रह से ली गई होगी। इसमें से अथेंस का संविधान सन् १८९० में मिस्र देश में उपलब्ध हुआ था, शेष अब नहीं मिलते।

३. थालेस् मिलैतस् का निवासी था। इसका समय ई० पू० ६२४ के लगभग है। थालेस् की गणना ग्रीस देश के सप्तर्षियों में की जाती है। वह यूनानियों में प्रथम दार्शनिक हुआ है। उसका मत "जलाद्वैत" कहा जा सकता है।

४. मिलैतस् लघुएशिया के पश्चिमी तट पर प्रसिद्ध नगर था। यह अनेक यवन मनीषियों का जन्म-स्थान था। इसके साथ ही साथ यह अपनी ऊन के लिये अत्यन्त विख्यात था। खियौस् भी लघुएशिया के पश्चिमी तट से थोड़ी दूर पर स्थित एक द्वीप है। कहते हैं कि यह आदि ग्रीक कवि होमेर का जन्म-स्थान था। यहाँ की मदिरा और अंजीर बहुत प्रसिद्ध थे।

५. एकाधिकार के लिये मूल में "मोनोपौलिया" शब्द आया है। इसका अर्थ होता है "बेचने का एकाधिकार।"

६. दियौनीसियत् सिराक्यूस नगर का तानाशाह था। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिये "आदर्श-नगर-व्यवस्था" की भूमिका देखिये। लोहे जैसी महत्त्वपूर्ण धातु का एकाधिकार किसी सामान्य जन को प्राप्त हो जाना उसको अभीष्ट नहीं था। इसके अतिरिक्त तानाशाह प्रायः अपने प्रजाजनों को निर्धन बना रहने देने में अपनी कुशल समझते थे। अतएव उसने उसको अपने नगर से निर्वासित कर दिया।

७. अन्तिम दो वाक्य इस खंड का स्पष्ट संबंध प्रस्तुत विषय से जोड़ देते हैं।

१२

पति, पत्नी और सन्तान का सम्बन्ध

हम पहले ही कह चुके हैं कि गृह-प्रबंध-कला के तीन अंग होते हैं—इनमें से एक दासों पर प्रभु का शासन है (जिसके विषय में हम पीछे वर्णन कर चुके हैं) ; दूसरा अंग

पितृ शासन है और तीसरा पति द्वारा पत्नी का शासन है। यद्यपि गृहपति, पत्नी और सन्तान दोनों पर शासन करता है, तथा दोनों पर स्वतंत्र जनों के समान शासन करता है, तथापि दोनों पर शासन करने का प्रकार एक ही नहीं होता। पत्नी पर शासन करने का प्रकार वैध शासन[1] का प्रकार होता है तथा सन्तान पर शासन का प्रकार राजकीय शासन का प्रकार होता है। यदि प्रकृति के नियम में अपवाद न हो तो पुरुष स्त्री की अपेक्षा शासन के लिये अधिक उपयुक्त होता है तथा अधिक अवस्थावाला एवं पूर्ण विकसित कम अवस्थावाले तथा अविकसित की अपेक्षा अधिक योग्य होता है। अधिकांश ऐसे प्रसंगों में, जहाँ कि वैध-शासन चलता है, शासन करना और शासित होना पर्याय-क्रम से हुआ करता है; (क्योंकि वैधशासन की भावना में ही यह बात सन्निहित होती है कि) किसी भी राजनीतिक परिषद् के सदस्य प्रकृत्या एक बराबर होते हैं और उनमें कुछ भी अन्तर नहीं होता। परन्तु फिर भी, जब कोई एक व्यक्ति शासन करता होता है (अथवा नागरिकों की कोई एक परिषद् शासन करती होती है) तथा अन्य लोग शासित होते हुए होते हैं तब शासक (अथवा शासकमंडल) वाह्याचार, संबोधन-पद्धति, सम्मानसूचक पदों में भेद की स्थापना करने की चेष्टा करता है, जैसा कि अपने पैर-धोने की परात के विषय में अमासिस्[2] के कथन से स्पष्ट प्रकट है। पति का पत्नी के प्रति स्थायी रूप से वही संबंध होता है जो वैध-शासक का शासितों के प्रति (अस्थायी रूप से) होता है। पिता का सन्तान पर जो शासन होता है वह ऐसा होता है जैसा कि राजा का अपनी प्रजा पर[3]; क्योंकि वह प्रेम और आयु के सम्मान के आधार पर शासक की स्थिति में होता है तथा यह स्थिति वैसी ही होती है जैसी कि राजकीय शासन की। इसलिए ज़ियुस (द्यौस्)[4] को संबोधन करते हुए होमेर ने ठीक ही कहा—

"पिता मानवों का, देवों का,"

क्योंकि वह इन सबका राजा है। राजा प्रकृति से ही अपने प्रजाजनों से श्रेष्ठ होना चाहिये पर जाति अथवा कुल में उन्हीं के समान होना चाहिये तथा गुरुजनों और छोटों एवं पिता और सन्तान का संबंध इसी प्रकार का होता है।

टिप्पणियाँ

१. वैध शासन से तात्पर्य उस शासन से है जो किसी संविधान के नियमों का अनुसरण करता है तथा जिसमें सब प्रजाजनों को पर्याय से शासन करने तथा शासित होने का अवसर प्राप्त होता है। यह तानाशाही शासन से भिन्न है जिसमें शासक

स्वेच्छा से शासन करता है तथा शासितों को शासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। अरिस्तू के मतानुसार पति पत्नी पर जो शासन करता है वह बहुत कुछ वैधानिक प्रकार का होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इस व्यवस्था में शासक और शासित की स्थिति में पर्यायक्रम से परिवर्तन नहीं होता।

२. अमासिस एक साधारण प्रजाजन था; आगे चलकर वह राजा हो गया। उसने एक स्वर्ण देव-प्रतिमा को गलवाकर अपने पैर धोने के लिये परात बनवाई। मिस्र देश के रहनेवाले इस परात का भी अत्यधिक सम्मान करने लगे। अमासिस् ने एक बार अपने प्रजाजनों को उपदेश करते हुए उस परात का दृष्टान्त देकर समझाया कि मेरी अपनी स्थिति बहुत कुछ इस परात के समान है; पर मेरे प्रति तुम लोगों का व्यवहार जो मेरी वर्तमान स्थिति है उसके अनुरूप होना चाहिये न कि मेरी भूतकालिक स्थिति के अनुरूप।

३. राजा का शासन प्रजा के प्रति प्रेम और सद्भावना से पूर्ण होना चाहिये। ऐतिहासिक दृष्टि से अरिस्तू राजा को एक बड़े कुटुम्ब के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष से विकसित हुआ मानता है। आगे चलकर वह राजकीय शासन का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजकीय शासन को उत्तम प्रकार का शासन मानता है। तुलना कीजिये सं०--"राजा प्रकृतिरञ्जनात्।"

४. द्यौस् के लिए मूल में "जियुस्" का कर्म कारक का रूप "दिया" प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द संस्कृत के द्यौस का सजातीय है। भारतीय एवं ग्रीक दोनों धर्मों में द्यौस सबका पिता एवं शासक है।

१३

शासक तथा शासित के गुणों में अंतर

इसलिये यह स्पष्ट है कि गृह-प्रबन्ध-कला निर्जीव सम्पत्ति की अपेक्षा मनुष्यों के प्रति, धन (जिसको हम सम्पदा कहते हैं) की उत्तमता की अपेक्षा मनुष्यों की उत्तमता के प्रति और (मनुष्यों में भी) दासों की अपेक्षा स्वतंत्र पुरुषों के प्रति अधिक ध्यान देती है।[1] इस संबंध में सर्वप्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या किसी दास में उपकरणात्मक तथा (निम्न कोटि के) सेवात्मक गुणों के अतिरिक्त अथवा इनसे ऊँची और कोई उत्तमता किंचिन्मात्र भी हो सकती है ?---क्या उसमें संयम, साहस, न्याय एवं इसी प्रकार की अन्य सद्वृत्तियाँ[2] हो सकती हैं अथवा उसमें कठोर शारीरिक सेवा

की वृत्ति को छोड़कर और कोई भी गुण नहीं होता ? दोनों प्रकार के उत्तरों (हाँ अथवा नहीं) में कठिनाई का सामना है। यदि दासों में उच्च कोटि के गुण माने जायँ तो वे स्वतंत्र मनुष्यों से किस प्रकार भिन्न होंगे ? यदि यह कहें कि उनमें यह गुण नहीं है तो यह एक अनोखी बात होगी कि मनुष्य होने के कारण विवेक के भागीदार होते हुए भी (वे विवेकजन्य सद्गुणों से वंचित हैं)। लगभग इसी से मिलता-जुलता प्रश्न स्त्रियों और बच्चों के विषय में भी पूछा जा सकता है कि क्या उनमें सद्गुण होते हैं ; क्या स्त्री को भी संयत, साहसी और न्यायी होना चाहिये; और क्या कोई बच्चा असंयत, अथवा संयत हो सकता है या नहीं ? यही प्रश्न सामान्यरूपेण[3] पूछा जाना चाहिये और वह इस प्रकार कि जो प्रकृत्या शासक हैं तथा जो प्रकृत्या शासित हैं उनके गुण एक ही हैं अथवा एक दूसरे से पृथक् हैं ? यदि यह कहो कि दोनों में समान रूप से उदार स्वभाव[4] होना चाहिये तो ऐसा क्यों होना चाहिये कि उनमें से एक तो सर्वदा शासन करे और दूसरा नित्य शासित हो। और न यह अन्तर अधिक या अल्प मात्रा के अन्तर के समान है; क्योंकि शासक और शासित का अन्तर तो प्रकारगत अन्तर है, एवं अधिक और अल्प (मात्रा का) इससे कोई संबंध नहीं है। यदि, दूसरी ओर यह कहें कि उनमें से एक में तो सद्गुण होने चाहिये तथा दूसरे में नहीं होने चाहिये तो यह बड़ी अनोखी सम्मति होगी। क्योंकि यदि शासक संयमी और न्यायी न हो तो वह अच्छे प्रकार से शासन कैसे कर सकेगा एवं यदि शासित संयमी और न्यायी न हो तो वह भले प्रकार शासित कैसे हो सकता है ? कोई भी ऐसा व्यक्ति जो उच्छृङ्खल अथवा कायर हो, अपने कर्तव्य का पालन निश्चयमेव नहीं कर सकता। अतएव यह स्पष्ट है कि सद्गुणों में तो दोनों का भाग अवश्य होना चाहिये, पर (दोनों के—अर्थात् शासक और शासितों के) सद्गुण भिन्न प्रकार के होने चाहियें, ठीक जिस प्रकार कि प्रकृत्या शासितव्य प्रजाजनों के सद्गुणों में भी प्रकार-भेद होता है।

और यह विचार (कि शासक और शासितों के गुण पृथक् पृथक् होते हैं) हमको सीधे आत्मा (साक्षी) के स्वरूप की ओर ले जाता है। आत्मा में स्वाभाविकतया एक अंश शासक है तथा दूसरा शासित ; एवं इनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् गुण है, एकगुणका संबंध शासक एवं विवेकयुक्त अंश से है तथा दूसरेका शासित एवं अविवेकयुक्त अंश से। और फिर यह तो स्पष्ट ही है कि जो बात प्रस्तुत प्रकरणमें ठीक बैठती है वह अन्य स्थलों में भी लागू होती है; अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह एक सामान्य नियम है कि शासक और शासित अंशों की सत्ता स्वभाव से ही है। पर एक ही नियम क्षेत्र-भेद के अनुसार भिन्न प्रकार से काम करता है। स्वतंत्र पुरुष जिस प्रकार दास पर

शासन करता है वह उस प्रकार से भिन्न होता है जिस प्रकार से पुरुष स्त्री पर शासन करता है अथवा वड़ा मनुष्य वच्चे पर। आत्मा के (उपर्युक्त) अंश तो इन (स्वतंत्र पुरुष, दास, स्त्री, पुरुष, एवं वड़े और वालक) सव में ही विद्यमान रहते हैं पर उनकी स्थिति इनमें से प्रत्येक में पृथक् प्रकार से होती है।[५] दास में विचार करने की क्षमता विलकुल नहीं होती[६]; स्त्री में यह क्षमता होती तो है पर अधिकारशून्य (अथवा अकिंचित्कर) ही रहती है, एवं होती वच्चों में भी है पर अपरिपक्व (अविकसित) रूप में ही। तथा जैसा (आत्मा के अंशों के विषय में समझा जाता है) वैसा ही अवश्यमेव सदाचार संवंधी सद्‌गुणों की स्थिति के विषय में भी समझा जाना चाहिये। (उपर्युक्त) सब व्यक्ति इन सद्‌गुणों में भागीदार होते हैं, पर एक ही प्रकार से नहीं प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकार और उतनी ही मात्रा में उनका भाजन होता है जो उसके अपने कार्य को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त हों। अतः शासक को सदाचार-संवंधी पूर्ण विकसित सद्‌गुण प्राप्त होना चाहिये; क्योंकि यदि उसके कार्य के पूर्ण स्वरूप का निरपेक्ष भाव से विचार करें तो उसके लिये श्रेष्ठ निर्माता[७] की आवश्यकता प्रतीत होगी तथा ऐसा उत्तम निर्माता विवेक ही है। शेप अन्य व्यक्तियों को सदाचार-संवंधी सद्‌गुण की आवश्यकता उतनी ही मात्रा में होती है जितनी उनमें से प्रत्येक की स्थिति के लिये अपेक्षित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार-संवंधी सद्‌गुण तो उपर्युक्त सभी व्यक्तियों में उपलव्ध होता है तथापि, जैसा कि सॉक्रातेस[८] का मत है, स्त्री और पुरुष का संयम एक-सा नहीं होता और न उनमें पाये जानेवाले साहस और न्याय ही एक समान होते हैं। उदाहरणार्थ पुरुष मे पाया जानेवाला साहस शासकोचित होता है एवं स्त्री में पाया जानेवाला सेवकोचित। यही वात अन्य सव सद्‌गुणों के संवंध में भी लागू होती है।

जव हम इस विषय पर अधिक विस्तार के साथ दृष्टिपात करेंगे और इसके पृथक् पृथक् विभागों का विचार करेंगे तो यही निष्कर्ष और भी अधिक स्पष्टतया निष्पन्न हो जायगा। सामान्य शव्दों का प्रयोग करते हुए यह मत प्रकट करना कि सद्‌गुण (अथवा सद्‌वृत्ति) "आत्मा की स्वस्थता है" (अच्छी अवस्था है) अथवा "उचित कर्म" है अथवा ऐसी ही अन्य कोई वात है, तो अपने ही को धोखा देना होगा। इस प्रकार की सामान्य परिभाषाओं की अपेक्षा तो सद्‌गुण अथवा भलाई के प्रकारों की गिनती गिना देने की पद्धति कहीं अधिक अच्छी है, जिसका अनुसरण गौर्गियास् के द्वारा किया गया हैं। अतः सव वर्गों के विषय में यह समझा जाना चाहिये कि उनके अपने अपने भलाई के विशेष लक्षण होते हैं; एवं यह जो सौफौक्लेस् ने[९] स्त्रियों के विषय में कहा है कि

"नारी की सुषमा है मौन" इसमें भी सामान्य सत्य निहित है, पर यह सत्य पुरुष के विषय में लागू नहीं होता। (इसी प्रकार यदि बालकों के उदाहरण को लें तो) बच्चा जो अपरिपक्व होता है तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी सद्वृत्ति (अथवा भलाई) केवल अपने वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा ऐसी (अर्थात् अपरिपक्व) नहीं होती प्रत्युत उसकी भावी परिणति एवं उस परिणति की ओर उसका नेतृत्व करनेवाले गुरु (पिता) की अपेक्षा अपरिपक्व होती है। ऐसे ही दास की सद्वृत्ति (=भलाई) प्रभु-संबंध सापेक्ष्य है।

हम यह निर्णय तो स्थापित कर चुके कि दास को जीवन की आवश्यकताओं के लिये उपयोगी होना चाहिये। अतएव (उक्त निर्णय से) यह स्पष्ट ही है कि उनको थोड़े मे ही सद्गुण की आवश्यकता है; और वह वास्तव में बस इतना होना चाहिये कि जिसमे वह कहीं असंयम अथवा भीरुता के कारण अपने कर्त्तव्य से च्युत न हो जाय। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जो बात हम कह रहे हैं यदि वह सत्य हो तो क्या शिल्पकारों में भी सद्गुण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये ; क्योंकि वे भी तो प्रायः असंयम के कारण अपने काम में त्रुटि किया करते हैं। परन्तु क्या इन दोनों उदाहरणों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है ? दास तो अपने स्वामी के जीवन में भागीदार होता है, पर शिल्पकार का स्वामी के साथ संबंध इतना समीप का नहीं, अपेक्षाकृत दूर का होता है। उससे अपेक्षित (दास की) भलाई की मात्रा उतनी ही होती है जितनी मात्रा में वह दासत्व के अन्तर्गत रहता है, क्योंकि निचले प्रकार के शिल्पी की दासता सीमित प्रकार की (अथवा केवल सीमित प्रयोजन के निमित्त) होती है। और फिर (दास और शिल्पकार में एक अन्तर यह भी है कि) दास तो उस वर्ग में से है जो प्रकृति से ही दासवर्ग है पर न तो कोई मोची इस वर्ग के अन्तर्गत है और न अन्य कोई शिल्पी।[10] अतएव यह स्पष्ट है कि दास में इस उपर्युक्त नैतिक उत्तमता को उत्पन्न करने का मूल कारण गृहपति होना चाहिये, पर उसको ऐसा (नैतिक) संरक्षक के रूप में होना चाहिये न कि उस स्वामित्वकला को धारण करनेवाले के रूप में जो सेवक को विशिष्ट कर्तव्यों के पालन करने का निर्देश करती है। इसलिए जो लोग कहते हैं कि दासों से विवेक को (विवेकपूर्ण शिक्षण को) दूर रखना चाहिये और उनके प्रति केवल आदेश का ही प्रयोग करना चाहिये, वे ठीक नहीं कहते।[11] नैतिक शिक्षा (अथवा चेतावनी) तो दासों को बच्चों की अपेक्षा कहीं अधिक दी जानी चाहिये।

इस विषय का इतना विवेचन पर्याप्त होगा। पति और पत्नी का संबंध, माता-पिता तथा संतान का संबंध, इन संबंधों के घटकों की पृथक् पृथक् उत्तमता, घटकों के पारस्परिक

सम्पर्क का स्वरूप, उसके गुण एवं दोष, इन गुणों की प्राप्ति किस प्रकार की जाय तथा इन दोषों से किस प्रकार दूर भागा जाये (इत्यादि) विषयों का विवेचन (शेष रह गया है)। इन सबका विवेचन (आगे चलकर) विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं का वर्णन करते समय अवश्यमेव किया जायगा। प्रत्येक गृहस्थी राष्ट्र का (घटक) अंग है। यह (पति पत्नी का समाज एवं माता-पिता एवं सन्तान का समाज) गृहस्थी का अंग है। प्रत्येक अवयव की उत्तमता का विचार अवयवी की उत्तमता पर दृष्टि रखते हुए किया जाना चाहिये। अतएव यदि बच्चों और स्त्रियों की उत्तमता के होने से नगर की उत्तमता में कोई अन्तर पड़ता हो तो बच्चों और स्त्रियों की शिक्षा का विचार आरंभ करने के पूर्व हमको (समग्र-) नगर के शासन पर अवश्य दृष्टिपात कर लेना चाहिये बच्चों और स्त्रियों की उत्तमता के कारण नगर की (अथवा शासन की) उत्तमता में तो अवश्यमेव अन्तर पड़ना चाहिये क्योंकि नारियाँ स्वतंत्र व्यक्तियों की संख्या का आधा भाग होती हैं, एवं बालक बड़े होकर राष्ट्र के शासन में भागीदार बनते हैं। (अतः उपर्युक्त विषयों का विवेचन इस समय स्थगित कर दिया गया है।)

क्योंकि प्रस्तुत विषय (अर्थात् गृहस्थी) के कुछ अंगों (दासता एवं साधनोपलब्धि) का विवेचन हो चुका तथा अन्य अंगों (विवाह, प्रजोत्पादन एवं शिक्षा इत्यादि) का विचार आगे किया जायगा[१२] अतएव इस विषय को समाप्त हुआ मानकर अब हम नये विषय का विवेचन आरंभ करें, एवं सर्वप्रथम उन मनीषियों के सिद्धान्तों की समीक्षा करें जिन्होंने श्रेष्ठ (= आदर्श) शासन-पद्धतियों के विषय में विचार प्रस्तुत किये हैं।[१३]

टिप्पणियाँ

१. अर्थात् गृह-प्रबन्ध-कला आर्थिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। उसका उद्देश्य गृहपति, पत्नी, सन्तान एवं दासों के पारस्परिक संबंध को अधिक से अधिक उत्तम बनाना है।

२. ग्रीक लोगों में चार नैतिक गुण सर्वोपरि माने जाते थे। यह चार गुण हैं, धृति अथवा साहस, संयम, न्याय एवं प्रज्ञा। यहाँ अरिस्तू ने दास के संबंध में प्रज्ञा का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वह दास में विवेक की बहुत थोड़ी सी मात्रा को स्वीकार करता है।

३. सामान्य प्रकार से सभी शासक और शासितों के विषय में पूछा जाना चाहिये—केवल दास, अथवा स्त्री अथवा बालक के विषय में विशेष रूप से नहीं।

४. 'उदार स्वभाव' के लिये मूल ग्रीक भाषा में "कलोकागाथिया" शब्द आया

है जिसका अर्थ "सुन्दर और भला होने का गुण" (कलौस् = सु न्दर, कै = और, अगाथौस् = भला) है।

५. आत्मा के विभिन्न अंशों का वर्णन आगे चलकर आठवीं पुस्तक के १४ वें अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है। आत्मा का विवेकी अंश शासक और अविवेकी अंश शासित माना गया है।

६. अर्थात् इतनी अल्प मात्रा में होती है कि उसको 'नहीं' के वरावर मानना चाहिये।

७. 'श्रेष्ठ निर्माता' से तात्पर्य परिपूर्ण विवेकशक्ति (सदसत् विचार की शक्ति) तथा उसके द्वारा उपलब्ध होनेवाली नैतिक उत्तमता से है। न्यूमैन ने (द्वितीय भाग पृ० २१९) इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया है।

८. सॉक्रातेस् के इस कथन को प्लात.न के मैनो नामक ग्रंथ (७१–७३) में देखा जा सकता है।

९. देखो सौफ़ौक्लेस का "अजाक्ष" नामक नाटक पंक्ति २९३।

१०. अरिस्तू के मत में दास व्यक्ति उस प्राकृतिक मानव-वर्ग में अन्तर्भुक्त है जो विवेक से प्रायः शून्य है अतएव वह विवेकवान् पुरुष के नेतृत्व में उसका दास बनकर उसका कार्य करता है। शिल्पी तो ठहराव के अनुसार नियमित समय और सीमित प्रयोजन के निमित्त किसी अन्य विवेकवान् व्यक्ति के लिये श्रम किया करते हैं। अतएव वह दास की अपेक्षा उच्चतर कोटि के व्यक्ति होते हैं।

११. स्वामी को केवल अपने उपयोग के निमित्त दास से अपने निर्देशों का पालन मात्र नहीं कराना चाहिये, प्रत्युत उसको दास का नैतिक नेता भी होना चाहिये एवं अपनी 'सीख' के द्वारा दास में नैतिक उत्तमता को भी उत्पन्न करना चाहिये।

१२. इस विषय में अरिस्तू ने प्रस्तुत ग्रंथ की अन्तिम दो पुस्तकों में कुछ आनुषंगिक विवेचन अवश्य किया है पर यहाँ पर का प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह नहीं किया गया है।

१३. प्रथम पुस्तक के इस अन्तिम भाग ने संपादकों के लिये पहेली का काम किया है। प्रथम पुस्तक में अरिस्तू ने जिन विषयों को उठाया था, उनका पूर्णतया विवेचन नहीं किया। पति-पत्नी एवं माता-पिता एवं बच्चों के सम्बन्धों का विवेचन इस गृह-प्रबन्ध-सम्बन्धी ग्रंथखंड में होना चाहिये था। पर यह विवेचन अन्तिम पुस्तकों में अधूरा जैसा किया गया है। फिर गाँवों की व्यवस्था का विषय उल्लेख के उपरान्त छोड़ दिया गया है। (यद्यपि इस विषय का कुछ विवेचन अथेंस के संविधान में किया गया है।)

इस प्रकरण के अन्तिम अनुच्छेद के विषय में कुछ संपादकों का मत यह है कि यह संभवतया अरिस्तू की रचना नहीं है। किसी पुरातन संपादक ने प्रथम और द्वितीय पुस्तक की कड़ी मिलाने के लिये इन पंक्तियों को जोड़ दिया है।

द्वितीय पुस्तक

१
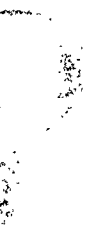
सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की विवेचना

तो अब हमारा उद्देश्य यह विचार करना है कि उन लोगों के लिये किस प्रकार का राजनीतिक समाज सर्वश्रेष्ठ होगा जो जीवन (की परिस्थितियों) को प्रायः अपनी वांछा के अनुसार (बनाये रखने में) समर्थ हैं।[1] अतएव हमको (इस अपने शासन-विधान के अतिरिक्त) अन्य विधानों[2] की भी परीक्षा करनी चाहिये---उन विधानों की भी विवेचना करनी चाहिये जो सुशासित कहे जानेवाले नगरों में पाये जाते हैं तथा इनसे भिन्न उन अन्य प्रकार के विधानों की भी जो सिद्धान्तवादियों[3] द्वारा निर्माण किये गये हैं तथा आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इससे (प्रथम लाभ तो) यह होगा कि हमको यह मालूम हो जायगा कि हमारे निरीक्षण के क्षेत्र में क्या उचित और उपयोगी है, और (दूसरा लाभ यह होगा कि) हमारा विवेचित शासन-पद्धतियों से भिन्न किसी अन्य पद्धति को खोजना इसलिए नहीं होगा कि हमको सर्वथा अपनी चतुरता प्रदर्शन करनेवाला समझा जाय, प्रत्युत यह अनुसंधान हमारे द्वारा इस कारण अंगीकृत किया माना जायगा कि इस समय उपलब्ध होनेवाले शासन-विधान सदोष हैं।

जैसा इस प्रकार की विवेचना का स्वाभाविक आरंभ होता है पहले ठीक उसी के अनुसार आरंभ करना चाहिये। (तीन विकल्प संभव हैं) (१) या तो राष्ट्र के सदस्यों का अवश्यमेव सब वस्तुओं पर समान अधिकार होना चाहिये, (२) या किसी वस्तु पर भी समान अधिकार नहीं होना चाहिये, (३) या कुछ पर समान अधिकार होना चाहिये और कुछ पर नहीं। दूसरा विकल्प, कि किसी वस्तु पर भी उनका समानाधिकार नहीं होना चाहिये स्पष्ट ही असंभव है,: नगर की संघटना में स्वयमेव एक प्रकार के समुदाय का भाव सन्निहित रहता है, तथा एक ही नगर के नागरिक होने में अवश्य ही आरंभ से ही एक स्थान पर सामूहिक रूप में मिलकर रहने का भाव भी लगा रहता है। एक नगर का स्थान एक ही होता है और उस नगर के नागरिक उस

स्थान में भागीदार होते हैं। (पर प्रथम और तृतीय विकल्पों में से किसको स्वीकार किया जाय यह प्रश्न शेष रह जाता है।) क्या किसी सुव्यवस्थित नगर-राष्ट्र में उन सब वस्तुओं पर सब नागरिकों का समान अधिकार होना चाहिये जिनपर उनका समान अधिकार होना संभव है अथवा कुछ पर समान अधिकार होना चाहिये और कुछ पर नहीं ? क्योंकि ऐसा होना संभव है कि नागरिकों का बच्चों, स्त्रियों और सम्पत्ति पर, परस्पर समान अधिकार हो। सॉक्रातेस ने प्लातोन की पौलितेइया[४] (आदर्श नगर-व्यवस्था) नामक पुस्तक में ऐसी ही योजना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि बच्चों और स्त्रियों पर सब नागरिकों का समान अधिकार[५] होना चाहिये और सम्पत्ति पर भी। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों नियमों में से अधिक अच्छा कौन है, (पृथक् परिवार एवं व्यक्तिगत सम्पत्तिवाली) वर्तमान अवस्था का नियम या प्लातोन की पुस्तक में लिखित नियम ?

टिप्पणियाँ

१. राजनीतिक संघटना के श्रेष्ठ रूप की कल्पना दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो इस प्रकार से विचार किया जा सकता है कि किसी विद्यमान परिस्थिति में किस प्रकार की संघटना श्रेष्ठ होगी। दूसरे इस प्रकार विचार किया जा सकता है कि किसी भी परिस्थिति से निरपेक्ष श्रेष्ठ राजनीतिक संघटना किस प्रकार की होगी। प्रथम प्रकार का विचार प्रस्तुत ग्रंथ की ४ से लेकर ६ तक पुस्तकों में किया गया है एवं दूसरे प्रकार का विचार अन्तिम दो पुस्तकों में प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के पूर्वार्ध में ग्रंथकार ने अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत परिस्थिति निरपेक्ष श्रेष्ठ व्यवस्थाओं की आलोचना प्रस्तुत की है।

२. कहते हैं कि अरिस्तू ने अपने शिष्यों एवं सहायकों के द्वारा १५८ नगर-संविधानों का संग्रह किया था। इनमें से अब तक केवल अथेंस का संविधान ही अंशतः खंडित रूप में उपलब्ध हो सका है।

३. सिद्धान्तवादियों से तात्पर्य प्लातोन इत्यादि ऐसे दार्शनिकों से है जिन्होंने वास्तविक शासन-कार्य से कुछ भी संबंध न रखते हुए आदर्श शासन-व्यवस्था की विवेचना की है। अरिस्तू ने वास्तविक नगर-संविधानों एवं सिद्धान्तवादी आदर्श संविधानों का परीक्षण करके अन्त में अपने मतानुसार श्रेष्ठ शासन-पद्धति का स्वरूप प्रस्तुत किया है।

४. प्लातोन की "पौलितेइया" नामक पुस्तक उसकी अमर रचना है। इस पुस्तक का लैटिन नाम "रिपब्लिक" मूल ग्रीक नाम "पौलितेइया" की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हो गया है। इसका मूल ग्रीक से हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत अनुवादक ने कर दिया है और यह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी में पुस्तक का नाम "आदर्श नगर-व्यवस्था" है।

५. बच्चों और स्त्रियों पर नागरिकों के समान अधिकार का विवेचन "आदर्श नगर-व्यवस्था" की चौथी और पाँचवीं पुस्तकों में हुआ है।

प्रथम पुस्तक के अन्त और द्वितीय के आरंभ में तर्कसम्मत संगति का अभाव है। इस तथ्य को प्रायः सभी टीकाकारों और आलोचकों ने स्वीकार किया है।

२

राष्ट्र की एकता इष्ट है या नहीं?

स्त्रियों पर सबके समानाधिकार में अन्य बहुत सी कठिनाइयाँ तो हैं ही पर निम्नलिखित कठिनाइयाँ विशेष हैं।[1] जिस उद्देश्य के लिये सॉक्रातेस इस सिद्धान्त को विधि द्वारा स्थापित करने की माँग करता है, वह स्पष्ट ही स्वयं उसकी युक्तियों से भलीभाँति प्रतिपादित नहीं ठहरता। और फिर उसने नगर-राष्ट्र के लिये जिस चरम लक्ष्य को आवश्यक बतलाया है, उसके साधन स्वरूप भी यह योजना (जैसी यह उपर्युक्त संवाद में कही गई है) अव्यवहार्य है। इस पर भी (तुर्रा यह है) कि उसने यह कहीं नहीं बतलाया है कि इस योजना की व्याख्या (अथवा सीमा-निर्धारण) किस प्रकार से हो। मैं सॉक्रातेस की उस प्रतिज्ञा का कथन कर रहा हूँ जिसको आधारभूत उद्देश्य मानकर उसकी सारी विवेचना चलती है कि "समग्र राष्ट्र की अधिक से अधिक एकता सर्वोच्च भलाई है।"[2] तथापि इतना तो स्पष्ट है कि इस (एकता की) दिशा में प्रगति करते करते कोई भी नगर इतना एकीभूत हो सकता है कि वह बिलकुल भी नगररूप न रह जाय। नगर तो स्वभाव से ही बहुत्वमय (अर्थात् बहुत से घटकों से निर्मित) होता है। अधिकाधिक एकता की ओर बढ़ते जाने पर तो वह प्रथम तो नगर से कुटुम्ब में और तत्पश्चात् कुटुम्ब से एक व्यक्ति के रूप में बदल जायगा; क्योंकि नगर की अपेक्षा कुटुम्ब एक बढ़कर इकाई होता है और व्यक्ति कुटुम्ब से भी बढ़कर इकाई है, ऐसा कह सकते हैं। अतएव यदि यह (पूर्ण एकता की प्राप्ति)

संभव भी हो तो भी उसको (प्राप्त) नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह तो नगर का विनाश करना होगा।[३]

और फिर, नगर केवल बहुत से मनुष्यों से ही तो नहीं बन जाता, प्रत्युत उसका निर्माण तो विभिन्न प्रकार के मनुष्यों से होता है; क्योंकि एक ही प्रकार के मनुष्यों से वह नहीं बन सकता। सैन्य-सम्मिलन और नगर एक दूसरे से पृथक् वस्तुएँ हैं। सैन्य-सम्मिलन स्वभाव से ही पारस्परिक सहायता के निमित्त होता है, इसकी उपयोगिता (चाहे इसके घटकों में गुणात्मक अन्तर न भी हो) इस बात पर निर्भर रहती है कि सैन्यबल की मात्रा कितनी है; इसकी दशा तुला के पलड़े को झुका देनेवाले भार के समान है।[४] इसी प्रकार, जब किसी कबीले (अर्थात् गोत्र) के लोग पृथक् पृथक् गाँवों में (बिखरे हुए) निवास नहीं करते, प्रत्युत उस अवस्था में रहते हैं जिसमें अर्कादिया-निवासी रहते हैं, तब नगर और कबीले में भी अन्तर होता है। (सैन्य-सम्मिलन एवं कबीले जैसे समूहों के प्रतिकूल) नगर की एकता का निर्माण जिन घटकों (अथवा तत्त्वों) से होता है उसमें प्रकार-भेद होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक राष्ट्र का त्राण (भला) इसी में है कि उसका प्रत्येक घटक अन्य घटकों के प्रति उतना प्रतिदान दे जितना उसने उनसे प्राप्त किया है। यह सिद्धान्त आचारशास्त्र (ऐथिक्स)[५] नामक ग्रंथ में पहले ही वर्णन किया जा चुका है। यह ऐसा सिद्धांत है जो स्वतंत्र एवं समान स्थितिवाले व्यक्तियों में भी अवश्यमेव व्यवहार में आना चाहिये (चाहे वे अभिन्न जैसे प्रतीत क्यों न होते हों)। वे सब के सब तो एक समय एक साथ शासन कर नहीं सकते; अतएव उनमें से प्रत्येक को प्रतिवर्ष——अथवा अन्य किसी पर्याय-क्रम से अन्य कालावधि तक——शासक (अथवा शासित) पद को स्वीकार करना पड़ेगा। इस योजना के अनुसार (बारी बारी से) सब (नागरिक) शासन कर सकेंगे; (पर यह होगा इस प्रकार) जैसे मानों चर्मकार और बढ़ई आपस में अपनी वृत्ति बदल लें और एक ही मानव-वर्ग सर्वदा के लिये चर्मकार और बढ़ई न बना रहे (प्रत्युत बारी बारी से सभी चर्मकार और बढ़ई बन जायें)। वास्तव में, अधिक अच्छा तो यही होगा कि जिस नियम का अनुसरण (विविध शिल्पों में किया जाता है——अर्थात् बढ़ई अन्त तक बढ़ई ही बना रहता है) उसी का अनुसरण राजनीतिक समुदाय के संबंध में भी हो; स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार, यदि संभव हो तो, अधिक अच्छा यही होगा कि एक ही मानव-वर्ग सर्वदा शासन करता रहे। परन्तु जहाँ सब नागरिकों की प्राकृतिक समानता के कारण ऐसा संभव न हो——और साथ ही न्यायोचित भी तो यही है कि चाहे शासन करना भला हो चाहे बुरा, सब नागरिक इसमें भागीदार हों——तो वहाँ भी

उपर्युक्त सिद्धान्त का अनुकरण अथवा अधिक से अधिक उसके समीप पहुँचना इस प्रकार संभव हो सकता है कि बराबरीवाले व्यक्ति बारी बारी से शासनाधिकार पद मे अवकाश ग्रहण करते रहें, और शासन-पद पर स्थिति के काल को छोड़कर, सब की स्थिति एक समान हो (अर्थात् सब का पारस्परिक व्यवहार एक सा हो)। अर्थात् इस प्रकार मे, बारी बारी से कुछ लोग शासन करें और कुछ शासित हों, मानों वे कुछ समय के लिये (परस्पर एक समान न रहकर) भिन्न व्यक्ति हो गये हों। इसी प्रकार जो लोग शासनारूढ़ होते हैं उनमें भी परस्पर भेद रहता है, किसी को एक प्रकार का अधिकार-पद प्राप्त होता है, किसी को दूसरे प्रकार का (जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि प्रकार-भेद नगर-राज्य की संघटना के लिये परमावश्यक है)।[६]

उपर्युक्त विचारों से यह बात प्रत्यक्ष हो गई कि नगर प्रकृत्या उस अर्थ में एकीभूत नहीं होता जिस अर्थ में कुछ लोग उसको इकाई कहते हैं; और दूसरे यह भी स्पष्ट हो गया कि जिस बात को नगर की सबसे बड़ी भलाई कहा जाता है वह वास्तव में उसका विनाश है।[७] परन्तु इतना तो निश्चयमेव कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु की भलाई तो वह होती है जो उसकी रक्षा करती है। फिर एक और दृष्टि-कोण से भी यह स्पष्ट सिद्ध किया जा सकता है कि नगर के अतिगामी एकीकरण की यह चेष्टा कोई अच्छी नीति नहीं है। गृहस्थी (अथवा कुटुम्ब) एक अकेले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आत्म-निर्भर है, एवं नगर गृहस्थी की अपेक्षा। पर नगर इस (पूर्ण आत्मनिर्भरता के) लक्ष्य को तभी प्राप्त कर सकता है और वास्तविक (नगर के) अस्तित्व को तभी लाभ कर सकता है जब कि नगर को संघटित करनेवाला समुदाय बढ़कर इतना बड़ा (और इतना विविध) हो जाय कि वास्तव में पूर्णतया आत्मनिर्भर हो सके। अतएव यदि अपेक्षाकृत अधिक आत्मनिर्भरता वांछनीय हो तो (यह मानना पड़ेगा) कि एकता की स्वल्प मात्रा ही अधिक मात्रा की अपेक्षा अधिक इष्ट है।

टिप्पणियाँ

१. यहाँ अरिस्तू अपने गुरु प्लातोन के राज्य की एकता के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान दो युक्तियों के आधार पर करता है। प्रथम तो प्लातोन यह सिद्ध नहीं कर सका कि एकता राज्य का समुचित उद्देश्य होना चाहिये; दूसरे जिन उपायों से इस एकता को प्राप्त करने की राय दी गयी है वे इसके लिये समुपयुक्त नहीं है और स्वयं अपने में भी व्यवहार्य नहीं हैं।

२. राज्य की एकता का सिद्धान्त प्लातोन की "आदर्श नगर-व्यवस्था" में पाँचवीं पुस्तक में आया है। देखो हिन्दी अनुवाद पृ० ३४२।

३. राज्य और राजनीतिक दलों की आत्यन्तिकी एकता को समय-समय पर बड़ा बल दिया गया है। हमारे समय में फ़ासिस्ट राष्ट्र राज्य की एकता एवं रूसी साम्यवादी दल अपनी दलगत एकता पर बहुत जोर देते रहे हैं। बोल्शेविक दल तो अपनी उपमा अभेद्य-चट्टान (monolith) से देना पसंद करता है। पर अरिस्तू को ऐसी एकता अभीष्ट नहीं है।

४. नगर में विविधता होनी चाहिये। नगर-निवासियों की कार्य-क्षमता विभिन्न प्रकार की होनी चाहिये जिससे उनके द्वारा किये जानेवाले कार्य परस्पर पूरक बनकर नगर को पूर्णतया आत्मनिर्भर बना सकें।

५. देखो "ऐथिक्स" ५।५।४

६. यद्यपि स्वतंत्र नागरिकों की स्थिति एक समान होती है तथापि जब ज़नतंत्र पद्धति के अनुसार उनमें बारी-बारी से कुछ शासन करते हैं और अन्य शासित होते हैं तो उनमें प्रकार-भेद हो हो जाता है। फिर शासन-कार्य के निमित्त पदारूढ़ व्यक्तियों में भी भेद रहता है। इससे अरिस्तू यह सिद्ध करता है कि राज्य की संघटना में विविधता परमावश्यक है।

७. यदि एकता के सिद्धान्त को उसकी चरम-परिणति तक पहुँचाया जाय, तो निश्चयमेव परिणाम यही होगा। अतएव अरिस्तू राज्य का लक्ष्य एकता न मानकर आत्मनिर्भरता मानता है। एकता-संबंधी सिद्धान्तों के भयावह परिणामों को देखकर आजकल राजनीति के क्षेत्र में अनेकतावाद अथवा बहुसमुदायवाद का भी प्रतिपादन किया जाने लगा है।

३

स्त्रियों और बच्चों के समानाधिकार की आलोचना

परन्तु यदि यही मान लिया जाय कि एकता की अधिक से अधिक मात्रा प्राप्त कर लेना ही किसी समाज के लिये सबसे अधिक हितकर है, तो भी, सब मनुष्यों के एक साथ (एक ही वस्तु के संबंध) में 'मम' (मेरा) तथा 'न मम' (मेरा नहीं) कहने भर से[१] इस एकता को सिद्ध हुआ प्रदर्शित नहीं किया गया है, जब कि सॉक्रातेस के मतानुसार

ऐसा कहना किसी राज्य की चरम एकता का चिह्न है। (कारण यह है कि) 'सव' शब्द द्व्यर्थक है। यदि 'सव' का अर्थ हो 'एक एक करके सव व्यक्ति' तव तो स्यात् सॉक्रातेस का लक्ष्य समधिक मात्रा में सिद्ध हो जाय ; (इस अर्थ के अनुसार) प्रत्येक मनुष्य एक ही व्यक्ति को अपना 'पुत्र', एक ही व्यक्ति को अपनी 'पत्नी' कहेगा, और ऐसा ही अपनी धन-सम्पत्ति एवं अन्य उन सव वस्तुओं के विषय में कहेगा जो उसकी भागधेय हैं। परन्तु जो लोग स्त्रियों और बच्चों पर समान अधिकार रखनेवाले हैं वे 'सव' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं करेंगे; वे तो 'सव' का अर्थ करेंगे "सव एक साथ मिलकर" न कि "सव व्यक्तिशः"। सम्पत्ति के विषय में भी यह वात लागू होगी ; सव उसको 'मम' (मेरी) कहेंगे पर उनका तात्पर्य होगा 'सामूहिक रूप में' ('संघशः') मेरी न कि व्यक्तिशः। इसलिए यह स्पष्ट है कि 'सव' शब्द के प्रयोग में कुछ न कुछ 'हेत्वाभास' है। 'उभय', 'विषम' और 'सम' इत्यादि कुछ इसी प्रकार के शब्दों के समान यह 'सव'[१] शब्द भी द्व्यर्थक है एवं इसी द्व्यर्थकता के कारण (न केवल व्यावहारिक जीवन में प्रत्युत) शास्त्रार्थों (= विवेचनों) में भी विवादपूर्ण तर्कयुक्तियों को उत्पन्न कर देता है। अतः यह जो सूत्र है कि "सव मनुष्य एक साथ (एक ही वस्तु के संबंध) में मम अथवा न मम कहें", यह 'व्यक्तिशः' वाले अर्थ में तो वड़ा अच्छा है परन्तु अव्यवहार्य है और दूसरे 'सामूहिक' अर्थ में किसी भी प्रकार संगतिकरण (अथवा समन्वय) की ओर ले जानेवाला नहीं है।

इस सूत्र से इसके अतिरिक्त एक और हानि भी हो सकती है। जो वस्तु अधिकतम संख्यावाले मनुष्यों की सामान्य सम्पत्ति होती है उसकी सबसे कम चिन्ता की जाती है।[२] जो वस्तु अपनी होती है मनुष्य उसकी चिन्ता वहुत किया करते हैं, जो सामान्य अधिकार की वस्तु होती है उसकी चिन्ता अपेक्षाकृत वहुत कम की जाती है ; अथवा उसकी चिन्ता वे उतनी ही करते हैं जितना उनका उससे व्यक्तिगत संबंध होता है। असावधानी का अन्य कोई कारण न होने पर भी सव कोई उस कर्तव्य की अवहेलना किया करते हैं जिसकी चिन्ता दूसरों को (भी) करनी होती है ; जैसा कि गृह परिचारकों में कभी कभी देखा जाता है कि सेवकों की अधिक संख्या कम संख्या से कम सहायक सिद्ध होती है। (प्लातोन के मतानुसार) प्रत्येक नागरिक के सहस्रों पुत्र होंगे, पर वे व्यक्तिशः प्रत्येक नागरिक के अपने पुत्र नहीं होंगे। कोई भी पुत्र और प्रत्येक पुत्र सामान्य भाव से किसी भी और प्रत्येक पिता का पुत्र होगा, इसी कारण सव के द्वारा एक समान उसकी वहुत कम चिन्ता की जायगी।

फिर इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक और आपत्ति यह भी है कि प्रत्येक नागरिक जव किसी सम्पन्न अथवा विपन्न वच्चे के संवंध में 'मेरा' शव्द का प्रयोग करेगा तो वह अंशतः ही ऐसा करेगा। उसका यह तात्पर्य नहीं होगा कि वच्चा पूर्णतया मेरा है, वल्कि यह होगा कि नागरिकों की सम्पूर्ण संख्या द्वारा निर्धारित अंश में ही वह वच्चा मेरा है। जव कोई यह कहेगा कि "वह लड़का मेरा है" अथवा "अमुकामुक का है" तो "मेरा" अथवा "अमुकामुक का" इन शव्दों का संवंध समग्र नागरिकों की संख्या से होगा---सहस्र नागरिकों से होगा अथवा जितनी भी नागरिकों की संख्या होगी उतनी ही संख्या से होगा। और इतने (अंश) में भी वह संशयालु ही वना रहेगा क्योंकि यह वात तो अज्ञात (अस्पप्ट) ही रहेगी कि पुत्र वास्तव में किससे उत्पन्न हुआ था (और किससे नहीं) अथवा उत्पन्न होकर जीवित भी रहा या नहीं।[४] पर अधिक भली वात कौन सी है---क्या दो हजार अथवा दस हजार व्यक्तियों में से प्रत्येक का इस आंशिक अर्थ में किसी वच्चे को 'मेरा' कहना अधिक अच्छा है, अथवा प्रत्येक का उस पूणार्थ में 'मेरा' कहना जिस अर्थ में यह शव्द इस समय सामान्यतया राष्ट्रों में व्यवहार में आ रहा है? सामान्य रीति के अनुसार एक ही व्यक्ति एक मनुष्य के द्वारा अपना पुत्र कहा जाता है, उसी को दूसरा व्यक्ति अपना भाई,चचेरा भाई अथवा ज्ञातिवन्धु--अर्थात् अपना अथवा अपने किसी संवंधी का विवाह के नाते से संवंधी मानता है तथा और कोई अन्य व्यक्ति उसी को अपना सगोत्र अथवा कवीलेवाला मानता है।[५] इस (सामान्य) प्रकार से किसी का वास्तविक चचेरा भाई होना (प्लातोनी पद्धति के अनुसार) किसी के पुत्र होने की अपेक्षा कितना अधिक अच्छा है। और फिर (प्लातोनी पद्धति के अनुसार भी तो) कोई ऐसा उपाय संभव नहीं है जो भाइयों, लड़कों, पिताओं और माताओं को स्वतः ही अपने संवंधियों को पहचानने से रोक सके। वच्चों और माता-पिताओं में जो समानताएँ पाई जाती हैं उनके आधार पर वे अवश्य ही अपने पारस्परिक संवंध के विपय में अनुमान निकालते रहेंगे। पृथ्वी का परिभ्रमण करके उसका वृत्तान्त लिखनेवाले व्यक्तियों का कहना है कि वास्तविक जीवन में ऐसी घटनाएँ सचमुच घटती रहती हैं। उनके कथनानुसार उत्तरी लीविया के कुछ निवासियों में स्त्रियाँ सामान्यगामिनी होती हैं[६]; तथापि वहाँ उत्पन्न हुए वच्चे भी पिता के सादृश्य के आधार पर पहचानकर पृथक् कर लिये जाते हैं। सच तो यह है कि कुछ स्त्रियाँ ऐसी होती हैं जिनमें अन्य पशुओं की मादाओं---जैसे घोड़ियों और गायों---के समान पितृतुल्य सन्तान पैदा करने की प्रवल प्रवृत्ति होती है। फार्सालिया प्रदेश की "दिकइया" (=यथादात्री)[७] नामक घोड़ी इस तथ्य का एक अच्छा उदाहरण है।

टिप्पणियाँ

१. इस सूत्र का उल्लेख प्लातोन की 'आदर्श नगर-व्यवस्था' नामक पुस्तक के पाँचवें अध्याय में हुआ है। देखो हिन्दी अनुवाद पृ० ३४३। संसार में अधिकांश झगड़े संकुचित ममता के कारण होते हैं। जर, जोरू और ज़मीन की ममता संसार की सब कलहों की मूल है। प्लातोन ने 'साम्यवाद' द्वारा इसका निराकरण करने का आदर्श प्रस्तुत किया था। अरिस्तू यहाँ 'बच्चों और स्त्रियों पर समानाधिकार' के सिद्धान्त की आलोचना कर रहा है। इस विषय को भली भाँति समझने के लिये "आदर्श नगर-व्यवस्था" के पाँचवें अध्याय से परिचित होना आवश्यक है।

२. अरिस्तू यूरोप में तर्कशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। कुछ आलोचक उसको विश्वभर में तर्कशास्त्र का प्रथम लेखक मानते हैं। यहाँ वह कुछ शब्दों के 'संहित' Collective और व्यष्टिशः=Distributive प्रयोगों के भेद को स्पष्ट कर रहा है।

३. भारतवर्ष इस दिशा में अरिस्तू के समय के यूनान के समान है। हमारे देश में सार्वजनिक सम्पत्ति का बहुत दुरुपयोग किया जाता है।

४. प्लातोन ने "आदर्श नगर-व्यवस्था" में यह बतलाया है कि जो बच्चे निकम्मे अथवा अक्षम उत्पन्न हों उनको 'दूर कर दिया' (=नष्ट कर दिया ?) जाना चाहिये।

५. अरिस्तू का तात्पर्य यह है कि सामान्यतया नागरिकों के प्राकृतिक संबंध मनुष्यों के जीवन को अपनी सुस्पष्ट बहुविधता के कारण सम्पन्न बनाने में सहायक होते हैं। स्वभाविक संबंध सुनिश्चित, सीमित और सान्द्र होते हैं। पर प्लातोनी पद्धति के संबंध अनिश्चित एवं सान्द्रताहीन होंगे। उनसे मनुष्य का जीवन भावशून्य और वर्णशून्य हो जायगा। रूस का बोल्शेविक साम्यवाद भी इस दिशा में प्लातोन की पद्धति को स्वीकार नहीं कर सका।

६. यह कथन संभवतया हेरोदोतस के आधार पर आश्रित है। पर पश्चात्कालीन खोज के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है। लीबिया निवासी प्रायः एकगामी थे, स्त्रियाँ भी पुरुष भी। मूल पुस्तक का कथन अपवाद स्वरूप भले ही घटित हुआ हो, सामूहिक रूप में ऐसा नहीं था।

७. इस घोड़ी को ययादात्री इसलिये कहा जाता था कि इसका सम्पर्क (सहवास) जैसे नर से होता था, यह वैसा ही बच्चा देती थी।

४

पूर्व विषय की और आलोचना

इतना ही नहीं, प्रत्युत इस स्त्रियों और बच्चों के समानाधिकार के नियम में इससे भी बढ़कर अन्य कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं, जिनका किसी भी प्रकार की सावधानी से सामना करना इस प्रकार के समाज-निर्माताओं के लिये सरल काम नहीं होगा। उदाहरण के लिये हम जान-बूझकर (तथा अनजाने में भी) किये हुए प्रहारों, हत्याओं, लड़ाई एवं निन्दा (=गाली-गलौज) को ले सकते हैं। यह सब ऐसे अपराध हैं कि जो पिता माता अथवा निकट संबंधियों के प्रति किये जाने पर प्राकृतिक (=सहज) श्रद्धा की भावना को भंग करते हैं, पर जब उपर्युक्त संबंध न रखनेवाले व्यक्तियों के प्रति किये जाते हैं तो उतने अपावन नहीं होते। और फिर (संबंध का) ज्ञान रहने की अपेक्षा उसके विषय में अनजान रहने पर यह अपराध अवश्य ही अधिक घटित होंगे; तथा जानकारी में घटित होने पर ऐसे अपराधों का रीतिविहित प्रायश्चित्त संभव है, परन्तु अनजाने में हो जाने पर तो कुछ भी नहीं किया जा सकता। फिर यह भी कितनी अनोखी (अथवा असंगत) बात है कि बच्चों को सबकी सामान्य सन्तान बना देने के पश्चात् (सॉक्रातेस) अधिक आयुवाले प्रेमियों को उन बच्चों के साथ कायिक संभोग[१] मात्र से तो रोके, परन्तु (संबंध के अज्ञान के कारण यों ही हो जानेवाले) पिता के पुत्र के साथ, एवं भाई के भाई के साथ प्रणय एवं आंतरंग्य को बाधित न करे। पिता एवं पुत्र तथा भाई और भाई की प्रीति एवं अंतरंगता से बढ़कर अशोभन बात और कुछ हो ही नहीं सकती; क्योंकि समागम के बिना भी तो इस प्रकार का प्रेम अनुचित है। फिर यह भी अनोखी बात है कि वह तज्जनित आनन्द की अतिशय उत्कटता के एक-मात्र कारण के आधार पर (पुरुष) प्रेमियों के कायिक समागम का तो निषेध (=वर्जन) कर दे, पर इस बात में उसको कुछ अन्तर न प्रतीत हो कि प्रेमी पिता पुत्र हैं अथवा भाई भाई हैं।[२]

स्त्रियों और बच्चों पर सबका समानाधिकार (शासन करनेवाले) राष्ट्र-रक्षकों की अपेक्षा (शासित होनेवाले) किसानों के लिये उपयुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि बच्चों और स्त्रियों पर समानाधिकार होने पर पारस्परिक प्रेमभाव अपेक्षाकृत कम हो जाता है, तथा इसलिए कि शासित लोग आज्ञाकारी बने रहें और क्रान्ति न कर बैठें, ऐसा ही होना भी चाहिये। सामान्यतया प्लातोन की इस व्यवस्था का परिणाम

अवश्य ही उस परिणाम के नितान्त विपरीत होगा जो भले प्रकार से विहित और व्यवस्थित कानूनों से उत्पन्न होना चाहिये, (इतना ही नहीं) प्रत्युत उस उद्देश्य के भी विरुद्ध होगा जिसके लिये सॉक्रातेस के अनुसार बच्चों और स्त्रियों के विषय में इस नियम का विधान होना चाहिये।[३] मैत्रीभावना को (नगर-) राष्ट्रों के लिये सबसे अधिक हितकर माना जाता है, क्योंकि वह नागरिक कलह से राष्ट्र की रक्षा का सर्वोत्तम साधन है। नगर की एकता की प्रशंसा तो स्वयं सॉक्रातेस् भी बहुत अधिक करता है, एवं उस एकता को सामान्यतया (ही नहीं प्रत्युत) उसके द्वारा (विशिष्टतया स्पष्ट रूप से) मैत्री-भावना का ही परिणाम माना गया है। यह एकता, जिसकी वह इतनी प्रशंसा करता है ठीक उन प्रेमियों की एकता के समान होगी जिसका वर्णन प्लातोन के सिम्पो-सियन्[४] नामक संवाद के प्रेम के प्रकरण में है तथा जिसमें अरिस्तॉफनेस् को उन दो प्रेमियों का वर्णन करते प्रदर्शित किया गया है जो प्रेमातिरेक के कारण एक साथ मिलकर एकीभूत हो जाना—दोनों दो के स्थान पर एक हो जाना चाहते थे। इस प्रेमातिशय का परिणाम अवश्यमेव उन प्रेमियों के पक्ष में या तो दोनों का एक नई सत्ता में विलय अथवा उनमें से एक का दूसरे में विलय होना चाहिये।[५] पर जिस (नगर-) राष्ट्र में स्त्रियों और बच्चों पर सबका समानाधिकार होगा वहाँ (इसके बिलकुल विपरीत) प्रेम पतला पानी हो जायगा और निश्चय ही पिता पुत्र को 'मेरे बेटे' और पुत्र पिता को 'मेरे पिता' नहीं कहेगा। जिस प्रकार थोड़ी-सी मधुर मदिरा बहुत अधिक जल के साथ मिलकर स्वादरहित घोल बन जाती है इसी प्रकार ऐसे समाज में भी इन (पिता, पुत्र आदि) नामों द्वारा सूचित कौटुम्बिक भावना भी अवश्य ही शिथिल (=नष्टप्राय) हो जायगी, क्योंकि कोई कारण नहीं होगा कि पिता पुत्र के प्रति पुत्र जैसा, पुत्र पिता के प्रति पिता जैसा अथवा भाई भाई के प्रति भाई जसा व्यवहार करे। किसी वस्तु की ओर मनुष्यों को सगा और प्रेमप्रवण बनानेवाली दो बातें हैं—एक तो यह भावना कि वह वस्तु अपनी निज की है, दूसरी यह कि वह वस्तु प्रिय है। इस प्रकार की नगर-व्यवस्था में (जहाँ स्त्रियों और बच्चों पर सबका समानाधिकार हो) दोनों में से एक भी भावना नहीं रह सकती।

फिर एक बड़ी कठिनाई प्लातोन द्वारा निर्धारित बच्चों की कुलान्तरीकरण[६] की योजना के संबंध में भी उत्पन्न होती है, जिसके अनुसार किसानों और कारीगरों की कोटि में (जाति में) पैदा होनेवाले बच्चे (उच्च गुणों से युक्त होने पर) रक्षकों की जाति में तथा रक्षकों की कोटि के बच्चे (निम्न प्रकार के गुणों से युक्त होने पर) निचली कोटियों (=जातियों) में बदल देने का आदेश है। वास्तव में यह कुल-

परिवर्तन करना एक झंझट ही होगा। इन बच्चों को देनेवालों तथा स्थानान्तरित करनेवालों को यह ज्ञान अवश्य रहेगा ही कि कौन से बच्चों को किनके पास स्थानान्तरित किया गया है। इसके साथ ही पूर्व-कथित सब बुराइयाँ, यथा, आक्रमणात्मक प्रहार, अनुचित प्रेम, हत्याएँ इत्यादि इस अदलाबदली की योजना के संबंध में और अधिक उत्पन्न होंगी। क्योंकि जो (रक्षकों की जाति में से) नीची जातियों में बदल दिये गये हैं, अथवा जिनको (नीची जातियों में से बदलकर) रक्षकों के मध्य में स्थान दे दिया गया है, वे जिन वर्गों को छोड़कर आये हैं (यद्यपि उनका उनके साथ वास्तविक नाता होगा तथापि) वे उनको भाई, बच्चा, पिता और माता इत्यादि शब्दों से संबोधित नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार उनके प्रति कोई उपर्युक्त अपराध करने में बिलकुल बाधा नहीं रह जायेगी।[७]

स्त्रियों और बच्चों के समानाधिकार के संबंध में हमारा यही निश्चय है।

टिप्पणियाँ

१. यूनानी समाज में यह अप्राकृतिक संबंध प्रचलित था। प्लातोन ने अपनी "आदर्श नगर-व्यवस्था" नामक रचना में इसकी रोक-थाम का उपदेश किया था।

२. इस समग्र अनुच्छेद से यह पता चलता है कि प्लातोन और अरिस्तू के समय में यूनानी समाज में अप्राकृतिक यौन-संबंध बढ़ता जा रहा था तथा नीति-शास्त्र-प्रणेता उसको बुरा समझते थे।

३. सॉक्रातेस का लक्ष्य था राष्ट्र में एकता की भावना को दृढ़ करना। इसके लिये उसने "आदर्श नगर-व्यवस्था" में स्त्रियों और बच्चों पर समानाधिकार का प्रतिपादन किया था। अरिस्तू के मत में इसका परिणाम उपर्युक्त लक्ष्य का विरोधी होगा।

४. सिम्पासियन् नामक संवाद प्लातोन की छोटी किन्तु सुविख्यात रचना है। इसका विषय प्रेम, मैत्री एवं सुन्दरता है। इसमें एक प्रीतिभोज का वर्णन है जिसमें होनेवाले भाषणों में प्रेम तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसका सार है सर्वोत्तम आदर्शों के प्रति उत्कट उत्साह की भावना तथा उनकी प्राप्ति के लिए आत्मबलिदान पूर्वक भक्ति-प्रदर्शन। इसी आदर्श भक्ति को अफ़लातूनी प्रेम Platonic Love कहा जाता है।

५. इस प्रकार के प्रेमियों का वर्णन यवन एवं भारतीय पौराणिक कथाओं में मिलता है। हर्मेस् एवं अफ्रोदीते का हर्माफ्रोदितस् नामक पुत्र एवं उसको प्रेम करनेवाली अप्सरा

साल्माकिस् दोनों मिलकर एक हो गये थे। भारतीय देवताओं में तो शंकर अर्धनारीश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं ही।

६. प्लातोन ने आदर्श नगर-व्यवस्था में जिस जाति-प्रथा का प्रतिपादन किया है उसकी विशेषताओं को स्थायित्व प्रदान करने के लिये उसने यह नियम बनाया कि यदि रक्षकों की जाति में ऐसे बच्चे उत्पन्न हों जो निचली जाति के लक्षणोंवाले हों तो उनको निचली जाति में भेज देना चाहिये और यदि निचली जातियों में उच्च जाति के लक्षणों वाले बालक पैदा हो जाएँ तो उनको उच्च जाति में अन्तर्भुक्त कर देना चाहिये। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्लातोन को गुण एवं कर्म के विभाग के अनसार जातिप्रथा मान्य थी। प्रो० उर्वीक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है प्लातोन के विचार भारतीय वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित हुए थे।

७. अरिस्तू के मत में स्थानान्तरित बच्चों में स्वाभाविक पितृश्रद्धा का भाव शून्य के बराबर होगा। इस वर्णसंकरता के कारण नगर में एकता की भावना और भी घट जायेगी एवं सॉक्रातेस (प्लातोन) का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

पर इस विषय में विशेष द्रष्टव्य बात यह है कि स्त्रियों एवं बच्चों पर समानाधिकार के सिद्धान्त को प्लातोन ने केवल रक्षकों एवं शासकों के लिये प्रतिपादित किया था। जन, जर, जमीन--कामिनी, कांचन एवं धरित्री–सारी ऐहिक कलहों की मूल हैं। प्लातोन जानता था कि इन चट्टानों से टकराकर नागरिकता की नाव डूबती रही है अतएव उसने कामिनी और कांचन के साम्यवाद को शासकों के मध्य में प्रवर्त्तित करना चाहा। पर यह समस्या चिरन्तन है और हम आज भी इसके समाधान से काफ़ी दूर हैं। इस विषय में प्लातोन के विचारों से पूर्णतया अवगत होने के लिये उसकी "आदर्श नगर-व्यवस्था" नामक पुस्तक को पढ़ना चाहिये। यह समझना भारी भूल होगी कि प्लातोन ने इस सिद्धान्त द्वारा रक्षकों की उच्छृंखलता का प्रतिपादन किया है; इसके विपरीत रक्षकों का जीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की चर्चा से अधिक मेल रखनेवाला प्रतीत होगा।

५

सम्पत्ति के समानाधिकार की आलोचना

इसके पश्चात् अब सम्पत्ति के विषय में विचार करना है। जिनको श्रेष्ठ नगर की नागरिकता को प्राप्त करना हो वे इस विषय में किस पद्धति को स्वीकार करें? सम्पत्ति को सबके समानाधिकार की वस्तु होना है या नहीं? इस प्रश्न पर, बच्चों

एवं स्त्रियों के समानाधिकारवाले नियम से पृथक् स्वतंत्र रूप से विचार किया जा सकता है। यह मानते हुए भी कि आजकल की सर्वव्यापी रीति के अनुसार स्त्रियों और बच्चों का संबंध व्यक्तियों से ही रहे[२] सम्पत्ति का प्रश्न तो विचार करने के लिये बना ही रहता है (जो इस प्रकार है) कि क्या उस (=सम्पत्ति) का सामान्य स्वामित्व और उपयोग अपेक्षाकृत अधिक अच्छा नहीं है? (इस विषय में तीन विकल्प संभव हैं)। प्रथम--भूखंड पृथक् पृथक् व्यक्तियों की सम्पत्ति रहें, परन्तु उनकी उपज सबके उपभोग के लिये एक सार्वजनिक भंडार में एकत्रित की जाय (जैसा कि कुछ जातियों में किया जाता है).; इसके विपरीत दूसरा विकल्प यह है कि--भूमि पर सबका समान अधिकार हो, एवं खेती भी सम्मिलित रूप से की जाय, पर उपज को व्यक्तिगत उपभोग के लिये बाँट दिया जाय (कहते हैं कि कुछ बर्बर जातियों में यह द्वितीय प्रकार की विभाजन-पद्धति प्रचलित है)। तीसरा विकल्प यह है कि भूमि और भूमि की उपज (अर्थात् स्वामित्व और उपयोग) दोनों ही समान रूप से सब की सम्पत्ति हों।[३]

जब भूमि पर कृषि करनेवाला मनुष्य वर्ग उस भूमि के स्वामी नागरिकों से भिन्न होता है (अर्थात् जब कि किसानी करनेवाली जनता बँधुआ या दास होती है) तब तो स्थिति और ही होती है और समस्या भी सरल होती है, परन्तु भूमि का स्वामित्व रखनेवाले नागरिक स्वयं जब किसानी भी करते हैं तब सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न पूरा असन्तोष उत्पन्न करता ही है। यदि प्राप्ति और परिश्रम में उनका भाग समान नहीं हुआ तो जिनको परिश्रम अधिक करना पड़ा और प्राप्ति कम हुई वे थोड़े परिश्रम से अधिक पानेवालों के विरुद्ध अवश्य ही दोषारोपण करेंगे। सामान्यतया यह सच है कि मनुष्यों के एक साथ रहने और सब प्रकार के मानवीय संबंधों को परस्पर समान रूप से बरतने में योंही कठिनाइयाँ आती हैं पर जब मामला सम्पत्ति का होता है तब कठिनाइयाँ भी विशेष हो जाती हैं। इस विषय का एक अच्छा उदाहरण सहयात्रियों की साझेदारियाँ हैं; बिलकुल मामूली सी बातों पर वे झगड़ने लग जाते हैं एवं छोटे छोटे प्रसंगों पर बिगड़ खड़े होते हैं। यही बात नौकर-चाकरों के विषय में भी लागू होती है; हमारी प्रवृत्ति उन्हीं से अधिक अप्रसन्न होने की होती है, जिनके साथ प्रतिदिन के कार्य जाल में हमारा संपर्क सबसे अधिक होता है।

धन-सम्पत्ति पर जो सबका समानाधिकार है; उसमें यह तथा ऐसी ही दूसरी भी अनेकों कठिनाइयाँ हैं। यदि आजकल की (व्यक्तिगत अधिकार की) व्यवस्था को (अच्छी सामाजिक) प्रथाओं एवं (राजनीतिक) नियम-विधियों से सजा-सँवार[४] दिया

जाय तो इतने से कोई मामूली अन्तर नहीं पड़ेगा (प्रत्युत) स्थिति बहुत कुछ सुधर जायगी) और इसमें दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं की भलाइयों का समावेश हो जायगा। अर्थात् आर्थिक साम्यवाद और व्यक्तिगत साम्पत्तिक अधिकार दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं के गुण इसमें उपलब्ध हो सकेंगे। (यह आदर्श स्थिति होगी) ; क्योंकि सामान्यरूपेण तो सम्पत्ति पर व्यक्ति का ही अधिकार होना चाहिये। हाँ, एक दिशा में (अर्थात् उसके उपयोग की दिशा में) उस पर सबका अधिकार होना ठीक है। जब प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र (घेरा) अलग होता है तो पारस्परिक कलह का एक मुख्य कारण दूर हो जाता है, और क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यह देखता है कि वह अपने निजी कार्य में लगा हुआ है, अतः कार्य की भी खूब उन्नति होती है। इसके साथ ही इस व्यवस्था के अनुसार सद्वृत्ति के कारण प्रत्येक की सम्पत्ति उस लोकोक्ति की भावना में सब के उपयोग के निमित्त होगी जिसमें यह कहा गया है कि मित्रों के मध्य में (प्रत्येक की सम्पत्ति) सब की सम्पत्ति होती है। इस समय भी इस प्रथा के कुछ रेखाचिन्ह कतिपय नगर-राष्ट्रों में उपलब्ध होते हैं जो यह सूचित करते हैं कि यह असंभव नहीं है, प्रत्युत सुव्यवस्थित राष्ट्रों में तो इसके कुछ तत्त्व विशेष रूप से विद्यमान हैं ही तथा अन्य तत्त्वों को बढ़ाया जा सकता है। इन नगरों में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वामी है, पर जब उपयोग का प्रसंग आता है तो वह उसका एक अंश अपने मित्रों के लिये उपलब्ध कर देता है, एवं कुछ अन्य अंश सभी नागरिकों के सामान्य उपयोग के लिये लगा देता है। उदाहरण के लिये लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) के निवासी एक दूसरे के दासों का इस प्रकार उपयोग करते हैं मानो वे उनके अपने (दास) हों ; इसी प्रकार वे घोड़ों और कुत्तों को भी काम में लाते हैं ; यदि यात्रा करते समय उनको संबल का अभाव हो जाता है तो वे देहात में (अन्य नागरिकों के) खेतों में से उनको ग्रहण कर लेते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तिगत तथा उपयोग सार्वजनिक होना अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है, एवं विधि-निर्माता का अपना विशिष्ट कार्य यह है कि वह मनुष्यों की सम्पत्ति संबंधी प्रवृत्ति को इस प्रकार बनाये।

फिर इसके अतिरिक्त आनन्द के विषय में विचार कर लेना चाहिये। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु को अपना समझता है तो उसके आनन्द में (ऐसा समझने से) कितना अकथनीय अन्तर पड़ जाता है ; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में जो अपने प्रति (एवं अपने से संबंध रखनेवाले के प्रति) प्रेम की भावना पाई जाती है वह व्यर्थ की भावना नहीं है प्रत्युत स्वाभाविक है। स्वार्थ-भावना की तो निन्दा ही उचित है पर जिस स्वार्थ-भावना

की निन्दा की जानी चाहिये वह सामान्य आत्मप्रेम नहीं है, प्रत्युत अत्युत्कट आत्मप्रेम है, वैसा ही उत्कट प्रेम जैसा कि कंजूस व्यक्ति को धन के प्रति होता है; अन्यथा तो (धन इत्यादि) वस्तुओं के प्रति सामान्य प्रेम समधिक रूप में सभी में पाया जाता है।[५] और फिर मित्रों, अतिथि-अभ्यागतों अथवा साथियों के प्रति दया और सहायता करने से भी अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है और यह सब तभी संभव होता है जब किसी के पास अपनी सम्पत्ति होती है। (नगर-) राष्ट्र की अतिशय एकता की व्यवस्था से यह सब आनन्द संभव नहीं रहते, तथा इनके अतिरिक्त दो सद्‌गुणों की प्रवृत्तियों का भी इससे सर्वथा लोप हो जाता है। प्रथम सद्‌गुण है स्त्रियों के प्रति संयम[६] (क्योंकि संयम के कारण परस्त्रीगमन से विरत रहना शोभन (=सदाचार का) कार्य है); दूसरा सद्‌गुण है धनादि के उपयोग में उदारता। (जब राष्ट्र में अत्यधिक एकता की व्यवस्था के कारण सब वस्तुओं पर सबका समान अधिकार होगा) तब न तो कोई उदारता का उदाहरण उपस्थित कर सकेगा और न कोई उदारता का कार्य ही कर सकेगा, क्योंकि धन-सम्पत्ति का उपयोग ही उदारता का काम होता है।

प्लेटो के द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की नियम-व्यवस्था बाहर से देखने में आकर्षक प्रतीत होती है तथा जनकल्याणकारी जैसी दिखलाई देती है। सुननेवाले इसको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, वे सोचते हैं कि (इस प्रकार की नियम-व्यवस्था से) प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के प्रति आश्चर्यजनक बन्धुत्वभाव का अनुभव करने लगेगा; विशेषकर उनका ऐसा विचार इसलिए होता है, क्योंकि पारस्परिक ठहरावों के संबंध में होनेवाले अभियोग, झूठे साक्ष्य के संबंध में दण्ड-निर्णय, धनवानों की चापलूसी इत्यादि जैसी बुराइयाँ (जिनकी निन्दा की जाती है तथा जो आजकल की सामान्य वर्तमान शासन-व्यवस्थाओं में पाई जाती हैं) इसीलिए पाई जाती हैं क्योंकि सम्पत्ति पर सबका सामान्य अधिकार नहीं है। तथापि इनमें से कोई भी बुराई सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार के अभाव के कारण उत्पन्न नहीं होती, किन्तु वे (मानव-स्वभाव की) दुष्टता से उत्पन्न होती हैं। वास्तव में देखा तो यह जाता है कि जिनका संपत्ति पर समान अधिकार होता है और जो उसके प्रबंध में भागीदार होते हैं, ऐसे व्यक्तियों को हम उनकी अपेक्षा अधिक भेदभावपूर्ण और परस्पर झगड़ते हुए पाते हैं, जो कि सम्पत्ति पर पृथक् व्यक्तिगत अधिकार रखते हैं, यद्यपि उन लोगों की संख्या जो कि सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार के कारण एक दूसरे से मतभेद रखते और झगड़ते हैं हमको उन बहुतों के समूह की अपेक्षा बहुत थोड़ी मालूम पड़ती है जो सम्पत्ति पर पृथक् व्यक्तिगत अधिकार रखते हैं।

और फिर हमको केवल उन बुराइयों का ही विचार करना उचित नहीं है, जिनसे मनुष्य सम्पत्ति के सार्वजनिक सामान्य अधिकारगत होने पर बच जायँगे, प्रत्युत उन सुख-सुविधाओं का भी आकलन करना चाहिये जिनसे वे वंचित रहेंगे। उनको जो जीवन-यापन करना पड़ेगा वह नितान्त अशक्य प्रतीत होता है। सॉक्रातेस जिस हेत्वाभास (अथवा भ्रान्ति) में पड़ गया है उसका कारण (एकता के स्वरूप की) उस धारणा को माना जाना चाहिये जो ठीक नहीं है। एकता तो किसी भी प्रकार (दोनों में ही) होनी चाहिये—परिवार में भी और पुर में भी—पर सब बातों में नहीं (कुछ ही बातों में होनी चाहिये)। एकता की ओर बढ़ते जाने की प्रक्रिया में एक स्थिति ऐसी आती है कि जिस पर पहुँचकर नगर नगर ही नहीं रह जाता; और इससे कुछ ही घटकर एक स्थिति ऐसी है कि जिसमें नगर-राष्ट्र राष्ट्र चाहे बना रहे पर सारस्वरूप के खो बैठने के समीप पहुँच जाता है, और इस प्रकार एक घटिया राष्ट्र बन जाता है। यह इसी प्रकार से होता है मानो स्वर-संगीत बढ़कर एक स्वरता का अथवा ताल एकपदता (या एकगणता) का रूप धारण कर ले। पर वास्तव में तो (जैसा कि पहले कहा जा चुका है) नगर अनेकतामय होता है, एवं शिक्षा के उपाय द्वारा उनको समाज और एकता का रूप दिया जाता है। अतएव यह बड़ी अनोखी सी बात है कि जो व्यक्ति एक शिक्षा-विधि का प्रचलन करने का विचार रखता है, तथा यह मानता है कि इसके द्वारा नगर (-राष्ट्र) को श्रेष्ठता की प्राप्ति होगी, वह यह समझे कि वह उपर्युक्त उपायों द्वारा सीधे मार्ग में प्रवृत्त कर रहा है, (अथवा कर सकता है), पर सामाजिक रीतियों, बौद्धिक संस्कार तथा विधि-निर्माण के उपायों द्वारा नहीं[७]—जैसे उपाय लाकैदायमौन् (स्पार्टा) और क्रेते में पाये जाते हैं, जहाँ कि सहभोज के नियम के रूप में नियमनिर्माता ने सम्पत्ति को सबके लिये उपयोगी बनाकर समानाधिकारगत कर दिया है।[८]

एक बात और भी है जिसकी उपेक्षा हमको नहीं करनी चाहिये, और वह है बीते हुए युगों के अनुभवों की शिक्षा। हमको उस सुदीर्घ अतीत और प्रभूत वर्षगणना को ध्यान देना ही चाहिये जिसमें यह सब बातें (जिनको प्लातोन नये आविष्कार के रूप में प्रस्तुत करता है) यदि वास्तव में अच्छी होतीं तो अज्ञात न रह जातीं। लगभग सभी बातों का आविष्कार हो चुका है, यद्यपि उनमें से कुछ का संयोजन[९] नहीं हो पाया है तथा कुछ ज्ञात होते हुए भी उपयोग में नहीं आ सकी हैं। यदि प्लातोन द्वारा प्रस्तावित जैसे शासन विधान को कोई वास्तविक व्यवहार में निर्मित[१०] होते देख पाता तो इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता। नगर के घटकों को एक ओर सहभोज-समितियों में, तथा दूसरी ओर बिरादरियों और कबीलों (गणों) में बिना बाँटे और विभक्त किये

नगर-राष्ट्र का निर्माण संभव होगा ही नहीं। (इस प्रकार नगर का विविध वर्गों में विभक्त होना तो सामान्य सी वात हुई) अतः प्लातोन के नियम निर्माण की एकमात्र विशेषता यही निकली कि रक्षकों के लिये खेती करने का निषेध हो; और यह भी ऐसा नियम है जिसको लाकैदायमौन्-निवासी कार्यरूप में अनुसरण करने का प्रयत्न पहले ही से करते रहे हैं।[११]

इतना ही नहीं, प्रत्युत समग्र योजना ही कठिनता से समझ में आनेवाली है। वास्तव में सॉक्रातेस ने यह नहीं वतलाया है कि इस योजना में विभिन्न (राष्ट्र-) घटकों की स्थिति क्या होगी; और यह वतलाना सरल है भी नहीं। वे अधिकांश नागरिक ही, जो कि रक्षक नहीं हैं, लगभग समग्र नागरिक समुदाय स्वरूप होंगे। पर इनके विषय में कुछ भी स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किया गया है। (यह नहीं वतलाया गया है कि) क्या इन (कृषकों) का (रक्षकों के समान) सम्पत्ति पर समान अधिकार होगा अथवा वे व्यक्तिगत रूप में सम्पत्ति के स्वामी होंगे? इसी प्रकार यह भी पता नहीं चलता कि स्त्रियों और वच्चों पर उनका सामान्य अधिकार होगा अथवा उनकी स्त्रियाँ और वच्चे पृथक् पृथक् व्यक्तियों के अधिकार में रहेंगे?[१२] (इन प्रश्नों के उत्तर में यदि प्रथम विकल्प को मानें---अर्थात्) यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार कृषकों में भी सव पर सवका अधिकार होना है ऐसा स्वीकार कर लें तो फिर वे रक्षकों से किस वात में भिन्न होंगे? अथवा उन (रक्षकों) के शासन के अधीन होने से उनको क्या लाभ होगा? अथवा, जब तक शासकवर्ग उनके प्रति वैसा ही चतुरता का व्यवहार न करें जैसा कि क्रेते (द्वीप) में होता है (जहाँ कि दासों और वंधुओं को भी वही सुविधाएँ प्राप्त हैं, जो कि शासकों को प्राप्त हैं, केवल व्यायाम करने और शस्त्र धारण की आज्ञा उनको नहीं है) तव तक वे क्या समझकर उन (रक्षकों) का शासनाधिकार स्वीकार करेंगे? यदि दूसरे विकल्प को लें,---अर्थात् यदि कृषकों के वर्ग में विवाह और सम्पत्ति की प्रथा वैसी ही रहे जैसी कि वह वास्तव में अन्य नगर-राष्ट्रों में है (प्रत्येक व्यक्ति का परिवार और सम्पत्ति दूसरों से पृथक् रहे)---तो प्रश्न यह उठता है कि इस समाज का स्वरूप (अथवा) प्रकार क्या होगा? इस प्रकार तो एक नगर में अनिवार्यतया दो नगर वन जायँगे और यह दोनों परस्पर विरोधी होंगे। ऐसा प्रतीत होगा मानो रक्षक लोग नगर पर चौकीदारी करनेवाले सिपाही वना दिये गये हैं और कृषक, शिल्पी एवं शेष दूसरे लोग साधारण नागरिक। (इस प्रकार यदि कृषक इत्यादि लोगों में पृथक् परिवार और सम्पत्ति को मान लिया गया तो) वे सव विवाद, झगड़े और अन्य वुराइयाँ, जिनका अन्य नगरों में होना उसने वर्णन किया है, इस नगर के लोगों में भी समानरूपेण उपलब्ध

होंगे । यह सच है कि सॉक्रातेस् ने कहा है कि शिक्षा के कारण नागरिकों को बहुत से नियमों की—(जैसे कि नगर की रक्षा के नियम, बाज़ार-हाट के नियम, तथा इसी प्रकार के अन्य नियम)—आवश्यकता ही नहीं होगी, पर इसके साथ ही यह भी सच है कि वह शिक्षा का प्रबन्ध केवल रक्षकों के ही लिये करता है । फिर इससे भी आगे बढ़कर वह कृषकों को, अपनी उपज का एक भाग रक्षकों को कर रूप में प्रदान करने पर, भूमि पर अधिकार प्रदान करता है । इससे तो वह लोग (स्पार्टा के) हैलॉट्[13] (थैस्सालिया के) पैनेस्तैइ तथा अन्य नगर-राष्ट्रों के कृषक दासों की अपेक्षा कहीं अधिक दुःशील, अहम्मन्यतापूर्ण और ढीठ हो जायगे । इसके अतिरिक्त उसने इस उपर्युक्त प्रश्न के विषय में भी कुछ निर्णय नहीं किया है कि रक्षकों के समान ही निम्न वर्गों में भी स्त्रियों और बच्चों तथा सम्पत्ति पर सबका समानाधिकार होना चाहिये अथवा नहीं । इसी प्रकार इस प्रश्न से संबद्ध जो अन्य प्रश्न हैं,जैसे कि रक्षकों से भिन्न इन निम्न कोटि के लोगों की शासनपद्धति में स्थिति, उनकी शिक्षा का स्वरूप तथा उनके द्वारा पालन किये जानेवाले नियम, उनके विषय में भी उसने कोई बात निर्धारित नहीं की है । अतएव न तो इस बात का पता चला लेना कोई सरल काम है कि रक्षकों के साम्यवादी जीवन की रक्षा के लिये निम्न वर्गों के जीवन का गठन किस प्रकार का हो और न यह ऐसी बात है जिसका महत्त्व (किसी प्रकार) कम हो (अथवा जिसके कारण मामूली-सा अन्तर पड़ता हो ।)

और फिर यदि अन्तिम विकल्प के रूप में (सॉक्रातेस्) स्त्रियों को तो सर्वसाधारण की सम्पत्ति बना दे और सम्पत्ति को व्यक्तिगत अधिकार में रहने दे, तो ऐसी अवस्था में जब कि पुरुष खेतों की देखभाल करते होंगे, घरों की सार-सम्हाल कौन करेगा ? और यदि कृषकों की सम्पत्ति और स्त्रियों पर सबका सामान्य (समान) अधिकार हो तो भी (घरों का) क्या होगा ? यह बात भी बड़ी अनोखी सी लगती है कि पशु-जगत् के सादृश्य को लेकर यह कहना कि स्त्रियों को उन्हीं कार्यों का अभ्यास करना चाहिये जिनका कि पुरुष करते हैं; क्योंकि पशुओं को गृहस्थी का प्रबन्ध तो नहीं करना पड़ता ।

तथा सॉक्रातेस् जिस शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहता है वह भी अस्थिर ही है, क्योंकि वह तो सर्वदा के लिये एक ही वर्ग को शासक बना देना चाहता है (और इस प्रकार "बारी बारी से शासक और शासित होने" के स्वस्थ सिद्धान्त का विरोध करता है ।) यह पद्धति तो उन लोगों तक में विप्लव (= विक्षोभ) का कारण बन जानी चाहिये जिनकी कोई विशेष हैसियत नहीं है, तो फिर जो व्यक्ति उत्साहपूर्ण[14]

स्वभाववाले और योद्धाओं की वृत्तिवाले हैं उनमें तो ऐसा और भी अधिक होगा। उसके एक ही वर्ग को स्थायी रूप से शासक बनाने की अनिवार्यता का कारण बिलकुल स्पष्ट है। जिस सुवर्ण का मिश्रण ईश्वर द्वारा (कुछ उत्तम) मनुष्यों की आत्मा में किया जाता है (——जिसके कारण वह शासक बनने की योग्यता प्राप्त करते हैं) वह ऐसा नहीं है कि कभी एक मानव-समूह में पाया जाय और कभी दूसरे में; वह तो सर्वदा एक ही मानव-वर्ग में रहता है। उसने कहा है कि ईश्वर जन्म के समय से ही कुछ व्यक्तियों की रचना में सुवर्ण का मिश्रण करता है और कुछ की रचना में रजत का; तथा जिनको शिल्पकार और कृषक बनना है उनकी संघटना में वह पीतल और लोहा मिला देता है।[१५]

(फिर उसकी व्याख्या में एक विप्रतिपत्ति यह है कि) एक ओर तो वह (नगर-) रक्षकों को सुख तक से वंचित रखता है[१६], दूसरी ओर इसके साथ वह यह भी कहता है कि नियम-निर्माता को समग्र (नगर-) राष्ट्र को सुखी बनाना चाहिये। परन्तु जब तक किसी राष्ट्र का अधिकतम भाग, अथवा संपूर्ण अंग अथवा कुछ अंश सुख से युक्त न हो तब तक उसका सुखी होना असंभव है। सुखी होना और सम होना यह दोनों एक ही कोटि के तथ्य नहीं हैं। किसी अंगी के उभय भागों में समता के न होने पर भी समग्र अंगी में उसका होना संभव है, पर यह बात सुखी होने के विषय में संभव नहीं है, (अर्थात् अंगों के सुखी न होने पर अंगी का सुखी होना संभव नहीं है।) और फिर (यह भी विचारणीय है कि) यदि नगर-रक्षक ही सुखी नहीं होंगे तो और कौन सुखी होगा? निश्चयमेव शिल्पकारों अथवा बहुसंख्यक शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूरों के लिये तो सुख (का प्रश्न) है ही नहीं।

जिस 'आदर्श नगर-व्यवस्था' का वर्णन सॉक्रातेस ने किया है उसमें यह सब ऊपर कही गई कठिनाइयाँ हैं तथा इनके अतिरिक्त और दूसरी कठिनाइयाँ भी हैं जो इनकी अपेक्षा घटकर नहीं हैं।[१७]

टिप्पणियाँ

१. इस खंड में अरिस्तू प्लातोन के साम्यवाद की आलोचना करता है। इस आलोचना को भले प्रकार समझने के लिये प्लातोन की आदर्श नगर-व्यवस्था को पढ़ना आवश्यक है।

२. स्त्रियों और बच्चों पर सबका समान अधिकार हो——इस सिद्धान्त की आलोचना पिछले खंड में हो चुकी है।

३. वास्तव में एक चौथा विकल्प यह भी संभव है कि सम्पत्ति का अधिकार और उपयोग (अथवा उपभोग) दोनों ही व्यक्तिगत हों।

४. अर्थात् ऐसी सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित हों तथा ऐसे कानून बनाये जायँ कि व्यक्तिगत सम्पदा का उपयोग सर्वसाधारण के लिये होने लगे। अर्थात्—"व्यक्तौ स्वाम्यं, भोगे साम्यम्।" (संस्कृत) व्यक्ति में स्वाम्य, भोग में साम्य (हिन्दी)।

५. आत्मप्रेम की समुचित मात्रा एक सामाजिक गुण है। इस मध्यबिन्दु के एक ओर है आत्मावसादन जिसमें अपने को निकम्मा और हीन समझा जाता है और दूसरी ओर है अत्युत्कट आत्मप्रेम जिसमें अहंकार एवं स्वार्थ जैसे दुर्गुणों का समावेश होता है।

६. जब स्त्रियों पर सबका समान अधिकार होगा तो संयम का अभाव होगा ही।

७. अरिस्तू के मत में केवल नियम (कानून) बनाकर किसी राष्ट्र को आदर्श नहीं बनाया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि जनता प्रथम नियम की उत्तमता को अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकार करे और तत्पश्चात् उस नियम को एक सामाजिक रीति के रूप में परिणत कर दे। यदि ऐसा न हो सके तो अच्छे से अच्छा नियम भी समाज का सुधार करने में असफल रहता है और विधि-जीवियों (वकीलों) की जीविका का साधन बनकर रह जाता है।

८. स्पार्टा में स्वतंत्र पुरुषों के लिये यह नियम था कि वे तीस वर्ष की अवस्था से ६० वर्ष की अवस्था तक मुख्य भोजन सार्वजनिक भोजनालयों में ही कर सकते थे। भोजन सादा होता था और मात्रा में जान-बूझकर अपर्याप्त रखा जाता था। परिणाम यह होता था कि जनता में सरल जीवन व्यतीत करने और कष्ट सहने का स्वभाव बन जाता था। इन भोजनालयों का व्यय सभी व्यक्तियों के अनुदान से चलता था। इसके कारण व्यक्तिगत साम्पत्तिक विषमता का प्रदर्शन भी नहीं हो पाता था। क्रेते द्वीप में भी इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित थी।

९. मूल में 'सिनेक्ताइ' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'बिखरी हुई जानकारी का किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये अथवा वैज्ञानिक उपयोग के लिये व्यवस्थित एकत्रीकरण है।

१०. यदि इस प्रकार का विधान निर्मित होकर किसी राष्ट्र में व्यावहारिक रूप में चालू हुआ होता तो उसके परिणामों से हम अधिक शिक्षा ग्रहण कर पाते।

११. यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्पार्टा के अभिजन भूमि के स्वामी तो थे पर स्वयं खेती-बाड़ी नहीं करते थे, यह कार्य दासों के लिये नियत था। प्लातोन के राष्ट्ररक्षक भूमि के स्वामी नहीं हैं। भूमि के स्वामी स्वतंत्र हैं कृषक जो दास नहीं हैं और स्वयं खेती का काम करते हैं।

१२. प्लातोन ने इस विकल्प का स्पष्ट उत्तर दिया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार का निषेध रक्षकों के लिये है, कृषकों के लिये नहीं।

१३. मूल में हैलोतेइया, पैनैस्तेइया और दूलेइया शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ बंधुओं अथवा दासों का समूह है।

१४. उत्साहपूर्ण स्वभाववाले व्यक्तियों से तात्पर्य सहायक योद्धाओं से प्रतीत होता है, तथा जिनकी "कोई हैसियत नहीं है" ऐसे व्यक्ति छोटे मोटे कृषक हो सकते हैं।

१५. प्रो० उर्विक के मत में यह वर्णों की व्यवस्था का सिद्धान्त प्लातोन ने भारतीय वर्ण-पद्धति से लिया था। अरिस्तू को यह वर्णों के विशेष स्वभाव का सिद्धान्त मान्य नहीं है। वह तो सब नागरिकों की योग्यता की समानता के सिद्धान्त का पोषक है जिसके आधार पर नागरिक पर्याय-क्रम से "शासक और शासित" बन सकते हैं।

१६. यहाँ सुख से तात्पर्य व्यक्तिगत सम्पत्ति और निजी परिवार की भावना से उत्पन्न होनेवाले सुख से है।

१७. इस समग्र दोषान्वेषण का उद्देश्य यह है कि प्लातोन ने जो आदर्श नगर-व्यवस्था प्रस्तुत की है वह दोषपूर्ण है तथा श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था की खोज का अवकाश अभी भी है।

इस अध्याय के आरम्भ में अरिस्तू ने जिन तीन विकल्पों को उपस्थित किया है उनमें से प्रत्येक की आलोचना क्रमशः नहीं की है। उसने यह मानकर कि प्लातोन का साम्यवाद तृतीय विकल्प से समता रखता है, उसकी कठिनाइयों का वर्णन किया है। तदुपरान्त उसने अपने प्रथम विकल्प से मेल रखनेवाली आर्थिक व्यवस्था—व्यक्तिगत सम्पत्ति और सार्वजनिक उपयोगवाली व्यवस्था का गुणानुवाद किया है। इसके पश्चात् उसने पुनः प्लातोन की व्यवस्था की आलोचना करते हुए अध्याय को समाप्त किया है। पर इस आलोचना में उसने अपने गुरु के प्रति पूरा-पूरा न्याय नहीं किया है। स्पष्ट ही उसने दूसरे विकल्प की प्रत्यक्ष विवेचना नहीं की। पर प्रथम विकल्प की प्रशंसा में से उसके विरोधी द्वितीय विकल्प की निन्दा अर्थापत्ति द्वारा ध्वनित हो सकती है। इस समग्र विवेचन में अरिस्तू की दृष्टि विशेषतया भूमि के स्वामित्व और उपयोग पर ही केन्द्रित रही है।

इस सम्बन्ध में अरिस्तू इस धारणा को लेकर चला प्रतीत होता है कि प्लातोन की व्यवस्था में भूमि पर सबका समान अधिकार है। पर आदर्श नगर-व्यवस्था में ऐसा कहीं नहीं कहा गया है। प्लातोन के मत में भूमि के स्वामी तो कृषक ही हैं। भूमि के उत्पादन के भी स्वामी वही हैं। पर वे नगर-राष्ट्र के संरक्षकों को उनकी सेवाओं के

बदले में कर-स्वरूप अपने खेतों की उपज का एक नियत भाग कर-स्वरूप देते हैं। यह कर एक भंडार में एकत्रित किया जाता है और संरक्षकों द्वारा इसका उपभोग समानाधिकार अथवा साम्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लातोन की आदर्श नगर-व्यवस्था का साम्यवाद बहुत सीमित है। भूमि का स्वामित्व और उसकी उपज का स्वामित्व व्यक्तियों को ही प्राप्त है। नगर-राष्ट्र की समग्र जनसंख्या का एक अल्प भाग—संरक्षक-वर्ग—उपभोग में समानाधिकार के सिद्धान्त का अनुसरण करता है। यह तो अन्ततोगत्वा अरिस्तू की अपनी ही श्रेष्ठ व्यवस्था का स्वरूप-सा प्रतीत होता है जिसमें स्वामित्व व्यक्तिगत है, उपयोग अथवा उपभोग सार्विक है।

६

प्लातोन के "नियम" नामक ग्रन्थ की आलोचना

(प्लातोन) की पश्चात्कालीन (अर्थात् अन्तिम) रचना 'नियम'[1] के विषय में भी वही, अथवा लगभग वही (पूर्वोक्त) आक्षेप लागू होते हैं; अतएव उसमें किस प्रकार के संविधान का वर्णन किया गया है, इसका थोड़ा परीक्षण कर लेना अधिक अच्छा होगा। क्योंकि सचमुच ही पॉलितेइया[2] (आदर्श नगर-व्यवस्था) नामक ग्रंथ में तो सॉक्रातेस ने सब मिलाकर थोड़ी सी ही बातों को निर्धारित किया था, जैसे कि स्त्रियों और बच्चों पर समानाधिकार, सम्पत्ति पर समानाधिकार एवं संविधान में (अधिकारों की) व्यवस्था (इत्यादि)। उसने नगर-निवासियों के समूह को दो भागों में बाँट दिया है—(१) कृषकों के वर्ग में तथा (२) योद्धाओं के वर्ग में। इस दूसरे वर्ग में से राष्ट्र के (मन्त्रि) पारिषदों और शासनाधिकारियों का—(संरक्षकों का) तीसरा वर्ग चुन लिया गया है। पर कृषकों और शिल्पकारोंवाले प्रथम वर्ग के विषय में सॉक्रातेस ने यह कुछ निर्णय नहीं किया है कि वे नगर के शासन-कार्य में कोई भाग लेंगे या नहीं अथवा वे शस्त्र धारण करेंगे एवं युद्ध में भाग लेंगे या नहीं। हाँ, यह उसका निश्चित विचार अवश्य है कि (सामान्य संरक्षक वर्ग की) स्त्रियों को (पुरुष-) रक्षकों के साथ युद्ध में भाग लेना चाहिये और उनकी शिक्षा में भी भागीदार होना चाहिये; इसके अतिरिक्त शेष संवाद (=ग्रंथ) मुख्य विषय से असंबद्ध विषयान्तरों

से और संरक्षकों की शिक्षा के विवेचनों से (जैसे कि कोई रक्षक व्यक्ति किस प्रकार बन सकता है) भरा हुआ है।

'नियम' नामक पुस्तक के अधिकांश का संबंध विधि अथवा क़ानूनों से है; संविधान या नगर-व्यवस्था के संबंध में तो थोड़ा ही कहा गया है। और यद्यपि वह इस शासन-पद्धति को वर्त्तमान नगरों की शासन-पद्धति के अधिक समान बनाने का इच्छुक है तथापि वह धीरे धीरे इस प्रस्तावित पद्धति को दूसरी अर्थात् आदर्श-पद्धति की ओर ही घुमाकर ले जाता है। स्त्रियों और सम्पत्ति पर सबके समानाधिकार को छोड़कर अन्य सब बातों में वह दोनों ही (अर्थात् आदर्श और यथार्थ) नगरों के लिये एक सी संस्थाओं का प्रबन्ध करता है। दोनों में एक ही प्रकार की शिक्षा होगी ; दोनों नगरों के निवासियों का जीवन आवश्यकीय (अर्थात् नीच समझे जानेवाले) कार्यों से मुक्त होगा ; तथा दोनों ही में सहभोज का भी एक समान प्रबन्ध होगा। अन्तर केवल इतना है कि इस पुस्तक में सहभोज की व्यवस्था में स्त्रियों को भी पुरुषों के साथ सम्मिलित कर लिया गया है तथा शस्त्र धारण करनेवाले योद्धाओं की संख्या जो "आदर्श नगर व्यवस्था" में १००० थी इसमें ५००० नियत की गई है।

सॉक्रातेस[३] के सभी संवाद सामान्य वस्तु नहीं हैं, उनमें साधारणता नहीं प्रत्युत कमनीयता, मौलिकता एवं गवेषणा की प्रवृत्ति पाई जाती है। पर सर्वत्र परिपूर्णता की उपलब्धि तो शायद कठिनता से ही हो सकती है। क्योंकि यदि हम उपर्युल्लिखित संख्या को ही लें, तो हमको यह बात नहीं भुला देनी चाहिये कि इस ५००० की विशाल संख्या को (जो कि उनकी स्त्रियों और अनुचरों के सहित कई गुना हो जायगी), निठल्ले पालने के लिये बाबिलोनिया के समान विशाल प्रदेश की अथवा उसी के समान अन्य किसी अपरिसीमित भूखंड की आवश्यकता होगी। यह सच है कि हम स्वेच्छया कल्पना करने में स्वतंत्र हैं पर निश्चय ही असम्भव की कल्पना करने की स्वतंत्रता हमको कदापि नहीं है।

इस ग्रंथ में कहा गया है कि नियम-निर्माता को नियम निर्धारण करने के लिये दो तथ्यों पर दृष्टि रखनी चाहिये---(१) देश (के विस्तार) पर और (२) जन-संख्या पर। पर यदि नगर का जीवन राजनीतिक[४] जीवन होना है (न कि आस-पास के देशों से कटा हुआ रहना है) तो नियम-निर्माता के लिये पास-पड़ोस के देशों पर दृष्टि रखना भी अच्छा होगा। उदाहरणार्थ किसी भी राष्ट्र को ऐसे सैन्य-साधन का ही उपयोग नहीं करना चाहिये जो उसके अपने प्रदेश के ही लिये उपयोगी हो, प्रत्युत

उसको ऐसे साधनों का भी उपयोग करना चाहिये जो अपने देश के वाहर भी काम आ सके।[५] चाहे इस (क्रियात्मक, लड़ाकू) प्रकार के जीवन का, व्यक्ति और नगर-समाज दोनों ही के लिये श्रेष्ठ होना स्वीकार न भी किया जाय तो भी (नगर-) निवासियों को नगर पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं की अपेक्षा पलायन करनेवाले शत्रुओं के प्रति कदापि कम भयोत्पादक नहीं होना चाहिये।

सम्पत्ति (और सैनिक तैयारी) की मात्रा पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है तथा क्या हम इसकी मात्रा का निर्णय किसी ऐसे प्रकार से नहीं कर सकते जो (सॉक्रातेम के) इस कथन से अधिक सुनिश्चित (अथवा स्पष्ट) होने के कारण पृथक् हो। (नौमस् में) उसने कहा है कि मनुष्य की सम्पत्ति की मात्रा इतनी होनी चाहिये जो संयत और संतुलित जीवन के लिये पर्याप्त हो। यह वात तो यही कहने के समान है कि सम्पत्ति की मात्रा भली भाँति जीवन व्यतीत करने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये। सामान्यता की दृष्टि से तो सचमुच ही यह कथन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक (या उदार) है। फिर यह भी संभव है कि संयमपूर्ण जीवन दारिद्र्यपूर्ण हो। पर इसकी अपेक्षा अधिक अच्छी (और स्पष्ट) परिभाषा यह होगी कि (प्रत्येक व्यक्ति के पास सम्पत्ति की इतनी मात्रा होनी चाहिये कि जो) संयतता और उदारता[६] से जीवन विताने के लिये पर्याप्त हो। यदि इन दोनों का—संयम और उदारता का—संवंध विच्छिन्न हो जाता है तो उदारता का विलासिता से तथा संयम का कष्टकर दारिद्र्य से गठवंधन हो जाता है। अतएव इन दोनों का संवंध वना रहना ही चाहिये क्योंकि यही वह सद्‌गुण हैं जो सम्पत्ति के उपयोग में वांछनीय हैं। मनुष्य सम्पत्ति का उपयोग दब्बूपन से अथवा साहस के साथ नहीं कर सकता परन्तु संयम और उदारता, दोनों ही की भावना के साथ वह उसका उपयोग कर सकता है। अतएव इन गुणों के व्यवहार के साथ सम्पत्ति का अनिवार्य (=अविभाज्य) संवंध है।

फिर यह भी एक वड़ी (असंगत और) अनोखी वात है कि वह भूसम्पत्ति को तो एक निश्चित संख्या के समान भागों में वाँटना चाहता है पर तदनुसार नगरों की संख्या को निश्चित रखने का प्रवंध नहीं करता।[७] वह वच्चों के प्रजनन को मर्यादित नहीं करता, उसका विचार है कि चाहे कुछ परिवारों में कितने ही वच्चे क्यों न उत्पन्न हों, अन्य परिवारों (=विवाहों) में उन (वच्चों) का अभाव होने से जनसंख्या पर्याप्त-रूपेण संतुलित हो जायगी, और वह यह आशा इसलिये करता है कि विद्यमान नगर-राष्ट्रों में यही होता प्रतीत होता है। पर जैसा कि अन्य विद्यमान नगर-राष्ट्रों में होता है

उसकी अपेक्षा 'नौमॉस' में प्रस्तावित राष्ट्र में कहीं अधिक सतर्कता के साथ जनसंख्या को स्थायी रखना पड़ेगा ; क्योंकि आजकल के विद्यमान राष्ट्रों में जनसंख्या चाहे कितनी ही क्यों न बढ़ जाय, सम्पत्ति स्वतंत्रता से उनके मध्य में बाँटी जा सकती है और इस प्रकार किसी को (सम्पत्ति का) अभाव नहीं रह सकता। पर 'नियम' में प्रस्तावित राष्ट्र में सम्पत्तियाँ अविभाज्य मानी गई हैं अतएव निर्धारित संख्या का अतिक्रमण करनेवाले मनुष्यों (=नागरिकों) को कुछ भी नहीं मिलेगा, चाहे उनकी संख्या कम हो चाहे अधिक। समझ में आनेवाली बात तो यह है कि सम्पत्ति को मर्यादित करने की भी अपेक्षा शिशु-प्रजनन को सीमित करना अधिक आवश्यक है, जिससे कि उसकी मात्रा एक विशिष्ट संख्या से अधिक न बढ़ सके। प्रजनन को सीमित करने में उत्पन्न हुए बच्चों के मरणावसरों और विवाहित दम्पतियों में वन्ध्यात्वजनित सन्तानाभाव के संयोगों की गणना को दृष्टि में रखते हुए प्रजनन की संख्या निर्धारित की जानी चाहिये। इस विषय की अवहेलना, जो कि हमारे बहुत से नगरों में पाई जाती है, नागरिकों में निर्धनता का अनिवार्य कारण है और निर्धनता विद्रोह और दुराचारों की सृष्टि करती है। कौरिन्थ-निवासी फैइदौन्[८] का (जो कि एक अत्यन्त प्राचीन स्मृतिकार है) विचार तो वास्तव में यह था कि कुटुम्बों को बँटे हुए भू-खण्डों की संख्या नागरिकों की संख्या के बराबर रहनी चाहिये, चाहे आरंभ में सब नागरिकों के खंड भले ही असमान रहे हों। पर (प्लातोन के) 'नियम' नामक ग्रंथ में इससे उलटा सिद्धान्त माना गया है।

पर इस विषय में किस प्रकार सुधार किया जा सकता है इसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा।[९] यहाँ पर तो हमको 'नियम' नामक रचना की एक और त्रुटि का विचार करना है जो शासकों से संबंध रखती है क्योंकि यह नहीं बतलाया गया है कि शासक शासितों से किस प्रकार भिन्न होते हैं। उसका कहना है कि जिस प्रकार ताना बाने से भिन्न प्रकार की ऊन का होना चाहिये इसी प्रकार शासक और शासित भी (परस्पर शिक्षा इत्यादि में) भिन्न होने चाहिये। वह यह अनुमति तो देता है कि किसी भी मनुष्य की सब सम्पत्ति बढ़कर पाँचगुनी हो जानी चाहिये, पर यह नहीं बतलाता कि उसकी भू-सम्पत्ति भी उतनी ही मात्रा में क्यों नहीं बढ़ जानी चाहिये। (फिर) गृहों का वितरण भी ऐसा विषय है जिसपर और अधिक विचार करने की आवश्यकता है, प्लातोन की गृह-वितरण की पद्धति गृह-प्रबंध की क्षमता बढ़ानेवाली नहीं है। वह प्रत्येक नागरिक को पृथक् पृथक् स्थानों पर स्थित दो घर प्रदान करता है ; स्पष्ट है कि (क्षमतापूर्वक) दो घरों में निवास करना कठिन है।[१०]

(यदि 'नियम' नामक ग्रंथ में वर्णित शासन-पद्धति पर विचार करें तो) समग्र शासन-व्यवस्था न तो जनतंत्रकी ओर झुकती प्रतीत होती है और न अल्पजन (= धनिक-जन)-तंत्र की ओर, प्रत्युत इन दोनों की मध्यवर्तिनी जैसी है जो कि पौलितेइया[११] (वैधतंत्र) कहलाती है, क्योंकि यह भारी शस्त्रों को धारण करनेवाले सैनिकों से संघटित होती है। यदि इस संविधान के प्रतिपादन में ग्रंथकार का उद्देश्य यह रहा हो कि यह संविधान (नगर-) राष्ट्रों द्वारा अत्यधिक शीघ्रता से ग्रहण किये जाने के योग्य है तब तो स्यात् उसने ठीक ही किया है; पर यदि वह इस ('नियम' नामक ग्रंथ में वर्णित) व्यवस्था को अपनी ('आदर्श नगर-व्यवस्था' नामक ग्रंथ में) पूर्ववर्णित आदर्श व्यवस्था के समीपतम पहुँचनेवाली समझता हो तो उसका यह विचार ठीक नहीं है[१२]; क्योंकि बहुत से व्यक्ति लाकैदायमौन (स्पार्टा) की शासनपद्धति अथवा उससे अधिक अभिजात तंत्र को ('नियम') नामक ग्रंथ में वर्णित शासन की अपेक्षा) अधिक वरेण्य समझ सकते हैं। कुछ लोग तो सचमुच यह कहते हैं कि श्रेष्ठ शासन-पद्धति तो आजकल उपलब्ध होनेवाली सब शासन व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण होनी चाहिये ; इसी कारण वे लोग लाकैदायमौन् (स्पार्टा) की शासन-पद्धति[१३] की प्रशंसा करते हैं। इस शासन-पद्धति का निर्माण धनिक (अथवा अल्प-) जनतंत्र,एकराट्तंत्र तथा जनतंत्र इन तीनों ही पद्धतियों के तत्त्वों से हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि (दो) राजा एकराट्तंत्र के प्रतिनिधि हैं, स्थविरमण्डली धनिक (अथवा अल्प-) जनतंत्र की स्थानापन्न है और एफौरौस जनतंत्र-पद्धति के प्रतिनिधि हैं, क्योंकि इन एफौरौस नामक अध्यक्षों का चुनाव साधारण जनता में से किया जाता है। अन्य लोगों के मन में यह अध्यक्ष-पद्धति तानाशाही का प्रकार है, एवं इनको लोकतंत्र के दर्शन वहाँ के सम्मिलित भोजों एवं अन्य दैनिक जीवन की प्रवृत्तियों में होते हैं। 'नियम' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि श्रेष्ठ शासन-पद्धति जनतंत्र और तानाशाही (के तत्त्वों) से घटित होनी चाहिये— जो दोनों पद्धतियाँ या तो बिलकुल ही विधानरूप नहीं हैं अथवा यदि हैं तो सबसे निकृष्ट शासन-विधान हैं। पर वे लोग जो (उपर्युक्त दो पद्धतियों की अपेक्षा) अधिक पद्धतियों के मिश्रण[१४] की बात कहते हैं फिर भी अधिक अच्छी बात कहते हैं, क्योंकि वह राष्ट्र-व्यवस्था जो अपेक्षाकृत बहुसंख्यक पद्धतियों के तत्त्वों के मिश्रण से घटित होती है अन्य व्यवस्थाओं से अधिक अच्छी होती है। इसके अतिरिक्त इस 'नियम' नामक ग्रंथ में वर्णित व्यवस्था में राजतंत्रात्मक तत्त्व तो नाम को भी नहीं है ; केवल धनिक-तंत्रात्मक और लोकतंत्रात्मक तत्त्व हैं जो कि धनिकतंत्रात्मकता की ओर झुकते हुए हैं।[१५] यह तथ्य शासकों की नियुक्ति की पद्धति में स्पष्टतया प्रकट हो जाता है।[१६]

क्योंकि यद्यपि गुटिका द्वारा पहले ही से चुने हुए लोगों में से उनकी नियुक्ति में दोनों (धनिकतंत्र और जनतंत्र के) तत्त्वों का समावेश रहता है[१७] तथापि एक तो धनिक लोग जिस प्रकार नियमों के द्वारा परिषद् में उपस्थित होने, शासकों के पक्ष में मत देने अथवा अन्य राजनीतिक कर्त्तव्य पालन करने के लिये वाधित किये जाते हैं, उस प्रकार अन्य लोग नहीं किये जाते ; उनको जो चाहें सो करने की छूट रहती है ; दूसरे यह चेष्टा की जाती है कि शासकों की अधिकांश संख्या धनिकवर्ग में से नियुक्त हो और सर्वोच्च अधिकारी अधिकतम आयवाले व्यक्तियों में से चुने जायँ। यह दोनों ही बातें धनिकतंत्र के लक्षण हैं। परिषद् के सदस्यों के चुनाव का ढंग भी धनिकतंत्रात्मक है। क्योंकि यद्यपि यह तो सत्य है कि चुनाव में भाग लेना सबके लिये अनिवार्य है, तथापि यह अनिवार्यता प्रथम श्रेणी में से कुछ लोगों के प्राथमिक चुनाव एवं द्वितीय श्रेणी में से प्रथम श्रेणी से चुने गये व्यक्तियों की संख्या के बराबर व्यक्तियों के चुनाव पर्यन्त लागू होती है। पर जब तीसरी और चौथी श्रेणी में से सदस्यों के चुनने का अवसर आता है तो यह अनिवार्यता लागू नहीं रहती ; सच तो यह है कि चौथी श्रेणी में जब प्राथमिक चुनाव होता है तो केवल प्रथम और द्वितीय श्रेणी के घटक ही मत देने के लिये वाधित होते हैं। इस प्राथमिक चुनाव के पश्चात्, उसका यह कहना है कि इस प्रकार चुने हुए लोगों में से प्रत्येक आय की श्रेणी के लिये समान संख्यक सदस्य चुने जाने चाहिये। इस प्रकार जो अधिक आयवाले उच्च श्रेणी के लोग हैं उन्हीं को मताधिक्य प्राप्त हो जायगा, क्योंकि निचली श्रेणी के बहुत से साधारण जन तो, वाध्य न किये जाने पर, मत देंगे ही नहीं। अतः इन उपर्युक्त विचारों से तथा, उन अन्य विचारों से जो आगे चलकर ऐसे ही विधानों का परीक्षण करते समय प्रस्तुत किये जायँगे, यह स्पष्ट हो गया कि (प्लातोन का बतलाया हुआ) विधान जनतंत्र और एकराट्तंत्र का सम्मिश्रण नहीं होगा।

जो लोग स्वयं चुने हुए हैं उनमें से शासकों को चुनने में एक खतरा भी है। यदि थोड़े से लोग मिलकर एक गुट बना लें तो फिर चुनाव उनकी इच्छा के अनुसार चलेंगे। 'नियम' नामक ग्रंथ में जिस नगर-व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसके विषय में यही (उपर्युक्त) विचार-विमर्श (उत्पन्न होते) हैं।

टिप्पणियाँ

१. यूनानी भाषा में इसका नाम "नौमस्" है। यह प्लातोन की सबसे बड़ी और अन्तिम रचना है। इसमें संवाद के पात्रों में सॉक्रातेस नहीं है। इस ग्रंथ की शैली एवं

प्रतिपादित विषय दोनों में ही अत्यधिक गंभीरता का वातावरण लक्षित होता है। प्लातोन का दृष्टिकोण भी इस ग्रंथ में अधिक अनुदार और कठोर हो गया है। हिन्दी भाषा में इसको प्लातोन-स्मृति कह सकते हैं।

२. पॉलितेइया अथवा रिपब्लिक आकार में प्लातोन की रचनाओं से उपर्युक्त "नौमस्" कुछ छोटी और शेष रचनाओं से बड़ी है। शैली की उत्तमता एवं विचारों की स्पृहणीय उदारता की दृष्टि से यह पुस्तक प्लातोन की रचनाओं में ही नहीं विश्व-साहित्य में प्रायः बेजोड़ है। जैसा कि विदित ही है, इसका हिन्दी अनुवाद, "आदर्श नगर-व्यवस्था" के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

३. सॉक्रातेस का नाम 'नौमॅस्' के संबंध में नहीं लिया जाना चाहिये क्योंकि इस पुस्तक में वह संवाद का पात्र नहीं है। उसके स्थान पर 'अथेन्सनिवासी परदेसी अथवा अतिथि' संवाद का प्रमुख पात्र है। कुछ आलोचकों के मत में यह व्यक्ति सॉक्रातेस ही है पर क्योंकि उसका क्रेते द्वीप में जाना तथ्य-विरुद्ध है अतएव प्लातोन ने उसका नामोल्लेख स्पष्टतया नहीं किया है। टेलर के मत से यह व्यक्ति स्वयं प्लातोन जैसा है।

४. राजनीतिक जीवन से तात्पर्य ऐसे राष्ट्रीय जीवन से है जो अन्य देशों से भी सन्धि अथवा विग्रह का संबंध रखता है। इस प्रकार के जीवन के लिये अवश्यमेव ऐसे सैन्य-साधन का उपयोग अनिवार्य हो जाता है जो अपने देश में संरक्षण, और विदेश पर आक्रमण करने के लिये, दोनों के लिये उपयुक्त हो।

५. अरिस्तू चिन्तनमय जीवन को सर्वश्रेष्ठ मानता है, अतएव वह लड़ाकू जीवन को आदर्श जीवन मानने को तैयार नहीं है। तथापि वह जीवन की यथार्थता की ओर भी दृष्टि रखता है और भले प्रकार जानता है कि "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्त्तते"--अर्थात् शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्रचिन्ता का कार्य निर्विघ्न चल सकता है।

६. मूल में 'एल्यूथेरियोस्' क्रियाविशेषण का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है स्वतंत्रता से, अथवा धन-संबंधी तंगदस्ती से मुक्त रहते हुए।

७. यह कथन अनुचित है। 'नियम' के ७४० पृष्ठ पर प्लातोन ने स्पष्ट कहा है कि नगर के गृहों की संख्या ५०४० से अधिक कदापि नहीं बढ़ने दी जानी चाहिये। इसी स्थान पर उसने इस संख्या को ऐसा ही बनाये रखने के लिये अनेक प्रकार के सुझाव दिये हैं।

८. फेइदोन् का बनाया हुआ कानून नगर-निवासियों को बांटे गये भूखण्डों की असमानता की ओर ध्यान नहीं देता; उसका आग्रह यह है कि भूखण्डों की संख्या

और नागरिकों की संख्या बराबर रहनी चाहिये। प्लातोन का विधान भूखण्डों की समानता पर बल देता है, पर अरिस्तू समझता है कि वह नागरिकों की संख्य. को सीमित रखने का उपाय नहीं करता। इसके अतिरिक्त फैइदौन् नगरराष्ट्र में निर्धनों की सत्ता नहीं चाहता पर प्लातोन इस विषय में भी कुछ नहीं करता। हम ऊपर कह आये हैं कि संख्या-नियंत्रण के संबंध में अरिस्तू की आलोचना उचित नहीं है।

९. देखो आगे पुस्तक ७ अध्याय १० और १६।

१०. संभवतया प्लातोन दो स्थानों (गृहों) का समर्थन विवाहित पुत्र की आवश्यकता को दृष्टिमें रखकर करता है। अन्ततोगत्वा अरिस्तूने भी अपने आदर्श नगरकी व्यवस्था में नागरिकों को दो भूखण्ड देने का प्रस्ताव किया है। अरिस्तू के मत में विवाह की आदर्श अवस्था पुरुष के पक्ष में ३७ और स्त्री के पक्ष में १८ वर्ष है। अतएव पुत्र के विवाह की अवस्था को प्राप्त होने तक पिता के जीवित रहने की संभावना भी थोड़ी ही रह जाती है। इस विषय में आगे चलकर पुस्तक ७ में अरिस्तू की आदर्श व्यवस्था का प्रकरण द्रष्टव्य है।

११. पौलितेइया अथवा पौलिते नामवाली शासन-पद्धति का वर्णन इसी ग्रंथ की चतुर्थ पुस्तक में किया गया है। अरिस्तू ने इसको साधारण राष्ट्रों के लिये श्रेष्ठ शासन-पद्धति बतलाया है और स्पार्टा की शासनप्रणाली को इसके उदाहरण के रूप में वर्णन किया है। पर यहाँ पर उसने "नियम" की आलोचना करने के लिये एक दूसरी ही युक्ति का आश्रय लिया है। पौलितेइया लोकतंत्र और धनिकतंत्र की पद्धतियों की मध्यवर्तिनी शासन-व्यवस्था है। मूल पुस्तक में धनिकतंत्र के लिए औलिगार्खिया शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अल्पजनों का शासन है। अल्पजन से तात्पर्य अल्पसंख्यक धनिकों से है। लोकतंत्रके लिए डेमौक्रातिया शब्द व्यवहार में आता है जिसका अर्थ है साधारण जनों की शक्ति (अथवा शासन)। पौलितेइया का शाब्दिक अर्थ पौर लोगों का शासन है जिसमें धनी और साधारण जन सभी को शासनसत्ता प्राप्त होती है।

१२. अरिस्तू हाथ धोकर अपने गुरु के पीछे पड़ गया प्रतीत होता है। अन्यथा प्लातोन ने स्वयं कहा है कि 'नियम' नामक ग्रंथ में वह मध्यम कोटि की शासन-पद्धति का वर्णन कर रहा है। रिपब्लिक (आदर्श नगर-व्यवस्था) में प्लातोन ने आदर्श शासन-प्रणाली का वर्णन किया था। वह ग्रंथ उस समय की रचना थी जब प्लातोन का आदर्शवाद अपनी पूर्ण प्रखरता को पहुँचा हुआ था। 'नियम' नामक पुस्तक उसकी अन्तिम रचना है जिसमें उसने 'आदर्श' की अप्राप्यता को स्वीकार कर व्यवहार की मध्यम स्थिति को स्वीकार कर लिया है। उसने आदर्श, द्वितीय और तृतीय इस प्रकार तीन विचारणीय शासन-पद्धतियाँ मानी हैं जिनमें से आदर्श "बुद्धिग्राह्य किन्तु

अतीन्द्रिय' होने के कारण अलभ्य है, तृतीय निकृष्ट होने के कारण त्याज्य है। केवल मध्यम ही व्यवहार्य और ग्राह्य दोनों है। प्लातोन ने आदर्श के प्रकाश में इस मध्यम कोटि की शासन-पद्धति का वर्णन अन्तिम रचना में किया है। यदि हम इन तथ्यों को दृष्टि में रखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अरिस्तू की प्रस्तुत आलोचना निरर्थक है।

१३. लार्कैदायमौन अथवा स्पार्टा की शासन-पद्धति के विवरण के लिये इसी ग्रंथ की द्वितीय पुस्तक का ९वाँ अध्याय देखिये।

१४. यों तो स्वयं अरिस्तू ने पौलितेइया को केवल दो प्रकार की शासन-पद्धतियों का मिश्रण कहा है और उसी को श्रेष्ठ-संभव माना है पर उसने यह भी स्वीकार किया है कि शासन-पद्धति में अधिकाधिक प्रणालियों का सम्मिश्रण अधिक श्रेयस्कर है। संभवतया यह अरिस्तू की यथार्थवादी व्यावहारिक बुद्धि का श्रेष्ठ उपदेश है। राजनीति के विभिन्न एकाङ्गी सिद्धान्त दार्शनिकों के विवेचन के विषय भले ही बना करें, पर वास्तविक व्यवहार में शासकों को समय की आवश्यकता के अनुसार सभी प्रणालियों का मिश्रण करना पड़ता है---यह एक कठोर सत्य है।

१५. 'नियम' कोशासन-पद्धति को स्पार्टा की शासन-पद्धति से इसलिये घटकर वतलाया गया है कि स्पार्टा की पद्धति में (१) एकराट्तंत्र (मौनार्खिया) (२) अल्प-जन तंत्र (औलिगार्खिया) और लोकतंत्र (देमौक्रातिया) इन तीन प्रणालियों के तत्त्वों का मिश्रण है; पर 'नियम' में वर्णित प्रणाली में केवल (१) तानाशाही (तिरान्नी-दौस्) और लोकतंत्र के तत्त्वों का ही मिश्रण है।

१६. 'नियम' नामक ग्रंथ में प्लातोन ने नागरिकों को उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार चार श्रेणियों में विभक्त किया है; प्रथम श्रेणी के नागरिक सबसे अधिक धनवान् और चतुर्थ श्रेणी के सबसे कम धनवाले बतलाये गये हैं। प्रथम श्रेणी से लेकर चतुर्थ श्रेणी तक के नागरिकों की सम्पत्ति का अनुपात उनकी श्रेणी की संख्या के अनुसार ४:३:२:१ होना चाहिये। इस अनुपात में परिवर्त्तन होने पर नागरिक की श्रेणी में भी परिवर्त्तन हो जाना चाहिये। पर यदि प्रथम श्रेणी के नागरिक की सम्पत्ति बढ़ जाए तो उसका कर्तव्य है कि वह बढ़ी हुई सम्पत्ति को राष्ट्र और देवताओं को अर्पित कर दे। यदि वह ऐसा न करे तो उसको दण्डित होना पड़ेगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ में प्लातोन ने अत्यधिक धनवत्ता और नितान्त निर्धनता दोनों को ही दूर रखने का आदेश किया है।

१७. 'नियम' नामक ग्रंथ में शासकों के चुनाव की पद्धति का स्वरूप यह है कि प्रथम तो प्रत्येक श्रेणी में से ३६० प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये। चारों श्रेणियों के चुनाव में चार दिन लगने चाहिये। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के प्रतिनिधियों के चुनाव में सभी

श्रेणियों को मतदान देना अनिवार्य है; ऐसा न करने पर नागरिक को दण्ड दिया जाना चाहिये। तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रथम तीन श्रेणियों के नागरिकों को अनिवार्यतया मत देने का विधान किया गया है। चौथी श्रेणी के प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रथम दो श्रेणियों के नागरिकों के लिए मत देना अनिवार्य होगा पर शेष दो श्रेणियों के नागरिकों का मतदान ऐच्छिक होगा। इस प्रकार चुनाव का प्रथम दौर समाप्त होगा। इसको प्रोक्रिसिस् (प्रारंभिक अथवा प्राथमिक चुनाव) कहा गया है। इसके पश्चात् चुनाव का दूसरा दौर चलता है जिसको हैरेसिस् नाम दिया गया है। इस बार सब नागरिकों के लिये मत देना अनिवार्य है। इस दूसरे चुनाव के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधियों की संख्या को घटाकर १८० कर दिया जाना चाहिये। तीसरे चुनाव का नाम क्लेरोसिस् है। इसमें गुप्त मतदान के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधियों की संख्या घटाकर ९० कर देने का विधान है। इस प्रकार अन्त में नगर का शासन करनेवाली परिषद् (बूले) बननी चाहिये जिसके सदस्यों की संख्या ३६० हो। इनमें से ३० व्यक्ति प्रतिमास शासन-कार्य चलाने के लिये नियुक्त किये जायँ। समग्र परिषद् का कार्यकाल १ वर्ष है। इस उपर्युक्त चुनाव के अतिरिक्त प्लातोन ने अन्य चुनावों का भी उल्लेख 'नियम' में किया है पर क्योंकि उनका प्रस्तुत प्रसंग से कोई संबंध नहीं है अतएव उनका वर्णन करना अनावश्यक है।

इस चुनाव में एक सप्ताह लग सकता है, अतएव अपेक्षाकृत निर्धन लोगों को केवल थोड़े ही चुनावों के लिये बाध्य किया गया है ताकि शेष दिनों में वह अपने जीविकोपार्जन में लगे रहें। सभी आलोचकों ने इस पद्धति को 'अति' का वर्जन करनेवाली पद्धति कहा है पर कुछ सीमा तक अरिस्तू की आलोचना इस पर लागू होती ही है। स्वयं प्लातोन ने इस पद्धति से निर्मित होनेवाली व्यवस्था को एकराट्तंत्र और लोकतंत्र की मध्यवर्त्तिनी व्यवस्था कहा है। उपर्युक्त चुनाव-विधियों में से प्रथम (प्रोक्रिसिस्) और तृतीय (क्लेरोसिस्) का प्रचलन ई० पू० ५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अथेन्स में था।

७

फ़ालेयास् की व्यवस्था की आलोचना

उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ और व्यवस्थाएँ भी हैं जो साधारण (अविशेषज्ञ) व्यक्तियों अथवा दार्शनिकों या राजनीतिज्ञों के द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। यह सभी (प्लातोन द्वारा प्रस्तुत) इन दोनों ('रिपब्लिक' और 'नियम' में वर्णित)

नगर-व्यवस्थाओं की अपेक्षा 'वास्तव में' स्थापित और आजकल भी लोक-शासन में लगी हुई व्यवस्थाओं के अधिक समीप हैं[१]। अन्य किसी भी व्यक्ति ने ऐसी अनोखी नवीनताओं का प्रस्ताव नहीं किया जैसी प्लातोन की बच्चों और स्त्रियों पर समानाधिकार, अथवा स्त्रियों के लिये सम्मिलित सार्वजनिक भोजन-संबंधी नवीनताएँ हैं; इसके विपरीत अन्य नियम-निर्माताओं ने तो जीवन की परम आवश्यकताओं से अपने विवेचन का श्रीगणेश किया है। कुछ लोगों का विचार है कि सम्पत्ति की ठीक-ठीक व्यवस्था करना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि यही एक ऐसा विषय है जिससे सर्वदा सब क्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ख़ाल्कैदौन्[२]-निवासी फालेयास् ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने (नगर-कलह को रोकने के लिये) इस तथ्य को सुझाया और इसलिये उसने यह प्रस्ताव किया कि सब नागरिकों की (भू-) सम्पत्ति[३] एक बराबर होनी चाहिये। उसका विचार था कि सम्पत्ति का समीकरण नवीन उपनिवेशों में तो उनके प्रारम्भिक निर्माण के समय बिना कठिनाई के सिद्ध हो सकता है; पर भली भाँति स्थापित राष्ट्रों में यह कार्य उतना सरल नहीं है। पर यहाँ भी इस वांछित लक्ष्य की सिद्धि का उपाय है, धनिकों के लिये विवाहयौतुक में भूसम्पत्ति को देना और ग्रहण न करना तथा निर्धनों के लिये विवाह में भूसम्पत्ति को यौतुक में ग्रहण करना और देना नहीं।

'नियम' नामक ग्रंथ को लिखते समय प्लातोन ने यह सम्मति प्रकट की है कि (नागरिकों को) कुछ सीमा तक धन-संचय करने की छूट होनी चाहिये; और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, उसने किसी भी नागरिक को अल्पतम आर्थिक योग्यता के पाँचगुने से अधिक सम्पत्ति पर अधिकार रखने का निषेध किया है। परन्तु जो इस प्रकार के नियम बनानेवाले हैं उनको यह बात, जिसको वह प्रायः भूल जाते हैं, कभी नहीं भुलानी चाहिये कि जो व्यवस्थाकार सम्पत्ति की मात्रा के विषय में नियम निर्धारित करता है उसको परिवार में बच्चों की संख्या को भी नियमित कर देना चाहिये; क्योंकि यदि बच्चों की संख्या सम्पत्ति की पोषण-क्षमता से अधिक बढ़ जाय तो वह अवश्य ही नियम को शिथिल कर देगी। एवं नियम के शिथिल होने के अतिरिक्त यह भी एक बुरी बात होगी कि बहुत लोग धनवान् होने के स्थान पर निर्धन हो जायँगे तथा इस प्रकार के मनुष्यों के लिये क्रान्तिकारी न बनना एक कठिन कार्य होता है। सम्पत्ति के समीकरण का सिद्धान्त नागरिक समाज के स्वरूप पर प्रभाव डालता है, यह तथ्य कुछ प्राचीन काल के व्यवस्थाकार भी स्पष्टतया जानते थे। उदाहरण के लिये सोलोन्[४] ने (अथेन्स में) तथा (अन्य व्यवस्थाकारों ने अन्य राष्ट्रों में) ऐसे नियम बनाये थे जिनमें व्यक्तियों के लिये मनमानी मात्रा में भूमि पर अधिकार करने का

निषेध था। इसी प्रकार (कुछ नगरों में) ऐसे नियम भी पाये जाते हैं जो सम्पत्ति के विक्रय का प्रतिरोध करते हैं ; जैसे कि लोक्रिस्[५]–निवासियों में एक कानून यह है कि मनुष्य अपनी सम्पत्ति का विक्रय तब तक नहीं कर सकते जब तक स्पष्टतया यह सिद्ध न कर दें कि उनके ऊपर विपदा आ पड़ी है। फिर कुछ नियम ऐसे भी पाये जाते हैं जो आदिम भूखंडों[६] (भूसम्पत्ति) के रक्षण काआदेश करते हैं। उदाहरण-स्वरूप ल्यूकास्[७] नामक द्वीप में इस प्रकार के नियम के शिथिल हो जाने पर शासन-व्यवस्था अत्यधिक लोकतंत्रात्मक हो गई थी ; आदिम भूमिभागों का विभाजन हो जाने के परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति पदारूढ़ होने लगे जिनके पास विधिविहित आर्थिक योग्यता का अभाव था। पर (यह सब युक्तियाँ होते हुए) यह भी तो संभव है कि सम्पत्ति की समानता होने पर भी या तो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त सम्पत्ति की मात्रा अत्यधिक हो सकती है जिससे उसका जीवन विलासितामय बन जाय, या अत्यल्प जिससे जीवन दारिद्रचपूर्ण हो जाए। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यवस्थाकार के लिये सम्पत्ति-समीकरण के नियम की स्थापना करने का ही प्रयत्न पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह समीकरण के साथ सम्पत्ति की मात्रा को मध्य कोटि की बनाये रखने को अपना लक्ष्य बनाये। तथापि यदि इस मध्यममात्रा की व्यवस्था भी सबके लिये समान रूप से कर दी जाए तो भी कोई लाभ नहीं होगा। कारण यह है कि मनुष्यों की सम्पत्तियों के समीकरण की अपेक्षा उनकी इच्छाओं का समीकरण अधिक आवश्यक है, और ऐसा होना तब तक संभव नहीं जब तक कि नियमों के अनुसार मनुष्यों की पर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध न हो।[८] पर स्यात् फालेयास् इसके उत्तर में यह कहेगा कि मेरे कथन का तात्पर्य भी तो ठीक यही था ; नगरों में दोनों ही की समानता की उपलब्धि होनी चाहिये, सम्पत्ति की भी और शिक्षा की भी। यदि ऐसी बात है तो यह बतलाया जाना चाहिये कि शिक्षा का स्वरूप क्या होगा। शिक्षा तो केवल सबके लिये एक और एक-समान होने से ही वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। कारण यह है कि शिक्षा के सबके लिये एक और एक समान होने की संभावना के साथ ही साथ उसका स्वरूप ऐसा होना भी तो संभव है कि वह मनुष्य को रुपये पैसे अथवा पदाधिकार अथवा दोनों का लोलुप बनने की ओर प्रवृत्त कर दे। विप्लव केवल धन-सम्पत्ति की असमानता के ही कारण उत्पन्न नहीं होते, सम्मान (अर्थात् पदाधिकार) की असमानता के कारण भी होते हैं। यद्यपि दोनों अवस्थाओं में ऐसा विपरीत प्रकार से होता है। बहुसंख्यक साधारण जनता सम्पत्ति के असमान विभाजन के कारण (क्रान्तिकारी हो जाती है) पर शिक्षा पाये हुए व्यक्ति सम्मान (पदों) की समानता

के कारण कलह खड़ी करते हैं ।[९] (होमर की) निम्नलिखित पंक्ति का भाव यही है—

"आदर में बुरे और भले हुए सम भाग"।

केवल आवश्यकताओं के अभाव में ही मनुष्य अपराधी (अन्यायी) नहीं बन जाते । (पर ऐसे अपराध भी होते हैं जिनकी ओर मानव की प्रवृत्ति अभाववश ही हुआ करती है) इसके लिये फालेयास् ने सम्पत्ति की समानता का उपाय नियम के रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे मनुष्य केवल शीत और भूख के कारण चोरी करने में प्रवृत्त न हो । पर अपराधों का कारण केवल अभाव नहीं है प्रत्युत कभी कभी तो मनुष्य अपराध से होनेवाले आनन्द के कारण ही उसको किया करते हैं और कभी अतृप्त इच्छा से छुटकारा पाने के लिये भी । क्योंकि ऐसा हो सकता है कि मनुष्य की कोई इच्छा साधारण आवश्यकताओं का अतिक्रमण करनेवाली हो तब तो उसका उपचार करने के लिये वे अपराध करेंगे । पर नहीं (अपराध करने का) यही कारण नहीं है, कभी कभी वे स्वयं कामना कर सकते हैं जिससे वे पीड़ा-रहित आनन्द का उपभोग कर सकें ।[१०]

इन तीनों प्रकार के अपराधों का इलाज क्या है ? प्रथम का इलाज है थोड़ी मात्रा में पैसा पास होना और थोड़ी मात्रा में काम (परिश्रम) करना । दूसरे का इलाज है संयमशील प्रकृति । अब रहा तीसरा, सो यदि किन्हीं को ऐसे सुखों की इच्छा है जो आत्मनिर्भर होते हैं तो उनको अपनी इच्छा की पूर्त्ति की खोज दर्शनशास्त्र को छोड़कर अन्यत्र नहीं करनी चाहिये ; क्योंकि अन्य सब सुखों के लिये हमको दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है ।[११] अतएव फालेयास् ने जिन उपायों को बतलाया है उनसे भिन्न उपायों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है क्योंकि बड़े से बड़ा अपराध अतिरिक्त इच्छाओं की पूर्त्ति (अथवा अतिरेक) के लिये होता है न कि आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये । उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति ठंड लग जाने से बचने के लिये तानाशाह नहीं बन जाता । इसीलिए महान् सम्मान चोर को मारनेवाले को नहीं, तानाशाह को मारनेवाले को मिलता है ।[१२] इस प्रकार हम देखते हैं कि फालेयास् की व्यवस्था-पद्धति केवल छोटे-मोटे अपराधों के ही विरुद्ध सहायक सिद्ध हो सकती है ।

उनके विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि फालेयास के यह नियम अधिकांश में नगर-राष्ट्र के अपने आन्तरिक कल्याण की दृष्टि से नियोजित किये गये हैं । परन्तु निकटवर्ती पड़ोसी राष्ट्रों और सब बहिर्वर्त्ती जनों के साथ राष्ट्र का क्या संबंध हो, इसका भी तो विचार किया जाना चाहिये । अतः राष्ट्र की संघटना अवश्यमेव सैन्य-बल को दृष्टि में रखते हुए होनी चाहिये ; और इस विषय में उसने कुछ भी नहीं कहा

है। ऐसी ही दशा धन-सम्पत्ति के विषय में भी है। पर किसी भी राष्ट्र में न केवल उसकी अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं के उपयोग के लिये, प्रत्युत बाहर से आनेवाले भयों का सामना करने के लिये भी पर्याप्त धन होना चाहिये। अतएव धन ऐसा और इतनी अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिये कि जिससे एक ओर तो अधिक बलवान् पड़ोसी (राष्ट्र) उससे ललचाने लगें और दूसरी ओर उस (धन) के स्वामी आक्रमणकारियों को खदेड़ने में समर्थ न रहें। साथ ही साथ (राष्ट्र का धन) इतना कम भी नहीं होना चाहिये कि जिससे वह अपने ही समान बल और लक्षण वाले अन्य राष्ट्र के साथ युद्ध चालू रखने में समर्थ न हो।[१३] फालेयास् ने इस विषय में कोई नियम निर्धारित नहीं किया है। पर हमको यह नहीं भुला देना चाहिये कि धन की प्रचुरता हितकर होती है। इस विषय में श्रेष्ठ कसौटी स्यात् यह है कि किसी राष्ट्र का धन इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि जिससे अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राष्ट्रों को उसके धनाधिक्य के कारण उससे लड़ाई करना लाभदायक जान पड़े, किन्तु वे उसके साथ युद्ध करने की इच्छा ऐसी परिस्थितियों में ही करें जिनमें उसकी सम्पत्ति प्रस्तुत से कम होने पर भी युद्ध करना अनिवार्य हो।[१४] इस विषय में एक ऐतिहासिक कथा है कि जब औतॉफ्रादातेस् अतार्नियस्[१५] पर घेरा डालनेवाला था तो इयुबुलस् ने (जो उस नगर का शासक था) उससे कहा कि पहले यह विचार कर देख लो कि इस गढ़ को हस्तगत करने में कितना समय लगेगा, और उतने समय में जितना व्यय होगा उसका हिसाब लगा लो। इसके पश्चात् उसने कहा कि मैं स्वयं तो इससे थोड़ा कम धन (मिल जाने पर) अतार्नियस् को छोड़ देने को तैयार हूँ। उसके इस कथन ने औतॉफ्रादातेस् को विचारमग्न कर दिया और वह नगरावरोध से विरत हो गया।

नगरवासियों की सम्पत्ति समान होने में एक लाभ यह है कि ऐसा होने पर वे लोग परस्पर एक दूसरे से झगड़ा नहीं करते, पर यह कोई बड़ा भारी लाभ नहीं है। क्योंकि शिक्षित (योग्य) व्यक्ति तो ऐसी व्यवस्था से रुष्ट हो जायँगे, कारण कि वे अपने को समानता की अपेक्षा अधिक पाने का पात्र मानते हैं। ऐसा देखा गया है कि इसी समानता के कारण वे लोग विद्रोह कर बैठते हैं और क्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। (ऐसा होना निश्चित सा ही है) क्योंकि मानव की क्षुद्र लोलुपता तो कभी तृप्त होना जानती ही नहीं ; एक समय था जब दो औबौल[१६] पर्याप्त वेतन (समझा जाता था,) अब जब इस वेतन की परम्परा बन गई है तो लोग और अधिक चाहने लगे हैं और उनकी इस चाह का कोई अन्त नहीं है। इच्छा का स्वभाव है कभी भी तृप्त न होना—अनन्त होना ; और अधिकांश मनुष्य (इसी) इच्छा को तृप्त करने के लिये ही जीते हैं।[१७]

अतः इस दिशा में सुधार का आरम्भ सम्पत्ति को एक समान करने की अपेक्षा उत्तम प्रकार के स्वभाववाले मनुष्यों को अधिक की कामना न करने के लिये शिक्षित करना और निकृष्ट स्वभाववालों को अधिक प्राप्त न करने देना है। अर्थात्, निकृष्ट स्वभाव वाले मनुष्यों को दमन करके रखना चाहिये परन्तु उनके साथ अनुचित (अन्यायपूर्ण) व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त फालेयाम् द्वारा प्रस्तावित सम्पत्ति का समीकरण कुछ बहुत अच्छा (पूर्ण) भी नहीं है। वह तो केवल भूमि (क्षेत्र) की सम्पत्ति को ही बराबर करने को कहता है ; पर सम्पत्ति तो दासों, पशुओं, रुपये-पैसे और उन सब वस्तुओं की अधिकता के रूप में भी हो सकती है जो (किसी व्यक्ति की) चल सम्पत्ति कही जाती है। अतः उचित यह होगा कि या तो इन वस्तुओं का भी समान विभाजन कर दिया जाय अथवा उनकी सामान्य मर्यादा बाँध दी जाय या फिर उनको जैसा का तैसा ही रहने दिया जाय। फालेयास् द्वारा प्रस्तावित नियमों से यह भी स्पष्ट प्रकट है कि वह बहुत थोड़े से नागरिकों के लिये नियमों का विधान कर रहा है, क्योंकि उसकी व्यवस्था के अनुसार सब शिल्पकार सार्वजनिक दास होंगे और उनकी संख्या नागरिक जनों की संख्या में नहीं जोड़ी जायगी। ऐसा हो सकता है कि दासों का एक वर्ग, जो कि सार्वजनिक सम्पत्ति पर काम में लगा हो, सार्वजनिक दास बना रहे। यदि ऐसा हो तो यह उसी प्रकार होना चाहिये जैसा कि एपीदामनस् में होता है अथवा उस योजना के अनुसार होना चाहिये जिसको दियौफान्तस् ने अथेन्स में लागू करना चाहा था।[१८]

फालेयास् के द्वारा प्रस्तावित नगर-व्यवस्था के विषय में व्यक्त किये गये उपर्युक्त विचारों से कोई भी व्यक्ति यह निर्णय कर सकता है कि वह अपने विचारों में ठीक था या नहीं।

टिप्पणियाँ

१. प्लातोन की व्यवस्थाएँ आदर्श-नगर की स्थापना से संबंध रखनेवाली थीं। वैसी व्यवस्थाएँ किसी प्राचीन वास्तविक नगर, अथवा आधुनिक (अरिस्तू के समकालीन) नगर में उपलब्ध नहीं होती थीं। अतएव अब अरिस्तू उन व्यवस्थाओं की आलोचना आरंभ करता है जो वास्तविकता से संबंध रखती हैं।

२. खाल्केदोंन नगर बॉस्फोरस के एशियावाले तट पर स्थित था। फालेयास् यद्यपि कुछ समय तक प्लातोन का समकालीन था तथापि उसका जन्म प्लातोन से पहले हुआ था।

३. सम्पत्ति के लिये मूल में दो शब्दों का प्रयोग हुआ है--(१) क्तेसिस् और (२) ऊशिया। इनमें से प्रथम का अर्थ भू-सम्पत्ति है और दूसरे का 'सर्वस्व' अथवा 'स्व'। क्तेसिस् शब्द संस्कृत के 'क्षिति' का सजातीय प्रतीत होता है।

४. सौलोन् का समय लगभग ६४० ई० पू०--५५८ ई० पू० है। इसका जन्म अथेन्स के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था। यह कवि भी था और राजनीतिज्ञ भी था। अरिस्तू ने अथेन्स के संविधान में इसके सुधारों का विस्तृत वर्णन किया है।

५. लोक्रिस् प्रदेश अथेन्स के उत्तर और थेसालिया के दक्षिण में है।

६. मूल में भूखंड के लिये 'क्लेरौस' शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी भी नगर के बसाये जाने के समय (स्वतंत्र) नागरिकों को भूखंड बाँटे जाते थे। प्रत्येक का भाग 'क्लेरौस' कहलाता था।

७. ल्यूकास् नामक द्वीप अद्रियातिक सागर के दक्षिण में अखार्नानिया के तट के पश्चिम में स्थित था। यहाँ का नियम यह था कि जिन व्यक्तियों के पास अपना पूरा पैतृक भूखंड हो वही शासन में पदारूढ़ हो सकते थे। पर प्रजनन पर नियंत्रण न होने के कारण कालान्तर में नागरिकों में इस योग्यता का अभाव हो गया। परिणाम-स्वरूप जो व्यक्ति अपने आदिम भूखंड के एक अंश पर अधिकार रखते थे उनको भी पदारूढ़ किया जाने लगा।

८. यह दार्शनिक की भाषा है जिसकी दूरगामिनी बुद्धि आर्थिक समानाधिकार अथवा सार्वजनिक अधिकार को सामाजिक विषमताओं का इलाज मानने को तैयार नहीं है।

९. अर्थात् बहुसंख्यक साधारण जनता आर्थिक असमानता से असन्तुष्ट रहती है और योग्य व्यक्ति योग्यता की अवहेलना करनेवाली आर्थिक समानता से। अरिस्तू का अपना सिद्धान्त है योग्यतानुसार समानता जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। योग्यता की उपेक्षा करनेवाले समाजवादी को लक्ष्य करके किसी कवि ने कहा है--

"What is a socialist ? One who has yearnings
To share equal profits from unequal earnings.
Be he idler or bungler or both, he is willing
To fork out his sixpense and pocket your shilling".

१०. तीन प्रकार के अपराधों अथवा कुकर्मों का विवरण यह है-(१) अभावों की पूर्ति के लिये किये जानेवाले अपराध; (२) दुःखदायी इच्छाओं की पूर्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये किये जानेवाले अपराध; और (३) पीड़ारहित सुख की प्राप्ति के लिये अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह के निमित्त किये गये अपराध। (२) में

दुःखदायी इच्छा से तात्पर्य ऐसी इच्छा से है जो पूर्ण न होने तक मानव के मन को अशान्त बनाये रखती है। (३) में पीड़ा-रहित सुख या आनन्द से तात्पर्य उस मानसिक सन्तोष से है जिसका अनुभव मनुष्य इच्छा उत्पन्न होते ही तत्काल उसको पूर्ण करके करता है।

११. अरिस्तू के मत में सर्वोच्च जीवन दार्शनिक-चिन्तन का जीवन है क्योंकि इस प्रकार में मानव-स्वभाव स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्ति लाभ करता है।

१२. इस प्रकार का सम्मान अथेंस में हिप्पार्खस नामक तानाशाह की हत्या करनेवाले हार्मोदियस् और अरिस्तोगेइतान् नामक व्यक्तियों को मिला था। हिप्पियास और हिप्पार्खस् अथेन्स के तानाशाह पिसिस्त्रातस् के पुत्र थे। इनमें से छोटा भाई हिप्पार्खस् हार्मोदियस् से प्रेम करता था पर हार्मोदियस् ने उसके प्रेम का सम्मान नहीं किया। हिप्पार्खस् ने निराश होकर हार्मोदियस की बहिन का सार्वजनिक रूप में अपमान किया। हार्मोदियस् ने अपने मित्र अरिस्तोगेइतान् की सहायता से इस अपमान का प्रतीकार करने के लिये षड्यंत्र रचा। उन्होंने पानाथेनाएया नामक उत्सव में दोनों तानाशाहों पर आक्रमण किया, पर केवल हिप्पार्खस् की हत्या हो सकी; बड़ा भाई हिप्पियास जीवित बच गया। हिप्पार्खस् को तानाशाह के अंग-रक्षकों ने तत्काल काट डाला और अरिस्तोगेइतान् को आगे चलकर बहुत यंत्रणाएँ दी गईं जिनके परिणाम-स्वरूप उसका भी प्राणान्त हो गया। कुछ समय पश्चात् हिप्पियास का भी पतन हो गया। अथेन्स के निवासियों ने इस तानाशाही का अन्त करने का प्रयत्न करनेवाले हार्मोदियस् और अरिस्तोगेइतान् की मूर्त्तियाँ स्थापित कीं और उनके वंशधरों को अनेक करों से मुक्त कर दिया। हिप्पार्खस् की हत्या का समय लगभग ५१४ ई० पू० है।

१३. धन की अधिकता का एक परिणाम यह भी होता है कि मनुष्य में विलासिता की और धन के मोह की वृद्धि होती है जिसके कारण वह साहसपूर्वक शत्रुओं का सामना करने में असमर्थ हो जाता है।

१४. अर्थात् युद्ध का कारण धनाधिक्य से उत्पन्न हुए प्रलोभन के अतिरिक्त कुछ और होना चाहिये।

१५. अतार्नियस् लघुएशिया के पश्चिम तट पर स्थित एक नगर था। शेष कथा स्वयं स्पष्ट है। अरिस्तू को नगर-राष्ट्रों की वैदेशिक नीति और रक्षा की बहुत चिन्ता थी। वह इस विषय को राजनीति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंगमानता था।

अतार्नियस् और औसस् नामक नगरों से अरिस्तू का अपना व्यक्तिगत संबंध भी रहा था। वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ३४७ ई० पू० के पश्चात् इयुब्रूलस् के उत्तराधिकारी हार्मियास् के यहाँ रहा था और उसने उसकी भतीजी के साथ विवाह भी किया था। इयुबूलस् ३५० ई० पू० के आसपास अतार्नियस् का शासक था।

१६. उत्सवों के समय अथेंस में ५वीं शताब्दी ई० पू० में यह नियम था कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रेक्षाङ्गण (थियेतर) में स्थान का किराया देने के लिये २ ओवल (अथेंस का एक सिक्का) प्रतिदिन दिये जाते थे।

१७. तुलना कीजिये "आसा तृस्न: ना मरी कह गये दास कबीर।"

१८. अरिस्तू सब शिल्पकारों को दासवर्ग में सम्मिलित करने का विरोधी था। दासों की गणना नागरिकों में नहीं होती थी और उनको किसी प्रकार मताधिकार भी प्राप्त नहीं था।

८

हिप्पोदामस् के विचारों की आलोचना

मिलैतस्-निवासी इयुरीफौन् का पुत्र हिप्पोदामस्,[१] जिसने नगर-निर्माण-योजना का आविष्कार किया था एवं पैइरियस्[२] का विन्यास किया था, एक अनोखा आदमी था। सम्मानप्रियता के कारण उसने विलक्षण जीवन-पद्धति को अपनाया था, जिसके कारण कुछ लोग उसको बनावटी दिखौआ करनेवाला समझते थे। उसके केश लम्बे और लहराते हुए थे जो खूब सजे-बजे रहते थे; उसका अँगरखा खूब लम्बा और ढीला-ढाला था जो यद्यपि सस्ते गर्म वस्त्र का बना था पर बहुमूल्य सज्जा से युक्त था, जिसको गर्मी और जाड़ों में वह समान रूप से धारण किये रहता था। समग्र प्रकृति के ज्ञान में आप्त होने की आकांक्षा रखने के साथ ही साथ राजकारण का अनुभव न रखनेवाला वह ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था के विषय में भी शोध की थी।

उसने जिस नगर के निर्माण की योजना[३] प्रस्तुत की थी उसकी जनसंख्या १०,००० थी जो तीन भागों में विभक्त थी। इनमें से एक भाग शिल्पियों का, दूसरा कृषकों तथा तीसरा शस्त्रधारी नगर-रक्षक योद्धाओं का था। भूमि का भी इसी प्रकार तीन भागों में विभाजन किया गया था—एक भाग धार्मिक, दूसरा सार्वजनिक और तीसरा व्यक्तिगत। जिससे नगर-देवताओं की परम्परागत नियमित पूजा चलती रहे वह प्रथम भाग धार्मिक (भूभाग) कहलाता था; जिससे रक्षक दल का पोषण हो वह सार्वजनिक (भूभाग) था दूसरा; तथा तीसरा (भूभाग) कृषक वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति था। नियमों (कानूनों) को भी उसने केवल तीन भागों में ही बाँटा; क्योंकि उसका मत यह था कि जो विषय सब प्रकार से विवादों के मूल हैं उनकी संख्या तीन है—(१) उच्छृंखल अथवा उद्दण्डतापूर्ण आक्रमण, (२) हानि और (३) हत्या। इसी प्रकार

उसने एक ही सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का भी नियम बनाया, जिसके समक्ष वे सब वाद प्रस्तुत किये जाने चाहिये जिनका न्यायोचित निर्णय (छोटे न्यायालयों) में नहीं हुआ प्रतीत हो ; इस न्यायालय के न्यायाधीश इसी कार्य के लिये चुने हुए वृद्ध पुरुष होने चाहिये। इसके आगे उसकी यह भी सम्मति थी कि न्यायालय के निर्णय मतदानघट में गुटिका[४] डालने के द्वारा नहीं दिये जाने चाहिये प्रत्युत, इसके स्थान पर प्रत्येक न्यायाधीश के पास लिखने के लिये एक पटिया होनी चाहिये । यदि न्यायाधीश केवल दण्ड देने का निर्णय करे तो उसको पटिया पर वैसा लिख देना चाहिये, अथवा यदि वह बिलकुल मुक्त कर देने का निर्णय करे तो उसको पटिया को रिक्त छोड़ देना चाहिये और यदि वह मिश्रित निर्णय दे अर्थात् अंशतः दंड दे और अंशतः निर्दोष ठहराये तो उसको अपने निर्णय में इसी विभक्त विवेचन को प्रकट करना चाहिये । अपने समय के नियम (कानून) के विषय में उसने यह आक्षेप किया कि वर्तमान नियम इसलिए ठीक नहीं है कि (दुविधापूर्ण विवादों में) यह नियम प्रत्येक न्यायाधीश को, केवल दण्ड अथवा केवल मुक्ति का निर्णय देने के द्वारा अपनी न्याय करने की शपथ को भंग करने के लिये विवश करता है।[५] उसने एक यह नियम भी बनाया कि जो लोग नगर की भलाई के लिये कोई आविष्कार करें[६] तो उनको सम्मानित किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसने एक सुझाव यह भी प्रस्तुत किया कि युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए नागरिकों के बाल-बच्चों का भरण-पोषण सार्वजनिक व्यय से होना चाहिये ; मानो इस प्रकार का नियम पहले कहीं अन्यत्र बना ही न था । पर वास्तव में ऐसा नियम इस समय अथेन्स और अन्य नगरों में भी वर्तमान है । रही शासकों की नियुक्ति की समस्या, सो वह सब शासकों के[७] जनता के द्वारा, अर्थात् नागरिकों के उपर्युक्त तीनों वर्गों के द्वारा चुने जाने के पक्ष में था, एवं चुने हुए शासकों का कर्त्तव्य (उसके मत में) नागरिक जनता के, विदेशियों के और अनाथों के मामलों की देखरेख करना था । हिप्पोदामस् द्वारा प्रस्तावित नगर-व्यवस्था में यही सबसे मुख्य और ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बातें हैं ।

इनमें से प्रथम बात जिस पर आपत्ति की जा सकती है वह नागरिकों का तीन भागों में विभाजन है। शिल्पकारों, कृषकों और योद्धाओं इन सभी को नगर के शासन-कार्य में भाग प्राप्त है । पर कृषकों के पास हथियार नहीं होते और शिल्पकारों के पास न भूमि होती है और न हथियार अतः वे दोनों ही (शासन-कार्य में भागीदार होते हुए भी) शस्त्रधारी योद्धाओं के प्रायः दास तुल्य हो जाते हैं । अतएव यह तो असंभव बात है कि यह दोनों वर्ग सब पदों में भाग प्राप्त कर सकें, क्योंकि सेनाध्यक्ष,

नागरिकों के रक्षक (पुलिस विभाग के अधिकारी) एवं प्रमुख शासनाधिकारी तो अवश्यमेव शस्त्रधारी वर्ग के मध्य में से चुने जायँगे। पर जब इन दो वर्गों के नागरिकों को शासन-कार्य में कोई भाग प्राप्त नहीं होगा तो वे राष्ट्रभक्त (राष्ट्रप्रेमी) नागरिक कैसे हो सकेंगे ? यदि कहो कि शस्त्रधारियों के वर्ग को अन्य दो वर्गों पर आधिपत्य करना ही चाहिये तो भी ऐसा होना तब तक सरल नहीं होगा जब तक वे बहुसंख्यक न हों। और यदि शस्त्रधारी योद्धा बहुसंख्यक हों तो फिर अन्य वर्गों को शासन में भाग क्यों मिलना चाहिये अथवा शासकों को नियुक्त करने की शक्ति क्यों प्राप्त होनी चाहिये ? और फिर किसान लोग नगर के लिये किस काम आते हैं ? यह भी एक प्रश्न है। शिल्पकार तो अवश्यमेव होने ही चाहिये (वे सभी नगरों के लिये आवश्यक हैं) और वे लोग अपने शिल्प के सहारे अपनी जीविका चलाने की सामर्थ्य भी रखते हैं, जैसा कि वे अन्य नगरों में भी करते हैं। (पर कृषकों की स्थिति दूसरे प्रकार की है।) यदि वे शस्त्रधारी योद्धाओं के लिये वास्तव में भोजन उपलब्ध करें (तो नगर के नागरिकों के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग की आवश्यक सेवा करने के कारण) न्यायानुसार उनको भी शासन-कार्य में भाग मिल सकता है। पर (हिप्पोदामस् की उपर्युक्त व्यवस्था में तो) किसानों का भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार होता है और वे उस पर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए ही खेती-बाड़ी करते हैं। फिर जो कृषि-भूमि का वह भाग रहा जो सार्वजनिक सम्पत्ति है, तथा जिससे योद्धावर्ग के लोगों का भरण-पोषण होता है, वह भी एक कठिन समस्या है। यदि योद्धावर्ग के घटक स्वयं इस सार्वजनिक भूमि पर खेती बाड़ी करेंगे तो योद्धावर्ग और कृषक वर्ग में कोई ऐसा भेद नहीं रह जायगा जैसा हिप्पोदामस् को अभीष्ट था। और यदि इस सार्वजनिक भूमि पर खेती करनेवाला वर्ग, क्षेत्रपति कृषकों और योद्धाओं दोनों से ही भिन्न हो तो यह एक पृथक् चौथा वर्ग होगा जिसको न तो किसी प्रकार का अधिकार-भाग प्राप्त होगा और न व्यवस्था में ही कोई स्थान प्राप्त होगा। यदि यह मान लिया जाय कि जो कृषक-वर्ग अपने व्यक्तिगत खेतों में खेती करता है वही सार्वजनिक भूमि पर भी खेती करे, तो ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के लिए दो परिवारों (अर्थात् अपने परिवार और अन्य योद्धाओं) के लिए पर्याप्त अन्न की मात्रा उत्पन्न करने में बहुत कठिनाई होगी ; और फिर ऐसी दशा में भूमि का (व्यक्तिगत और सार्वजनिक विभागों में) विभाजन ही क्यों हो ; सीधे यही क्यों न हो कि कृषकवर्ग समग्र कृषिभूमि का उपयोग करते हुए अपने-अपने भूमिभाग में खेती करके अपने लिये भी अन्न प्राप्त करें और योद्धावर्ग के लिए भी। (इस प्रकार हम देखते हैं कि) इस व्यवस्था में बहुत गड़बड़ भरी हुई है।

और न (हिप्पोदामस् के) उस नियम में कोई अच्छाई है जो न्यायाधीशों के समक्ष सीधी सुनिश्चित समस्या के प्रस्तुत किये जाने पर उसके विषय में मिश्रित निर्णय देने का आदेश करता है; क्योंकि यह न्यायाधीश को निर्णायक पंच बना देनेवाला आदेश है। और पंचनिर्णय तो ऐसा संभव भी है चाहे निर्णायक अनेक क्यों न हों,क्योंकि वे अपने निर्णय का निश्चय करने के लिए परस्पर बातचीत कर सकते हैं ; परन्तु न्यायालयों में ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि बहुत सी नियम-व्यवस्थाओं में इस बात का आदेश रहता है कि न्यायाधीश परस्पर कुछ भी संलाप न कर सकें। फिर जब, न्यायकर्ता यह निर्णय करेगा कि हानिपूर्ति तो की जानी चाहिये पर उतनी नहीं जितनी वादी माँगता है तो भला गड़बड़ कैसे नहीं होगी ? कल्पना कीजिये कि वह २० मिनाए माँगता है तथा न्यायाधीश उसको दस दिलाने का आदेश करता है, (अथवा सामान्यतया यह मान लीजिये कि वह और अधिक माँग करता है और न्यायाधीश कम दिलाने का आदेश करता है), एक दूसरा न्यायाधीश ५ और तीसरा ४ मिनाए दिलाने का आदेश करता है। इस प्रकार स्पष्टतया वे हानिपूर्ति के खण्ड करते चले जायँगे। (इतना ही नहीं) कुछ ऐसे भी होंगे जो पूरी क्षतिपूर्ति का आदेश करेंगे और (परले सिरे पर पहुँचनेवाले) कुछ ऐसे भी निकलेंगे जो कुछ भी न देने का निर्णय करेंगे। तो ऐसी परिस्थिति में विभिन्न निर्णयों के अन्तिम परिणाम का आकलन करके निर्णय-गुटिका किस प्रकार तैयार की जायगी ? तथा (यह जो आरोप है कि शुद्ध मोचन या दंड का आदेश देने मे न्यायाधीश अपनी शपथ को भंग करने के लिए विवश हो जाता है) इस विषय में यह द्रष्टव्य है कि यदि स्वयं वह सीधे-सादे अविमिश्रित रूप में प्रस्तुत किया जाय तो केवल मुक्ति अथवा केवल दण्ड का निर्णय न्यायाधीश को कदापि शपथ भंग के लिये विवश नहीं करता। क्योंकि, उदाहरण के लिये, २० मिनाए की क्षतिपूर्ति के बाद में जो न्यायाधीश प्रतिवादी की मुक्ति का आदेश करता है वह यह निर्णय नहीं देता कि प्रतिवादी को कुछ नहीं देना है, प्रत्युत यह निर्णय देता है कि २० मिनाए नहीं देना है। शपथ-भंग का अपराधी तो वह न्यायाधीश हो सकता है जो यह विश्वास करते हुए भी कि प्रतिवादी को २० मिनाए नहीं देना है उसको दण्ड देता है।

जो लोग नगर-राष्ट्र के लिए किसी अच्छी उपयोगी वस्तु का आविष्कार करें उनका सम्मान किया जाना चाहिये, यह एक ऐसा प्रस्ताव है जिसको नियम बना देना सुरक्षित नहीं है, प्रत्युत इसकी तो ध्वनि ही आपातरमणीय है (किन्तु वास्तव में धोखा देनेवाली है); क्योंकि इससे चुगलखोरी को प्रोत्साहन मिल सकता है और स्यात् नगर में उथल-पुथल भी मच सकती है। इस प्रस्ताव के साथ एक अन्य समस्या भी उलझी

हुई है जो अन्य तर्क की ओर संकेत करती है। कुछ विचारकों के लिए यह बात सन्देह का विषय बनी हुई है कि यदि कोई अन्य अपेक्षाकृत अधिक अच्छा नियम बनाना संभव हो तो भी क्या किसी राष्ट्र के परम्परागत नियमों में परिवर्तन करना हानिकर होता है या लाभदायक।[१०] यदि हम यह मानें कि परिवर्तन लाभदायक नहीं होते तो हम हिप्पोदामस् के इस प्रस्ताव को सरलता से स्वीकार नहीं कर सकते ; क्योंकि ऐसा होना संभव है कि कोई व्यक्ति सार्वजनिक हित के नाम पर ऐसे प्रस्ताव रखे जो वास्तव में नगर के नियमों या व्यवस्था के लिए विनाशकारी हों। क्योंकि हमने अब इस विषय को छेड़ दिया है अतः यदि हम इसका कुछ और विवरण प्रस्तुत करें तो स्यात् अधिक अच्छा होगा। जैसा कि हम कह चुके हैं, यह विषय कठिन (दुविधापूर्ण) है, और परिवर्तन करना अधिक अच्छा है इस मत के समर्थन में भी कुछ कहा जा सकता है। अन्य विद्याओं के क्षेत्र में परिवर्तन निश्चयमेव लाभदायक सिद्ध हुए हैं ; उदाहरणार्थ आयुर्वेद और व्यायाम-कला एवं संक्षेप में सभी मानवीय कलाओं और कौशलों की परम्परागत विधि में परिवर्तन हो गये हैं, और क्योंकि नगर-व्यवस्था (अथवा राष्ट्रनीति) की भी गणना कला और कौशल के प्रकारों में होती है अतः यह स्पष्ट है कि इसके क्षेत्र में भी उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य होना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन से कुछ हो सकता है, इसके चिह्न ऐतिहासिक तथ्यों से मिलते हैं। प्राचीन काल के रीति-रिवाज नितान्त सरल और बर्बरतायुक्त थे। पुरातन हैलैनेस् (ग्रीक) लोग लोहे के शस्त्र लिये हुए घूमा करते थे एवं परस्पर एक दूसरे से वधुओं को खरीदा करते थे। सच तो यह है कि पुराने नियमों के जो अवशेष आजकल कहीं कहीं मिलते हैं बिलकुल व्यर्थ हैं ; उदाहरण के लिये क्यूमे[११] में हत्या के संबंध में यह नियम है कि यदि वादी (आरोप लगानेवाला) अपने ही परिवार के लोगों में से पर्याप्त संख्या में साक्षी प्रस्तुत कर सके तो आरोप्य (अपराधी) दोषी ठहराया जाय। फिर सामान्यतया सभी भलाई की खोज किया करते हैं न कि परम्परागत पद्धतियों की ; एवं आदिम पुरुष, चाहे तो वे पृथ्वी से उत्पन्न हुए हों और चाहे किसी प्रलय से बचे हुए हों, (हम आजकल के लोगों) में से नितान्त साधारण मनुष्यों अथवा मूर्खों के समान थे (जैसा कि भूमिजात मनुष्यों के विषय में परम्परागत कहानी में कहा भी जाता है।) अतएव इन आदिम मनुष्यों के विचारों पर ही जमा रहना मूर्खता की बात होगी। यदि (यह पुराने नियम) लिखित भी हों तो भी उनको अपरिवर्तित रहने देना अच्छा नहीं। क्योंकि, जैसा कि सामान्यतया अन्य कलाओं में होता है, वैसे ही राजनीतिक संघटनों के विषय में भी यह तो असंभव है कि हर एक बात को बावन तोले पाव रत्ती ठीक ठीक लेखबद्ध किया

जा सके ; नियमों को अनिवार्यतया सार्विक रूप में अभिव्यक्त करना चाहिये पर व्यवहार का संबंध व्यक्ति से होता है। (अतएव व्यक्तियों के व्यवहार के अनुभव के अनुसार आरंभिक नियमों में परिवर्तन करते हुए उनको अधिकाधिक यथार्थ रूप देना उचित ही है।) इससे हम स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कभी-कभी और किसी-किसी प्रसंग में नियमों में परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु जब हम इस विषय पर एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो परिवर्तन के लिए बहुत अधिक सावधानी आवश्यक प्रतीत होती है। जब कभी थोड़ा सा लाभ हो तभी नियमों को बदल देने की आदत बुरी बात है, अतः नियम-निर्माताओं और शासकों की कुछ (साधारण सी) त्रुटियों से स्पष्ट ही छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। (ऐसी परिस्थिति में नागरिकों को) परिवर्तन से उतना लाभ नहीं होता जितनी हानि आज्ञा-पालन न करने की आदत पड़ जाने से होती है। (अन्य) कलाओं के साथ तुलना भी झूठी ही है, कला की पद्धति में परिवर्तन और नियम में परिवर्तन यह दोनों एक समान नहीं हैं। क्योंकि नियम (कानून) के पास आदत की शक्ति के अतिरिक्त अपने को पालन कराने की अन्य कोई शक्ति नही होती और यह (आदत) बहुत अधिक समय के बिना उत्पन्न नहीं होती; अतएव पुराने समय से चले आते हुए नियमों को नये नियमों में परिवर्तित कर देने की तत्परता नियमों की शक्ति को क्षीण कर देती है। और फिर, यदि यह भी मान लिया जाय कि नियम बदल दिये जाने चाहिये तो यह प्रश्न उठता है कि क्या वे सब के सब, और सब नगर-व्यवस्थाओं में बदले जाने चाहिये अथवा नहीं ? और क्या वे किसी भी ऐरे-गैरे व्यक्ति के द्वारा बदले जाने चाहिये अथवा विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा ? इन विकल्पों में से किसी को भी स्वीकार करने से महत्त्वपूर्ण अन्तर पड़ सकता है। अतएव इस समय इस विषय का विवेचन स्थगित कर देना उचित है, इसका अवसर फिर आयगा।

टिप्पणियाँ

१. हिप्पोदामस् के पिता का नाम कई प्रकार से लिखा मिलता है। मिलेतस नगर का निर्माण पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के प्रथमार्द्ध में बड़े सुन्दर ढंग से भूमितिशास्त्र के अनुसार किया गया था। अतएव हिप्पोदामस् ने नगर-निर्माण-कला का अध्ययन अपने जन्मस्थान में ही किया होगा। संभव है, अथेंस में आकर उसने इस विषय पर कोई पुस्तक भी लिखी हो।

२, पेइरियस् अथेन्स का बन्दरगाह था और व्यापार का केन्द्र था। यह अथेन्स नगर से दक्षिण पश्चिम में पांच मील की दूरी पर था। नगर से इसको सम्बद्ध करने के

लिये लम्बी दीवारें बनाई गई थीं जो लगभग ४ मील लम्बी १२ फ़ीट मोटी थीं। पैइ-रियस् में बहुत से विदेशी व्यापारी भी निवास करते थे।

३. हिप्पोदामस् की योजना सैद्धान्तिक (थियोरेटिकल्) थी। वह कभी व्यवहार में नहीं आई।

४. गुटिका के लिये मूल में "प्सेफ़ॉस" शब्द आया है जिसका अर्थ है नदियों के तल में पाई जानेवाली छोटी पत्थर की गुटिका। अथेंस में इस प्रकार की गुटिकाएँ मतदान में प्रयुक्त होती थीं। न्यायाधीश अपनी गुटिका को मतदान के पात्र में डाल देते थे। इस पात्र को "ह्युद्रिया" कहते थे। हिप्पोदामस् इस पद्धति में परिवर्तन करना चाहता था। उसने गुटिका के स्थान पर छोटी पट्टिका के उपयोग का सुझाव दिया है, इसके लिये ग्रीक भाषा में "पिनाकियन्" शब्द है।

५. न्यायाधीशों की शपथ शुद्ध-न्याय करने की होती थी पर वे या तो अपराधी को मुक्त करने का निर्णय दे सकते थे अथवा दण्ड देने का। अतएव जिन अवसरों पर इस प्रकार का निर्णय संभव नहीं होता था उन अवसरों पर एक प्रकार से उनकी शपथ भंग हो जाती थी।

६. आविष्कार का अर्थ यहाँ किसी अधिकारी के प्रच्छन्न अपराध को, जैसे कि सार्व-जनिक सम्पत्ति को हड़प जाना इत्यादि को, प्रकट कर देना है। इस प्रकार की घटनाएँ अथेंस के इतिहास में अनेकों मिलती हैं।

७. शासक अथवा शासनाधिकारी के लिये ग्रीक भाषा में "आर्खान्" शब्द आया है। इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में रूलर अथवा मजिस्ट्रेट शब्द से किया गया। इसका शाब्दिक अर्थ तो प्रथम अथवा मुख्य है। इसी के आधार पर दूसरा शब्द "आर्खैमैनोइ" बनता है जिसका अर्थ है शासित प्रजाजन।

८. अरिस्तू की धारणा ऐसे न्यायालय से संबंध रखती है जिसमें बहुत से न्याया-धीश हैं। वे सब पृथक्-पृथक् मत देते हैं; उनको परस्पर वार्तालाप करने की आज्ञा नहीं है। ऐसी परिस्थिति में मिश्रित निर्णय संभव ही नहीं है; क्योंकि मिश्रित निर्णय के लिये यह आवश्यक है कि न्यायाधीश लोग परस्पर विचार-विनिमय करके एक निर्णय पर पहुँचें।

९. मिना (ए० व०), मिनाए (ब० व०) अथवा म्ना और म्नाए एक ग्रीक सिक्के का नाम है। प्राचीन यूनानी सिक्कों का विवरण इस प्रकार है--

६ ओबोल्=१ द्राख्मा (द्रम्न)। १०० द्राख्मा=१ म्ना। ६० म्ना (मिनाए) =तलान्त।

१०. "कल और आज" एवं "आज और कल" की यह चिरन्तन कलह, पुराने और नये का यह नित्य-नूतन विवाद अरिस्तू की लेखनी से भी अनिर्णीत ही रह गया। कालिदास ने भी अपनी अमर कविता में भी यही कहा कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥
(मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना)

और अंग्रेज कवि टेनीसन ने अपनी 'पॉलिटिक्स' नामक छोटी सी कविता में कहा है

For some cry "Quick" and some cry "Slow"
But, while the hills remain,
Up hill 'Too-slow' will need the whip
Down-hill "Too-quick" the "chain."

ऐसी परिस्थिति में अरिस्तू ने विवाद के दोनों पक्षों के विषय में अपने विचार प्रकट करके इस विषय को अनिर्णीत छोड़ दिया, तो यह ठीक ही किया। पर आगे चलकर हम देखेंगे कि उसके हृदय में अतीत के प्रति अगाध श्रद्धा थी।

११. क्यूमे नाम के दो नगर थे। पुरातन नगर लघु एशिया में था तथा दूसरा नगर इटली काँपान्या प्रदेश में था। यह दूसरा नगर यूनानी सभ्यता का पश्चिमी छोर कहा जा सकता है। वास्तव में यह पुरातन क्यूमे का ही एक उपनिवेश था। पर यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि अरिस्तू का संकेत किस क्यूमे की ओर है। और फिर क्यूमे के जिस नियम का उल्लेख यहाँ किया गया है वह निरा निरर्थक नहीं था। इस प्रकार का नियम अन्य देशों में भी पाया जाता था।

९

लाकैदायमौन् की व्यवस्था की आलोचना

लाकैदायमौन् की[1] विधान-व्यवस्था में और क्रेते[1] की विधान-व्यवस्था में एवं लगभग अन्य सभी व्यवस्थाओं में पहले दो बातें देखने की हैं—एक तो यह कि अमुक नियम आदर्श-व्यवस्था की तुलना में अच्छा है अथवा नहीं ; दूसरी यह कि वह आदर्श विचार और जीवन-पद्धति से मेल खाता है या नहीं जिसको व्यवस्थाकार ने अपने नागरिकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। सामान्यतया यह तो सर्वसम्मत बात है कि किसी भी सुव्यवस्थित नगर राष्ट्र में नागरिकों को अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं को

जुटाने से अवकाश मिलना चाहिये; पर यह अवकाश किस प्रकार (किस उपाय) से प्राप्त किया जाय, यह देख पाना सरल काम नहीं है। थैसाली[3] की निर्धन दास-जनता बहुधा अपने स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर चुकी है, और इसी प्रकार लाकैदायमौन् (स्पार्टा) के हैलात् नामक दास अपने स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह करते रहे हैं; इन स्वामियों पर पड़नेवाली विपत्तियों (दुर्भाग्यों) की यह दास लोग सर्वदा प्रतीक्षा किया करते हैं। किन्तु क्रेते के नागरिकों के प्रति इस प्रकार की कोई घटना आजतक नहीं घटी है। संभवतया इसका कारण यह है कि इस द्वीप के पड़ोस के नगरों ने परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध करते हुए भी (शत्रुओं के) विद्रोही दासों से मेल नहीं किया, क्योंकि उनके यहाँ भी इस प्रकार की पराधीन जनता थी अतएव इस प्रकार का विद्रोह भड़काना स्वयं उनके लिये हितकर नहीं था। इसके विपरीत लाकैदायमौन् (स्पार्टा) के सभी पड़ोसी राष्ट्र––आर्गास मैसेनिया और आर्कादिया––उसके शत्रु थे और (इन्हीं शत्रुओं के द्वारा भड़काया जाना) स्पार्टा में प्रायः होनेवाले दास-विद्रोहों का कारण था। और फिर थैस्सालिया में भी तो आदिम दास-विद्रोह इसी कारण घटित हुआ कि थैस्सालिया-निवासी निरन्तर अपने पड़ोसी अखैया[4], पैरहायबिया और मग्नी-सिया-निवासियों से युद्ध कर रहे थे। ऐसा लगता है कि चाहे और कोई कठिनाई न भी हो तो भी दासों का प्रबंध स्वयं एक कष्टकर कार्य है। उनके साथ किस प्रकार का वर्ताव किया जाय यह निश्चय करना सरल नहीं है। यदि उनकी लगाम ढीली कर दी जाय तो वे ढीठ हो जाते हैं और अपने को स्वामियों के समान अच्छा (योग्य) समझने लगते हैं, और यदि उनके साथ कठोरता से वरता जाय तो वे स्वामियों से घृणा करके उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यह (अर्थात् घृणा और षड्यन्त्र) परिणाम हो तो नागरिकों द्वारा (अवकाश प्राप्त करने के लिये) दासों[6] के प्रति व्यवहार करने की श्रेष्ठ पद्धति (अथवा संघटन) आविष्कृत नहीं हुई।

फिर लाकैदायमौन् की स्त्रियों[7] की स्वच्छन्दता वहाँ के विधान के उद्देश्य के लिये हानिकर और राष्ट्र की सुख-समृद्धि के प्रतिकूल है। क्योंकि पति और पत्नी में से प्रत्येक गृहस्थी का एक सारवान् भाग है अतएव राष्ट्र को स्पष्ट ही स्त्री और पुरुषों में लगभग आधा आधा बराबर बँटा हुआ समझना चाहिये। इसलिए जिस राष्ट्र में स्त्रियों की दशा सुव्यवस्थित नहीं है वहाँ आधा नगर नियमशून्य समझा जाना चाहिये। लाकैदायमौन् में ठीक यही दशा घटित हुई है; नियम-निर्माता सारे नगर को कष्ट-सहिष्णु और संयमी बनाना चाहता था; पुरुषों के पक्ष में स्पष्ट ही ऐसा हो सका, परन्तु स्त्रियों की ओर से वह असावधान रहा जो कि सब प्रकार की असंयतता और

विलासिता का जीवन बिताती हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि ऐसे नगरों में धन की अत्यधिक पूजा होती है, विशेषकर यदि सैनिक और युद्धजीवी जातियों के समान नागरिक लोग अपनी नकेल नारियों को सौंप देते हैं। इस विषय में कैल्ट[8] जाति के लोग अपवाद-स्वरूप हैं, और ऐसी अन्य कतिपय जातियों के विषय में (जिनमें पुरुषों के परस्पर रत्यात्मक प्रेम को प्रकट रूप में सम्मानास्पद माना जाता है) भी यही कहा जा सकता है। पुरातन पौराणिक कथाकार ने जो युद्ध के देवता अरैस और अफ्रोदिते[9] का सम्मेलन कराया तो उसने इसमें कुछ अनुचित नहीं किया, क्योंकि सभी युद्ध-प्रिय जातियाँ या तो पुरुषों या स्त्रियों के प्रेम की ओर झुकी हुई प्रतीत होती हैं। दूसरे विकल्प की सच्चाई का उदाहरण स्वयं लाकैदायमौन् में ही उसकी महत्ता के दिनों में प्रस्तुत हुआ था; उस समय बहुत सी बातों का प्रबन्ध उनकी स्त्रियों के हाथ में चला गया था। परन्तु शासकों पर स्त्रियों द्वारा शासन किया जाय अथवा स्त्रियाँ स्वयमेव शासन करें, इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर ही क्या है? परिणाम दोनों अवस्थाओं में एक ही होता है। उदाहरणार्थ, अतिसाहसिकता के संबंध में भी (जो कि नित्यप्रति के व्यवहार में उपयोगी नहीं होती, केवल युद्ध में ही आवश्यक होती है) स्पार्टा की नारियों का प्रभाव अत्यधिक हानिकारक रहा है। थेबै[10] के आक्रमण के समय उन्होंने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया; अन्य नगरों की नारियों के विपरीत वे तनिक भी उपयोगी सिद्ध नहीं हुई, प्रत्युत उन्होंने शत्रुओं से भी अधिक गड़बड़ी उत्पन्न कर दी। यह सच है कि लाकैदायमौन् की नारियों द्वारा उपभुक्त स्वच्छन्दता आरंभ में जिस प्रकार से उत्पन्न हुई उसको सरलता से समझा जा सकता है, उन परिस्थितियों में जैसा होना उचित था वैसा ही हुआ। क्योंकि, पुरुष तो प्रथम आर्गास् के निवासियों से और तत्पश्चात् आर्कादिया और मैसैनिया के निवासियों से युद्ध करते हुए सुदीर्घ काल तक घरों से दूर पड़े रहे। सैनिक जीवन यापन करने के कारण (जिससे अनेकों सद्‌गुणों का विकास होता है) युद्ध से अवकाश पाने पर उन्होंने अपनी अनुशासन-परायण तैयारी से अपने आपको व्यवस्थाकार के हाथों में उसके नियमों को ग्रहण करने के लिये सौंप दिया। (पर स्त्रियाँ अपने गृहों में मनमाना जीवन व्यतीत कर रही थीं) अतएव, जब परम्परागत कथा के अनुसार व्यवस्थाकार लीकूर्गास्[11] ने उनको भी अपने नियमों के घेरे में लेना चाहा तो उन्होंने बाधा उपस्थित की और उसको यह प्रयत्न त्याग देना पड़ा। तो जो कुछ हुआ उसके कारण यही हैं, तथा स्पष्ट ही विधान की त्रुटियाँ भी इन्हीं कारणों से उत्पन्न हुई हैं। परन्तु हम इस बात का विचार नहीं कर रहे हैं कि क्या क्षन्तव्य है और क्या नहीं है, प्रत्युत यह विवेचन कर रहे हैं कि क्या ठीक

(न्याय्य) है और क्या नहीं। यह स्त्रियों की स्थिति से संवद्ध व्यवस्था की त्रुटि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, न केवल विधान में स्वरूपतः समरसता के कुछ अभाव को (अथवा विसंवादिता) को उत्पन्न करनेवाली है, प्रत्युत उसको धनलोलुपता की ओर भी प्रवृत्त करनेवाली है।

अतएव यह जो लोलुपता का उल्लेख किया गया है स्वभावतः ही यह अपने पश्चात् स्पार्टा में सम्पत्ति की असमानता की आलोचना की ओर प्रवृत्त करता है। जब कि स्पार्टा के कुछ मनुष्यों के हाथों में बहुत अधिक सम्पत्ति आ गई है, दूसरों के पास बहुत थोड़ी रह गई है, अतः भूमि अधिकांश में बहुत थोड़े से लोगों के पास पहुँच गई है। लाकैदायमौन् की विधान-व्यवस्था द्वारा इस विषय का निर्णय ठीक प्रकार नहीं किया गया। क्योंकि यद्यपि नियम-निर्माता ने पैतृक सम्पत्ति के क्रय-विक्रय को अशोभन ठहरा कर ठीक ही किया है, तथापि जो कोई सम्पत्ति को दान देना चाहे अथवा उत्तराधिकार में छोड़ देना चाहे उसको नियम-निर्माता ने ऐसा करने का अधिकार दिया है। परन्तु इन दोनों व्यापारों (क्रय-विक्रय अथवा दान या उत्तराधिकार में देने) का परिणाम तो अनिवार्यरूपेण एक ही निकलता है।[१३] वास्तविक स्थिति यह है कि समग्र देश के पाँच भागों में से दो भाग स्त्रियों के अधिकार में (पहुँच गये) हैं। यह सब बहुत सी उत्तराधिकारिणी कन्याओं तथा बड़े बड़े यौतुकों (दहेजों) के कारण घटित हुआ है (जिनका प्रचलन स्पार्टा में बहुत है)। अधिक अच्छा तो यह होता कि दहेज बिलकुल न दिया जाता अथवा यदि कुछ देना आवश्यक ही होता तो उसकी मात्रा को बहुत थोड़ा सा मर्यादित कर दिया जाता। इस समय जैसा नियम है उसके अनुसार कोई व्यक्ति अपनी उत्तराधिकारिणी कन्या को चाहे जिस किसी (धनी अथवा निर्धन व्यक्ति) को प्रदान कर सकता है, परन्तु यदि वह अपनी कन्या को प्रदान करने के पूर्व ही, उत्तराधिकार की व्यवस्था किये बिना ही मर जाता है तो उस कन्या को अपने इच्छानुसार प्रदान करने का अधिकार उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो उसके संरक्षक के स्थान में रह जाता है।[१४] इस सब का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि देश निश्चयमेव १५०० घुड़सवारों और ३०००० भारी अस्त्रशस्त्रधारी पैदल सिपाहियों का भरण-पोषण करने की सामर्थ्य रखता है, तथापि नागरिकों की संख्या (ल्युक्त्रा के) युद्ध के समय घटते घटते १००० भी नहीं रह गई।[१५] इन सब तथ्यों (के साक्ष्य) से यह स्वतः स्पष्ट है कि उनकी धन-सम्पत्ति की व्यवस्था दूषित है। नगर एक पराजय की भी चोट को सहन नहीं कर सका, पुरुषों की कमी से ही उनका विनाश हो गया। कहते हैं कि लाकैदायमौन् के प्राचीन राजाओं के समय में वे (विदेशियों को) नागरिकता के

अधिकार दे दिया करते थे, इसके परिणाम-स्वरूप सुदीर्घकाल तक युद्ध करते रहने पर भी उन्होंने जनसंख्या के ह्रास का अनुभव नहीं किया, तथा कहा जाता है कि एक समय तो स्पार्टा में १०००० नागरिक विद्यमान थे। भले ही यह कथन सत्य हो अथवा न हो तथापि सम्पत्ति के समान वितरण के द्वारा तो नागरिक (अपनी = सैनिक) जनसंख्या को पूर्ण बनाये रखना स्पार्टा के लिये अधिक अच्छा होता। तथापि अधिक शिशुओं के प्रजनन को प्रोत्साहन देनेवाला नियम भी इस सम्पत्ति की असमानता में सुधार करने के प्रतिकूल है; क्योंकि व्यवस्थाकार ने, यह इच्छा करते हुए कि स्पार्टा-निवासियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाए, नागरिकों को अधिक लड़के पैदा करने के लिये प्रेरित किया। इसलिए वहाँ ऐसा नियम है कि तीन पुत्र उत्पन्न करनेवाले को सैनिक-सेवा से मुक्त कर दिया जायगा और चार पुत्रों वाले को सब सार्वजनिक (कर-) भारों से छुटकारा मिल जायगा। तो भी यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि यदि बच्चों की संख्या बढ़ गई और भूमि तदनुसार बहुत से भागों में बँटती गई तो निश्चय ही बहुत से व्यक्ति अनिवार्यतया निर्धनता को प्राप्त हो जायँगे।

इसके अतिरिक्त लाकैदायमौन की सरपंच-प्रथा (एफ़ोरैइया[16]) में भी खोट है। इस शासक-समिति को सर्वोच्च मामलों में प्रभुत्व प्राप्त है, परन्तु इन सब सरपंचों का चुनाव सर्वसाधारण में से होता है। इसलिए बहुधा ऐसा होता है कि अत्यन्त निर्धन व्यक्ति भी, जो दारिद्र्य के कारण घूसखोरी के शिकार हो सकते हैं, इस पद पर पहुँच जाते हैं। प्राचीन काल में भी (स्पार्टा में) इस बुराई के उदाहरण अनेक बार घटित हो चुके हैं और अभी हाल में आन्द्रॉस्[17] के मामले में भी ऐसा ही हुआ है। इस मामले में भी कुछ सरपंचों ने, जो कि चाँदी के द्वारा दूषित हो चुके थे (अर्थात् घूस खा चुके थे), समग्र राष्ट्र को नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। और उन (सरपंचों) की शक्ति इतनी महान् और तानाशाही के तुल्य है कि राजाओं तक को उनको मनाने के लिये विवश होना पड़ा है; परिणाम यह हुआ है कि इस प्रकार राजपद के साथ ही साथ समग्र राष्ट्रव्यवस्था भी भ्रष्ट हो गई है एवं श्रेष्ठ जनतंत्र होने के स्थान पर वह केवल जनसाधारणतंत्र रह गई है। पर यह अवश्य मानना पड़ता है कि यह सरपंचप्रथा राष्ट्रव्यवस्था को एकता में आबद्ध रखनेवाली शक्ति है, क्योंकि सर्वोच्च शासना-धिकार में भाग प्राप्त होने के कारण जनता शान्त और संतुष्ट रहती है। चाहे नियमव्यवस्था के कारण कहिये, चाहे दैवयोग से कहिये यह परिणाम हितकर ही रहा है, क्योंकि किसी भी व्यवस्था के चिरकाल तक सुरक्षित टिके रहने के लिये राष्ट्र के सब अंगों की यह कामना होनी चाहिये कि वह बनी रहे और इसी प्रकार चालू

रहे। स्पार्टा में राष्ट्र के सब अंगों की कामना इसी प्रकार की है; (दोनों) राजा अपने व्यक्तित्व के समुचित सम्मान के कारण व्यवस्था के स्थायित्व की कामना करते हैं, अभिजात जन कुलीनों की परिषद् के कारण ऐसी कामना करते हैं, क्योंकि इस परिषद् में स्थान प्राप्त करना सद्गुणों का पुरस्कार समझा जाता है; रहे साधारण जन वे सरपंच-मण्डल के कारण सन्तुष्ट रहते हैं, वे इसलिये व्यवस्था की स्थिरता चाहते हैं कि सरपंच-पद के लिये तो वे सब ही समान रूपेण चुने जा सकते हैं। पर सब जनता में से सरपंचों का चुना जाना बिलकुल ठीक है, किंतु यह चुनाव जिस ढंग से आजकल होता है उस ढंग से नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह ढंग बिल्कुल बच्चों का सा है।[१८] यद्यपि यह (सरपंच) लोग अत्यन्त साधारण स्थिति के व्यक्ति होते हैं तथापि बड़े बड़े मामलों का निर्णय करना उनकी शक्ति में होता है, अतएव उनका अपनी ही समझ के अनुसार निर्णय करना ठीक नहीं, प्रत्युत उनको लिखित नियमों और कानूनों के अनुसार निर्णय करना चाहिये। इन सरपंचों की जीवन-पद्धति भी राष्ट्र-व्यवस्था की भावना के अनुकूल नहीं होती, उनके जीवन में अतिशय उच्छृखलता रहती है, इसके विपरीत अन्य लोगों के जीवन में कठोरता की ऐसी पराकाष्ठा होती है कि वे उसकी भीषणता को सह नहीं पाते और छिपकर नियमों का उल्लंघन करते हुए इन्द्रियसुखों का उपभोग करते हैं।[१९]

फिर कुलीनों (अथवा स्थविरों) की परिषद् भी पूर्णतया अच्छी नहीं है, उसमें भी दोष हैं। यदि परिषद् के सदस्य ईमानदार होते एवं पौरुषपूर्ण गुणों में भले प्रकार शिक्षित होते तो परिषद का राष्ट्र के लिये हितकर होना युक्तिसंगत होता। परन्तु तो भी महत्त्वपूर्ण विषयों के निर्णायकों का (आजकल के समान) आजीवन पदारूढ़ बना रहना सन्देहास्पद ही होता, क्योंकि जिस प्रकार शरीर वृद्ध होता है उसी प्रकार मस्तिष्क भी वृद्ध हुआ करता है। और जब शिक्षा देने की पद्धति ऐसी हो कि जिसके कारण व्यवस्थाकार भी स्वयं मनुष्यों पर यह विश्वास न कर सकें कि वे भले अथवा स्थिर बुद्धिवाले होंगे तब तो परिषद् वास्तव में भय का स्थान है। बहुत से कुलीन पारिषदों के विषय में यह सुविदित है कि वे सार्वजनिक मामलों में घूसखोरी और पक्षपात से प्रभावित हुए थे। इसलिये उनको अपने आचरण के पर्यवेक्षण से इस प्रकार मुक्त नहीं होना चाहिये जिस प्रकार वे आजकल हैं। यह ठीक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सरपंचों को सब शासकों के आचरण के पर्यवेक्षण का अधिकार प्राप्त है, पर यह तो उनको एक महान् वरदान प्राप्त है, पर हमारा कहना तो यह है कि पारिषदों के आचरण के पर्यवेक्षण का यह ढंग ठीक नहीं है (यह ढंग कुछ और होना

चाहिये) । इसके अतिरिक्त स्पार्टा में कुलीनों को जिस पद्धति से चुना जाना है वह भी दोषपूर्ण है । अन्तिम चुनाव एक विशेष प्रकार की 'पुकार' द्वारा होता है जो बच्चों का ढंग है, और यह भी अनुचित है कि चुने जाने के योग्य होने के लिये किसी व्यक्ति को चुनाव के लिये खड़ा होना चाहिये । (होना तो यह चाहिये कि जो व्यक्ति इस पद के योग्य हो वह नियुक्त किया जाय, चाहे उसकी इच्छा हो या न हो।[20] ऐसी शर्त निर्धारित करके, नियम-निर्माता उसी भावना के अनुसार काम कर रहा है जो उसकी व्यवस्था में सर्वत्र दिखलाई देती है । (इस शर्त को लगाने में) उसकी इच्छा यह है कि नागरिक सम्मान-प्रेमी बनें, एवं कुलीनों के चुनाव में उसने इसी गुण का भरोसा किया है, क्योंकि सम्मानाकांक्षी बने बिना कोई भी चुनाव के लिये प्रार्थी नहीं होगा । तथापि सम्मानाकांक्षा और लालच ही वास्तव में वे प्रेरक मनोभाव हैं जो कि मनुष्यों को लगभग सभी जान-बूझकर किये जानेवाले अपराधों की ओर प्रेरित किया करते हैं ।

राजाओं[21] के विषय का विवेचन, तथा इस प्रश्न का विचार कि राजाओं का होना किसी राष्ट्र के लिये हितकर है या नहीं, आगे चलकर किया जायगा । परन्तु यह फिर भी अच्छा होगा कि उनका चुनाव इस प्रकार न हो जैसा आजकल होता है, प्रत्युत उनके व्यक्तिगत जीवन और चारित्र्य के आधार पर हो । व्यवस्थाकार स्वयं स्पष्टतया यह नहीं मानता था कि विद्यमान पद्धति के अनुसार वह उनको सुन्दर और भला बनाने की सामर्थ्य रखता है । कम से कम उनमें पर्याप्तरूपेण मानवीय भद्रता के होने के विषय में उसको बहुत कुछ सन्देह है । यह सन्देह इस बात से प्रकट होता है कि स्पार्टा-निवासियों में दूतमंडली भेजते समय राजाओं के साथ उनके विरोधियों को भी सम्मिलित कर देने की रीति प्रचलित थी, और राजाओं की पारस्परिक कलह राष्ट्र की रक्षा करने वाली मानी जाती थी ।

फिर स्पार्टा के सहभोजों की (जो कि 'फिदितिया' कहलाते हैं) भी उनके आरंभ करने के समय कोई अच्छी व्यवस्था नहीं की गई । यह सार्वजनिक सामूहिक भोज सार्वजनिक धन के व्यय से होना चाहिये जैसा कि क्रेते में होता है ; पर लाकैदायमोन में यह नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्ययांश देना पड़ता है, यद्यपि उनके मध्य में कुछ व्यक्ति अत्यन्त निर्धन हैं और इस व्ययांश को देने की सामर्थ्य नहीं रखते, जिससे स्वाभाविक परिणाम व्यवस्थाकार के आशय के प्रतिकूल हो जाता है । इन भोजों का सार्वजनिक होना अभीष्ट था परन्तु वर्त्तमान व्यवस्था के कारण वे अल्पतम

मात्रा में सार्वजनिक (जनतंत्रात्मक) रह गये हैं। नितान्त निर्धन लोग उनमें सरलता से भाग नहीं ले सकते, तथा वहाँ के विधान की पुरातन रीति के अनुसार जो इन भोजों में व्ययांश नहीं दे सकते वे अपने नागरिक अधिकार भी नहीं रख सकते।

कुछ अन्य लेखकों ने लाकैदायमॉन के नौसेनाध्यक्ष के पद से संबंध रखनेवाले नियम की भी प्रायः निन्दा की है और ठीक ही की है। यह नियम झगड़े की जड़ है, क्योंकि राजा का पद स्वयं शाश्वत सेनाध्यक्षों का पद है और यह नौसेनाध्यक्ष का पद तो मानों (राजा के मुकाबिले में) दूसरा राजपद स्थापित करने के बराबर है।

इसी प्रकार व्यवस्थाकार के आशय के विरुद्ध जो दोषारोपण प्लातोन ने अपने 'नियम' नामक ग्रंथ में किया है वह भी उचित ही ठहरता है। समग्र व्यवस्था का लक्ष्य सद्‌गुण अथवा सद्‌वृत्ति के एक खण्डमात्र--योद्धा के सद्‌गुण--का पोषण करना है; अर्थात् उस खंड का पोषण करना जो युद्ध में विजय प्राप्त करने अथवा शक्ति प्राप्त करने के लिये उपयोगी है। इसका जो अवश्यंभावी परिणाम होना था वह हुआ। जब तक वे युद्ध करते रहे, उनकी शक्ति सुरक्षित रही परन्तु साम्राज्यप्राप्ति के पश्चात् उनकी शक्ति का क्षय हो गया ; क्योंकि उनको ज्ञात ही नहीं था कि शान्तिकालीन अवकाश का क्या उपयोग करें, तथा युद्ध से ऊँचे अन्य किसी व्यवसाय का अनुशीलन उन्होंने कभी किया ही नहीं था।[२२] एक और गलती (उनसे हुई) जो कोई छोटी गलती नहीं है। उनका विचार रहा है कि (धन, सम्मान, शारीरिक सुख इत्यादि) जिन सत्पदार्थों की प्राप्ति के मनुष्य यत्न किया करते हैं वे उनको भले बनकर प्राप्त करना चाहिये, न कि बुरे बनकर। उनका यह सोचना ठीक ही है कि सत्पदार्थों की प्राप्ति का उपाय भलाई है, बस उनका यह विचार ठीक नहीं है कि सत्पदार्थ भलाई (=सात्त्विकता) से बढ़कर हैं।

और फिर इन स्पार्टा-निवासियों की सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रबंध भी दोषपूर्ण है। एक ओर तो सार्वजनिक कोष में धन का पता नहीं एवं राष्ट्र को बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ने को पड़ी हैं, पर दूसरी ओर तो भी कर ठीक प्रकार से नहीं दिये जाते। अधिकांश भूमि स्पार्टा-निवासियों के अधिकार में है (और कर भूमि पर ही लगते हैं) अतएव वे एक दूसरे के करदान को भली भाँति सूक्ष्मता से निरीक्षण नहीं करते। व्यवस्थाकार ने अपनी व्यवस्था से इस विषय में जो परिणाम उत्पन्न किया है वह हितकर होने की अपेक्षा उससे उलटा है। इसने नागरिकों को धन-लोलुप बनाते हुए राष्ट्र को निर्धन कर दिया है।[२३]

लाकैदायमौन की व्यवस्था के विषय में (जिसकी निन्दनीय त्रुटियाँ यही हैं जो ऊपर कही जा चुकी हैं) इतना ही कहना पर्याप्त होगा।

टिप्पणियाँ

१. लाकेदायमौन अथवा स्पार्टा (स्पार्ते) नगर लाकोनिया राष्ट्र की राजधानी था। यह इयुरोतास् नामक नदी के तट पर स्थित था। इस नगर की सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में अनेकों विलक्षणताएँ थीं जिनको जान लेने पर उपर्युक्त खंड को सरलता से समझा जा सकेगा।

स्पार्टा निवासियों में जिन योद्धाओं को पूर्ण नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे वे स्पार्तातियाई कहलाते थे। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार का मुखिया होता था और उसको परम्परागत पैतृक अधिकार से एक भूखंड का स्वामित्व प्राप्त होता था। यह उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त था। इस भूखंड को वेचा नहीं जा सकता था। इसके अतिरिक्त अन्य भूमि को वेचा जा सकता था। स्पार्तातियाइयों की भूमि को हेलॉत् नामक दास जोतते वोते थे। यह दास मैसेनिया के युद्ध में विजित व्यक्ति और उनके वंशधर होते थे। वाणिज्य-व्यवसाय का कार्य पराजित राष्ट्रों के वे प्रजाजन किया करते थे जो दास नहीं वनाये गये थे। यह अपने नगरों में स्वतंत्र नागरिकों के रूप में निवास करते थे पर स्पार्ता के नागरिकों में इनकी गणना नहीं होती थी। इनको पेरिओइकोइ (परिवासी) कहा जाता था। स्पार्ता ने इनके नगरों को परस्पर संघटित होने का निषेध कर रक्खा था।

अतएव स्पार्तातियाइयों का जीवन खेती-वाड़ी और वाणिज्य-व्यवसाय की झंझट से मुक्त था। सव नागरिक समान माने जाते थे। पर नगर-व्यवस्था नागरिकों के जीवन को कठोर सैनिक अनुशासन में जकड़कर रखती थी। इसमें व्यवस्था का एक मात्र उद्देश्य नागरिकों को सैनिक यंत्र का एक कुशल और क्षमताशील पुरजा वनाना था। विवाह शासन के निर्देशानुसार होता था। दुर्वल सन्तान को मरने के लिये त्याग दिया जाता था। शेष पूर्णांग स्वस्थ वच्चों को, चाहे वे लड़के हों या लड़कियाँ, सामूहिक शिक्षा, कठोर संयमपूर्ण अनुशासन और मल्लविद्या-शिक्षण द्वारा साहसी और सहिष्णु वनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस शिक्षा में सैनिक-व्यायामों की मुख्यता रहती थी, मानसिक विकास को गौण स्थान दिया जाता था। पुरुषों को ३० वर्ष की अवस्था तक सैनिक वैरकों में रहना पड़ता था और ६० वर्ष की अवस्था तक वे सार्वजनिक भोजनालयों में एक साथ भोजन करते थे। इस प्रकार ग्रीस देश की सवसे अधिक शक्तिशाली सैन्यशक्ति

का निर्माण हुआ। निश्चय ही ऐसी परिस्थितियों में कला-कौशल और साहित्य इत्यादि का विकास नहीं हो सका। ३० वर्ष की आयु होने पर पूर्ण नागरिकता का अधिकार प्राप्त होता था।

राजनीति व्यवस्था में मुख्य अंग थे--(१) दो परम्परागत कुल-क्रमागत राजा, (२) स्थविरपरिषद् (गैरूसिया), (३) अप्पैला सामान्य-परिषद् और (४) सरपंच। दोनों राजा राष्ट्र के धार्मिक नेता थे; युद्धकाल में वे सेनाध्यक्ष का कार्य करते थे। जब वे युद्ध अथवा सन्धि के कार्य के लिये विदेश जाते थे तो दो सरपंच भी उनके कार्यों पर दृष्टि रखने के लिये उनके साथ भेजे जाते थे। राजाओं के अधिकार धीरे-धीरे बहुत घट गये थे। स्थविर-परिषद् में २ राजाओं के अतिरिक्त २८ अन्य सदस्य होते थे जो ६० वर्ष से अधिक अवस्था के होते थे और आजीवन सदस्य रहने के लिये चुने जाते थे। यह परिषद् राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायालय थी। अप्पैला नामक परिषद् (=संसद) का सदस्य प्रत्येक ऐसा नागरिक होता था जिसकी अवस्था ३० वर्ष या इससे अधिक होती थी तथा जिसको पूर्ण नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते थे। यह संसद केवल परामर्श देने का कार्य करती थी और कोई अधिकार इसको प्राप्त नहीं था। पर युद्ध की घोषणा पर इसकी सही होनी आवश्यक थी। पाँच सरपंच समग्र नागरिकों में से चुने जाते थे और वे व्यवस्था के जनतंत्रात्मक अंग थे। वे राष्ट्र के अध्यक्ष होते थे और उनकी शक्ति आरंभ से ही महान् थी और कालान्तर में उन्होंने इसको और भी बढ़ा लिया था। वे सामान्य शासन-कार्य का आधिपत्य करते थे और कुछ न्यायाधिकरण का व्यापार भी उनके अधिकार में था। वे राजाओं को भी दण्ड दे सकते थे और उनको बन्दी तक बना सकते थे; सेनाध्यक्षों को उनके पद से हटा सकते थे और विदेशों से सन्धियाँ कर सकते थे। पदारूढ़ होने पर वे ऐसी घोषणा करते थे जो आजकल अर्ध-परिहासपूर्ण प्रतीत होगी--वह यह थी कि नागरिकों को अपनी मूँछें मुड़वानी चाहिये और कानूनों को मानना चाहिये।

२. क्रेते नामक द्वीप यूनान के दक्षिण में है। हम इसके अंग्रेजी नाम क्रीट से अधिक परिचित हैं। इसका अधिक विवरण आगामी खंड में मिलेगा।

३. थैस्सालिया यूनान के उत्तर में एक प्रदेश है।

४. ऑर्गास्, मैसेनिया और आर्कादिया में से ऑर्गास् और आर्कादिया तो स्पार्टा के उत्तर में हैं और मैसेनिया उत्तर-पश्चिम में है।

५. अरवैया प्रदेश थैस्सालिया के दक्षिण में है; मग्नेसिया स्वयं थैस्सालिया का ही एक भाग है।

६. दासों की प्रथा के विषय में पहले भी लिखा जा चुका है। स्पार्टा के दास हैलॉत् कहलाते थे; यह खेतों पर बँधुओं के रूप में कार्य करते थे। अपने स्वामियों के

साथ कभी-कभी यह युद्ध-क्षेत्र में भी जाया करते थे और वीरता दिखलाने पर स्वतंत्र भी कर दिये जाते थे।

७. लाकेदायमौन् में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के ही समान थे। अथेन्स की स्त्रियों की अपेक्षा यहाँ की स्त्रियाँ कहीं अधिक स्वतंत्र और स्वावलम्बिनी थीं। वे राष्ट्र की क्रियाशील सदस्याएँ होती थीं और राष्ट्र-कल्याण के कार्यों में भाग लेती थीं। पर अरिस्तू को स्पार्टा की स्त्रियों के आचरण की उपयोगिता पर सन्देह है। उसकी इच्छा यह है कि राज्य को स्त्रियों के घर और बाहर के आचरण पर इस प्रकार का नियंत्रण रखना चाहिये जिससे उनमें वांछनीय सद्गुणों का विकास हो सके।

८. इससे स्पष्ट है कि पुरुषों का परस्पर रत्यात्मक प्रेम, इगलाम या होमोसेक्सु-ऐलिटी एक अत्यन्त पुरानी और व्यापक प्रथा रही है। जैसा कि आगे चलकर पता चलेगा, ग्रीस देश में इसका प्रर्याप्त प्रचार था।

९. अरेस और अफ्रोदिते। अरेस् यूनान की पौराणिक कथाओं में ज़िउस् (द्यौस्) और हेरा का पुत्र था। यह युद्ध का देवता था। अफ्रोदिते ज़िउस् और दियाने की पुत्री है। उसका विवाह हेफ़ाएस्तस् के साथ हुआ था पर विवाह के पश्चात् वह अरेस से प्रेम करने लगी। आगे चलकर यूनान में उसकी नाना रूपों में पूजा होने लगी। रोम की पौराणिक कथाओं में इन दोनों के नाम क्रमशः मार्स और वीनस हो गये।

१०. थेबै के आक्रमण ३७१, ३७०, ३६० ई० पू० में हुए। इन आक्रमणों में थेबै के सेनापति एपामिनौन्दास् ने स्पार्टा की शक्ति को चौपट कर दिया। पर आगे चलकर जब २७२ ई० पू० में पीर्हस् ने स्पार्टा पर आक्रमण किया तब स्पार्टा की नारियों ने अत्यधिक वीरता का प्रदर्शन किया।

१२. ल्युकूर्गॉस अथवा लीकूर्गास् नाम के अनेक व्यक्ति यूनान के इतिहास में पाये जाते हैं। यहाँ पर जिस व्यवस्थाकार अथवा स्मृतिकार का उल्लेख हुआ है उसका समय लगभग ६०० ई० पू० है। अरिस्तू ने इस अध्याय में उसका नाम लेकर उल्लेख केवल एक बार ही किया है। कुछ इतिहासवेत्ता उसका समय और भी अधिक पुराना बतलाते हैं।

१३. अन्य लेखकों के मत में सम्पत्ति के थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में पहुँच जाने का कारण लीकूर्गास की व्यवस्था नहीं थी प्रत्युत चौथी शताब्दी ई० पू० में एपीतादेयस् नामक सरपंच का चलाया हुआ नियम था। संभवतया अरिस्तू को इसका पता नहीं था। स्पार्टा के ह्रास के कारणों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।

१४. अरिस्तू के मतानुसार सम्पत्ति की रक्षा और उसकी समानता की रक्षा का उपाय यह है कि पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार में ज्येष्ठ पुत्र को मिले तथा दान-दहेज़ की प्रथा को समाप्त या सीमित कर दिया जाय।

१५. इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्पार्टा में नागरिकों की संख्या में लगातार ह्रास होता गया। पर इसके कारण एक नहीं अनेक थे, जैसे--(१) युद्धों में नागरिकों का मारा जाना, (२) भूभागों का थोड़े से व्यक्तियों अथवा स्त्रियों के हाथ में पहुँच जाना तथा (३) चतुर्थ शताब्दी में मैसेनियाँ के भूखंडों का स्पार्टा-निवासियों के हाथ से निकल जाना इत्यादि। स्वतंत्र नागरिक की आर्थिक योग्यता का चिह्न था उसके पास भूखंड का होना। अतएव पैतृक भूखंडों के दान, दहेज अथवा पराजय के कारण दूसरों के पास पहुँच जाने पर नागरिकता भी समाप्त हो जाती थी। नागरिकों की संख्या के ह्रास का क्रम निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा।

समय	नागरिकों की संख्या
४८० ई० पू०	८०००
३७१ ई० पू०	२०००
अरिस्तू के समय	१०००
२४२ ई० पू०	७००

१६. यद्यपि अरिस्तू ने सरपंच प्रथा को दोषपूर्ण कहा है पर अन्य विचारकों ने उसको उपादेय माना है और कुछ आधुनिक विचारकों ने भी किसी न किसी रूप में एक सर्वोच्च परिषद् की स्थापना को उचित ठहराया है।

१७. आन्द्रॉस् के मामले का ठीक पता नहीं चलता। न्यूमैन का अनुमान है कि अरिस्तू का संकेत ३३३ ई० पू० की किसी घटना की ओर है। इस समय फ़ारस का एक जहाज़ी बेड़ा आन्द्रॉस पहुँचा था। इसका उद्देश्य यूनान में सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह को भड़काना था। लाकैंदायमौन् निवासी पहले से ही फ़ारस की ओर थे और उनका राजा इस बेड़े से मिलने के लिये भी गया था। इससे अधिक निश्चित बात इस घटना के संबंध में विदित नहीं है।

१८. यह पता नहीं चलता कि सरपंचों का चुनाव बालिश किस कारण से कहा गया है। किसी साक्ष्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह चुनाव किस प्रकार होता था। हो सकता है कि वह वास्तविक चुनाव रहा हो। यह भी संभव है कि सरपंचों को किसी शकुन अथवा आकस्मिक चिह्न के आधार पर चुन लिया जाता हो।

१९. अरिस्तू का सुझाव यह है कि अति को सर्वत्र वर्जन करना चाहिये।

२०. जनतंत्र की यह एक महान् समस्या है। कहने को कहा जाता है कि जनता चुनाव करती है पर वास्तविकता यह है कि महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति स्वयं चुनाव के लिये खड़े होते हैं चाहे वे स्वतंत्र हों अथवा कोई दल उनका समर्थन करे। यदि इन व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षा के पीछे वास्तव में जन-सेवा की भावना न हो तो राजनीति

भी अधिकांश में एक पेशे का रूप धारण कर लेती है। अरिस्तू की सर्वग्राहिणी दृष्टि इस समस्या की जड़ तक पहुँच सकी। हमारे देश में भी डा० भगवान्दास ने इस समस्या पर विचार किया है।

२१. लाकेदायमोन् में दो राजा होते थे। ये हेराक्लिद वंश के व्यक्ति होते थे जो अपनी आयु के आधार पर चुने जाते थे। यह दोनों शासन-कार्य करते थे। अरिस्तू राजपद का विरोधी नहीं था, परन्तु वह राजपद को पैतृकता के आधार पर नहीं योग्यता के आधार पर स्थापित करना चाहता था।

२२. लाकेदायमोन् का उत्थान और पतन उसके जीवन के एकांगी लक्ष्य की स्वयं एक सनातन आलोचना है। आज के जीवन के लिये भी इससे एक महान् शिक्षा मिलती है। भारतीय जीवन में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को लक्ष्य मानकर विश्व भर के लिये एक महान् आदर्श उपस्थित किया गया है। पर संभवतया सेक्यूलरिज़्म (ऐहिकवाद) के लक्ष्य को पूर्णतया परास्त होने के लिये अभी एक और घोरतम विश्व-विध्वंसक युद्ध की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

२३. अरिस्तू ने स्पार्टा की व्यवस्था के जो दोष बतलाए हैं वे "ज़र, ज़न, ज़मीन" की शाश्वत समस्याओं के संबंध में हैं। इन समस्याओं के संबंध में उसके अपने आदर्श क्या हैं इनका विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।

१०

[क्रेते की नगर-व्यवस्था की आलोचना]

क्रेते[१] की नगर-व्यवस्था भी लगभग इस (स्पार्टा की) व्यवस्था[२] से मिलती-जुलती है; कुछ थोड़ी बातों में यह उससे बुरी नहीं है, परन्तु बाह्याकृति (स्वच्छता-सुघड़ता) में उससे घटकर है। साधारणतया देखा जाता है कि पुरातन विधान-व्यवस्थाएँ पश्चात्कालीन व्यवस्थाओं की अपेक्षा कम प्रपंचपूर्ण होती हैं, और लाकैदायमौन की व्यवस्था तो बहुत अधिकमात्रा में क्रेते की व्यवस्था की अनुकृतिमात्र कही जाती है और संभवतया है भी। परम्परागत अनुश्रुति है कि जब ल्युकूर्गस[३] ने राजा खरिल्लॉस की संरक्षकता को छोड़ दिया तो उसने विदेश-यात्रा की और अपना बहुत सा समय क्रेते में व्यतीत किया, क्योंकि दोनों देशों में बहुत निकट का संबंध था, तथा (क्रेते के एक नगर) लीक्तिया[४] के निवासी तो लाकैदायमौन के एक उपनिवेश थे। इन

उपनिवेशों को बसानेवाले ने क्रेते में आने के समय जो व्यवस्था (आदि-) वासियों में प्रचलित पाई उसी को स्वीकार कर लिया। अतएव आजकल भी क्रेते के आदिवासी उन्हीं मूल नियमों के अनुसार शासित होते हैं जिनको आदिकाल में मिनोस् के द्वारा स्थापित किया गया था।

ऐसा लगता है मानो यह द्वीप प्रकृति द्वारा ग्रीक (हैलेनेस्) जगत् में (सब पर) शासन करने के लिये ही निर्मित हुआ है और इसकी स्थिति भी बहुत अच्छी है[५]। यह (मेडीटेरेनियन सागर के) पूर्वी भाग अर्थात् (ईगियन) सागर में फैला हुआ है जिसके चारों ओर के तटों पर लगभग सारे ग्रीक (हैलेनेस्) जन बसे हुए हैं। इसका एक सिरा (पश्चिम में) पेलोपौन्नेस[६] से थोड़ी दूर है, तथा दूसरा (पूर्व में) त्रियौपियम्[७] और रोदस के आसपास एशिया के समीप पहुँचा हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मिनोस् ने सामुद्रिक साम्राज्य की स्थापना करने में किस प्रकार सफलता प्राप्त की। उसने कुछ समीपवर्ती द्वीपों को परास्त करके अपने वश में कर लिया, और कुछ अन्य द्वीपों में उपनिवेश स्थापित किये, अन्त में उसने सिकैलिया[८] (सिसली) द्वीप पर भी आक्रमण कर दिया, जहाँ कॉमिकॉस के समीप उसके जीवन का अन्त हुआ।

क्रेते और लाकैदायमौन की व्यवस्था में सादृश्य है। स्पार्टा में बँधुआ (हैलॉत्) लोग किसान हैं जब कि क्रेते में आदिवासी[९] लोग किसानी करते हैं। सहभोजों की प्रथा भी दोनों देशों में है, जो कि पुरातन काल में लाकैदायमौन निवासियों द्वारा, आजकल की तरह फिदिलिया नहीं आन्द्रेइया कहलाते थे। क्रेते में अब भी यही शब्द प्रचलित है और इस बात का प्रमाण है कि स्पार्टा के रहनेवालों ने इस प्रथा को क्रेते से ग्रहण किया था। फिर दोनों की शासन-व्यवस्थाओं में और भी समानताएँ हैं। स्पार्टा के ऐफौरौस् (सरपंच) की स्थिति (अथवा पदशक्ति) वैसी है जैसी क्रेते के कौस्मॉस्[१०] की। अंतर केवल इतना है कि सरपंचों की संख्या स्पार्टा में पाँच है एवं कौस्मॉस की संख्या क्रेते में दस है। वहाँ की स्थविर परिषद् के जवाब में यहाँ पर भी कुलीनों की परपद् है जो 'बूले' कहलाती है। स्पार्टा के समान प्राचीन काल में यहाँ (क्रेते में) भी राजा का पद था, जो पीछे समाप्त कर दिया गया। अब युद्धों में सेना के नेतृत्व का भार कौस्मॉस लोग ही वहन करते हैं। स्पार्टा के नागरिक जनों के समान ही यहाँ भी सब नागरिकों को जनपरिषद् (एक्लेसिया)[११] में उपस्थित होने का अधिकार है, परन्तु इस परिषद् को कुलीन परिपद् और कौस्मॉस् लोगों की समिति के निर्णयों को प्रमाणित करने के अतिरिक्त और कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

सहभोजों का प्रबन्ध क्रेते में निश्चय ही लाकैदायमौन की अपेक्षा अधिक अच्छा है। स्पार्टा में प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये नियत धन सहभोज के व्यय के रूप में देना पड़ता है, और यदि वह न दे तो जैसा मैंने पहले कहा है नियम उसको नागरिकता के अधिकारों का प्रयोग करने से रोक देता है। परन्तु क्रेते में सहभोज अपेक्षाकृत अधिक सार्वजनिक ढंग के होते हैं। वहाँ (ऐसी प्रथा है कि) सार्वजनिक भूमि पर उत्पन्न होनेवाली अन्न की उपज, पशुओं की पैदावार और आदिवासियों से प्राप्त हुए कररूप अन्नादि को एक सार्वजनिक भंडार में एकत्रित कर लिया जाता है; इसमें से एक भाग देव-सेवा और राष्ट्र की सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय किया जाता है और दूसरा भाग सहभोजों पर। इससे स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों सबको सार्वजनिक भंडार से भोजन प्राप्त होना संभव हो जाता है[13]। व्यवस्थाकार ने भोजन में संयम पालन कराने के निमित्त (जिसको वह एक लाभदायक बात मानता है) बहुत विचक्षण उपाय बतलाए हैं;[14] इसी प्रकार उसने पुरुषों को स्त्रियों से पृथक् रहने के लिये भी प्रोत्साहित किया है जिससे कि अत्यधिक सन्तानोत्पादन न हो सके, और पुरुषों के पारस्परिक साहचर्य (पुरुष-रति) की भी अनुमति प्रदान की है। यह पुरुषों का साहचर्य बुरा है अथवा बुरा नहीं है इसका परीक्षण किसी अन्य उचित अवसर पर किया जायगा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि क्रेते के सहभोज लाकैदायमौन वालों के सहभोजों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित होते हैं।

जहाँ तक कौस्मॉस लोगों की समिति का संबंध है, यह लोग स्पार्टा के सरपंचों से भी बुरे हैं; इनमें सरपंच संस्था की बुराई तो है पर भलाई नहीं है। सरपंचों के समान यह भी (बिना किसी योग्यता के) दैवात् प्राप्त व्यक्ति होते हैं, परन्तु क्रेते में (उनकी दैवात् उपलब्धि से उत्पन्न हुई बुराई का) संतुलन ऐसी किसी व्यवस्था संबंधी सुविधा से नहीं होता जैसा स्पार्टा में होता है। वहाँ प्रत्येक नागरिक को सरपंच पद के लिये चुने जाने का अधिकार प्राप्त है, अतएव सर्वोच्च पद के उपभोग में सब का भाग होने के कारण सभी स्वेच्छा से व्यवस्था के स्थायित्व की कामना करते हैं। परन्तु क्रेते की कौस्मॉस-परिषद् के सदस्य समग्र जनता में से नहीं चुने जाते, प्रत्युत कुछ निश्चित कुलों (जनों) में से चुने जाते हैं तथा कुलीन अथवा स्थविर (बूले के सदस्य) उन लोगों के मध्य में से चुने जाते हैं जो कौस्मॉस रह चुके हैं[15]।

(क्रेते की इस स्थविर-परिषद् बूले की) आलोचना में भी वही बातें कही जा सकती हैं जो स्पार्टा की स्थविर-परिषद् गेरूसिया के विषय में कही जा चुकी हैं। उनका

अनुत्तरदायित्व (अर्थात् किसी को लेखा-जोखा न देने का अधिकार) और आजीवन सदस्यता यह दोनों विशेषाधिकार उनकी पात्रता की अपेक्षा कहीं अधिक हैं ; तथा उनको अपनी समझ के अनुसार (न कि लिखित नियमों के अनुसार) कार्य करने की जो शक्ति प्राप्त है वह निश्चय ही पतनकारी (और भयावह) है।[२६] इस (कौस्मॉस) की संस्था की अच्छाई को सिद्ध करने के लिये यह चिह्न प्रमाणस्वरूप नहीं है कि साधारण जनता इसमें भाग न पाकर भी सन्तुष्ट रहती है। कौस्मॉस लोगों को स्पार्टा के सरपंचों के विपरीत अपने पद से अपना व्यक्तिगत लाभ उठाने का अवसर नहीं मिलता, (इसका कारण यह है कि) वे पतनकारी भ्रष्टाचार के भय से दूर एक द्वीप में निवास करते हैं।

इस संस्था के दोष का जो उपचार वे लोग करते हैं वह भी अनोखा ही है और विधानतंत्रानुसारी होने की अपेक्षा कुलतंत्रानुसारी ही अधिक है। बहुधा ऐसा होता है कि या तो कौस्मॉस लोगों के मध्य में से ही स्वयं कुछ लोग अपना गुट बना लेते हैं अथवा कुछ शासनतंत्र से संबंध न रखनेवाले अन्य लोग गुट बनाकर कौस्मॉस लोगों को उनके पद से हटा देते हैं; तथा कभी कभी उनको पदाधिकार की अवधि[२७] के मध्य में भी पदत्याग कर देने दिया जाता है। परन्तु निश्चय ही ऐसी सब बातों की व्यवस्था मनुष्यों की इच्छा मात्र के द्वारा किये जाने की अपेक्षा नियमों द्वारा होना अधिक अच्छा है; क्योंकि मनुष्यों की इच्छा तो कोई निश्चित नियम (कानून) नहीं है। इससे भी बुरी प्रथा है कौस्मॉस परिषद् का स्थगित हुआ घोषित किया जाना, जिसका आश्रय प्रायः कुलीन लोग ऐसे अवसरों पर लिया करते हैं जब वे न्याय के द्वारा अनुशासित नहीं होना चाहते[२८]। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि चाहे क्रेते की शासन-पद्धति में कुछ लक्षण वैधानिक व्यवस्था के भले ही हों पर वास्तव में वह वैधानिक व्यवस्था नहीं है, प्रत्युत अपेक्षाकृत कुल-(पुत्र-)तंत्र ही अधिक है।

इन कुलीन लोगों में एक आदत यह भी है कि अपने अनुयायियों और साधारण जनता में भेद डाल देना, भेदनीति के आधार पर अनेकों एकराट् तंत्रों की स्थापना करना और तब कलह और संग्राम छेड़ देना। परिणामतः यह स्थिति अल्पकालिक राष्ट्र-विघटन तथा सामाजिक शिथिलीकरण से भला किस प्रकार भिन्न है ? जो नगर इस अवस्था को प्राप्त हो गया है वह भयावह अवस्था में है, क्योंकि जो उस पर आक्रमण करने के इच्छुक रहे होंगे (ऐसी अन्तःकलह की स्थिति में) उनको (आक्रमण करने की) शक्ति भी मिल जायगी। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है क्रेते द्वीप की स्थिति

इसकी रक्षा करती रही है। इस द्वीप की दूरी इसके लिये वही काम करती है जो लाकैदायमीन् के लिये वहाँ का विदेशी-निषेधादेश करता है[१९]। क्रेते के (समुद्र के मध्य में) सबसे अलग दूर पर स्थित होने के कारण ही यहाँ के आदिवासी शान्त रहते हैं जब कि स्पार्टा के बंधुए दास प्रायः विद्रोह करते रहते हैं। क्रेते के अधिकार में विदेशी उपनिवेश तो हैं ही नहीं, अभी हाल में विदेशी आक्रमणकारियों ने द्वीप में प्रवेश किया है और क्रेते में विदेशी शासन की स्थापना हुई है, जिससे उसकी शासन-पद्धति की दुर्बलता स्पष्ट प्रकट हो गई[२०]।

क्रेते की शासन-पद्धति के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया उतना ही पर्याप्त है।

टिप्पणियाँ

१. क्रेते (अंग्रेजी क्रीट) द्वीप भूमध्यसागर के दक्षिणी-पूर्वी भाग में स्थित है। पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोजों से यह पता चला है कि ग्रीक लोगों के आने से पहले इस द्वीप में एक अपेक्षाकृत अधिक पुरातन एवं समृद्ध सभ्यता का केन्द्र था। इस सभ्यता को अंग्रेजी में मिनोअन (Minoan) सभ्यता कहते हैं। यह सभ्यता किस जाति के लोगों की थी इसका अभी तक निश्चय नहीं हो सका है, इतना निश्चय है कि यह लोग न आर्य थे और न सैमेटिक। कुछ विद्वानों ने भाषा-संबंधी स्वल्प-साम्य के आधार पर इनको द्रविड़ जाति से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। यों आपाततः क्रेते के पौराणिक राजा मिनौस् और मनु के नाम में भी साम्य प्रतीत होता है पर इतने से ध्वनिगत साम्य पर ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता।

इस सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है और लगभग ३५०० ई० पू० तक पहुँचता है। इस प्राचीन इतिहास का अध्ययन सर आर्थर इवांस नामक विद्वान् ने विशेष रूप से किया है। उन्होंने इसको तीन भागों–प्रारंभिक, मध्य और पश्चात्कालीन भागों- में विभक्त किया है और तदनन्तर इन तीनों भागों के भी तीन अवान्तर भेद–विकास, परम समृद्धि और पतन किये हैं। क्नौसस् नामक स्थान की खुदाई करने पर वहाँ पर मिनौस् का राजप्रासाद मिला है जिससे इस सभ्यता के विषय में बहुत कुछ बातें ज्ञात हो सकी हैं। यह प्राचीन क्रेते-निवासी अत्यन्त सभ्य और समृद्ध थे तथा इनका व्यापार भी चारों ओर के देशों के साथ चला करता था। इसी कारण इस सभ्यता का प्रभाव मीकेनाय, तिरीन्स और थेबैस नामक कुछ ग्रीक स्थानों पर भी पड़ा। कुछ विद्वान् तो इन स्थानों की बस्तियों को क्रेते के उपनिवेश मानते हैं।

कहते हैं कि लगभग १७००ई०पू० में इस सभ्यता पर कोई अज्ञात महान् विपत्ति आई थी। कह नहीं सकते कि यह विपत्ति कोई विकट भूकम्प के रूप में थी अथवा विदेशी आक्रमण के रूप में या आन्तरिक विद्रोह अथवा क्रान्ति के रूप में। पर इसने क्रेते की सभ्यता को तहस-नहस कर डाला। इस विनाश से पुनः उठने के लिये सम्भवतया १०० वर्ष से अधिक समय लग गया। स्यात् १४०० ई० पू० के लगभग यूनानी आक्रान्ताओं ने इस पुरातन सभ्यता को पूर्णतया विध्वस्त कर दिया और तब से यह द्वीप ग्रीक लोगों के अधिकार में चला गया। पर यूनानी-काल में क्रेते की पुरानी कीर्ति और कान्ति नहीं लौट सकी। तथापि पुरातन मिनोअन संस्कृति का प्रभाव विजेताओं की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर पड़े विना नहीं रह सका। इस सभ्यता सेसंबंध रखनेवाले अनेकों उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हैं पर वे अभी तक ठीक पढ़े और समझे नहीं जा सके हैं। पर मिनौस् के संबंध में अनेकों कथाएँ ग्रीक पौराणिक साहित्य में मिलती हैं।

२. यहाँ अरिस्तू ने जिस व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया है वह उसकी समकालीन व्यवस्था है, जिसमें मिनोअन् सभ्यता के कुछ अवशेष अज्ञातरूपेण अवश्य अवशिष्ट रहे होंगे।

३. ल्यू (ली ?) कूर्गास् के लिये पिछले खंड की टिप्पणियाँ देखिये। खरिल्लॉस अथवा खरिलौस् लाकैदायमौन् का राजा था जिसके बाल्यकाल में लीकूर्गास् ने उसकी देखभाल की थी और उसको शिक्षा भी दी थी।

४. ली(ल्यू)क्तिया क्रेते द्वीप का एक नगर था।

५. क्रेते की भौगोलिक स्थिति वास्तव में बहुत अच्छी है। इसी कारण इस द्वीप ने मिनौस् काल में इतनी महान् उन्नति की।

६. पेलोपौन्नेस(—सस्) यूनानी प्रायद्वीप का दक्षिणतम भाग है। इस शब्द का अर्थ है पैलौप्स राजा के द्वीप। इसके प्रमुख राजनीतिक विभाग, आर्गास्, लाकोनिया, मैसेनिया, ऐलिस्, अखैया और अर्कादिया थे।

७. त्रियौपियम् का दूसरा नाम क्रियो अन्तरीय भी है। रोदस (अथवा रोदॉस्) द्वीप क्रेते के उत्तरपूर्व में है।

८. सिकैलिया (अथवा सिसिली) द्वीप इटली के दक्षिण-पश्चिम में है।

९. आदिवासी वे लोग हैं जो ग्रीक लोगों के आने से पहले क्रेते में निवास करते थे तथा जिनको ग्रीक लोगों ने जीत लिया था।

१०. कौस्मॉस् शब्द एकवचन का रूप है। मूल में इसके बहुवचन 'कौस्मॉइ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

११. वूले नामक परिषद् का स्थान क्रेते में वही था जो स्पार्टा में गेरूसिया (स्थविर-परिषद्) का था। स्वयं अथेंस में भी इस प्रकार की परिषद् का नाम 'वूले' ही था। इसके विषय में अधिक विस्तृत विवरण "अथेंस के संविधान" में मिलेगा।

१२. एक्लेसिया सभी नागरिकों की परिषद् का नाम था। अथेंस में भी यही शब्द प्रयोग में आता था। ईसाई धर्म ने भी इसी शब्द को ग्रहण किया, उसी अर्थ में जिसमें 'मिल्लत' शब्द को इस्लाम ने ग्रहण किया है। इसी से 'कलीसा' और 'गिरजा' शब्दों की उत्पत्ति हुई है।

१३. अरिस्तू ने भी अपनी आदर्श व्यवस्था में इस पद्धति को स्वीकार किया है।

१४. भोजन में संयम रखने से एक साथ स्वास्थ्य-लाभ और रोगों से मुक्ति दो लाभ होते थे।

१५. इससे स्पष्ट है कि क्रेते के कौस्मॉस् लोगों का चुनाव सब को समान रूप से सन्तोषप्रद नहीं रहा होगा।

१६. तुलना कीजिये "All power corrupts and absolute power corrupts absolutely" अथवा "तप से राज्य और राज्य से नरक की प्राप्ति होती है।"

१७. कौस्मॉस् लोगों के कार्यकाल की अवधि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। संभव है कि यह नियुक्ति जीवन-पर्यन्त रहती हो।

१८. जो लोग दूसरों का शासन अथवा नियमन करने के लिये नियुक्त हों और वे स्वयं नियम अथवा न्याय को न मानें तो इससे अधिक बुरा और क्या हो सकता है ?

१९. स्पार्टा में विदेशी निषेधाज्ञा के कारण प्रवेश नहीं कर सकते और क्रेते अन्य स्थानों से इतनी दूर है कि यहाँ दूरी के कारण विदेशी लोग सरलता से अधिक संख्या में आकर आक्रमण नहीं कर सकते।

२०. यदि उनकी शासन-पद्धति ठीक होती तो देश की जनता समृद्ध और सन्तुष्ट होती। उनका रक्षा-विभाग सतर्क, समर्थ और सबल होता। पर विदेशियों को वहाँ सफलता प्राप्त हो सकी, इसका कारण वहाँ की व्यवस्था का त्रुटिपूर्ण होना है। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी देश में चिरकाल तक शान्ति और समृद्धि रहने के कारण जनता यों ही वाह्य रक्षा के प्रति उदासीन हो जाती है। ऐसे अवसरों पर वाहरी आक्रमणकारी अचानक ही सफल हो जाते हैं। संसार के इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं। इसलिये किसी भी व्यवस्था की उत्तमता की कसौटी उसकी सतत जागरूकता (eternal vigilance) है। तभी कहा भी है कि Eternal vigilance is the price of freedom. स्वाधीनता का मूल्य सतत जागरूकता है।

११

कार्थेज की शासन-व्यवस्था

कार्खीदौन्[1] (कार्थेज) निवासियों की शासन-व्यवस्था को सामान्यतया उत्तम माना जाता है, जो किसी अन्य राष्ट्र की शासन-पद्धति से अनेकों बातों में भिन्न है, और जहाँतक इसका किसी अन्य पद्धति के समान होने का सवाल है तो इस विषय में यह कहा जा सकता है कि यह कुछ बातों में लाकैदायमौन् की व्यवस्था से बहुत मिलती-जुलती है। सच तो यह है कि इन तीनों देशों की व्यवस्थाएँ जिनका हम वर्णन कर रहे हैं—अर्थात् क्रेते, लाकैदायमौन् और कार्खीदौन् की व्यवस्थाएँ—एक दूसरी से अत्यन्त निकटता का सादृश्य रखती हैं तथा अन्य राष्ट्रों से बहुत अधिक भिन्न हैं। कार्खीदौन् की बहुत-सी संस्थाएँ निश्चय ही अत्यन्त अच्छी हैं। उसकी शासन-पद्धति की सुव्यवस्थितता[2] का प्रमाण यह है कि इतनी अधिक जनसंख्या होते हुए भी साधारण जन शासन-व्यवस्था के नियमों के प्रति (स्थायी रूप से) अनुरक्त बने रहे हैं; न तो उनके यहाँ कोई वर्णन करने के योग्य जन-विप्लव ही हुआ है और न कभी वह तानाशाही के शासनाधीन रहे हैं।

जिन बातों में कार्खीदौन् और लाकैदायमौन् की शासन-व्यवस्थाओं में समानता है वे निम्नलिखित हैं:—मित्रमण्डलियों के सहभोज लाकैदायमौन् के 'फिदितिया' के समान हैं; उसका १०४ मनुष्यों का शासक-मंडल स्पार्टा के सरपंचों के समान है, परन्तु इतना अन्तर है कि स्पार्टा के सरपंच तो कोई दैवात् उपलब्ध व्यक्ति हो सकते हैं, किन्तु कार्खीदौन् के शासक गुणोत्कर्ष के आधार पर चुने जाते हैं और यह एक बढ़कर बात है। और यहाँ के राजे और स्थविर-परिषद् भी स्पार्टा के राजों और स्थविर-परिषद् के समान ही हैं। पर कार्थेज में अधिक अच्छी बात यह है कि उसके राजा (स्पार्टा की पद्धति के प्रतिकूल) सर्वदा एक ही कुटुम्ब में से—और सो भी किसी गुण-निर्विशिष्ट कुटुम्ब में से नहीं होते; परन्तु जिस समय जो परिवार विशिष्टतायुक्त होता है राजा उसी में से छाँटकर चुन लिया जाता है, स्पार्टा की तरह वार्धक्य के आधार पर नियुक्त नहीं किया जाता। इन अधिकारियों को महान् शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, अतएव यदि ऐसे अधिकारी कोई ओछे व्यक्ति हुए तो वे बहुत हानि कर सकते हैं, जैसे कि लाकैदायमौन् में यह लोग सचमुच ही राष्ट्र को वास्तविक हानि पहुँचा चुके हैं[3]।

अपने आदर्श शासन-सिद्धान्त से जिन स्खलनों के कारण कार्थेज की शासन-व्यवस्था की निन्दा की जायगी उनमें से अधिकांश उन सब अन्य व्यवस्थाओं के पक्ष में भी समान हैं जिनका हमने उल्लेख किया है। परन्तु जिन बातों में यह व्यवस्था श्रेष्ठतंत्र और और विधानतंत्र[४] से विलग होती है उनमें से कुछ का झुकाव जनतंत्रवाद की ओर अधिक है और कुछ का कुलीनतंत्र की ओर। यदि राजा[५] लोग और स्थविरगण एकमत हों तो वे यह निर्णय कर सकते हैं कि अमुक विषय को जनपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया जाय या नहीं, और यदि वे उसको जन-परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने के विषय में परस्पर सहमत न हों तो जनपरिषद् को भी उस विषय पर निर्णय करने की समान-रूपेण स्वतंत्रता प्राप्त है। एवं राजा और स्थविरगण (एकमत होकर) जो विषय जनता के समक्ष उपस्थित करते हैं, वह उनके द्वारा केवल सुना और सुनकर प्रमाणित ही नहीं कर दिया जाता प्रत्युत सम्मति-प्रदर्शनपूर्वक जनपरिषद् के द्वारा उसका निर्णय भी किया जाता है; तथा यदि जनपरिषद् के किसी सदस्य की इच्छा हो तो वह उस विषय का विरोध भी कर सकता है; पर अन्य दो (लाकैदायमौन् और क्रेते के) विधानों में जनपरिषद् को यह अधिकार प्राप्त नहीं हैं। ऐसी पंचमंडलियों[६] का, जिनके अधि-कार में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हों, पारस्परिक आपसी पसन्द से चुना जाना, उनके द्वारा १०० (+४) सदस्यों की सर्वोच्च परिषद् का चुना जाना, तथा उन (मंडलियों) का अन्य अधिकारियों की अपेक्षा अधिक समय तक पदारूढ़ रहना (क्योंकि वे तो व्यावहारिक रूप में पदाधिकार ग्रहण करने की अवधि के पूर्व भी और पश्चात् भी शासक रहते ही हैं)—यह सब अल्पजनतंत्र (अथवा कुलीनतंत्र) के लक्षण हैं। दूसरी ओर उनका अवैतनिक होना, गुटिका द्वारा नियुक्त न किया जाना, और अन्य भी कई इसी प्रकार की बातें—जैसे कि सब व्यवहारों (विवादों) का किन्हीं भी अधिकारी-मंडलों द्वारा निर्णय किया जाना, न कि कुछ का निर्णय एक प्रकार के और कुछ का निर्णय अन्य प्रकार के न्यायाधीशों द्वारा किया जाना, जैसा कि लाकैदायमौन में होता है—यह सब लक्षण श्रेष्ठतंत्र के हैं[७]। कार्खीदौन् की व्यवस्था, विशेषकर उस विचार में श्रेष्ठ तंत्र के मार्ग से हटकर कुलीनतंत्र[८] की ओर झुकती है जिसके पक्ष में सामान्य-रूपेण बहुत से लोगों का अनुकूल समर्थन पाया जाता है। (क्योंकि साधारणतया मनुष्यों का विचार है कि) शासनाधिकारी लोग केवल अपने गुणोत्कर्ष के आधार पर ही नहीं, प्रत्युत सम्पत्ति के आधार पर भी चुने जाने चाहिये; उनका कहना है कि जो व्यक्ति निर्धन होता है वह ठीक शासन नहीं कर सकता—उसको अपने कर्तव्य-पालन के लिये अवकाश ही नहीं मिल पाता। अतएव यदि शासनाधिकारियों को सम्पदा के

आधार पर चुनना कुलीनतंत्र का लक्षण हो और गुणोत्कर्ष (अथवा योग्यता) के आधार पर चुनना श्रेष्ठतंत्र का, तो शासन का एक तीसरा प्रकार और होगा, जिसके अन्तर्गत इस कार्थीदौन् की व्यवस्था की गिनती होगी; क्योंकि वहाँ के निवासी अपने शासनाधिकारियों को—और मुख्यतया सर्वोच्च शासकों को (अर्थात् राजाओं और सेनानायकों को)——योग्यता और सम्पत्ति दोनों पर ही दृष्टि रखते हुए चुनते हैं।

विशुद्ध श्रेष्ठतंत्र के सिद्धान्त से इस प्रकार हट जाने को व्यवस्थाकार की गलती मानना पड़ेगा। सबसे आवश्यक बात, जिसको उसे सबसे पहले ध्यान देना चाहिये, यह है कि ऐसा प्रबंध किया जाय कि सर्वोच्च (योग्यतम) वर्ग के लोगों को, न केवल पदारूढ़ होने के समय प्रत्युत व्यक्तिगत जीवन में भी पर्याप्त अवकाश मिल सके, तथा वे अशोभन व्यवसायों को करने की विवशता से बचे रहें[९]। यदि यह भी मान लिया जाय कि सावकाश व्यक्तियों की उपलब्धि के लिये धन पर दृष्टि रखना भी ठीक है, तो भी कार्थीदौन् की यह प्रथा तो सर्वथा निन्दनीय है कि राजाओं और सेनानायकों सरीखे सर्वोच्च पद भी क्रय-विक्रय का विषय हों। जो नियम (इस बुराई को प्रश्रय देता है) वह धन को सद्गुण की अपेक्षा अधिक सम्मानित बनाता है और सारे राष्ट्र को लोलुपता की भावना से भर देता है। क्योंकि जब राष्ट्र के प्रमुख व्यक्ति किसी बात (अथवा वस्तु) को अच्छा समझते हैं तो अन्य नागरिक भी निश्चयमेव उनके आदर्श का अनुकरण करते हैं[१०]; जहाँ सद्गुण (=योग्यता) को सर्वोच्च सम्मान का स्थान प्राप्त नहीं होता वहाँ श्रेष्ठतंत्र व्यवस्था भली भाँति स्थायी नहीं हो सकती। जिन लोगों ने अपने पद को मोल लेने में धनव्यय किया है उनसे स्वाभाविकतया यह आशा की जा सकती है कि वे अपने को लाभान्वित करने की प्रवृत्ति रखते ही होंगे; यह कल्पना करना तो मूर्खता होगी कि निर्धन किन्तु ईमानदार व्यक्ति तो लाभ कमाने की इच्छा संभवतया कर सकते हैं, परन्तु दुःस्वभाव और नीच पुरुष जो धन-व्यय कर चुका है लाभ उठाना नहीं चाहेगा। अतएव सबसे भली बात यही है कि जो व्यक्ति सबसे अच्छा शासन करने की क्षमता रखते हों उनको शासन करने दिया जाय; और यदि व्यवस्थाकार योग्यतम व्यक्तियों के लिये पर्याप्त जीविका का स्थायी प्रबन्ध नहीं भी करता है तो भी उसको कम से कम उन लोगों के लिये तो अवकाश का प्रबन्ध करना ही चाहिये जो (निर्धन होते हुए) पदारूढ़ हैं[११]।

यह भी एक दोष प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति अनेक पदों पर अधिकृत हो, और कार्थीदौन् में ऐसा होना सर्वविदित है। प्रत्येक कार्य का सम्पादन तभी उत्तम

प्रकार से होता है जब वह एक व्यक्ति के द्वारा किया जाता है। व्यवस्थाकार को ध्यान रखना चाहिये कि इस नियम का पालन किया जाय तथा एक ही व्यक्ति को बाँसुरी बजाने और जूता बनाने के लिये नियुक्त नहीं करना चाहिये। अतएव जहाँ राष्ट्र छोटा न हो, वहाँ राष्ट्र के शासक पदों का बहुत से मनुष्यों में बँटा होना, वैधानिक एवं जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इस प्रकार का प्रबन्ध अपेक्षाकृत अधिक पक्षपातरहित होता है, और कोई भी कार्य बार-बार किये जाने पर सुविज्ञात हो जाता है और तब सुष्ठुता और शीघ्रतापूर्वक किया जा सकता है। यह बात सैनिक और नाविक विषयों में स्पष्टतया प्रकट होती है। इन दोनों ही क्षेत्रों में आज्ञा देने और आज्ञापालन करने का कार्य सर्वत्र व्याप्त रहता है (अर्थात् सब पर लागू होता है[१२]।)

कार्खीदौन् की व्यवस्था (एक सीमा तक श्रेष्ठतंत्र का अनुसरण करने पर भी) व्यावहारिक रूप में कुलीनतंत्रात्मक ही है। परन्तु समय-समय पर जनता के एक भाग को बारी-बारी से उपनिवेशों में भेजकर और इस प्रकार उनको सम्पन्न बनने का अवसर देकर यहाँ के निवासी इस पद्धति के दोषों से बड़ी सुन्दरता के साथ बच जाते हैं।[१३] यही उनकी सर्वरोगहारिणी औषधि है और व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने का उपाय है। और फिर दैवयोग भी उनकी सहायता करता (प्रतीत होता) है; पर क्रान्ति के भय को रोकने का सच्चा उपाय तो व्यवस्थाकार की (उत्तम) व्यवस्था होनी चाहिये न कि दैवयोग। प्रस्तुत परिस्थिति जिस प्रकार की है उसमें यदि कोई दुर्भाग्य[१४] घटित हो जाय और अधिकांश जनसमूह शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे तो इस व्यवस्था में नियम द्वारा शान्ति स्थापित करने का कोई उपाय (अथवा इलाज) नहीं है।

लाकैदायमौन्, क्रेते और कार्खीदौन् की शासन-व्यवस्थाओं का लक्षण यही (जैसा कि वर्णन किया गया) है—जो व्यवस्थाएँ उचितरूपेण ही सुविख्यात हैं।

टिप्पणियाँ

१. कार्खीदौन् (अथवा कार्खेदौन्) का अंग्रेजी नाम कार्थेज है। यह स्थान अफ्रीका के उत्तरी तट के मध्य में स्थित है और ट्यूनिस के पास है। सार्डीनिया द्वीप इसके उत्तर में और सिसिली द्वीप उत्तर-पूर्व में है। कार्थेज वास्तव में फ़ौइनिके के फीनी-शियन (संस्कृत पणि=वणिक् ?) लोगों का उपनिवेश था जो कि तीरे (Tyre)

नगर के निवासियों ने ई० पू० नवीं शताब्दी के लगभग बसाया था। यह जाति अत्यन्त प्राचीन काल से सामुद्रिक यात्रा और व्यापार के लिये विख्यात रही है। कुछ विद्वान् ऋग्वेद के पणि शब्द को इन्हीं लोगों का वाचक मानते हैं। ग्रीक भाषा की वर्णमाला इन्हीं लोगों का आविष्कार कही जाती है।

कार्खी (र्खे) दौन् की शासन-पद्धति मुख्यतया श्रेष्ठतंत्र (अरिस्तौक्रातिया) के सिद्धान्तों पर आश्रित थी। शासनतंत्र मुख्यतया दो प्रमुख शासकों और एक परिषद् के हाथ में था। आरंभ में यह दोनों शासक संभवतया न्यायाधीश थे पर धीरे धीरे उनको शासनात्मक अधिकार भी प्राप्त हो गये थे। युद्धकाल में यही सेनानायकों का पद ग्रहण कर लेते थे। ग्रीक लोग इनको बसीलेइस् और रोमन लोग रेगेस कहते थे। इन दोनों ही शब्दों का अर्थ राजा है। कभी कभी रोमन् लोग इनको प्राएतोरेस् भी कहा करते थे। पर अपनी भाषा में इनका जो नाम था उसका रोमन रूप सुफ़ेतेस् (Suffetes) है। यद्यपि यह अधिकार केवल एक वर्ष के लिये प्रदान किया जाता था पर ई० पू० ५२० और ई० पू० ३०० के मध्य में यह पद प्रथमतः मागो के वंश में और तदनन्तर हन्नो के वंश में सामित बना रहा। जैसा कि अरिस्तू ने वर्णन किया है इस नगर की शासन-पद्धति विशुद्ध श्रेष्ठतंत्र नहीं थी उसमें अल्पजनतंत्र (ऑली-गार्खिया) और जनतंत्र के तत्त्वों का भी उचित मात्रा में सम्मिश्रण था।

फ़ीनीशियन लोग अपने समय के अत्यन्त साहसी व्यापारी थे। पूर्व और पश्चिम में दूर दूर तक इनका व्यापार चलता था। जिब्राल्टर से लेकर लघु एशिया तक यह प्रायः उस समय की सभी बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार किया करते थे। सम्पत्ति की वृद्धि के साथ ही साथ इनकी राजनीतिक शक्ति भी बढ़ी-चढ़ी थी। रोमन साम्राज्य के आरंभिक काल से ही इनकी रोम के साथ संधियाँ होने लगी थीं। इनके फल-स्वरूप रोमन साम्राज्य को कार्थेज की ओर बढ़ने में सफलता नहीं मिली।

इनका जहाज़ी बेड़ा अजेय और परम शक्तिशाली था। इसका संचालन स्वयं कार्थेज के नागरिकों के हाथ में था। पर इनकी सेना वेतनभोगी विदेशियों की थी। यह इतना बड़ा नगर था कि इसकी अवनति के दिनों में भी इसकी जनसंख्या ७ लाख के लगभग थी।

२. अरिस्तू के हृदय में ग्रीक जाति के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति होते हुए भी उसने एक ग्रीकेतर जाति की शासन-व्यवस्था का प्रशंसात्मक वर्णन किया। यह कुछ विचित्र सी बात लगती है। पर उसने ऐसा संभवतया इसलिये किया क्योंकि कार्थेज की शासन-व्यवस्था एक मिश्रित व्यवस्था है और ऐसी व्यवस्था अरिस्तू की सम्मति में सर्वोत्तम होती है।

३. अरिस्तू के मत में लाकेदायमौन् के राजा लोग अयोग्य और स्वार्थपरायण थे। उनकी अविश्वसनीयता के विषय में वह पहले भी लिख चुका है।

४. श्रेष्ठतंत्र और संविधानतंत्र शब्दों का प्रयोग यहाँ जिस अर्थ में हुआ है उसको स्पष्टतया समझ लेना चाहिये। यूनानी राजनीति में कई प्रकार की शासन-पद्धियाँ चलती थीं, जैसे (१) वसीलेइया (=कुलक्रमागत राजा का शासन), (२) अरिस्तौक्रातिया (=गुणों और योग्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ लोगों का शासन), (३) औलिगार्खिया (=अल्पसंख्यक धनिक लोगों का शासन) (४) देमौक्रातिया (=बहुजनों का जनतंत्र), (५) तिरान्नै (=तानाशाही) इत्यादि। प्रस्तुत प्रसंग में अरिस्तू ने मूल में अरिस्तौक्रातिया और पौलितेइया शब्दों का प्रयोग किया है तथा यहाँ इनका अनुवाद "श्रेष्ठतंत्र और विधानतंत्र" किया गया है। यों तो "पौलितेइया" शब्द का सामान्य अर्थ किसी भी प्रकार का संविधान अथवा शासन-व्यवस्था अथवा राजनीति है पर यहाँ उसका अर्थ है "मिश्रित वैधानिक शासन-पद्धति" जो अरिस्तू के मत में श्रेष्ठ प्रकार की व्यवस्था है क्योंकि इसमें वसिलेइया, अरिस्तौक्रातिया, औलिगार्खिया और देमौक्रातिया सभी के तत्त्वों का समन्वित मिश्रण पाया जाता है। इसी कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मानों अरिस्तू ने अरिस्तौक्रातिया और पौलितेइया शब्दों का व्यवहार उनको समानार्थक मानकर किया हो, क्योंकि औलिगार्खिया और देमौक्रातिया के विशुद्ध रूपों में अरिस्तौक्रातिया का अंश न रहने के कारण उनको न अरिस्तौक्रातिया कहा जा सकता है और न पौलितेइया। आगे भी जहाँ पौलितेइया शब्द का अर्थ मूल पुस्तक में केवल व्यवस्था अथवा संविधान होगा तो उसका अनुवाद इन्हीं शब्दों द्वारा किया जायगा, पर जहाँ उसका अर्थ मिश्र-व्यवस्था होगा तो उसका अनुवाद यथासंभव "संविधानतंत्र" शब्द से किया जायगा।

५. इनका नाम कार्थेज में "सुफ़ेते" था और इनकी संख्या दो होती थी।

६. पंचमंडलियों के लिये मूल में "पैन्तार्कि(खि)या" शब्द आया है जिसका अर्थ पाँच अधिकारियों का समूह। इनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। लिडैल् और स्कॉट के कोश के अनुसार यह लोग कार्थेज की शासन-पद्धति में "सुफ़ेते" के पश्चात् सर्वोच्च शासनाधिकारी होते थे।

७. लाकेदायमौन् (स्पार्टा) और कार्खो (खें) दौन् दोनों ही राष्ट्रों की व्यवस्था में न्याय करने का काम शासनाधिकारियों द्वारा किया जाता था न कि नागरिक परिषद् द्वारा। अन्तर इतना था कि स्पार्टा में विभिन्न प्रकार के व्यवहार (मामले) पृथक् पृथक् शासनाधिकारियों द्वारा निर्णीत होते थे पर कार्थेज में सब प्रकार के व्यवहार सब शासनाधिकारियों द्वारा निर्णय किये जा सकते थे। इससे यह स्पष्ट नहीं होता

1089

कि अरिस्तू ने क्यों स्पार्टा की पद्धति को अल्पजनतंत्रात्मक और कार्थेज की पद्धति को श्रेष्ठतंत्रात्मक कहा है। संभवतया स्पार्टा की न्यायप्रणाली को अल्पजनतंत्रात्मक इसलिये कहा गया है क्योंकि इसके अनुसार किसी एक प्रकार के व्यवहारों का फैसला करनेवाले न्यायकर्ताओं की संख्या स्वल्प ही रहती होगी। पर क्योंकि सब प्रकार के व्यवहारों का निर्णय करने के लिये बहुत से न्यायाधिकारियों को नियुक्ति प्राप्त होती रही होगी, इस दृष्टि से इस पद्धति को जनतंत्रात्मक भी कहा जा सकता है। दूसरी ओर, कार्थेज की पद्धति को श्रेष्ठतंत्रात्मक इस अर्थ में कहा गया है कि जब सब शासनाधिकारी सब प्रकार के व्यवहारों का निर्णय कर सकते थे तो सब में सद्गुण और योग्यता व्यापक रूप में पाई जाती रही होगी और योग्यता ही श्रेष्ठतंत्र का लक्षण है।

८. कुलीनतंत्र, अल्पजनतंत्र अथवा धनिकतंत्र यह सब शब्द औलिगार्खिया के हिन्दी रूपान्तर हैं। धनिक लोग थोड़े होते हैं और उनको अपनी कुलीनता पर गर्व होता है। पाश्चात्य देशों में धनवत्ता और कुलीनता अत्यन्त प्राचीन काल से सहचरी रही हैं। पर भारतवर्ष में ऐसा नहीं रहा है।

९. योग्य लोगों के योगक्षेम की व्यवस्था राष्ट्र और राष्ट्र के संविधान को करनी चाहिये, ऐसा अरिस्तू का मत है। स्वयं उसके योगक्षेम की व्यवस्था कुछ समय हर्मेइयास् ने और तत्पश्चात् अलैक्षान्द्र ने की थी।

१०. तुलना कीजिये :--

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥ गीता ३।२१

११. यदि ऐसा नहीं होगा तो या तो राष्ट्र को योग्य किन्तु निर्धन व्यक्तियों की योग्यता का लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा और या निर्धन योग्य व्यक्ति पदारूढ़ होकर भ्रष्टाचार का शिकार बनेंगे।

१२. क्योंकि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर उससे ऊँचा अधिकारी होता है और उसके नीचे उसकी आज्ञा माननेवाले अनुचर होते हैं।

१३. कार्खेदौन् के निवासी महान् नाविक शक्ति से युक्त थे अतएव उन्होंने बहुत से उपनिवेश बसाये थे तथा इन उपनिवेशों के रहनेवाले व्यापार के द्वारा धनवान् बन जाते थे।

१४. कार्खेदौन् के दुर्भाग्य का समय अरिस्तू की आँखों के सामने नहीं था। इस व्यापारी जाति का जब रोमन जाति से संघर्ष हुआ तो उस दुर्भाग्य का समय आया और ई० पू० २६४ से लेकर ई० पू० १४६ तक के मध्य में तीन प्यूनिक युद्धों में कार्थेज की शक्ति का अन्त हो गया। इन युद्धों में दूसरा युद्ध, जिसमें महाबली हन्नीबाल को पराजित होना पड़ा, विश्व-इतिहास की महान् घटना है।

१२

अन्य नियम-निर्माताओं का विवरण[1]

जिन लोगों ने शासन-व्यवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत किया है उनमें से कुछ ने सार्वजनिक कार्यों में कभी भाग नहीं लिया था, प्रत्युत व्यक्तिगत स्थिति में ही जीवन व्यतीत किया था। उनमें से लगभग सबके विषय में जो कुछ कहने योग्य था कहा जा चुका है। कुछ अन्य लोग ऐसे थे जिन्होंने क्रियात्मक रूप से या तो अपने नगर के लिये अथवा किसी दूसरे नगर के लिये विधान-निर्माण का काम किया था और जो इस प्रकार शासन-कार्य से संबद्ध रहे थे। इनमें से भी कुछ केवल नियम (कानून) बनाने का काम करनेवाले थे एवं कुछ अन्य संविधान (=व्यवस्था) और नियम दोनों का निर्माण करनेवाले थे। उदाहरणार्थ लोकूर्गास्[1] और सौलोन्[2] दोनों ही प्रकार का काम करनेवाले थे---उन्होंने न केवल नियमों का निर्माण किया प्रत्युत संविधानों की भी रचना की। लाकैदायमौन् की व्यवस्था के विषय में तो मैं कह ही चुका हूँ। सौलोन् के विषय में कुछ लोगों का विचार है कि वह एक उत्तम नियम-निर्माता था जिसने कुलीन (धनिक) तंत्र को, (जो कि सर्वसत्तासंपन्न था) समाप्त कर दिया, साधारण जनता को दासता से मुक्त कर दिया और (अथेन्स की) उस पुरातन पैतृक जनतंत्र-पद्धति की स्थापना की जिसके अन्तर्गत राष्ट्र के विविध अंगों का सुन्दर समन्वय घटित हुआ। (इन लोगों की सम्मति में) आरेयोपागस्[3] की परिषद् कुलीनों (धनिकों) की संस्था थी; चुना हुआ शासक-मंडल श्रेष्ठ (योग्य नागरिक) लोगों की, और सार्वजनिक न्यायालय जनसाधारण की। पर वास्तविकता तो ऐसी प्रतीत होती है कि धनिक परिषद् और चुने हुए शासकों का मंडल यह दोनों तो उसके पूर्व से ही चले आ रहे थे; उसने उनको समाप्त नहीं किया, बना रहने दिया। पर उसने न्यायालयों की सदस्यता को प्रत्येक नागरिक के लिये उन्मुक्त करके जनतंत्र के सिद्धान्त का सूत्रपात निश्चयमेव किया। इसी कारण उसके आलोचकों द्वारा उसको दोष भी दिया जाता है क्योंकि यह कहा जाता है कि उसने न्यायालयों को (जिनके सदस्य गुटिका-पद्धति से चुने जाते हैं) सब मामलों में सर्वोच्च सत्ता प्रदान करके इतर तत्त्वों को वास्तव में समाप्त कर दिया। आगे चलकर जब न्यायालयों की शक्ति बढ़ गई तो जिस प्रकार तानाशाहों की चापलूसी करते हैं इसी प्रकार तानाशाह-जनता की चापलूसी और प्रसन्नता के लिये पुरातन विधान को प्रस्तुत चरम प्रजातंत्र-प्रणाली के रूप में बदल दिया गया। ऐफियाल्तेस्[4] और पैरिक्लेस्[5] ने आरेयोपागस् की शक्ति को, काट-छाँट

करके, घटा दिया; पैरिक्लेस् ने न्यायालय के सदस्यों को भत्ता देने का नियम निर्धारित किया। इस प्रकार प्रत्येक लोकनायक ने बारी-बारी से जनतंत्र की शक्ति को वढ़ाया और अन्ततोगत्वा वह बहुत अधिक बढ़कर अपने वर्त्तमान स्वरूप को प्राप्त हो गई। यह सब है तो सत्य; परन्तु ऐसा सौलोन् के अभिमतानुसार घटित हुआ प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत परिस्थितिवशात् ऐसा हो गया है। फारस (मेदीस)[६] के साथ युद्ध में (अथेन्स) के सामुद्रिक साम्राज्य को प्राप्त करने का कारण होने से जनता अपने को बहुत मानने लगी, और उसके हित का साधन और समर्थन करनेवाले अयोग्य नेता (जिनका भले विवेकशील वर्ग के लोग विरोध करते थे) भी उपलब्ध हो गये। ऐसा लगता है कि सौलोन ने स्वयं तो (अथेन्स) निवासियों को केवल शासकों को चुनने और उनके चरित्र और कार्यों का विवरण प्राप्त करके उनको ठीक रखने भर का (अल्पतम) अधिकार दिया था जो नितान्त आवश्यक था; क्योंकि इस शक्ति (अधिकार) के विना जनता की दशा दासों के समान रहती और वह शासनतंत्र से वैरभाव रखती। उसने सब शासकों (= उच्च पदाधिकारियों = मजिस्ट्रेटों) को सुविदित और सम्पन्न लोगों के मध्य में से चुनने का नियम वनाया——अर्थात् ५०० मैदिम्नॉस् (अन्न की माप) उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामियों को ज़ेयुगितॉस् (२०० मापों की आय अथवा बैलों की जोट वाले) वर्ग को तीसरे[७] हिप्पेइस् (अश्वारोही सरदारों) को ही नियुक्त करने का नियम बनाया। चौथा वर्ग थेतैस् नामक श्रमिकों (जिनकी आय २०० मापों से कम थी) का था जिनको शासन-कार्य में कोई भाग प्राप्त नहीं था।

ज़ालेयुकस्,[८] जिसने एपीज़ैफ़ीरी[८] लौक्रियन लोगों के लिये नियम बनाये थे तथा खारोन्दास्[९] जिसने स्वयं अपनी नगरी काताना के लिये एवं इतालिया और सिकैलिया (इटली और सिसिली) में बसे हुए खाल्किस[१०] नगरी के उपनिवेशों के लिये नियम बनाये थे——ये दोनों केवल नियम-निर्माता (अथवा स्मृतिकार) थे। कुछ लेखक इससे भी पुरानी कथा छेड़ते हैं और उनकी युक्ति है कि औनौमाक्रितस्[११] ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसको नियम-निर्माण कार्य में दक्षता प्राप्त थी। यद्यपि उसका जन्म लौक्रिस् में हुआ था, पर उसने सिद्ध (पैगम्बर) के रूप में क्रेते के प्रवास-काल में यह शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। इन लोगों के मतानुसार क्रेते का थालेस्[१२] उसका सहचर था, लीकूर्गौस् और ज़ालेयुकस् इस थालेस् के शिष्य थे और खारोन्दास् ज़ालेयुकस् का शिष्य था। परन्तु इन लोगों का ऐसा कहना ऐतिहासिक कालानुक्रम से तनिक भी मेल नहीं खाता[१३]; किन्तु कौरिन्थ निवासी फिलौलाउस्[१४] भी एक नियम-निर्माता हो चुका है जिसने थेवैस नगर के लिये नियमों की रचना की थी। अपने जन्म-

स्थान में वह वक्खियादों के कुल में उत्पन्न हुआ था एवं औलिम्पिक विजेता दियौक्लेस् का प्रिय सखा था, जिसने अपनी माता हाल्कियोने के अपने प्रति अवैध प्रणय से घृणा करने के कारण कौरिन्थ नगर का परित्याग किया और थेबैस् को अपना निवासस्थान बनाया, जहाँ दोनों मित्र आमरण एक साथ रहे। और अभी तक उनकी समाधियाँ दर्शकों को दिखाई जाती हैं जो एक दूसरी से भली भाँति दिखलाई पड़ती हैं; किंतु इनमें से एक कौरिन्थ के प्रदेश की ओर देखती प्रतीत होती है पर दूसरी ऐसी नहीं है। पुराण-परम्परा का कहना है कि दोनों मित्रों ने जान-बूझकर अपनी समाधियों की व्यवस्था इस प्रकार की थी;—दियौक्लेस् ने अपने पीड़ामय अतीत की बीभत्सता के कारण ऐसा निश्चय किया था कि उसकी समाधि से कौरिन्थ की भूमि दिखलाई न दे और फिलौलाउस् ने ऐसा प्रबन्ध किया कि उसकी समाधि से उसकी जन्मभूमि दिखलाई देती रहे[15]। उनके थेबैस् में बसने का कारण यही था, अतएव फिलौलाउस् ने थेबैस् के लिये नियम बनाये। अन्य नियमों के साथ उसने थेबैस् निवासियों को सन्तानोपलब्धि[16] का भी नियम प्रदान किया जो दत्तक-नियम कहलाता है। यह नियम उसके बिलकुल अपने विलक्षण नियम थे (अन्य किसी स्मृतिकार ने इस प्रकार के नियम नहीं बनाये थे) एवं इनका उद्देश्य कुटुम्बों के भूमिखंडों को स्थायी और ज्यों का त्यों बना रहने देना था।

खारोन्दास् के नियमों में झूठे साक्षियों के विरुद्ध अभियोग चलाने की व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्तिगत विशेपता नहीं है। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने मिथ्या साक्ष्य के विरुद्ध भर्त्सना करने की प्रथा चलाई। सामान्यतया उसके नियमों की अभिव्यंजना की यथातथ्यता की दृष्टि से वह आजकल के नियम-निर्माताओं से भी अधिक परिपूर्ण प्रबन्धकार प्रतीत होता है।

[फालेयॉस्[17] द्वारा प्रस्तावित कानून की विशेपता सम्पत्ति का समविभाजन है। प्लातोन् के नियमों की विशेपताएँ, स्त्रियों, बच्चों और सम्पत्ति का समाजीकरण, स्त्रियों का सहभोज, मदिरा-पान के विषय में यह व्यवस्था कि अप्रमत्त लोग ही भोजोत्सवों के अधिष्ठाता हों, इनके साथ ही योद्धाओं की ऐसी शिक्षा कि अभ्यास द्वारा वे दोनों हाथों के प्रयोग में ऐसी दक्षता प्राप्त कर सकें जिससे एक हाथ उतना ही उपयोगी हो जाय जितना दूसरा, इत्यादि बहुत सी हैं।]

द्राको[18] के बनाये हुए भी कुछ नियम हैं, परन्तु उसने उनको पूर्वोपलब्ध व्यवस्था में संयोजित कर दिया था, उनसे विधान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन नियमों

में दण्ड की कठोरता और अधिकता को छोड़कर और कोई निजी विशेषता नहीं है।

पित्ताकस्[१९] भी केवल नियम-निर्माता हुआ है न कि व्यवस्थाकार। उसका एक विलक्षण नियम यह है कि मदमत्त अपराधी को अप्रमत्त अपराधी की अपेक्षा अधिक भारी दण्ड दिया जाना चाहिये। उसने ध्यानपूर्वक देखा कि मदमत्त लोगों के द्वारा अप्रमत्त व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक हिंसापराध किये जाते हैं, पर मदमत्त व्यक्ति की ओर से दण्ड से बचने के लिये जो युक्ति उपस्थित की जा सकती है उसने उसका विचार न करके सार्वजनिक उपयोगिता पर ही दृष्टि रक्खी।

रेगियुम्[२०] निवासी आन्द्रौदामा[२१] ने थ्राके[२२] में स्थित खाल्कीदियों (खल्जियों) की बस्तियों के लिये नियम बनाए हैं। इनमें से कुछ का संबंध मानव-हत्या एवं उत्तराधिकारिणी कन्याओं (अथवा स्त्रियों) से है। परन्तु इनमें कुछ भी वर्णनीय विलक्षणता नहीं है।

अतएव अब हम उन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं से संबंध रखनेवाले अनुसंधान को समाप्त करें, जो या तो वास्तव में शासन-कार्य में उपयुक्त हुई हैं अथवा दार्शनिकों द्वारा आविष्कृत हुई हैं (पर शासन-कार्य में उपयुक्त नहीं हुईं)।

टिप्पणियाँ

१. इस अध्याय का विषय द्वितीय पुस्तक के आरंभ में दी हुई योजना से पूर्णतया मेल नहीं खाता। न्यूमैन को इसके अधिकांश भाग की प्रामाणिकता के विषय में भी बहुत सन्देह है। इसमें लेखक ने संविधानों अथवा व्यवस्थाओं का विवरण न देकर नियमों (कानूनों) और नियम-निर्माताओं की चर्चा की है।

२. सौलोन् का स्थान अथेन्स की राजनीति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका समय लगभग ई० पू० ६४० से ई० पू० ५५८ तक माना जाता है। उसका जन्म अथेन्स के संभ्रांत परिवार में हुआ था और उसके पिता का नाम ऐक्सेकैस्तिदेस् था। युवावस्था में उसने धन-संग्रह के लिये सौदागर के रूप में यात्राएँ की थीं। इन यात्राओं की समाप्ति पर उसने सालामिस् को जीतने का सफल आन्दोलन किया। इस सफलता के फल-स्वरूप वह ई० पू० ५९४ के लगभग अथेन्स का सर्वोच्च शासक (आर्खन्) मनोनीत हुआ और उसने अपनी विख्यात व्यवस्था का प्रवर्त्तन किया। प्रस्तुत अध्याय में अरिस्तू ने सौलोन की व्यवस्था के आलोचकों को उत्तर दिया है, व्यवस्था का अधिक परिचय तो उसने

अपनी "अथेंस का संविधान" नामक पुस्तक में दिया है। उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुधार 'ऋणमोचन' था। अपनी व्यवस्था को प्रवर्तित करके वह परिव्राजक बन गया। पर उसकी व्यवस्था को उसके जीवन-काल में ही हटा दिया गया और उसके पश्चात् पेइसिस्त्रातस् की तानाशाही स्थापित हो गई। सोलोन् अत्तिक ग्रीक भाषा का प्रथम कवि था और उसकी रचनाओं के अवशिष्ट भाग पद्यबद्ध ही हैं। उसकी कविता का नमूना "अथेंस के संविधान" में देखा जा सकता है।

३. आरेयोपागस (आरेस का पर्वत) अथेंस में एक स्थान था जहाँ सर्वोच्च न्यायालय स्थापित था। अतएव आरेयोपागस् का अर्थ न्यायालय भी है। द्राको और सोलोन की व्यवस्था के अनुसार हत्या, आघात, लूट-पाट और विष देने के व्यवहारों (मामलों) का निर्णय इसी न्यायालय द्वारा किया जाता था।

४. ऐफ़ियाल्तेस अथेंस का राजनयिक था और पैरीक्लेस् का मित्र था। इसके नियमों के कारण आरेयोपागस् की परिषद् के अधिकार कम हो गये और उसकी शासन और राजनीति संबंधी शक्ति घट गई तथा उसको कुछ क्षेत्रों में केवल न्याय करने का अधिकार शेष रह गया। ई० पू० ४५१ के वसन्त-काल में ऐफियाल्तेस् की हत्या हो गई।

५. पैरीक्लेस् (लगभग ई० पू० ५००–ई० पू० ४२९ तक) अथेंस का एक महान् राजनयिक हुआ है। उसका समय अथेंस के इतिहास में "पैरीक्लेस् के युग" के नाम से अमर हो गया है। वह यों तो सुदीर्घ काल से प्रभावशाली व्यक्ति था पर ई० पू० ४४३ से ई० पू० ४२९ तक वह लगातार सेनाध्यक्ष चुना जाता रहा। उसकी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि सब ग्रीक राष्ट्र मिलकर एक हो जायँ। पर स्पार्टा के विरोध के कारण ऐसा न हो सका। तदुपरान्त उसने एक प्रकार से अथेंस का साम्राज्य स्थापित करने का उद्योग आरंभ किया और आरंभ में उसको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई पर अन्ततोगत्वा अथेन्स और स्पार्टा का युद्ध छिड़ गया जो पैलोपोन्नीशियन् युद्ध कहलाता है। इस युद्ध के फल-स्वरूप अन्त में अथेंस की राजनीतिक महत्ता नष्ट हो गई। पर पैरीक्लेस् का शरीरान्त तो युद्ध के मध्य में ही हो गया। वह अत्यन्त धीर और गंभीर स्वभाव का व्यक्ति था। अपने विपक्षियों को समझा-बुझाकर अपने पक्ष में कर लेने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। उसने अनेकों राजनीतिक और आर्थिक सुधार किये और अनेकों विख्यात भवनों का निर्माण किया। मिलैतस् नगर की एक अत्यन्त विदुषी और कुशल पातुर (हेताएरा) को, जिसका नाम अस्पशिया था, उसने अपनी जीवन-सहचरी बनाया था। अरिस्तू पैरीक्लेस् की नीतियों का पूर्णतया समर्थक नहीं था। वह अतिगामी जनतंत्रवाद को सामूहिक तानाशाही मानता था।

६. फारस के युद्ध से तात्पर्य ई० पू० ४७६ की लड़ाई से है जिसमें ग्रीक लोगों को महान् विजय प्राप्त हुई।

७. तीसरे से तात्पर्य उल्लेख-क्रम में तीसरे से है न कि महत्त्व में तीसरे क्योंकि अश्वारोही सरदार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। महत्त्वानुसार वर्गों का क्रम अथेंस के समाज में इस प्रकार था--(१) पैन्ताकौस्मियोमेदिम्नास् (=५०० अन्न की माप उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामी); (२) हिप्पेइस (=अश्वारोही सरदार); (३) ज़ेउगितेस् (=२०० अन्न की माप उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामी, अथवा एक बैल की जोट के स्वामी); (४) थेतैस् (=२०० अन्न की माप से कम उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामी अथवा श्रमिक)।

८. ज़ालैयुकस् के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। लौक्री एपीज़ैफ़ीरी नगर इटली के दक्षिण में है। इसका अर्थ है दक्षिणी लौक्रिस्।

९. खारोन्दास् ने एक शासन-व्यवस्था प्रस्तुत की थी।

१०. खाल्किस् नगरी एयूबोइया द्वीप में है। इस नगरी के निवासियों ने यूनान में अनेकों उपनिवेश बसाये थे।

११. औनौमाक्रितस् के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। हाँ पैइसिस्त्रातस् के पुत्रों के शासन-काल में (ई० पू० ५२७ के लगभग) इसी नाम का एक व्यक्ति अथेंस में था जो भविष्यवाणी किया करता था। संभव है यही नियम-निर्माता भी रहा हो।

१२. थालेस् नाम के दो व्यक्ति ग्रीक पुरातत्त्व को विदित हैं। मिलैतस का थालेस् यूनान का आदि-दार्शनिक है। पर यहाँ पर दूसरे--अर्थात् क्रेते के थालेस्--का उल्लेख हुआ है; इसका दूसरा नाम थालेतास् भी था।

१३. न्यूमैन ने इन सब (ज़ालैयुकस् से लेकर थालेस्) की तिथियों का विश्लेषण करके यह निर्णय दिया है कि इनका जो कालक्रम दिया गया है वह ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध है। उसका कहना है कि "नियम-निर्माताओं की गुरु-परम्परा इतनी सरलता से नहीं बन जाती; लीकूर्गौस् थालेस् का शिष्य नहीं था, न थालेस औनौमाक्रितस का समकालीन था, न ज़ालैयुकस् लीकूर्गौस् का समकालीन था और न खारोन्दास् ज़ालैयुकस् का शिष्य था।" (अरिस्तू की राजनीति जिल्द २, पृ० ३७९)।

१४. यह मित्रता की विचित्र कथा यूनानियों को इसलिये प्रिय थी कि इसमें कौरिन्थ के राजवंश में उत्पन्न हुए फिलौलाउस् ने अपने मित्र का साथ देने के लिये राज-पाट सब को त्यागकर आजीवन-निर्वासन स्वीकार किया है।

१५. कौरिन्थ और थेबैस् की, (सीधी रेखा में), दूरी लगभग ४० मील थी।

१६. मूल में "पाइदौपौइया" शब्द आया है जिसका अर्थ कुछ लेखकों ने सन्तानोत्पादन किया है और कुछ ने दत्तक ग्रहण करना। यहाँ इसका अनुवाद सन्तानोपलब्धि

किया गया है जिसमें दोनों ही अर्थ सध जाते हैं। परिवार के सदस्यों की संख्या और सम्पत्ति में सन्तुलन रखने के महत्त्वपूर्ण नियम को भुला देने के कारण ही अरिस्तू ने पिछले ७ वें खंड में फालेयास् की आलोचना की है।

१७. फालेयास् से आरम्भ होनेवाले भाग को न्यूमैन ने अपने संस्करण में अप्रामाणिकता के सन्देह में ब्रैकेट में रखा है। उसका अनुमान है यह अंश किसी हस्तलिखित प्राचीन प्रति के हाशिये (मार्जिन) की टिप्पणी थी जो मूल ग्रंथ में स्थान पा गई है। फालेयास् के विषय में इसी पुस्तक का सातवाँ अध्याय देखिये।

१८. द्राको को ई० पू० ६२१ में यह विशेषाधिकार मिला था कि वह अथेंस के नियमों को व्यवस्था प्रदान करे और उनको नवीन प्रकार से प्रवर्त्तित करे। अथेंस के संविधान में अरिस्तू ने उसके विषय में अधिक विस्तार से लिखा है।

१९. पित्ताकस् ई० पू० ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लैस्बौस् नामक द्वीप में जनतंत्र का नेता था। वह साप्फ़ो और अल्केयॉस् का समकालीन था और उसकी गणना ग्रीक सप्तर्षियों में होती है।

२०. रेगियुम् अथवा रेगियुन् इटली में दक्षिणतम नगर था।

२१. आन्द्रोदामा(स) के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं हो सका है।

२२. थ्राके (अथवा थ्रायके) यूनान के उत्तर-पूर्व के विशाल प्रदेश का नाम था।

तृतीय पुस्तक

१

नगर और नागरिक की परिभाषा

शासनपद्धति के विषय में, उसके विविध प्रकारों का स्वरूप कैसा है और उनमें से प्रत्येक का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है, इत्यादि बातों की आलोचना करनेवाले को सबसे पहले अपना ध्यान स्वयं नगर (= राष्ट्र = स्टेट) की ओर देना चाहिये अर्थात् यह पूछना चाहिये कि नगर[1] (= राष्ट्र = स्टेट) क्या है? इस समय यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ लोग कहते हैं कि राष्ट्र ने अमुक कार्य किया है, दूसरे लोग कहते हैं कि नहीं, राष्ट्रों ने नहीं धनिकवर्ग अथवा तानाशाह ने किया है। और फिर राजनयिक तथा नियमनिर्माता के निखिल कार्यकलाप का संबंध नगर (-राष्ट्र) में ही है। एवं विधान-व्यवस्था भी तो नगर (-राष्ट्र) में निवास करनेवाले लोगों के जीवन का विशेष प्रकार का संघटन ही तो है। परन्तु क्योंकि नगर (अथवा राष्ट्र) एक प्रकार का संघात[2] है, अतएव यह भी अन्य किसी अवयवी के समान अवयवों से घटित होता है—और राष्ट्र के पक्ष में उसके घटक अवयव उसके निवासी नागरिक ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि हमको अपना अनुसंधान नगर के स्वरूप की खोज करने के पूर्व नागरिक[3] के स्वरूप की खोज से आरंभ करना चाहिये। अर्थात् नगर (अथवा राष्ट्र) नागरिकों का संघात है अतः हमको यह विचार करना चाहिये कि किसको नागरिक कहा जाय और वास्तव में नागरिक है क्या? (नगर के स्वरूप के समान) नागरिक के स्वरूप का विषय भी बहुधा विवादग्रस्त (अथवा संदिग्ध) रहा है। सब लोग नागरिक शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं करते। जो व्यक्ति जनतंत्रात्मक शासन में नागरिक होता है वही धनिकतंत्रशासन में बहुधा नागरिक नहीं होता।[4] (नागरिक के स्वरूप के इस) प्रस्तुत विवेचन में से हम उन लोगों को छोड़ देते हैं जिनको नागरिक शब्द के यथार्थ अर्थ से भिन्न अन्य किसी अर्थ में नागरिक संज्ञा प्राप्त हो गई है, जैसे कि कि वे लोग जिनको सम्मान के लिये नागरिक बना दिया गया है। हम कह सकते हैं कि कोई भी प्रकृत नागरिक इसलिए नागरिक नहीं बन जाता कि वह एक स्थान विशेष में निवास करता है, क्योंकि प्रवासी परदेशी लोग और दास भी प्रकृत नागरिकों के साथ

एक ही स्थान पर निवास करते हैं (पर वे इस कारण नागरिक नहीं हो जाते)। और न वह व्यक्ति ही नागरिक हो सकता है जिसको अभियोग चलाने और अभियुक्त बनने के अतिरिक्त अन्य कोई वैध अधिकार प्राप्त नहीं है। इस प्रकार के अधिकार का उपभोग तो सन्धि की व्यवस्था के द्वारा विदेशियों के द्वारा भी किया जा सकता है। बहुत से स्थानों पर विदेशी लोग इस सीमित अधिकार का भी पूर्णरूपेण उपभोग नहीं करते, क्योंकि उनको संरक्षक की आवश्यकता पड़ती है। अतएव वे इस अधिकार में भी सीमित मात्रा में भागीदार होते हैं। इस प्रकार इन लोगों को हम नागरिकता के विचार से ठीक इसी तरह छोड़ देते हैं जिस तरह उन बच्चों को, (जिनका नाम अत्यल्पायु होने के कारण नागरिकों की सूची में सम्मिलित नहीं हुआ है), तथा उन वृद्धों को (जो नागरिकता के कर्त्तव्यों से मुक्त कर दिये गये हैं) छोड़ दिया जाता है। नागरिक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ ऐसा भी है जिसके अनुसार बालक और वृद्ध दोनों नागरिक कहला सकते हैं पर यह नितान्त निर्विशिष्ट अर्थ नहीं है, प्रत्युत बच्चों के पक्ष में हम नागरिक के साथ 'अविकसित' विशेषण जोड़ते हैं और वृद्धों के लिये 'गतवयस्', अथवा हमको अन्य किसी विशेषण का प्रयोग करना पड़ता है ; पर हम किस विशेषण का प्रयोग करते हैं इसमें कुछ नहीं धरा है क्योंकि हमारा आशय बिलकुल स्पष्ट है। हम जिस नागरिक के स्वरूप का अन्वेषण कर रहे हैं वह ऐसा व्यक्ति है जो इस शब्द के विशुद्ध निर्विशिष्ट रूप में नागरिक है तथा जिसके विषय में उस प्रकार के किसी दोषारोपण के सुधार अथवा परिहार की आवश्यकता नहीं है जैसे बालक और वृद्ध के पक्ष में अथवा जैसे नागरिकता के सम्मान से वंचित अथवा निर्वासित नागरिकों के पक्ष में किये जाते हैं और फिर उनका परिहार किया जाता है। इस ठीक नपे तुले अर्थ में नागरिक का अवच्छेदक इससे बढ़कर और कोई नहीं हो सकता कि "एक आदमी जो न्याय के प्रतिपादन और शासनपदाधिकार में भागीदार हो।"

शासनपदों में से कुछ, समय की दृष्टि से, निरन्तर चलनेवाले नहीं होते, अर्थात् एक ही व्यक्ति को उन पदों पर दो बार लगातार आरूढ़ नहीं होने दिया जाता, अथवा वही व्यक्ति एक निश्चित समय के उपरान्त दूसरी अवधि के लिये उनका उपभोग कर सकता है। दूसरे पद इस प्रकार के होते हैं कि उनमें इस प्रकार की समय की मर्यादा नहीं होती—जैसे सार्वजनिक न्यायालयों के न्यायाधीशों के पद अथवा सार्वजनिक परिषद् के सदस्य का पद। इस कथन के उत्तर में तत्काल यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि ये (न्यायालयों के न्यायाधीश और परिषद् के सदस्य) पदारूढ़ नहीं

होते और न अपनी स्थिति के कारण शासन-कार्य में भागीदार ही होते हैं।[1] पर सर्वोच्च सत्ताधारी व्यक्तियों के शासन-पदारूढ़ मनुष्यों की श्रेणी से पृथक् करना अवश्यमेव उपहासास्पद बात होगी। यह कोरी शाब्दिक युक्ति है, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। न्यायाधीश और सार्वजनिक परिषद् के सदस्य इन दोनों में समान भाव से उपलब्ध सत्ता को सूचित करने के लिये अथवा दोनों को प्राप्त स्थिति को सूचित करने के लिये हमारे पास कोई एक शब्द नहीं है। स्पष्टता के लिये, लाइये हम इसको 'अपरिच्छिन्न' पद (अर्थात् वह पद जो अपरिच्छिन्न समयावधि तक ग्रहण किया जाता है) कहें। इस प्रकार हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि जो लोग उपर्युक्त 'पद' की परिभाषा के अनुसार पदाधिकार में भागीदार हैं वे नागरिक हैं। यह नागरिक की सम्यक्तम परिभाषा है, तथा जो इस नाम से अभिहित होते हैं उनके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है।

परन्तु हमको यह बात भी ध्यान से नहीं भुला देनी चाहिये कि उन वस्तुओं में, जिनके आधारभूत तत्वों में प्रकारगत और गुणगत भेद होता है, (तथा जिन आधारभूत तत्त्वों में से एक प्रथम, दूसरा द्वितीय और तीसरा तृतीय इत्यादि होता है), जब इस प्रकार के संबंध की दृष्टि से उन पर विचार किया जाता है, तब या तो कुछ भी सर्वगत सामान्य तत्व नहीं मिलता अथवा यदि मिलता भी है तो बहुत ही स्वल्प अथवा नगण्य।[2] (नागरिकता के विभिन्न आधारभूत तत्त्व विभिन्न राष्ट्र-व्यवस्थाएँ हैं) यह शासन-विधान या राष्ट्र-व्यवस्थाएँ परस्पर एक दूसरे से प्रकारतः (एवं गुणतः) भिन्न होती हैं, और इनमें से कुछ स्पष्टतया प्रथम (उत्तम) और अन्य अवम (अधम) होती हैं। इनमें से वह, जो सदोष और विकृत होती हैं, अनिवार्यतः उनकी अपेक्षा अवम होती हैं जो निर्दोष हैं, (और विकृत से हमारा आशय क्या है यह आगे चलकर बतलाया जायगा।) अतः प्रत्येक शासन-विधान के प्रकार के अनुसार नागरिक भी अवश्यमेव एक दूसरे से भिन्न होते हैं, एवं हमारी (नागरिक की) परिभाषा जनतंत्र (राष्ट्र) में निवास करने-वाले नागरिक के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है।[6] अन्य प्रकार के शासन-विधानों में निवास करनेवाले नागरिकों के लिये इसका उपयुक्त होना संभव हो सकता है। पर अनिवार्य नहीं। उदाहरण के लिये कुछ राष्ट्रों के शासन-विधानों में जनता के अधिकार को स्वीकार ही नहीं किया गया है; उनमें परिषद् की नियमित बैठकें भी नहीं होतीं, केवल यदा कदा विशेष आह्वान द्वारा बैठकें हो जाया करती हैं; तथा व्यवहारों (मुकदमों) का निर्णय भी यों ही विभागशः बाँटकर कर दिया जाता है। जैसे कि लाकैदायमौन् में ठेकों के मुकदमों को सरपंच लोग आपस में बाँट लेते हैं और प्रत्येक

सरपंच अलग अलग उनका निर्णय कर देता है; स्थविर-परिषद् मानव-हत्या के मामलों को निर्णय करने के लिये ले लेती है, इसी प्रकार अन्य मामलों का निर्णय कोई अन्य अधिकारी करते हैं। वहुत कुछ इसी प्रकार की पद्धति कार्खेदौन् (कार्थेज) में भी प्रचलित है, जहाँ अधिकारियों के अनेक मंडलों को सभी प्रकार के विवादों के निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है।[९]

५ शासन-व्यवस्था में प्रकारों की विभिन्नता से उत्पन्न इस कठिनाई को लाँघने के लिये हमारी परिभाषा का संशोधन किया जा सकता है। हमको इस पर ध्यान देना है कि जनतंत्र से भिन्न इन अन्य व्यवस्थाओं में जनपरिषद् के सदस्य और न्यायाधीश अपने पद पर अनिश्चित अवधि तक आरूढ़ नहीं रहते, प्रत्युत सुनिर्दिष्ट और सीमित समय तक ही उस पर नियत रहते हैं। सुनिर्दिष्ट कालावधि तक पदारूढ़ रहनेवाले इन अधिकारियों में से वहुतों को अथवा कुछ ही को सव विषयों पर अथवा कुछ ही विषयों पर विचार करने या निर्णय करने का नागरिक का अधिकार इन शासन-व्यवस्थाओं में प्राप्त रहता है। (इस प्रकार) नागरिक कौन है यह वात इस विवेचन से स्पष्ट हो गई। जो व्यक्ति किसी राष्ट्र के विचार-परिषद् अथवा न्याय-परिषद् संवंधी शासन में भागीदार होने के अधिकार का (निश्चित अथवा अनिश्चित अवधि तक) उपभोग करता है वह हमारे द्वारा उसका नागरिक कहा गया है, और नगर उपर्युक्त प्रकार के नागरिकों का ऐसा समूह है जिसकी संख्या आत्मनिर्भरतापूर्ण जीवन की सत्ता के लिये पर्याप्त हो।[१०]

टिप्पणियाँ

१. आदि से लेकर अन्त तक सारे ग्रीक राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि नगर पर ही केन्द्रित रही। उनका नगर ही उनका राष्ट्र था और नगर से अधिक व्यापक और वड़े राष्ट्र की कल्पना वे नहीं कर सके। पैरीक्लेस् इत्यादि कुछ उदार नेताओं और अलेक्जाण्डर जैसे विजेताओं ने इस दिशा में जो यत्न किये उनमें स्थायी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी और अन्ततोगत्वा यह सीमित एवं संकुचित दृष्टिकोण ही ग्रीक जगत् की समाप्ति का कारण वना। अतएव अरिस्तू की राजनीति में सर्वत्र राष्ट्र के लिये पौलिस् और राष्ट्रविधान के लिये 'पौलितेइया' शव्द का प्रयोग हुआ है।

२. संघात के लिये मूल ग्रीक में "सिन्थैतौन्" (सं० संस्थान) शव्द आता है। यह शव्द अरिस्तू की दार्शनिक शव्दावली के अन्तर्गत है। संघात दो प्रकार के होते हैं एक सावयव (organic) और दूसरा निरवयव (aggregate)। सावयव

संघात में अवयव और अवयवी अथवा अंग और अंगी का संबंध पाया जाता है पर निरवयव संघात विभिन्न भागों का सनह अथवा ढेर मात्र होता है । नगर सावयव प्रकार का संघात है । इसके अतिरिक्त सावयव संघात में शासक और शासित तत्त्वों का भी भेद पाया जाता है। निरवयव संघात में ऐसी कोई विशेषता नहीं पाई जाती, वह तो अपने भागों का संयुक्त समूह मात्र होता है।

३. क्योंकि अरिस्तू के अनुशीलन की पद्धति ही यह है कि अवयवी के स्वरूप (Nature) को समझने के पूर्व उसके अवयवों के स्वरूप को समझना चाहिये। प्रथम पुस्तक के आरंभ में ही उसने इस पद्धति का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा की है। पर वहाँ उसने नगर के विश्लेपणात्मक और विकासात्मक दोनों स्वरूपों का विवेचन किया है और यहाँ केवल विश्लेपणात्मक रूप का। अरिस्तू के मत में किसी भी वस्तु का स्वरूप उसके चरम विकास से जाना जा सकता है और अवयवी के स्वरूप को समझने के लिये अवयवों का ज्ञान आवश्यक होता है। मनुष्यों का चरम विकास नगर में ही संभव है; क्योंकि मनुष्य सामाजिक अथवा नागरिक प्राणी है और नगर का स्वरूप समझने के लिये नागरिकों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। अतएव मानव और नगर के स्वरूप का विवेचन दो परस्पर संवद्ध किन्तु भिन्न ग्रंथों में हुआ है जिनके नाम ऐथिक्स और पौलिटिक्स हैं। अरिस्तू के सामाजिक और राजनीतिक विचारों के व्यापक ज्ञान के लिये इन दोनों का अध्ययन अपेक्षित है।

४. जिस नगर-राष्ट्र की जैसी व्यवस्था (एकराट्तंत्र, श्रेष्ठजनतंत्र, धनिकतंत्र, जनतंत्र, तानाशाही) होती है, उसके अनुसार वैसी ही उसके नागरिक की परिभाषा भी होती है।

५. नगर की व्यवस्था में कुछ अधिकारी ऐसे होते हैं जो कार्यकर मंडल (Executive) में अन्तर्भुक्त होते हैं और अन्य ऐसे होते हैं जो विचार-विमर्श करने और न्याय करने के लिये नियुक्त होते हैं। आजकल की परिभाषा में इनको विधानमंडल (Legislature) और न्यायकर मण्डल (Judiciary) के अन्तर्गत समझा जा सकता है। अरिस्तू का कहना है कि यह समझना भूल है कि केवल कार्यकर मंडल के लोगों को ही शासनाधिकार प्राप्त है। उसके मत में अन्य लोगों को किसी विशेष दिशा में उनसे ऊँचा शासनाधिकार प्राप्त है।

६. मूलमें अपरिच्छिन्न के लिये "आऑरिस्तॉस्" शब्द आया है जिसका अर्थ "सीमारेखारहित" अथवा अनिश्चित होता है।

७. यहाँ लेखक नागरिक की ऐसी परिभाषा की खोज में है जो सब नागरिकों के लिये लागू हो। पर इस विषय में कठिनाई यह है कि किसी भी राष्ट्र की नागरिकता

का आधारभूत तत्त्व है उसकी शासन-व्यवस्था और यह शासन-व्यवस्था सर्वत्र एक प्रकार की है नहीं। किसी नगर-राष्ट्र में उत्तम प्रकार की व्यवस्था है, किसी में द्वितीय प्रकार की और अन्य किसी में तीसरे चौथे इत्यादि प्रकार की। ऐसी परिस्थिति में यदि नागरिक की ऐसी परिभाषा की खोज करें जो सर्वत्र सब राष्ट्रों के नागरिकों के लिये एक समान लागू हो तो इस शर्त की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि सभी राष्ट्रों के नागरिकों में कुछ समान तत्त्व पाया जाना चाहिये। पर जब इस समान तत्त्व की खोज करते हैं तो पता चलता है कि या तो ऐसा आधारभूत समान तत्त्व है ही नहीं और यदि है भी तो उसकी मात्रा नगण्य के बराबर है। इससे नागरिक की परिभाषा खोज निकालने का कार्य लगभग असंभव जैसा हो जाता है।

८. इस प्रकार सीमा बाँधने का कारण उपर्युक्त टिप्पणी से स्पष्ट है। परले सिरे की धनिकतंत्र व्यवस्था के नागरिक और चरम कोटि की जनतंत्रात्मक पद्धति के नागरिक में किसी समान तत्त्व के उपलब्ध होने की संभावना नहीं है। शायद एक ही बात उन सबमें समान है कि वे सब मानव हैं।

९. विभिन्न नगरों और विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के उदाहरणों के द्वारा उपर्युक्त टिप्पणियों के विचारों को ही स्पष्ट किया गया है। परिषदों की बैठकों का नियमित प्रकार से न होना इसी बात को सूचित करता है कि नागरिकों को शासन-कार्य में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। लाकैदायमौन् और कार्खेदौन् की व्यवस्थाओं का वर्णन किया जा चुका है।

१०. मनुष्य का सच्चा स्वरूप क्या है? अरिस्तू के मत में इस प्रश्न का उत्तर (जैसा टि० ३ में कहा गया है) यह होगा कि जब हम मनुष्य का पूर्ण विकास देख लेंगे तब उसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझ सकेंगे, इसके पूर्व नहीं। तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का पूर्ण विकास कब संभव है? इसका उत्तर अरिस्तू ने नगर की परिभाषा के द्वारा दिया है। उत्तम प्रकार की व्यवस्था वाले एवं पर्याप्त जनसंख्यावाले नगर में ही मनुष्य के स्वरूप का पूर्ण विकास संभव है।

२

नागरिकता की प्राप्ति

व्यावहारिक दृष्टि से नागरिक की परिभाषा सामान्यतया इस प्रकार की गई है कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसके माता-पिता दोनों ही——न कि केवल कोई एक——नागरिक हों (अर्थात् जो नागरिक माता-पिता की सन्तान हो); अन्य लोग इस शर्त

को और भी पीछे ले जाने पर---दो-तीन या इससे भी अधिक पितामहों की पीढ़ियों तक खोज करने पर---जोर देते हैं। इस संक्षिप्त व्यावहारिक और जनसाधारण की समझ में आ जानेवाली चलताऊ परिभाषा पर कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि यह तीसरी अथवा चौथी पीढ़ी का पूर्वज नागरिक स्वयं किस प्रकार नागरिक बना ? लिऔन्तिनी के गौर्गियास[1] ने कुछ तो इस कठिनाई के अनुभव से और कुछ व्यंगपूर्वक कहा है कि जिस प्रकार ओखलियाँ वह वस्तुएँ हैं जो ओखली बनानेवाले शिल्पियों के द्वारा बनाई जाती हैं, इसी प्रकार लारिस्सा[2] के नागरिक वह हैं जो उन शिल्पियों (अर्थात् लारिस्सा के सार्वजनिक शासकों) के द्वारा बनाये जाते हैं जिनका व्यापार लारिस्सा के नागरिकों का निर्माण करना है। पर (पहले के नागरिक पूर्वज के विषय में प्रश्न उठाने का कोई कारण ही नहीं है, क्योंकि) समस्या बिलकुल सरल है। यदि अपने समय में वे हमारी परिभाषा की भावना के अनुसार शासन-कार्य में भागीदार रहे तो निश्चयमेव नागरिक थे। जो लोग किसी नगर के आदिम निवासी अथवा संस्थापक हों उनके लिए नागरिक पिता से अथवा नागरिक माता से उत्पन्न होने की अर्हता की माँग करना स्पष्टतया असंभव है।

परन्तु स्यात् इससे भी अधिक गंभीर कठिनाई का सामना उन लोगों के विषय में करना पड़ता है जो क्रान्ति के पश्चात् विधान में परिवर्तन होने पर नागरिक बनाये जाते हैं ; जिस प्रकार तानाशाहों के निर्वासन के पश्चात् अथेन्स में क्लैइस्थैनेस[3] के द्वारा बनाये गये थे। उसने बहुत से विदेशियों को तथा दासवर्ग के विदेशी प्रवासियों को कबीलों में सम्मिलित कर लिया था। ऐसे अवसरों पर इस बात का संशय नहीं उठता कि कौन नागरिक है, प्रत्युत इस बात का संशय पैदा होता है कि जो व्यक्ति नागरिक है उसको नागरिक होना चाहिये या नहीं ? फिर इससे भी आगे चलकर यह संशय उत्पन्न होगा कि वह व्यक्ति जिसको न्यायत: नागरिक नहीं होना चाहिये क्या वास्तव में नागरिक हो सकता है और क्या अनुचित और असत् दोनों एक ही बात नहीं[4] है ? (इसका समाधान सरल है।) यह तो स्पष्टतया प्रतीत होता है कि अनेक पदारूढ़ व्यक्ति ऐसे हैं जिनका पदाधिकारी होना उचित नहीं है, पर तो भी हम उनको पदाधिकारी तो कहते ही हैं, यद्यपि हम यह नहीं कहते कि उनका ऐसा होना उचित है। (यही बात नागरिक के पक्ष में भी लागू होती है) ; उसकी परिभाषा भी 'किसी प्रकार का शासन करनेवाला (पदाधिकारी)' की गई है---अतएव, जैसा कि हम कह चुके हैं, वह व्यक्ति जो इस प्रकार के (न्याय अथवा नियम-निर्माण संबंधी) शासन-कार्य में भाग लेता है नागरिक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनको यह अधिकार क्रान्ति

के उपरान्त विधान बदलने पर प्राप्त हुआ है एवं जिनके विषय में उपर्युक्त संदेह उत्पन्न हो गया है, उनको भी नागरिक कहा जाना चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. गौर्गियास् (लगभग ई० पू० ४८५ से ३७५ ई० पू०) सिसिली में लिऔन्तिनी स्थान का रहनेवाला सौफिस्ट और वक्ता था। उसकी वक्तृत्वकला में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और प्रभावोत्पादकता प्राप्त होती है पर उतनी युक्तिसम्पन्नता नहीं मिलती। ई० पू० ४२७ में वह अपने नगर के दूतमंडल के साथ अथेंस में आया और उसकी वक्तृता का अथेंस निवासियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात् उसने समग्र ग्रीक-जगत् की यात्रा की एवं उसके सुदीर्घ जीवन की समाप्ति लारिस्सा नामक स्थान में हुई। प्लातोन ने "गौर्गियास्" नाम का एक संवाद लिखा है और उसमें ऐसा भाव प्रकट किया है कि सॉक्रातेस् भी गौर्गियास् के प्रति सम्मान का भाव रखता था।

२. लारिस्सा अथवा लरीसा प्राचीन काल में कई एक ग्रीक नगरियों का नाम था। पता नहीं कि यहाँ किस नगरी की ओर संकेत है। सम्भवतया यहाँ के शासनाधिकारी विदेशियों को नागरिकता का अधिकार प्रदान किया करते थे। स्वयं गौर्गियास् वहाँ वृद्धावस्था में एक विदेशी के रूप में ही पहुँचा था।

३. क्लैइस्थैनेस्, मैगाक्लेस और अगरिस्ते का पुत्र था। अथेंस के तानाशाह हिप्पियास का पतन हो जाने के पश्चात् धनी लोगों ने शासन को हस्तगत करने के लिये आन्दोलन आरम्भ किया। तब क्लैइस्थैनेस ने जनतंत्र के पक्ष का समर्थन किया और अन्य पक्षों को परास्त कर दिया। उसने पुराने संविधान में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का प्रवर्तन किया। उसके संविधान की विशेषताओं के लिये "अथेंस का संविधान" देखिये।

४. क्रान्ति के पश्चात् जिन विदेशियों और दासों को नागरिकता प्रदान की गई उन में से कुछ अवश्य ऐसे रहे होंगे जो न्यायतः नागरिक होने की योग्यता नहीं रखते होंगे। प्रश्न यह उठता है क्या ऐसे लोगों को नागरिक मानना चाहिये या नहीं? अरिस्तू का विचार है कि जिस व्यक्ति को क़ानून की दृष्टि से नागरिक मान लिया गया उसको वैसा ही मानकर उसके साथ व्यवहार करना चाहिये।

३

राष्ट्र की एकता की कसौटी

परन्तु उनका नागरिक होना न्यायानुकूल है अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जो पूर्वोक्त विवाद के साथ संबद्ध है। इस विवाद से जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह निश्चय करना है कि अमुक कार्य राष्ट्र का कार्य माना जा सकता है अथवा नहीं ? उदाहरण-स्वरूप हम ऐसे धनिकतंत्र अथवा तानाशाही के प्रसंग को ले सकते हैं जो जनतंत्र के रूप में बदल गई है। ऐसे अवसरों पर उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसी परिस्थिति में लोग अपने ठहरावों और दायित्वों को पूरा करने में आनाकानी करते हैं और यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि उनका ठहराव तो तानाशाह के साथ हुआ था न कि राष्ट्र के साथ।[१] उनकी सम्मति में कुछ राष्ट्र-व्यवस्थाएँ (केवल) बल के आधार पर आश्रित होती हैं, सर्वसाधारण की भलाई के लिए नहीं होतीं (अतएव ऐसी व्यवस्थाओं के कार्य राष्ट्र के कार्य नहीं हो सकते क्योंकि राष्ट्र तो स्वभावतः ही सबके हित के कार्य करता है)।[२] पर यह युक्ति तो दुधारी तलवार के समान है, और जनतंत्र के विषय में भी समान भाव से लागू होती है, क्योंकि जनतंत्रात्मक व्यवस्था भी तो (बल) हिंसा के आधार पर स्थापित हो सकती है ; तब तो जनतंत्र-पद्धति के शासन के कार्य भी उसी प्रकार राष्ट्र के कार्य नहीं होंगे जिस प्रकार धनिकतंत्र व्यवस्था अथवा तानाशाही व्यवस्था के—न उनसे कम न ज्यादा। ऐसा लगता है कि यहाँ जो समस्या उठाई गई है उसका एक और अधिक दूरगामी प्रश्न से निकट का संबंध है और वह प्रश्न यह है कि हमको किस सिद्धान्त के आधार पर यह कहना चाहिये कि अमुक राष्ट्र जैसा था वैसा ही बना हुआ है अथवा (इसके विपरीत) यह राष्ट्र अब वह नहीं रहा अन्य हो गया।

केवल किसी नगर के स्थान और निवासियों की दृष्टि से ही इस समस्या का विचार करना बहुत ही ऊपरी दृष्टि से विचार करना होगा, क्योंकि नगर की भूमि और जनसंख्या तो दो अथवा अधिक भागों में विभक्त हो सकती है और नगर के कुछ निवासी एक स्थान पर बसे हो सकते हैं और कुछ दूसरे पर (किन्तु ऐसा होने पर भी नगर की अनन्यता नष्ट नहीं हो सकती।) तो भी इस समस्या (और इसके समाधान) को अपेक्षाकृत सरल ही मानना चाहिये ; हमको इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिये कि नगर (पौलिस्) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है[३] एवं यह बात ध्यान में रखने से उपर्युक्त समस्या का हल सरलता से हो जायगा।

इसी प्रकार इससे आगे एक ही स्थान पर निवास करनेवाले मनुष्यों के विषय में भी यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार बसे हुए मनुष्यों को कब् (=किस अवस्था में) एक नगर माना जा सकता है (अर्थात् भौमिक एकता से परे और उसके अतिरिक्त नगर की वास्तविक एकता का आधार क्या है)। नगर की प्राचीर तो निश्चय ही इसका आधार नहीं हो सकती।[४] समग्र पैलौपौनेसॉस्[५] को प्राचीरों से परिवेष्टित करना संभव है (पर क्या वह ऐसा करने से एक नगर हो जायगा ?) स्यात् बाबिलोन्[६] की गणना इस प्रकार की नगरियों में हो सकती है; और वे सब नगरियाँ भी इसी प्रकार की होंगी जिनका घेरा नगर की अपेक्षा इतना बड़ा हो जिसमें पूरी जाति[७] समा सकती हो। बाबिलोन् के विषय में कहा जाता है कि उसके जीत लिये जाने के तीन दिन के पश्चात् तक जनता के एक भाग को इस घटना का पता नहीं चला था। किन्तु इस (नगर के आकार और एकता की) कठिनाई का विवेचन तो किसी अन्य अवसर के लिए स्थगित कर देना अधिक सुविधाजनक होगा। पर नगर के आकार को, तथा इस प्रश्न को (कि किसी नगर में एक जाति का निवास हो या अनेकों का) निर्धारित करना राजनीतिज्ञ का ऐसा कर्तव्य है जिसको उसे भुला नहीं देना चाहिये[८]।

और फिर एक प्रश्न यह भी है कि यद्यपि (वृद्ध) नगर-निवासी नित्य मरते रहते हैं और नये नित्य जन्म-ग्रहण करते रहते हैं, तथापि जब तक निवासियों की जाति तथा उनके रहने का स्थान पूर्ववत् वही रहें तब तक क्या वह एक ही (नगर-)राष्ट्र रहेगा; ठीक जैसे कि यद्यपि नदी की धारा में जल बहता और पुनः आता रहता है तथापि नदी को वही एक कहा और समझा जाता है ? अथवा क्या इसके विपरीत हमको यह कहना चाहिये कि मनुष्यों का प्रवाह तो नदी के समान वही रहता है, पर नगर बदल सकता है ? यदि नगर सचमुच ही (साझेदारी पर आश्रित) एक समाज[९] है, उन नागरिकों की साझेदारी है जो किसी एक विधान-व्यवस्था के अनुसार संघटित (एकत्रित) होते हैं, अतएव जब राष्ट्र-व्यवस्था के प्रकारान्तरित हो जाने पर वह पूर्वापेक्षा भिन्न हो जाती है, तब तो अवश्यमेव यह समझा जा सकता है कि राष्ट्र भी वही पहलेवाला राष्ट्र नहीं रहेगा, और यह ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार कौमेदी का गायक-मंडल त्रागेदी के गायक-मंडल से भिन्न कहा जाता है, यद्यपि दोनों मंडलों के घटक बहुधा वही एक होते हैं।[१०] जो बात गायक-मंडलों के विषय में ठीक है वही अन्य सब संघों और संघातों के विषय में सामान्यतया सत्य है। किसी भी संघात के घटक तत्त्वों के संघटन में प्रकार-भेद होने पर संघात ही बदल जाता है। उदाहरणार्थ एक ही स्वर-संगति में यदि दौरियन् पद्धति के स्थान पर फ्रीगियन् पद्धति का उपयोग किया जाय तो हम उसको पूर्वापेक्षा

बदली हुई कहेंगे।" यदि यह बात ठीक हो तो यह स्पष्ट है कि राष्ट्र की एकता और अनन्यता निर्धारित करने की कसौटी उसकी विधान-व्यवस्था है। किसी नगर में निवास करनेवालों की जाति चाहे वही रहे और चाहे बदल जाय तो भी वह एक ही नाम से अभिहित हो भी सकता है और नहीं भी (क्योंकि निवासियों की जाति इस विषय में कोई कसौटी नहीं है।) पर जब व्यवस्था-परिवर्तन के कारण राष्ट्र बदल जाय तब अपने ठहरावों को पूरा करना उचित है अथवा अनुचित यह एक पृथक् प्रश्न है।

टिप्पणियाँ

प्रस्तुत खंड में अरिस्तू ने राष्ट्र की एकता का जटिल प्रश्न उठाया है और अन्तिम निर्णय यह दिया है कि राष्ट्र की एकता का आधार उसकी भूमि और निवासियों की एकता नहीं है, प्रत्युत उसकी शासन-व्यवस्था की एकता है। शासन-व्यवस्था अथवा संविधान वही रहे तो भूमि और जनता की स्थिति कैसी भी क्यों न हो राष्ट्र (=नगर-राष्ट्र) की एकता अक्षुण्ण बनी रहती है एवं यदि शासन-पद्धति बदल जाय तो भौमिक और जनता की एकता ज्यों की त्यों रहने पर भी राष्ट्र का रूप बदल जाता है। यह स्मरण रखना आश्वयक है कि अरिस्तू जो कुछ भी कह रहा है वह ग्रीक जगत् के इतिहास के अनुभव के आधार पर कह रहा है। उसके समय में इस संबंध में दो विरोधी मत प्रचलित थे, एक यह कि राष्ट्र का स्वरूप स्थिर और स्थायी है तथा दूसरा यह कि राष्ट्र का स्वरूप परिवर्तनशील है। इन दोनों के मध्यमार्ग को अरिस्तू ने स्वीकार किया है। पर यह सब विचार आधुनिक जगत् के विशालकाय राष्ट्रों के संबंध में कोई अर्थ नहीं रखते। इसके अतिरिक्त हमारे आदर्श भी इन विचारों की संकुचितता को स्पष्ट सिद्ध कर देते हैं। ग्रीक जगत् के छोटे छोटे स्वतंत्र नगरों की पद्धति "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" वाले आदर्श के समक्ष एक परिहास की बात प्रतीत होती है। पर इतना सापेक्ष्य सत्य अरिस्तू के इस विचार में अवश्य स्वीकार करना होगा कि शासन-पद्धति का प्रभाव जनता के चरित्र पर एक सीमा तक पड़ता अवश्य है इसीलिये महाभारतकार ने यह स्वीकार किया था कि "राजा कालस्य कारणम्।" इसके विपरीत हमारे अपने देश का ही उदाहरण है। यद्यपि अपने सुदीर्घ इतिहास में भारतवर्ष ने शासन-पद्धतियों के न जाने कितने परिवर्तन देखे हैं और उनसे होनेवाले जनता के स्वभाव के परिवर्तनों का भी अनुभव किया है पर तो भी भारत की राष्ट्रीय एकता शताब्दियों ही में नहीं सहस्राब्दियों तक में अमर बनी रही है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि अरिस्तू ने इतिहास के इन अन्य उदाहरणों की जानकारी प्राप्त की होती तो वह अवश्य ही अपना मत-परिवर्तन कर देता।

१. यह एक व्यावहारिक समस्या है। हमारे समय में यह समस्या रूसी लाल क्रान्ति के पश्चात् उत्पन्न हुई थी। इसका समाधान विविध राष्ट्र विविध प्रकार से कर सकते हैं परन्तु प्रायः राष्ट्र पूर्व की व्यवस्था के दायित्वों को अंगीकार करना ही उचित समझते हैं। अथेंस की ई० पू० ४०४ की जनतंत्री सरकार ने अपने पूर्व की "तीस तानाशाहों" की सरकार के दायित्वों को पूर्णतया स्वीकार किया था।

२. राष्ट्र और सरकार की अभिन्नता का प्रश्न भी काफ़ी उलझा हुआ है। यदि कोई यह कहे कि राष्ट्र को सरकार से अभिन्न तभी माना जा सकता है जब कि सरकार के कार्य राष्ट्र की भलाई के लिये हों तो इस विषय में सर्वदा दो मत रहते हैं। शासनारूढ़ सरकारें सर्वत्र राष्ट्रहित की दुहाई दिया करती हैं और उनके विरोधी सर्वदा उनके इस दावे का खंडन किया करते हैं। पर अन्ततोगत्वा इसका निर्णय जनता के स्नेह और विद्रोह के रूप में होता है जो किसी व्यवस्था के हितकारीपन को उसका लगातार समर्थन और उसके राष्ट्रद्वेष को उसके विरोध द्वारा प्रकट किया करती हैं।

३. यदि नगर का अर्थ हम एक स्थान पर बसी हुई बस्ती मानें तो जो नगर एक से अधिक स्थानों पर बसा होगा वह एक नगर नहीं कहलायेगा। पर यदि एकता से हमारा तात्पर्य सामाजिक तथा राजनीतिक एकता में आबद्ध जनता से हो तो चाहे ऐसी जनता एक से अधिक स्थानों पर भी क्यों न बसी हो वह एक नगर ही कहलायेगी। प्राचीन यूनान में कुछ नगर ऐसे थे जो एक से अधिक स्थानों पर बसे हुए थे। उदाहरणार्थ मान्तीनेइया ऐसा ही नगर था।

४. आधुनिक युग में तो यह बात अत्यधिक सत्य हो गई है। प्राचीर और परिखा तो क्या अब तो उत्तुंग पर्वत और अगाध सागर भी राष्ट्रों को पृथक् करने में असमर्थ हैं।

५. पैलौपौनेसॉस् के अन्तर्गत आर्गौस्, लाकौनिया, मैसेनिया, एलिस्, अखैया एवं आर्कादिया इत्यादि अनेक नगर-राष्ट्र बसे हुए थे जो सारे भूखण्ड को एक प्राचीर से आवेष्टित कर देने पर भी एक नहीं हो सकते थे।

६. बाबिलोन (या बाबुल) नगर फारस की खाड़ी से ऊपर यूफ़्रातेस नदी के तट पर स्थित था। प्राचीन काल में यह एक बहुत बड़ा नगर था।

७. जाति और राष्ट्र के अन्तर को स्पष्टतया समझने के लिये यह बात ध्यान में रखना उचित होगा कि प्रायः यूनान में स्वतंत्र नागरिकों के रूप में एक मात्र हैलैनेस जाति के लोग बसे हुए थे पर उनके नगर-राष्ट्रों की संख्या सैकड़ों तक पहुँचती थी। अरिस्तू के कथन का आशय यह है कि यदि सब नगरों के ग्रीक लोग एक स्थान पर बसा दिये जाते पर उनकी शासन-पद्धतियाँ पृथक् पृथक् रहतीं तो भी वे एक नगर नहीं

कहलाते यद्यपि उन सब की जाति एक ही होती। जाति के लिये मूल में "गेनॉस्" शब्द का प्रयोग किया गया है जो संस्कृत के 'जन' शब्द का सजातीय है।

८. नगर के आकार का प्रश्न अरिस्तू ने पुस्तक ७ खंड ४ में पुनः उठाया है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि उसके मत में बहुत बड़े नगरों में एकता अनन्यता का निर्वाह होना कठिन है।

९. समाज के लिये मूल मे "कोइनोनिया" शब्द का प्रयोग किया गया है तथा अंग्रेजी में इसका अनुवाद community अथवा association शब्द से किया गया है।

१०. कौमेदी = सुखान्त नाटक अथवा प्रहसन। त्रागेदी = दुःखान्त अथवा गम्भीरतापूर्ण नाटक। प्राचीन ग्रीक नाटकों के अभिनय में नाटक-पात्रों के अतिरिक्त गायकमंडल (खोरस्) भी होता था। इस गायक-मंडल के व्यक्ति प्रायः दोनों प्रकार के नाटकों में वही रहते थे पर नाटक के विधान के भेद से उनके अभिनय में स्पष्ट अन्तर हो जाता था।

११. दोरियन्, फ्रीगियन् और लीडियन् यह तीन प्रकार की गायन-पद्धतियाँ प्राचीन यूनान में प्रचलित थीं। यह क्रमशः (१) पौरुषपूर्ण एवं गंभीर (२) आवेग-पूर्ण तथा भड़कीली और (३) करुणरसपूर्ण थीं।

४

अच्छा मनुष्य और अच्छा नागरिक

उपर्युक्त विवेचन से बहुत अधिक मिलती-जुलती और निकट संबंध रखनेवाली एक बात और भी ऐसी है जो विचारणीय है, कि क्या एक भले आदमी और नेक नागरिक की भलाई[१] (= उत्तमता, सद्वृत्ति) एक और अभिन्न है अथवा पृथक् पृथक्। यदि इस प्रश्न की ठीक ठीक खोज करनी हो तो हमको पहले नागरिक की उत्तमता की रूपरेखा की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। जैसे नाविक किसी समाज (जहाज चलानेवाले समाज) का सदस्य (घटक) होता है इसी प्रकार नागरिक भी (नागरिकों के समाज का सदस्य) होता है। इन नाविकों के कार्य एक दूसरे से भिन्न होने के कारण वे आपस में एक दूसरे से भिन्न होते हैं---कोई खेवक होता है, कोई पथ-प्रदर्शक[२] होता है, कोई पुरोद्रष्टा[३] और अन्य कोई इसी प्रकार अपने नाम के अनुसार किसी अन्य नामवाला। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि प्रत्येक नाविक की उत्तमता की

ठीक ठीक परिभाषा विशिष्ट रूप से उसी व्यक्ति से संबद्ध होगी; पर इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि उत्तमता की एक सामान्य परिभाषा सब (नाविकों) के लिये भी लागू होगी, क्योंकि नौका-संचालन-कार्य में सुरक्षितता उन सबका कार्य है जिसके लिये उनमें से प्रत्येक को प्रयत्नशील होना चाहिये। यही बात नागरिकों के विषय में भी लागू होती है, अपने अपने विशिष्ट कार्य की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी उनमें से प्रत्येक का सामान्य कार्य अपने समाज का सुत्राण है; एवं यह समाज (और कुछ नहीं) उनकी शासन-व्यवस्था ही है (जिसके आधार पर उनका समाज खड़ा है)। अतएव नागरिक की उत्तमता (=विशेष गुण) अनिवार्यतया उस समाज-व्यवस्था की सापेक्ष्य होती है जिसका वह सदस्य है। और यदि शासन-व्यवस्थाओं के अनेक प्रकार हों तो यह स्पष्ट है कि नागरिकों की कोई एक निरपेक्ष उत्तमता नहीं हो सकती। पर, भला मनुष्य हम उसको कहते हैं जो एक निरपेक्ष चरम उत्तमता से युक्त हो। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यह बिलकुल संभव है कि अच्छा नागरिक होते हुए भी उसके पास वह उत्तमता (भलाई) न हो जिसके कारण कोई व्यक्ति भला हुआ करता है।

यही नहीं, प्रत्युत श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था[४] के संबंध की दृष्टि से भी प्रश्नों की उद्भावना करके एवं उनके विषय में विवेचना करके हम इन्हीं युक्तियों से प्रस्तुत समस्या पर वास्तव में दूसरे प्रकार से विचार कर सकते हैं। यदि नगर के लिये पूर्णतया केवल भले आदमियों से ही घटित होना संभव न हो और फिर भी यदि प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य यह हो कि वह अपने व्यापार को भले प्रकार से करे; यदि अपने व्यापार को भले प्रकार करने में ही उसकी उत्तमता निहित हो (जैसा कि होना ही चाहिये) तो क्योंकि सब नागरिकों का एक समान होना असंभव है (उनके व्यापार और उनकी क्षमता भिन्न होती हैं), अच्छे मनुष्य की उत्तमता (=अच्छाई, भलाई) और अच्छे नागरिक की उत्तमता से अभिन्न (अनन्य) नहीं हो सकती। अच्छे नागरिक की भलाई (उत्तमता) तो सभी नागरिकों में समान भाव से होनी ही चाहिये—क्योंकि केवल इसी विशेषता के आधार पर कोई नगर अनिवार्यतया श्रेष्ठ (आदर्श) नगर हो सकता है। परन्तु उन सबमें अच्छे मनुष्य की भलाई तब तक संभवतया नहीं पाई जा सकती जब तक हम यह मान न लें कि अच्छे नगर के नागरिक होने से उनको अच्छा मनुष्य भी होना चाहिये ही।

और फिर यह भी विचारणीय है कि राष्ट्र असदृश तत्त्वों से संघटित है।[५] ठीक जैसे सजीव प्राणी प्राण (जीव) और शरीर से मिलकर बनता है, जिस प्रकार जीव के

घटक तत्त्व विवेक और कामनाएँ हैं. जिस प्रकार गृहस्थी पति और पत्नी से मिलकर बनती है, सम्पत्ति स्वामी और दास से घटित होती है, इसी प्रकार राष्ट्र भी पृथक् पृथक् असदृश तत्त्वों से मिलकर बनता है जिनमें न केवल ऊपर कहे हुए तत्त्व सम्मिलित होते हैं प्रत्युत इन्हीं के समान अन्य तत्त्व भी होते हैं। *अतएव निश्चयमेव सब नागरिकों की* अच्छाई इसी प्रकार एक नहीं हो सकती जिस प्रकार (त्रागेदी के) खोरस्[८] (नृत्य-मंडली) के नायक और उसके पार्श्वस्थ नर्तक के गुण एक नहीं हो सकते। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि अच्छे नागरिक की भलाई और नेक मनुष्य की भलाई यह दोनों एक ही चीज नहीं हैं।

पर फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कुछ थोड़े से भी ऐसे उदाहरण नहीं हो सकते जिनमें अच्छे नागरिक और भले आदमी की भलाई में अभिन्नता हो?[९] इस प्रश्न के उत्तर में हम कहते हैं कि हम एक अच्छे शासक को भला और बुद्धिमान् व्यक्ति कहते हैं और राजनयिक के विषय में हम चाहते हैं कि उसको चतुर होना चाहिये।[८] कुछ लोगों का कहना तो सचमुच यहाँ तक है कि शासक की तो शिक्षा ही, प्रारंभ से और प्रकार की (अन्य साधारण लोगों की शिक्षा से भिन्न प्रकार की) होनी चाहिये; और यह बात तो देखी भी जाती है कि राजाओं के लड़कों को घुड़सवारी और युद्धकला की शिक्षा दी जाती है। इसी के अनुसार यूरीपिदेस् ने कहा है—

"नहीं दिखावा मुझे चाहिये, किन्तु राष्ट्र-हितकारी कार्य।"[९]

जिससे शासक की विशेष प्रकार की शिक्षा होनी चाहिये, यह आशय ध्वनित होता है। तो यदि अच्छे शासक की भलाई वही हो जो अच्छे मनुष्य की होती है, और यह भी मान लें कि शासित व्यक्ति नागरिक भी होता है, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य के गुण (=भलाइयाँ) निर्विशेष भाव से सर्वत्र एक ही नहीं हो सकते, यद्यपि कुछ विशेष अवस्थाओं में (जब कि नागरिक शासन-कार्य कर रहा हो) ऐसा हो सकता है। सामान्य नागरिक की भलाई शासक की भलाई से अभिन्न नहीं होती; स्यात् इसी कारण इयासोन्[१०] ने कहा था "यदि मैं स्वेच्छाचारी शासक न होऊँ तो भूखा जैसा अनुभव करूँ; जिससे उसका आशय यह था कि वह एक साधारण (शासित-प्रजा) जन के समान जीवन व्यतीत करना नहीं जानता था।

किन्तु दूसरी ओर शासन करने और शासित होने की दुहरी योग्यता के कारण मनुष्यों की प्रशंसा की जाती है, एवं भले प्रकार शासन करने और शासित होने की

दुहरी योग्यता उत्तम (= सिद्ध) नागरिक का गुण माना जाता है। यदि अच्छे मनुष्य की भलाई उसका एक प्रकार का शासन करना हो[११] तथा अच्छे नागरिक की अच्छाई दोनों (शासन करना और शासित होना) मानें तो दोनों की यह दोनों भलाइयाँ एक समान प्रशंसनीय नहीं मानी जा सकतीं।

क्योंकि कभी कभी यह मान लिया जाता है कि शासक और शासित दोनों को पृथक् पृथक् बातें सीखनी चाहिये न कि एक अभिन्न बात, किन्तु नागरिक को (जो कि शासक और शासित दोनों होता है) दोनों बातें सीखनी चाहिये और दोनों में ही भागीदार भी होना चाहिये, तब तो आगे जो विवेचन का मार्ग होना है, वह स्पष्ट ही प्रतीत होने लगता है। एक शासन का प्रकार वह है जिसको प्रभुशासन[१२] कहते हैं, इससे हमारा अभिप्राय उस शासन से है जिसका संबंध नीच टहल से है। यहाँ शासक को इन (नीच टहल के) कार्यों को करना नहीं जानना चाहिये, प्रत्युत शासितों की क्षमता का इन कार्यों में उपयोग करना जानना चाहिये; वास्तव में प्रथम प्रकार का ज्ञान (अर्थात् टहल-चाकरी का ज्ञान) तो निरा बँधुआपन होगा। बँधुए दासों की स्थिति के अनेकों रूप होते हैं क्योंकि निकृष्ट प्रकार की सेवाएँ भी (जिनका किया जाना आवश्यक होता है) अनेकों प्रकार की होती हैं। इन अनेक प्रकार की सेवाओं में से एक वह है जो हाथों से कार्य करनेवाले शिल्पियों के द्वारा की जाती है, जो (जैसा कि उनका नाम सूचित करता है) अपने हाथों के परिश्रम से अपनी जीविका चलाते हैं; निचली कोटि के दस्तकार भी इसी वर्ग में सम्मिलित माने जाते हैं। यही कारण है कि कुछ (नगर-) राष्ट्रों में प्राचीन काल में अतिगामी जनतंत्र की स्थापना के पूर्व श्रमिकों को शासन-कार्य में भाग नहीं मिलता था। निश्चय ही भले आदमियों, राजनयिकों और नेक नागरिकों को उपर्युक्त प्रकार से (स्वामी से दास के समान शासित होनेवाले) निम्न लोगों के काम, यदा कदा अपने उपयोग के प्रयोजन को छोड़कर, नहीं सीखने चाहिये; यदि वे अपने निजी प्रयोजन के लिये ऐसा कभी करते हैं तो ऐसी दशा में प्रभु और दास के संबंध का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

पर (इस उपर्युक्त शासन के अतिरिक्त) एक अन्य प्रकार का शासन और भी है जो शासक द्वारा उन व्यक्तियों पर चलाया जाता है जो जन्मना (शासक के) समान होते हैं और स्वतंत्र होते हैं। इस प्रकार के शासन को नागरिक शासन कहते हैं तथा इसको शासक को ठीक इसी प्रकार शासित होकर एवं आज्ञाकारी बनकर सीखना चाहिये जिस प्रकार अश्वारोही सेनाध्यक्ष होना दूसरे अश्वारोही सेनाध्यक्ष के शासन

में रहकर, अथवा पदाति-सेनाध्यक्ष बनना दूसरे पदाति-सेनाध्यक्ष के शासन में रहकर, उससे निचले पद पर रहकर एवं उससे पहले और भी छोटे पद पर रहकर सीखा जाता है। इसीलिए यह बड़ी सुन्दर उक्ति है कि "जिसने पहले भले प्रकार शासित होना नहीं सीखा वह अच्छा शासक भी नहीं हो सकता।" इस (प्रकार की शासन-पद्धति) में शासक और शासित दोनों के गुण (अथवा उत्तमता) अवश्य एक दूसरे से पृथक् होते हैं पर तो भी अच्छे नागरिक को शासन करने और शासित होने के लिये उपयुक्त ज्ञान और क्षमता दोनों को रखना चाहिये तथा नागरिक की उत्तमता का लक्षण भी, "(शासक और शासित) दोनों की दृष्टियों से स्वतंत्र व्यक्तियों पर किये जानेवाले शासन का ज्ञान" ही है।[23]

(इतने विवेचन के पश्चात् अब हम अपने प्रकृत प्रश्न को लेते हैं।) अच्छे मनुष्य को भी (अच्छे नागरिक के समान) दोनों ही दृष्टिकोणों से ज्ञान की आवश्यकता होगी। यदि शासक का संयम[24] और न्याय, (शासित के संयम और न्याय से) भिन्न प्रकार के हों क्योंकि शासित किंतु स्वतंत्र व्यक्ति का संयम और न्याय भी (शासक के संयम और न्याय से) भिन्न प्रकार के होते हैं तब तो यह स्पष्ट है कि अच्छे मनुष्य का सद्गुण—उदाहरणार्थ उसका न्याय—एक ही प्रकार का नहीं होगा। स्पष्टतया ही उस (सद्गुण अथवा भलाई) में प्रकार-बहुलता[25] होगी, एक प्रकार उसको शासक का कार्य करने के योग्य तथा दूसरा उसको विधेय अथवा शासित होने के योग्य बनानेवाला होगा। तथा गुण के यह प्रकार ठीक इसी तरह एक दूसरे से भिन्न होंगे जिस प्रकार पुरुष का संयम और साहस स्त्री के संयम और साहस से भिन्न होता है। क्योंकि, यदि किसी पुरुष में उतना ही साहस हो जितना किसी साहसी नारी में होता है तो वह पुरुष भीरु समझा जायगा, और यदि किसी स्त्री की शिष्टता (अथवा विनयशीलता) किसी भले आदमी से अधिक न हो तो वह वाचाल (अथवा चंचला) समझी जायगी; और गृहस्थी में तो वास्तव में ही पुरुष और स्त्री की कार्य-व्यवस्था एक दूसरे से पृथक् होती है क्योंकि पुरुष का कार्य है योग (आवश्यक सामग्री को जुटाना) और स्त्री का कार्य है क्षेम (अर्थात् संग्रह की रक्षा)।

शासक का एक मात्र विशिष्ट गुण है व्यावहारिक बुद्धिमत्ता। अन्य शेष सब (संयम, न्याय और साहस आदि) सद्गुणों के विषय में ऐसा प्रतीत होता है, वे सब शासक और शासित दोनों में समानरूप से पाये जाने चाहिये। (शासित) प्रजाजनों का विशिष्ट गुण यह व्यावहारिक बुद्धिमत्ता निश्चयमेव नहीं है, प्रत्युत सत्सम्मति है।

शासित की उपमा बीन बनानेवाले से दी जा सकती है एवं शासक बीन बजानेवाले के समान होते हैं।[१३]

इन (उपर्युक्त विचारों) से यह स्पष्ट हो जाता है कि अच्छे आदमी और नेक नागरिक के गुण एक ही होते हैं अथवा भिन्न, अथवा (यों कहिये) किस अर्थ में समान होते हैं और किस अर्थ में भिन्न।

टिप्पणियाँ

१. मूल में "भलाई" के स्थान पर "अरैते" शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द ग्रीक भाषा में बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। होमर् की भाषा में इसका अर्थ वीरता अथवा पौरुष होता था। आगे चलकर इसका अर्थ "भलाई" और 'उत्तमता' इत्यादि हो गया। दार्शनिकों ने इसका प्रयोग लक्षण के अर्थ में भी किया है। सॉक्रातेस् का सिद्धान्त था सब प्रकार की भलाइयाँ एक हैं। यह भलाइयों की एकता का सिद्धान्त अरिस्तू को मान्य नहीं था। यहाँ पर उसने सॉक्रातेस् के मत का विरोध करते हुए यह प्रतिपादन किया है कि भले नागरिक की भलाई उसके राष्ट्र के संविधान अथवा शासन-पद्धति की सापेक्ष्य होती है अतएव यह आवश्यक नहीं कि भले आदमी की भलाई और भले नागरिक की भलाई एक एवं अभिन्न हों।

२. ३. यूनानियों की नौकाओं में कर्णधार के लिये "कीवैर्नेतेस्" शब्द आया है। इसका अनुवाद "पथप्रदर्शक" किया गया है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा व्यक्ति और होता था जो नौकाशीर्ष पर खड़ा रहता था और जिस दिशा में नौका चलती होती थी उस दिशा में वह दूर तक दृष्टि रखते हुए "कर्णधार" को सांकेतिक सूचनाएँ दिया करता था। इसके लिये मूल में "प्रोइरियस्" शब्द आया है जिसका अनुवाद "पुरोदृष्टा" शब्द के द्वारा किया गया है।

४. यदि साधारण शासन-व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण को एक ओर रखकर आदर्श अथवा श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था की दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाय तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि श्रेष्ठ नगर के अच्छे नागरिक और भले मनुष्य की भलाई एक और अभिन्न नहीं हो सकती।

५. राष्ट्र के असदृश् तत्त्वों से संघटित होने के कारण प्रत्येक तत्त्व की उत्तमता अथवा भलाई भी एक-सी नहीं हो सकती। अतएव भले नागरिक तो वे इस भलाई की विविधता को लेकर भी हो ही सकते हैं पर यदि वे भले आदमी हों तो यह विविधता उनमें नहीं होनी चाहिये क्योंकि सब भले आदमियों की भलाई तो एक ही प्रकार की होनी चाहिये।

६. यूनानी नाटकों में मुख्य कथावस्तु के अभिनय करनेवाले पात्रों के अतिरिक्त एक नृत्यमंडली भी होती थी और इसका एक नेता होता था। मूलतः तो यह नृत्य-मण्डली ही यूनानी नाटक की जननी है। पर कालान्तर में इसके गर्भ से उत्पन्न हुए नाटकों ने मुख्य स्थान ग्रहण कर लिया और नृत्यमंडली का स्थान गौण हो गया। वर्त्तमान लेखक अरिस्तू के काव्यशास्त्र (पोएटिक्स) का एक संस्करण मूल ग्रीक पाठ और हिन्दी तथा संस्कृत अनुवाद सहित प्रस्तुत कर रहा है जिसकी विस्तृत भूमिका में इन विषयों का व्यौरेवार विवेचन किया जायगा। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि नृत्य-मंडली का नेता तथा उसके साथ नृत्य करनेवाला अन्य कोई नर्तक एक ही मण्डली के घटक होते हुए भी एक सीमा तक एक दूसरे से व्यापारतः भिन्न होते हैं। इसी प्रकार नागरिक एक ही नगर के घटक होते हुए भी व्यापारतः परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं; अतएव उनकी भलाइयाँ भी भिन्न होती हैं।

७. उपर्युक्त ५वीं टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि सब नागरिक भले नागरिक हो सकते हैं पर सब नागरिक भले आदमी नहीं हो सकते। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या थोड़े नागरिक भी भले आदमी नहीं हो सकते? अरिस्तू इस प्रश्न का उत्तर विस्तृत विवेचन के पश्चात् 'हाँ' में देता है। उसका कहना है कि आदर्श शासन-पद्धति के अन्तर्गत रहनेवाला अच्छा नागरिक ऐसा व्यक्ति हो सकता है कि जिसमें अच्छे नागरिक और अच्छे आदमी की भलाइयाँ पाई जा सकती हैं। आदर्श शासन-पद्धति में प्रत्येक नागरिक पर्यायशः शासक और शासित होता है। शासक के रूप में उसमें आचरण-कौशल होना आवश्यक है जो अच्छे व्यक्ति का लक्षण है और शासित प्रजाजन के रूप में उसमें एक अच्छे नागरिक की उत्तमता होनी चाहिये। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति के प्रसंग में अच्छे मनुष्य की उत्तमता और अच्छे नागरिक की उत्तमता दोनों एक हो जाती हैं। पर इस सुवर्णसंयोग के घटित होने के लिये आदर्श शासन-व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है।

८. 'चतुर' के लिये मूल में "फ्रौनिमॉस्" शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द का आधार है एक दूसरा शब्द "फ्रौनेसिस्" जिसका अर्थ है आचार-कौशल जिसको गीता की भाषा में हम पूर्ण योग भी कह सकते हैं क्योंकि कर्मों के ठीक करने को ही तो योग कहा गया है। "योगः कर्मसु कौशलम्" गी० २।५० ॥

९. यह पंक्तियाँ यूरीपिदेस् के एओलॉस् नामक विलुप्त नाटक में से उद्धृत की गई हैं। संभवतया यह बात राजा एओलॉस ने अपने पुत्रों के संबंध में कही है।

१०. (इ)यासोन् थेसालिया के फ़ेराये नगर का अधिनायक था। उसने अपनी चतुरता से थेसालिया के सब नगरों का संघ बनाया और तत्पश्चात् उसका विचार

फ़ारस के विरुद्ध अभियान करने का था और इसी उद्देश्य से उसने एक जहाजी बेड़े के निर्माण का कार्य आरंभ कर दिया था। इसी बीच में उसने अत्यन्त कुशलता से थेबैस् और स्पार्टा के पारस्परिक युद्ध में थेबैस् का साथ देकर स्पार्टा की शक्ति को क्षीण कर दिया। स्पार्टा की पराजय के उपरान्त उसने थर्मोपिलाए के दर्रे को हस्तगत कर लिया। इसके उपरान्त वह अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिये तैयारी कर रहा था कि एक दिन वह अपने न्यायाधिकरण में ७ युवकों द्वारा मार डाला गया। यह युवक अपनी प्रार्थना उसके समक्ष उपस्थित करने के बहाने उसके पास पहुँच गये और वहाँ उसको समाप्त कर डाला। यह घटना ई० पू० ३७० की है।

११. अच्छा व्यक्ति आत्मसंयम द्वारा अपनी इच्छाओं पर शासन करता है एवं आचरण संबंधी समस्याएँ उत्पन्न होने पर बुद्धिमत्तापूर्वक उनका शमन करता है। यह सब अच्छे शासक के लक्षण हैं।

१२. स्वामी का दास पर शासन प्रभुशासन कहलाता है।

१३. शासक और शासित की शिक्षा के संबंध में दो मत प्रचलित थे--(१) शासक और शासित की शिक्षा एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होनी चाहिये। (२) नागरिक को शासक और शासित दोनों ही के लिये उपयोगी बातें सीखनी चाहिये क्योंकि नागरिक अंशतः शासक और शासित दोनों ही होता है। अरिस्तू के मत में शासक नागरिक को दासों और निकृष्ट कोटि के दस्तकारों की विद्याओं को नहीं सीखना चाहिये। दूसरी ओर जहाँ तक स्वतंत्र नागरिकों का संबंध है वहाँ तक शासक और शासितों को एक दूसरे की विद्या अवश्य सीखनी चाहिये। अरिस्तू ने जो सैनिक पदाधिकारियों की शिक्षा का उदाहरण दिया है उसका उद्देश्य यही है कि शासित व्यक्ति क्रमशः अपने से ऊँचे पदाधिकारियों से शिक्षा प्राप्त करते हुए उच्च से उच्चतर शासक पद पर पहुँचता जाता है।

१४. यूनानी भाषा में "अरैते" के अन्तर्गत भलाई के चार विशिष्ट गुणों का समावेश होता था--(१) संयम, (२) न्याय, (३) साहस, और (४) बुद्धिमत्ता। अरिस्तू ने इन गुणों का क्रमशः उल्लेख किया है।

१५. आरंभ में अरिस्तू ने भले मनुष्य की भलाई को एक-रस माना था पर अब उसको उसमें प्रकार भेद स्वीकार करना पड़ा है। अच्छे मनुष्य की भलाई का एक प्रकार उसके शासकरूप से तथा दूसरा प्रकार उसके शासित होनेवाले रूप से संबंध रखने वाला है।

१६. सब उपमाओं के समान यह उपमा भी सीमित समानता की द्योतक है। शासक और बीन बजानेवाले की समानता तो समझ में आने योग्य है पर शासित प्रजाजन

किस प्रकार वीन वनानेवालों के समान है यह समझ में आना सरल नहीं है। स्यात् अरिस्तू का आशय यह रहा हो कि शासित नागरिक उन परिस्थितियों को जन्म देते हैं जिनमें शासक को अपनी व्यावहारिक वुद्धिमत्ता को प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त होता है।

वि० अच्छा मनुष्य और अच्छा नागरिक किस सीमा तक एक समान होता है यह विषय कुछ उलझा हुआ है। स्वयं अरिस्तू का यह विचार है कि नगर का विकास मानव के स्वरूप के ही विकास का परिणाम है--वही परिवार, एवं ग्राम इत्यादि की भूमिकाओं में विकसित होता हुआ नगर का नागरिक बना है और आज तो यहाँ तक कह सकते हैं कि विश्व का नागरिक बना है। अच्छा मनुष्य और अच्छा नागरिक दोनों ही अच्छाई से युक्त होते हैं पर उनकी अच्छाइयाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। सामान्यतया इन अच्छाइयों का विरोध छिपा ही रहता है पर जव नगर-प्रेम और देशप्रेम तथा सत् (सत्य प्रेम) में उत्कट विरोध उत्पन्न हो जाता है तो यह विरोध स्पष्ट सामने आता है। वारेन हेस्टिङ्ग्‌स् और सी. एफ़. एण्ड्रयूज़ के दो उदाहरण इस विरोध को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं। वारेन हेस्टिङ्ग्‌स् पर जो अभियोग चलाया गया था उसके आरोप सच्चे थे पर इङ्गलैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय ने उसको राष्ट्र का हितसाधक समझ-कर---अर्थात् अच्छे नागरिक होने का प्रमाणपत्र देकर---सव आरोपों से मुक्त कर दिया। सी. एफ़. एण्ड्रयूज़ को भारत का पक्ष लेकर अनेक वार अपने सहनागरिकों के विद्वेष का भाजन वनना पड़ा होगा, वह अंग्रेज़ी राष्ट्र के नागरिक की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं समझे गये होंगे। देखा जाय तो अभी तक इस दिशा में मानव का विकास पूर्णता को नहीं पहुँचा है। आज भी शक्तिशाली राष्ट्रों तक को मानव की निरपेक्ष भलाई एक सीमा तक ही सह्य है चाहे कहने को सभी सर्वोच्च भलाई का ठेकेदार होने की घोषणा करते हैं। यही कारण है कि इतिहास के पथ पर सुकरात, ईसा, अब्राहम लिंकन और गांधी की हत्याओं के दृश्य भी दिखलाई पड़ते हैं। जिस दिन उपनिषद् के ऋषियों की कल्पना साकार होगी और सारा विश्व "एक-नीड" हो जायेगा तव स्यात् अच्छा नागरिक और भला आदमी एक ही भाव के द्योतक हो सकेंगे। जव तक ऐसा नहीं होगा तव तक अरिस्तू के विचार के अनुसार अच्छा नागरिक वह होगा जो अपने नगर के संविधान का पालक होगा और अच्छा मनुष्य संभव है अच्छा नागरिक न भी हो। इसके साथ ही हमको यह भी स्वीकार करना चाहिये कि जव तक मानव की निरपेक्ष अच्छाई और नागरिक की अच्छाई में अद्वैत की स्थापना नहीं होती तव तक मानव का विकास पूर्णता को नहीं पहुँच सकता। जिस दिन यह विकास पूर्णता को पहुँच जायेगा उसी दिन सच्ची राजनीति और स्थायी विश्वशान्ति संभव होगी।

५

नागरिक कौन ?

नागरिक के संबंध में अभी एक और कठिन समस्या (प्रश्न) शेष है ; अर्थात् क्या सच्चा नागरिक वही है जिसको शासनाधिकार में भाग प्राप्त है अथवा निम्नश्रेणी के श्रमिक जन भी नागरिकों की कोटि में आते हैं ? यदि वे लोग[1] भी जो कि शासनाधिकार में भागीदार नहीं हैं नागरिक समझे जायेंगे तो प्रत्येक नागरिक में यह (शासन करने और शासित होने का) गुण नहीं पाया जा सकता, जो कि अच्छे नागरिक का गुण है । दूसरी ओर यदि यह (निम्न श्रेणी के लोग) नागरिक न कहलायें तो फिर इनको राष्ट्र के किस भाग का स्थान प्राप्त होना चाहिये ? वे न तो अधिवसित विदेशी हैं और न परदेसी हैं, (तो फिर वे किस वर्ग में हैं ?) वे किस वर्ग के हैं यह कहना कठिन है, पर क्या हम यह नहीं कह सकते कि इस कठिनाई को मानने में कोई मूढ़ता की वात नहीं है। यदि निम्न श्रेणी के लोग उपर्युक्त वर्गों में सन्निविष्ट नहीं किये जा सकते तो इसी प्रकार दास और दासता से मुक्त लोग भी उन वर्गों में सम्मिलित नहीं किये जा सकते । सच तो यह है कि हम उन सवको नागरिकों के मध्य में नहीं गिन सकते (जो यद्यपि नगर के वास्तविक घटक नहीं हैं तो भी) जिनके विना नगर, नगर नहीं रहेगा ।[2] इसी प्रकार वच्चे भी (यद्यपि लगभग नागरिक होते हैं) तथापि वय:प्राप्त मनुष्यों की वरावरी के नागरिक नहीं हो सकते । वय:प्राप्त व्यक्ति ही पूर्ण नागरिक होते हैं, परन्तु वच्चे वय:प्राप्त न होने के कारण एक विशिष्ट अर्थ में, एक विशिष्ट मान्यता के आधार पर नागरिक होते हैं——अर्थात् ऐसे नागरिक होते हैं जिनका विकास पूर्णता को नहीं पहुँचा है । पुरातन काल में कुछ नगर ऐसे थे जिनमें यह श्रमिक वर्ग के लोग दास अथवा विदेशी हुआ करते थे, और इसीलिए अव भी उनमें वहुत से लोग ऐसे ही हैं । श्रेष्ठ राष्ट्रव्यवस्था तो इन लोगों को नागरिक वनायेगी नहीं । परन्तु जिन नगर-राष्ट्रों में इनको नागरिक वनाया जायेगा उनमें हमारी नागरिक के गुण की परिभाषा सव नागरिकों के लिये लागू नहीं होगी, और न केवल स्वतंत्र जनों के लिये ही लागू होगी, प्रत्युत केवल उन व्यक्तियों के लिये लागू होगी जो अनिवार्य (यानी वाधित) नीच-टहल के कार्यों से मुक्त कर दिये गये हैं । वाधित सेवा करनेवालों में से जो व्यक्तियों की सेवा करते हैं वे दास कहलाते हैं, तथा जो समाज की सेवा करते हैं वे निम्न कोटि के शिल्पी कहलाते हैं । यही विचारसरणी कुछ और आगे चलकर इन लोगों की स्थिति

को स्पष्ट कर देगी; और यों तो सच यह है कि जो कुछ अब तक कहा जा चुका है वही समझ लिये जाने पर सब कुछ स्पष्ट कर देगा।

क्योंकि शासन-व्यवस्थाएँ विविध प्रकार की होती हैं, अतएव अनिवार्यतया नागरिकों के भी विविध प्रकार होने ही चाहिये, अधिक विशेषता के साथ उन नागरिकों के विविध प्रकार होने चाहिये जो शासित प्रजाजन हैं। परिणामतः शासन-व्यवस्था के किसी एक प्रकार में तो शिल्पी और श्रमिकों का नागरिक होना आवश्यक होगा और अन्य किसी व्यवस्था विशेष में ऐसा होना संभव नहीं होगा। उदाहरण के लिये यदि व्यवस्था का प्रकार वह हो जो श्रेष्ठ जनतंत्र (अरिस्तौक्रातिके) कहलाता है तथा जिसमें सम्मान[3] (अथवा पद) सद्गुण और योग्यता के आधार पर वितरित होते हैं, तो उसमें ऐसा होना असंभव होगा; क्योंकि निम्न कोटि के शिल्पी अथवा श्रमिक का जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति सद्गुण से संबद्ध वस्तुओं का अनुसरण नहीं कर सकता। अल्प जनतंत्र (=धनिक-तंत्र) के विषय में यह बात है कि शासन-कार्य में भागीदार होना बहुत अधिक धनवत्ता की योग्यता पर निर्भर होने के कारण कोई श्रमिक तो उसका नागरिक कभी हो ही नहीं सकता; परन्तु शिल्पी का नागरिक होना संभव है, क्योंकि अधिकांश शिल्पी लोग प्रायः धनवान् हो जाते हैं। तथापि थेबैस् में (उस समय भी जब कि वहाँ धनिक-तंत्र था) यह नियम था कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक शासन-कार्य में भागीदार नहीं हो सकता था जब तक कि हाट-बाजार के क्रय-विक्रय से विरत हुए उसे दस वर्ष व्यतीत न हुए हों। दूसरी ओर बहुत-सी राष्ट्र-व्यवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनमें विदेशियों तक को नागरिक बनाने का नियम पाया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ जनतंत्र-व्यवस्थाओं में नागरिक माता से उत्पन्न हुआ व्यक्ति नागरिक मान लिया जाता है; और बहुत से राष्ट्रों में इसी प्रकार का नियम अवैध (जारजन्मा) सन्तानों के लिये भी लागू होता है। परन्तु नागरिकता प्रदान करनेवाले नियम का इस प्रकार का विस्तार (अथवा शिथिलीकरण) सामान्यतया नहीं किया जाता, तभी किया जाता है जब कि वैध नागरिकों की कमी या अभाव होता है। परन्तु जब जनसंख्या बढ़ने लगती है तो थोड़ा थोड़ा करके (कठोरता बरती जाने लगती है), प्रथम ऐसे माता-पिताओं की सन्तान को नागरिकता से वंचित कर दिया जाता है जो दास हों, तत्पश्चात् उनको नागरिकता से पृथक् कर देते हैं जिनकी माता नागरिक और पिता विदेशी होता है, और अन्त में नागरिकता का अधिकार उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित रह जाता है जिनके माता-पिता दोनों ही नागरिक होते हैं। अतः इन (उपर्युक्त) विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नागरिकों के विविध प्रकार होते हैं, एवं नागरिक

नाम (शब्द) विशेषरूप से उन लोगों के लिये प्रयुक्त होता है जो राष्ट्र के सम्मानों (=सम्मानास्पद पदों) के भागीदार होते हैं। इसीलिए होमेर् ने अपने इलियाद् काव्य में सम्मानशून्य व्यक्ति के वर्णन में

"जैसे कोई सम्मानशून्य परदेसी"

कहा है ; और वास्तव में जो व्यक्ति राष्ट्र के सम्मान और पदाधिकार से वहिष्कृत है, वह उस राष्ट्र में (बसे हुए) परदेसी के ही समान है। परन्तु जब यह पृथक्करण (अथवा बहिष्कार) छिपाकर किया जाता है तो इसका उद्देश्य (अधिकारसम्पन्न लोगों द्वारा) अपने देशवासियों को धोखा दिया जाना होता है।

"भला आदमी और नेक नागरिक दोनों एक होते हैं अथवा एक दूसरे से पृथक् ?"[४] इस प्रश्न के संबंध में जो विवेचन किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि कुछ नगरराष्ट्रों में वे एक ही होते हैं और कुछ में वे पृथक् होते हैं। तथा जब (और जिस नगर में) वे एक ही होते हैं तब भी सब नागरिक भले आदमी नहीं होते प्रत्युत राजनीतिज्ञ (राजनयिक) और सत्तारूढ़ व्यक्ति ही ऐसे होते हैं, अर्थात् वे लोग ऐसे होते हैं जो या तो स्वयं अकेले अथवा अन्य लोगों के साथ मिलकर सार्वजनिक कार्यों का संचालन करते हैं, अथवा करने की योग्यता रखते हैं।

टिप्पणियाँ

१. अर्थात् श्रमिक जो समयाभाव के कारण शासन-कार्य में भाग नहीं ले सकते।

२. नगर में बसनेवालों को अरिस्तू दो श्रेणियों में विभक्त करता है--(१) वे लोग जो कि नगर के राजनीतिक अथवा शासनसंबंधी कार्यों में भागीदार होते हैं और नागरिक कहलाते हैं--(२) वे लोग जो नगर के अस्तित्व के लिये--उसकी भौतिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये और नागरिकों को उनके कर्तव्य-पालन के लिये अवकाश प्रदान करने के लिये--परम आवश्यक हैं। पर यह दूसरा वर्ग नागरिकता के अधिकार नहीं रखता।

३. मूल में सम्मान के लिये "तिमे" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सम्मान और पद (=ओहदा=ऑफ़िस) दोनों ही होता है।

४. इस पुस्तक के चौथे और पाँचवें खण्डों में अरिस्तू ने इस समस्या पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है और इस विचार के मध्य में प्रश्न की स्थिति भी एक-सी नहीं रह सकी है। आरंभ में अच्छे आदमी और अच्छे नागरिक की अभिन्नता अथवा पृथक्ता

का विचार विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों की दृष्टि से किया गया है तथा जैसा कि नितान्त स्वाभाविक था, निष्कर्ष यह निकला है कि अच्छा आदमी और अच्छा नागरिक एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसका कारण यह है कि शासन-पद्धतियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं एवं उनके अनुसार अच्छे नागरिक का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा। इस विभिन्नता की पटरी अच्छे आदमी की अच्छाई से बैठना संभव नहीं है। तत्पश्चात् इस प्रश्न पर आदर्श नगर-राष्ट्र की व्यवस्था की दृष्टि से विचार किया गया है और यह निष्कर्ष निकला है कि आदर्श राष्ट्र-व्यवस्था में सब अच्छे नागरिक अच्छे मनुष्य से अभिन्न नहीं हो सकते, हाँ एक अच्छा नागरिक जो शासित होने की योग्यता के साथ ही साथ शासन करने की व्यावहारिक योग्यता भी रखता है, अच्छे मनुष्य से अभिन्न हो सकता है। इसी बात को यहाँ पुनः दोहराया गया है। पर यह द्रष्टव्य है कि चतुर्थ खण्ड के आरंभ में अरिस्तू ने अच्छे मनुष्य की अच्छाई को निरपेक्ष और अखंड माना है पर आगे चलकर उसी में दो गुणों का समावेश कर दिया है जिनमें से एक उसको सुशासित होने की और दूसरा सुशासन करने की क्षमता प्रदान करता है। यह अरिस्तू का द्वैताद्वैत है।

अरिस्तू ने ऐसी परिस्थिति की कल्पना नहीं की जिसके अनुसार प्रत्येक नागरिक अच्छे मनुष्य से अभिन्न हो सके। पर यदि उसकी युक्तियों का अन्त तक अनुसरण किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ऐसा होना तभी संभव होगा जबकि (१) सब राष्ट्रों की शासन-पद्धतियाँ एक समान आदर्श हो जाय (२) प्रत्येक नागरिक भली प्रकार शासित होने की क्षमता रखता हो और (३) प्रत्येक नागरिक सुशासन करने की व्यावहारिक बुद्धिमत्ता से युक्त हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जब सारे विश्व में एक आदर्श शासन-पद्धति की स्थापना हो जायेगी, तथा शिक्षा एवं विनय की चरमोन्नति के द्वारा मानव-स्वभाव का पूर्ण विकास हो चुकेगा तब प्रत्येक नागरिक भला आदमी बन सकेगा। तभी संभवतया अंकुशस्वरूपी स्टेट् वास्तविक अर्थ में सूखे पीले पात के समान म्लान होकर झड़ जायेगी।

६

शासन-व्यवस्था, प्रकृत और विकृत

इस (नागरिकता) के प्रश्न का निर्धारण कर लेने के पश्चात् अब यह देखना चाहिये कि नगर-व्यवस्था (= संविधान) एक ही प्रकार की होती है अथवा अनेक प्रकार की। और यदि अनेक प्रकार की होती हों, तो वे क्या (अर्थात् कौन कौन सी) हैं, कितनी हैं और उनमें (परस्पर) क्या अन्तर है ?

नगर-व्यवस्था (अथवा नगर का संविधान) सामान्यरूपेण नगर के शासनपदों[1] का—और विशेषतया सबसे उच्च प्रभु-पद[2] का संघटन है। नगर-राष्ट्र की प्रभु-शक्ति सर्वत्र ही शासनारूढ़ जनसमूह[3] होता है। सच तो यह है कि शासनारूढ़ नागरिक-जन-समूह ही नगर-व्यवस्था (अथवा विधान) है। उदाहरण के लिये, जनतंत्रात्मक विधान में जनसाधारण ही प्रभु होते हैं; दूसरी ओर इसके विपरीत अल्प जनतंत्र में अल्पसंख्यक लोग प्रभु होते हैं। प्रभुताप्राप्त जनसमूह के इस भेद के कारण ही तो हम यह कहते हैं कि दोनों प्रकार के विधान एक दूसरे से भिन्न हैं। यही बात अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं के विषय में भी लागू होती है।

सबसे प्रथम हमको यह विचार करना चाहिये कि नगर-राष्ट्र की संस्थापना का प्रयोजन क्या है और शासन-पद्धति के विविध प्रकार कितने हैं जिनके द्वारा मनुष्य और मनुष्यों के समाज शासित होते हैं। यह बात तो हम इस ग्रंथ के प्रथम भाग में ही, गृह-शासन और प्रभु-शासन का निर्धारण करते समय कह चुके हैं कि मनुष्य सहज स्वभाव से ही पुरवासी (राजनीतिक) प्राणी है।[4] अतएव परस्पर एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता न रखते हुए भी मनुष्य सहज-प्रवृत्ति से ही एक दूसरे के साथ (समाज में) रहने के कुछ कम इच्छुक नहीं होते। परन्तु (इसके अतिरिक्त) वे (सब जनता के संघटित नगर-समाज द्वारा) जितनी मात्रा में सुन्दर जीवन की उपलब्धि कर पाते हैं उतनी ही मात्रा में समान हितों की प्रेरणा से साथ मिलकर रहने के लिये भी आकृष्ट होते हैं। यह (सुन्दर या शोभन जीवन ही) समष्टिरूपेण राष्ट्र का और व्यक्ति का परम लक्ष्य (अथवा परमार्थ) है। परन्तु मनुष्य केवल जीवन (रक्षा) के लिये भी एक साथ मिलकर रहते हैं तथा नागरिक समाज का स्थापन और संचालन तब तक किया करते हैं जब तक कि जीवन की बुराइयों का पलड़ा (भलाइयों के पलड़े की अपेक्षा) बहुत अधिक नहीं झुक जाता, क्योंकि स्यात् केवल (इस प्रकार) जीवन में भी कुछ भलाई का अंश होता ही है।[5] यह एक स्पष्ट तथ्य है कि बहुत से मनुष्य जीवन से इतने अधिक चिपटे रहते हैं कि वे (उसको बचाए रखने के लिये) बहुत अधिक मात्रा में कष्ट सहने के इच्छुक बने रहते हैं, मानो जीवन में उनको स्वस्थ आनन्द का प्राकृतिक माधुर्य प्राप्त होता हो।

(यह तो रही राष्ट्रों के उद्देश्य की विवेचना। इसके उपरान्त शासन-पद्धतियों के भेदों का प्रश्न आता है।) उन विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों में, (जिनकी मनुष्य बहुधा चर्चा किया करते हैं), भेद बतलाना सरल काम है; और स्वयं हमने ही अनेक

बार इन सब को अपने सार्वजनिक प्रवचनों[1] में विवेचना और (परिभाषा) की है। शासनपद्धति का एक प्रकार प्रभु-शासन है ; यद्यपि वास्तव में प्राकृतिक प्रभु और प्राकृतिक दास दोनों का हित एक होता है, तथापि प्रभुशासन मुख्यतया प्रभु के हित की दृष्टि से चलता है न कि दुर्बल (दास) के हित की दृष्टि से ; दास के हित की दृष्टि तो स्यात् प्रसंगात् रहती हो तो रहती हो—क्योंकि दास की मृत्यु न होने से ही तो प्रभुशासन की रक्षा संभव है। बच्चों और पत्नी पर किया जानेवाला शासन और सामान्यतया गृहस्थी पर किया जानेवाला शासन, जिसको हमने गृहप्रबन्ध का नाम दिया है, या तो प्रथमतः शासितों की भलाई के लिये होता है अथवा शासक और शासित दोनों ही के समान स्वार्थों की सिद्धि के लिये। परन्तु सारतः इस प्रकार का शासन शासितों की भलाई के लिये ही होता है, जैसा (शासनकला के अतिरिक्त) अन्य कलाओं के पक्ष में भी देखा जाता है—उदाहरणार्थ आयुर्वेद और व्यायामकला को ले सकते है, जो संयोगात् कलाविद् के हित-साधन में भी प्रयुक्त हो सकती हैं ; क्योंकि शिक्षक को शिक्षा पानेवाले शिक्षार्थियों के वर्ग में यदाकदा सम्मिलित होने से कोई नहीं रोक सकता, ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि पोतनिर्यामक सर्वदा ही एक सांयात्रिक भी होता है। इस प्रकार व्यायाम-शिक्षक एवं निर्यामक (मुख्यतया) अपने शासन में रहनेवालों की ही भलाई पर दृष्टि रखते हैं ; परन्तु जब वह स्वयं उन्हीं शासित जनों में से एक होता है तो संयोगवश वह भी उस भलाई से लाभान्वित होता है, इस प्रकार पोतनिर्यामक साधारण यात्री भी होता है और (व्यायाम-) शिक्षक (शिक्षक रहते हुए) अपने द्वारा शिक्षा दिये जाते हुए वर्ग का घटक भी होता है।

यही बात राजनीतिक पदों के अधिकारियों के शासन के विषय में भी लागू होती है ; जब राष्ट्र के विधान की संस्थापना समानता और सादृश्य के आधार पर होती है तो नागरिक इस बात को उचित समझते हैं कि वे लोग बारी बारी से पद ग्रहण करें। पूर्वकाल में तो प्राकृतिक नियम[2] के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए बारी बारी से पद ग्रहण किया करता था और यह मानता था कि अन्य लोग भी उसकी भलाई की देखभाल करने के कर्तव्य को इसी प्रकार अंगीकार करेंगे जिस प्रकार उसने स्वयं पदारूढ़ होते हुए अन्य लोगों के हितों की देखभाल की थी। परन्तु आज-कल तो शासनपद और सार्वजनिक सम्पत्ति से उपलब्ध होनेवाले लाभों के लोभ से लोग निरन्तर पदारूढ़ रहना चाहते हैं। ऐसी दशा है मानों शासक लोग रोगी हों एवं उनको स्थायी स्वास्थ्य का लाभ निरन्तर पदारूढ़ रहने से ही प्राप्त हो ; जिस उत्साह से वे लोग पदों के पीछे पड़े रहते हैं उससे तो यही मान्यता प्रकट होती है। इसका भावार्थ

बिलकुल स्पष्ट है—जो राष्ट्र-व्यवस्थाएँ सर्वसाधारण के हित को दृष्टि में रखती हैं वे ही परिपूर्ण (निरपेक्ष) न्याय की दृष्टि से ठीक संघटित हुई हैं। पर जो व्यवस्थाएँ केवल शासकों की भलाई पर ही दृष्टि रखती हैं वे सब दूषित व्यवस्थाएँ हैं और सरल एवं शुद्ध व्यवस्थाओं के विकृत रूप हैं। यह विकृत व्यवस्थाएँ स्वैरतंत्रात्मक होती हैं जब कि सच्चा नगर (-राष्ट्र) समानरूपेण स्वतंत्र जनों का समाज होता है।

टिप्पणियाँ

१. शासनपदों के अधिकार, कर्तव्य और सीमाओं का निर्धारण करना ही तो शासन-व्यवस्था का सारभूत मुख्य विषय है।

२. प्रभुपद अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न पद जो अंग्रेजी सॉवरेन् (Sovereign) कहलाता है।

३. शासनारूढ़ जनसमूह के लिये मूल में "पौलित्यूमा" शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का अर्थ है किसी नगर के समग्र स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता-प्राप्त नागरिकों का समूह। अन्ततोगत्वा किसी नगर-राष्ट्र में यही नागरिक समूह सर्व-शक्तिसम्पन्न होता है।

अरिस्तू ने अपनी राजनीति संबंधी रचनाओं में पौलिस् एवं इससे निर्मित अनेक शब्दों का प्रयोग पदे पदे किया है अतएव इन शब्दों की तालिका से परिचित होना इन रचनाओं को समझने के लिये आवश्यक है। (१) पौलिस्=नगर, पुर; (२) पौलितेस्=नागरिक; (३) पौलित्यूमा (पौलितैउमा)=समग्र नागरिकों का समूह, शासनकार्य; (४) पौलितेइया=नगर-व्यवस्था अथवा, नगर का संविधान, अथवा नगर-राष्ट्र का संविधान ; (५) पौलितिकॉस्=राजनीतिज्ञ अथवा राज-नयिक; (६) पौलिस्तेस्=नगर-संस्थापक एवं पौलितिस्मॉस्=नागरिक कार्यों का प्रबन्ध इत्यादि। यद्यपि लिडैल और स्कॉट् के ग्रीक भाषा के कोश में नगर और नगर-शासन से संबंध रखनेवाले शब्दों की तालिका बहुत लम्बी है तथापि यहाँ पर केवल अधिक महत्त्वपूर्ण शब्दों का संग्रह किया गया है।

वास्तव में आर्यभाषा-परिवार का यह पुर शब्द और इसका सजातीय पौलिस् शब्द एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। संस्कृत में भी यह शब्द ऋग्वेद के समय से लेकर साहित्य, राजनीति और दर्शन में विशेष स्थान ग्रहण किये हुए है। पुर, पौर, पुरुष (सांख्यदर्शन और वेदान्त, पुरुषसूक्त) राजपुरुष (अफ़सर, पुलिस का अफ़सर) इत्यादि अनेक रूपों में पुर शब्द का परिवार हमको यत्रतत्र मिलता है। अनेक नगरों

के नामों के साथ में तो यह बहुत अधिक मिलता है। उधर इसका सजातीय पौलिन् शब्द तो आज "पौलिटिक्स्" के रूप में विश्वभर पर छा गया है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं शासन-व्यवस्था अथवा संविधान मुख्यतया सर्वोच्च शक्ति की व्यवस्था करना है। अरिस्तू का मत है कि जिस प्रकार की सर्वोच्च-शक्ति की व्यवस्था किसी नगर में होती उसी प्रकार का शासन उस नगर में चलता है और नागरिकों का चरित्र भी बनता है। इसी तथ्य को महाभारत में इस प्रकार कहा है "राजा कालस्य कारणम्।"

४. राष्ट्र की सत्ता के दो उद्देश्य हैं; एक तो मानवीय स्वभाव की सामाजिकता से संबद्ध है—अर्थात् मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह समाज बनाकर रहता है। दूसरा उद्देश्य राष्ट्र की सत्ता का यह है कि राष्ट्र के द्वारा मानव के समान हित की सिद्धि होती है; एवं यह समान हित अरिस्तू के मत में अच्छे जीवन की सम्प्राप्ति है तथा यही नागरिक-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की चरम परिणति उसी दिन समझनी चाहिये जिस दिन प्रत्येक नागरिक को अच्छे जीवन की उपलब्धि हो, यद्यपि अरिस्तू ने स्पष्टतया ऐसा कहीं कहा नहीं है।

५. केवल जीवन में भी भलाई का अंश होता ही है इसका सबसे प्रबल प्रमाण मानव का उत्कट जीवन का प्रेम है। संस्कृत में तो "जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्" (=जीवित रहता हुआ मनुष्य सैकड़ों भलाइयों को प्राप्त करता है) यह लोकोक्ति ही बन गई है। वाल्मीकि के समय भी इस प्रकार की लोकगाथा प्रचलित थी, ऐसा पता सीता के द्वारा हनुमान् को कहे गये निम्नलिखित श्लोक से चलता है:—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ वा. रा. सुन्दरकाण्ड ३३।६

अर्थात् "यह लोकोक्ति, कि जीवित रहते हुए मनुष्य को सौ वर्ष में भी (कभी न कभी) आनन्द पा ही लेता है, मुझे अत्यन्त कल्याणमयी प्रतीत होती है।" योगिराज अर-विन्द ने अपनी "दिव्य जीवन" नामक रचना में तो सत्ता की आनन्दमयता का प्रतिपादन अकाट्य तर्कों द्वारा किया है। पर जीवन की सुरक्षितता भी समाज में ही भली भांति सिद्ध होती है। इस प्रकार नगर से तीन उद्देश्यों की पूर्ति अरिस्तू ने मानी—(१) जीवन की सुरक्षितता, (२) सामाजिक जीवन की सम्प्राप्ति और (३) अच्छे जीवन की उपलब्धि। यह उद्देश्य उत्तरोत्तर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

६. अरिस्तू की रचनाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है। इनमें से कुछ रचनाएँ साधारण जनता के लिये प्रस्तुत की गई थीं जिनकी शैली सरल थी। शेष रचनाएँ अरिस्तू के "लीकैयम्" नामक विद्यालय के विद्यार्थियों के लिये निर्मित हुई थीं।

इसी प्रकार का विभाजन उसके गुरु प्लातोन की रचनाओं का भी था। पर काल की विचित्र गति के कारण प्लात.न की सार्वजनिक रचनाएँ और अरिस्तू की विद्यार्थियों के लिये प्रस्तुत की गई रचनाएँ बच गईं और शेष काल के काल में समा गईं।

७. राष्ट्र का प्राकृतिक स्वरूप अरिस्तू के मत में यही है कि प्रत्येक नागरिक बारी से शासन-पद को कर्तव्य-भावना से ग्रहण करे और अपनी बारी की अवधि तक शासितों के हित की साधना करे। उसको पद के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जिस शासन-व्यवस्था में यही दृष्टि प्रधान रहती है वह व्यवस्था ठीक प्रकार की है। पर जिस व्यवस्था में पदाधिकारियों की दृष्टि शासितों की भलाई से हटकर अपने स्वार्थ की सिद्धि पर केन्द्रित हो जाती है वह व्यवस्था विकृत व्यवस्था कहलाती है। विकृत व्यवस्था के अवान्तर भेदों का वर्णन आगे चलकर किया गया है।

७

शासन-व्यवस्थाओं के शुद्ध और विकृत रूप

इन सब बातों का निर्धारण कर लेने के उपरान्त अब हमको यह विचार करके देखना है कि राष्ट्र-व्यवस्थाएँ कितनी और किस किस प्रकार की होती हैं।[१] प्रथम हमको इनके शुद्ध रूपों का ही विचार करना चाहिये; क्योंकि शुद्ध शासन-व्यवस्थाओं के रूपों का निर्धारण हो जाने पर उनके विविध विकृत रूपों का निर्धारण तो तत्काल ही हो जाएगा। पौलितेइया (नगर-व्यवस्था) एवं पौलित्यूमा (नगर का शासकवर्ग) इन दोनों शब्दों का एक ही आशय है। नगर में शासकवर्ग ही सर्वोपरि-शक्ति होता है और सर्वोपरि शासक-शक्ति या तो एक व्यक्ति के हाथ में होनी चाहिये, अथवा थोड़े से गिने चुने लोगों के हाथ में अथवा बहुसंख्यक लोगों के हाथ में। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब एक व्यक्ति, अथवा गिने चुने व्यक्ति अथवा बहुत-से व्यक्ति सर्वसाधारण (समाज) के हित में शासन करते हैं, तो जिस व्यवस्था के तत्त्वावधान में वे ऐसा करते हैं उसको उत्तम[२] (=शुद्ध, सही) व्यवस्था कह सकते हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर जो शासन-व्यवस्थाएँ एक, अथवा गिने चुने थोड़े से, अथवा बहुसंख्यक व्यक्तियों के अपने हितों पर ही दृष्टि रखती हैं वे विकृत प्रकार की व्यवस्थाएं कहलाती हैं। (समग्र समाज के हित को दृष्टि में न रखने के कारण ही यह विकृत प्रकार की व्यवस्थाएँ आदर्श-व्यवस्था के मार्ग से भटक जाती हैं।) या तो

ऐसी व्यवस्थाओं की अध्यक्षता में रहनेवाले व्यक्तियों को नागरिक संज्ञा ही नहीं दी जानी चाहिये (क्योंकि उनके हितों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता) अथवा यदि यह संज्ञा उनको दी जाय तो सार्वजनिक हित में उनको भागीदार भी होना चाहिये। उन व्यवस्थाओं में से जिनमें एक[3] व्यक्ति का शासन चलता है, हम उस व्यवस्था को एकराट्तंत्र (बसिलेइया) कहने के अभ्यस्त हो गये हैं जो सार्वजनिक (सामाजिक) हित पर अपनी दृष्टि लगाये रहती है।(एक से अधिक)––किंतु बहुसंख्यक नहीं––लोगों के द्वारा जो शासन-कार्य चलाया जाता है उसके उस प्रकार को श्रेष्ठ तंत्र (अरिस्तौ-क्रातिया) कहा जाता है जो सार्वजनिक हित पर दृष्टि रखता है।––इसका नाम श्रेष्ठ तंत्र या तो शासकों के श्रेष्ठ होने के कारण है, अथवा इसलिए है कि इस शासन का उद्देश्य राष्ट्र और समाज दोनों के श्रेष्ठ हित का सम्पादन करना है। जब बहुसंख्यक लोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से नगर-राष्ट्र का शासन करते हैं तो ऐसी शासन-पद्धति को (नगर-) व्यवस्था (पौलितेइया) नाम दिया जाता है जो सब प्रकार की शासन-पद्धतियों का सामान्य नाम (भी) है। इस प्रकार की शासन पद्धति के लिये "अरिस्तौक्रातिया" इत्यादि जैसे विशिष्ट नाम का प्रयोग न करके सामान्य नाम के प्रयोग करने का समुचित कारण है। एक व्यक्ति अथवा थोड़े से गिने चुने व्यक्तियों के लिये सद्गुणों की दृष्टि से पूर्णता प्राप्त कर लेना संभव है, परन्तु बहुसंख्यक जनता के लिये सब सद्गुणों में पूर्णता प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन कार्य है; यद्यपि युद्धकला-संबंधी उत्तमता की उनमें विशेष उपलब्धि की आशा की जा सकती है, क्योंकि उनमें इस प्रकार की उत्तमता प्रकट हुआ करती है। अतएव इस प्रकार की शासन-व्यवस्था में योद्धावर्ग शासन-व्यापार में सर्वोपरि शक्ति होता है तथा जो शस्त्रधारी लोग होते हैं वही शासन-तंत्र में भी भागीदार होते हैं।

उपर्युक्त शुद्ध व्यवस्थाओं के विकृतरूप निम्नलिखित हैं :––

(१) एकराट्तंत्र का तानाशाही; (२) श्रेष्ठतंत्र का अल्पजन-(=धनिकजन-) तंत्र; तथा (३) (नगर-) व्यवस्था (पौलितेइया) का जनतंत्र। तानाशाही (तिरानिया अथवा तिरान्निस्) ऐसा एकराट्तंत्र है जो एक मात्र शासक के हित की दृष्टि से प्रेरित होता है; अल्पजन- (धनिकजन-) तंत्र (औलिगार्किया) मुट्ठी भर सम्पन्न लोगों के हित की दृष्टि से तथा जनतंत्र (दिमौक्रातिया) निर्धन लोगों की भलाई के विचार से प्रेरित होता है। परन्तु इन तीनों में से एक भी शासनतंत्र ऐसा नहीं है जो समग्र जनता के लाभ की दृष्टि से प्रेरित होता हो।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू की दृष्टि में व्यवस्थाओं का वर्गीकरण इस प्रकार है :—
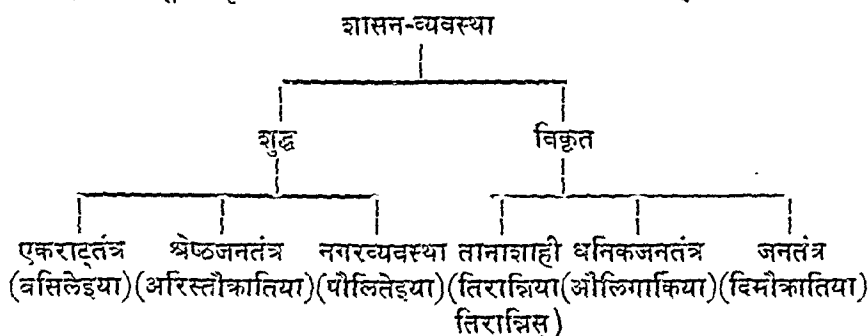
यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि अरिस्तू ने यहाँ (पौलितेइया) = नगर-व्यवस्था एवं (दिमौक्रातिया) = जनतंत्र इन दो शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है।

२. आधुनिक भारतीय राजनीति के संदर्भ में शुद्ध व्यवस्था को सर्वोदय-व्यवस्था कहा जा सकता है। पर हमको यह नहीं भूल जाना चाहिये कि अरिस्तू की शुद्ध शासन-व्यवस्था में केवल स्वतंत्र नागरिकों के सर्वोदय की दृष्टि प्रमुख है। तत्कालीन दासों के हित की इसमें कोई चर्चा नहीं है।

३. संख्या की दृष्टि से जो शासन-व्यवस्थाओं के भेद किये गये हैं, वे जैसा कि आगे चलकर पता चलेगा, सामाजिक वर्गों के स्वरूप पर आश्रित हैं। पर अरिस्तू के विचार में सर्वहितकारी शासन सभी वर्गों के शासन में, (यदि वह शुद्ध शासन हो तो) संभव है। आजकल के वर्ग-संघर्ष की कल्पना का उदय उस समय नहीं हुआ था।

८

धनिकतंत्र और जनतंत्र

परन्तु क्योंकि इन उपर्युक्त शासनतंत्रों के विषय में कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं अतएव इनमें से प्रत्येक के स्वरूप के विषय में थोड़े अधिक विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक है। क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी विज्ञान के विषय में दार्शनिक अनुशीलन में संलग्न हो, और केवल व्यावहारिक विचारों की ओर ही ध्यान दे रहा हो, तो उसके लिए उचित मार्ग यह है कि वह किसी भी विषय को असावधानी से छोड़ अथवा

भुला न दे, प्रत्युत प्रत्येक विशिष्ट विषय-विभाग के संबंध में सत्य को ठीक प्रकार से प्रकट करे। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, तानाशाही (तिरान्निस्) राजनीतिक-समाज ऐसा एकराट्-शासन-विधान है जो इस प्रकार चलता है जिस प्रकार (दास पर उसके प्रभु की) प्रभुता। जब शासन-व्यवस्था का स्वामित्व (अथवा प्रभुशक्ति) सम्पत्तिशाली लोगों के हाथ में होता है तब शासनतंत्र स्वल्पजनतंत्र (ओलिगार्किया) कहलाता है। इसके विपरीत जनतंत्र (दिमोक्रातिया) प्रकार की शासन-व्यवस्था उस समय होती है जब शासन का प्रभुत्व सम्पत्तिशाली लोगों के पास नहीं किन्तु निर्धन लोगों के हाथ में होता है। सबसे प्रथम जो कठिनाई उत्पन्न होती है वह (स्वल्पजनतंत्र और जनतंत्र की) अभी प्रस्तुत की हुई परिभाषाओं से संबंध रखती है। यदि किसी राष्ट्र में वे बहुसंख्यक जन जिनके हाथ में शासन की प्रभुता है, धनवान् हों तो क्या होगा? क्योंकि हमने जनतंत्र की परिभाषा 'बहुसंख्यक जनता का शासन' बतलाई है। इसी प्रकार स्वल्पजनतंत्र को सामान्यतया थोड़े से मनुष्यों का शासन कहा जाता है; फिर भी यदि कहीं ऐसा संभवतया घटित हो जाय कि निर्धन वर्ग के लोग धनवानों की अपेक्षा संख्या में कम हों, और तिस पर भी अधिक शक्तिशाली होने के कारण राष्ट्र की व्यवस्था की प्रभुता उन्हीं के हाथ में हो तो कैसा हो? ऐसी परिस्थितियों में इन व्यवस्थाओं की जो परिभाषाएँ हमने दी हैं वह बिलकुल ही लागू नहीं होंगी।

अच्छा मान लीजिये कि हम सम्पत्ति को अल्पसंख्यकता के साथ तथा निर्धनता को बहुसंख्यकता के साथ जोड़कर (इस कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करें) और इसी के अनुसार शासन-व्यवस्था का नामकरण करें---अर्थात् स्वल्पजनतंत्र उसको कहें जिसमें धनवान् लोग, जो कि संख्या में कम हैं शासनाधिकृत होते है और जनतंत्र उसको कहें जिसमें निर्धन लोग, जो संख्या में अधिक हैं, शासक होते है--तो भी दूसरी कठिनाई उपस्थित हो जाएगी। क्योंकि, (यदि हमारी परिभाषा ठीक हो) और हमारे द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्थाओं के अतिरिक्त शासन-व्यवस्थाओं के अन्य कोई प्रकार हों ही नहीं तो फिर हम अभी अभी वर्णित उन अन्य व्यवस्थाओं को क्या नाम देंगे जिनमें धनिक-वर्ग बहुसंख्यक और निर्धन-वर्ग अल्पसंख्यक होता है तथा जिनमें से एक में बहुसंख्यक धनिकवर्ग और दूसरे में अल्पसंख्यक धनहीनवर्ग शासन-व्यवस्था में सर्वोच्च अधिकारी होता है।

ऐसा लगता है कि इस विवेचन-प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो गई कि यह संख्या का तत्व---अर्थात् स्वल्पजनतंत्र में सर्वोच्च शासनाधिकारियों का अल्पसंख्यक और

जनतंत्र में बहुसंख्यक होना—एक आकस्मिक[२] घटना है जो इस तथ्य पर आश्रित है कि सम्पन्न लोग सामान्यतया (सर्वत्र) संख्या में कम और धनहीन लोग सामान्यतया संख्या में अधिक होते हैं। और इसीलिए (स्वल्पतंत्र = धनिकतंत्र और जनतंत्र = अल्पवित्ततंत्र के भेद के) जो कारण (= शासकों की संख्या का थोड़ा होना अथवा अधिक होना) मूलतः बतलाये गये हैं वे उनके भेद के वास्तविक कारण नहीं हैं। जनतंत्र और अल्पतंत्र में एक दूसरे को भिन्न करनेवाली वस्तु तो निर्धनता और सम्पन्नता है। और यह एक अनिवार्य तथ्य है कि जहाँ कहीं मनुष्य अपने धन के द्वारा (= धन के बल पर) शासक बनते हैं—चाहे उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम हो, चाहे अधिक, वहाँ की शासन-व्यवस्था अल्पजनतंत्र होगी और जहाँ कहीं वित्तहीनों का शासन होगा वहाँ जनतंत्र-व्यवस्था होगी। पर संयोगवश होता यह है—जैसा हम कह चुके हैं—कि सम्पन्न होते हैं थोड़े और निर्धन होते हैं अधिक। धन तो थोड़े से ही लोगों के पास होता है, पर स्वाधीनता का उपभोग सब समानरूप से कर (सक) ते हैं। यही (दोनों—अर्थात् सम्पन्नता और स्वाधीनता[३]) वह निमित्त हैं जिनके आधार पर दोनों वर्ग—धनिकवर्ग और जनवर्ग शासनतंत्र को हस्तगत करने के लिये द्वन्द्व किया करते हैं।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खंड में प्रस्तुत की गई परिभाषाओं के संबंध में यह एक संभाव्य किन्तु काल्पनिक आपत्ति है। जिस समाज में सम्मान का केन्द्र-बिन्दु सम्पत्ति होती है उसमें अल्पजनतंत्र अथवा धनिकतंत्र की स्थापना होती है। प्रकृत्या धनोपलब्धि की आकांक्षा समता की भावना को सहन नहीं कर सकती अतएव धनिकों की संख्या अधिक हो नहीं सकती। फिर भी अरिस्तू इस संभावना को मान्यता देकर अपनी परिभाषा का और भी अधिक परिष्कार करना चाहता है।

२. अर्थात् जनतंत्र और अल्पतंत्र के मौलिक अवच्छेदक के रूप में इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. अल्पजनतंत्र और जनतंत्र का वास्तविक भेदक है सम्पन्नता का प्राधान्य और स्वाधीनता का प्राधान्य। जिस शासन-व्यवस्था में प्राधान्य सम्पन्नता का होगा वह अल्पजनतंत्र-व्यवस्था होगी क्योंकि सम्पन्नता के भाजन थोड़े ही व्यक्ति होते हैं। यद किसी समाज में सम्पन्नता अधिक व्यापक हो—धनिक लोगों की संख्या अन्य लोगों से अधिक हो तो यह एक अपवाद-स्वरूप परिस्थिति होगी। दूसरी ओर स्वाधीनता का उपभोग सभी समानता के आधार पर कर सकते हैं; अतएव जिस व्यवस्था में स्वाधीनता को प्राधान्य दिया जायेगा वह व्यवस्था जनतंत्रात्मक व्यवस्था होगी।

वि० इस खंड में अरिस्तू ने एक संभावना यह भी प्रस्तुत की है कि "निर्धन लोग धनवानों की अपेक्षा संख्या में कम हों, और तिस पर भी अधिक शक्तिशाली होने के कारण राष्ट्र की प्रभुता की व्यवस्था उन्हीं के हाथ में हो।" यह असंभव जैसी प्रतीत होनेवाली संभावना उच्चतर संघटन अथवा लोकोत्तर चरित्रबल के आधार पर ही संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं।

९

नगर की सत्ता का चरम लक्ष्य और तदनुसार न्याय का स्वरूप

(उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त) हमको सबसे पहले यही निर्धारण कर लेना चाहिये कि धनिकतंत्र (अल्पतंत्र अथवा औलिगार्किया) और जनतंत्र (दिमौक्रातिया) के विशिष्ट सिद्धान्त[1] (उनके पृष्ठपोषकों द्वारा) क्या बतलाये जाते हैं तथा धनिकतंत्र-संबंधी न्याय[2] तथा जनतंत्री न्याय की धारणाएँ क्या हैं? यों तो सभी[3] किसी न किसी प्रकार की न्याय की धारणा को ग्रहण किये रहते हैं, पर वे इस दिशा में कुछ ही दूर बढ़ पाते हैं एवं समग्र न्याय की धारणा का समुचित प्रतिपादन नहीं कर पाते। उदाहरण के लिये (जनतंत्र-व्यवस्थाओं में) न्याय का अर्थ (पदों के वितरण में) समानता समझा जाता है और वह होता भी ऐसा ही है; तथापि यह समानता[4] वाला अर्थ सबके लिये नहीं होता, केवल उनके लिये होता है जो समान हैं। (दूसरी ओर धनिकतंत्र-व्यवस्थाओं में पदवितरण में) असमानता[5] को न्याय माना जाता है और वही न्याय होता भी है, पर सबके लिये नहीं केवल उनके लिये जो असमान हैं। पर दोनों ही पक्षों के पोषक इस बात को (विचार से) निकाल देते हैं कि उनके सिद्धान्त किन व्यक्तियों के लिये लागू होते हैं और इसी कारण दोनों गलत निर्णय करते हैं। इस (सब) का कारण यह है कि वे अपने ही विषय में निर्णय कर रहे होते हैं और सामान्यतया अधिकांश मनुष्य अपने विषय में ठीक निर्णायक नहीं होते। न्याय व्यक्ति सापेक्ष्य होता है, और न्यायोचित वितरण (अथवा विभाजन) वह होता है जिसमें वितरित वस्तुओं का सापेक्ष्य मूल्य उनको ग्रहण करनेवाले व्यक्तियों (की योग्यता) के अनुरूप होता है, जैसा कि पहले ही आचारशास्त्र[6] (एथिक्स) में प्रतिपादन किया जा चुका है। (पर धनिकतंत्र और प्रजातंत्र के समर्थक) वस्तुओं की समता के विषय में तो एकमत हैं पर व्यक्तियों की समता के विषय में विवाद करते हैं। इसका सबसे प्रधान कारण तो वही है जो अभी बतलाया गया है—अर्थात् वे अपने विषय में निर्णय करते रहे हैं

और निर्णय भी गलत करते रहे हैं; पर एक दूसरा कारण भी है जो यह है कि उभय पक्ष एक प्रकार की न्याय की धारणा को अंगीकार किये रहते हैं और एक सीमा तक ही अंगीकार किये रहते हैं, पर कल्पना ऐसी किया करते हैं कि मानों परिपूर्ण और निरपेक्ष न्याय को अधिकृत किये हुए हैं। एक ओर (धनिकवर्ग के) लोग यदि किसी एक वात में असमान (वढ़कर) होते हैं—जैसे मान लीजिये अपने धन में वढ़कर होते हैं—तो वे अपने को सभी वातों में वढ़कर मानने लगते हैं; दूसरी ओर दूसरे (जनतंत्र) पक्ष के समर्थक यदि किसी एक वात में समान होते हैं —उदाहरणार्थ मान लीजिये कि वे स्वाधीन कुल में जन्म लेने की समानता रखते हैं—तो वे अपने को सभी वातों में समान समझने लगते हैं।

पर दोनों ही पक्ष सवसे प्रमुख तथ्य[७] को नहीं कहते (अर्थात् यह नहीं वतलाते कि नगर-राष्ट्र की सत्ता किस लक्ष्य की सिद्धि के लिये है।) यदि मनुष्यों का परस्पर मिलन और समाज-स्थापन केवल धन के निमित्त होता तो (राष्ट्र के पदों और सम्मानों में) उनका भाग उनकी सम्पत्ति की मात्रा के अनुसार होता और तव धनिकपक्ष की युक्ति ही प्रवलतर प्रतीत होती; क्योंकि यह तो कोई न्याय नहीं है कि जिस व्यक्ति ने १०० मिना में केवल एक मिना दिया हो उसको मूल अथवा लाभ (व्याज) में उस व्यक्ति के समान भाग मिले जिसने शेष—९९—मिना दिये हैं। पर राष्ट्र की सत्ता का प्रयोजन जीवन नहीं है प्रत्युत जीवन का अच्छापन है। (यदि राष्ट्र की सत्ता का प्रयोजन केवल जीवन ही होता तो) दासों का ही नगर-राष्ट्र वन जाता अथवा पशुओं तक का नगर वस जाता; पर संसार में ऐसा होना संभव नहीं है; क्योंकि उनको सौमनस्य[८] और सोद्देश्य स्वतंत्र जीवन में कोई भाग प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार नगर-राष्ट्र की सत्ता पारस्परिक (सैनिक) मैत्री के उद्देश्य के लिये भी नहीं है जिससे कि उभय पक्षों का अनीति अथवा अनिष्ट से त्राण हो सके; और न उसकी सत्ता पारस्परिक विनिमय एवं (आर्थिक) सम्पर्क को वढ़ाने के ही लिये ही है। यदि ऐसा होता तो तीर्रेन्[९] और कार्खीदौन के निवासी, और अन्य सव ऐसे लोग जिनकी परस्पर व्यापारिक संधियाँ हैं, एक ही नगर के निवासी समझे जाते। यह सच है कि ऐसे लोगों के मध्य में आयात (और निर्यात) के विषय में समझौता होता है; परस्पर (व्यापारिक मामलों में) अनीति न वरतने की संधि होती है तथा पारस्परिक सुरक्षा-संवंधी सैनिक संधि के विषय में लेखवद्ध शर्तें होती हैं। परन्तु दोनों पक्षों के ऐसे उभयनिष्ठ पदाधिकारी नहीं होते जो इन ठहरावों को कार्यान्वित करा सकें; प्रत्युत पृथक् पृथक् राष्ट्रों के अपने पृथक् पदाधिकारी होते हैं (जिनके अधिकार अपने राष्ट्र में ही सीमित होते हैं।) न तो

दोनों पक्षों में से किसी को अन्य राष्ट्र की जनता में समुचित चारित्रिक गुणों के होने की चिन्ता होती है और न दोनों राष्ट्र यही दृष्टि में रखना चाहते हैं कि सन्धि की शर्तों की सीमा में आनेवाले लोग अनीति और बुराइयों से बिल्कुल मुक्त हों ; प्रत्युत वे केवल एक ही बात पर दृष्टि रखते हैं कि वे दोनों राष्ट्र एक दूसरे के प्रति (व्यापार के क्षेत्र में) अनीति न बरतें । इसके विपरीत वे लोग, जो सुपालित नियमों की सुव्यवस्था के विचार को सर्वोपरि मानते हैं, राष्ट्र के जीवन में भलाई और बुराई पर दृष्टि रखते हैं । इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि उस राष्ट्र को (जिसका 'राष्ट्र' नाम सचमुच सार्थक हो, केवल कहने भर के लिये न हो) भलाई के लिये चिन्ताशील होना चाहिये । अन्यथा, कोई भी नागरिक-समाज एक प्रकार की सन्धि से जुड़े हुए जनसमूह के समान हो जाता है, जिसमें अन्य सन्धि किये हुए नगरों से केवल इतना ही अन्तर होता है कि सन्धिबद्ध नगर-राष्ट्रों के निवासी एक दूसरे से दूर स्थान पर निवास करते हैं (तथा एक ही नगर के निवासी पास पास रहते हैं ।) एवं ऐसी स्थिति में कानून भी समझौता मात्र रह जाता है—अथवा लीकौफ्रोन[10] नामक सौफ़िस्ट मनीषी के कथनानुसार 'एक दूसरे के प्रति मानवीय अधिकार का प्रतिभू (ज़ामिन) मात्र रह जाता है, तथा जीवन की ऐसी पद्धति नहीं रह जाता जो नागरिकों को नेक और न्यायनिष्ठ बना सके—जैसा कि उसको वास्तव में होना चाहिये ।

यह तथ्य कि यही बात ठीक है (अर्थात् नागरिक जनों में भलाई को प्रोत्साहन देनेवाला नगर ही वास्तविक नगर है) बिलकुल स्पष्ट है । यदि दो स्थलों को मिलाकर एक कर दिया जाय जिससे उदाहरणार्थ मेगारा[11] और कौरिन्थ सरीखे नगर एक ही परकोटे के भीतर बस जाएँ तो इससे वे एक नगर नहीं बन जायेंगे । यदि दो नगरों के निवासियों में आपस में विवाह संबंध भी हो जायें तो भी दोनों नगर एक नहीं हो सकते —यद्यपि यह अन्तर्विवाह सामाजिक जीवन की एक ऐसी प्रवृत्ति है जो राष्ट्रीय जीवन का लक्षण है । इसी प्रकार यदि मनुष्य एक दूसरे से कुछ दूरी पर रहते हों, पर इतनी दूरी पर नहीं कि जिससे परस्पर सम्पर्क तक न हो सके, और यदि उनमें इस प्रकार के सामान्य नियम हों कि वे परस्पर विनिमय में किसी के प्रति अन्याय नहीं करेंगे —तो इतने से भी वह स्थल नगर (-राष्ट्र) नहीं हो जायेगा । उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य बढ़ई है, दूसरा किसान है, तीसरा मोची है और अन्य लोग भी इसी प्रकार (पृथक् पृथक् काम करनेवाले हैं) और (सब मिलाकर) उनकी संख्या दस हजार (१०,०००) है, परन्तु यदि इन सब लोगों के समाज और सहवास का आधार केवल पारस्परिक विनिमय और संधि जैसी बातों के अतिरिक्त

और कुछ न हो तो (भी) यह जनसमूह नगर की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकेगा।
ऐसा होने का कारण क्या है ? इसका कारण निश्चय ही ऐसे समूहों में सामीप्य का अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि यदि इस प्रकार का जनसमूह एक स्थान पर एकत्रित भी हो जाय, परन्तु फिर भी उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी घर को अपना नगर जैसा समझता रहे, तथा उनकी पारस्परिक सहायता केवल दुराचारियों (=अन्यायियों) से एक दूसरे की रक्षा मात्र तक सीमित रहे (अर्थात् उनकी पारस्परिक सहायता केवल रक्षात्मक संधि जैसी हो)---यदि उनके समाज का लक्षण एक स्थान पर एकत्रित हो जाने पर भी वैसा ही बना रहे जैसा कि पृथक् पृथक् रहने के समय था---तो सम्यक् विचारक की दृष्टि में उनकी यह नयी बस्ती वास्तविक अर्थ में नगर (-राष्ट्र) नहीं मानी जा सकेगी। अतः यह स्पष्ट है कि नगर (-राष्ट्र) एक सार्विक स्थान पर निवास करने के लिये एकत्रित हुआ जनसमाज मात्र नहीं है, जिसकी स्थापना पारस्परिक अनाचार (अत्याचार) की रोक-थाम और विनिमय की सुगमता के लिये हुई है। यह सच है कि इन उपर्युक्त परिस्थितियों का होना नगर की सत्ता के लिये अनिवार्य है, पर इन सबके होने पर भी (वास्तविक) नगर की संघटना (=रचना) संभव नहीं है। वास्तविक नगर तो सत्‌जीवन में समभागी के रूप में स्थित गृहस्थियों और गणों (जनों) का समाज है जिसका उद्देश्य परिपूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन (-सत्ता) की प्राप्ति (करना) है। इस चरम उद्देश्य की सिद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक सब लोग एक ही स्थान पर न बसें और परस्पर विवाह संबंध न करें। इसी कारण तो नगरों के परिवारों के विवाह-बंधन, भाई-चारे, धार्मिक-सम्मेलन (=मेले) और आमोद-प्रमोदों (=खेल-तमाशों) की उत्पत्ति होती है, जो कि सामाजिक जीवन की संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं का निर्माण मित्रता का व्यापार है (नगर का विशिष्ट उद्देश्य नहीं)। सामाजिक जीवन का अनुसन्धान करना ही तो मित्रता है। नगर का चरम लक्ष्य सत् (नेक) जीवन है और उपर्युक्त सामाजिक संस्थाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के उपाय हैं। परिपूर्ण और आत्मनिर्भर (सत्ता) में निरत गणों (जनों) और ग्रामों के समूह (=समाज) से नगर संघटित होता है ; और यह (परिपूर्ण और आत्मनिर्भर) जीवन, जैसा हमने कहा है सुखी और सुभग (अथवा सौमनस्य और अच्छाई से युक्त) जीवन है।

अतएव नागरिक समाजों की स्थापना नेक कामों को करने के लिये हुई समझी जानी चाहिये न कि सामाजिक जीवन के लिये। इसलिए जो लोग इस प्रकार के (अच्छे काम करनेवाले) समाज की संघटना में सबसे अधिक योग देते हैं, उनका

नगर में ऐसे लोगों की अपेक्षा (अधिकार का) भाग अधिक होना है जो स्वतंत्र जन्म और कुलीनता में उन्हीं के समान अथवा उनसे भी महान् हैं, पर राजनीतिक (=नागरिक) गुणों में उनके समान नहीं हैं ; अथवा जो धन में उनसे बढ़कर हैं और सद्गुणों में उनसे घटकर हैं।

(ऊपर) जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विधान संबंधी विवाद के सभी (दोनों) पक्ष (=जनतंत्रीय और धनिकतंत्रीय पक्ष) न्याय का एकांगी प्रतिपादन करते हैं, सर्वांगीण परिपूर्ण न्याय का प्रतिपादन नहीं करते।

टिप्पणियाँ

१. धनिकतंत्र और जनतंत्र जिन सिद्धान्तों के आधार पर अपने अस्तित्व का समर्थन करते हैं उनका विवेचन आवश्यक है अतएव उसको आरंभ कियाजा ता है।

२. उपर्युक्त शासन-पद्धतियों के विशिष्ट आधारभूत सिद्धान्त उनकी उस न्याय संबंधी धारणा पर आश्रित होते हैं जिसके आधार पर वह राष्ट्र के पदों का नागरिकों में वितरण करते हैं अतएव इन व्यवस्थाओं की न्याय संबंधी धारणा का विवेचन भी आवश्यक है।

३. "सभी" से तात्पर्य है दोनों धनिकतंत्र और जनतंत्र से।

४, ५. समानता और असमानता को क्रमशः जनतंत्र और धनिकतंत्र में पद-वितरण का आधार माना जाता है। इसका आशय यह है कि जनतंत्रीय शासन-पद्धति व्यक्तियों की योग्यता की ओर दृष्टिपात न करते हुए सबकी समानता को स्वीकार करती हैं और इसी के आधार पर शासन-संबंधी पदों का वितरण करती है। इसके विपरीत धनिकतंत्र-पद्धति जो धन में बड़े हैं उनको धनहीनों की अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण मानती है और इस प्रकार असमानता को पद-वितरण का आधार बनाती है पर मनुष्यों में अन्य प्रकार की भी तो असमानताएँ हो सकती हैं। यह नितान्त संभव है कि कोई निर्धन व्यक्ति शासन की योग्यता में धनवानों से कहीं बढ़कर हो। अरिस्तू की आलोचना का आशय यह है कि उभय पक्ष समानता और असमानता के आधारभूत सिद्धान्तों की जड़ तक नहीं जाते, वे इन शब्दों के बाह्य और सीमित अर्थ को ही दृष्टि में रखते हैं।

६. अरिस्तू की "एथिक्स" उसकी राजनीति की पूरक है। न्याय के विषय का विवेचन एथिक्स के ५वें अध्याय के तीसरे खण्ड में किया गया है।

७. अरिस्तू ने यहाँ जिस तथ्य की ओर संकेत किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नगर-राष्ट्र की सत्ता जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये है उसकी उद्देश्य की सिद्धि का प्रयत्न ही नागरिक जीवन का सर्वोच्च ध्येय हो सकता है।

८. मूल में सौमनस्य के लिये "युदैमौनिया" शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं अरिस्तू ने आगे चलकर इस शब्द का आशय "भलाई की प्रेरक शक्ति और उसकी क्रिया" बतलाया है जिसका परिणाम सुख होता है। अंग्रेजी में कुछ व्यक्तियों ने इसका अनुवाद "हैपीनेस्" शब्द से किया है पर उसकी अपेक्षा felicity शब्द अधिक उपयुक्त बतलाया गया है।

९. तीर्रेन् के निवासी एत्रुस्कन् कहलाते थे और इटली के उत्तर-पश्चिम में निवास करते थे। इनका आदिम निवासस्थान क्या था, इस विशय में पर्याप्त मतभेद है पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी सभ्यता पर यूनानी सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा था।

१०. लीकोफ़ौन नाम के अनेक व्यक्ति ग्रीक इतिहास में हो चुके हैं। इनमें से कुछेक कवि और लेखक भी थे। अरिस्तू की खंडित रचनाओं (fragments) के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि लीकोफ्रौन ने उच्च कुल और हीन कुल के भेद को चुनौती दी थी।

११. मैगारा और कौरिन्थ दोनों नगर अत्तिका के पश्चिम में स्थित संकीर्ण स्थल-डमरूमध्य में अत्यन्त पास पास बसे हुए हैं।

१२. अरिस्तू की दृष्टि में मित्रता का महत्त्व अत्यधिक है। इसी कारण उसने अपनी सदाचारशास्त्र की पुस्तक में मित्रता का विवेचन पूरे दो अध्यायों में (८ और ९ में) किया है। परन्तु नागरिकता का उद्देश्य जो अच्छाई और अच्छे जीवन की सम्प्राप्ति है वह मित्रता से भी ऊँचा लक्ष्य है और मित्रता भी उसके लिये साधन है।

वि०——इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरिस्तू ने इस खण्ड में नागरिक जीवन के लक्ष्य के संबध में विविध मतों की बहुत अच्छी व्याख्या और आलोचना प्रस्तुत की है और सबसे अन्त में अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। पर इसके आगे यह प्रश्न तो शेष रह ही जाता है कि सुखी और अच्छा जीवन क्या है? इस विषय का विवेचन उसने आगे चलकर ७वीं पुस्तक के आरंभ में किया है। अन्यत्र उसने "पराविद्या" (मेता-फीजिक्स) में भी सत् (अच्छाई) के स्वरूप का वर्णन किया है। जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे स्पष्ट है कि अरिस्तू केवल सामाजिक जीवन को ही नागरिक जीवन का चरम उद्देश्य नहीं मानता क्योंकि वह कोरा राजनीतिक विचारक ही नहीं, गंभीर दार्शनिक भी है अतएव उसकी राजनीति उसके तत्त्वज्ञान के रंग में रँगी हुई है।

१०

नगर में सर्वोपरि शक्ति कौन सी हो ?

नगर में सर्वोपरि शक्ति कौन सी हो ? जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो एक नई कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। जनसमूह सर्वोपरि शक्ति हो या धनिकवर्ग हो, सज्जनवर्ग हो या सबसे श्रेष्ठ एक ही व्यक्ति हो, अथवा कोई स्वेच्छाचारी तानाशाह हो, (यह पाँच विकल्प संभव है।) परन्तु इन सभी विकल्पों में कुछ न कुछ अप्रिय परिणाम सन्निहित है ; और भला अन्यथा हो भी क्या सकता है ? उदाहरण के लिये यदि हम प्रथम विकल्प को लें, और निर्धनसमूह को नगर(-राष्ट्र) में सर्वोपरिता प्राप्त हो और वे बहुसंख्यक होने के कारण धनवानों की संपत्ति आपस में बाँटने लगें तो क्या यह अन्यायपूर्ण बात नहीं होगी ? (इस पर स्यात् प्रजातंत्रवादी यह उत्तर देगा) नहीं, भगवान् की दुहाई, यह अन्याय नहीं है, क्योंकि सर्वोपरि सत्ता का न्यायपूर्ण आदेश ऐसा ही है। (पर हम इसके उत्तर में कह सकते हैं) कि यदि यह अन्याय की पराकाष्ठा नहीं है तो, कृपया कहिये, और क्या है ? और फिर जब कोई बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यक वर्ग का सर्वस्व अपहरण करके उस धन-सम्पत्ति को अपने मध्य में बाँटने में प्रवृत्त हो जाता है तो स्पष्ट ही है कि वह बहुमत (= बहुसंख्यक दल) राष्ट्र का विनाश कर रहा है। पर भलाई कभी भलाई-युक्त वस्तु का विनाश नहीं करती और न न्याय ही राष्ट्र के लिये क्षयकारी होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का नियम (जैसा कि यह परस्वापहरण का नियम है) संभवतया न्यायानुमोदित नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो वे सब कार्य जो तानाशाह किया करता है अवश्यमेव न्यायानुकूल हो जाते। क्योंकि अधिक बल के द्वारा वह भी उसी प्रकार से बलात्कार का प्रयोग करता है जिस प्रकार (प्रजातंत्रीय) जनसमूह धनिकवर्ग के प्रति बलात्कार करता है। परन्तु, तब क्या धनिकों के अल्पमत का शासन होना उचित है ? और यदि यह लोग भी इसी प्रकार जनसाधारण को लूटने-खसोटने लगें तो कैसा होगा---क्या ऐसा होना न्यायोचित होगा ? यदि ऐसा होना न्याय्य होगा तो इसके प्रतिकूल दूसरा पक्ष (जनसाधारण का रईसों को लूटना) भी न्यायानुमोदित ठहरेगा। पर यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह सब के सब दमन-कार्य (चाहे बहुमतवाली जनता के हों, चाहे धनिकों के हों और चाहे तानाशाहों के हों) बुरे और न्याय-विरुद्ध हैं।

तो क्या भलेमानुस सज्जनों को शासन करना चाहिये और राष्ट्र में सर्वशक्तिमान् होना चाहिये ? ऐसी दशा में शेष नागरिक सब प्रकार के सम्मानों से अनिवार्यतया

वंचित हो जायँगे क्योंकि शासन-पद का सम्मान उनको उपलब्ध नहीं होगा। शासनाधिकार-पदों को ही तो हम सम्मान (का पद) कहते हैं; और जब मनुष्यों का एक ही वर्ग सर्वदा स्थायी रूप से पदारूढ़ रहता है तो अन्य लोग अवश्यमेव सम्मान से वंचित रह जाते हैं। तब क्या अन्य विकल्पों से यह अधिक अच्छी बात होगी कि एक सर्वोत्तम व्यक्ति का शासन हो? नहीं, यह तो और भी अधिक अल्पजनतंत्र होगा (——धनिक-अल्पजनतंत्र अथवा सज्जन-अल्प-जनतंत्र की अपेक्षा भी अधिक अल्पजनतंत्र होगा)——क्योंकि सम्मान से वंचित मनुष्यों की संख्या इस तंत्र में सबसे अधिक होगी। पर स्यात् इस पर यह कहा जाय कि यह बुरी बात है किसी मनुष्य को तो (जो आत्मा को परिवेष्टित करनेवाले सब प्रकार के मानवीय विकारों का भाजन है) सर्वशक्तिमान् बना दिया जाय और नियम (कानून) को न बनाया जाय। परन्तु यदि नियम भी स्वयं अल्पजनतंत्र अथवा प्रजातंत्र की ओर झुकता हुआ हो तो क्या हो? ऐसी स्थिति में नियम के सर्वशक्तिमान् होने से भी) हमारी समस्याओं में क्या अन्तर पड़ेगा? स्पष्ट है कि कोई भेद नहीं पड़ेगा। पूर्वोक्त परिणाम तब भी उसी प्रकार घटित होंगे।

टिप्पणियाँ

इस खंड में अरिस्तू सर्वोपरि शक्ति के पात्र के संबंध में विचार कर रहा है। आरंभ में उसने पाँच विकल्प सुझाये हैं पर अन्त में एक छठा विकल्प कानून के रूप में और प्रस्तुत कर दिया है। सर्वशक्ति-सम्पन्न के लिये मूल में "कुइरियॉन्" शब्द का प्रयोग किया गया है और अंग्रेजी में इसका अनुवाद "सॉवरेन" (Sovereign) शब्द से किया गया है।

११

प्रजातंत्र और नियमतंत्र

अन्य विकल्पों की विवेचना को तो किसी भावी अवसर के लिये छोड़ सकते हैं; किन्तु प्रथम विकल्प कि अल्पसंख्यक उत्तम पुरुषों की अपेक्षा बहुसंख्यक जनता राष्ट्र में सर्वशक्तिमान् होनी चाहिये ऐसा सिद्धान्त है जो कि संतोषप्रद समाधान के (विश्लेषण के) योग्य प्रतीत होता है, और यद्यपि इसमें कुछ कठिनाई भी है, तथापि स्यात् इसमें कुछ सत्य (सार) भी है। बहुसंख्यक जनता के पक्ष में निम्नलिखित बात कही जा सकती है। उनमें से प्रत्येक स्वयं व्यक्तिशः बहुत अच्छा मनुष्य नहीं होता; तथापि

जब वे सब समन्वित (समवेत) हो जाते हैं, तब व्यक्तिशः नहीं प्रत्युत समष्टितः वे अल्पसंख्यक उत्तम मनुष्यों से गुण में बढ़कर हो जाते हैं; जिस प्रकार कि बहुत से मनुष्यों के चन्दे से दिया हुआ भोज उस भोज से बढ़कर हो सकता है जो कि एक व्यक्ति की गाँठ से दिया जाता है। (इसी प्रकार जब विचार-विमर्श में) बहुत से मनुष्य होते हैं तो उनमें से प्रत्येक का अपना सद्गुण और सुबुद्धि का अंश होता है, और जब वे एक साथ एकत्र सम्मिलित हो जाते हैं तो वे एक प्रकार से एक मनुष्य जैसे हो जाते हैं, जिसके बहुत से पैर, बहुत से हाथ और बहुत सी ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं; इसी प्रकार जिसका आचार-विचार भी बहुविध हो सकता है। यही कारण है कि बहुसंख्यक जनता (अल्पसंख्यक लोगों की अपेक्षा) संगीत और कविकर्म[1] (काव्य) की भी अधिक अच्छी समीक्षक होती है; क्योंकि उनमें से कुछ एक भाग को समझते हैं, कुछ दूसरे को, एवं सब मिलकर समग्र रचना को (ठीक) समझ लेते हैं। पर इसी बात में उत्तम (अच्छे) मनुष्य साधारण जनता में के किसी व्यक्ति से भिन्न होते हैं—जिस प्रकार कि सुन्दर असुन्दर से और कलाकृतियाँ सामान्य वास्तविकता से भिन्न कही जाती हैं[2]—कि जो तत्त्व अन्यत्र बिखरे हुए पाये जाते हैं वे इनमें एकता (एक सूत्र) में आबद्ध उपलब्ध होते हैं; यद्यपि इन तत्त्वों को पृथक् पृथक् देखने पर ऐसा हो सकता है कि किसी एक मनुष्य की आँख और किसी अन्य व्यक्ति का कोई अन्य अङ्ग कलाकृति (चित्र) से बढ़कर प्रतीत हो।

किन्तु यह बात स्पष्ट नहीं है कि यह गुण-संग्रह (तत्त्व-संग्रह) का सिद्धान्त, जिसको हमने बहुसंख्यक जनसाधारण और अल्पसंख्यक उत्तम पुरुषों के भेद का आधार माना है, सभी बहुसंख्यक जनता और बृहत् जनराशियों के विषय में संभव होगा या नहीं। स्यात् है कि दैवात्, यह स्पष्ट है, कुछ ऐसे जनसमूह होंगे जिनके विषय में यह बात लागू नहीं होगी। क्योंकि यदि उन पर यह सिद्धान्त लागू किया गया तो उन्हीं के सदृश इस सिद्धान्त को तिर्यग्वर्ग (पशुसमूह) पर भी लागू करना होगा; क्योंकि यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि "मनुष्यों और पशुओं में किस बात में भेद है?" परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, कुछ (मानव =) समूहों के विषय में हमारे कथन की सत्यता के लिये कोई चीज़ बाधक नहीं हो सकती।

जो विचार हमने प्रस्तुत किये हैं यदि वे समुचित हों तो ऐसा लगता है कि पूर्वोक्त कठिनाई का (कि कौन सा मनुष्यवर्ग सर्वोच्च शक्ति-संपन्न होना चाहिये ?) और दूसरी कठिनाई का जो कि प्रथम का ही परिणाम है और उसी के समान भी है (अर्थात्

वह कौन से विषय हैं जिन पर स्वतंत्र-जनों अथवा सर्वसाधारण नागरिक-समूह—जो न तो धनवान् ही हैं और न जिनमें सद्गुणों की ही योग्यता है—का सर्वोच्च अधिकार होना चाहिये ?) दोनों का ही समाधान संभव है। तथापि (यह कहा जा सकता है) कि इस प्रकार के लोगों का राष्ट्र के उच्च अधिकारों में साझी होना सुरक्षित नहीं है। क्योंकि अन्याय के कारण वे बुरे काम, तथा अज्ञान के कारण गलतियाँ कर सकते हैं। (इसके विपरीत) उनको शासनाधिकार में कुछ भी भाग न देना भी भयावह है; क्योंकि वह राष्ट्र जिसमें कि बहुसंख्यक और निर्धन लोग शासनाधिकार-शून्य होने लगते हैं, अनिवार्यतया शत्रुओं से परिपूर्ण हो जाता है। बस इन लोगों को देने के लिये केवल एक विकल्प रह जाता है कि वे (राष्ट्र के लिये) चिन्तन-कार्य में और न्याय के कार्य में भाग लें। और इसीलिये सौलोन एवं कतिपय अन्य स्मृतिकारों ने उनको शासकों के निर्वाचन और अन्त में उनके कार्य के निरीक्षण का अधिकार दिया है, पर व्यक्तिगत रूप में शासनारूढ़ होने का अधिकार नहीं दिया। जब वे सब एक साथ एकत्रित होते हैं तो काफ़ी अच्छी सूझ-बूझ प्रदर्शित करते हैं एवं अपने से अधिक अच्छे वर्ग के लोगों के साथ मिलकर वे राष्ट्र के लिये सहायक (उपयोगी) सिद्ध होते हैं; (जिस प्रकार कि अशुद्ध (अमेध्य) भोजन शुद्ध भोजन के साथ मिलकर समग्र भोजन-राशि को, अल्प मात्रावाली शुद्ध राशि की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद बना देता है); पर उनमें प्रत्येक व्यक्ति, पृथक् पृथक्, निर्णय करने के कार्य में पूरा नहीं उतरता।

पर राष्ट्र-विधान की इस व्यवस्था में (जिसके अनुसार जनधारण को निर्वाचन और निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होता है) कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो यह कठिनाई है कि यह कहा जा सकता है कि यह निर्णय करने का काम कि कब किसी रोगी को ठीक डॉक्टरी सहायता मिली है, उन लोगों का होना चाहिये जो कि रोगियों के रोगों को निवारण करने का और उनकी देखभाल का व्यवसाय करते हैं—अर्थात् डॉक्टरों अथवा वैद्यों का काम होना चाहिये। इसी प्रकार अन्य सब व्यवसायों और शिल्पों के विषय में भी होना चाहिये। तो, जिस प्रकार डॉक्टर के आचरण का परीक्षण (पड़ताल) डॉक्टरों के द्वारा होना चाहिये, इसी प्रकार जो अन्य व्यवसाय करनेवाले लोग हैं उनके आचरण का परीक्षण भी उन्हीं के व्यवसायवालों के द्वारा किया जाना चाहिये। पर डॉक्टर उसको भी कहते हैं जो मामूली प्रैक्टिस करता है, उसको भी कहते हैं जो उच्च कोटि का वैद्यकला-विशारद है और तीसरे उसको भी कहते हैं जो इस विद्या का सामान्य सा अध्ययन किये होता है। इस तीसरी प्रकार के मनुष्य लगभग सभी शिल्पों (और कलाओं) के विषय में पाये जाते हैं; एवं हम इनको

निर्णय करने की शक्ति से उतना ही समन्वित मानते हैं, जितना कि विशेषज्ञों को। तो, क्या यही पद्धति निर्वाचन के विषय में भी लागू नहीं होनी चाहिये ? क्यों ठीक ठीक निर्वाचन करना तो विशेषज्ञों का काम है ; यथा भूमितिशास्त्र-(ज्यॉमेट्री) वेत्ता को चुनना भूमितिशास्त्रज्ञाताओं का और निर्यामिक को चुनना निर्यामिकों का काम है। और यदि कुछ काम और शिल्प ऐसे भी हों जिनमें साधारण अविशेषज्ञों को भी निर्वाचन करने की योग्यता का भाग प्राप्त हो तो भी वे विशेषज्ञों से अधिक अच्छा चुनाव तो निश्चय ही नहीं कर सकते। परिणामतः, इस तर्क के अनुसार तो जन-साधारण को न तो शासकों के निर्वाचन में अधिपति बनाना चाहिये और न उन (शासकों) के कार्य के परीक्षण में। पर स्यात् ऐसा हो सकता है कि यह सब तर्क समुचित नहीं हैं। क्योंकि हमारे पुराने (पूर्वोक्त) तर्क के अनुसार, यदि जनसाधारण अत्यन्त ही पतित न हों तो चाहे उनमें प्रत्येक व्यक्ति पृथक्रूपेण विशेषज्ञों की अपेक्षा भले ही हीन निर्णेता हो, परन्तु सब के सब एकत्रित होकर या तो (उन विशेषज्ञों से) बढ़कर होते हैं या घटकर नहीं होते।[८] और फिर अनेकों शिल्प ऐसे भी हैं जिनके विषय में स्वयं शिल्पी ही एकमात्र अथवा सर्वश्रेष्ठ परीक्षक नहीं होता। यह कलाए वह हैं जिनकी कृतियों को उन शिल्पों का ज्ञान न रखनेवाले व्यक्ति भी समझ और परख सकते हैं। उदाहरणार्थ घर को ही ले लीजिये, इसके (भले-बुरे का) ज्ञान केवल बनानेवाले स्थपति को ही नहीं होता, प्रत्युत उस घर का उपयोग करनेवाला—अर्थात् (दूसरे शब्दों में) उस घर का स्वामी उस घर को बनानेवाले से भी अच्छी जाँच और परख सकेगा। और इसी प्रकार नौका के कर्ण को उसको बनानेवाले बढ़ई की अपेक्षा कर्णधार अधिक भले प्रकार समझ सकता है तथा भोज को आमंत्रित अतिथि अधिक अच्छा जान सकता है न कि रसोइया।

(जनसाधारण के अधिकार से संबंध रखनेवाली) इस प्रथमकठिनाई का तो इन विचारों से पर्याप्त समाधान हुआ प्रतीत होता है; पर अब इस प्रथम कठिनाई से संबद्ध दूसरी कठिनाई का विचार करना है। यह बात (देखने में) तो अनोखी सी प्रतीत होती है कि साधारण निम्न कोटि के लोगों को ऐसे विषयों में आधिपत्य प्राप्त हो जो कि उन विषयों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिन पर उच्च कोटि के लोगों को अधिकार प्राप्त है। शासकों का निर्वाचन और (शासनावधि की समाप्ति पर) उनके कार्यों की पड़ताल करना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। तथापि, जैसा कि कहा जा चुका है, (अनेकों राष्ट्रों के) विधान ऐसे हैं जिनमें यह विषय जनसाधारण के अधिकार के अन्तर्गत है और जनपरिषद् (ऐक्लीसिया, कलीसा) ऐसे सब विषयों में

आधिपत्य रखती है। और फिर जनपरिषद् में भाग लेने, विचार करने और निर्णय करने के लिये किसी व्यक्ति के लिये थोड़ी सी सम्पत्ति का स्वामी होना और किसी भी अवस्थावाला होना पर्याप्त होता है, जब कि राष्ट्र के उच्च पदाधिकारियों—जैसे कि कोषाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष इत्यादि—के पद के लिये अधिक (सम्पत्ति) इत्यादि की अपेक्षा की जाती है। इस कठिनाई का समाधान भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार कि प्रथम कठिनाई का किया गया है; और स्यात् इस विषय में इन (जनतंत्रात्मक) विधानों की आजकल की पद्धति ठीक ही प्रतीत होती है। क्योंकि न्यायालय, समिति अथवा परिषद् के सदस्य व्यक्तिशः अधिकारी नहीं होते—व्यक्तिगत रूप में उनको कोई शक्ति प्राप्त नहीं होती—प्रत्युत न्यायालय, समिति और परिषद् को समष्टिरूपेण शक्ति प्राप्त होती है और इन संस्थाओं का प्रत्येक सदस्य व्यष्टिरूपेण इनका एक अंश मात्र होता है। इस कारण यह उचित ही है कि जनसाधारण को, जिनसे परिषद्,समिति और न्यायालय का निर्माण होता है ऐसे विषयों में प्रमुख अधिकार प्राप्त हो जो उनसे अधिक महत्त्वशाली हैं जिन पर अपेक्षाकृत अच्छे (उच्च) जनों को अधिकार प्राप्त है। और जनसाधारण की सम्मिलित सम्पत्ति भी उन लोगों की अपेक्षा अधिक होती है जो व्यक्तिशः अथवा अल्पसंख्या में उच्च शासन-पदों पर आरूढ़ रहते हैं। इस विषय के विवेचन में इतना ही बस है।

पर प्रथम कठिनाई (अर्थात् विशेष प्रकार की कुशलता को प्रमुख अधिकार प्राप्त होना चाहिये अथवा सामान्य सूझ-बूझ को) के विवेचन से अन्य सब बातों की अपेक्षा यह बात अधिक स्पष्ट हो गई कि यदि ठीक प्रकार निर्धारित किये गये हों तो (राष्ट्र में) नियम[1] (=कानून) सर्वोच्च सत्ता होने चाहिये; और शासक लोग—व्यक्तिशः अथवा सामूहिकरूपेण—केवल उन्हीं विषयों में सर्वशक्तिशाली होने चाहिये, जिनमें कि सब अवस्थाओं के लिये व्यापक नियम बनाने का कार्य सरल न होने के कारण, कानून ठीक ठीक स्पष्टतया कुछ कहने में समर्थ नहीं है। पर ठीक प्रकार से निर्धारित नियम कैसे होने चाहिये यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाई है; (एवं पिछले अध्याय के अन्त में निर्दिष्ट) पुरानी कठिनाई अब भी यथापूर्व बनी हुई है (कि स्वयं कानून भी किसी न किसी वर्ग का पक्षपाती हो सकता है)। परन्तु नियमों का बुरा अथवा भला होना, नीतिपरक अथवा अनीतिपरक होना अनिवार्यरूपेण राष्ट्र-विधान के अनुसार होता है। केवल इतनी बात स्पष्ट है कि नियम विधान के अनुसार ही निर्धारित (=निर्मित) होने चाहिये। और यदि यह बात ऐसी ही है तो यह भी स्पष्ट है कि सही (समुचित) विधान के अनुसार बने नियम अवश्यमेव नीतिपरायण

(=न्यायानुकूल) होंगे तथा विपर्यस्त विधान के अनुसार बने नियम न्यायानुकूल नहीं होंगे।

टिप्पणियाँ

१. अथेन्स में साधारण जनता को भवन-निर्माण के संबंध में योजनाओं पर, तथा नाटकों के संबंध में उत्तमता का, निर्णय का अधिकार था। पर आगे चलकर भवन-निर्माण की योजनाओं पर निर्णय देने का अधिकार जनता से लेकर न्यायालय को दे दिया गया।

२. जिस प्रकार सुन्दर व्यक्ति, सद्गुणी व्यक्ति, अथवा कलाकृति में अनेकों अच्छाइयाँ मिलकर सुन्दर एकता को प्राप्त हो जाती हैं इसी प्रकार जनसमूह में भी विविध मनुष्यों में बिखरी हुई भलाइयाँ मिलकर एक अच्छे परिणाम में पर्यवसित होती हैं।

३. दो प्रश्न हैं—(१) राष्ट्र में कौन-सा मनुष्यवर्ग सर्वोच्च शक्तिसंपन्न होना चाहिये ? (२) वह कौन से विषय हैं जिन पर जनसाधारण का सर्वोच्च अधिकार होना चाहिये ? अरिस्तू ने पहले प्रश्न का उत्तर इस खंड के आरंभ में दे दिया है कि नगर के बहुसंख्यक स्वतंत्र व्यक्ति ही सर्वोच्च शक्तिसंपन्न होने चाहिये। इसके आगे वह दूसरे प्रश्न का उत्तर देता है।

४. आरंभ में तो अरिस्तू ने विशेषज्ञों का पक्ष लिया है पर आगे चलकर उसने जनसाधारण की संयुक्त बुद्धिमत्ता को विशेषज्ञों के समान मान लिया है।

५. समिति, परिषद् और न्यायालय के लिये मूल में क्रमशः 'बूले,' एक्लेसिया एवं दिकास्तेरियॉन् शब्द आये हैं। अरिस्तू के मत में मनुष्य जब एकत्रित होकर विवेचन करते हैं तो उनमें अच्छा निर्णय करने की योग्यता बढ़ जाती है। बूले और एक्लेसिया के विषय में आगे चलकर विस्तारपूर्वक लिखा जायगा।

६. अथेंस में नियमों का निर्माण पुराने स्मृतिकारों द्वारा किया गया था। जन-साधारण की परिषदों और समितियों का नियम-निर्माण का अधिकार प्रायः नहीं के बराबर था। यदि कोई नया कानून बनाने का प्रयत्न करता अथवा पुराने नियमों के अतिक्रमण का उद्योग करता था तो यह अनधिकार-चेष्टा समझी जाती थी। यदि कोई पदाधिकारी नियमों का उल्लंघन करता था तो प्रत्येक स्वतंत्र व्यक्ति को उस पर आरोप लगाने का अधिकार प्राप्त था। अथेंस के नागरिक इस अधिकार का खुला उपयोग किया करते थे।

१२

न्याय और आनुपातिक समानता

सब विद्याओं और शिल्पों में तलोद्देश्य[1] (अन्तिम उद्देश्य) भलाई ही होता है। सब (विद्याओं और शिल्पों में) प्रमुख (विद्या एवं शिल्प) में—जो राजनीति की विद्या और कला है—दृष्टिगत लक्ष्य (उद्देश्य) वह भलाई है जो सब से महान् और सब से उत्तम है। राजनीति के क्षेत्र में भलाई है न्याय; और यह न्याय है सर्व-साधारण का सामान्य हित (अर्थात् संभरण); सब की सम्मति में न्याय को किसी प्रकार की समानता[2] माना जाता है। और एक सीमा तक यह सार्वजनिक सम्मति[3] उन दार्शनिक विवेचनाओं के साथ एकमत है जिनका हमारे द्वारा आचारशास्त्र में प्रति-पादन किया गया है। क्योंकि न्याय में दो पक्ष होते हैं, एक वस्तु पक्ष दूसरा व्यक्ति पक्ष जिससे वस्तु का संबंध होता है और न्याय के अनुसार समान व्यक्तियों को समान वस्तुएँ निर्दिष्ट की जानी चाहिये। पर किसकी समानता है और किसकी असमानता? —यह एक ऐसा प्रश्न है जो दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिये। इस प्रश्न में कठिनाई है और इसके समाधान के लिये राजनीति-संबंधी तात्त्विक विवेचन की आवश्यकता है। सम्भवतया ऐसा कहा जा सकता है कि राष्ट्र के शासन-पद (और सम्मान), किसी भी प्रकार की उत्तमता के आधार पर, असमानतया वितरित होने चाहिये (अर्थात् उत्तमता-सम्पन्न व्यक्तियों को उच्च पद प्रदान किये जाने चाहिये) फिर चाहे अन्य बातों में उन व्यक्तियों और शेष जनता में कोई अन्तर शेष न रहा हो, केवल समानता ही उपलब्ध होती हो; क्योंकि जो व्यक्ति एक दूसरे से किसी बात में भिन्न होते हैं, तो उनकी योग्यता के अनुसार उनके अधिकार भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। परन्तु यदि यह युक्ति ठीक हो, तो अच्छा रंग (वर्ण), अधिक ऊँचाई या अन्य कोई ऐसी ही अच्छाई उस अच्छाईवाले व्यक्ति के लिये राजनीतिक अधिकारों का अपेक्षाकृत अधिक अंश दिलाने का कारण मानी जायगी। परन्तु क्या यह युक्ति स्पष्ट ही असत्य नहीं है? अन्य शिल्पों और विद्याओं[4] के अध्ययन से भी यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि बहुत से वंशी बजानेवाले अपनी कला में एक समान निपुण हों तो उनको उच्च कुल में जन्म होने के कारण अच्छी (अथवा अधिक) बाँसुरियाँ नहीं दी जानी चाहिये; क्योंकि उच्च कुल में जन्म होने के कारण तो कोई बाँसुरी को अधिक अच्छे प्रकार से बजाने नहीं लगेगा। तथा अधिक अच्छा वाद्य तो अपेक्षाकृत अच्छे कलाविद् के लिये ही सुरक्षित रहना चाहिये। यदि हमारा कथन अब भी स्पष्ट

न हुआ हो तो (थोड़ा) और आगे चलकर यह स्पष्ट हो जायगा। यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो जो बाँसुरी बजाने की कला में दूसरों से अधिक अच्छा हो पर कुल और सुन्दरता में दूसरों से बहुत हीन हो तो चाहे इन दोनों गुणों (अर्थात् उच्च कुल और सुन्दरता) में से प्रत्येक वंशीवादन-कला से अधिक अच्छी वस्तु हो, तथा इन गुणों से युक्त व्यक्ति तुलना करने पर इन गुणों में वंशीवादक से उससे अधिक बढ़कर हों जितना कि वह उनसे वंशीवादन-कला में बढ़कर हैं तो भी सबसे अच्छी बाँसुरियाँ तो उस (अच्छी बाँसुरी बजानेवाले) को ही दी जानी चाहिये। और यदि धन की एवं कुल की श्रेष्ठता को किसी कार्य की उत्तमता के संबंध में स्वीकार किया जाय तो न दोनों को उस कार्य के प्रतिपादन में कुछ योगदान देना चाहिये; (पर हम देखते हैं) कि यह गुण कार्य-सम्पादन में, उदाहरणार्थ वंशी-वादन में) सहायक नहीं होते।

फिर, यदि इस सिद्धान्त को (कि शासन-पद किसी भी उत्तमता के आधार पर दिये जायँ) मान लें तो प्रत्येक भलाई को अन्य किसी भी भलाई के समान होना आवश्यक होगा। यदि ऊँचाई की किसी मात्रा को किसी अन्य गुण की किसी मात्रा से बढ़कर माना जाय तो परिणाम यह होगा कि सामान्यतया ऊँचाई मात्र को धन और कुलीनता के साथ तुलना करने के लिये विवश होना पड़ेगा। इस प्रकार, यदि किसी नियत प्रसंग में यह माना जाय कि ख जितना भलाई में बढ़कर है ऊँचाई में उससे भी बढ़कर है और सामान्यतया यह माना जाय कि भलाई के उत्तम होने की अपेक्षा ऊँचाई अधिक बढ़कर होती है, (तब) तो सभी धान ढाई पँसेरी (सब गुणों के समान होने) का प्रसंग आ बनता है। (इस प्रकार हम केवल गणितशास्त्र में फँस गये) क्योंकि यदि किसी गुण की अमुक मात्रा किसी अन्य गुण की अमुक मात्रा से बढ़कर हो तो तब प्रथम गुण की कोई अन्य मात्रा स्पष्ट ही दूसरे गुण की उपर्युक्त मात्रा के बराबर (अर्थात् समानरूपेण अच्छी) भी होगी। पर ऐसा होना सम्भव नहीं है (क्योंकि जिन वस्तुओं में गुण-वैषम्य पाया जाता है उनकी मात्राओं की तुलना नहीं हो सकती और वे समान नहीं मानी जा सकतीं।) अतएव यह स्पष्ट है (कि अन्य कलाओं और विद्याओं के समान) राजनीतिक विषयों में भी शासनाधिकार को पाने का दावा किसी भी प्रकार की उत्तमता के आधार पर करना कोई अच्छी युक्ति नहीं है। यदि कुछ व्यक्ति मन्द गतिवाले हों और कुछ शीघ्रगामी तो इस (वैषम्य) के कारण ऐसा नहीं होना चाहिये कि किसी को अधिक (राजनीतिक अधिकार) मिलें और किसी को कम। परन्तु व्यायाम संबंधी द्वन्द्वों में इस प्रकार की उत्तमता को सम्मान प्राप्त होता है। राजनीतिक अधिकारों (=शासन-पद के अधिकारों) के दावे अनिवार्यतया उन तत्वों की

उपकारकता पर आश्रित होने चाहिये जो राष्ट्र की सत्ता के घटक हैं। अतएव उच्च कुल में उत्पन्न, और स्वतंत्र एवं सम्पन्न लोगों के द्वारा सम्मान और शासन-पद पाने की प्रतिस्पर्द्धा किया जाना सुयुक्तिपरक है। जो लोग पदारूढ़ हैं उनको स्वाधीन और कर प्रदान करनेवाला होना ही चाहिये। जिस प्रकार कोई नगर (राष्ट्र) केवल दासों से घटित नहीं हो सकता उसी प्रकार (उससे भी कम) वह निर्धन जन मात्र से भी घटित नहीं हो सकता। पर यदि धन और स्वतंत्रता राष्ट्र के लिये आवश्यक अंग हो तो न्यायपरता और वीरता के गुण भी उतने ही आवश्यक अंग होने (=माने जाने) चाहिये। इन तत्त्वों के विना तो नगर में मनुष्यों की संस्थिति भी संभव नहीं है। केवल अन्तर इतना ही है कि प्रथम दो गुणों (स्वतंत्रता और संपन्नता) के विना तो नगर का होना ही संभव नहीं है और दूसरे दो गुणों (न्यायपरायणता और वीरता) के विना उसकी सुदशापूर्ण स्थिति संभव नहीं है।

टिप्पणियाँ

१. तलोद्देश्य अथवा अन्तिम उद्देश्य के लिये मूल में "तैलॉस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द अरिस्तू के दर्शन-शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अरिस्तू के मत में प्रत्येक वस्तु अपने अन्तिम उद्देश्य की उपलब्धि से ही अपने स्वरूप को पूर्णतया प्रकाशित करती है।

२. न्याय व्यक्तियों के साथ पक्षपात नहीं करता, सबके प्रति समानता का व्यवहार करता है ऐसा विश्वास सबका ही है।

३. सर्वसाधारण के विचार को अरिस्तू और उसका गुरु प्लातोन दौक्षा कहते हैं। दार्शनिक का विचार उसका विश्लेषण और विवेचन कर उसको स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है। जो सबकी सम्मति हो अरिस्तू उसकी सत्यता को स्वीकार करता है।

४. शिल्पों और विद्याओं की चर्चा प्लातोन और अरिस्तू ने पग पग पर की है। शिल्प के लिये मूल में "तैख्ने" और विद्या के लिये 'एपिस्तिमे' शब्द आये हैं। प्रथम शब्द संस्कृत तक्षण का सजातीय है।

५. राष्ट्र की सत्ता के घटक आगे चलकर चार बतलाये गये हैं; वे हैं—(१) जन्म से स्वतंत्र होना, (२) धन, (३) संस्कारवत्ता और (४) कुलीनता।

१३

न्याय और श्रेष्ठ व्यक्ति

यदि हम (नगर-) राष्ट्र की सत्ता की दृष्टि से विचार करें तो उपर्युक्त सभी तत्त्वों, अथवा उनमें से कई एक का (पद और सम्मान प्राप्त करने का) दावा उचित ठहरेगा, परन्तु यदि हम भले जीवन की दृष्टि से विचार करें तो, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, शिक्षा (संस्कार) और सद्‌गुण का दावा अधिक न्यायानुकूल माना जाना चाहिये। पर क्योंकि न तो (प्रजातंत्रवादियों का) यह मत कि जो व्यक्ति केवल एक बात में समानता रखते हैं उनको सब वस्तुओं (पदार्थों) का समान भाग मिलना चाहिये, ठीक है और न (स्वल्पतंत्रवादियों का) यही कथन ठीक है कि जो लोग केवल एक बात में दूसरों से ऊँचे हैं उनको सब पदार्थों का अधिक भाग मिलना चाहिये, अतएव शासन-विधानों के वे सब प्रकार जो कि उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में से किसी एक पर भी आश्रित हैं अवश्यमेव विकृत ही समझे जाने चाहिये। और जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि एक अर्थ में तो सभी मनुष्यों का दावा' ठीक है परन्तु एकान्तरूपेण किसी का भी दावा ठीक नहीं होता। संपन्न लोगों का कथन (दावा) एक सीमा तक इसलिये उचित है कि अधिकांश भूमि उनके पास है और भूमि का महत्त्व सार्वजनिक होता है; तथा सामान्यतया वे लोग ठहरावों (ठेकों) के मामलों में अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय होते हैं। स्वाधीन और कुलीन लोगों का दावा इस आधार पर आश्रित होता है कि वे परस्पर प्रगाढ़ संबंध रखते हैं। अभिजात (कुलीन) लोग अकुलीनों की अपेक्षा अधिक मात्रा में नागरिक होते हैं; तथा कुलीनता का कुलीन पुरुष के अपने देश में सर्वदा अधिक सम्मान होता है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि जो व्यक्ति सत्पुरुषों की सन्तान हैं वे संभवतया अन्य लोगों से अपेक्षाकृत अच्छे भी होते हैं क्योंकि अच्छे कुल में जन्म का अर्थ ही सज्जनता होता है। इसी प्रकार हम यह भी मान सकते हैं कि सदाचार का भी दावा न्यायानुकूल है, क्योंकि हमारे मत में न्याय एक सामाजिक सद्‌गुण है तथा अन्य सब सद्‌गुण अनिवार्यतया उसका अनुसरण करते हैं। और फिर बहुसंख्यक लोग भी तो अल्पसंख्यकों के विरुद्ध अपना अभियोग प्रस्तुत कर सकते हैं कि अल्पसंख्यकों की तुलना में सामूहिक रूपेण वे अधिक बलशाली, सम्पन्न और अच्छे हैं।

अच्छा यदि यह सब (पृथक् पृथक् प्रकार के दावे रखनेवाले लोग)—जैसे कि सत्पुरुष, धनी व्यक्ति, कुलीन जन और इनके अतिरिक्त साधारण जनसमूह भी—एक

ही स्थान पर रहते हों तब क्या होगा ?—क्या वे परस्पर इस विषय पर विवाद ही करते रहेंगे कि उनमें किसको शासन करना चाहिये, अथवा विवाद नहीं करेंगे ? हमारे द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्थाओं के पूर्वोक्त वर्गीकरण में यह प्रसंग किसी भी व्यवस्था में विवादास्पद नहीं है। यह व्यवस्थाएँ किसी एक वर्ग में सर्वोच्च सत्ता के निहित होने के कारण ही तो एक दूसरे से पृथक् होती हैं;—जैसे कि उनमें से एक में सर्वोच्च सत्ता अल्पसंख्यक धनिकों के हाथ में होती है, दूसरी में शासकसत्ता श्रेष्ठ लोगों में निहित होती है; इसी प्रकार अन्य अवशिष्ट व्यवस्थाओं में भी प्रत्येक में इसी प्रकार विशिष्ट वर्ग के हाथ में शासकसत्ता रहा करती है। पर यह सब कुछ होते हुए भी उस स्थिति का विचार करना है जब कि सब वर्गों के दावे एक ही समय प्रस्तुत किये गये हों;[६] ऐसी स्थिति में किस प्रकार निश्चय किया जाना चाहिये ? मान लो यदि सद्गुण-संपन्न व्यक्तियों की संख्या बहुत थोड़ी हो, तो उनके अभियोगों (या दावों) का निर्णय किस प्रकार (=पद्धति) से किया जाय ? क्या हम केवल इसी बात पर दृष्टि रक्खेंगे कि वे उस कार्य के विचार से जो कि उनको करना है संख्या में बहुत थोड़े हैं; और क्या इसलिये हमको यह भी मालूम करना होगा कि वे राष्ट्र का प्रबन्ध करने में समर्थ अथवा संख्या की दृष्टि से राष्ट्र-संघटन के लिये पर्याप्त भी होंगे अथवा नहीं ? यह ऐसी कठिनाई है जो राजनीतिक सम्मान का दावा करनेवाले सभी वर्गों के समक्ष उपस्थित होती है। यह माना जा सकता है कि जो (अल्पसंख्यक) लोग अपनी सम्पत्ति की योग्यता के आधार पर शासनाधिकार का दावा करते हैं अथवा इसी प्रकार जो लोग उच्च कुल में जन्म होने के आधार पर उपर्युक्त दावा करते हैं, उनका दावा न्यायाश्रित नहीं होता, और ऐसा मानने के लिये स्पष्ट कारण है। क्योंकि यदि कोई एक व्यक्ति ऐसा हो जो कि अन्य सब लोगों से अधिक धनवान् हो तो (उसी सिद्धान्त के आधार पर, जिसके कारण अल्पसंख्यक धनी लोग शासकपद पाने का दावा करते हैं) इस व्यक्ति को सबके ऊपर शासन करना चाहिये; तथा इसी प्रकार जो लोग उच्च कुल में उत्पन्न होने के कारण शासनाधिकार का दावा करते हैं उन सबके ऊपर ऐसे एक व्यक्ति का शासन होना चाहिये जो कुलीनता की दृष्टि से सबसे ऊँचा हो। श्रेष्ठजन-शासन (अरिस्तौक्रातिया) में भी स्यात् यही कठिनाई सद्वृत्ति (अरैते) के प्रसंग में घटित होती है। यदि कोई एक व्यक्ति ऐसा हो जो उस सज्जनों के समाज में अन्य सब लोगों की अपेक्षा अधिक अच्छा हो तो उपर्युक्त औचित्य के आधार पर इसी व्यक्ति को सर्वोपरि शासक होना चाहिये। एवमेव यदि बहुसंख्यक-जनवर्ग को इसलिये सर्वोपरि-शासक होना चाहिये कि वे अल्पसंख्यक-वर्गों से अधिक शक्तिशाली हैं,

तो इस तर्क के अनुसार यदि एक मनुष्य, (अथवा एक से अधिक मनुष्यों का दल जो वहुसंख्यक जन-वर्ग से संख्या में छोटा हो) वहुसंख्यक जन-वर्ग से अधिक शक्तिशाली हो तो वहुसंख्यक जनता के स्थान पर उसी एक व्यक्ति अथवा दल को सर्वोपरि सत्ताशाली होना चाहिये ।

यह सव विचार इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं कि (धन, कुलीनता, साधुता और संख्यावल) इन सव सिद्धान्तों में से, जिनके आधार पर मनुष्य शासन करने और अन्य सव लोगों को अपने शासनाधीन रखने का दावा करते हैं, कोई भी सिद्धान्त नितान्त समीचीन सिद्धान्त नहीं है। उन लोगों के दावों का जो कि नागरिक-समाज पर अपनी प्रभुता का दावा साधुता (अरैते) के आधार पर करते हैं अथवा जो इसी प्रकार संपन्नता के आधार पर करते हैं, वहुसंख्यकवर्ग औचित्यपूर्ण प्रतिवाद कर सकता है; क्योंकि वहुसंख्यक जनता को---व्यष्टिरूपेण नहीं प्रत्युत समष्टिरूपेण---अल्पसंख्यकों की अपेक्षा अधिक अच्छा और धनवान् होने से रोकनेवाला कोई भी नहीं है। इसी विचार के सहारे हम उस कठिनाई का भी सामना करने में समर्थ होते हैं जो कभी कभी उपस्थित कर दी जाती है। कभी कभी जो कठिनाई उपस्थित होती है वह यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि जो प्रसंग हमने वर्णन किया है वह प्रस्तुत हो (अर्थात् वहुजनवर्ग सचमुच ही समष्टिरूपेण अल्पजनवर्ग से अधिक अच्छा हो) तो ऐसी स्थिति में उस नियमनिर्माता को, जो कि यथाशक्ति सर्वोत्तम नियम वनाना चाहता है, किस प्रकार नियम वनाने चाहिये ? क्या उसको उत्तम लोगों के हित को दृष्टि में रखकर कानून वनाने चाहिये अथवा वहुसंख्यकवर्ग के हित की दृष्टि से ? (इसके उत्तर में कहा जा सकता है) कि न्याय्य अथवा उचित का अर्थ 'समान रूप से उचित' किया जाना चाहिये; और 'समान रूप से उचित' वह है जो समग्र नगर (राष्ट्र) के, तथा उसके सव नागरिकों के सामान्य हित के लिये होता है। और नागरिक शब्द का सामान्य अर्थ है वह व्यक्ति जो शासन करने और शासित होने दोनों ही में भागीदार है। विशिष्ट अर्थ में वह नागरिक पृथक् पृथक् व्यवस्थाओं के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, पर सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था में नागरिक वह व्यक्ति होता है जो सद्वृत्तिमय (साधुतामय) जीवन-यापन करने के लिये शासित होने एवं शासन करने की क्षमता और इच्छा दोनों ही से युक्त है।[३]

किन्तु यदि कोई मनुष्य ऐसा हो (अथवा एक से अधिक मनुष्य--पर इतने अधिक नहीं जो राष्ट्र की पूर्णता घटित कर सकें---ऐसे हों) जो सज्जनता में इतना वढ़ा-चढ़ा

हो कि उसकी (अथवा उनकी) साधुता और राजनीतिक योग्यता की अन्य सब लोगों की योग्यता से कोई तुलना ही न हो सके, तो वह अथवा वे व्यक्ति राष्ट्र के सामान्य अंश मात्र नहीं माने जा सकते। अन्य लोगों की अपेक्षा साधुता और राजनीतिक योग्यता में उनके इतने अधिक बढ़े होने पर भी यदि उनको अन्य लोगों के समान भाग के ही योग्य माना जायगा तो यह उनके प्रति अन्याय होगा; क्योंकि ऐसा व्यक्ति तो मनुष्यों के मध्य में देव-तुल्य माना जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि नियम (अथवा कानून) अवश्यमेव उन्हीं लोगों से संबंध रखता है जो कि जन्म और क्षमता (=योग्यता) में समान हों। तथा जो व्यक्ति साधुता में अतीव श्रेष्ठ हैं उनके लिये कोई नियम-बंधन नहीं होता; वे स्वतः अपने लिए नियम-स्वरूप होते हैं।[४] उनके लिये नियम बनाने का प्रयत्न करनेवाला व्यक्ति उपहास का पात्र बन जायगा। (किसी के ऐसा प्रयत्न करने पर) स्यात् वे वही उत्तर देंगे जो कि अन्तिस्थैनीस्[१] की कथा में उस समय सिंहों ने दिया था, जब कि खरगोश व्याख्यान देते हुए सब पशुओं की बराबरी का दावा कर रहे थे (कि 'तुम्हारे नख और दाँत कहाँ हैं?')। इसीलिये जनतंत्रात्मक (नगर-) राष्ट्रों ने जो निर्वासन का नियम निर्धारित किया है, वह भी इसी कारण है। अन्य सब बातों की अपेक्षा बराबरी (को उपलब्ध करना) उनका लक्ष्य माना जाता है। और इसीलिये वे उन लोगों को एक निर्धारित समय के लिये बहिष्कृत करके निर्वासन का दण्ड दे दिया करते थे जो उनके विचार में धन के कारण, अथवा बहुत से मित्रों के कारण या अन्य किसी प्रकार के राजनीतिक बल के कारण अत्यधिक प्रभावशाली प्रतीत होते थे। पुराण कथाओं में भी उल्लेख मिलता है कि अर्गानाउतों[२] ने हेराक्लीस्[३] को इसी कारण अपने साथ नहीं लिया था; अर्गो नामक नौका (जो बोलती थी) ने स्वयं उसको अन्य लोगों के साथ इसीलिये नहीं लेना चाहा कि वह अन्य सांयात्रिकों की अपेक्षा बहुत बढ़कर व्यक्ति था। इसलिये तानाशाही की निन्दा करनेवालों को, जिन्होंने कि थ्रासीबूलस[४] नामक तानाशाह को पेरियाण्डर[१] नामक तानाशाह द्वारा दिये हुए परामर्श पर आक्षेप किया है, बिलकुल ठीक नहीं माना जा सकता। कथानक के अनुसार पेरियाण्ड्रॉस् ने उस दूत से जो थ्रासीबूलस द्वारा उसके पास परामर्श करने के लिये भेजा कुछ भी नहीं कहा, प्रत्युत (मूक-भाव से) उसने खेत के अन्न की सबसे अधिक ऊँची बालों को काटकर खेत को समतल कर दिया। दूत की समझ में इस कार्य का अर्थ कुछ भी नहीं आया, बस उसने जो कुछ देखा था उसे थ्रासीबूलस् को अवगत कर दिया, जिसने इसका अर्थ इस प्रकार लगाया कि उसको नगर के प्रमुख व्यक्तियों को काट डालने की सलाह दी गई है। यह नीति केवल तानाशाहों के लिये हितकर

नहीं है, और न केवल तानाशाहों के ही द्वारा इसका व्यवहार किया जाता है; प्रत्युत इस नीति के प्रति तो अल्पजनतंत्र और प्रजातंत्र की भी एक सी ही स्थिति है। बहिष्कार भी अत्यन्त उच्च गुणवाले व्यक्तियों की शक्ति को काट-छाँट करके एवं उनको निर्वासित करके, एक प्रकार से उपर्युक्त प्रकार का ही प्रभाव उत्पन्न करता है। तथा जो राष्ट्र सर्वोच्च शक्ति प्राप्त कर लेते हैं वह अन्य राष्ट्रों के प्रति इसी प्रकार की नीति बरतते हैं, जैसा कि अथेन्सवालों ने सामौस्, खियौस् तथा लैस्बौस्[1] वालों के साथ किया था। ज्योंही साम्राज्य-सत्ता सुदृढ़तया उनकी मुट्ठी में आई त्योंही उन्होंने सन्धि की शर्तों के विरुद्ध अपने सभी सहायक (देशों, जनों) को नीचा दिखलाया। इसी प्रकार फारस देश के राजा (सम्राट्) ने अनेकों बार मीदी और बाबिलोन निवासियों एवं अन्य ऐसे लोगों की शक्ति को काट-छाँटकर संक्षिप्त कर दिया जो कि अपने पूर्वकालीन साम्राज्य की स्मृति से कुछ धृष्ट होने लगे थे।

यह समस्या वास्तव में एक सर्वव्यापक समस्या है तथा राष्ट्र-व्यवस्था के सभी प्रकारों से––चाहे वे भले (सच्चे) हों चाहे बुरे (झूठे)––इसका संबंध है; और यदि विकृत व्यवस्थावाले लोग अपने स्वार्थ के लिये इस नीति को काम में लाते हैं, तो जो लोग (अच्छी व्यवस्था के अन्तर्गत) सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखते हैं उनका मार्ग भी कुछ इसी प्रकार का होता है। यही बात अन्य शिल्पों और विद्याओं मे भी स्पष्ट हो जाती है। कोई चित्रकार अपनी चित्रगत मूर्ति के पैर को यथाप्रमाणता का उल्लंघन करनेवाला नहीं होने देगा, चाहे वह स्वतः कितना ही सुन्दर क्यों न हो; न कोई नाव बनानेवाला नाव के पृष्ठभाग अथवा किसी अंग का अनावश्यक रूप से बड़ा होना सहन करेगा; और न गीतनेता अपनी गायक-मण्डली में किसी ऐसे व्यक्ति को सम्मिलित करेगा जो मण्डली के अन्य सब गायकों की अपेक्षा अधिक उच्च और सुन्दर स्वर से गाता है। इस सर्वव्यापी नियम को दृष्टि में रखते हुए (यह कहा जा सकता है) कि जो एकतंत्र शासक इस उपर्युक्त नीति का उपयोग करता है, तो यदि उसका शासन राष्ट्र के लिये हितकर हो तो, यह नीति उसको राष्ट्र में शान्तिपूर्वक रहने से रोक नहीं सकती। अतएव (सर्व-)सम्मत उत्तमता के प्रसंग में इन बहिष्कारवाली युक्ति (तर्क) में एक प्रकार का राजनीतिक औचित्य उपलब्ध होता है। अधिक अच्छा तो निश्चयमेव यह होगा कि नियम-निर्माता आरंभ से ही अपने राष्ट्र की व्यवस्था ऐसी बनाये कि ऐसे उपचार (ऐसी चीरफाड़) की कभी आवश्यकता ही न पड़े। पर यदि आवश्यकता आ पड़े तो सर्वश्रेष्ठ से उतरकर दूसरे नम्बर का उपाय, बुराई को उपर्युक्त उपाय से अथवा इसी के सदृश किसी अन्य उपाय से सुधारने का प्रयत्न करना

होगा। पर वास्तव में नगर-राष्ट्रों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग इस भावना से नहीं किया है; उन्होंने अपनी राष्ट्र-व्यवस्था के हित पर दृष्टि नहीं रक्खी है, प्रत्युत वहिष्कार का प्रयोग कलह की भावना से किया है।

यह स्पष्ट है कि विकृत-राष्ट्र-व्यवस्थाओं में, और उनके अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार यह वहिष्कार का व्यवहार उपयोगी एवं समुचित होता है; पर स्यात् यह भी (उतना ही) स्पष्ट है कि यह नितान्त न्यायोचित नहीं है। पर श्रेष्ठ राष्ट्र-व्यवस्था में किसी ऐसे व्यवहार के विषय में महान कठिनता का सामना करना पड़ेगा। यह कठिनाई शक्ति की अधिकता, संपन्नता अथवा (सहायकों की) संबंधियों की अधिकता इत्यादि के सदृश गुणों के प्राधान्य के प्रसंग में उपस्थित नहीं होती। प्रत्युत कठिन प्रश्न तो यह है कि "जब किसी ऐसे व्यक्ति का प्रसंग उपस्थित हो जो साधुता में सर्वोपरि है तो क्या हो?" कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं कह सकेगा कि ऐसे व्यक्ति को वहिष्कृत और निर्वासित कर दिया जाय। दूसरी ओर, ऐसा व्यक्ति अन्य लोगों द्वारा शासित भी नहीं होना चाहिये। यह तो प्रायः ऐसी ही बात होगी कि मानो मनुष्य द्यौस्[११] के पदाधिकार को आपस में बाँटकर उस पर शासन करने का दावा करें। बस एकमात्र शेष विकल्प—तथा जो प्रकृत्यनुरूप भी है—यह है कि सबको सहर्ष ऐसे व्यक्ति के प्रति श्रद्धावनत होना चाहिये। अतः ऐसे साधुजनों को अपने नगर में (आजीवन) स्थायी राजा होना चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. नगर में पदाधिकार और सम्मान का दावा करनेवाले विविध दावेदार यहाँ निम्नलिखित बतलाये गये हैं (क) धनिक लोग (ख) स्वतंत्र और कुलीन नागरिक, (ग) चारित्रिक उत्तमता से समन्वित व्यक्ति और (४) बहुजनों की सामूहिक अच्छाई। यह सभी तत्त्व नागरिक जीवन में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

२. विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ तो सर्वोच्चसत्ता को किसी एक तत्त्व में स्थापित करती हैं। पर अरिस्तू की न्यायपरायण बुद्धि सभी तत्त्वों के दावों के प्रति न्याय करना चाहती है अथवा विभिन्न विरोधी तत्त्वों के मध्य में सम्मान और पदाधिकार का न्यायोचित एवं समन्वित वितरण करना चाहती है।

३. अरिस्तू की परिभाषा सचमुच विचारणीय और मननीय है।

४. गीता की परिभाषा में "तस्य कार्यं न विद्यते।"

५. अन्तिस्थैनी (ने) स्, सॉक्रातेस का शिष्य और मित्र था। उसने ४४० ई० पू० में अथेंस् में एक दार्शनिक पद्धति को प्रचलित किया था जो सी(कुइ)निक नाम से प्रसिद्ध है। यह सदाचार और सद्गुण को ही सर्वोपरि मानता था। संभव है कि उसने इस कथा को अपनी "कुइरॉस अथवा राज्यतत्व" नामक पुस्तक में उद्धृत किया हो। वैसे यह इसी प्रकार ईसॉप् की नीति कथाओं में मिलती है।

६. ७. थेसाली में इयॉल्कॉस् नामक एक राज्य था। यहाँ का राजा अएसॉन् को होना चाहिये था पर उसके सौतेले भाई पैलियास् ने इस राज्य पर अनुचित प्रकार से अधिकार जमा लिया। अएसॉन् का पुत्र इयासन् (अंग्रेजी जैसन्) बड़ा होने पर पैलियास् की राजसभा में पहुँचा और अपने पिता के राज्य को पाने का दावा किया। पैलियास् ने उससे कहा कि यदि तुम कॉलखिस् से सुनहरी ऊन की खाल ले आओगे तो तुम्हारे पिता का राज्य तुमको दे देंगे। इयासन् अर्गो नामक नौका में सवार होकर अनेकों साथियों के सहित कॉलखिस् पहुँचा। वहाँ के राजा इएतेस् ने उसको अनेकों असंभव कार्य कर दिखलाने के उपरान्त सुनहरी ऊन की खाल देने का वचन दिया। उसने राजा की पुत्री मेदिया की सहायता से सब कार्य कर दिखलाये। अन्त में वह मेदिया के साथ विवाह करके और सुनहरी खाल लेकर लौट आया। मेदिया को जादू भी आता था। पर कुछ समय पश्चात् इयासन् ने मेदिया का परित्याग कर दिया और दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। मेदिया ने इसका प्रतिकार इयासन् की सन्तान की हत्या करके किया। यह कथा अनेकों काव्यों और नाटकों का विषय बनी। अर्गानाउत् इयासन् के साथ जानेवाले अन्य साथी थे। हेराक्लेस् भी उनमें एक था। पर क्योंकि वह सबसे अधिक बलवान् और योग्य व्यक्ति था अतएव उसका अन्य लोगों ने बहिष्कार कर दिया। हेराक्लेस् के पराक्रमों की कहानियाँ भी यूनानी साहित्य में और यूरोपीय साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

८. थ्रासीबूलस् मिलेतस् का तानाशाही शासक था। पेरियाण्डर कौरिन्थ का तानाशाह था। इसका समय ई० पू० ६२५–५८५ माना जाता है। यह अत्यन्त समर्थ और योग्य था। पेरियाण्डर उसके नामका अंग्रेजी रूपान्तर है। उसका ग्रीक नाम पेरियाण्ड्रॉस् था।

१०. सामौस्, खियौस् और लेस्बौस्। (१) सामौस् लघु एशिया के दक्षिण पश्चिम में एक द्वीप है। (२) खियौस् भी एक द्वीप है जो सामौस् से उत्तर की ओर है। यह होमर का जन्मस्थान भी कहा जाता है। (३) लेस्बौस लघुएशिया के पश्चिम में एक बड़ा द्वीप है और और खियौस् के उत्तर में है।

११. द्यौस् अर्थात् जैउस् यूनानी लोगों का सबसे बड़ा देवता है।

वि. प्लातोन और अरिस्तू दोनों ही राजनीतिक विचारों में न्याय का स्थान सर्वोपरि है। यूरोप की राजनीति-संबंधी विचारों की नींव इन्हीं दोनों विचारकों ने डाली है। अरिस्तू और उसके गुरु दोनों ने इस विषय का अच्छा मन्थन किया है। न्याय के बिना समाज का कार्य भली प्रकार नहीं चल सकता अतएव यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। न्याय से सामाजिक जीवन की सत्ता की ही रक्षा नहीं होती प्रत्युत समाज में अच्छा जीवन भी न्याय के आधार पर निर्मित होता है। अतएव एक प्रकार से न्याय को सब सद्‌गुणों की समष्टि कह सकते हैं। कवि के शब्दों में "न्याय में सद्‌गुण भरे रहते ठसाठस।"

१४

पाँच प्रकार के राजतंत्र

स्यात् पूर्ववर्ती विवेचन के पश्चात् यह अच्छा होगा कि विषयान्तर[1] करके राजत्व (वसीलेइया) का विचार कर लिया जाय। हम राजा के द्वारा शासन को शासन-व्यवस्था के सम्यक् प्रकारों के अन्तर्गत मानते हैं। विचारणीय बात यह है कि किसी नगर अथवा प्रदेश के सुशासित होने के लिये इस प्रकार की शासन-पद्धति उपयुक्त है या नहीं, अथवा यदि यह उपयुक्त नहीं है, तो अन्य कोई पद्धति अधिक उपयुक्त है—अथवा कुछ प्रसंगों में तो यह (राजत्व) प्रणाली उपयुक्त है ही चाहे अन्य कुछ प्रसंगों में उपयोगी न भी हो। पर सबसे पहले तो हम को यह निर्धारित करना चाहिये कि यह राजकीय शासन-पद्धति[2] केवल एक प्रकार की होती है अथवा अनेक प्रकार की। यह देख पाना तो सरल काम है कि इसके प्रकार अनेकों हैं तथा सब प्रकारों में शासन-प्रणाली एक-सी नहीं है।

लाकोनिकी[3] शासन-व्यवस्था में जो राजकीय पद्धति है वह नियमानुमोदित पद्धतियों में श्रेष्ठ प्रकार की मानी जाती है। स्पार्टा के राजा लोग सब बातों में सर्वोपरि नहीं होते; परन्तु जब वे स्पार्टा-प्रदेश के बाहर अभियान पर होते हैं तो उनको सेना पर अनुशासन करने भर का अधिकार अवश्य होता है। धर्म—(देव-) संबंधी विषयों का निर्धारण भी राजा के ही अधीन होता है। इस प्रकार का राजपद वास्तव में ऐसा है जैसा कि पूर्णतया स्वाधीन और सनातन सेनानायक का पद होता है। इस प्रकार के राजा को (जीवन और) मृत्यु का अधिकार नहीं होता; यदि होता भी है तो इन राजाओं में किन्हीं विशेष प्रकार के राजाओं को ही होता है—उदाहरणार्थ

प्राचीन काल में राजा लोग युद्धाभियान में बाहुबल के नियमानुसार ऐसा कर (=प्राण ले) सकते थे। होमर ने इस विषय का स्पष्ट वर्णन किया है। उसने यह वर्णन किया है कि अगामेम्नन[4] राज्यपरिषद् में तो सब आक्षेप वचनों (अथवा गालियों) को धैर्यपूर्वक सुन (सह) लेता है; परन्तु जब सेना युद्ध करने के लिये जाती है तो उसको (जीवन) और मरण की शक्ति प्राप्त हो जाती है। कम से कम इतना तो वह कहता ही है—

> "मैं पाऊँगा जिसे युद्ध से करते हुए पलायन ।
> कुत्तों, गीधों से बचने का उसके कोई उपाय न ।
> है मुझको अधिकार मृत्यु का..........।(इलियड् २।३९१-९२।)

इस प्रकार राजत्व का एक रूप है—आजीवन सेनापति होना। इस प्रकार का राजपद दो श्रेणियों में विभक्त होता है, (१) वंशानुक्रमिक अथवा जन्म से (२) निर्वाचन द्वारा दिया हुआ।

इसके अतिरिक्त राजपद का एक प्रकार और भी होता है जो कि कुछ असभ्य जातियों में पाया जाता है। इस प्रकार के राजत्व की शक्ति या क्षमता (=अधिकार) पूर्णतया तानाशाही के अधिकार से मिलती-जुलती होती है; तथापि यह राज्यपद नियमानुमोदित और पितृक्रमागत दोनों ही होता है।[5] इसका कारण यह है कि यह बर्बर लोग हैलेनीस लोगों की अपेक्षा अधिक दासवृत्तिपरायण होते हैं, जैसे कि एशियावासी यूरोपीयन लोगों की अपेक्षा अधिक दब्बू होते हैं; अतएव वे उद्दण्डशासन को बिना असन्तोष के सह लेते हैं। इस प्रकार का राजपद स्वरूपतः तानाशाही जैसा होता है, पर नियमानुमोदित और वंशानुगत होने के कारण वह स्थायी होता है। इसी कारण उनके अंगरक्षक भी ऐसे होते हैं जैसे कि राजाओं के लिये न कि तानाशाहों के लिये उपयुक्त होते हैं। राजाओं की रक्षा उनकी प्रजा के शस्त्रास्त्रों द्वारा की जाती है, तानाशाहों की (वेतनार्थी) विदेशियों के आयुधों द्वारा। राजा लोग अपनी प्रजाओं पर नियमानुसार और उन्हीं की इच्छानुसार शासन करते हैं, तथा तानाशाह प्रजाओं की इच्छा के प्रतिकूल उन पर शासन करते हैं, अतः वे (राजा तो) प्रजा के द्वारा रक्षित रहते हैं और इन (तानाशाहों) की प्रजा से (अर्थात् प्रजा के विरोध से) रक्षा की जाती है।

राजपद के यह दो प्रकार हैं; पर एक तीसरा प्रकार और भी था जो कि पुरातन हैलेनीस् (ग्रीक) जाति में पाया जाता था तथा ऐसुम्नेतेइया (अर्थात् अधिनायकता[1]) कहलाता था। इसको स्थूलरूपेण तानाशाही का निर्वाचित प्रकार कह सकते हैं।

बर्बर जाति में जो राजपद है यह उस से भिन्न है पर भेद यह नहीं है कि यह राजत्व नियमानुमोदित नहीं होता, प्रत्युत केवल इतना भेद है कि यह राजपद वंशानुगत न था। कुछ अधिनायकों ने तो आजीवन शासन किया, कुछ ने एक निर्धारित समय तक अथवा किसी निश्चित कर्तव्य की पूर्ति के समय तक। उदाहरणार्थ मितीलीन[७] के निवासियों ने उन निर्वासित जनों के आक्रमण का सामना करने के लिये पित्ताकस्[८] को अधिनायक चुना था जो अन्तिमैनिदीस्[९] और कवि अल्कइयस् के नेतृत्व में आक्रमण करने आ रहे थे। पित्ताकस् के अधिनायक चुने जाने के तथ्य को तो स्वयं अल्कइयस् ने ही स्पष्टतया प्रमाणित कर दिया है; अपने एक आपानक-गीत में उसने अपने नागरिकों को कटुतापूर्ण उलाहना देते हुए कहा है—

> "नीच जात पित्ताकस, नायक, सब की भूरि प्रशंसा पाकर ।
> इनके द्वारा गया बनाया, पित्तशून्य दुर्भग नगरी पर ॥"

यह अधिनायक-पद द्विस्वभाव हैं और पूर्वकाल में ऐसे ही थे; अनियंत्रित शक्ति संपन्न होने के कारण यह तानाशाह हैं और निर्वाचित एवं प्रजा की सम्मति के अनुकूल होने के कारण राजा हैं।

राज-शासन का एक चौथा प्रकार भी है। यह वीरता के युग का राजपद है, जो कि वैधानिक (नियमानुमोदित), जनसम्मति पर आश्रित और वंशानुगत है। इन राजवंशों के आदि पुरुष किसी शिल्प (=कला) अथवा युद्ध में जनता का हित करनेवाले थे; उन्होंने या तो उनको एक समाज के रूप में संघटित किया था अथवा उनके लिये भूमि प्राप्त की थी, और इस प्रकार वह जनता की इच्छानुसार राजा बने और उनका राजपद वंशानुक्रम से चल पड़ा। इन राजाओं के तीन प्रमुख कार्य थे; वे युद्ध में सेना की अध्यक्षता करते थे, ऐसे यज्ञों में प्रमुख बनते थे जिनमें पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी, और अभियोगों के निर्णय करने का भी काम करते थे। इन अभियोगों का निर्णय वह कभी बिना शपथ के किया करते थे और कभी शपथ के साथ; एवं उनकी शपथ का प्रकार राजदण्ड को उठाना होता था। प्राचीन काल में तो सभी बातें—यथा नगर संबंधी शासन, देहात का प्रबंध एवं, विदेशों के मामले—उन्हीं की सत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत थीं; पीछे उन्होंने अपने कुछ विशेषाधिकार स्वयं छोड़ दिये और कुछ जनता ने उनसे छुड़वा दिये (अथवा छीन लिये), यहाँ तक कि अन्त में यह परिणाम हुआ कि कुछ नगरों में उनका एकमात्र विशेषाधिकार यज्ञों का प्रबंध करना रह गया। और जहाँ कहीं यह भी कहा जा सकता था कि उनका वास्तविक

राजपद विद्यमान है वहाँ भी उनका अधिकार केवल विदेशी अभियानों में सेनापति-पद तक सीमित था।

इस प्रकार राजपद चार प्रकार का है—(१) प्रथम आदि वीरयुग का राजपद जो कि जनता की सम्मति के अनुकूल था और केवल थोड़े से कार्यों तक सीमित था। राजा सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश और धार्मिक कृत्यों के संचालक का कार्य करता था। (२) द्वितीय वर्बर जातियों में पाया जानेवाला राजपद, जिसमें कि राजा वंशानुक्रमिक, अधिकार के बल पर स्वच्छंद शासन करता है पर यह शासन नियमानुमोदित होता है। (३) तीसरे वह राजपद जो कि अधिनायक पद कहलाता है तथा जो तानाशाही का निर्वाचनाश्रित प्रकार है। (४) चौथा लाकैदायमीन पद्धति का राजपद है जो कि वास्तव में वंशानुगत सनातन सेनापतिपद है। यह चारों प्रकार के राजपद एक दूसरे से पूर्वोक्त प्रकार से भिन्न (माने जाते) हैं।

(५) पर इनके अतिरिक्त एक पाँचवे प्रकार का राजपद भी है (जो इन सवसे भिन्न है।) यह राजपद ऐसा है कि इसमें एक ही व्यक्ति (राजा) को सव विषयों पर (परिपूर्ण) आधिपत्य प्राप्त होता है। यह आधिपत्य ठीक इसी प्रकार का होता है जैसा कि किसी जाति अथवा नगर को अपने सार्वजनिक विषयों पर प्राप्त होना है। यह प्रकार गृहस्वामी द्वारा गृहस्थों के प्रवंध से समानता रखता है। जिस प्रकार कि गृहस्थी का प्रवंध घरेलू राजकीय शासन है, इसी प्रकार यह शासन अर्थात् नगरी का राजकीय शासन एक नगरी अथवा जाति अथवा जाति-समूह का पितृतुल्य शासन होता है।[१०]

टिप्पणियाँ

१. प्रस्तुत खंड एक प्रकार से विषयान्तर है भी, और नहीं भी है। पिछले खंड के अन्त में यह वतलाया जा चुका है कि यदि कोई व्यक्ति सव प्रकार से श्रेष्ठ हो तो उसके प्रति सव को श्रद्धावन्त होना चाहिये और उसको राजा का पद देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को प्रकृत राजा कह सकते हैं। इस प्रसंग को इस प्रकार प्रस्तुत करके इस १४ वें खंड में उसका विवेचन करना विषयान्तर नहीं है। तथापि क्योंकि मुख्य विषय न्याय के स्वरूप का विवेचन था उसको छोड़कर प्रकृत राजा के शासन का विवरण उपस्थित करना विषयान्तर करना है।

२. राजकीय शासन-पद्धति से तात्पर्य ऐसे एक व्यक्ति के शासन से है जो सब प्रकार से श्रेष्ठ और परिपूर्ण मानव है तथा जिसको सब प्रजाजन ऐसा मानते हैं। "राजा प्रकृतिरंजनात्" ऐसा कालिदास ने भी कहा है।

३. लाकोनिकी = लाकैदायमौन् (अर्थात् स्पार्टा द्वीप) के राजाओं की शासन-पद्धति। इस विषय में द्वितीय पुस्तक के खण्ड ९ और उसकी टिप्पणियों को देखना चाहिये।

४. अगामेम्नन् होमर के "इलियाद्" काव्य में ट्राय पर आक्रमण करनेवाली सेनाओं का संचालन करता है। वह अत्र्यूस का पुत्र और मीकेनाये का राजा था।

५. यह सम्पूर्ण वाक्य अरिस्तू का जात्यभिमान और अज्ञान दोनों को सूचित करता है।

६. ऐसुम्नेतेस् दो प्रकार के होते थे, एक साधारण पदाधिकारी दूसरे असाधारण अधिनायक। अरिस्तू यहाँ दूसरे प्रकार के अधिनायकों का वर्णन कर रहा है।

७. मितीलीन अथवा मितीलेने लैस्बौस द्वीप का मुख्य नगर था। यह कवियित्री साफ़्फ़ो और अल्कइयस् का जन्म-स्थान था।

८. पित्ताकस् की गणना ग्रीक जाति के सप्तर्षियों में की जाती है। वह ई० पू० ७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लेस्बौस् द्वीप में जनतंत्र-शासन का नेता था।

९. अन्तिमेनीदीस् अथवा अन्तिमेनीदास और कवि अल्कइयस् भाई थे। कवि की ख्याति अधिक है। अल्कइयस् कलम और कृपाण दोनों का धनी था। उसने अथेंस के विरुद्ध और तानाशाहों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था और उसका जीवन कठोर कष्टों से भरा रहा। उसने एक कविता साफ़्फ़ो के प्रति भी लिखी थी।

१०. इस शासन-पद्धति में राजा अपनी प्रजा की भलाई का ध्यान इसी प्रकार रखता है जैसे कि पिता अपनी सन्तान के हित का ध्यान रखता है।

१५

एकराट्तंत्र, बहुजनतंत्र और नियमतंत्र

इन उपर्युक्त प्रकारों में से केवल दो ही ऐसे हैं जिनका हमको विचार करना चाहिये; एक तो वह जिसका वर्णन हमने अभी किया है तथा दूसरा लाकैदायमौन् में पाया जानेवाला राजपद। अन्य प्रकारों में से अधिकांश इन्हीं दोनों के मध्यवर्ती हैं। वे सर्वाधिपराजपद (पाम्बसिलेइया) की अपेक्षा कम और लाकैदायमॉन् राजपद की

अपेक्षा अधिक सत्ताशाली होते हैं। इस प्रकार हमारे अनुसंधान के लिये दो बातें रह जाती हैं। प्रथम बात यह है कि क्या किसी नगर-राष्ट्र के लिये एक स्थायी सेनाध्यक्ष का होना कल्याणकारी है अथवा नहीं; और यदि ऐसा है तो क्या वह वंशानुगत होना चाहिये अथवा नागरिकों में से पर्यायक्रम से चुना होना चाहिये ? दूसरी बात यह है कि क्या एक ही व्यक्ति का सब विषयों में पूर्णाधिपति होना हितकर है अथवा नहीं ?

उपर्युक्त प्रश्नों में से सेनाध्यक्ष पद के प्रश्न का संबंध राष्ट्र-व्यवस्था की अपेक्षा नियम-निर्माण (कानून) से अधिक है। स्थायी सेनाध्यक्ष तो किसी भी प्रकार की (सभी प्रकार की) राष्ट्र-व्यवस्था में हो सकता है, अतएव इस प्रसंग को हम इस समय छोड़ दे सकते हैं। रहा अवशिष्ट राजपद (सर्वाधिपराजपद) का प्रकार[1], सो वह तो एक प्रकार की राष्ट्र-व्यवस्था (पॉलितेइया) है। अतएव हमको इसका निरीक्षण करना चाहिये और संक्षेप में यह भी देख लेना चाहिये कि इसमें क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं।

हम इस अनुसंधान को इस प्रश्न की विवेचना से प्रारंभ करेंगे "क्या श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा शासित होना अधिक कल्याणकारी है, अथवा श्रेष्ठ नियमों द्वारा ?" जो लोग राजपद को हितकारी मानते हैं उनके मत में नियम तो सामान्य विषयों पर ही विधान बतलाते हैं, विविध प्रकार की विभिन्न परिस्थितियों के विषय में कोई निर्देश नहीं कर सकते। अतएव किसी भी कला के क्षेत्र में नियम के अक्षरों का शासन निरी मूर्खता है (फिर चाहे वह कला राजनीति हो, आयुर्वेद हो या अन्य कोई कला हो।) और ऐगिप्तीस प्रदेश (मिश्र) में वैद्य को चौथे दिन के उपरान्त उपचार-पद्धति को बदल देने की अनुमति प्राप्त है; हाँ यदि इसके पूर्व कोई वैद्य उपचार पद्धति को बदले तो दुर्घटना का उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर रहता है। यदि हम इस तर्क का अनुसरण करें तो यह स्पष्ट है कि नियम के लिखित अक्षर और विधि का अनुसरण करनेवाली व्यवस्था (= शासन) श्रेष्ठ व्यवस्था उसी कारण से नहीं है (जिस कारण कि कठोर नियम का अनुसरण करनेवाली उपचार-पद्धति श्रेष्ठ पद्धति नहीं है।) पर निश्चयमेव यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि सामान्य सिद्धान्त भी शासक के मस्तिष्क में रहने चाहिये। वह (व्यक्ति) जिसमें मनोविकारों का एकान्त अभाव होता है उस (व्यक्ति) की अपेक्षा अच्छा होता है जिसको कि मनोविकार चिपटे रहते हैं। नियम में तो मनोविकार का अंश होना संभव नहीं है; पर मानव के मन में तो उसका अंश सर्वदा ही विद्यमान रहता है। इस (तर्क) के उत्तर में कहा जा सकता है कि इसके विपरीत व्यक्ति विशिष्ट प्रसंगों पर (नियम की अपेक्षा) अधिक अच्छा विचार और निर्णय कर सकता है।

(इन सब विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि) श्रेष्ठ जन अवश्यमेव नियम-निर्माता होना चाहिये और नियम भी अवश्यमेव निर्धारित (=स्थापित) होने चाहिये, पर जब कभी यह नियम प्रसंगोपात्त नहीं होंगे तब इन नियमों को प्रमुखता नहीं दी जायेगी;---यद्यपि अन्य सब अवसरों पर नियमों की सत्ता (शक्ति=अधिकार) अक्षुण्ण बनी रहेगी। पर जब किसी विषय का निर्णय नियम द्वारा या तो बिलकुल न किया जा सके अथवा भली प्रकार न किया जा सके (तो यह प्रश्न उठता है कि) ऐसे अवसर पर कौन निर्णय करे ? क्या यह निर्णयाधिकार एक श्रेष्ठ व्यक्ति को दिया जाय अथवा सब (जनता) को ?

और आजकल की रीति तो यह है कि जनपरिषद् एकत्रित होकर निर्णय करती है, विचार करती है और निर्धारण करती है; तथा उनके निर्णयों का संबंध सर्वथा व्यक्तिगत मामलों से ही होता है। इन परिषदों का कोई भी एक सदस्य व्यक्तिगत रूप में श्रेष्ठ (बुद्धिमान्) व्यक्ति से अपेक्षाकृत स्यात् बुरा ही होता है। पर नगर (-राष्ट्र)की संघटना तो बहुत-से व्यक्तियों से मिलकर होती है; और जिस प्रकार वह भोज जिसके लिये बहुत-से आदमी अंश प्रदान करते हैं, एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किये भोज से बढ़कर होता है ठीक उसी प्रकार और उसी कारण से बहुसंख्यक लोग बहुत-से प्रसंगों में किसी भी एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अच्छा निर्णय कर सकते हैं।

फिर, अल्पसंख्यक जनता की अपेक्षा बहुसंख्यक जनता के भ्रष्ट होने की संभावना भी कम होती है। जैसे कि जल की विपुलराशि के दूषित होने की संभावना थोड़ी-सी मात्रा की अपेक्षा कम होती है, इसी प्रकार बहुसंख्यक जनता के भ्रष्ट होने की संभावना भी थोड़े लोगों की अपेक्षा कम होती है। एक व्यक्ति का तो रोष अथवा किसी अन्य मनोवेग द्वारा अभिभूत हो जाना संभव है और ऐसी दशा में उसका किया हुआ निर्णय भी अवश्यमेव विकृत होगा; पर सब (बहुत-से) मनुष्यों का युगपद् क्रुद्ध होना और गलती कर बैठना कठिन काम है। हमको यह मान लेना चाहिये कि बहुसंख्यक जन सब के सब स्वाधीन हैं, कभी नियमविरुद्ध कार्य नहीं करते हैं; केवल उन्हीं प्रसंगों में नियमों का अतिक्रमण करते हैं जो नियमों से अनिवार्यतया छूट गये हैं। और यदि यह कहो कि बहुसंख्यक जनता में इस प्रकार के गुण (अथवा संयम) का पाया जाना सरल नहीं; तो भी यदि बहुसंख्यक भले मानस और नेक नागरिक हों तो तब कौन कम भ्रष्ट होने योग्य होगा---एक अच्छा शासक या बहुजन जो कि सबके सब भले हैं ? क्या स्पष्ट ही वह नहीं जो कि बहुसंख्यक हैं ? पर बहुसंख्यक जनता में दलबन्दी हो

सकती है और एक व्यक्ति दलबन्दी से मुक्त होता है। इसका उत्तर स्यात् यह होना चाहिये कि जनता का चरित्र (=आत्मा) इतना ही अच्छा हो सकता है जितना कि व्यक्ति का। (अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं) कि यदि हम ऐसे बहुसंख्यक जनों के शासन को, जो कि सब के सब भले आदमी हों, श्रेष्ठजनतंत्र (अरिस्तॉक्रातिया) कहें और एक जन के शासन को राजतंत्र (बसिलेइया) नाम दें, तो नगर (-राष्ट्रों) के लिये राजतंत्र की अपेक्षा श्रेष्ठजनतंत्र अधिक वरेण्य होगा, चाहे शासन-शक्ति द्वारा समर्थित हो अथवा न हो; पर शर्त्त यह है कि समान रूप से भले बहुत-से व्यक्ति उपलब्ध हो सकें।

आरंभ-काल के शासन स्यात् इस कारण राजतंत्रात्मक थे कि उस समय गुणातिरेक से संपन्न (अधिक) मनुष्य विरल थे और उनको पाना कठिन था—और क्योंकि उस समय नगर बहुत सघन बसे हुए नहीं थे अतः यह कार्य और भी अधिक कठिन हो गया था। फिर, वे इस कारण भी राजपद पर नियुक्त किये जाते थे क्योंकि वे भलाई करनेवाले लोग थे, और ऐसा करना भले आदमियों का काम (कर्तव्य) है (पर उस समय कोई एकाध व्यक्ति ही ऐसा कर सकता था।) पर जब पीछे बहुत-से समान सद्गुण-संपन्न व्यक्ति उत्पन्न हो गये तो उन्होंने एक ही व्यक्ति की प्रमुखता को सहन न करके, कुछ ऐसी वस्तु चाही जिस पर सबका समान अधिकार हो, अतः उन्होंने नगर-व्यवस्था (पॉलितेइया) की स्थापना की। कुछ काल और व्यतीत होने पर यह (शासक) लोग आचरण में गिर गये; इन्होंने सार्वजनिक सम्पत्ति (अथवा कोष) से अपने को श्रीमान् (संपन्न) बना लिया; इस प्रकार जब से धनसंपत्ति प्रशंसा-प्राप्ति का उपाय हो गयी तब से अल्पजनतंत्र (अथवा धनिकतंत्र=ऑलिगार्किया) की उत्पत्ति हुई। कुछ समय और बीत जाने पर, प्रथम तो धनिकतंत्र से परिवर्त्तन होकर तानाशाही का जन्म हुआ और फिर तानाशाही से जनतंत्र का। कारण इसका यह हुआ कि शासक-वर्ग की लोलुपता उनकी संख्या को कम करती गयी, और परिणामतः जनता की शक्ति बढ़ती गयी; अन्ततोगत्वा जनता ने विद्रोह कर दिया और इस प्रकार लोकतंत्र की स्थापना हुई। अब, क्योंकि नगर और भी अधिक बड़े हो गये हैं, अतः अब तो स्यात् लोकतंत्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की व्यवस्था की स्थापना करना सरल कार्य नहीं रह गया है।[२]

यदि यह सिद्धान्त भी मान लिया जाय कि नगर (-राष्ट्रों) के लिये राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि राजा के परिवार

(=सन्तान) की क्या स्थिति होगी ? क्या राजा की सन्तान को उसके स्थान पर राजा होना चाहिये ? परन्तु यदि वे अन्य साधारण मनुष्यों के समान निकलें तो परिणाम हानिकारक होगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि चाहे राजा को अपनी सन्तान को राज देने की शक्ति प्राप्त हो तो भी वह अपना अधिकार अपनी सन्तान को नहीं देगा। पर ऐसा विश्वास करना सरल नहीं है; यह कठिन कार्य है और ऐसा करने के निमित्त हम मानव-स्वभाव से उतने से अधिक सद्‌गुण की माँग कर रहे हैं जितने की उससे आशा की जा सकती है। फिर उसके अंगरक्षकों का (सेना का) प्रश्न भी है जिसके विपय में कठिनाई उत्पन्न होती है। प्रश्न यह है; क्या राजा को अपने पास (अंग) रक्षकों को रखना चाहिये, जिनके द्वारा वह उन लोगों का दमन कर सके जो उसकी आज्ञा नहीं मानना चाहते ? यदि नहीं रखने चाहिये, तो वह राज का शासन-प्रवंध किस प्रकार कर सकेगा ? यदि वह न्याय के अनुसार आचरण करनेवाला अधिपति हो, तथा जो कभी भी अपनी मनमानी न करता हो और न नियम का अतिक्रमण करता हो तो भी उसको नियम (कानून) की रक्षा के लिये रक्षकों को अनिवार्यतया रखना ही पड़ेगा। इस प्रकार नियम के अनुसार शासन करनेवाले राजा के विपय में तो इस प्रश्न का निर्णय करना कठिन नहीं है। उसको कुछ (सैन्य) वल तो रखना ही चाहिये——पर यह वल किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के समूह से तो अधिक होना चाहिये, और समग्र जनता की शक्ति से कम। प्राचीन काल में जव कोई व्यक्ति अधिनायक अथवा तानाशाह के रूप में नगर-राष्ट्र का प्रमुख वनाया जाता था[२] तो उसको जो अङ्गरक्षक दल दिया जाता था वह इसी प्रकार का होता था। और जव सिराकूस के अधिनायक दियॉनिसियस् ने सिराकूस-निवासियों से रक्षकदल माँगा तो किसी (पारिपद्) ने उनको इसी प्रकार का रक्षक-दल देने की सम्मति दी।

टिप्पणियाँ

१. मूल ग्रीक भाषा में इसके लिये "पाम्वसिलेइया" शव्द आया है। हमने इसका अनुवाद "सर्वाधिपपद" किया है। इस प्रकार के राजा को या तो अपने प्रजाजनों पर सव अधिकार इस प्रकार प्राप्त होते हैं जिस प्रकार समग्र समाज को अपने सार्वजनिक कार्यो पर सर्वाधिकार प्राप्त होता है अथवा वह शासित समाज के पिता के तुल्य होने के कारण उसका सव प्रकार से संरक्षक होता है और इसी कारण उसको शासित समाज पर सव प्रकार का आधिपत्य प्राप्त होता है।

२. यहाँ पर अरिस्तू ने विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों के ऐतिहासिक विकास का जो विवरण उपस्थित किया है वह उसके इसी विषय पर अन्यत्र इसी ग्रंथ में

प्रकट किये गये विचारों से मेल नहीं खाता। संभवतया यह भेद संदर्भ-भेद के कारण उत्पन्न हुआ है।

३. वास्तविकता यह है कि तानाशाह बनाया नहीं जाता। व्यक्ति की योग्यता, महत्त्वाकांक्षा और परिस्थितियों के योग से कोई व्यक्ति तानाशाह बन जाता है। "विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता" वाली उक्ति ही उसके विषय में चरितार्थ होती है।

वि० कुछ लोगों का विचार है कि अरिस्तू ने जो राजतंत्र के प्रति इतना झुकाव दिखलाया है वह स्यात् उसके मकैदोनिया के राजकुल के संबंध के प्रभाव के कारण है।

१६

सर्वाधिकारी राजा का शासन और नियम का शासन

हमारे विवेचन में इस स्थान पर अब हमको जो अनुसंधान करना चाहिये उसका संबंध ऐसे राजा से है जो सब काम अपनी इच्छा के अनुसार करता है। तथाकथित नियमानुसार शासन करनेवाला राजतंत्र (जैसा कि कहा जा चुका है) शासन-व्यवस्था का कोई विशिष्ट प्रकार नहीं है। स्थायी सेनाध्यक्ष का पद तो किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था में संभव होता है---उदाहरणार्थ जनतंत्र-व्यवस्था और श्रेष्ठ-जनतंत्र में भी (ऐसा संभव है।) और बहुत से नगर (–राष्ट्र) घरेलू (नागरिक) शासन के लिये एक व्यक्ति को अधिपति (सत्ताधीश) बना देते हैं। उदाहरण के लिये इसी प्रकार का एक शासकपद एपीदाम्नस[1] नगर में है और दूसरा औपस् नामक नगर में है पर औपस्वाले शासक का अधिकार कुछ अधिक सीमित है। रहा सर्वाधिप राजपद या जैसा कि उसको नाम दिया गया है---पाम्बसिलेइया, सो यह ऐसे प्रकार की व्यवस्था है जिसके अनुसार राजा सबका शासन स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार करता है। कुछ लोगों की सम्मति में एक ही व्यक्ति का (उस) नगर के सब नागरिकों का अधिपति होना प्रकृति के अनुकूल नहीं है, जहाँ कि नगर समान नागरिकों से मिलकर बना है। इस सम्मति के अनुसार जो लोग प्रकृत्या समान हैं उनके अधिकार और मूल्य (कीमत) भी अवश्य ही समान होने चाहिये; तथा इसी कारण जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के शरीरों के लिये एक ही समान भोजन और वस्त्रों की व्यवस्था हानिकर होती, इसी प्रकार (शासन-व्यवस्था में) सम्मान और पदों के वितरण करने में असमान व्यक्तियों को समान भाग देना, अथवा इसके विपरीत समान मनुष्यों को असमान भाग देना भी हानिकारक होगा। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि समान व्यक्तियों में न्यायो-

चित व्यवस्था यह होगी कि प्रत्येक व्यक्ति शासित भी हो और शासन भी करे (न कि अधिपति की तरह सर्वदा शासन करता रहे) और सब बारी बारी से ऐसा करें। यह तो बस एक नियम ही है, क्योंकि क्रम-व्यवस्था ही तो नियम (कानून) है। तो इस उपर्युक्त सम्मति के अनुसार नियम का शासन किसी एक नागरिक के शासन की अपेक्षा अधिक वरणीय है। इसी सम्मति के अनुसार यह भी तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि किन्हीं व्यक्तियों[२] का शासन करना अधिक अच्छा समझा जाय, तो उनको नियमरक्षक[३] अथवा नियम-सचिव के रूप में नियुक्त कर देना चाहिये। क्योंकि यह तो मानी हुई बात है कि राष्ट्र में शासकपद तो अवश्य ही होंगे; पर यह कहा जाता है, न्यायानुसार यह पद (जब कि सब व्यक्ति परस्पर समान हों) एक ही व्यक्ति को नहीं दिये जा सकते।

पर वास्तव में ऐसे प्रसंग हो सकते हैं जिनका निर्णय करने में नियम (कानून) समर्थ प्रतीत नहीं होता, पर यह भी इतना ही सत्य है कि मनुष्य भी ऐसे प्रसंगों का निर्णय जानने में असमर्थ रहेगा। नियम तो पदाधिकारियों को इसी अभिप्राय से शिक्षित बनाता है और तब उनको उन बातों के निर्णय करने के कार्य में लगाता है जिनको वह स्वयं बिना निर्णय किये छोड़ देता है कि वे उनका अधिक से अधिक न्यायपूर्ण निर्णय करें।[४] इससे भी आगे नियम उनको यह भी आज्ञा प्रदान करता है कि वे विद्यमान नियमों में अनुभव के द्वारा सुझाए हुए सुधार भी कर सकते हैं। अतएव जो नियम (=कानून) को शासन करने का आदेश करता है उसको तो यह आदेश करता माना जा सकता है कि केवल ईश्वर और विवेक शासन करें; पर जो यह आदेश करता है कि मनुष्य (व्यक्ति) शासन करे वह (उपर्युक्त तत्त्वों के साथ) पशुतत्त्व को भी सम्मिलित कर देता है। क्योंकि वासना (कामना) इसी प्रकार की (पशुतत्त्व से युक्त) वस्तु है; तथा राजस् भावना भी पदाधिकारी को विकृत कर देती है चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ व्यक्ति क्यों न हो। अतः नियम की परिभाषा (यह है) कि वह कामना (वासना) से रहित विवेक है।

अन्य कलाओं (विद्याओं) के साथ तुलना (उदाहरणार्थ वैद्यविद्या के साथ तुलना) करना झूठी बात है। स्पष्ट ही पुस्तक में लिखे के अनुसार किसी का उपचार करना बुरी (तुच्छ) बात है तथा ऐसे व्यक्ति की सेवा का उपयोग करना (=डाक्टर की सेवा से लाभ उठाना) कहीं अधिक अच्छा होगा जो वैद्यविद्या को जानता है। (पर हमको यह नहीं भुला देना चाहिये कि वैद्य और राजनीतिज्ञ में मौलिक भेद है), वैद्य

तो मित्रता (अथवा पक्षपात) के कारण विवेक के विरुद्ध कोई भी काम नहीं करेगा, वह तो केवल रोगी को चंगा करके अपना शुल्क उपार्जन करता है; जब कि पदारूढ़ राजनीतिज्ञ बहुत से काम निष्कारण द्वेष अथवा पक्षपातवश होकर किया करते हैं। और यदि रोगी को वैद्य के विषय में यह सन्देह हो जाय कि वह उसके वैरियों से मिलकर लोभवश उस (के जीवन) को नष्ट करना चाहता है तो ऐसी दशा में तो वह पुस्तक के नियमों को पढ़कर उपचार की खोज करना अच्छा समझेगा। और फिर वैद्य लोग स्वयं रोगग्रस्त हो जाते हैं तो अन्य वैद्यों को उपचार के लिये अपने यहाँ बुलाते हैं; और शिक्षक लोग जब किसी कार्य को सीखना चाहते हैं तो अन्य शिक्षकों को बुलाते हैं, क्योंकि उनको ऐसा लगता है कि वे मनोविकारों के वशीभूत हुए स्वयं अपने विषय में निर्णय करते समय सत्य का निर्णय करने की क्षमता नहीं रखते। अतः यह स्पष्ट है कि न्याय की खोज करना एक मध्यस्थ अथवा निष्पक्ष अधिकारी की खोज है और नियम अर्थात् कानून ही वह निष्पक्ष या मध्यस्थ अधिकारी है। तिस पर भी लिखित नियमों की अपेक्षा वे नियम जो परम्परागत रीतियों पर आश्रित होते हैं और अलिखित होते हैं, अधिक महत्वशाली होते हैं तथा उनका संबंध और भी अधिक महत्वपूर्ण विषयों से होता है; जिससे यह तथ्य निष्पन्न होता है कि चाहे मनुष्य का शासन लिखित नियम से अधिक भयरहित हो, तथापि वह परम्पराश्रित अलिखित नियम की अपेक्षा अधिक सुरक्षित नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त, एक व्यक्ति के लिये एक समय, एक साथ अनेक विषयों पर अव्यक्षता पूर्ण दृष्टि रखना सरल काम नहीं है। अतः उसके लिये बहुत से अपने अधीन निचले आधिकारियों को नियुक्त करना आवश्यक होगा। तो फिर क्या इन दो बातों में कोई वास्तविक अन्तर है कि (१) यह अनेक अधिकारी आरंभ से ही सीधे नियुक्त हों (२) अथवा पीछे से एक व्यक्ति के द्वारा चुने जाकर इस प्रकार नियुक्त किये जायँ? और फिर, वह तर्क भी तो है ही जो हम पहले ही स्थापित कर चुके हैं, कि यदि एक अच्छे आदमी को, अन्य लोगों से अधिक अच्छा होने के कारण शासन करने का न्यायोचित अधिकार है तो दो अच्छे आदमी तो एक अच्छे आदमी से अधिक ही अच्छे होंगे। यही बात निम्नलिखित पंक्ति में कही गयी है :—

"दो चलते हों एक साथ" (तो अधिक एक से देखेंगे) (इलियड् १०।१२४) एवं अगामैम्नॉन् की निम्नांकित प्रार्थना भी :—

ऐसे होते दस सुमंत्रणा देनेवाले मुझे, भला। (इलियड् २।३७२)

और आजकल भी कुछ ऐसे अधिकारी होते हैं—जैसे कि न्यायाधीश—जिनको ऐसे प्रसंगों के निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होता है जिनका निर्णय करने में नियम समर्थ नहीं होते; पर यह अधिकार केवल ऐसे ही प्रसंगों तक ही सीमित होता है, क्योंकि इस तथ्य के विषय में किसी को संदेह नहीं है कि नियम (कानून) जिन प्रसंगों का निर्धारण कर सकता है उनके विषय में वह सर्वोत्तम आदेष्टा (शासक) और न्यायकारी होता है। परन्तु क्योंकि कुछ बातें तो नियम की परिधि में सन्निविष्ट हो जाती हैं और कुछ उसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं हो सकतीं, अतएव एक किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था उत्पन्न होती है और यह प्रश्न उठता है कि कौन-सी स्थिति अधिक वरणीय है—श्रेष्ठ नियम का शासन करना या श्रेष्ठ मनुष्य का शासन करना ? जिन अवान्तर विस्तार (तफ़सील) की बातों का समावेश विवेचन की सीमा के भीतर होता है वे स्पष्ट ही ऐसी बातें हैं, जिनके विषय में नियम-निर्माण करना संभव नहीं है । इस तथ्य का निषेध भी कोई नहीं करता कि ऐसी बातों का निर्णय अवश्यमेव मनुष्य के द्वारा किया जाय, वह तो यह चाहते हैं कि उनका निर्णय बहुत-से मनुष्यों द्वारा किया जाय न कि केवल एक व्यक्ति के द्वारा । नियम के द्वारा शिक्षित प्रत्येक व्यक्ति भली प्रकार निर्णय किया करता है; और निश्चय ही यह बात अनोखी प्रतीत होगी कि बहुत से मनुष्यों के बहुत से अंगों की अपेक्षा एक मनुष्य अपने दो नेत्रों से अधिक अच्छा देख सकेगा, दो कानों से अधिक अच्छा सुन सकेगा तथा दो हाथ पैरों से अधिक अच्छा काम कर सकेगा । सच तो यह है कि राजाओं में इस बात का चलन रहा है कि वे (मानों) अपने बहुत से नेत्र, कान, हाथ और पैर बना लेते हैं; क्योंकि वे उन लोगों को अपना सहकारी बना लेते हैं जो उनके तथा उनके शासन के मित्र होते हैं। यह सहकारी लोग राजा के मित्र अवश्य होने चाहिये; यदि वे उसके मित्र नहीं होंगे तो उसकी इच्छा के अनुकूल काम नहीं करेंगे। पर यदि वे उसके एवं उसके शासन के मित्र हुए तो वे उसके समान और सदृश भी होंगे। और इसी कारण यदि वह विश्वास करता हो कि इन (उसके मित्रों) को शासन करना चाहिये तो इसी के समान उसको यह भी विश्वास करना होगा कि जो लोग उसके समान और सदृश हैं उनको भी उसी के समान शासन करना चाहिये ।

लगभग यही वह प्रमुख युक्तियाँ हैं जो राजपद का विरोध करनेवाले लोग प्रस्तुत किया करते हैं ।

टिप्पणियाँ

१. एपीदाम्नस् और औपस् नामक नगर-राष्ट्रों की शासन-पद्धति अल्पजन-तंत्रात्मक थी।

२. अरिस्तू यहाँ व्यक्तिगत शासन की अपेक्षा व्यक्तिनिरपेक्ष शासन की भलाइयों को बतला रहा था। अब वह कहता है कि यदि व्यक्तिगत शासन की उपेक्षा न की जा सके तो अधिकार एक व्यक्ति की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों को दिया जाय।

३. अथेंस में ७ व्यक्तियों का एक नियमरक्षक-मंडल (बोर्ड) होता था जो पुराने कानूनों के पालन पर दृष्टि रखता था और संविधान का उल्लंघन नहीं होने देता था।

४. अथेंस न्यायकर्ता इस प्रकार की शपथ भी किया करते थे।

५. अपनी सदाचारशास्त्र नामक पुस्तक में अरिस्तू ने बतलाया कि मित्रता समान व्यक्तियों में हुआ करती है। संस्कृत में भी एक लोकोक्ति है "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।"

वि० इस प्रस्तुत खंड और पिछले खंड में अरिस्तू इस = विषय का = विवेचन कर रहा है कि वास्तविक शासक कौन हो, राजा अथवा नियम (कानून)। उसने दोनों पक्षों को पूर्ण निष्पक्षता के साथ प्रस्तुत किया है।

अथेन्स में नियम-निर्माण और नियम परिवर्तन का कार्य अत्यन्त सावधानी के साथ किया जाता था। पेरीक्लेस के सुधारों के पश्चात् उपर्युक्त कार्य की विधि निम्न-लिखित थी। प्रतिवर्ष ६ थैस्मोथेते नामक पदाधिकारी नियमों की दशा का निरीक्षण करके उनके विषय में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते थे और यदि नवीन नियम की आवश्यकता होती थी तो उसका प्रारूप भी बना देते थे। यह प्रतिवेदन और प्रारूप विचार और विवेचना के लिये जनपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत होता था। यदि जनपरिषद् भी नवीन नियम निर्माण की आवश्यकता अनुभव करती थी तो उसका प्रस्ताव न्याय-कर्ताओं के मध्य में से चुने हुए नियमरक्षक मंडल के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यदि ये लोग नवीन नियम की आवश्यकता के विषय में आश्वस्त हो जाते थे तब नया नियम स्वीकृत होता था।

१७

समाजों का स्वभाव और तदनुकूल शासन-पद्धतियाँ

पर स्यात् उपर्युक्त उपाय किन्हीं प्रसंगों (किसी समाज) में तो ठीक ठीक घटेंगे पर अन्य कुछ प्रसंगों में ठीक नहीं होंगे। एक समाज स्वभावतः प्रभुशासन (= वह

शासन जो दासों का स्वामी दासों पर चलाता है) के लिये उपयुक्त होता है, दूसरा राजशासन के, और तीसरा व्यवस्था-शासन के लिये; तथा न्यायोचित और उपयोगी (=श्रेयस्कर) वात भी यही है कि प्रत्येक समाज का शासन उसके स्वभाव के अनुकूल हो। पर ऐसा कोई समाज नहीं है जो स्वभावतः तानाशाही प्रकार के शासन अथवा अन्य किसी विकृत व्यवस्था पर आश्रित शासन के लिये उपयुक्त हो। जो समाज ऐसे शासनों द्वारा शासित हैं वे अस्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये हैं।[1] पर जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह तो स्पष्ट है कि जिस मनुष्य-समाज में सब व्यक्ति एक से और समान हों उसमें यह वात न तो श्रेयस्कर होगी और न न्यायोचित, कि एक मनुष्य सर्वोपरि सत्ताशाली वन जाय। फिर चाहे भले ही नियम न हों, और एक अकेला व्यक्ति स्वतः नियमरूप से शासन कर रहा हो, अथवा नियमों की सत्ता हो भी, तो भी उपर्युक्त कथन की सत्यता में अन्तर नहीं पड़ता। यह कथन तव भी सत्य रहेगा जव कि एक भला आदमी अनेक भले आदमियों पर शासन करता हो अथवा एक वुरा आदमी वहुत से वुरे आदमियों पर, और तव भी ठीक होगा जव कि अकेला शासन करनेवाला सद्गुण (=सद्वृत्ति) में दूसरों से वढ़कर हो; पर यदि उसका सद्गुण विशिष्ट प्रकार का (अनन्यसामान्य) हो तो दूसरी वात है। किस विशिष्ट प्रकार का हो यह विचारणीय है।—यद्यपि इस विपय का कथन पहले भी एक प्रकार से किया जा चुका है।

सव[2] से पहले यह निर्धारित किया जाना चाहिये कि किस स्वभाव के मनुष्य (अथवा किस प्रकार का समाज) प्रकृत्या राजकीय शासन के लिये उपयुक्त हैं, तथा किस प्रकार के व्यक्ति श्रेष्ठजनतंत्र के लिये उपयुक्त एवं कौन से वैधानिक शासन के योग्य हैं। राजकीय शासन के लिये उपयुक्त वह जनसमूह होता है जो स्वभाव से ही ऐसे कुल को जन्म देने की योग्यता रखता है जो राजनीतिक नेतृत्व की क्षमता में प्रमुख हो। श्रेष्ठजन-शासन के लिये उपयुक्त समाज वह है, जो ऐसे जनवर्ग को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखता है जो स्वतंत्रजनों के रूप में (स्वतः स्वतंत्र होते हुए स्वतंत्र जनों के अनुरूप) ऐसे मनुष्यों द्वारा शासित होने की योग्यता रखते हैं जो राजनीतिक (=नाग-रिक) शासन के लिये आवश्यक नेतृत्व-गुण से संपन्न हों। (तथैव) वैधानिक शासन के लिये उपयुक्त समाज वह है जिसके अन्तर्गत प्रकृत्या ही एक ऐसा योद्धा-जनों का वर्ग विद्यमान रहता है, जो संपन्न जनों में उनकी पात्रता के अनुसार शासनपदों को वित-रण करनेवाले नियम के अनुसार पर्यायक्रम से शासित हो सकते हैं और शासन कर सकते हैं।[3] जव कोई पूरा कुल (गण) अथवा केवल एक व्यक्ति भी ऐसा हो जाय कि उसकी योग्यता इतनी उच्च हो कि अन्य सव लोगों की योग्यता से वढ़कर हो, तो यह

न्यायोचित बात है कि यह कुल राजकुल बना दिया जाय और सर्वोच्च सत्ता से समन्वित हो अथवा वह एक व्यक्ति ही राष्ट्र का राजा एवं सर्वोपरि-सत्ताधारी शासक बना दिया जाय (अथवा हो)। क्योंकि, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उनको (उसको) अधिकार सौंप देना केवल न्यायानुकूल ही नहीं है; न्यायोचितता की युक्ति तो ऐसी है जिसको सभी प्रकार की शासन-पद्धतियों के संस्थापक प्रस्तुत किया करते हैं—चाहे वह पद्धति श्रेष्ठजनतंत्र हो, चाहे धनिकतंत्र अथवा चाहे जनतंत्र ही क्यों न हो; इन सभी पद्धतियों को उत्तमता का दावा तो समान रूप से मान्य है, पर सब में उत्तमता का प्रकार एकमेवाद्वितीय नहीं है—प्रत्युत इस (श्रेष्ठ कुल अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति के) प्रसंग में तो एक वह विशेष युक्ति भी है जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं—अर्थात् ऐसा होना समुचित है। क्योंकि इस प्रकार व्यक्ति को मार डालना, निर्वासित कर देना, अथवा बहिष्कृत कर देना तो निश्चय ही उचित नहीं हो सकता।[३] इसी प्रकार न यही उचित होगा कि पर्यायक्रम की शासन-प्रणाली में उसको शासित होना पड़े। अवयव प्रकृत्या ही अवयवी से बढ़कर नहीं होता, तथा जो व्यक्ति अन्य लोगों की अपेक्षा उत्तमता में इतना प्राधान्य रखता है उसका उनके साथ अवयवी और अवयव के तुल्य संबंध होता है। यदि ऐसा है तो केवल एक यही विकल्प शेष रह जाता है कि उसको सबकी विधेयता प्राप्त हो और बिना किसी प्रकार सीमा और परिमिति के सर्वोच्च सत्ता उपलब्ध हो—पर्यायक्रम से (अथवा अंशतः) नहीं। राजकीय शासन और उसके विभिन्न प्रकारों के विषय में तथा उसी के संबंध में यह जो प्रश्न हैं कि यह पद्धति राष्ट्रों के लिये हितकर हैं अथवा नहीं ? यदि हितकर है तो किन राष्ट्रों (समाजों) के लिये ? और किस प्रकार ? इन सबके विषय में हमारे निर्णय यही (उपर्युक्त) हैं।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू को भी अन्य सद्बुद्धिसंपन्न मनीषियों के समान यह विश्वास है कि मनुष्य और मानवसमाज स्वभाव से भला ही होता है। हाँ, विशेष परिस्थितियों में इनमें विकार आ सकता है।

२—२. यह सब वाक्य एक समस्या हैं। किसी किसी के मत में यह क्षेपक हैं। अन्तिम वाक्य की जटिलता को सुलझाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। संभवतया यहाँ अरिस्तू ने उस सिद्धान्त का पूर्वाभास सूत्ररूप में दिया है जिसको उसने चतुर्थ पुस्तक के १३ वें खंड में विस्तार से समझाया है। अरिस्तू के मत में युद्धकला में परिवर्त्तन होने से शासन-पद्धतियों में भी परिवर्तन हो जाता है तथा व्यवस्था "पौलितेइया" नामक

शासन-पद्धति का संबंध भारी हथियारधारी पदाति सेना से है। ऐसी शासन-व्यवस्था जो व्यक्ति इतने पैसेवाले होंगे कि अपने को कवच और हथियारों से लैस कर सकें पद और सम्मान उन्हीं के मध्य में वितरित होंगे तथा जो उनमें अधिक योग्य होंगे उनको और भी विशेष पद और सम्मान प्राप्त होगा।

३. उचित ही नहीं प्रत्युत प्रकृति अथवा परमेश्वर के दिये हुए वरदान का तिरस्कार करना होगा। पर मानव-समाज ने सॉक्रातेस्, क्राइस्ट, लिंकन तथा गांधी के साथ किया ऐसा ही है।

१८

सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति

अतः हमने यह निर्धारित किया है कि सम्यक् प्रकार की व्यवस्थाओं के तीन भेद हैं और इनमें भी अवश्यमेव सर्वोत्तम वह व्यवस्था होगी जिसका प्रबंध श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा किया जाता है; तथा जिसमें संयोगवश, एक व्यक्ति, अथवा एक गण (या कुल) अथवा कुछ मनुष्यों का समूह ऐसा होता है जो अन्य सब मनुष्यों की समष्टि से गुणों में बढ़कर होता है, और शासित एवं शासक दोनों ही परम वांछनीय प्रकार के जीवन की उपलब्धि के लिये समर्थ होते हैं। इस विवेचन के आरंभ में हमने यह भी दिखलाया था कि भले आदमी का सद्गुण (सद्वृत्ति) अवश्यमेव श्रेष्ठ राष्ट्र के नागरिक के सद्गुण (सद्वृत्ति) से अभिन्न है।[१] अतः यह स्पष्ट है, जिन उपायों और साधनों से मनुष्य नेक बन जाता है उन्हीं उपायों और साधनों से वह नगर (—राष्ट्र) की भी स्थापना करेगा, फिर चाहे उसका शासन श्रेष्ठ जनतंत्र पद्धतिवाला हो अथवा राजकीय पद्धतिवाला। और इस प्रकार वह शिक्षा और काम करने की आदतें जो अच्छे आदमी का निर्माण करती हैं, सामान्यतया वही होंगी जो कि एक अच्छा राजनीतिज्ञ[२] और अच्छा राजा भी निर्माण करेंगी।

इन विषयों का निर्णय हो जाने के उपरान्त हमको श्रेष्ठ प्रकार की व्यवस्था के विवेचन का प्रयत्न करना चाहिये और यह बतलाना चाहिये कि किस प्रकार की अवस्थाओं में उसका प्रादुर्भाव हुआ करता है और उसकी स्थापना किस प्रकार की जा सकती है? इस विषय का सम्यक् प्रकार से अनुसंधान करने के लिये यह आवश्यक है[३] ..... (कि परम वांछनीय जीवन के स्वरूप का निर्णय हो जाय।)

टिप्पणियाँ

१. नगर की उत्पत्ति और विकास का वर्णन करते हुए अरिस्तू ने बतलाया था कि परिवार, ग्राम और नगर का क्रम-विकास बिलकुल स्वाभाविक है। मनुष्य भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति और सुरक्षा की उपलब्धि से प्रेरित होता हुआ छोटे से संघटन से आरंभ करके उत्तरोत्तर महत्तर समाजों और संघटनों का विकास करता जा रहा है। पर जैसे जैसे संघटनों का विकास होता गया वैसे ही वैसे मानव-जीवन का उद्देश्य भी विकसित होता गया। नगर में मानव को अनुभव हुआ कि उसके जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही नहीं रुक सकता। मानव-जीवन का लक्ष्य अच्छे जीवन की उपलब्धि है। पर देखा गया कि व्यक्ति के जीवन की श्रेष्ठता और नागरिक के जीवन की श्रेष्ठता सब प्रकार की नागरिक शासन-पद्धतियों में अविरोधी नहीं होतीं। अतएव इस बात की खोज आरंभ हुई कि क्या कोई ऐसी शासन-व्यवस्था हो सकती है जिसमें श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन और श्रेष्ठ नागरिक के जीवन का विरोध मिट जाय? इस प्रश्न का उत्तर अरिस्तू ने इस खंड में दिया है।

२. मूल में "पौलितिकौस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद "स्टेट्समैन" किया गया है। हिन्दी में इसके लिये राजनयिक शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। यहाँ अरिस्तू ने एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की है जो श्रेष्ठ जनों के आदर्श श्रेष्ठ जनतंत्र (अरिस्तोक्रातिया) में अपने समान व्यक्तियों में शासन-कार्य चलाता है। ऐसे शासन में श्रेष्ठ मानव और श्रेष्ठ नागरिक के गुणों में कोई विरोध संभव नहीं है।

३. इस खंड की समाप्ति एक खंडित वाक्य से होती है। कुछ आलोचक इस खंड के अन्त अथवा समग्र खंड को ही प्रक्षिप्त मानते हैं। पर यह विचित्र संयोग है कि इस खंड के अन्तिम शब्द ठीक इसी प्रकार सातवीं पुस्तक के आरंभ में दोहराये गये हैं। पर यहाँ पर जो राजकीय शासन अथवा श्रेष्ठ जनतंत्र को आदर्श व्यवस्था के रूप में वर्णित किया है उसकी संगति ७वीं और ८वीं पुस्तक से नहीं बैठती। हाँ, तृतीय पुस्तक के ७वें खंड से इसका मेल अवश्य है। उस खंड में अविकृत शासन-पद्धतियों में राजकीय शासन-पद्धति और श्रेष्ठ जनतंत्र को प्रथम और द्वितीय स्थान दिया गया है।

चतुर्थ पुस्तक

१

विज्ञान एवं राजनीति-विज्ञान

सभी ऐसी कलाओं और विद्याओं में, जो किसी विषय का अंशतः प्रतिपादन करते हुए उत्पन्न नहीं होतीं प्रत्युत जो कि उस विषय को पूर्णतया व्याप्त कर लेती हैं, यह प्रत्येक कला अथवा विद्या का अपना कार्यक्षेत्र होना है कि वह उन सब बातों का विचार करे जिनका उसके अपने विशिष्ट विषय से संबंध है। उदाहरण के लिये शारीरिक व्यायाम की कला को यह विचार करना होता है कि किस प्रकार के शारीरिक गठन के लिये किस प्रकार की व्यायाम-शिक्षा ठीक होगी; और यह भी कि किस प्रकार की शिक्षा एकान्ततः श्रेष्ठ होगी। क्योंकि जो एकान्ततः श्रेष्ठ प्रकार की व्यायाम-शिक्षा होगी वह ऐसे शरीरगठन के लिये अवश्यमेव सर्वोत्तम होगी जो प्रकृति से सर्वविध वरदान पाये हुए हैं तथा जिसको श्रेष्ठ साधन-सामग्री भी प्राप्त है। उसको ऐसे सर्व-सामान्य व्यायाम-शिक्षण का भी विचार करना होगा जो अधिकांश मनुष्यों के लिये उपयुक्त हो; क्योंकि यह भी व्यायाम-कला का ही एक भाग (अथवा समस्या) है। इतना ही नहीं, प्रत्युत ऐसे भी आदमी हो सकते हैं जो कि शरीर के श्रेष्ठ स्वास्थ्य और उतनी योग्य चतुरता की कामना न करते हों जितनी कुश्तियों के लिये आवश्यक होती है, फिर भी व्यायाम-शिक्षक को उपर्युक्त प्रकार की शिक्षा से कुछ घटकर प्रकार की शिक्षा—जिससे सामान्य शारीरिक क्षमता प्राप्त हो सके—देने में समर्थ होना चाहिये।[1] ठीक इसी प्रकार के सिद्धान्त वैद्यविद्या (औषधि-विज्ञान), नौका-निर्माण, वस्त्र-निर्माण इत्यादि के क्षेत्रों और अन्य सब कलाओं के क्षेत्रों में भी प्रत्यक्षतया लागू होते हुए उपलब्ध होते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि राजनीति को भी, जो कि इसी प्रकार की एक व्यावहारिक विद्या है, इसी प्रकार व्यापक होना चाहिये। इसको यह विचार करना होगा कि कौन-सी शासन-पद्धति श्रेष्ठ है और यदि बाहर की विघ्न-बाधाएँ न हों तो हमारी आकांक्षा (प्रार्थना) के आदर्श के समीपतम पहुँचने के लिये उसको कैसा (किन गुणों से युक्त) होना चाहिये; तथा यह भी विचार करना होगा कि किस प्रकार की व्यवस्था

किस प्रकार के जनसमूह से मेल खाती है। और क्योंकि अधिकांश साधारण राष्ट्रों के लिये श्रेष्ठ शासन-पद्धति को उपलब्ध कर लेना स्यात् संभव नहीं होता, अतएव भले नियम-निर्माता और सच्चे राजनीतिज्ञ को अपनी दृष्टि न केवल एकान्ततः सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति पर ही रखनी चाहिये, प्रत्युत उस पद्धति को भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिये जो किसी वास्तविक परिस्थिति में श्रेष्ठ हो। इसके अतिरिक्त (राजनीति-शास्त्र) को ऐसी शासन-व्यवस्था का भी विचार करना होगा जो विशिष्ट परिकल्पित अवस्थाओं पर आश्रित होती है। अर्थात् राजनीति के विद्यार्थी को यह भी निरीक्षण कर सकने के योग्य होना चाहिये कि (कोई) अमुक व्यवस्था किस अवस्था में विद्यमान है, मूलतः उसकी उत्पत्ति किस प्रकार से हुई तथा किस प्रकार से वह सुदीर्घकाल तक सुरक्षित रह सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस कल्पित नगर-राष्ट्र का हम विचार कर रहे हैं वह ऐसा है कि न तो उसकी व्यवस्था (विधान) ही श्रेष्ठ शासन करने के योग्य है और न उसको उन परिस्थितियों का सद्भाव प्राप्त है जो आदर्श व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं, न जो विद्यमान परिस्थितियों में ही सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था कही जा सकती है, प्रत्युत जिसकी व्यवस्था एक घटिया प्रकार की व्यवस्था है।

इन सब के परे राजनीतिशास्त्र (अथवा राजनीतिज्ञ) को ऐसे प्रकार की व्यवस्था की भी जानकारी प्रदान करनी चाहिये जो सामान्यतया सभी नगरों के लिये समुपयुक्त हो; क्योंकि राजनीति के विषय का प्रतिपादन करनेवाले बहुत से लेखक---यद्यपि अन्यथा वे बहुत अच्छी बातें करते हैं---व्यावहारिक (उपयोगिता की) बातों में असफल हो जाते हैं। हमको केवल श्रेष्ठ व्यवस्था का ही विचार नहीं करना चाहिये, प्रत्युत ऐसी व्यवस्था का भी विचार करना चाहिये जो व्यावहारिक (अथवा संभाव्य) भी हो एवं जो समानरूपेण प्रायः सभी राष्ट्रों द्वारा अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त करने के योग्य हो। कुछ (लेखक) लोग ऐसे हैं जो केवल सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था के अनुसंधान में ही लगे रहते हैं, ऐसी व्यवस्था के लिये (बहुत से प्रारंभिक) साधनों की आवश्यकता होती है। दूसरे लोग अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए भी अधिकांश विद्यमान व्यवस्थाओं को तिरस्कृत करके या तो लाकैदायमॉन् (=स्पार्टा) की व्यवस्था की, अथवा अन्य किसी एक व्यवस्था की प्रशंसा करते हैं। प्रस्तावित की जानेवाली व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसको मनुष्य अत्यन्त शीघ्रता और सरलता से अपनी विद्यमान व्यवस्था पर आरोपित करने और अङ्गीकार करने के लिये मनाये जा सकें। क्योंकि प्रारंभ से ही नयी व्यवस्था के निर्माण की अपेक्षा पुरानी

व्यवस्था को सुधारने का कार्य भी कुछ कम कठिन नहीं है, जैसे कि किसी सीखी बात को भुला देना, नये सिरे से सीखने की अपेक्षा कम कठिन नही होगा। अतएव जैसा कि पहले कहा जा चुका है राजनीतिज्ञ को उपर्युक्त योग्यताओं के अतिरिक्त विद्यमान व्यवस्था की (सुधार द्वारा) सहायता करने की क्षमता भी रखना चाहिये। परन्तु ऐसा वह तब तक नहीं कर सकता जब तक वह यह न जानता हो कि शासन-व्यवस्था के कितने विभिन्न प्रकार होते है। प्राय: लोगों का विचार यह है कि जनतंत्र-पद्धति का एक ही प्रकार है और एक ही प्रकार धनिकतंत्र (या अल्पजनतंत्र)-पद्धति का भी है। पर यह विचार सत्य नही है। इस भ्रान्ति के परिहार के लिये यह बात ध्यान से ओझल नहीं होनी चाहिये कि व्यवस्थाओं के कितने भेद होते हैं, उनकी संख्या कितनी है, तथा वे कितने प्रकारों से संघटित (अथवा सम्मिश्रित) होती है।

इसी राजनीतिक बुद्धिमत्ता के द्वारा, राजनीतिज्ञ को यह भी विदित होने लगेगा कि कौन से नियम सर्वश्रेष्ठ हैं तथा कौन से प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था के लिये समुचित हैं। क्योंकि नियम ही विधान-सापेक्ष्य होने चाहिये,—जैसे कि वे व्यवहार मे सर्वदा होते भी हैं—न कि विधान नियम-सापेक्ष्य होने चाहिये। विधान (की परिभाषा यह है कि वह) किसी राष्ट्र के अन्तर्गत शासक पदों की व्यवस्था है, जिसके द्वारा उन पदों का वितरण निर्धारित किया जाता है, यह निर्णय किया जाता है कि राष्ट्र में सर्वोच्च सत्ता क्या (कौन) होगी, और यह निश्चित किया जाता है कि प्रत्येक समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्य क्या होना चाहिये। परन्तु नियम (= कानून), जो कि विधान से स्पष्ट ही पृथक् होते हैं, वह नीति हैं जिनके अनुसार शासक लोग शासन-कार्य करते हैं और अपराधियों की चौकसी और रोकथाम करते है।[3] इस (विधान और नियम की परिभाषा) से यह स्पष्ट है कि कम-से-कम नियम निर्धारित करने के लिये ही हमको विधानों (व्यवस्थाओं) के विविध प्रकार और उनकी संख्या अवश्यमेव जानना चाहिये। क्योंकि एक ही नियम-संग्रह सब धनिकतंत्रों अथवा सब जनतंत्रों के लिये समानरूपेण उपयोगी नहीं हो सकता, कारण कि जनतंत्र शासन-पद्धति भी एक प्रकार की नहीं अनेक प्रकार की होती है और धनिकतंत्र-पद्धति भी केवल एक ही प्रकार की नहीं होती।

टिप्पणियाँ

१. इस विवरण के अनुसार राजनीति की कला और विद्या के भी चार कार्य होंगे—(१) यह मालूम करना कि किस प्रकार के नागरिक-समाज के लिये किस प्रकार की

शासन-व्यवस्था ठीक होगी; (२) यह पता लगाना कि श्रेष्ठ समाज के लिये श्रेष्ठ शासन-पद्धति कौन होगी; (३) ऐसी शासन-पद्धति को ज्ञा.त करना जो सामान्य-रूपेण अधिकांश समाजों के लिये उपयुक्त हो और (४) ऐसी शासन-व्यवस्था का पता लगाना जो श्रेष्ठ से कुछ घटकर हो तथा ऐसे समाजों के लिये उपयुक्त हो जो आदर्श से कुछ नीची व्यवस्था से सन्तुष्ट रहनेवाले हों।

२. अरिस्तू की राजनीति की चतुर्थ, पंचम और षष्ठ पुस्तकें राजनीति के व्यावहारिक पक्ष का ही प्रतिपादन करती हैं।

३. अरिस्तू की यह परिभाषाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

२

विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ

नगर-व्यवस्थाओं के अपने पूर्व विवेचन में हमने सम्यक् प्रकार की व्यवस्था के तीन विभाग किये थे—राजतंत्र, श्रेप्ठजनतंत्र और विधानतंत्र; और इनमें से प्रत्येक के संवादी विकृत रूप भी तीन ही बतलाये थे—राजतंत्र का तानाशाही, श्रेप्ठजनतंत्र का धनिकतंत्र, विधानतंत्र का जनतंत्र। श्रेप्ठजनतंत्र और राजतंत्र का प्रतिपादन तो किया जा चुका। श्रेप्ठ व्यवस्था का प्रतिपादन करना, और ऊपर नामांकित दोनों व्यवस्थाओं को वर्णन करना, यह दोनों एक ही बात है क्योंकि दोनों ही व्यवस्थाओं का लक्ष्य ऐसी भलाई (सद्वृत्ति) है जो स्व-व्यवहार के लिये आवश्यक (वाह्य) उपकरणों से सज्जित होती है। इसके आगे हमने यह भी पहले निर्धारित कर लिया है कि श्रेप्ठ-जनतंत्र और राजतंत्र किस बात में एक दूसरे से भिन्न हैं, और कब राजतंत्र की स्थापना की जानी चाहिये। अब केवल विधानतंत्र का वर्णन करना शेप रह गया है जो सब विधानों (अथवा व्यवस्थाओं) के सामान्य नाम द्वारा निर्दिप्ट किया जाता है और (विकृत व्यवस्थाओं के अन्तर्गत) धनिकतंत्र, जनतंत्र और तानाशाही का वर्णन शेप रह गया है।

यह तो स्पप्ट ही है कि कौन-सी पद्धति इन विकृत पद्धतियों में निकृप्टतम है और कौन बुराई में दूसरे स्थान पर आती है। वह पद्धति जो सम्यक् प्रकार की पद्धतियों में से श्रेप्ठतम और दिव्यतम पद्धति का विकृत रूप है वही अवश्यमेव निकृप्टतम है। राजतंत्र अवश्य ही या तो कोरा नाम मात्र होगा अन्यथा वह राज्यकर्ता (राजा) की महान् व्यक्तिगत उत्तमता के आधार पर आश्रित होगा। अतएव तानाशाही

पद्धति (जो कि राजतंत्र का विकृत रूप है) सबसे निकृष्ट और विकृत पद्धतियों में सम्यक् प्रकार की पद्धति से सबसे अधिक दूरस्थ रूप होगी। (विकृत पद्धतियों में दूसरा स्थान धनिकतंत्र को प्राप्त है, क्योंकि यह श्रेष्ठजनतंत्र से बहुत दूर पर स्थित है; और इनमें सबसे अधिक मध्यस्थितिवाली पद्धति जनतंत्र-पद्धति है (जो सबसे कम बुरी है)।

मेरे एक पूर्ववर्ती (लेखक प्लातोन ने अपनी 'पौलितिकस्'[1] नामक रचना में) पहले ही इन विचारों का प्रतिपादन कर दिया है, पर उसका दृष्टिकोण वही नहीं है जो मेरा है। उसने यह निर्धारित किया है कि सभी व्यवस्थाओं के अच्छे प्रकार भी होते हैं (और बुरे भी); उदाहरण के लिये धनिकतंत्र का अच्छा प्रकार भी हो सकता है (और बुरा भी); इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने जनतंत्र के अच्छे प्रकार को अच्छे व्यवस्था-प्रकारों में सबसे बुरा कहा है और उसके बुरे प्रकार को बुरे व्यवस्था-प्रकारों में श्रेष्ठ माना है। इसके विपरीत हमारा कहना यह है कि यह दोनों व्यवस्थाएँ (=धनिकतंत्र और जनतंत्र) सदोष (=त्रुटिपूर्ण) हैं; तथा यह कहना शोभन नहीं है कि धनिकतंत्र का एक प्रकार दूसरे से अधिक अच्छा है, प्रत्युत यही कहना ठीक है कि एक प्रकार दूसरे से कम बुरा है।

पर इस विषय (अर्थात् व्यवस्थाओं की अच्छाई-बुराई के तारतम्य) को इस समय छोड़ सकते हैं। हमको तो सबसे पहले यह निर्धारित करना चाहिये कि सब व्यवस्थाओं के कितने विभिन्न प्रकार होते हैं, क्योंकि जनतंत्र और धनिकतंत्र के अनेकों प्रकार होते ही हैं। तदनन्तर यह निश्चय करना है—सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यवस्था को छोड़कर—ऐसी कौन-सी व्यवस्था है जो सामान्यतया अधिकतम ग्रहणीय और वरिष्ठ हो, तथा यह भी देखना है कि क्या उसके अतिरिक्त कोई और भी ऐसी व्यवस्था उपलब्ध हो सकती है जो श्रेष्ठजनतंत्रात्मक और सुघटित हो, पर साथ ही साथ बहुत से नगर-राष्ट्रों के लिये उपयुक्त हो। और तत्पश्चात् अन्य पद्धतियों के विषय में यह निर्णय करना है कि कौन सी पद्धति किस प्रकार (के समाज-संस्थान) के लिये वांछनीय है। उदाहरणार्थ यह नितान्त संभव है कि किन्हीं संस्थाओं की आवश्यकताओं के लिये धनिकतंत्र की अपेक्षा जनतंत्र अधिक उपयुक्त हो और दूसरी संस्थाओं के लिये जनतंत्र की अपेक्षा धनिकतंत्र। इसके आगे हमको यह विचार करना है कि जो व्यक्ति इन व्यवस्था-प्रकारों में से किसी की स्थापना करने की इच्छा रखता है—चाहे तो वह प्रकार जनतंत्र के प्रकारों में से कोई हो, या चाहे फिर धनिकतंत्र के अवान्तर भेदों में से—उसको किस पद्धति से यह कार्य आरंभ करना चाहिये। और इन सबके अन्त में, जब

कि हम इन विषयों का यथाशक्ति संक्षिप्त विवेचन कर चुकें, हम इस विषय से भिड़ने का प्रयत्न करें कि समष्टिरूपेण (अथवा सामान्यरूपेण) एवं व्यष्टिरूपेण (अथवा पृथक् पृथक्) व्यवस्थाओं का विनाश और संरक्षण किस प्रकार हुआ करता है, तथा किन कारणों के द्वारा ऐसे परिणाम विशेषतया घटित हुआ करते हैं।[२]

टिप्पणियाँ

१. प्लातोन की रचना "पौलितिकस्" एक छोटी सी पुस्तक है। राजनीति के विषय में प्लातोन की बड़ी रचनाएँ पौलितेइया (रिपब्लिक) और नैमॉस् (नियम) हैं। पौलितिकस् में प्लातोन ने शासन-व्यवस्थाओं का निम्नलिखित विभाजन किया है।

(१) परिपूर्ण ज्ञान पर आश्रित सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था (जो पौलितेइया में वर्णित है)।

(२) नियमों के अनुसार चलनेवाली व्यवस्थाएँ।

- (क) एकराट्तंत्र अथवा नियमव्यवस्थित राजतंत्र। मौनार्किया।
- (ख) अल्पसंख्यक सत्पुरुषों का शासन। अरिस्तौक्रातिया।
- (ग) बहुसंख्यक-जनशासन। दैमौक्रातिया।

(३) अनियंत्रित शासन-व्यवस्थाएँ--

- (क) एक व्यक्ति की तानाशाही। तिरान्निया।
- (ख) अल्पसंख्यक धनिकतंत्र। (औलिगार्कि(खि)या।
- (ग) बहुसंख्यक जनतंत्र। परले सिरे का जनतंत्र।

२. इस खंड में अरिस्तू ने यह बतलाया है कि वह आगे अपने विषय का किस प्रकार विकास करने का विचार कर रहा है। पर उसने (जैसा कि आगे चलने पर पता चलेगा इस योजना के अनुसार विषय का विवरण उपस्थित नहीं किया है। इस प्रकार की स्थिति उसकी रचनाओं में प्रायः देखने को मिलती है।

३

(राष्ट्रों में मिलनेवाले विविध तत्त्व)

शासन-व्यवस्थाओं के इतने बहुत से प्रकार होने का कारण यह है कि सभी राष्ट्रों में बहुत से विभिन्न तत्त्व (=अंश, भाग) होते हैं। सबसे प्रथम तो हम यह देखते हैं कि सभी राष्ट्र गृहस्थियों के समूहों से मिलकर बनते हैं। फिर इसके पश्चात् यह जन-समूह अवश्यमेव धनवान्, निर्धन और मध्यवित्तवाले वर्गों में विभक्त होगा। धनवान् और निर्धनों में से धनवान् तो भारी शस्त्र-सज्जा से समन्वित होंगे पर निर्धन नहीं होंगे।

साधारण प्रजाजन विभिन्न व्यापारों में संलग्न होंगे---कुछ कृषक, कुछ व्यवसायी तथा कुछ शिल्पी होंगे। और जो विख्यात (सम्भ्रान्त) जन हैं उनमें भी भेद होंगे, एवं यह भेद उनकी धन और सम्पत्ति की मात्रा पर आश्रित रहनेवाले होंगे, यथा अश्वपालन कार्य, जो यदि वे धनवान् न हों तो उनके लिये सरल काम नहीं है। और इसी कारण प्राचीन काल में जिन नगर-राष्ट्रों की शक्ति अश्वारोही सेना में निहित थी वे धनिकतंत्रात्मक राष्ट्र थे, तथा यह राष्ट्र अपनी अश्वारोही सेना का उपयोग अपने पड़ोसी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में किया करते थे। उदाहरणार्थ ऐरेत्रिया[1], खाल्किस्, माइन्द्रा[2] नदी पर बसे मग्नेशिया तथा लघु एशिया के अनेकों नगरों का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। धन के कारण उत्पन्न हुए भेदों के अतिरिक्त इन लोगों में आभिजात्य और गुण-वत्ता (योग्यता) पर आश्रित भेद भी हुआ करते हैं। इनके अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य तत्त्वों पर आश्रित और भी कुछ भेद हुआ करते हैं, जिनका वर्णन हमने श्रेष्ठ-जनतंत्र का विवेचन करते समय नगर-राष्ट्र के मौलिक तत्त्वों की गणना करते हुए किया था एवं जो सब राष्ट्रों (के जीवन) के लिये अनिवार्य है।

इन तत्त्वों से राष्ट्रों का निर्माण होता है; कभी-कभी तो यह सभी तत्त्व शासन-कार्य में भागीदार होते हैं, कभी थोड़ी संख्या में और कभी अधिकांश में। इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि शासन-व्यवस्थाएँ अवश्यमेव अनेक प्रकार की होंगी और वे परस्पर एक दूसरे से रूप में भिन्न होंगी। और ऐसा तो होना ही चाहिये क्योंकि जिन तत्त्वों से राष्ट्रों का निर्माण होता है (तथा जो शासन-पद्धति में भागीदार होते हैं) उनमें भी तो प्रकार-भेद होता है। शासन-पद्धति (= शासन-व्यवस्था) किसी राष्ट्र के शासक-पदों की व्यवस्था को (ही तो कहते हैं।) इस व्यवस्था के अनुसार नागरिक-जन या तो पदों को पानेवालों की शक्ति (=क्षमता) के आधार पर अथवा उन (पदों को पानेवालों) में पाई जानेवाली समानता के आधार पर पदों का वितरण (विभाजन) किया करते हैं, अर्थात् निर्धन अथवा धनवानों की शक्ति के आधार पर, अथवा धनी और निर्धन दोनों वर्गों में पाई जानेवाली समानता के आधार पर पद-विभाजन किया जाता है। इसलिये शासन-व्यवस्थाओं के भेद भी अनिवार्यतया उतने ही होंगे जितने भेद राष्ट्र के घटक तत्त्वों के तारतम्य और भेदों पर आश्रित पद-विभाजन-व्यवस्था के हो सकते हैं।

सामान्यता अधिकांश लोगों का विचार यह है कि शासन-व्यवस्थाएँ केवल दो प्रकार की होती हैं। ठीक जिस प्रकार वायु के (विषय में) सामान्य बोलचाल में

सम्मान अभिजात लोगों के लिये सुरक्षित था जो कि मूल उपनिवेशकारों के वंशधर होने के कारण कुलीन माने जाते थे यद्यपि उनकी संख्या अत्यल्प थी। और न प्रजातंत्र नाम का प्रयोग ऐसी व्यवस्था के लिये किया जा सकता है जिसमें धनिक लोग केवल अधिकसंख्यक होने के कारण शासनसत्ता के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था भूतकाल में कॉलॉफ़ौन[२] में थी जहाँ कि लीडिया[३] के युद्ध से पूर्व अधिकांश जन विशाल सम्पत्तियों के स्वामी थे। परन्तु कोई शासन-व्यवस्था 'प्रजातंत्र' तब होती है, जब स्वतंत्रजन्मा और निर्धन लोग, अधिकसंख्यक होते हुए शासनारूढ़ होते हैं ; एवं धनिकतंत्र तब होती है जब कि धनवान् और अभिजात लोग अल्प-संख्यक होते हुए सत्ताशाली होते हैं।

इस तथ्य का कि शासन-व्यवस्थाएँ बहुत प्रकार की होती हैं, तथा इस अनेकता का कारण, इन दोनों का ही कथन हो चुका। जिन (दो प्रकार की) व्यवस्थाओं का प्रति-पादन हो चुका उनसे अधिक प्रकार की व्यवस्थाएँ क्यों हैं, कौन-सी हैं और उनकी उत्पत्ति कहाँ से (अथवा किसके द्वारा) होती है ; मैं अब इन प्रश्नों का विवेचन पहले ही कहे हुए सिद्धान्त से आरंभ करते हुए करूँगा कि प्रत्येक राष्ट्र के अन्तर्गत एक नहीं अनेकों अंग होते हैं। यदि हमको प्राणियों की विविध जातियों का वर्णन (अथवा वर्गीकरण) करना अभीष्ट हो तो हमको सबसे पहले उन अंगों का पृथक् पृथक् निर्देश करना पड़ेगा जो प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक हैं। उदाहरण के लिये इन अंगों में से कुछ ज्ञानेन्द्रियाँ होंगी, और कुछ भोजन को ग्रहण करने और पचाने का काम करनेवाली इन्द्रियाँ भी होंगी जैसे कि मुख और उदर हैं; इनसे आगे चलकर उनमें गमनेन्द्रिय का भी समावेश होगा जो कि प्रत्येक प्राणी के द्वारा प्रयुक्त होती हैं। अब यदि यह मान लें कि अंगों (इन्द्रियों) के केवल इतने ही प्रकार हैं, और इससे आगे यह भी कल्पना कर लें कि इनके विविध भेद हो सकते हैं—अर्थात् मुख, उदर, ज्ञानेन्द्रिय और गमनेन्द्रिय—इन सबके विविध भेद हो सकते हैं—तो हम इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि इन विविध करणों के सभी संभव संघातों की संख्या अवश्य ही प्राणियों की बहुत-सी जातियों को उत्पन्न (प्रस्तुत) कर देगी। क्योंकि जिन प्राणियों के मुख और कान एक दूसरे से भिन्न हों वह अभिन्न प्राणी नहीं हो सकते। इस प्रकार से अंगों की विविधता से बननेवाले सभी संभव संघात विभिन्न प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति में कारण होंगे, और जीवों की विभिन्न जातियों की संख्या उतनी ही होगी जितने कि आवश्यक अंगों के संभव संघात हो सकते हैं।

ठीक यही बात पूर्व-वर्णित शासन-व्यवस्थाओं के विषय में भी लागू होती है। जैसा कि हमने अनेक बार कहा है, (नगर-)राष्ट्र भी एक अंग से नहीं अनेक अंगों के सम्मिलन से निर्मित होते है। इनमें से एक अंग है भोजन (अन्न) उत्पन्न करनेवाले मनुष्यों का वर्ग जो कृषकवर्ग कहलाता है। दूसरा (अंग) कहलाता है शिल्पकारों का वर्ग, इसका संबंध उन शिल्पों से है जिसके बिना किसी नगर का बसना असंभव है। इन शिल्पों में से कुछ ऐसे होते है जो नितान्त आवश्यक हैं, और कुछ ऐसे होते हैं जो विलासिता अथवा जीवन की सुघड़ता के पोषक होते हैं। तीसरा अंग वह है जिसको व्यापारी वर्ग कह सकते हैं, तथा व्यापारी-वर्ग से मेरा तात्पर्य उन सब लोगों से है जो या तो थोकदारों अथवा रेजगारों के रूप में क्रय-विक्रय के काम में लगे रहते हैं। चौथा अंग बंधुआ चाकरों का है। पाँचवाँ अंग योद्धादल (रक्षकदल) है, और जो वर्ग (यदि किसी राष्ट्र को आक्रान्ताओं का दास न बनना हो तो) पूर्वोक्त चारों वर्गों में किसी से भी कम आवश्यक नहीं है। क्योंकि जो नगर प्रकृत्या दास हो उसको औचित्य के साथ 'नगर' नाम से निर्दिष्ट करना योग्य नहीं है। (नगर-)राष्ट्र स्वाधीन होता है और दास होना स्वाधीनता नहीं है।

इसीलिये (प्लातोन) की 'पॉलितेइया' नामक पुस्तक में नगर के अंगों (अथवा तत्त्वों) का जो वर्णन किया गया है वह चतुरतापूर्ण तो है पर पर्याप्तरूपेण संतोषप्रद नहीं है। सॉक्रातेस ने कहा है कि नगर का संघटन चार नितान्त अनिवार्य अंगों से मिलकर होता है। इनके नाम वह बुनकर, कृषक, चर्मकार तथा वास्तुकार बतलाता है। तत्पश्चात्, क्योंकि यह वर्ग पर्याप्त प्रतीत नहीं होते वह इनके साथ लोहारों तथा (आवश्यक पशुओं की देखभाल के लिये) पशुपालकों के वर्ग को और जोड़ देता है। इनके अतिरिक्त थोक और रेजगारी के व्यापारियों को भी वह बढ़ा देता है। यही सब वर्ग मिलकर प्रथम 'नगर के संपूरक होते हैं,' जैसे मानों नगरी की स्थापना केवल आवश्यकताओं की उपलब्धि के लिये ही हुई हो, न कि सत् की प्राप्ति के लिये अथवा उस (=नगर) को चर्मकार (=जूता बनानेवाले) और कृषक दोनों की समान आवश्यकता हो। पर योद्धावर्ग को तो वह अपने राष्ट्र में उस समय के पूर्व प्रविष्ट नहीं होने देता[1], जब तक कि नगर (राष्ट्र) की भूमि का विस्तार बढ़कर पड़ोसी राष्ट्र की सीमा को चाँपकर दोनों राष्ट्रों को युद्ध में लिप्त नहीं कर देता। तथापि नगर (राष्ट्र) के इन चार (मौलिक वर्गों) में—अथवा जो कुछ भी इन समाजीभूत तत्त्वों की संख्या हो उनमें—कोई व्यक्ति (अथवा तत्व) न्याय-प्रदान करने और न्याय-निर्धारण करने के लिये अवश्य ही होना चाहिये। और यदि प्राणधारियों की आत्मा (=मन) को उनके

शरीर की अपेक्षा अधिक सारभूत तत्त्व माना जाय तो राष्ट्र के पक्ष में भी तत्स्थानीय तत्त्व को उन तत्त्वों की अपेक्षा अधिक आवश्यक मानना चाहिये जो कि उसकी शारीरिक (=स्थूल) आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं; तथा ऐसे तत्त्वों से हमारा तात्पर्य योद्धावर्ग, न्याय की व्यवस्था से संवद्ध वर्ग तथा (राष्ट्र-हित के) चिन्तन में लगे हुए वर्ग से हैं, क्योंकि राजनीतिक सूझ-बूझ का विशेष कार्य यही है। यह तीनों कार्य--(अर्थात् युद्ध, न्याय और राष्ट्रहित-चिन्तन)--पृथक् पृथक् नागरिकवर्गों से संवंध रखते हैं अथवा एक ही वर्ग से, इन दोनों विकल्पों से प्रस्तुत विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसा प्रायः होता है कि एक ही जनवर्ग को युद्ध और कृपि दोनों ही कर्म करने पड़ते हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि यदि यह (उच्च) वर्ग और वह (स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला) वर्ग समानरूपेण राष्ट्र के अंग हों तो स्पष्ट ही कम से कम योद्धावर्ग को तो राष्ट्र का अनिवार्य (आवश्यक) अंग मानना चाहिये।

सातवाँ वर्ग उन लोगों का है जो सम्पत्तिशाली होते हैं तथा अपनी सम्पत्ति से राष्ट्र की सेवा करते ह। आठवाँ वर्ग जनकर्मा (दीम्यूर्गिकों) लोगों का तथा उन लोगों का है जो शासक-पद ग्रहण करके राष्ट्रसेवा करते हैं, क्योंकि शासकों के बिना तो नगर-राष्ट्र की सत्ता ही असंभव है। अतएव कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होने चाहिये जो शासक-पद ग्रहण करने की क्षमता रखते हों तथा या तो निरंतर या वारी वारी से राष्ट्र की सेवा कर सकें। केवल दो ही अंग अव शेष रह जाते हैं जिनका हमने अभी अभी यों ही संयोगात् चलताऊ विवेचन किया था--एक तो राष्ट्र-चिन्तन करनेवाला अंग और दूसरा वह अंग जो न्यायार्थी-अभियोक्ताओं के झगड़ों में न्याय का निर्णय करता है।[४] यदि इन सब अंगों को नगर-राष्ट्रों में वास्तव में होना ही चाहिये और सौष्ठव एवं औचित्य के साथ होना चाहिये, तव तो अवश्यमेव कुछ ऐसे व्यक्ति भी होने ही चाहिये जो राजनीतिक योग्यता से सम्पन्न हों। वहुधा मनुष्यों का यह विचार रहता है कि विभिन्न प्रकार की क्षमताएँ सम्मिलित रूपेण एक ही व्यक्ति में उपलब्ध होना संभव है। उदाहरण के लिये एक ही जनवर्ग योद्धा भी हो सकता है, कृपक भी और शिल्पी भी; फिर इसी प्रकार वही जनसमूह राष्ट्र-चिन्तक भी हो सकता है और न्याय करनेवाला भी। इस राजनीतिक योग्यता से सम्पन्न होने का दम्भ (दावा) तो सभी करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने को वहुत से शासन-पदों को अलंकृत करने के योग्य समझता है। पर एक व्यक्ति का एक साथ निर्धन और धनवान् होना ही एक ऐसी वात है जो असंभव है। इसी कारणवश यह दो वर्ग--सम्पन्न जनों का वर्ग तथा असम्पन्न जनों का वर्ग--विशेप प्रकार से राष्ट्र के दो विस्पष्ट अंग माने जाते हैं।

और फिर इतनी ही बात नहीं है; इनमें से एक अंग के बड़े और दूसरे के छोटे होने के कारण वे एक दूसरे के प्रतिकूल भी प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि (इन अंगों में से जिसका पक्ष सबल हो जाता है) वही पक्ष अपने हित के अनुकूल विधान की स्थापना कर लेता है। तथा यह जो मनुष्य विचार किया करते हैं कि विधान-व्यवस्थाएँ केवल दो ही प्रकार की होती हैं--जनतंत्रात्मक और अल्पजनतंत्रात्मक--इस विचार का भी कारण यही है।

(पर) यह बात पहले ही स्थापित की जा चुकी है कि व्यवस्थाएँ बहुत प्रकार की होती हैं और यह भी बतलाया जा चुका है कि वे किन कारणों से अनेक प्रकार की होती हैं। अब मैं यह बतला दूँ कि जनतंत्र और अल्पजनतंत्र (=धनिकतंत्र) के भी बहुत से प्रकार होते हैं। जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे भी यह बात स्पष्ट हो गयी होगी। यह दोनों व्यवस्थाएँ भी विविध प्रकार की इसलिए होती हैं क्योंकि साधारण जनता और प्रतिष्ठित जनवर्ग दोनों के अन्तर्गत विविधता पायी जाती है। उदाहरण के लिये साधारण जनता में एक जनसमूह कृषकों का है तो दूसरा शिल्पियों का, तीसरा व्यवसायियों का जो क्रयविक्रय के काम में लगा रहता है; एक अन्य जनसमूह सामुद्रिक जीवन से संबंध रखनेवाला है, जिसमें से कुछ नौसैनिक हैं, कुछ सामुद्रिक व्यापारी है, कुछ नौका-वाहक हैं और कुछ मछली पकड़नेवाले। बहुत से स्थानों (=नगरों) में इनमें कोई सा भी एक जनसमूह जनता का एक बहुत बड़ा भाग है; उदाहरण के लिये तारेन्तम[1] और बीज़ान्तियम्[2] में मछुओं, अथीन्स् में नौसैनिक, अइगिना[3] और खियौस्[4] में सामुद्रिक व्यापारी और तैनेदॉस् में नौकावाहक लोगों के समूह जनता के अच्छे बड़े अंग हैं। इन जनसमूहों के प्रकारों के अतिरिक्त एक प्रकार प्रतिदिन के श्रमजीवियों का है और ऐसे मनुष्यों का है जो अल्पवित्त होने के कारण अवकाश भोगने की क्षमता नहीं रखते (अर्थात् जिनको जीविका के लिए निरन्तर परिश्रम करना पड़ता है।) इसके अतिरिक्त इस समूह में वे लोग भी आते हैं जो उभय पक्ष में (माता और पिता के पक्ष में) स्वतंत्र जनों की सन्तान नहीं हैं। इसी प्रकार ऐसे ही अन्य समूह-भेद भी हो सकते हैं। प्रतिष्ठित (अथवा ख्यातिलब्ध) लोगों में भी, संपन्नता, कुलीनता, सद्गुण और शिक्षा-दीक्षा एवं इसी प्रकार के अन्य गुणों के आधार पर प्रकार-भेद हुआ करते हैं।

जनतंत्र का प्रथम प्रकार वह है जो समानता के आधार पर अत्यधिक आश्रित रहता है। लोक के इस प्रकार में नियम (कानून) समानता की यह व्याख्या करता है कि निर्धन लोगों को सम्पन्न लोगों की अपेक्षा अधिक महत्त्व न दिया जाय; (संपन्न

और निर्धन) दोनों में से कोई सर्वशक्तिशाली प्रभु न हों, किन्तु दोनों एक समान हों। (यह नियम अनुमोदन करने के योग्य है),क्योंकि यदि हम यह मानते हों (जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं) कि स्वाधीनता और समानता दोनों मुख्यतया लोकतंत्र में ही उपलब्ध होती हैं, तो यह दोनों सर्वोत्तम प्रकार से तभी उपलब्ध होंगी, जब कि व्यवस्था के अधिकारों में सबको अधिक से अधिक मात्रा में एक समान भाग प्राप्त हो। क्योंकि जन-साधारण की संख्या अधिक होती है, और अधिकांश लोगों का मत ही सर्वोपरि होता है, अतएव इस प्रकार की व्यवस्था अवश्यमेव लोकतंत्रात्मक होनी ही चाहिये। इस प्रकार लोकतंत्र का एक भेद तो यह हुआ। जनतंत्र का दूसरा भेद वह है, जिसमें सम्पत्ति के आधार पर शासन-पदाधिकारियों का चुनाव (=नियुक्ति) किया जाता है पर यह सम्पत्ति-संबंधी विशेषता निम्न मात्रा की ही होती है; जो लोग निर्धारित सम्पत्ति की मात्रा के स्वामी होते हैं उनको शासनपदों में भाग मिलता है, पर जो अपनी सम्पत्ति गँवा देते हैं उनको शासन-कार्य में भी भाग नहीं मिलता। लोकतंत्र का एक और (तीसरा) प्रकार वह है जिसमें सभी निर्दोष व्यक्तियों को शासन-कार्य में भाग मिलता है, परन्तु जहाँ सर्वोपरि शासक-नियम (कानून) ही होता है। एक अन्य (अर्थात् चौथा) प्रकार वह है जिसमें सब किसी को (यदि वह केवल नागरिक=पौरजन हो) शासन में अधिकार प्राप्त होता है; पर इसमें भी सर्वोपरि शासक पूर्ववत् नियम (=कानून) ही होता है। लोकतंत्र का एक और (पाँचवाँ) प्रकार (जो कि अन्य बातों में चौथे के समान होता है) वह है जिसमें कि सर्वोपरि शासक लोकवर्ग होता है, कानून नहीं। ऐसा तब हुआ करता है जब कि लोकादेश सर्वोपरि शक्तिशाली हो जाते हैं और नियमों का प्रभुत्व नहीं रहता। इस प्रकार की स्थिति लोकनायकों के द्वारा उत्पन्न की जाती है। उन प्रजातंत्रों में, जिनका शासन-कार्य नियमों (कानूनों) के अनुसार चलता है, लोकनायक नहीं होते, प्रत्युत श्रेष्ठ श्रेणी के नागरिक ही अध्यक्ष-पद पर आरूढ़ होते हैं। जहाँ कहीं नियम (कानून) सर्वशक्तिमान नहीं होते वहीं लोकनायक उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जनता ही एकराट् हो जाती है—पर यह एकराट्ता मंहत हुए बहुतों के एक संघात की एकराट्ता होती है, जिसमें कि सर्वोपरिसत्ता अनेक के हाथ में रहती है—तथापि यह सत्ता उनके हाथ में व्यक्तिशः नहीं रहती, उनकी समष्टि में निहित रहती है। होमेर ने कहा है, "बहुत जनों का शासन अच्छा नहीं,"[१] परन्तु यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि इससे उसका तात्पर्य बहुतों की समष्टि के शासन से है अथवा अनेक पृथक् पृथक् व्यक्तियों के शासन से है। उसका तात्पर्य कुछ भी रहा हो (वस्तु-स्थिति तो यह है कि) ऐसा जनतंत्र जो कि अब एकराट्तंत्र बन गया है, तथा

नियम (कानून) का वशवर्ती नहीं है, एकच्छत्र शासन करने की चेष्टा करता है और अनियंत्रित शासक बन बैठता है। चापलूसों का सम्मान होने लगता है; और इस प्रकार का लोकतंत्र एकतंत्री तानाशाही के समनुरूप हो जाता है। दोनों का स्वभाव एक समान होता है तथा दोनों ही अच्छे प्रकार के नागरिकों के प्रति अनियंत्रित शासक के समान व्यवहार करते हैं। इस (जनतंत्र) के आदेश उस (तानाशाही शासन) के आज्ञापत्रों के समान होते हैं। जननायक की स्थिति इस प्रकार के लोकतंत्र में वैसी ही होती है जैसी चापलूस व्यक्ति की एकतंत्री तानाशाही में होती है। तथा उभय शासनों में इन दोनों दाक्षिण्यभाजनों का प्राबल्य हो जाता है—तानाशाहों के शासन में चाटुकारों का एवं इस प्रकार के लोकतंत्र में लोकनायकों का। लोकादेशों के सर्वोपरि होने, तथा नियमों के सर्वोपरि न होने के कारण यही (लोकनायक) लोग होते हैं क्योंकि वे सब बातों को जनता के निर्णयार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत कर दिया करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे (लोकनेता) स्वतः महान् बन जाते हैं, क्योंकि सब बातों में जनता सर्वोपरि हो जाती है और जनता की सम्मति (वोट) उनकी मुट्ठी में रहती है, एवं जनसमूह उन्हीं की बात मानता है। इसके अतिरिक्त वे लोग भी जो कि शासकों की निन्दा करते हैं जनता से यही कहते हैं कि उसी को निर्णय करना चाहिये, और जनता तो ऐसे निमंत्रण को सहर्ष (तत्काल) स्वीकार करने को प्रस्तुत रहती ही है। परिणामतः इस प्रकार सभी शासकों का अधिकार विध्वस्त हो जाता है। इस प्रकार की लोकतंत्रात्मक पद्धति के विषय में यह दोषारोपण तो समुचित प्रकार से किया जा सकता है कि यह कोई शासन-व्यवस्था है ही नहीं। (कारण कि) जहाँ नियम का शासन न हो वहां कोई विधान-व्यवस्था नहीं होती। सब विषयों में सर्वोपरि शासन नियमों का ही होना चाहिये, शासकों और जनपरिषदों (लोकसमूहों) को तो व्यक्तिगत (ब्यौरे की) बातों का ही निर्णय करना चाहिये। अतएव यदि जनतंत्र-पद्धति एक प्रकार की शासन-व्यवस्था हो, तो यह विशिष्ट प्रकार का लोकतंत्र, जिसमें सब बातें लोकादेशों से निर्णय की जाती हैं, स्पष्ट ही लोकतंत्र के अधिकृत अर्थ में लोकतंत्र नहीं है। लोकादेशों का सामान्य (व्यापक) होना संभव नही है। जनतंत्र के प्रकारों और उन प्रकारों की परिभाषा के संबंध में इतना ही बस है।

टिप्पणियाँ

१. ऐथियोपिया प्रदेश होमेर के मतानुसार इजिप्ट के दक्षिण में था। पर ऐतिहासिक ऐथियोपियावासी आधुनिक अबीसीनिया से कुछ उत्तर की ओर निवास करते थे। अरिस्तू ने उनके विषय में जो कुछ लिखा है वह सुनी सुनाई बात है।

२. यह नगर लघु एशिया के पश्चिमी तट के मध्य में स्थित था।

३. लीडिया अथवा लीदिया राज्य कॉलॉफौन् के उत्तर में था और इसकी राजधानी सार्दिस् थी। यह एक पुराना राज्य था पर इसकी सीमाओं का ठीक पता नहीं चलता। कहते हैं कि लीदिया ने मुद्रा का चलन सबसे पहले आरंभ किया था।

४. यद्यपि अरिस्तू ने राष्ट्र के दस तत्त्व गिनाये हैं तथापि उसने यह स्पष्टतया नहीं बतलाया कि छठा तत्त्व कौन-सा है।

वि० कुछ आलोचकों के मत में यह नगर-राष्ट्र के दस तत्त्वों का लम्बा विवरण संभवतया प्रक्षिप्त है, अथवा किसी संपादक द्वारा जोड़ दिया गया है।

५. तारेन्तम नगर इटली के दक्षिण में था।

६. बीजान्तियम् बौस्पौरस के यूरोपियन तट पर स्थित एक प्रसिद्ध नगर था।

७. अइगिना एक छोटा द्वीप है जो अथेन्स से दक्षिण पश्चिम की ओर स्थित है।

८. खियौस् भी एक द्वीप है। यह लघु एशिया के पश्चिमी समुद्र-तट के मध्य भाग के पास समुद्र में स्थित है।

९. तुलना कीजिये "नश्यन्ति बहुनायकाः।"

वि० अरिस्तू के दस सामाजिक अथवा नागरिक तत्त्व निम्नलिखित हैं:—

(१) कृषक (२) शिल्पकार (३) व्यापारी (४) बँधुआ चाकर
(५) योद्धारक्षक (६) ? (७) सम्पन्न लोग (८) जनकर्मा
(९) राष्ट्रचिन्तक (१०) न्यायकर्ता।

प्लातोन की "पौलितेइया" में एक स्थान पर सॉक्रातेस् ने नागरिक तत्त्वों का विवेचन उनके ऐतिहासिक उद्‌भव और विकास की दृष्टि से किया है। दूसरे स्थान पर मानव के मानस का त्रिभागात्मक विश्लेषण करके पुनः राष्ट्र के घटकों का विवरण उपस्थित किया है। प्रो० उर्वीक ने इस दूसरे विवेचन को प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित माना है।

जनतंत्र के ५ प्रकार संक्षेप में निम्नलिखित हैं:—

(१) नियमानुमोदित समानता के आधार पर आश्रित।

(२) निम्न मात्रा की संपत्ति की योग्यता के आधार पर पदाधिकार देनेवाला।

(३) जिसमें शासन-कार्य निर्दोष व्यक्तियों के हाथ में होता है पर सर्वोपरि शासक नियम (=कानून) होता है।

(४) जिसमें सर्वोपरि शासक कानून ही होता है, शासन में अधिक सबको प्राप्त होता है।

(५) जिसमें कानून नहीं जनता का आदेश ही सर्वोपरि होता है। इस प्रकार की स्थिति लोकनायकों द्वारा उत्पन्न की जाती है। लोकनायक के लिए मूल में "डेमागोग्" शब्द आया है जिसका अर्थ होता है "जनता का अगुआ"। इन लोगों का उदय अथेन्स में पेरीक्लेस् की मृत्यु के पश्चात् हुआ था। यह लोग पदारूढ़ नहीं होते थे, स्वतंत्र रूप से ही नवीन नीतियों को प्रस्तुत करते थे।

५

अल्पजनतंत्र (औलिगार्किया) के प्रकार

अल्पजनतंत्र के भेदों में से (१) एक भेद वह है जिसमें पदाधिकार की प्राप्ति के लिये इतनी अधिक आर्थिक योग्यता की शर्त लगी रहती है कि निर्धन जनता बहु-संख्यक होते हुए भी राजनीति में भागीदार नहीं हो सकती, पर जो कोई विहित आर्थिक योग्यता को प्राप्त कर ले तो उसको उपर्युक्त अधिकार मिल जाता है। (२) दूसरा भेद वह है, जिसमें पद-प्राप्ति के लिये ऊँची आर्थिक योग्यता की आवश्यकता होती है तथा रिक्त पदों पर इन्हीं उच्च आर्थिक योग्यता रखनेवाले लोगों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों की नियुक्ति हुआ करती है। यदि चुनाव उन सभी व्यक्तियों में से किया जाता है जो आर्थिक योग्यता रखते हैं तो ऐसा विधान श्रेष्ठ लोकतंत्र की ओर झुकता हुआ माना जा सकता है, पर यदि चुनाव केवल सुविधा-भोगी वर्ग में से किया जाता है तो ऐसी व्यवस्था अल्पजनतंत्र (=धनिकतंत्र) ही समझी जाती है। अल्पजनतंत्र का एक (३) अन्य प्रकार तब होता है जब कि पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है। (४) चौथा प्रकार कुलक्रमागत होने में तो उपर्युक्त (तृतीय) प्रकार के ही समान है; पर इसमें नियम शासन नहीं करता, प्रत्युत शासकों का व्यक्तिगत शासन चला करता है। अल्पजनतंत्रों में इस प्रकार का वही स्थान है जो एकतंत्र शासकों में तानाशाही का है अथवा जो जनतंत्रों के मध्य में उस जनतंत्र का है जिसका हमने सबसे पीछे वर्णन किया है। इस प्रकार के अल्पजनतंत्र को दीनास्तेइया (कुलपुत्रतंत्र) कहा जाता है।

अल्पजनतंत्र के और प्रजातंत्र के यही विविध प्रकार हैं। फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रायः वास्तविक जीवन ऐसा होता है कि जो विधान नियमानुसार (कानूनन) जनतंत्रात्मक नहीं होते वे भी लोगों की आदतों और शिक्षा-दीक्षा के कारण जनतंत्रात्मक ढंग से शासित किये जाते हैं; एवं इसके विपरीत अन्य बहुत से राष्ट्रों में नियमानुसार स्थापित व्यवस्था का झुकाव भले ही जनतंत्र की ओर हो तथापि

जनता की शिक्षा-दीक्षा और आदतों के कारण व्यावहारिक शासन का झुकाव अल्पतंत्रता की ओर हो सकता है। ऐसी स्थिति विशेपरूप से क्रान्ति के पश्चात् घटित होती है। क्योंकि नागरिक (=नागरिकों के स्वभाव) एकदम तो बदल नहीं जाते, और प्रारम्भ में विजयी दल अपने विपक्षियों की थोड़ी-सी शक्ति के अपहरण से सन्तुष्ट रहता है, अन्य वस्तुओं को प्रायः बिना छेड़छाड़ किये रहने देता है। परिणामतः पुराने नियम चालू बने रहते हैं यद्यपि वास्तविक शक्ति क्रान्तिकारीदल के हाथ में रहती है।

टिप्पणियाँ

इस खंड के अनुशीलन से पता चलता है कि अरिस्तू ने कितनी बारीकी से जनतंत्र एवं अल्पतंत्र के वास्तविक और प्रतीयमान स्वरूपों का अध्ययन किया है।

६

जनतंत्र और धनिकतंत्र=अल्पजनतंत्र के प्रकार

(जनता में तथा लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों में पाये जानेवाले वर्गों के विषय में) हमने जो कुछ अब तक कहा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जनतंत्र और अल्पजनतंत्र (=धनकितंत्र) के यह सब भेद होने ही चाहिये। या तो उपर्युक्त सब वर्गों को शासन-कार्य में अवश्य भाग प्राप्त होना चाहिये, अथवा कुछ को प्राप्त होना चाहिये और कुछ को नहीं; (यही दो विकल्प संभव हैं।) जब कि शासन-सत्ता कृपक-वर्ग के हाथ में होती है, अथवा साधारण मध्यवित्त लोगों के हाथ में होती है तो वे शासन-कार्य को नियमानुसार चलाते हैं; क्योंकि ऐसे लोग कार्यसंलग्न जीवनव्यतीत करने के अभ्यस्त (के लिये विवश) होते हैं उनको अवकाश (अथवा) छुट्टी का अवसर प्राप्त हो नहीं सकता। परिणाम यह होता है कि वे कानूनों (नियमों) को ही सर्वोपरि बना देते हैं तथा अनिवार्य हो जाने पर ही परिषदों में एकत्रित होते हैं। जनता के अन्य लोगों को वैधानिक अधिकार में भाग उसी समय से मिलने लगता है जब कि वे नियम (कानून) द्वारा निर्धारित आर्थिक योग्यता को प्राप्त कर लेते हैं। सामान्यतया यह माना जा सकता है कि जो व्यवस्था सबको (प्रत्येक नागरिक को) वैधानिक अधिकार में भाग नहीं प्रदान करती अल्पजनतंत्रात्मक होती है तथा जो ऐसा करती है वह जनतंत्रात्मक होती है। अतएव ऐसे प्रत्येक नागरिक को अधिकारों में भाग दिया जाना चाहिये जिसने आर्थिक योग्यता प्राप्त कर ली है। पर पर्याप्त (सांपत्तिक) साधनों के अभाव में उनको

(उस) अवकाश को भोगने की योग्यता प्राप्त नहीं होती (जो राजनीतिक कार्यों के करने के लिए आवश्यक है।) जनतंत्र का एक प्रकार यह है तथा यह इन उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न होता है। दूसरा प्रकार ऐसी कसौटी अथवा विशेषता पर आश्रित है जो क्रमानुसार दूसरे स्थान पर आती है---अर्थात् जाति अथवा कुल की कसौटी। यहाँ (इसमें) प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जिसकी जाति (=कुल अथवा जन्म) अनिन्द्य हो, नियमतः अधिकारांश दिया जाता है; पर यथार्थ में वह शासन-कार्य में तभी भागीदार हो सकता है जब कि उसको अवकाश मिल सकता हो। अतएव ऐसे जनतंत्र में नियमों में शासनाधिकार निहित रहता है; (अथवा नियमों = कानूनों का शासन चला करता है) क्योंकि राज्य की आय इतनी नहीं होती कि वह अधिकारियों को धन दे सके (और इस प्रकार उनको शासन-कार्य के लिए अवकाश जुटा सके।) तीसरा प्रकार वह है जिसमें सब स्वतंत्र जनता को शासन-कार्य में अंश प्राप्त होता है, पर वास्तव में सब शासन-कार्य में, पूर्वोक्त कारणों से भाग नहीं लेते। अतएव इस व्यवस्था-प्रकार में भी अवश्य ही नियमों का ही शासन चलता है। जनतंत्र का चौथा प्रकार वह है जो (नगर--) राष्ट्रों के इतिहास में सबसे अन्तिम समय में उत्पन्न होता है। (हमारे अपने ही समय में) जब कि नगर अपने मौलिक (प्रारम्भिक) आकार से बढ़कर अत्यन्त विशाल हो गये हैं और उनका राजस्व भी बहुत बढ़ गया है (हम देखते हैं) कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण सभी नागरिक शासन-कार्य में भाग लेते हैं; निर्धन लोगों के सहित (जिनको शासनाधिकार के उपयोग के लिए धन देकर अवकाश की उपलब्धि कराई जाती है) वे सभी शासन में अंश प्राप्त करते हैं। सच तो यह है कि जब निर्धन जनों को (राष्ट्र की ओर से) वेतन मिलता है तो उनको अत्यधिक अवकाश प्राप्त हो जाता है, क्योंकि सम्पत्ति की वह चिन्ता जो कि धनवानों के लिये बाधक होती है उनके लिये तनिक बाधा नहीं डालती; इसी चिन्ता के कारण सम्पत्तिशाली लोग प्रायः परिषद् और न्यायालयों के अधिवेशनों में भाग नहीं ले पाते। परिणामतः राष्ट्र का शासन बहुमतवाले निर्धन लोगों के हाथ में आ जाता है, नियमों के अनुसार नहीं चलता। जनतंत्रों के इतने प्रकार हैं और वे (उपर्युक्त) अनिवार्य कारणों से उत्पन्न होते हैं।

धनिकतंत्र (=अल्पजनतंत्र, ऑलिगार्किया) का एक प्रकार वह होता है जिसमें अधिकांश जनता के पास कुछ सम्पत्ति होती है; यद्यपि यह सम्पत्ति थोड़ी-सी होती है, बहुत अधिक नहीं होती; यह इस प्रकार की व्यवस्था का प्रथम भेद है। इस पद्धति में जो कोई भी व्यक्ति निर्दिष्ट मात्रा की सम्पत्ति का स्वामी होता है उसको शासन-कार्य में भाग प्राप्त हो जाता है। एवं क्योंकि शासन-कार्य में भाग पाये हुए

लोगों की संख्या वहुत बड़ी होती है, अतएव अवश्यमेव व्यक्तियों (मनुष्यों) का शासन नहीं चलता प्रत्युत शासन-सत्ता नियमों में निहित रहती है। क्योंकि जितनी ही जनता एकतंत्र से दूर होती है, (तथा क्योंकि) उसकी सम्पत्ति न तो इतनी अधिक होती है कि उनको धन्धों से पूर्ण अवकाश प्राप्त होकर निश्चितता हो जाय और न इतनी कम कि उसको राष्ट्र के पोपण की आवश्यकता पड़े,) अतएव अवश्य ही उतना ही वह नियमों को शासन करने देती है न कि स्वयं शासन करती है। पर यदि राष्ट्र में सम्पत्तिशाली लोगों की संख्या पूर्वोक्त से अपेक्षाकृत कम हो तथा उनकी सम्पत्ति की मात्रा अधिक हो तो धनिकतंत्र का दूसरा प्रकार उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि वे लोग जितने अधिक शक्तिशाली होते हैं उतनी और अधिक शक्ति को हस्तगत करने का दावा करते हैं। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए वे स्वयं अन्य वर्गों के उन लोगों को चुना करते हैं जिनको शासन-संस्थान में सम्मिलित किया जाता है। परन्तु अभी तक नियमों के विना शासन करने की शक्ति न रखने के कारण ही वे अपनी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नियमों से करवाते हैं। जव उनकी संख्या घट जाने से तथा उनकी सम्पत्ति वढ़ जाने से उनकी शक्ति और घनीभूत हो जाती है तो धनिकतंत्र के विकास की तीसरी कोटि का उदय होता है; जिसमें शासकवर्ग अधिकार पदों को अपनी मुट्ठी में रखते हैं तथा नियम की (शाब्दिक) मर्यादा में रहकर काम करते हैं चाहे वह नियम केवल यही हो कि पुत्र पिता के पद का उत्तराधिकारी होगा। और फिर जव (शासकों की) सम्पत्ति वहुत अधिक वढ़ जाती है और उनके मित्र भी वहुसंख्यक हो जाते हैं तो यह इस प्रकार का कौटुम्बिक शासन एक (राट्) तंत्र (मौनार्किया) वन जाता है तथा सत्ता (एक) व्यक्ति के हाथ में चली जाती है, नियम का शासन नहीं रहता। और यही धनिकतंत्र का चौथा प्रकार है; एवं यह जनतंत्र अन्तिम प्रकार का प्रतिरूप है।

७

श्रेष्ठ (जन-)तंत्र के प्रकार[1]

जनतंत्र और धनिकतंत्र के अतिरिक्त अभी शासन-व्यवस्था के दो भेद और हैं; उनमें से एक ऐसा है जो सर्वमान्य (=सर्वविदित) है और जिसका राजनीति के चार मुख्य प्रकारों में समावेश है। ये चार प्रकार निम्नलिखित हैं (१) एकजन (=एकराट्) तंत्र (२) धनिक (अल्पजन) तंत्र (३) वहु जनतंत्र और (४) वह प्रकार जो श्रेष्ठजनतंत्र कहलाता है। पर एक पाँचवाँ प्रकार भी है जो इन प्रकारों

के सामान्य नाम को धारण किये रहता है और (केवल) व्यवस्थातंत्र (पॉलितेइया) कहलाता है। पर बहुधा उपलब्ध न होने के कारण उन लेखकों के द्वारा इसकी ओर दृष्टिपात नहीं किया गया है जो शासन-व्यवस्था के भेदों की गणना करने की चेष्टा करते हैं। वे तो, (जैसा प्लातोन् ने किया है) अपनी राजनीति-संबंधी पुस्तकों में केवल चार भेदों को ही स्वीकार करते हैं। 'श्रेष्ठजनतंत्र' नाम तो यथार्थ में ठीक प्रकार से उसी शासन-व्यवस्था के लिये प्रयुक्त हो सकता है जिसका वर्णन हमारे इस ग्रंथ के पूर्वभाग में[२] किया गया है; क्योंकि श्रेष्ठजनतंत्र (अरिस्तौक्रातिया) नाम तो यथार्थ में केवल उसी शासन-व्यवस्था को दिया जा सकता है जो परमार्थतः श्रेष्ठ जनों से घटित हो न कि ऐसे व्यक्तियों से जो कि किसी निर्दिष्ट कसौटी के अनुसार ही तो भले हों (पर निरपेक्षतः = परमार्थतः) भले न हों।) परिपूर्ण राष्ट्र में नेक आदमी परमार्थतः भले नागरिक से अभिन्न होता है जब कि अन्य राष्ट्रों में नेक नागरिक अपने राष्ट्र के मानदण्ड अथवा कसौटी के अनुसार भला हुआ करता है। (अर्थात् अपने राष्ट्र के शासनतंत्र के प्रकार की सापेक्ष्यता के अनुसार भला हुआ करता है।) पर कुछ शासनतंत्र ऐसे भी होते हैं जो अल्पजनतंत्र से भिन्न होते हैं और तथाकथित पॉलि-तेइया (= व्यवस्थित शासन) से भी भिन्न होते हैं; इनको श्रेष्ठजनतंत्र नाम दिया जाता है और इनमें शासकों का चुनाव केवल सम्पत्ति के आधार पर ही नहीं प्रत्युत गुणों के आधार पर भी किया जाता है। यह शासन उन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं से भिन्न है जिनका अभी उल्लेख किया गया है, और श्रेष्ठजनतंत्र कहलाता है। क्योंकि वास्तव में उन राष्ट्रों में, जो कि सात्विकता (सद्गुणों) की चिन्ता को सामाजिक जीवन का लक्ष्य नहीं बनाते, ऐसे मनुष्य उपलब्ध हो सकते हैं जो कि सत्ख्यातिवाले और योग्यता-सम्पन्न हों। अतएव जहाँ कहीं शासन-व्यवस्था की दृष्टि सम्पत्ति, सद्गुण और संख्या (बहुजनप्रियता) पर रहती है (जैसा कि कार्खेदॉन = कार्थेज में देखा जाता है), तो उस व्यवस्था को श्रेष्ठजनतंत्र कहते हैं; तथा वहाँ का भी शासनतंत्र ऐसा ही होता है जहाँ कि इन तीन विशेषताओं में से केवल दो ही पर दृष्टि रहती है (जैसा कि लाकेदायमॉन = स्पार्टा में देखा जाता है) अर्थात् सद्गुणों और संख्या का ही विचार किया जाता है; एवं ऐसी परिस्थिति में जनतंत्र-पद्धति और सद्वृत्ति दोनों के तत्त्वों का सम्मिश्रण हो जाता है। (इस प्रकार) पूर्वोक्त श्रेष्ठ राष्ट्र-व्यवस्था के अतिरिक्त श्रेष्ठजनतंत्र[३] के यह (अभी ऊपर बतलाये हुए) दो प्रकार और होते हैं; और फिर तीसरा प्रकार भी है जो कि सामान्य व्यवस्था के नाम से पुकारा जाता है पर जो तथाकथित 'व्यवस्था' की अपेक्षा अल्पजनतंत्र की ओर अधिक झुका हुआ है।

टिप्पणियाँ

१. आदर्श और यथार्थ में अन्तर होना स्वाभाविक है। इस खंड में अरिस्तू आदर्श श्रेष्ठजनतंत्र और व्यावहारिक जगत् में श्रेष्ठजनतंत्र नाम से कही जानेवाली व्यवस्थाओं का विवरण उपस्थित कर रहा है।

२. अर्थात् तीसरी पुस्तक के विभिन्न स्थलों पर। विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं के विवरण की दृष्टि से तृतीय पुस्तक प्रथम भाग और चतुर्थ तथा पंचम पुस्तक द्वितीय भाग मानी जा सकती हैं।

३. श्रेष्ठजनतंत्र के प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) आदर्श श्रेष्ठजनतंत्र जहाँ केवल अच्छाई (भलाई) का ही शासन चलता है।

(२) जहाँ भलाई के साथ धन और संख्या के आधार पर शासनाधिकार प्राप्त होता है।

(३) जहाँ शासनाधिकार के लिए भलाई और संख्या दोनों पर दृष्टि रहती है।

(४) जहाँ व्यवस्थातंत्र में (३) की अपेक्षा संख्या को कम ध्यान दिया जाता है।

८

पौलितेइया[1] अथवा व्यवस्था नामक शासन-पद्धति

अभी हमारे लिये 'तथाकथित व्यवस्था' और तानाशाही का विवरण प्रस्तुत करना शेष है। यहाँ हम दो प्रकार की शासन-पद्धतियों को एक पंक्ति में रख रहे हैं परन्तु इसका कारण यह नहीं है कि यह तथाकथित व्यवस्था उपर्युक्त श्रेष्ठजनतंत्रों के प्रकारों से किसी प्रकार अधिक विकृत है। सच बात तो यह है कि यह सभी पद्धतियाँ सर्वोत्तम प्रकार की परिपूर्ण पद्धति से घटकर हैं और इसीलिए विकृत पद्धतियों के अन्तर्गत गिनी जाती हैं, तथा जैसा कि मैंने प्रथम (पूर्वभाग) में कहा है, वास्तव में विकृत प्रकार (जिनमें इनकी भी गिनती होती है) वे हैं जो इनसे उत्पन्न होते हैं। सबसे अन्त में तानाशाही का विवरण प्रस्तुत करना उचित है; क्योंकि हम शासन-पद्धतियों के स्वरूपान्वेषण में लगे हुए हैं एवं इस तानाशाही में व्यवस्था का स्वरूप सबसे कम उपलब्ध होता है।

जिस विवेचना-क्रम का हम अनुसरण करना चाहते हैं उसकी व्याख्या हमने इस प्रकार कर दी। अब हमको "व्यवस्था" नामक पद्धति का विवरण प्रस्तुत करने में प्रवृत्त होना चाहिये। इसका लक्षण अब स्पष्टतर प्रकट हो जायगा क्योंकि हमने अल्पजनतंत्र (=धनिकतंत्र) और जनतंत्र के स्वरूप की परिभाषा पहले ही प्रस्तुत कर दी है। सामान्यरूपेण "व्यवस्था" को धनिकतंत्र एवं जनतंत्र का सम्मिश्रण (संकर) कहा जा सकता है। पर साधारण व्यवहार में यह नाम ("व्यवस्था") उन मिश्र शासन-पद्धतियों को दिया जाता है जो जनतंत्र की ओर झुकती हुई होती है; तथा जो धनिकतंत्र की ओर अधिक झुकती हुई होती हैं उनको 'श्रेष्ठजनतंत्र' कहा जाता है; क्योंकि (श्रेष्ठजनतंत्र की दो विशेषताएँ) शिक्षा और आभिजात्य प्रायः सम्पत्ति की ही सहचरी होती हैं। और फिर इसके अतिरिक्त प्राय. यह भी देखा जाता है कि धन-वान् लोगों को तो वे सुविधायें पहले से ही प्राप्त होती हैं जिनके अभाव में दुराचारी लोग दुराचार करने के लिये प्रवृत्त होते हैं; यही कारण है कि वे 'सज्जन' और 'विख्यात' पुरुष कहे जाते हैं। और क्योंकि श्रेष्ठजनतंत्र श्रेष्ठ नागरिकों को ही प्रमुखता प्रदान करता है, अतएव धनिकतंत्र के विषय में भी लोग यह कहने लगते हैं कि वह भी सज्जनों अथवा श्रेष्ठजनों का ही तंत्र है। यह बात तो असंभव प्रतीत होती है कि जो नगर श्रेष्ठ जनों से शासित नहीं होता प्रत्युत दीन-हीन (निर्धन) जनों से शासित होता है, सुशासित (अच्छे नियमोंवाला) हो; इसी प्रकार यह भी समानरूपेण असंभव है कि जिस नगर में सुशासन (सुनियमितता) न हो उसमें श्रेष्ठजनतंत्र की सत्ता हो। जिन अच्छे नियमों का वास्तव में पालन नहीं किया जाता उन नियमों की स्थापनामात्र से सुशासन (सुनियमितता) की उपलब्धि नहीं हो सकती। सुशासन (सुनिय-मितता) का एक अर्थ तो समझा जाना चाहिये विहित (स्थापित) नियमों का पालन, तथा दूसरा अर्थ समझा जाना चाहिये यह कि जो नियम मनुष्यों को पालने हैं वे भले प्रकार से विधान (स्थापित) किये गये हैं; वैसे (कुविहित नियमों का भी पालन किया जाना (संभव) है ही।) इस (सुनिर्मित नियम वाले) विकल्प के भी दो विभाग संभव हैं; एक तो यह कि मनुष्य ऐसे नियमों का पालन करें जो (सापेक्षतया) उनके लिये श्रेष्ठ हैं और दूसरा यह कि ऐसे नियमों (=कानूनों) का पालन करें जो निरपेक्षतया (परमार्थतः) श्रेष्ठ हैं।

सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि शासन-पदों का योग्यतानुसार विभाजन श्रेष्ठजनतंत्र का विशेष लक्षण है; क्योंकि योग्यता ठीक इसी प्रकार श्रेष्ठजनतंत्र की कसौटी है जिस प्रकार सम्पत्ति धनिकतंत्र की एवं स्वतंत्रता जनतंत्र की। बहुमत द्वारा

निर्णय करने का नियम तो सभी प्रकार के विधानों में पाया जाता है; एवं धनिकतंत्र, श्रेष्ठजनतंत्र तथा जनतंत्र सब में ही जो लोग राज्य-शासन में भाग पाये होते हैं उनके बहुमत का निर्णय समानरूपेण अन्तिम और सर्वोपरि होता है। बहुत से नगरों में 'व्यवस्था' नामक शासन-पद्धति के प्रकार को ही शोभन नाम दे दिया जाता है; क्योंकि इस प्रकार जो मिश्रित पद्धति प्रस्तुत की जाती है उसका लक्ष्य केवल धनी और निर्धन—अथवा सम्पत्ति और स्वतंत्रता का संश्लेपण करना मात्र होता है; पर अधिकांश लोगों की सम्मति में सम्पत्तिशाली लोग ही भद्र पुरुषों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। [और जिस व्यवस्था में ये लोग इस प्रकार सम्मिलित कर लिये जाते हैं उसको "श्रेष्ठजनतंत्र" ऐसा शोभन नाम दे दिया जाता है।—बार्कर] और क्योंकि वास्तव में मिश्र शासन-व्यवस्था में समान भाग का दावा करनेवाले तीन तत्त्व——स्वाधीनता, सम्पत्ति और सद्वृत्ति——होते हैं (चौथा तत्त्व, जो कुलीनता कहलाता है, वह तो उपर्युक्त अन्तिम दो तत्त्वों का परिणाम है, चिरन्तन सम्पत्तिशालिता और सद्वृत्ति का मिश्रण ही तो कुलीनता है;) अतः यह स्पष्ट है कि केवल दो तत्त्वों के मिश्रण को——सधन और निर्धन के मिश्रण को——"व्यवस्था" का नाम देना चाहिये; एवं तीनों के मिश्रण के लिये "श्रेष्ठजनतंत्र" नाम का व्यवहार करना चाहिये——प्रथम एवं सच्चे श्रेष्ठजनतंत्र (जिसमें केवल सद्वृत्त और योग्यता पर ही ध्यान दिया जाता है) को छोड़कर यह (तीनों तत्त्वों के मिश्रणवाली) शासन-पद्धति अन्य तथाकथित[२] सब श्रेष्ठजनतंत्रों से बढ़कर है।

इस प्रकार हमने दिखला दिया कि एकराजतंत्र, जनतंत्र एवं धनिकतंत्र के अतिरिक्त शासन-पद्धतियों के और भी प्रकार होते हैं; और इन प्रकारों का स्वरूप कैसा होता है; श्रेष्ठजनतंत्रों में परस्पर क्या अन्तर है तथा "व्यवस्थाओं" और श्रेष्ठजनतंत्रों में क्या भेद है और (अन्त में यह भी दिखला दिया) यह दोनों (व्यवस्था एवं श्रेष्ठ-जनतंत्र) परस्पर बहुत भिन्न (दूरवर्ती) नहीं हैं।

टिप्पणियाँ

१. ग्रीक भाषा में पौलितेइया शब्द का अर्थ है नगर की व्यवस्था अथवा शासन। यह शब्द पौलिस=नगर शब्द से बना है। प्लातोन की सुविख्यात पुस्तक जिसको अंग्रेजी रिपब्लिक नाम दे दिया गया है ग्रीक भाषा में "पौलितेइया" नाम से पुकारी

जाती है। पर अरिस्तू ने प्रस्तुत खंड में इस शब्द का प्रयोग इस सामान्य अर्थ में नहीं प्रत्युत एक विशिष्ट शासन-व्यवस्था के अर्थ में किया है।

२. अर्थात् कार्थेज और स्पार्टा में प्रचलित श्रेष्ठजनतंत्र से।

९

पौलितेइया अथवा व्यवस्था नामक पद्धति

इसी विवेचन-क्रम में अब हमको यह विचार करना है कि "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति जनतंत्र और धनिकतंत्र के साथ किस प्रकार उत्पन्न होती है और इसका संघटन किस ढंग से किया जाना चाहिये। इस विवेचन के द्वारा वे लक्षण भी एकदम स्पष्ट हो जायँगे जो जनतंत्र और धनिकतंत्र की सीमा को निर्दिष्ट करते हैं; क्योंकि प्रथम तो हमको इन दोनों पद्धतियों के भेदों को निर्धारित करना होगा और तत्पश्चात् दोनों में से उनके पूरकांशों (टल्लियों) को लेकर एक नवीन संयोग घटित करना पड़ेगा। इस प्रकार के संयोजन अथवा संमिश्रण के तीन ढंग हैं। प्रथम ढंग तो यह देखने से मालूम हो जायगा कि यह दोनों शासन-पद्धतियाँ नियम अथवा कानून किस प्रकार बनाती हैं—उदाहरण के लिये न्याय-वितरण के नियम किस प्रकार बनाती हैं। धनिकतंत्रों में धनिक लोग यदि न्यायालय में न्याय-वितरण के लिये उपस्थित न हों तो उनको दण्ड भरना पड़ता है और निर्धन लोगों को (न्याय-वितरण के लिये) कोई वेतन नहीं मिलता। पर जनतंत्रों में निर्धन लोगों को इस कार्य के लिये वेतन मिलता है और धनवानों को दण्ड नहीं भरना पड़ता। इन दोनों प्रकारों का संयोग इन दोनों में समानरूपेण उपलब्ध उनकी मध्यवर्ती सीमा होगी, जो कि व्यवस्था-पद्धति का लक्षण होगी क्योंकि यह पद्धति इन दोनों पद्धतियों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार दोनों के सम्मिश्रण का एक ढंग तो यह है। दूसरा ढंग दोनों के (विभिन्न) नियमों के मध्य की स्थिति या औसत को निकाल लेना है। उदाहरणार्थ एक (= जनतंत्र) पद्धति तो परिषद् की सदस्यता के लिये या तो कुछ भी साम्पत्तिक योग्यता की शर्त्त नहीं रखती अथवा स्वल्प सम्पत्ति की योग्यता निर्धारित करती है, जब कि दूसरी (= धनिकतंत्र) पद्धति अधिक सम्पत्ति की योग्यता नियत करती है। इन दोनों नियमों से कोई उभय-निष्ठ नियम प्राप्त नहीं हो सकता अतएव दोनों के बीच में औसत निकालना पड़ेगा। तीसरा ढंग यह है कि कुछ नियम तो धनिकतंत्र में से ले लिये जायँ और कुछ प्रजातंत्र में से और इस प्रकार दोनों का संमिश्रण प्रस्तुत कर दिया जाय। उदाहरणार्थ शलाका-

ग्रहण[2] द्वारा शासकों की नियुक्ति जनतंत्रात्मक नियम समझा जाता है एवं मतदान द्वारा उनका चुनाव धनिकतंत्रात्मक। और फिर (किसी पद के लिये) साम्पत्तिक योग्यता का न होना जनतंत्रात्मक माना जाता है तथा साम्पत्तिक योग्यता का होना धनिकतंत्रात्मक समझा जाता है। अतएव श्रेष्ठजनतंत्र अथवा "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति के लिये इन प्रत्येक पद्धतियों में से एक एक तत्त्व ग्रहण कर लेना उपयुक्त होगा—अर्थात् धनिकतंत्र में से शासकों के निर्वाचन का नियम तथा प्रजातंत्र में से साम्पत्तिक योग्यता के न होने का नियम। इनके सम्मिश्रण के प्रकार यही (उपर्युक्त) हैं।

जनतंत्र और धनिकतंत्र का मिश्रण सुमिश्रण तो तब कहा जा सकता है जब कि ऐसी व्यवस्था को निर्विशेष भाव से जनतंत्र अथवा धनिकतंत्र दोनों नामों में से किसी से भी अभिहित करना संभव हो। स्पष्ट है कि जब कहनेवाले दोनों नामों को सहन कर लेते हैं तो ऐसा सम्मिश्रण की अच्छाई के कारण ही हो सकता है। सामान्यतया यह बात दो विप्रकृष्ट छोरों की मध्यवर्ती स्थिति के विषय में कही जा सकती है; मध्यवर्तिनी स्थिति में दोनों आत्यन्तिकी सीमाओं की झलक पाई जा सकती है। उदाहरण-स्वरूप लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) की व्यवस्था को ले सकते हैं जिसको बहुत से लोग जनतंत्र कहते हैं; क्योंकि उसमें जनतंत्र-पद्धति के बहुत से तत्त्व उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ पहले बच्चों के पालन-पोषण के विषय में ही (यह देखा जाता है कि) धनी लोगों के बच्चों का पोषण भी निर्धनों के बच्चों के समान ही होता है तथा धनवानों के बालकों को ऐसे प्रकार से शिक्षा दी जाती है जिससे धनहीनों के बच्चे भी उनके समान शिक्षा पा सकें। बाल्यकाल के पश्चात् कुमारावस्था में भी इसी नीति का अनुसरण किया जाता है, एवं जब वे पूर्ण वयस्क मनुष्यता को प्राप्त हो जाते हैं तब भी यही पद्धति चालू रहती है। धनवान् और निर्धन के बीच कोई भेदभाव नहीं बरता जाता। सह-भोजों में सबके लिये एक-सा भोजन मिलता है, तथा धनवानों के वस्त्र भी ऐसे होते हैं जैसे कि निर्धन लोग भी अपने लिये प्रस्तुत करा सकते हैं। स्पार्टा को जनतंत्र मानने का दूसरा आधार यह है कि राष्ट्र की सर्वोच्च (महत्तम) परिषदों में से एक के लिये साधारण जनता को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है तथा दूसरी में भाग लेने का अधिकार है, क्योंकि वे वृद्ध-परिषद् के लिये प्रतिनिधि चुन सकते हैं और निरीक्षक सभा में भाग ले सकते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस (स्पार्टा) की शासन-पद्धति को इस कारण धनिकतंत्र कहते हैं कि इसमें धनिकतंत्र के बहुत से तत्त्व पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ सभी शासन-पदाधिकारी चुनाव द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, शलाकाग्रहण द्वारा नहीं; फिर मृत्युदण्ड एवं निर्वासदण्ड का अधिकार थोड़े से ही

(धनिक) लोगों के हाथ में है; एवं इसी प्रकार अन्य भी बहुत-सी बातें हैं। सुमिश्रित व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि उसमें दोनों प्रकार (जनतंत्र और धनिकतंत्र) के तत्त्व प्रतीत हों और दोनों ही न हों; तथा उसकी स्थिरता उसकी अपनी (आन्तरिक) शक्ति पर निर्भर होनी चाहिये न कि बाह्य सहायता पर; एवं उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति का आधार भी यह तथ्य नहीं होना चाहिये कि बहुमत उसके अनुकूल है (क्योंकि ऐसी स्थिति तो हीन कोटि की व्यवस्था में भी भले प्रकार संभव है) प्रत्युत यह तथ्य होना चाहिये कि सारे राष्ट्र का कोई अंग ऐसा न हो जो कि अन्य प्रकार की व्यवस्था को चाहता हो।

"व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति एवं मिश्र पद्धतियों के अन्य प्रकारों का, जो कि श्रेष्ठजनतंत्र है, संघटन किस प्रकार से होना चाहिये, अब हम इसका वर्णन कर चुके।

टिप्पणियाँ

१. पूरकांश अथवा टल्लियों (=tallies) के लिये मूल ग्रीक भाषा में "सीम्बौलौन्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल में ग्रीक लोगों में यह प्रथा प्रचलित थी कि आपस में किसी प्रकार का ठहराव करनेवाले पक्ष एक मुद्रा (=सिक्के) को तोड़कर दो टुकड़े कर लेते थे और प्रत्येक पक्ष एक खंड को अपने पास रखता था। यह दोनों खंड एक दूसरे के पूरक होते थे। प्रस्तुत प्रसंग में जनतंत्र और धनिकतंत्र में से ऐसे पूरकांशों को ग्रहण करना है जिनसे पौलितेइया नामक व्यवस्था को प्रस्तुत किया जा सके।

२. "शलाकाग्रहण" के लिए मूल में क्लेरॉस् एवं उसके अन्य समासों का प्रयोग हुआ है। अत्यन्त प्राचीन काल में इसके लिए गुटिका अथवा टहनी अथवा कंकड़ का प्रयोग होता था। कालान्तर में इसी कार्य के लिए पाँसे का भी उपयोग होने लगा था।

१०

तानाशाही शासन पद्धति

अभी तानाशाही का वर्णन करना मेरे लिये शेष है। यद्यपि इसके विषय में कहने के लिये सारवान् तत्त्व कुछ अधिक नहीं है, फिर भी क्योंकि इसको भी हमने व्यवस्थाओं के भेदों में परिगणित किया है, अतएव इसे भी हमारे विवेचन में अपना उचित स्थान मिलना ही चाहिये। राजकीय शासन (जिसका विकृत रूप यह तानाशाही है) का वर्णन तो हम इस पुस्तक के पूर्वभाग में कर चुके हैं। वहाँ पर इसके परीक्षण के सिलसिले

में हमने राजकीय शासन का विवेचन इस शब्द के सामान्यतम अर्थ के अनुसार किया था; और यह विचार किया था कि यह शासन-पद्धति (नगर) राष्ट्रों के लिए लाभदायक है अथवा नहीं; राजकीयता किस प्रकार की होनी चाहिये (अर्थात् राजा किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिये) कहाँ से (=किस उद्गम से) उसकी स्थापना की जानी चाहिये; और किस प्रकार से स्थापना की जानी चाहिये।

राजकीयता के विवेचन में हमने तानाशाही के दो प्रकारों का भी विवरण प्रस्तुत किया था, क्योंकि वे दोनों ही प्रकार नियमानुसार संचालित शासन-पद्धतियों के भेद होने के कारण, राजकीय शासन-पद्धति के स्थान को ग्रहण करते प्रतीत हो सकते थे (अथवा उनके और राजकीय शासन के स्वरूपों में व्यभिचार हो सकता था)। यह दो प्रकार निम्नलिखित थे :—एक तो कतिपय वर्बर जातियों में पाये जानेवाले निर्वाचित किन्तु सर्वसत्ताधारी एकच्छत्र राजा लोग और दूसरे इसी प्रकार के एकच्छत्र राजा लोग जो कि अइसिम्नेती[1] (तानाशाह) कहलाते थे और प्राचीन काल में पुरातन हैला (ग्रीक) जाति में पाये जाते थे। परस्पर तुलना करने पर इन दोनों प्रकारों में कुछ भेद भी पाये जाते थे; पर वे इस कारण तो राजकीय पद्धति (जैसे) थे कि शासन नियमाश्रित होता था और सहमत प्रजाजनों के ऊपर किया जाता था लेकिन क्योंकि शासन पूर्ण प्रभुत्व के ढंग से और एकमात्र शासक की स्वेच्छा के अनसार होता था अतएव तानाशाही प्रकार का भी था। पर तानाशाही का एक तीसरा प्रकार भी है जो कि इस शब्द से अत्यन्त सामान्यतया समझा जाता है: यह प्रकार श्रेष्ठ राजकीय शासन-पद्धति का बिलकुल उल्टा है। यह तानाशाही अनिवार्यतया वहाँ होती है जहाँ कि कोई एकाधिपत्य-धारी व्यक्ति (तानाशाह) अपने समान अथवा अपने से भी उच्च (अधिक अच्छे) व्यक्तियों पर, बिना किसी उत्तरदायित्व की भावना के केवल अपनी सुविधा (लाभ) की दृष्टि से शासन करता है, न कि शासितों के हितों की दृष्टि से। अतएव वह उनपर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन करता है। कोई भी स्वतंत्र व्यक्ति स्वेच्छा-पूर्वक ऐसे शासन को सहन नहीं करेगा।

हमारे द्वारा ऊपर बतलाये गये कारणों से तानाशाही के प्रकार यही हैं और इतने ही हैं।

टिप्पणियाँ

१. अइसि(सु)म्नेतेस् शब्द का अर्थ है प्रजाजनों द्वारा चुना हुआ शासक अथवा न्यायाधीश। यह शासक नियमानुसार शासन करते थे और प्रजाजन भी इनके शासन से सन्तुष्ट ही रहते थे।

कुल मिलाकर तीन प्रकार के तानाशाही शासक होते थे--

(१) बर्बर जातियों पर शासन करनेवाले चुने हुए तानाशाह।

(२) हैला जाति (ग्रीक जाति) पर शासन करनेवाले तानाशाह।

(३) मनमाना स्वेच्छाचारी शासन करनेवाले तानाशाह।

११

श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था तथा श्रेष्ठ जीवन

अब हमको यह विचार करना है कि अधिकांश नगर-राष्ट्रों के लिये तथा अधिकांश मनुष्यों के लिये श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था और श्रेष्ठ जीवन किस प्रकार का (हो सकता) है।[१] इस विवेचन में हम न तो सामान्य मनुष्य की पहुँच से परे की सद्वृत्ति (उत्तमता) को ही मानकर चलेंगे, न ऐसी शिक्षा को ही मानकर चलेंगे जिसके लिये विशिष्ट प्रकार की नैसर्गिक योग्यता एवं सौभाग्य-सम्पदा आवश्यक होती है और न ऐसी शासन-व्यवस्था को ही स्वीकार करके चलेंगे जो प्रार्थयितव्य ही रहती है, प्रत्युत ऐसे ही जीवन का विचार दृष्टि में रखेंगे जिसके भागीदार अधिकांश मनुष्य हो सकते हैं, तथा ऐसे ही प्रकार की शासन-व्यवस्था का विवेचन करेंगे जिसका उपभोग बहुत से राष्ट्र समान रूप से कर सकते हैं। जहाँ तक तथाकथित श्रेष्ठजनतंत्रों का संबंध है, जिनका हम अभी वर्णन कर रहे थे, वे या तो एक ओर बहुत से नगर-राष्ट्रों की पहुँच की संभावना से परे रहते हैं, अथवा दूसरी ओर व्यवस्था नामक शासन-पद्धति के अत्यन्त समीप पहुँच जाते हैं, अतएव दोनों को एक ही समझा जाना चाहिये और उनका विवेचन पृथक् पृथक् नहीं किया जाना चाहिये। इन सब विषयों के संबंध में अन्तिम निर्णय एक ही आधारभूत सिद्धान्तों पर निर्भर (आश्रित) है। यदि हम सदाचार-दर्शन में वर्णित सिद्धान्तों को सत्य मानें कि अबाध सद्वृत्ति[२] के अनुसरण में बिताया हुआ जीवन ही सुखी जीवन है, और सद्वृत्ति (अनतिगामी) मध्यम[३] (-मार्ग) है तो यह निष्कर्ष निष्पन्न होगा कि मध्यममार्ग का अनुसरण करनेवाला जीवन ही अनिवार्यतया श्रेष्ठ जीवन है, और यह मध्यममार्ग भी ऐसा है जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव है। और जो लक्षण नागरिकसमाज के जीवन की सद्वृत्ति अथवा दुर्वृत्ति का निर्धारण करने में देखे जाते हैं वही नगर की शासन-पद्धति में भी देखे जाने चाहिये क्योंकि शासन-पद्धति नागरिक समुदाय की जीवन-पद्धति ही तो है।

सब नगर-राष्ट्रों में नागरिक-समुदाय में तीन खंड अथवा वर्ग पाये जाते हैं-- (एक) अत्यन्त सम्पन्न, (दूसरे) अत्यन्त निर्धन और (तीसरे) इन दोनों के बीच का

मध्यवित्त-वर्ग। यह बात सर्वसम्मत है कि परिमितता और मध्यमस्थिति सर्वोत्तम हैं, अतएव यह स्पष्ट है कि सौभाग्य-संपदा के वरदानों को परिमित मात्रा में प्राप्त करना सर्वश्रेष्ठ बात होगी। जो मनुष्य ऐसी (मध्यम) स्थिति में होते हैं वह विवेक की आज्ञा को सरलता से पालन करनेवाले होते हैं। पर जो लोग अत्यन्त रूपवान्, बलवान्, उदारजन्मा, अथवा धनवान् होते हैं—अथवा दूसरे सिरे पर अत्यन्त निर्धन, निर्बल अथवा नितान्त निरादृत होते हैं, वे कठिनता से ही विवेक का अनुसरण कर पाते हैं। इन दोनों प्रकारों में से प्रथम प्रकार के मनुष्यों का झुकाव बलात्कारों एवं महान् अपराधी बनने की ओर अधिक होता है, तथा दूसरे प्रकार के मनुष्यों की प्रवृत्ति धूर्तता और तुच्छ अपराधों की ओर अधिक होती है। और अधिकांश अपराध या तो बलात्कार के कारण उत्पन्न होते हैं या धूर्तता के कारण। और फिर मध्यमवर्ग के शासन-कार्य से सकुचाने अथवा उसके विषय में अत्युत्सुक होने की भी संभावना बहुत कम है, और यह दोनों प्रवृत्तियाँ (सकुचाना अथवा अत्युत्सुक होना) राष्ट्र के लिये सैनिक और नागरिक-शासन के क्षेत्र में हानिकारक हैं।[४] तथा फिर जो लोग बल, सम्पत्ति, मित्र, एवं इसी प्रकार के अन्य सौभाग्यातिशयों का उपभोग अत्यधिक मात्रा में करते हैं वे न तो आज्ञाकारिता (आज्ञापालन करने) के इच्छुक ही होते हैं और न ऐसा करना जानते ही हैं। एवं यह (दोष) उनमें सीधे उनके बालकपन में ही घर से ही आरंभ हो जाता है; विलास-दुर्ललित होने के कारण वे (विद्यालय में) शिक्षा के संबंध में भी अनुशासन (अथवा आज्ञाकारिता) की आदत नहीं प्राप्त करते। दूसरी ओर जो लोग अभावातिशय से पीड़ित हैं उनमें भी दोष पाये जाते हैं—वे अत्यन्त दीन-हीन होते हैं। इस प्रकार, एक ओर तो वे लोग हैं जो शासन करना नहीं जानते किन्तु केवल दासों के समान शासित होना ही जानते हैं; दूसरी ओर वे लोग हैं जो किसी प्रकार के अधिकारियों की आज्ञा को मानना नहीं जानते, केवल (दासों के ऊपर) प्रभु के समान शासन करना ही जानते हैं। परिणाम-स्वरूप नगर-राष्ट्र केवल दासों और स्वामियों का नगर हो जाता है (न कि स्वाधीन मनुष्यों का)—एक ओर से (अर्थात् निर्धन पक्ष की ओर से) ईर्ष्या और दूसरी ओर से (अर्थात् सम्पन्नपक्ष की ओर से) घृणा (तिरस्कार) का नगर हो जाता है; जो मित्रता और सभ्य नागरिक समाज की भावना से बहुत ही दूर की चीज है। सामाजिकता तो मित्रता पर निर्भर होती है; तथा जब मनुष्य एक दूसरे से घृणा करते हैं तो परस्पर एक साथ एक राह पर तक नहीं चलना चाहते। नगर का लक्ष्य तो यथासंभव एक बराबर और एक से मनुष्यों का समाज होता है (अथवा होना चाहिये) और मध्यवित्त लोगों में ही ऐसा होना सबसे

अधिक संभव है। अतएव यह निष्कर्ष सिद्ध हुआ कि जो नगर मध्यम वर्ग पर आश्रित होता है वह उन तत्वों की दृष्टि से (जो कि हमारे मत में नगर के नैसर्गिक संघटक हैं) अवश्य ही श्रेष्ट नगर होगा। यह मध्यवित्त-वर्ग नगर में अन्य वर्गों की अपेक्षा सबसे अधिक सुरक्षित रहता है; क्योंकि वे न तो निर्धन लोगों के समान अन्य लोगों की सम्पत्ति की स्पृहा ही करते हैं और न जिस प्रकार निर्धन लोग सम्पन्न लोगों की सम्पदा की लालसा करते हैं उस प्रकार अन्य लोग इन मध्यवित्त लोगों की सम्पत्ति के लिये लालायित रहते हैं। न तो यह स्वयं किसी के विरुद्ध (प्रतारणा का) षड्यंत्र रचते हैं और न दूसरों के द्वारा इनके विरुद्ध षड्यंत्र रचा जाता है; अतएव यह लोग निर्भय जीवन-यापन करते हैं। इस कारण हम फोकिल्दिीस की इस प्रार्थना की भली भाँति प्रशंसा कर सकते हैं कि,

"मध्यमार्ग में बहुत भलाई। चहूँ नगर में मध्यमताई।"

तब, यह बात तो स्पष्ट हो गई कि श्रेष्ठ नागरिक समाज वह है जो मध्य स्थिति-वाले नागरिकों द्वारा घटित होता है और यह स्पष्ट हो गया कि उत्तम शासन की सम्भावना भी उन्हीं नगर-राष्ट्रों में अधिक है जिनमें मध्यमवर्ग बड़ा होता है—और यदि संभव हो सके तो अन्य दोनों वर्गों से अधिक शक्तिशाली होता है; और नहीं तो कम-से कम उन दोनों से पृथक् पृथक् तो अधिक बड़ा होता ही है; क्योंकि ऐसी स्थिति में मध्यमवर्ग किसी भी पक्ष से मिलकर पलड़ा उसकी ओर झुका देता है और किसी भी अतिगामी विरोधी पक्ष को प्रबल हो जाने से रोक सकता है। अतः यह परम सौभाग्य की बात है कि किसी राष्ट्र के नागरिकों के पास परिमित (मध्यम) मात्रा में पर्याप्त सम्पत्ति हो। क्योंकि जब कुछ लोगों के पास बहुत अधिक धन होता है और अन्य कुछ के पास कुछ नहीं होता तो परिणाम या तो परले सिरे का जनतंत्र होता है अथवा विशुद्ध धनिकतंत्र—; अथवा इन दोनों आत्यन्तिकी अवस्थाओं से (इन दोनों की प्रतिक्रिया-स्वरूप, परोक्षरूपेण) स्वेच्छाचारिता (=तानाशाही) का जन्म हो सकता है। तानाशाही का जन्म तरुणतम (अत्यन्त उद्धत) जनतंत्र से भी हो (सक) ता है और धनिक तंत्र से भी; पर मध्य स्थितिवाले शासन-तंत्रों अथवा उनके समीपतम शासन-तंत्रों से इसकी उत्पत्ति की संभावना बहुत कम है। इसका कारण हम आगे चलकर राष्ट्रों के परिवर्तनों का वर्णन करते हुए बतलाएँगे।

यह स्पष्ट बात है कि राष्ट्रों की मध्यम स्थिति ही श्रेष्ठ स्थिति है; क्योंकि एक-मात्र यही स्थिति ऐसी है जो प्रतिद्वन्द्वी दलबन्दी से मुक्त है; जिस राष्ट्र में मध्यवित्त-

संभव होती है। ऐसी दशा में यह भय कभी नहीं हो सकता कि धनीधोरी वर्ग निर्धनों के साथ मिलकर इनके विरुद्ध (मध्यमवर्ग के अथवा शासकवर्ग के विरुद्ध) उठ खड़े होंगे। दोनों वर्गों में से कोई भी कभी दूसरे की आधीनता (=सेवा) स्वीकार करना नहीं चाहेगा। और यदि वे किसी ऐसी शासन-व्यवस्था की खोज करेंगे जो उन दोनों (धनी और निर्धन) वर्गों के हितों के लिये इस पद्धति की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हो तो इससे बढ़कर पद्धति उनको प्राप्त नहीं हो सकेगी। इन दोनों वर्गों में परस्पर एक दूसरे का अविश्वास होने के कारण वे ऐसी किसी शासन-पद्धति को भी धैर्यपूर्वक सहन नहीं कर सकते जिसके अनुसार दोनों पक्ष बारी बारी से शासन कर लें। निष्पक्ष पंच वही हो सकता है जो उभय पक्षों का अधिकतम विश्वासभाजन हो; (स्पष्ट ही) ऐसा पंच मध्यवर्ग (का मनुष्य) ही हो सकता है। शासन-व्यवस्था में विविध तत्त्वों (=सामाजिक वर्गों) का जितना अच्छा सम्मिश्रण होगा उतनी ही अधिक स्थायी वह व्यवस्था हो सकेगी। यहाँ पर बहुत से वे लोग भी गलती कर बैठते हैं जो "श्रेष्ठ-जनतंत्र" की स्थापना करना चाहते हैं; वे यही नहीं करते कि संपन्न लोगों को अधिक सत्ता (शक्ति) दे देते हैं प्रत्युत वे साधारण जनता को (झूठे दिखावे भर के अधिकार प्रदान करके) ठगने का भी उपक्रम करते हैं। अनिवार्य तया अन्त में एक समय ऐसा आता है कि जब छलनापूर्ण भलाई से वास्तविक बुराई उत्पन्न होती है; क्योंकि शासन-व्यवस्था के लिये इस प्रकार के छलछद्म द्वारा की गयी धनिकों की आपाधापी साधारण जनता की आपाधापी की अपेक्षा कहीं अधिक विनाशकारी होती है।[२]

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू यहाँ पर इस पुस्तक के द्वितीय खंड के अन्त में की हुई प्रतिज्ञा की पूर्ति कर रहा है।

२. कोई भी व्यक्ति सबको सदा के लिए धोखा नहीं दे सकता।

१३

दलों की चालें और मध्यम मार्ग

शासन-व्यवस्थाओं[१] में साधारण जनता की प्रतारणा के लिये जिन चालबाजियों का प्रयोग किया जाता है उनकी संख्या पाँच है। वे (१) समिति-संबंधी (२)

शासनाधिकृत-संबंधी (३) न्यायालय-संबंधी (४) शस्त्रधारण-संबंधी तथा (५) मल्ल-व्यायाम-संबंधी हैं। समिति-संबंधी चाल यह है कि समिति में उपस्थित होने का अधिकार तो सबको समान रूप से प्राप्त होता है, परन्तु समिति में उपस्थित न होने पर अर्थदण्ड (जुर्माना) या तो केवल धनवानों पर ही डाला जाता है अथवा उन पर बहुत अधिक मात्रा में डाला जाता है। शासनाधिकृत-संबंधी चालबाजी यह है कि धनसंबंधी योग्यतावाले व्यक्तियों को शपथपूर्वक शासनाधिकार पद अस्वीकार करने की आज्ञा नहीं दी जाती, पर निर्धन लोगों को ऐसा करने दिया जाता है।[1] और न्यायालयों के संबंध में ऐसा है कि न्यायालय में (न्यायवितरण की) सेवा में अनुपस्थित होने पर धनवानों पर अर्थदण्ड डाला जाता है तथा निर्धन अनुपस्थित होने पर अदण्डित रहते हैं; अथवा, जैसा कि खारोन्दास[2] की स्मृति (विधान) में नियम है, धनवानों पर बहुत अधिक दण्ड डाला जाता है और निर्धनों पर बहुत थोड़ा। कुछ स्थानों (राष्ट्रों) में वे सब नागरिक, जिन्होंनें अपना नाम सूची में प्रविष्ट (रजिस्टर्ड) करा लिया है, समिति में उपस्थित होने और न्यायालय में न्याय-निर्णय करने का अधिकार रखते हैं; परन्तु यदि सूची-प्रविष्ट होने के उपरान्त वे समिति में उपस्थित न हों अथवा न्यायालय में सेवा न करें तो उन पर भारी दण्ड (जुर्माना) डाला जाता है। (इसका मन्तव्य यह होता है) कि जुर्माने के डर से वे लोग (निर्धन लोग) अपना नाम सूची-मुक्त न कराएँ और तब सूचीमुक्त न होने के कारण वे न समिति में उपस्थित हो सकें और न न्यायालय में बैठ सकें। इसी प्रकार के ढंगों का प्रयोग शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति और व्यायाम और मल्लकर्म के विषय में नियम बनाने के लिये भी किया जाता है। निर्धनों को तो बिना शस्त्रास्त्र प्राप्त किये रहने की छूट होती है परन्तु यदि धनवान् लोग शस्त्रास्त्र न प्राप्त करें तो उन पर दण्ड (जुर्माना) डाला जाता है। और यदि निर्धन लोग व्यायामशाला में व्यायाम करने के लिये उपस्थित न हों तो उन पर कोई जुर्माना नहीं डाला जाता, पर धनवानों पर अर्थदण्ड डाला जाता है। इसीलिये जुर्माने के कारण यह (धनवान्) लोग तो व्यायाम-क्रिया में भाग लेते है पर निर्धन लोगों को कोई डर नहीं रहता अतएव वे व्यायाम में भाग नहीं लेते।

जो नियम-संबंधी चालबाजियाँ ऊपर वर्णन की गयी है वे अल्पजनतंत्र (धनिक-तंत्र) की व्यवस्था में बरती जाती हैं। जनतंत्रों में इनसे उल्टी चालों का प्रयोग किया जाता है। निर्धन लोगों को समिति और न्यायालयों में उपस्थित होने के लिए वेतन दिया जाता है, पर धनवानों से अनुपस्थित होने पर कोई जुर्माना नहीं लिया जाता। अतः यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि हम दोनों पक्षों का समुचित सम्मिश्रण करना चाहें

२. अर्थात् जब सद्वृत्तिमय जीवन विताने के मार्ग में निर्धनता, रोग एवं अन्य भौतिक अभावों की बाधाएँ न हों।

३. सद्वृत्ति का मार्ग मध्यममार्ग है जो अनतिगामी है। अरिस्तू "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का पोषक है। प्रत्येक सद्गुण मर्यादा का अतिक्रमण करके दुर्गुण बन जाता है।

४. सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक शासन-पद्धति में, अरिस्तू के मतानुसार मध्यमवर्ग का प्राधान्य होगा क्योंकि मध्यमवर्ग सब प्रकार की अतिगामी प्रवृत्तियों से मुक्त होता है।

५. फोकिलिदी(दे)स् मिलैतस् का निवासी था और स्यात् ई० पू० छठी शताब्दी में हुआ था। इसकी स्फुट कविता आजकल थोड़ी मात्रा में उपलब्ध होती हैं। इसने अपनी स्फुट रचनाओं में सर्वत्र अपना नाम डाला है।

६. इन सब नियम-निर्माताओं अथवा स्मृतिकारों का परिचय पीछे टिप्पणियों में दिया जा चुका है।

७. इन विचारों से स्पष्ट लक्षित होता है कि अरिस्तू दलगत राजनीति की अपेक्षा सर्वोदयी विचारधारा का पक्षपाती है।

८. केवल एक व्यक्ति जिसकी ओर यहाँ संकेत किया गया है कौन था। इस विषय में न्यूमैन ने थेरामेनेस् का नाम बतलाया है। यह व्यक्ति ई० पू० ४११ के लगभग अथेन्स में मध्यमार्गी नेता था। इसने अथेन्स में शासनसत्ता ऐसे ५००० व्यक्तियों में निहित करने का प्रस्ताव रखा जो अपने को अपने व्यय से शस्त्रास्त्र से सज्जित करने की क्षमता रखते हों। पर इसको अथेन्स के शासन में प्रभुत्व प्राप्त नहीं था।

बार्कर ने अन्तिपातेर का नाम सुझाया है जो अलेक्ज़ाण्डर के विजयाभियान-काल में ग्रीस में उसके स्थान पर शासक नियुक्त किया गया था। यह अरिस्तू का मित्र भी था। पर इसने उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था अरिस्तू की मृत्यु के पश्चात् स्थापित की थी। पर संभव है कि अरिस्तू ने अपने जीवन-काल में उसको उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के लिये मना लिया हो।

१२

गुण और मात्रा का संतुलन

हमारी योजना के अनुसार अब इसके उपरान्त जिस प्रश्न पर विचार करना है वह यह है कि "कौन से और किस प्रकार के मनुष्यों के लिए कौन सी और किस प्रकार की शासन-पद्धति उपयुक्त होती है?"[१] सर्वप्रथम हमको इस व्यापक सिद्धान्त को मान लेना चाहिये कि किसी भी राष्ट्र में किसी शासन-पद्धति (व्यवस्था) के स्थायित्व की

इच्छा करनेवाला (लोगों का) भाग उसका स्थायित्व न चाहनेवालों की अपेक्षा अधिक बलवान् होना चाहिये। प्रत्येक नगर-राष्ट्र की संघटना (रचना) में गुण और मात्रा (Quality और Quantity) दोनों का योग होता है। "गुण" से मेरा तात्पर्य स्वतंत्रता, सम्पत्ति, शिक्षा एवं सत्कुलोद्भवता से है एवं "मात्रा" से मेरा तात्पर्य संख्या की अधिकता (प्रमुखता) से है। ऐसा होना संभव है कि नगर-राष्ट्र के घटक अंगों में से गुण की सत्ता एक अंग में हो तथा मात्रा की दूसरे में। उदाहरणार्थ निम्न श्रेणी में उत्पन्न हुए लोगों की संख्या सत्कुलोत्पन्न लोगों की अपेक्षा अधिक हो सकती है अथवा निर्धन लोग सम्पत्तिशालियों की अपेक्षा बहुसंख्यक हो सकते है, पर एक पक्ष (अंग) का संख्या-गौरव (मात्रा-गौरव) दूसरे पक्ष के गुण-गौरव की अपेक्षा घटकर हो सकता है। अतएव इन दोनों (गुण और मात्रा) की परस्पर तुलना की जानी चाहिये। जहाँ भी निर्धन लोगों की संख्या दूसरे अंग के उत्तम गुण (धनिकों के धन) के अनुपात से बहुत अधिक होगी वहाँ स्वाभाविकतया जनतंत्र की उत्पत्ति होगी: तथा किस प्रकार का प्रजातंत्र उत्पन्न होगा यह बात प्रत्येक परिस्थिति में इस बात पर निर्भर होगी कि किस प्रकार की जनता का आधिक्य है। उदाहरणार्थ यदि जनता में कृषकों का आधिक्य है तो जनतंत्र के "प्रथम" प्रकार अर्थात् कृषकों के जनतंत्र का उदय होगा, यदि नीच टहल चाकरी करनेवाले प्रतिदिन के वेतन पर मजदूरी करनेवाले श्रम-जीवियों का बाहुल्य हुआ तो "आत्यन्तिक" प्रकार के जनतंत्र की उत्पत्ति होगी। यही बात "प्रथम" और "चरम" प्रकार के मध्यवर्ती जनतंत्रों के विषय में भी लागू होगी। जहाँ धनवानों और (ख्यातिलब्ध) गण्यमान पुरुषों का गुणगौरव उनकी संख्या की हीनता की अपेक्षा अधिक होता है तो वहाँ अल्पजन (= धनिकजन)-तंत्र का जन्म होता है; तथा कौन-से प्रकार का अल्पजनतंत्र उत्पन्न होगा यह बात भी उपर्युक्त प्रकार से इस बात पर निर्भर होगी कि अल्प जनसमूह द्वारा किस प्रकार की प्रधानता प्रदर्शित की जाती है।

नियम बनानेवाले को मध्यमवर्ग को सर्वदा शासन-व्यवस्था में अपने साथ सह-योगी के रूप में ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि वह अल्पजनतंत्रात्मक नियमों की स्थापना करता है, तो उसका लक्ष्य मध्यमवर्ग के हित को दृष्टि में रखना होना चाहिये, और यदि वे नियम जनतंत्रात्मक हों तो भी उसको इन जनतंत्रात्मक नियमों द्वारा इस वर्ग को व्यवस्था से संयुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। जहाँ कहीं मध्यमवर्ग के लोगों की संख्या अन्य दोनों वर्गों की संख्या से अधिक होती है,—अथवा अन्य दोनों में से एक की संख्या से भी अधिक होती है तो ऐसी अवस्था में स्थायी व्यवस्था की स्थापना

वर्ग वहुत वड़ा होता है उस राष्ट्र के नागरिकों में द्वन्द्व और कलह की संभावना वहुत कम होती है। वड़े वड़े राष्ट्र इसीलिए द्वन्द्व से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त होते हैं क्योंकि उन में मध्यम वर्ग वहुत वड़ा होता है; जव कि (इसके विपरीत) छोटे राष्ट्रों में सव जनता का केवल दो दलों---निर्धन और धनवान् में विभक्त हो जाना और दोनों दलों के मध्य में कुछ न रह जाना---वड़ी सरल वात है। और जनतंत्र जो धनिकतंत्र की अपेक्षा अधिक सुदृढ़तया सुरक्षित और अधिक काल तक स्थायी रहता है उसका कारण भी यही मध्यमवर्ग है जो कि जनतंत्र शासन-पद्धति में वहुसंख्यक होता है और धनिकतंत्र पद्धति की अपेक्षा अधिक शासनाधिकार का उपभोग करता है। जिन जनतंत्रों में मध्यम वर्ग नहीं होता और वित्तहीन जनता की संख्या वढ़कर वहुत अधिक हो जाती है तो असफलता का जन्म होता है और सर्वनाश सत्वर ही आ उपस्थित होता है। इस वर्ग की महत्ता का एक प्रमाण यह भी है कि श्रेष्ठ नियम-निर्माता (अथवा स्मृतिकार) मध्यवित्तवाले वर्ग में ही उत्पन्न हुए हैं। सौलॉन् (जैसा कि उसकी कविता से प्रकट होता है) इन्हीं में से एक था; दूसरा लीकरगॉस् था (वह, जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, राजा नहीं था); यही वात खारौन्दास और वहुत से अन्य नियमनिर्माताओं के विषय में भी ठीक है।[६]

इन उपर्युक्त विचारों से यह वात स्पष्ट समझ में आ जायगी कि अधिकांश शासन-पद्धतियाँ क्योंकर या तो जनतंत्रात्मक होती हैं और या धनिकतंत्रात्मक। प्रथम तो ऐसा इस कारण से होता है कि वहुधा राष्ट्रों में मध्यमवर्ग वहुत छोटा होता है; अतएव परिणाम यह होता है कि जव कभी मुख्य वर्गों में से कोई एक अथवा दूसरा---सम्पत्तिशालीवर्ग अथवा (साधारण) जनवर्ग---प्रवल हो उठता है तो वह मध्यम स्थिति का अतिक्रमण कर जाता है एवं अपने स्वभावानुसार विधान-व्यवस्था वनाकर या तो जनतंत्र की स्थापना करता है अथवा धनिकतंत्र की। दूसरा कारण यह है कि साधारण जनवर्ग और सम्पत्तिशाली वर्ग के वीच में शीघ्र ही दलगत कलह और झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं और फिर चाहे कोई भी दल वलवान् क्यों न हो (चाहे जिस दल की विजय हो) वह सर्वहितकारी व्यवस्था की स्थापना नहीं करता और समता के सिद्धान्त पर आश्रित व्यवस्था की ही स्थापना करता है, प्रत्युत राजनीतिक प्राधान्य को ही विजयोपहार मानकर, (अपने अपने सिद्धान्तानुसार) या तो जनतंत्र का निर्माण करता है या धनिकतंत्र का। फिर हैलेनीस जाति में जिन दो राष्ट्रों (अथेन्स और स्पार्टा) का प्राधान्य रहा उनकी नीति भी निन्दायोग्य रही है। इनमें से प्रत्येक ने अपनी अपनी नीति पर ध्यान दिया है, एक ने अपने अधीन राष्ट्रों में जनतंत्र की स्थापना की है, दूसरे ने

(स्पार्टा ने) धनिकतंत्र की; उन्होंने जनता के हितों को नहीं देखा प्रत्युत अपने पृथक् पृथक् हितों पर ही दृष्टि रक्खी।[3] इन कारणों से यह बात समझ में आ जाती है कि क्योंकर मध्यमवर्ग की शासन-पद्धति कभी स्थापित नहीं हो सकी, अथवा यदि हो भी सकी तो बहुत थोड़े अवसरों पर और बहुत थोड़े से राष्ट्रों में।.....अब तक जितने मनुष्यों को (हैलेनीस जाति में) प्रभुत्व प्राप्त हुआ है उनमें से एक और केवल एक ही व्यक्ति ऐसा हुआ है जिसने इस प्रकार की शासन-पद्धति की स्थापना के लिये अपने को सहमत होने दिया था।[6] और अब तो प्रत्येक राष्ट्र (अथवा राष्ट्र के नागरिकों) का यह स्वभाव बन गया है कि वे समानता को चाहते तक नहीं प्रत्युत या तो वे दूसरों पर आधिपत्य जमाना चाहते हैं, या (यदि पराजित हो गये तो) चुपके से अधीनता स्वीकार कर लेते हैं।

(अधिकांश राष्ट्रों के लिए) सर्वोत्तम प्रकार की शासन-पद्धति कौन-सी है और और उसके सर्वोत्तम होने के क्या कारण हैं, यह बात उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो गई। और क्योंकि अब, जब कि हमने एक बार यह निश्चय कर लिया है कि कौन-सी पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, अन्य सब शेष प्रकार की पद्धतियों को (जनतंत्र और धनिकतंत्र दोनों ही के उन विविध प्रकारों के सहित, जिनका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं) लेकर उनके गुणों की अपेक्षाकृत अच्छाई और बुराई के अनुसार उनको—प्रथम, द्वितीय इत्यादि क्रमकोटि में व्यवस्थित करना कोई कठिन कार्य नहीं होगा। यदि हम विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विचार (परीक्षण) न करें प्रत्युत सामान्य दृष्टि से ही विवेचना करें तो वह पद्धति अन्य सब पद्धतियों की अपेक्षा अधिक अच्छी होगी जो कि श्रेष्ठ पद्धति के समीपतम है तथा जो मध्यम स्थिति से नितान्त विप्रकृष्ट है वह सर्वदा अन्य पद्धतियों से अपेक्षाकृत बुरी होगी। "विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए" इस वाक्यांश का प्रयोग मैंने इसलिये किया है कि बहुधा ऐसा होना संभव है कि किसी विशेष परिस्थिति में अथवा विशिष्ट लोक-समूह के लिए) एक प्रकार की पद्धति अपेक्षाकृत अधिक वरणीय हो पर तो भी किसी दूसरी ही पद्धति को उनके लिये अधिक उपयक्त होने से कोई न रोक सके।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू प्लातोन की अपेक्षा यथार्थवादी है अतएव उसको सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक शासन-पद्धति का विवेचन आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। पर साथ ही साथ वह इस प्रकार की व्यवस्था का संबंध जीवन-पद्धति से जोड़ता है।

तो दोनों दलों के व्यवहार का संयोग करना आवश्यक होगा; अर्थात् निर्धन लोगों को उपस्थिति के लिए वेतन देना होगा और धनवानों पर अनुपस्थिति के कारण दण्ड डालना पड़ेगा। इस उपाय से ही सब लोग समान शासन-व्यवस्था में भाग ले सकेंगे; अन्यथा ऐसा न होने पर शासन-व्यवस्था केवल किसी एक पक्ष की वशवर्तिनी हो जाती है। "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति केवल उन्हीं लोगों से घटित होनी चाहिये जो शस्त्रास्त्र प्राप्त किये हुए हैं (और इसके लिये धनसंबंधी योग्यता की आवश्यकता स्पष्ट ही है।) पर इस आर्थिक योग्यता की मात्रा को प्रत्येक अवस्था में निरपेक्ष भाव से निर्णय करके बतला देना संभव नहीं है। प्रत्येक अवस्था में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि किस प्रकार अधिक से अधिक आर्थिक योग्यता निर्धारित की जाय जिससे कि शासन-व्यवस्था में भाग लेनेवाले लोगों की संख्या भाग न लेनेवालों से अधिक हो सके। निर्धन लोग, (यदि उनके प्रति हिंसात्मक अत्याचार न किया जाय एवं उनको उनकी सम्पत्ति (सत्त्व) से वंचित न किया जाय) तो शासन-व्यवस्था में बिना भाग लिये हुए चुपचाप सन्तुष्ट रहना चाहते हैं। पर (निर्धन लोगों के प्रति) यह (मृदुल) व्यवहार उपलब्ध होना सरल कार्य नहीं है। जो लोग राजकीय सत्ता का उपभोग करते है वे दीनों के प्रति सर्वदा दयालु नहीं रहा करते। जब युद्धकाल होता है तो यदि निर्धन लोगों को भोजन न मिले तो वे सामान्यतया सेवा करने से आनाकानी किया करते हैं और इस प्रकार अकिंचन रह जाते हैं। पर यदि उनका भरण-पोषण किया जाता है तो लड़ने को (लड़ाई में सेवा करने को) प्रस्तुत हो जाते हैं।

कुछ शासन-व्यवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनमें शासन-सत्ता में भाग लेने का अधिकार न केवल विद्यमान समरसेवी (शस्त्रधारी) जनता को प्राप्त होता है प्रत्युत भूतकाल में युद्धसेवारत लोगों को भी प्राप्त होता है।[१] (थैसली के दक्षिण में "मलिय" राष्ट्र में शासन-व्यवस्था में इनको मतदान का अधिकार प्राप्त था पर पदाधिकारी-गण (मजिस्ट्रेट लोग) वर्तमान युद्धसेवारत लोगों में से चुने जाते थे। प्राचीन काल में ग्रीस देश में एकराट् शासन-व्यवस्था की समाप्ति के पश्चात् जो आदि (प्रथम) शासन-व्यवस्था बनी उसमें योद्धावर्ग ही मतप्राप्त नागरिक-वर्ग था (अथवा वह व्यवस्था योद्धावर्ग में से ही घटित हुई थी।) और आरंभ में तो यह (शासन-व्यवस्था) अश्वारोही सामन्तों से ही बनी थी। उस समय सैनिक शक्ति और श्रेष्ठता अश्वारोहियों का ही विशेषाधिकार था। पैदल सेना तो बिना विशिष्ट व्यूह-रचना के व्यर्थ ही थी। और क्योंकि उस पुरातन काल में इस व्यूह-रचना का अनुभव और तत्संबंधी नियमों का ज्ञान उपलब्ध नहीं था अतएव उस समय की सेनाओं की शक्ति अश्वारोही दल में ही निहित

थी। पर जब नगरों का आकार बढ़ने लगा और शस्त्रधारी पैदल सेना की शक्ति बढ़ गयी तो शासन-सत्ता (राजनैतिक अधिकारों) का भोग करनेवालों की संख्या भी बढ़ गयी। यही कारण है कि जिस शासन-पद्धति को हम आजकल "व्यवस्था" का नाम देते हैं उसको उस आरम्भिक काल में "जनतंत्र" नाम दिया गया था। जैसा कि उचित ही है, पुरातन शासन-पद्धतियाँ धनिकतंत्र (=अल्पजनतंत्र) और राजतंत्रात्मक थीं। उस समय नगरों की जनसंख्या बहुत कम होने के कारण उनका मध्यमवर्ग बहुत बड़ा नहीं होता था। जनता संख्या में बहुत थोड़ी और संघटन की दृष्टि से भी बहुत दुर्बल थी अतएव ऊपर के लोगों द्वारा शासित होने में सन्तुष्ट थी।

मैंने इस प्रकार यह समझा दिया कि शासन-व्यवस्थाओं के इतने विभिन्न प्रकार किन कारणों से हैं और यह भी बतला दिया कि उनकी संख्या सामान्यतया बतलायी गयी संख्या से अधिक क्यों है। जनतंत्र की संख्या केवल एक नहीं है (प्रत्युत अधिक है) और अन्य व्यवस्था-प्रकारों के विषय में भी यही बात ठीक है। यह भी बतला दिया गया है कि उनमें क्या भेद है और किन कारणों से यह भेद उत्पन्न होते हैं। हमने यह भी समझा दिया कि सामान्यतया अधिकांश अवस्थाओंमें श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था कौन-सी हो सकती है, तथा अन्य सब शासन-पद्धतियों के विषय में यह बतला दिया कि कौन-सी पद्धति किस प्रकार के समाज के लिये उपयुक्त होती है। इन सब उपर्युक्त तथ्यों का वर्णन हो चुका।

टिप्पणियाँ

१. यहाँ शासन-व्यवस्थाओं से तात्पर्य मिश्र व्यवस्थाओं तथा धनिकतंत्र के मिश्र रूपों दोनों से ही है।

२. अर्थात् निर्धनों को यह शपथ करने की छूट दी जाती है कि "उनका स्वास्थ्य और साम्पत्तिक अवस्था ऐसी हीन है कि वे अपने पद का कार्य नहीं कर सकते।" पर धनवानों को इस प्रकार की शपथ करने की स्वतंत्रता नहीं होती।

३. खारोन्दास् का परिचय दिया जा चुका है।

४. अरिस्तू यहाँ शासन-व्यवस्था का युद्ध-संघटना से क्या संबंध है इस विषय का विवेचन करने की ओर भटक जाता है और ऐतिहासिक टिप्पणी प्रस्तुत कर देता है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि सैन्यसंघटना और युद्धकला का शासन-व्यवस्था से अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। आधुनिक इतिहास भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है।

५. प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय खंड के अन्त में अरिस्तू ने जो विषय-विवेचन-संबंधी प्रतिज्ञा की थी वह थोड़े बहुत विषयान्तर के साथ निभती चल रही। शेष प्रतिज्ञा की पूर्ति चतुर्थ पुस्तक के अवशिष्ट भाग और पंचम पुस्तक में की जायगी।

प्रतिकूल न हों; अथवा यदि विकल्परूपेण सबको एकत्रित होकर विचारने (=मंत्रणा देने) का अधिकार दिया जाय तो अन्तिम विचार (निर्णय) का अधिकार शासनाधिकारियों की समिति को ही होना चाहिये। (यदि इस अन्तिम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो) उसका उपयोग इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि वह "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति में इसके प्रयोग का उलटा हो। प्रस्तावों के निषेध के लिये जनता के बहुमत को सर्वोपरि माना जाना चाहिये, पर प्रस्तावों को स्वीकार करने में उसकी सर्वोपरिता नहीं होनी चाहिये। जिन प्रस्तावों को जनता का बहुमत मान ले वे पुनः शासनाधिकारियों की अनुमति के लिये भेजे जाने चाहिये। "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धतियों में इससे उलटी कार्यप्रणाली बरती जाती है। अल्पवर्गीय (=शासनाधिकारी) लोगों को प्रस्तावों के निषेध का सर्वोपरि अधिकार होता है, स्वीकार करने का नहीं; जिस किसी प्रस्ताव को वे स्वीकार करते हैं उसको बहुसंख्यक लोगों की स्वीकृति के लिये भेजा जाता है।

राष्ट्रों की व्यवस्था के विचारणात्मक अथवा सर्वोच्च तत्त्व के विषय में हमारे निर्णय यही (उपर्युक्त) हैं।

टिप्पणियाँ

१. तीलैक्लीस् अथवा तेलैक्लेस् के विषय में जो कुछ यहाँ कहा गया है उससे अधिक ज्ञात नहीं हो सका है।

२. इस वाक्य को यदि इसके पहले के वाक्य के साथ मिलाकर पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह दोनों वाक्य उस सिद्धान्त को बहुत कुछ सीमित कर देते हैं जिसको इस अनुच्छेद (पैराग्राफ) के प्रथम दो वाक्यों में प्रस्तुत किया गया है; क्योंकि नगर-निवासी पारियों में थोड़े से विषयों पर विचार कर सकेंगे। इस प्रकार तो सब विषयों का निर्णय सब नगरवासियों द्वारा नहीं होगा। देखा जाय तो शेष पैराग्राफ में जो कहा गया है वह प्रारम्भिक कथन का सीधा विरोध करता है।

३. (अथवा गुटिका द्वारा) यह शब्द प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। क्योंकि इन शब्दों को मौलिक ग्रंथ का भाग मानने पर तो यह वाक्य जनतंत्र का वर्णन हो जायगा न कि श्रेष्ठजनतंत्र का।

(४) यह प्रतिनिधि-प्रणाली के संबंध में सुझाव है।

वि०—(क) कुछ व्यक्तियों को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्राचीन यूनान में शासन-व्यवस्था में आधुनिक प्रकार का विधान-निर्माण (लेजिस्लेटिव), कार्यसम्पादन (एग्जीक्यूटिव), न्याय-प्रतिपादन (जुडीशियरी) वृत्तियों का विभाजन विद्यमान था।

पर ऐसा समझना ठीक नहीं होगा। क्योंकि विचार-(क) परिषद् विशुद्धरूप से नियम-निर्माता नहीं थी। उसका कार्य न्याय करना और कार्य सम्पादन करना भी था। मजिस्ट्रेटों के ऊपर विचारक-परिषद् का हस्तक्षेप चलने के कारण वे कार्यसम्पादन में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं थे। इसी प्रकार न्याय करने का कार्य विधिपूर्वक नियुक्त न्यायाधीशों के द्वारा नहीं प्रत्युत जनसाधारण द्वारा निर्मित न्यायालयों द्वारा किया जाता था। एक प्रकार से देखा जाय तो विचारक तत्त्व का सर्वोपरि प्राधान्य था। चुनाव में मतदान और गुटिका प्रयोग किस प्रकार होता था इसको भली भाँति समझने के लिए अरिस्तू के अथेन्स के संविधान को देखना चाहिये।

(ख) विभिन्न प्रकार की समिति और परिषदों के लिए तीन नाम प्रचलित थे--(१) ऐक्ली(ले)सिया समग्र जनता की परिषद् थी। (२) बूले यह नगर के विभागों में से चुने हुए व्यक्तियों की परिषद् थी। (३) प्र (प्री)तानेइया कार्य-कारिणी परिषद् थी। यह नाम अथेंस में प्रचलित थे। स्पार्टा में बूले को गेरूसिया= स्थविर परिषद् कहते थे। इनके विषय में अरिस्तू ने अथेन्स के संविधान में विस्तार-पूर्वक लिखा है।

१५

शासनाधिकारी और उसकी नियुक्ति

इसके पश्चात् हमको राष्ट्र-व्यवस्था के दूसरे विभाग अर्थात् शासनाधिकारियों के विभाग का विचार करना है। शासन-व्यवस्थाओं का यह विभाग (मंत्रणा अथवा विचारणा-विभाग के समान) अनेकों प्रकार से व्यवस्थित हो सकता है। शासनाधि-कारियों की संख्या कितनी हो? उनकी सत्ता किन किन विषयों पर होनी चाहिये? और समय के विषय में भी (यह प्रश्न है) कि प्रत्येक का कार्य-काल कितना हो? कहीं (अथवा कभी) तो उनका कार्य-काल ६ महीने होता है, कहीं (कभी) इससे भी कम; कहीं (कभी) एक वर्ष होता है, और कहीं (कभी) इससे दीर्घतर काल होता है। और क्या शासनाधिकार-पद का कार्यकाल सर्वदा (आजीवन) चल सकता है अथवा बहुत वर्षों तक चलना चाहिये; अथवा यदि यह दोनों विकल्प न माने जायँ किन्तु शासना-धिकारियों की नियुक्ति अनेक बार (थोड़े थोड़े समय के पश्चात्) हुआ करे तो क्या एक ही व्यक्ति अनेकशः (उस) पद पर नियुक्त किया जा सकता है, अथवा कोई भी व्यक्ति दो बार नहीं केवल एक बार नियुक्त हो सकेगा? शासनाधिकारियों की नियुक्ति के विषय में विचारणीय यह है कि उनका चुनाव किन लोगों में से हो, वे किन

हैं। जब कि विचारक-समिति के सदस्य परिमित (मर्यादित) सम्पत्ति की योग्यता के आधार पर चुने जाते हैं और इसी कारण पर्याप्त रूप में बहुसंख्यक होते हैं, तथा जिस विषय में (परिवर्तन करने के लिये) नियम निषेध करता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं करते, प्रत्युत नियम का ही अनुसरण करते हैं, और जब उन सब मनुष्यों को विचारक-समिति में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जो साम्पत्तिक योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, तो यद्यपि यह पद्धति यों तो अल्पजनतंत्र है तथापि इस मर्यादा या परिमिति के कारण इसका झुकाव तथाकथित "व्यवस्था" की ओर है। जब राष्ट्रहित के चिन्तन का अधिकार (परिमित साम्पत्तिक योग्यतावाले) सब व्यक्तियों को नहीं होता प्रत्युत थोड़े से चुने हुए व्यक्तियों को ही होता है, पर यह व्यक्ति पूर्वोक्त व्यक्तियों के सदृश नियमानुसार कार्य-संचालन करते हैं, तो भी यह पद्धति अल्पजनतंत्रात्मक ही होती है। और जब वे लोग जिनको राष्ट्रीय कार्यों का विचार करने का अधिकार प्राप्त होता है स्वयं अपने को निर्वाचित करते हैं और जब पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है तथा जब सर्वोपरि सत्ता स्वयं ये लोग ही होते हैं, नियमों की सत्ता सर्वोपरि नहीं होती तो इस प्रकार की व्यवस्था अनिवार्यतया अल्पजन (= धनिक)-तंत्रात्मक होती है।

और जब कुछ लोगों को कुछ ही विषयों पर विचार करने का अधिकार होता है—उदाहरणार्थ जब सब नागरिक लोग युद्ध और शान्ति के विषय में विचार करने का अधिकार रखते हैं और शासनाधिकारियों के कार्यों के परीक्षण का अधिकार भी रखते हैं—पर अन्य सब कार्यों के प्रबन्ध का अधिकार शासनाधिकारियों को होता है, एवं यह शासनाधिकारी मतदान द्वारा (अथवा गुटिका द्वारा)[1] नियुक्त किये जाते हैं—तो यह शासन-व्यवस्था श्रेष्टजनतंत्र होती है। यदि कुछ प्रश्नों का निर्णय मतदान द्वारा नियुक्त शासनाधिकारियों के अधिकार में हो और अन्य कुछ का निर्णय गुटिका द्वारा नियुक्त किये अधिकारियों के अधिकार में (और गुटिका द्वारा नियुक्त होने का अधिकार या तो निरपेक्ष भाव से सबको हो अथवा पहले से ही चुने हुए कुछेक व्यक्तियों को ही हो) अथवा सभी विचारणीय प्रश्न मतदान द्वारा नियुक्त एवं गुटिकापात द्वारा नियुक्त सत्ताधारियों के मिश्रित पटल के समक्ष निर्णय के लिये जायँ और वे एक साथ उन पर विचार करें तो इस प्रकार की व्यवस्था अंशतः श्रेष्ठजनतंत्रात्मक पद्धति जैसी होती है और अंशतः विशुद्ध "व्यवस्था" नामक पद्धति के सदृश होती है।

विचारक-समिति "बूले" के यही (उपर्युक्त) विविध प्रकार हैं जो विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों के अनुरूप हैं। प्रत्येक शासन-पद्धति हमारे द्वारा ऊपर वर्णन किये हुए व्यवस्था-संस्थानों के अनुसार व्यवस्थित की जाती है। जनतंत्र के हित की,

(अर्थात् उस जनतंत्र के हित की जो कि आजकल विशेष प्रकार से जनतंत्रात्मक समझा जाता है, तथा जिसमें जनता की सत्ता सर्वोपरि होती है, और वे नियमों पर भी शासन करते हैं) बात यह है कि विचारक-समिति की योग्यता को सुधारने के लिये वह उसी योजना को अंगीकार कर ले जो कि धनिकतंत्र न्यायालय के संबंध में प्रयुक्त करते हैं। न्यायालय में (न्याय-निर्णय के लिये) जिनकी उपस्थिति आवश्यक है उनकी उपस्थिति के निमित्त वे (धनिक लोग) उन पर अर्थदण्ड (जुर्माना) डालते हैं—जब कि दूसरी ओर जनतंत्र न्यायालयों में निर्धनों की उपस्थिति के लिये उनको वेतन देते हैं। जनतंत्र को इस योजना का प्रयोग विचारसभा (एक्लीसिया) के संबंध में करना चाहिये, क्योंकि जब सब लोग एक साथ मिलकर विचार करते हैं—अर्थात् जब साधारण जनता गण्यमान (सुविख्यात) पुरुषों के साथ और गण्यमान पुरुष साधारण जनता के साथ मिलकर विचार करते हैं तो अपेक्षाकृत अधिक अच्छा विचार होता है। जनतंत्र के लिये यह भी लाभदायक अथवा हितकारी बात होगी कि राष्ट्र के सभी (भागों, खण्डों) वर्गों में से समान संख्यावाले प्रतिनिधि विचार-समिति (मंत्रणा-समिति) में उन वर्गों का प्रतिनिधित्व करें और वे प्रतिनिधि या तो मतदान द्वारा निर्वाचित हों अथवा गुटिकापात द्वारा नियुक्त।[1] और यदि साधारण जनता की संख्या राजनीतिक (नागरिक) अनुभव-प्राप्त गण्यमान लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक हो तो यह बात जनतंत्र के लिये लाभदायक होगी कि विचार-समिति में उपस्थिति के लिये दिया जानेवाला वेतन सब साधारण लोगों को न दिया जाय केवल उतने लोगों को दिया जाय जितने कि गण्यमान लोगों की संख्या को अपनी संख्या से संतुलित कर सकें, अथवा गण्यमान सदस्यों की संख्या जनसाधारण की संख्या जितनी अधिक हो उतनी को गुटिका-प्रयोग द्वारा निवारित कर दिया जाय।

अल्प (=धनिक)-जनतंत्रों में या तो जनता के कुछ लोग विचार-समिति के लिये चुन लिये जाने चाहिये अथवा एक ऐसी अधिकारियों की संस्था निर्माण कर ली जानी चाहिये जैसी कि कुछ राष्ट्रों में प्राग्विचार-समिति और नियमरक्षिणी समिति के नाम से पाई जाती है; और तब विचार-समिति (नागरिक-समिति) को उन प्रश्नों के विषय में व्यापृत (संलग्न) होने देना चाहिये जिन पर प्राग्विचार-समिति विचार कर चुकी हो। इस प्रकार साधारण समूह को राष्ट्र-चिन्तन में भाग प्राप्त हो जायेगा पर वे शासन-व्यवस्था के किसी भी तत्त्व अथवा नियम को भी शिथिल नहीं कर सकेंगे। फिर, अल्प (=धनिक)-जनतंत्रों में जनता को या तो उन्हीं विषयों पर मतदान देना चाहिये जो सरकार द्वारा सम्मत हों अथवा जो कम से कम सरकार द्वारा प्रस्तुत योजनाओं के

१४

शासन-व्यवस्था के तीन तत्त्व-विचार-तत्त्व

इस प्रकार विवेचना के लिये समुचित आधार प्राप्त करके हम अब क्रम-प्राप्त विषय (शासन-व्यवस्था की स्थापना की पद्धतियों) का विवरण उपस्थित कर सकते हैं। हमको इस विषय का वर्णन सामान्य रूपेण भी करना होगा और विशिष्ट प्रकार की व्यवस्थाओं के संबंध में पृथक् पृथक् भी। सब शासन-व्यवस्थाओं में तीन तत्त्व होते हैं, और इनके विषय में प्रत्येक नियम-निर्माता को यह देखना चाहिये कि किसी भी व्यवस्था में इन तीनों तत्त्वों के लिये क्या बात (प्रबंध) लाभदायक (या व्यवहार्य) हो सकता है। यदि ये (तीनों तत्त्व) सुव्यवस्थित होते हैं तो नगर (–राष्ट्र) भी अवश्यमेव सुव्यवस्थित होता है, और यदि ये विभिन्न प्रकार से घटित होते हैं तो शासन-व्यवस्थाएँ भी विभिन्न प्रकार की होती हैं। इन तीन तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व सार्वजनिक अथवा सामाजिक विषयों की चिन्ता अथवा विचारणा से संबंध रखनेवाला है। दूसरा तत्त्व शासनाधिकारियों (मजिस्ट्रेटों) का है। इनके विषय में विचारणीय प्रश्न यह है कि यह शासनाधिकारपद क्या है; किन किन विषयों पर उसकी सत्ता होनी चाहिये और इन पदों के अधिकारी किस प्रकार चुने जाने चाहिये? इत्यादि। तीसरा तत्त्व वह है जिसको न्यायाधिकार प्राप्त है।

विमर्शक अथवा विचारक तत्त्व को, विग्रह और शान्ति, सन्धि और विश्लेप, नियम-निर्धारण, मृत्यु-दण्ड, निर्वासन, संपति-अपहरण, शासनाधिकारियों की नियुक्ति और उनके कार्यकाल की समाप्ति पर उनके कार्य की पड़ताल, इन सब विषयों पर सर्वोपरि सत्ता प्राप्त होती है। अवश्य ही इन सब विषयों पर निर्णय का अधिकार या तो सब नागरिकों को दिया जा सकता है, अथवा कुछ (थोड़े से लोगों को) सब विषयों पर निर्णय का अधिकार दिया जा सकता है (उदाहरणार्थ, उनको या तो एक पदाधिकारी को सौंप दिया जाता है या एक पदाधिकारी मण्डल को, अथवा पृथक् पृथक् विषयों को पृथक् पृथक् पदाधिकारियों को सौंप दिया जाता है) अथवा कुछ विषयों के निर्णय का अधिकार सब नागरिक लोगों को दिया जा सकता है और अन्य कुछ विषयों के निर्णय का अधिकार केवल कतिपय लोगों को दिया जा सकता है।

सब विषयों का निर्णय सब नागरिकों द्वारा किया जाना जनतंत्रात्मक पद्धति का विशेष लक्षण है। साधारण जनता इसी प्रकार की समानता को चाहती है (खोजती है)।

पर सब लोगों के शासन-कार्य में भाग ले सकने के लिये भी अनेकों विभिन्न उपाय संभव हैं। एक उपाय यह है कि सब लोग किसी समस्या पर एक ही बार विचार न करें, प्रत्युत टोलियों में बँटकर बारी बारी से विचार करें। मिलेतस् निवासी "तीलेक्लीन" की शासन-पद्धति में यही योजना थी। (*कुछ अन्य शासन-पद्धतियों में पदाधिकारियों* के विभिन्न पटल एक साथ मण्डलीभूत होकर किसी विषय पर विचार किया करते हैं, पर इन पदाधिकारियों के पटलों में जनता की सभी जातियों और जातियों के भी छोटे छोटे से वर्ग के लोग बारी बारी से चुने जाकर आया करते हैं, यहाँ तक कि अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी बारी मिल जाती है)। नागरिक लोग तो केवल नियम बनाने के लिये, विधानसंबंधी बातों पर विचार करने के लिये तथा शासनाधिकारियों के शासनादेश सुनने के लिये ही एकत्रित हुआ करते हैं।[२] एक अन्य उपाय, जिसके अनुसार प्रथम योजना सिद्ध हो सकती है, यह है कि सब नागरिक विचार करने के लिये एक समिति-समूह में एकत्रित हों पर वे केवल पदाधिकारियों की नियुक्ति और परीक्षण, नियम-निर्माण एवं युद्ध तथा शान्ति पर विचार करने के लिये एकत्रित हों। अन्य विषय (यथा, मृत्युदण्ड, निर्वासन एवं स्वत्वापहरण इत्यादि) उन पदाधिकारियों को सौंप दिये जाते हैं जो क्रमशः उन विषयों पर विचार करने के लिये सब नागरिकों के मध्य में से या तो मतदान द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं अथवा शलाकाग्रहण द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। तीसरा ढंग यह है कि सब नागरिक लोग पदाधिकारियों की नियुक्ति और परीक्षण के लिये तथा विग्रह और संधि के विषयों पर विचार करने के के लिये एकत्रित हों और अन्य विषय (जैसे कि नियम बनाना अथवा बड़े दण्ड देना इत्यादि) शासनाधिकारियों को सौंप दिये जायँ---जो शासनाधिकारी यथासंभव चुने हुए हों। यहाँ चर्चा उन पदाधिकारियों की है जिनका अनुभवी और ज्ञानसंपन्न होना आवश्यक है। चौथा उपाय यह है कि सब नागरिक सब विषयों पर विचार करने के लिये एकत्रित होते हैं। शासनाधिकारियों को किसी विषय के निर्णय करने का अधिकार नहीं होता, केवल प्रारंभिक परीक्षण (अन्वेषण) करने का अधिकार होता है। और यही वह ढंग है जिसके अनुसार जनतंत्र का आत्यन्तिक प्रकार आजकल शासन-पद्धति के रूप में चल रहा है---जनतंत्र का यह प्रकार हमारे मत में तो वंशानुगत अल्पजनतंत्र और एकराजतंत्र के तानाशाही प्रकार के अनुरूप है।

यह सब उपर्युक्त पद्धतियाँ जनतंत्रात्मक हैं। दूसरी ओर, वह पद्धति जिसके अनुसार थोड़े से व्यक्ति सब विषयों का विचार करते हैं, अल्पजनतंत्रात्मक धनिकतंत्रात्मक) होती है। इस पद्धति के भी (जनतंत्र के समान) बहुत से भेद

लोगों के द्वारा चुने जायँ और कैसे चुने जायँ ? इन सब प्रश्नों के विषय में प्रथम तो यह निर्धारित किया जाना चाहिये कि कितने विविध प्रकार के ढंग उनके लिये प्रयुक्त होने संभव हैं; और तब हम यह निर्धारण करने के योग्य हो सकेंगे कि किस प्रकार की शासन-पद्धति के लिये किस प्रकार के शासनाधिकारी समुपयुक्त होंगे। पर (सब से पहले) यही निर्णय करना सरल नहीं है कि शासनाधिकारी शब्द से किसका बोध होना चाहिये। किसी भी नागरिक (राजनीतिक) समाज को बहुत से शासनाधिकारियों की आवश्यकता होती है। अतएव वे सभी व्यक्ति जो या तो निर्वाचन द्वारा चुने जाकर अथवा गुटिका द्वारा नियुक्त किये जाते हैं शासनाधिकारी नहीं माने जाने चाहिये। पहले पुरोहितों को लें, तो इनको राजनीतिक शासनाधिकारियों से इतर (भिन्न) माना जाना चाहिये।[2] यही बात गायक मण्डली के नायकों[3] और घोषकों[4] के विषय में भी लागू होती है; और निर्वाचन तो राजदूतों[5] तक का होता है। पर कुछ अध्यक्षता संबंधी कार्य राजनीतिक होते है, जो या तो किसी (विशिष्ट) कार्यक्षेत्र में समग्र जनता की अध्यक्षता से संबंध रखते हैं, जैसे कि सेनानायक युद्ध-क्षेत्र में सेना का संचालन करता है, अथवा नागरिकों के एक अंशमात्र की अध्यक्षता से संबंध रखते हैं; जैसे कि स्त्रियों और बालकों के निरीक्षक उनकी देखभाल करते है। अन्य कुछ कार्य गृहप्रबंध संबंधी होते हैं, जैसा कि अनेकों राष्ट्रों में उपलब्ध होनेवाला अन्न-मापक का पद है, तथा जिसके पदाधिकारी निर्वाचित होते हैं। कुछ कार्य निम्न कोटि के भी होते हैं, जिनको सम्पन्न (नगरों में) दासों के द्वारा निष्पन्न कराया जाता है। साधारण बोलचाल में इन सब पदाधिकारियों में से शासनाधिकारी नाम का प्रयोग उनके लिये होना चाहिये जिनको किसी विशेष क्षेत्र में विचार करने, निर्णय करने और आदेश (=आज्ञा) करने के कार्य के लिये—विशेषकर इस अन्तिम कार्य के लिये नियुक्त किया गया हो; क्योंकि आदेश करना ही शासनाधिकारी का विशेष लक्षण है। पर इससे व्यवहार में तो कुछ अन्तर पड़ता नहीं, ऐसा कह सकते हैं। अभी तक इस नाम से संबंध रखनेवाले विवाद पर न्यायालयों में कोई निर्णय नहीं दिया गया (अभी तक इस नाम के संबंध में विवाद करनेवालों को कोई निर्णय नहीं मिला है)। हाँ (इसके अर्थ की मीमांसा) का महत्त्व बौद्धिक विवेचना के संबंध में अवश्य है।

किस प्रकार के और कितने शासनाधिकार पद किसी राष्ट्र के अस्तित्व के लिये परम आवश्यक (अनिवार्य) हैं, तथा कौन से ऐसे हैं जिनका होना अनिवार्य तो नहीं है पर जो अच्छी व्यवस्था की प्राप्ति के लिये उपयोगी हैं ? यह प्रश्न ऐसे हैं जो यों तो सभी राष्ट्रों की व्यवस्था की विवेचना के संबंध में महत्त्वपूर्ण हैं पर विशेष रूप से छोटे

राष्ट्रों के संबंध में तो इनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। विशाल राष्ट्रों में तो यह संभव भी है और समुचित भी कि प्रत्येक पृथक् कार्य के लिये पृथक् शासनाधिकार-पद हो। नागरिकों की संख्या अधिक होने के कारण ऐसा संभव है कि बहुत से लोग पदाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। अतएव ऐसा हो सकता है कि कुछ शासनाधिकार-पदों को तो लोग सुदीर्घ काल के पश्चात् एक से अधिक बार प्राप्त कर सके पर अन्य कुछ को जीवन भर में केवल एक ही बार प्राप्त कर सकेंगे। और यह तो निश्चय ही है कि वही कार्य अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होगा जो कि एक अविभाज्य विचार (अथवा चिन्तन के) साथ किया जायगा, न कि वह जो अन्य बहुत से कार्यों के साथ किया जायगा।

पर छोटे राष्ट्रों में तो अवश्य ही बहुत से शासनाधिकार-पद थोड़े से मनुष्यों के हाथों में इकट्ठे सौंपने पड़ते हैं। नागरिकों की संख्या कम होने के कारण, बहुत से व्यक्तियों का एक साथ शासनपदारूढ़ होना सरल कार्य नहीं होता। और यदि ऐसा हो भी तो फिर उनका उत्तराधिकारी कौन हो सकेगा? पर तो भी यह सत्य है कि कभी कभी छोटे राष्ट्रों को भी उन्हीं अधिकार-पदों और (तत्संबंधी) उन्हीं नियमों की आवश्यकता होती है जिनकी आवश्यकता बड़े राष्ट्रों को हुआ करती है। अन्तर केवल इतना है कि बड़े राष्ट्रों को शासनाधिकार-पदों (शासनाधिकारियों) की आवश्यकता बहुधा हुआ करती है और छोटे राष्ट्रों को केवल कभी-कभी सुदीर्घ काल के उपरान्त। अतएव ऐसी कोई बात नहीं है, (जो छोटे राष्ट्रों में) पदाधिकारियों के ऊपर एक साथ अनेकों कार्यों के भार को डालने के मार्ग में बाधक हो सके, क्योंकि वे (कार्य तो) परस्पर एक दूसरे के मार्ग में बाधक नहीं होंगे। जब राष्ट्रों की जनसंख्या थोड़ी हो तो शासनाधिकार-पद अवश्य ही ऐसे सूचीमुख-दीप'-स्तम्भ के समान होना चाहिये जो दीवट का भी काम दे सके।

यदि हम पहले ही यह निश्चयपूर्वक जान सकें कि प्रत्येक (सभी) राष्ट्र के लिये कितने शासनाधिकार-पद अनिवार्यरूपेण आवश्यक हैं, तथा कितने ऐसे हैं जो अनिवार्य न होते हुए भी उपयोगिता की दृष्टि से (राष्ट्र में) होने चाहिये तो फिर यह जानना सरलतर हो जायगा कि एक अधिकार-पद में कितने कार्य एक साथ सम्मिलित किये जा सकते हैं। फिर हमको यह बात भी दृष्टि से ओझल नहीं होने देनी चाहिये कि कौन से विषय ऐसे हैं जिनके लिये विभिन्न स्थानों पर काम करनेवाले स्थानीय शासनाधि-कारियों के ध्यान की आवश्यकता है, तथा कौन से ऐसे हैं जिनके लिये समग्र शासन-क्षेत्र पर अधिकार रखनेवाली केन्द्रीय सत्ता सर्वोपरि होनी चाहिये।' उदाहरण

थी। उनको न तो विशेष धार्मिक अधिकार प्राप्त होते थे और न विशेष धर्म-संबंधी ज्ञान की आवश्यकता होती थी। कभी इनकी नियुक्ति एक सीमित समय के लिए होती थी और कभी-कभी जन्म भर के लिए। जो देव और देवी अविवाहित माने गये थे उनके पुजारी और पुजारिन भी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ होती थीं। कुछ देवताओं के पुजारी नपुंसक होते थे। कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों के पुजारियों का पद कुलक्रमागत भी होता था। इन लोगों की जीवन की आवश्यकताएँ तो निर्माल्य और चढ़ावे से ही पूरी हो जाती थीं और उसके अतिरिक्त इनको कुछ वेतन भी मिलता था।

२. सार्वजनिक नाटकोत्सव के अवसर पर नाटकों के लिए गायक-मण्डली का प्रवन्ध करना प्रभूतव्ययसाध्य कार्य था इसके लिए जाति-मण्डल पैसा एकत्रित किया करते थे।

३. घोषक का कार्य घोषणा करना और सन्देश-वहन करना था। यूनानी भाषा में उसको "केरीक्ष" अथवा में "केरुक्ष" कहते थे।

४. राजदूत के लिए ग्रीक भाषा में "प्रेस्व्यूतेस्" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

५. सूची मुखदीप-स्तम्भ के लिए मूल ग्रन्थ में "ओवेलिस्कोली ख्निया" शब्द आया है। भाव यह है कि जिस प्रकार ऐसा दीप-स्तम्भ कई कार्यों के लिए उपयोगी हो सकता है इसी प्रकार छोटे नगरों के पदाधिकारी कई प्रकार के काम करने में समर्थ होने चाहिये।

६. इससे यह प्रकट होता है कि यूनानी नगर-राष्ट्रों में केन्द्रीय और स्थानीय शासन का भेद था।

७. प्रोवूली (ले) नामक संस्था वूली अथवा वूले से छोटी परिषद् होती थी। इसका कार्य वूले के लिए कार्य-योजना प्रस्तुत करना था। पर यह अथेन्स में केवल एक वार ई० पू० ४१३ में एक वर्ष के लिये स्थापित की गई थी।

८. मूल में इनके लिए फीले (=कवीला) देमॉस् (=मुहल्ला) तथा फ्रात्रिया (=विरादरी) शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनके स्वरूप को समझने के लिए अरिस्तू का अथेन्स का संविधान देखना चाहिये।

९. इस खंड के अन्तिम दो अनुच्छेदों का पाठ गड़वड़ है। इसके लिये न्यूमैन के संस्करण की चौथी जिल्द के ३० पृष्ठ पर छोटे अक्षरों की पादटिप्पणी द्रष्टव्य है।

१६

न्यायालय और न्यायकर्ता

राष्ट्र के तीन अंगों (अर्थात् राष्ट्र-चिन्तन, कार्य-संचालन और न्याय) में से अव न्याय का विचार करना शेष है। इस विषय के निर्धारण में भी उसी पद्धति का

अनुसरण किया जाना चाहिये जो कि पूर्वोक्त विषय के लिए व्यवहृत हुई है। न्यायालयों की विभिन्नता तीन मर्यादाओं पर निर्भर है। (१) न्यायालय के सदस्य किन लोगों में से नियुक्त किये जाते हैं? (२) किन विषयों से उनका संबंध है? और (३) उनकी नियुक्ति किस प्रकार से होती है? "किन लोगों में से" कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायाधीश सब नागरिकों में से लिये जायँगे अथवा थोड़े से नागरिकों में से; किन विषयों से संबंध का भाव यह है कि न्यायालय कितने प्रकार के होते हैं, और "नियुक्ति किस प्रकार हो" का अर्थ यह है कि उनकी नियुक्ति गुटिका द्वारा होगी अथवा निर्वाचन द्वारा।

प्रथम हमको यही निर्णय कर लेना चाहिये कि न्यायालय कितने प्रकार के होते हैं। इनकी संख्या आठ है। इनमें से पहला न्यायालय शासनाधिकारियों के कार्य (आचरण) की प्रत्यालोचना करनेवाला है। दूसरा किसी भी सार्वजनिक अपराध का निर्णय करने के लिये है। तीसरा वह है जिसका संबंध शासन-व्यवस्था संबंधी व्यवहारों (अपराधों) से है। चौथा (जिसके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत, शासनाधिकारी और साधारण जन दोनों आते हैं) वह है जो कि दण्डशुल्क के व्यवहारों से संबंध रखता है। पाँचवें का क्षेत्र ऐसे जनसाधारण के व्यक्तिगत ठहराव हैं जिनमें विपुल राशि संबद्ध होती है। छठा न्यायालय हत्या-संबंधी अपराधों से संबंध रखता है और सातवाँ विदेशियों के मामलों से। हत्या के अपराधों का निर्णय करनेवाला न्यायालय कई प्रकार का होता है जो या तो एक सम्मिलित (एकत्रित) न्यायाधीशों के अधीन रह सकता है अथवा अलग अलग न्यायाधीशों के अधीन रह सकता है। (अथवा हत्या के विविध प्रकारों का निर्णय या तो एक ही न्यायालय में हो सकता है अथवा पृथक् पृथक् न्यायालयों में)। प्रथम प्रकार की हत्या वह है जो सोच-विचारकर की गई हो; दूसरी वह जो अनिच्छा से यों ही हो गई हो; तीसरे प्रकार के हत्यापराध वह हैं जिनमें अपराध को तो स्वीकार कर लिया गया हो पर जिसका औचित्य विवादग्रस्त हो। चौथा प्रकार हत्या के अपराधों का वह है जिसमें उस हत्याकारी के दण्ड का निर्णय किया जाता है जो पहले हत्या करने पर निर्वासित कर दिया गया था (अथवा भाग गया था) और अब लौट आने पर जिसने पुनः हत्या की है। इस प्रकार के निर्णय करनेवाला न्यायालय अथेन्स में "फ्रेयत्तो का न्यायालय"[१] नाम से पुकारा जाता है। पर इस प्रकार के मामले तो बड़े बड़े नगरों में भी बहुत ही विरल होते हैं। विदेशियों के विवादों के न्यायालय भी इसी प्रकार दो विभागों वाले होते हैं, एक वह जिनमें विदेशियों के विदेशियों से ही होनेवाले विवादों का निर्णय किया जाता है, दूसरे वह जिनमें विदेशियों और नागरिकों

चुने जायें और कुछ सब नागरिकों द्वारा ; कुछ अधिकारी सब नागरिकों में से चुने जायँ और कुछ थोड़े से नागरिकों में से तथा कुछ चुनाव द्वारा नियुक्त किये जायँ एवं कुछ गुटिका द्वारा।

उपर्युक्त विभिन्न विकल्प-प्रकारों में से प्रत्येक की चार प्रयोग-विधियाँ हैं। या तो सब नागरिक सब नागरिकों में से निर्वाचन द्वारा चुनकर पदाधिकारियों की नियुक्ति कर सकते हैं, अथवा सब नागरिक सब नागरिकों के मध्य में से गुटिका द्वारा चुनकर उनकी नियुक्ति कर सकते हैं (और यदि पदाधिकारी सब नागरिकों में से चुने जायें तो दोनों ही अवस्थाओं में वे या तो बारी बारी से विविध जनवर्गों में से--यथा कबीलों, मुहल्लों अथवा बिरादरियों में से--चुने जायँ और यह बारियाँ तब तक चालू रहें जब तक कि सब जनता की बारी न आ जाय और या यों ही बिना किसी भेद-भाव के सब में से चुन लिये जायँ); अथवा कुछ एक पदों की नियुक्तियाँ उपर्युक्त प्रकारों में से एक के अनुसार हों और कुछ एक की दूसरे प्रकार से। अथवा ऐसा हो सकता है कि सब नागरिक थोड़े से नागरिकों में से पदाधिकारियों को नियुक्त करें। फिर यदि केवल थोड़े (कुछ ही) लोग नियुक्ति करें तो वे या तो सब नागरिकों में से उनको निर्वाचन द्वारा नियुक्त करेंगे, अथवा सबमें से गुटिका द्वारा नियुक्त करेंगे; अथवा वे उनको कुछ ही नागरिकों में से या तो निर्वाचन द्वारा नियुक्त करेंगे या कुछ ही में से गुटिका के द्वारा नियुक्त करेंगे ; अथवा कुछ पदों की नियुक्ति एक (इस) प्रकार से करेंगे और कुछ अन्य की दूसरे (उस) प्रकार से। अर्थात् सब नागरिकों में से कुछ लोग निर्वाचन द्वारा नियुक्त किये जायँगे और कुछ पदों पर गुटिका द्वारा नियुक्तियाँ की जायँगी और कुछ में से कुछ पदों पर निर्वाचन द्वारा नियुक्तियाँ की जायँगी और कुछ पदों पर गुटिका द्वारा। इस प्रकार यदि पूर्वोक्त पैराग्राफ में वर्णित तीन संयोगों में से प्रथम को ही लें और शेष दो को छोड़ दें तो इन नियुक्तियों के बारह प्रकार उत्पन्न होंगे।

इन प्रकारों में से दो जनतंत्रात्मक हैं--एक तो यह कि सब नागरिक, सब नागरिकों में से पदाधिकारियों को या तो निर्वाचन द्वारा नियुक्त करें या गुटिका द्वारा; अथवा दूसरा यह कि सब नागरिकों में से दोनों ही पद्धतियों से नियुक्त करें, अर्थात् कुछ की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा और कुछ की गुटिका द्वारा हो। निम्नलिखित विविध नियुक्ति के प्रकार "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति के लिए समुपयुक्त हैं। एक यह कि जब सब नागरिक सभी नागरिकों में से पदाधिकारियों की नियुक्ति, निर्वाचन द्वारा, गुटिका द्वारा अथवा दोनों के द्वारा एक बार ही न करें प्रत्युत कुछ खंडों में से एक के पश्चात्

एक से करें। दूसरे यह कि सब नागरिक सब में से कुछ पदों के लिये नियुक्तियाँ करें और अन्य पदों के लिये किसी नागरिकों के विभाग में से नियुक्त करे (और यह नियुक्तियाँ या तो निर्वाचन द्वारा हों, या गुटिका द्वारा अथवा दोनों ही प्रकार से हों)। तथा यह पद्धति, कि कुछ थोड़े से ही नागरिक, सब नागरिकों के मध्य में से कुछ पदों पर निर्वाचन द्वारा नियुक्तियाँ करें और अन्य पदों पर गुटिका द्वारा, है तो "व्यवस्थात्मक" ही पर उपर्युक्त दोनों पद्धतियों की अपेक्षा अल्पजनतंत्रात्मकता की ओर अधिक झुकती हुई है। अन्तिम प्रकार, जो कि ऐसी "व्यवस्था" के लिये समुचित है जो श्रेष्ठ-जनतंत्र को लगभग स्पर्श करनेवाली है, यह है कि कुछ नागरिक दोनों प्रकार से नियुक्तियाँ करते हैं—अर्थात् कुछ पदों के लिये सब नागरिकों में से नियुक्तियाँ करते हैं और कुछ अन्य पदों के लिये थोड़े से नागरिकों में से (फिर चाहे भले ही यह नियुक्तियाँ पूर्णतया निर्वाचन द्वारा हों या पूर्णतया गुटिका द्वारा, या कुछ पदों के निर्वाचन द्वारा और कुछ के लिए गुटिका द्वारा)। अल्प-जनतंत्रात्मक प्रकार यह है कि कुछ नागरिक कुछ नागरिकों में से पदाधिकारियों का चुनाव करें, चाहे वह उन थोड़े से नागरिकों में से गुटिका से नियुक्ति करें (ऐसा वास्तव में न भी हो तो भी है यह रीति अल्पजनतंत्रात्मक ही), या निर्वाचन द्वारा अथवा दोनों के संमिश्रण के द्वारा। और जब थोड़े से नागरिक सब नागरिकों में से पदाधिकारियों की नियुक्ति करते हैं (तो यह पद्धति अल्पजनतंत्रात्मक नहीं होती) अथवा जब सब नागरिक कुछ लोगों में से निर्वाचन द्वारा नियुक्ति करते हैं तो यह पद्धति श्रेष्ठजनतंत्रात्मक होती है।

शासन-पदाधिकारियों को नियुक्त करने के विविध प्रकारों की संख्या और उनका विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों में विभाजन इसी (उपर्युक्त) विवरण के अनुसार कौन सी रीति किसके लिये समीचीन है और प्रत्येक स्थिति में नियुक्ति किस प्रकार की जानी चाहिये यह बात तब स्पष्ट होगी जब कि हम विविध शासन-पदों के अधिकार (व्यापार) को निर्धारित कर लेंगे। अधिकार से तात्पर्य शासन-पदाधिकारियों की उस शक्ति से है जो वे, उदाहरणार्थ, राजस्व अथवा रक्षा-सेना के ऊपर रखते हैं। (विभिन्न पदाधिकारियों की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की हुआ करती हैं।) उदाहरणार्थ सेनापति का सत्ताधिकार उस पदाधिकारी की सत्ता से भिन्न होता है जो बाजार में किये हुए ठहरावों (करारों) की देखभाल करने का कार्य करता है।[1]

टिप्पणियाँ

१. यूनान में पुरोहित और पुरोहिताओं की नियुक्ति देवी-देवताओं के लिये बलि, पूजा इत्यादि कार्य करने के लिए और भक्तों को पूजाविधि बतलाने के लिए की जाती

के लिये यदि सु-व्यवस्था को लें तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या एक व्यक्ति हाट में सु-व्यवस्था का प्रबंध करे और दूसरा मनुष्य दूसरे स्थान में अथवा एक ही व्यक्ति सब स्थानों में व्यवस्था का प्रबंध करे? यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या पदों के कार्यों का विभाजन विषयों के आधार पर किया जाय अथवा तत्संबद्ध व्यक्तियों के आधार पर? कहने का तात्पर्य यह है कि क्या उदाहरण के लिये एक ही व्यक्ति सर्वत्र सु-व्यवस्था के लिये नियुक्त होना चाहिये अथवा बच्चों की व्यवस्था के लिये एक अलग ही पदाधिकारी होना चाहिये और स्त्रियों के लिये एक और ही होना चाहिये, इत्यादि? फिर, विभिन्न राष्ट्रों में क्या शासनाधिकार-पदों की योजना प्रत्येक राष्ट्र में दूसरे से भिन्न है अथवा नहीं? उदाहरण के लिये (जनतंत्र, अल्पजनतंत्र, श्रेष्ठ जनतंत्र और एकराट्तंत्र में) यद्यपि शासनाधिकारी न तो समान सामाजिक वर्गों में से चुने जाते हैं और न एक से वर्गों में से प्रत्युत प्रत्येक शासन-पद्धति में विभिन्न वर्गों में से चुने जाते हैं—यथा श्रेष्ठजनतंत्र में संस्कृति-संपन्न वर्ग में से चुने जाते हैं, अल्पजनतंत्र में धनिकवर्ग में से एवं जनतंत्र में स्वतंत्र जनवर्ग से, तथापि क्या इन सब शासन-पद्धतियों में समान रूप से एक से शासनाधिकार-पद होने चाहिये? अथवा ऐसा होता है कि कुछ बातों में पृथक् पृथक् राष्ट्रों में (=शासन-पद्धतियों में) शासनाधिकार-पद (और शासनाधिकारी) भिन्न प्रकार के होते हैं; और कुछ राष्ट्रों (शासन-पद्धतियों) में एक ही प्रकार के शासनाधिकार-पद उपयोगी होते हैं और अन्य स्थानों में वे भिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ राष्ट्रों में (=शासन-पद्धतियों में) शासनाधिकार-पदों का महान् (अधिक व्यापक अथवा शक्तिशाली) होना ही समुचित होता है तथा कुछ में छोटा (थोड़ा व्यापक अथवा अल्पशक्तिशाली) होना।

तथापि, यह सत्य है कि कुछ शासनाधिकार-पद विशिष्ट प्रकार की शासन-पद्धतियों के लिये ही उपयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये "प्रोबूली"[३] (पूर्वपरिषद्) को ले सकते हैं जो कि जनतंत्रात्मक संस्था नहीं है; (यद्यपि बूली=साधारण परिषद् जनतंत्रात्मक है।) वास्तव में तो कोई संस्था इस प्रकार की होनी ही चाहिये जो जनसाधारण के हित के लिये आवश्यक बातों पर प्रारंभिक प्रकार से विचार किया करे, अन्यथा वे अपने साधारण (दैनिक) कार्यों के संपादन में दत्तचित्त नहीं रह सकेंगे। पर यदि यह संस्था अल्पसंख्यावाली हुई तो अवश्य ही अल्पजनतंत्रात्मक होगी। और पूर्वपरिषद् तो अनिवार्यतया नित्य ही अल्पसंख्यक संस्था होगी, तथा इसीलिये अल्पजनतंत्रात्मक ही होगी। परन्तु जहाँ कहीं भी यह दोनों (प्रोबूली=पूर्वपरिषद् और बूली=परिषद्) संस्थाएँ पाई जाती हैं वहाँ पर पूर्वपरिषद् (दूसरी) परिषद् के प्रति प्रतिबंध का

काम करती है। क्योंकि साधारण परिषद् के सदस्य जनतंत्रात्मक होते हैं और पूर्व-परिषद् के सदस्य अल्पजनतंत्रात्मक (धनिक जनतंत्रात्मक) होते हैं। तथापि जनतंत्र के उस अतिगामी प्रकार में इस पूर्वपरिषद् की शक्ति भी क्षीण हो जाती है जिसमें सभी जनसाधारण एकत्रित होकर राष्ट्र के सभी कार्यों का संचालन किया करते हैं। यह स्थिति सामान्यतया तब (वहाँ) उपस्थित होती है जब कि (जहाँ कि) साधारण परिषद् में उपस्थित होनेवालों को अधिक वेतन मिलता है। (अधिक वेतन मिलने के कारण) उनके पास प्रचुर अवकाश रहता है, अतएव वे प्रायेण एकत्रित होते रहते हैं और सब विषयों के संबंध में स्वयमेव निर्णय कर लिया करते हैं। कुमाराध्यक्ष, महिला-ध्यक्ष एवं इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों की अध्यक्षता करनेवाले अधिकारी जनतंत्रात्मक-पद्धति की अपेक्षा श्रेष्ठजनतंत्रात्मक-पद्धति के लिये अधिक उपयोगी हैं; भला ये पदाधिकारी निर्धन लोगों की स्त्रियों का बाहर जाना कैसे रोक सकते हैं? न इस प्रकार के अधिकारी अल्पजनतंत्रात्मक पद्धति के ही अनुकूल है, क्योंकि अल्पजनतंत्रात्मक पद्धति के धनिकों की पत्नियों का जीवन (इतना) विलासितामय होता है (कि उनका नियंत्रण नहीं किया जा सकता)।

पर इन बातों का तो पर्याप्तरूपेण वर्णन हो चुका। अब तो शासन-पदाधिकारियों की नियुक्ति के विषय का आरंभ से ही वर्णन करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके भेद तीन मर्यादाओं (नियमों) पर निर्भर हैं, जो तीनों मिलकर सब संभव विधियों को अवश्यमेव अपने में सन्निविष्ट कर लेती ह। यह तीन मर्यादाएँ यह है—एक तो यह कि पदाधिकारियों को नियुक्त करनेवाला कौन है? दूसरे यह कि किन लोगों में से उनकी नियुक्ति होती है? शेष (तीसरी मर्यादा) यह है कि किस ढंग से उनकी नियुक्ति की जाती है? इन तीन मर्यादाओं में से भी प्रत्येक के तीन तीन अवान्तर भेद (विकल्प) हैं। या तो सब नागरिक पदाधिकारियों की नियुक्ति करें अथवा कतिपय नागरिक ही उनकी नियुक्ति करें। और या तो उनकी नियुक्ति सभी नागरिकों में से हो अथवा कुछ थोड़े से विशिष्टतासंपन्न व्यक्तियों में से—यथा संपन्नता, कुलीनता, सद्‌वृत्ति अथवा अन्य किसी ऐसी ही विशिष्टता से संपन्न व्यक्तियों में से (जैसे कि मेगारा में शासनाधिकार-पदों के लिये केवल वही व्यक्ति निर्वाचित हो सकते थे जो कि निर्वासन से एक साथ मिलकर लौटे थे तथा जनता (जनतंत्र) के विरुद्ध साथ साथ (कन्धे से कन्धा भिड़ाकर) लड़े थे। और फिर या तो निर्वाचन द्वारा नियुक्ति हो अथवा गुटिका द्वारा। इसके साथ ही साथ हम उपर्युक्त विविध विकल्पों का संयोग भी कर सकते हैं। मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि कुछ पदाधिकारी कुछ थोड़े से नागरिकों के द्वारा

के विवादों का निर्णय होता है। और इन सबके अतिरिक्त (आठवाँ) न्यायालय साधारण जनता के उन ठहरावों के विवादों के विषय से संबंध रखता है जिसमें एक, या पाँच, या इससे थोड़े अधिक द्राख्मों के अल्प धन के झगड़ों का निर्णय करना होता है। पर ऐसे न्यायालयों में न्यायाधीशों की बहुत बड़ी संख्या की आवश्यकता नहीं होती।

इस अन्तिम छोटे मामलों के न्यायालय, हत्या संबंधी न्यायालय और विदेशियों से संबंध रखनेवाले न्यायालयों के विषय में तो अब कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। मैं अब प्रथमोक्त पाँच न्यायालयों का ही विवरण प्रस्तुत करूँगा जो कि राजनीति (=नगर-नीति) से संबंध रखते हैं, क्योंकि इनके अन्तर्गत ऐसे विषय आते हैं जिनका सुप्रबन्ध न होने पर कलह-द्वन्द्व और राजनीतिक उथल-पुथल उत्पन्न हुआ करते हैं।

यदि सब नागरिक सभी नागरिकों के. हमारे द्वारा उपर्युक्त विषयों में न्याय करने के लिये अधिकृत हों तो निश्चयमेव न्यायाधीशों की नियुक्ति या तो निर्वाचन द्वारा होनी चाहिये अथवा गुटिका द्वारा। अथवा सब नागरिकों को सभी विषयों पर निर्णय करने का अधिकार हो पर कुछ न्यायाधीशों की नियुक्ति गुटिका के द्वारा हो और अन्य कुछ मतदान द्वारा निर्वाचन से। अथवा जब नागरिकों को उपर्युक्त विषयों के वर्ग-विशेष का ही निर्णय का अधिकार हो तो उस वर्ग-विशेष से संबंध रखनेवाले न्यायाधीश भी इसी प्रकार—अर्थात् कुछ निर्वाचन द्वारा और कुछ गुटिका द्वारा—नियुक्त किये जाने चाहिये। इस प्रकार न्यायाधीशों को (समग्र नागरिक-समुदाय में से) नियुक्त करने के चार प्रकार हुए। इसी प्रकार न्यायाधीशों को नागरिकों के एक खण्ड में से नियुक्त करने के भी चार प्रकार होंगे। उपर्युक्त प्रकार के प्रतिकूल इनमें ऐसे न्यायाधीश होंगे जो कुछ ही नागरिकों में से सब प्रकार के अभियोगों का निर्णय करने के लिये निर्वाचन द्वारा नियुक्त होंगे अथवा कुछ नागरिकों में से सब विषयों का निर्णय करने के लिये गुटिका द्वारा नियुक्त होंगे। अथवा ऐसे न्यायाधीश होंगे जो कुछ नागरिकों में से मतदान द्वारा कुछ अभियोगों का निर्णय करने के लिये नियुक्त हुए हैं, और अन्य कुछ अभियोगों के निर्णय के लिये कुछ नागरिकों में से गुटिका द्वारा नियुक्त किये गये हैं। अथवा ऐसे न्यायाधीश होंगे जो कुछ ही न्यायालयों में आसीन होंगे (अर्थात् उपर्युक्त विषयों में से कुछ का ही निर्णय करेंगे) तथा जो कुछ नागरिकों में से अंशतः मतदान द्वारा तथा अंशतः गुटिका द्वारा नियुक्त किये जायगे। जैसा कि अभी कहा गया था, यह चारों प्रकार हमारे द्वारा पूर्वोक्त चारों प्रकारों के ठीक प्रतिसंवादी हैं।

फिर इन उपर्युक्त नियुक्ति की प्रणालियों का सम्मिश्रण किया जा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उदाहरण के लिये ऐसे कुछ न्यायालय हो सकते हैं जिनके न्यायाधीश समग्र जनता में से नियुक्त किये गये हों; अन्य कुछ ऐसे हो सकते हैं जिनके न्यायाधीश थोड़े से नागरिकों में से नियुक्त किये गये हों तथा कुछ ऐसे हो सकते हैं जिनके न्यायाधीश उभय प्रकार से नियुक्त किये गये हों; उदाहरणार्थ एक ही (वही) न्यायालय ऐसे हो सकते हैं जिनके न्यायाधीशों के मण्डल में से कुछ सब नागरिकों में से और कुछ थोड़े से नागरिकों में से या तो मतदान द्वारा, या गुटिका द्वारा या उभय प्रकार से नियुक्त हुए हों।

कितने संभव प्रकारों से न्यायालयों की संघटना हो सकती है, इसका विवरण हो चुका। इनमें से प्रथम प्रकार, जनतंत्रात्मक है जिसके न्यायाधीश सब नागरिकों में से चुने जाते हैं और सब विषयों का निर्णय करते हैं। दूसरा प्रकार, जिसमें न्यायाधीश कुछ ही नागरिकों में से चुने जाते हैं और सब प्रकार के अभियोगों का निर्णय करते हैं, अल्पजन (धनिकजन)-तंत्रात्मक है। तीसरा प्रकार, जिसमें कुछ न्यायालयों के सदस्य सब नागरिकों में से और कुछ के थोड़े से नागरिकों में से नियुक्त किये जाते हैं, श्रेष्ठ-जनतंत्रात्मक अथवा "व्यवस्थात्मक" है।

टिप्पणियाँ

१. फ्रेयत्तो का (अथवा पर) न्यायालय अथेन्स का अनोखे प्रकार का न्यायालय था। इसमें न्यायाधीश समुद्रतट पर पृथ्वी पर स्थित होते थे और अपराधी जहाज में। अपराधी ऐसा व्यक्ति होता था जो अनजाने में हत्या करने के कारण एक वर्ष की अवधि के लिए निर्वासित किया जा चुका था, परन्तु जिसने इस निर्वासन-काल में जान-बूझकर हत्या अथवा आक्रमण का अपराध किया था। इसको सामुद्रिक अथवा जलीय न्यायालय कह सकते हैं। इस विषय का सविस्तर वर्णन अथेन्स के संविधान में किया गया है।

२. द्राख्या यूनानी सिक्के का नाम है। इसका संस्कृत रूपान्तर द्रम्म। फ़ारसी में इसको दिरम् या दिरहम् कहते हैं।

एक प्रकार का न्याय पाया जाता है पर आत्यन्तिक न्याय की अपेक्षा यह सब सदोष होती हैं। और इसी कारण से दोनों ही पक्ष जब कभी उनमें से किसी को भी शासन में प्राप्त होनेवाला भाग उसके पूर्व स्वीकृत न्याय की भावना से मेल नहीं खाता प्रतीत होता, विद्रोह[३] खड़ा कर देते हैं। जो लोग सद्‌गुणों में अन्य लोगों से बढ़कर होते हैं उनको विद्रोह खड़ा करने का सवश्रेष्ठ अधिकार होता है ; क्योंकि परमार्थरूपेण तो केवल वे ही अन्य लोगों की अपेक्षा विशिष्टता-संपन्न माने जा सकते हैं; पर वे (वास्तव में) विद्रोह का प्रयत्न करने में सबसे अन्तिम व्यक्ति होते हैं। तथा जो व्यक्ति उच्चकुल में जन्म के कारण ऊँचे माने जाते हैं उनके पक्ष में भी कुछ औचित्य रहता है; क्योंकि वे इसी सुविधा के आधार पर अपने को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक अंश के भागी मानते हैं। कुलीन वही माने जाते हैं जो सद्‌गुणी और सम्पत्तिशाली पूर्वजों के कुल में जन्म लेते हैं।

सामान्यरूपेण बस यही तो राज्यक्रान्तियों का उद्‌गम और स्रोत हैं, जिनसे कि विप्लव की उत्पत्ति हुआ करती है। इन्हीं कारणों से राष्ट्रों के शासन में दो पृथक् पृथक् प्रकार के परिवर्तनों का जन्म हुआ करता है। एक प्रकार की क्रान्ति वह होती है जो स्थापित शासन-पद्धति के स्थान पर दूसरे प्रकार की पद्धति को स्थापित करने के लिये होती है। जैसे कि जनतंत्र से बदलकर धनिकतंत्र को स्थापित करने के लिये, अथवा धनिकतंत्र से बदलकर जनतंत्र को स्थापित करने के लिये अथवा इन (जनतंत्र और अल्पजनतंत्र) को "व्यवस्था-पद्धति" और श्रेष्ठजनतंत्र में बदलने के लिये, अथवा इसके विपरीत इन ("व्यवस्था-पद्धति" और श्रेष्ठजनतंत्र) को उन (जनतंत्र और अल्पजनतंत्र) में बदलने के लिये (क्रान्तियाँ हुआ करती हैं)। दूसरी प्रकार की क्रान्ति वह होती है जो स्थापित शासन-पद्धति के विरुद्ध नहीं होती; जब कि क्रान्तिकारी दल स्थापित शासन-पद्धति को ज्यों का त्यों (जैसा का तैसा) बना रहने देने का निर्णय करता है—उदाहरण के लिये वह अल्पजनतंत्र अथवा एकराट्‌तंत्र को जैसा है वैसा ही रहने देने का निर्णय करता है—पर शासन-कार्य को अपने सदस्यों के हाथ में लेना चाहता है। फिर विप्लव कभी अपेक्षाकृत अधिकता और अल्पता के विषय में भी हो सकता है। उदाहरणार्थ वे धनिकतंत्र को अपेक्षाकृत अधिक अथवा कम धनिकतंत्रात्मक बना देना चाहते ह; अथवा जनतंत्र को अपेक्षाकृत अधिक, कम जनतंत्रामक बना देना। इसी प्रकार वे अन्य किसी अवशिष्ट प्रकार की शासन-पद्धति को भी पूर्वापेक्षा अधिक कठोर अथवा अधिक शिथिल बनाना चाह सकते हैं। अथवा क्रान्तिकारी दल शासन-पद्धति के किसी एक अंश को बदलने के लिये प्रवृत्त हो सकता है ; उदाहरण के लिये उसका प्रयोजन किसी शासन-पद की स्थापना अथवा निर्मूलन हो सकता है। जैसा कि कहा जाता है कि

लाकैदायमॉन (स्पार्टा) में लीमान्दर¹ ने राजपद को तथा पौसानियास्² ने पंचों के पद को निर्मूल कर देने की चेष्टा की थी। और एपीदाम्नस्³ में भी शासनप्रणाली में आंशिक परिवर्तन हुआ था—अर्थात् गणज्येष्ठों के स्थान पर (जनतंत्रात्मक प्रकार की) परिषद् नियुक्त कर दी गई थी। पर आज भी यह नगर (पूर्णतया जनतंत्रात्मक नहीं है यहाँ तक कि) जब किसी शासनाधिकार-मंडल की नियुक्ति के विषय में निर्वाचन (मतदान) होता है तो नागरिक अधिकारियों में से केवल शासनाधिकारी वर्ग का ही सर्वोच्च परिषद् में (हेलीयाइया में) मतदान के लिये जाना अनिवार्य होता है। इस राष्ट्र की शासन-प्रणाली का एक दूसरा धनिकतंत्रात्मक लक्षण वहाँ (अनेक मुखियों के स्थान पर) एकमात्र मुखिया का पद होना है। (इस प्रकार) सर्वत्र ही क्रान्ति का कारण असमानता ही होती है; पर वह असमानता नहीं जिसमें समानुपात होता है (अर्थात् जब असमान व्यक्तियों के प्रति उनकी असमानता के अनुपात में व्यवहार किया जाता है तो कोई असमानता नहीं होती); उदाहरणार्थ यदि समान लोगों के मध्य में सनातन (कुलक्रमागत) राजपद पाया जाय तो वह असमानता होगी। सर्वदा लोग समानता की ही कामना से विद्रोह (क्रान्ति) किया करते हैं।

समानता दो प्रकार की होती है, एक संख्यागत दूसरी योग्यता संबंधी। संख्यागत समानता से मेरा तात्पर्य संख्या अथवा महत्ता की मात्रा में समानता से है; योग्यता संबंधी समानता से प्रयोजन आनुपातिक समानता से है।[5] उदाहरणार्थ संख्या की दृष्टि से तीन से दो उतना ही अधिक है जितना दो एक से, जब कि आनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना ही बड़ा है जितना दो एक से; क्योंकि दो चार का वही भाग है जो एक दो का; अर्थात् आधा भाग है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मनुष्य इस बात पर तो एकमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय योग्यता के अनुपात में होना चाहिये पर (व्यावहारिक क्षेत्र में वे) योग्यता के प्रश्न पर एक दूसरे से मतभेद रखते हैं। कुछ का विचार यह है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो वे सभी बातों में समान माने जाने चाहिये; दूसरे लोगों का विचार है कि यदि वे एक बात में अन्य लोगों से बढ़कर हैं तो सभी बातों में दूसरे से बढ़कर होने चाहिये। अतएव शासन-पद्धतियों के दो प्रमुख भेद हो जाते हैं, एक जनतंत्र और दूसरा अल्पजन-(धनिक) तंत्र। कुलीनता (सद्जन्म) और सद्वृत्ति तो बहुत थोड़े से लोगों में पाई जाती है: पर जिन गुणों पर जनतंत्र और धनिकतंत्र आश्रित हैं—अर्थात् संख्याधिक्य और धन—वे बहुतों में मिल जाते हैं। एक सौ सुजात और अच्छे आदमी कहीं भी (किसी भी नगर में) नहीं मिलेंगे पर बहुतेरे धनवान् बहुत से नगरों में मिल जायेंगे। किंतु कोई भी शासन-पद्धति

१

व्यवस्था-परिवर्तन

जिस कार्यक्रम की हमने पहले प्रस्तावना की थी वह अब लगभग पूर्ण हो गया।[1] हमारे द्वारा वर्णित क्रम में इसके पश्चात् अब राष्ट्रों की क्रान्तियों का विषय आता है। देखना यह चाहिये कि राष्ट्रों में परिवर्तन (या क्रान्तियाँ) किन कारणों से उत्पन्न होती हैं, कितने प्रकार की होती है और उनका स्वरूप क्या है। तथा हमको यह भी विचार करना है कि प्रत्येक राष्ट्र का पतन (= विनाश) किस विशिष्ट रीति से हुआ करता है, और किस अवस्था से वह प्रायेण किस अवस्था में बदल जाते हैं। इसके साथ ही हमको यह भी विचार करना है कि सामान्यरूपेण सब राष्ट्रों की और व्यष्टिरूपेण पृथक् पृथक् राष्ट्रों की सुरक्षा किस नीति से हो सकती है, और प्रत्येक राष्ट्र की रक्षा किन उपायों के उपयोग से सबसे अच्छे प्रकार से हो सकती है।[2]

सबसे पहले हमको अपनी विवेचना के प्रारंभिक आधार के रूप में इस तथ्य को स्वीकार करके चलना चाहिये कि जो विविध प्रकार की शासनपद्धतियाँ उत्पन्न होती हैं उनके मूल में यह तथ्य है—(जिसको मैं पहले ही बता चुका हूँ) कि जब कि न्याय और न्याय से उत्पन्न होनेवाले आनुपातिक समानता के सिद्धान्त को तो सभी स्वीकार करते हैं, पर व्यवहार-क्षेत्र में इसका प्रयोग करने से वे असफल रहते हैं। जनतंत्र की उत्पत्ति इस सम्मति के आधार (बल) पर होती है कि जो लोग किसी एक बात में बराबर होते हैं वे निरपेक्ष भाव से सभी बातों में समान होते हैं। क्योंकि वे सब समानरूपेण स्वतंत्र हैं अतएव वे सोचने लगते हैं कि निरपेक्ष भाव से (सभी बातों में) बराबर हैं। अल्पजन (= धनिकजन) तंत्र इस सम्मति के आधार पर उत्पन्न हुआ है कि जो लोग एक बात में असमान हैं वे सब बातों में असमान होते हैं। सम्पत्ति में असमान होने पर वे यह मान लेते हैं कि वे निरपेक्ष भाव से सभी अन्य बातों में भी असमान हैं। इन मान्यता के आधार पर जनतंत्रवादी अपनी समानता के आधार सभी वस्तुओं में बराबर का भाग बाँटने का दावा करते हैं; अल्पजनतंत्रवादी असमान होने के कारण सबके बराबर से अधिक भाग पाने की चेष्टा करते हैं—अर्थात् वे अपनी असमानता को अन्य लोगों से अधिक होना (बड़ा होना) मानते हैं। इन सब शासनपद्धतियों में
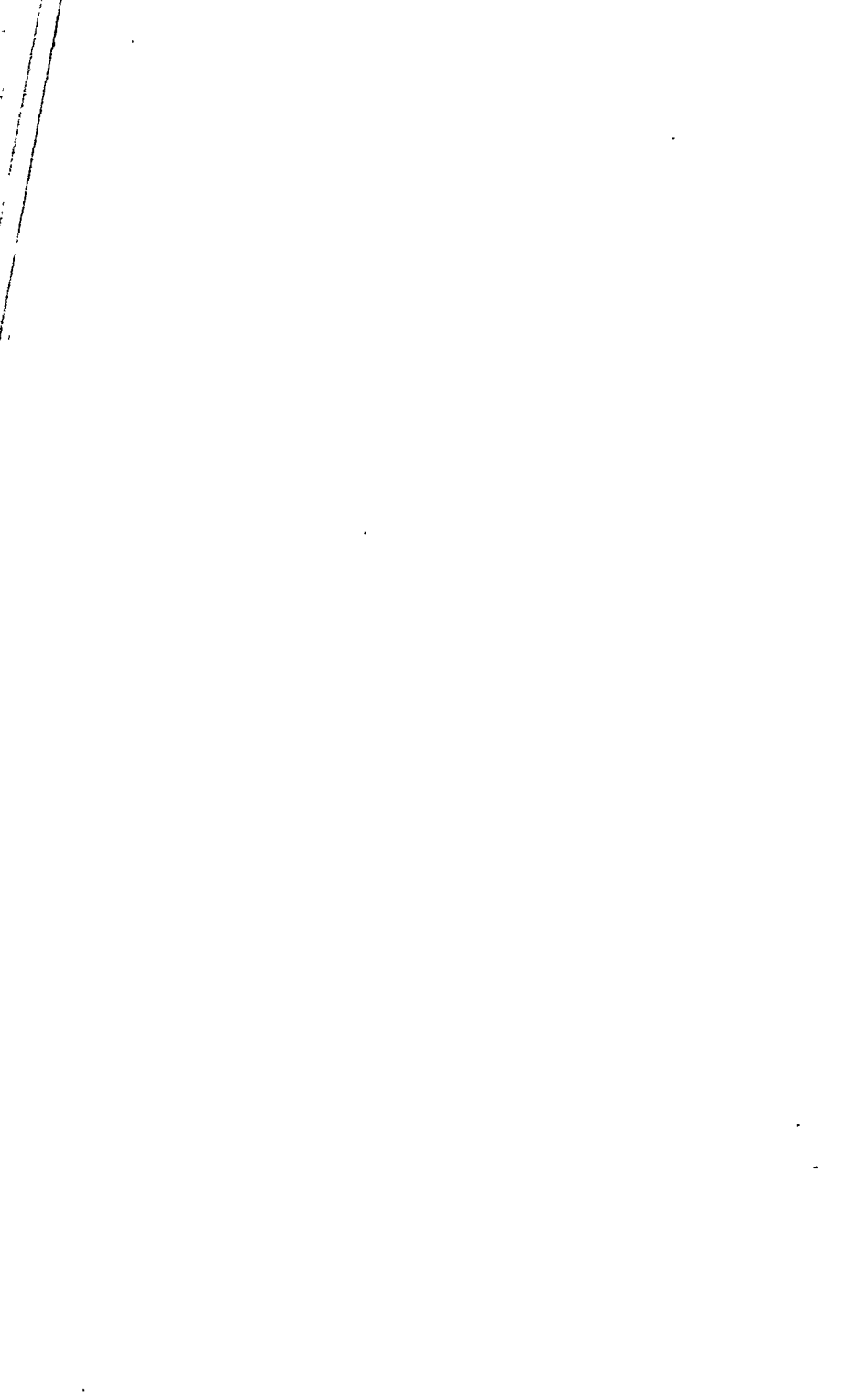
पंचम पुस्तक

जो कि सब बातों में विशुद्धरूपेण इन दोनों प्रकारों (जनतंत्रात्मक अथवा धनिक-तंत्रात्मक) में से किसी एक की समानता की भावना पर आश्रित होती है, त्रुटिपूर्ण होती है। यह तथ्य घटनाओं से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार की शासन-पद्धतियाँ (व्यवस्थाएँ) कदापि स्थायी नहीं होतीं। कारण यह है कि जब किसी चीज में आरंभ से दुर्बलता होती है और मूल में ही दोषपूर्णता होती है, तो अन्त में उसका बुरा हुए बिना नहीं रह सकता। अतएव होना यह चाहिये कि कहीं तो संख्या संबंधी समानता का उपयोग होना चाहिये और अन्य स्थलों में योग्यता संबंधी समानता का (अर्थात् योग्यता के अनुपात के अनुसार व्यवहार का)।

फिर भी यह माना ही जाना चाहिये कि जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति धनिकतंत्रात्मक पद्धति की अपेक्षा अधिक स्थिर और कम क्रान्तिप्रवण होती है। धनिकतंत्रों में दो प्रकार के विद्रोह उत्पन्न हो सकते हैं; एक तो उनमें परस्पर विद्रोह उठ खड़ा हो सकता है, दूसरे धनिकों और जनता के दलों के मध्य में विद्रोह हो सकता है। पर जनतंत्रात्मक पद्धति में केवल एक ही ओर से—धनिकों के पक्ष की ओर से ही विद्रोह संभव है। प्रजातंत्री दल में, अपने भीतर अपने ही विरुद्ध ऐसा विद्रोह जो कि उल्लेख करने योग्य हो, घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति, धनिकतंत्र की अपेक्षा उस शासन-पद्धति—मध्यमवर्गों पर आश्रित "व्यवस्था" नामक प्रणाली के अधिक समीप है जो इन (अपूर्ण और श्रेष्ठ आदर्श प्रणालियों) में सबसे अधिक स्थायी है।

टिप्पणियाँ

१. इस प्रस्तावना का संकेत चतुर्थ पुस्तक के दूसरे खंड के अन्त में दी हुई योजना की ओर है। वहाँ अरिस्तू ने जिन पाँच बातों का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की थी उनमें से चार का वर्णन चतुर्थ पुस्तक के अन्त तक हो चुका।

२. अब पाँचवाँ विषय शेष है। अर्थात् यह वर्णन करता रह गया है कि राष्ट्रों का पतन और राष्ट्रों में क्रान्तियाँ किन कारणों से उत्पन्न होती हैं और राष्ट्रों की रक्षा किस प्रकार संभव है। अतएव राष्ट्रों के पतन और क्रान्तियों के कारण का विवेचन पंचम पुस्तक में और राष्ट्रों की रक्षा की विधि का वर्णन षष्ठ पुस्तक में किया गया है।

३. मूल ग्रीक भाषा में विद्रोह के लिए "स्तासिस्" शब्द का प्रयोग किया गया। मूलतः स्तासिस् का अर्थ है राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए दल खड़ा (स्थापित) करना।

४. लीसान्दर अथवा लीसान्द्रॉस् स्पार्टा का नौसेनाध्यक्ष था। वह अत्यन्त कुशल और साहसी था पर साथ ही साथ अत्यन्त क्रूर भी था। उसने अथेन्स को जीता था। उसके दुष्प्रबन्ध के कारण स्पार्टा के एफौर्स ने उसको पदच्युत कर दिया। उसकी मृत्यु ई० पू० ३९५ में हुई।

५. पौसानियास् ई० पू० ४७९ से स्पार्टा का प्रबन्धक था। उसने फारस के विरुद्ध युद्ध में बीज़ान्तियॉन् को जीत लिया था। इसके उपरान्त वह अत्यन्त अभिमानी हो गया। उसके विरुद्ध फारस के सम्राट् से मिल जाने का अभियोग दो बार लगाया गया। पर उसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिल सका। पर जब दूसरी बार अभियोग चल रहा था तब एक दूत के पास उसका वह पत्र मिल गया जो उसने फारस के सम्राट् को छिपाकर भेजा था। इस पर स्पार्टा के लोगों ने उस धार्मिक स्थान की दीवार-बन्दी करवा दी जिसमें उसने शरण ले रखी थी। वह स्पार्टा के वंशानुगत राजपद के स्थान पर योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाने के पक्ष में था।

६. एपीदाम्नस् आर्गोलिस् प्रदेश में है। हेलीयाइया यहाँ के परिषद् के अधिवेशन के स्थान का नाम है।

७. अरिस्तू ने सर्वत्र आनुपातिक समानता का समर्थन किया है।

२

क्रान्तियों के कारण

क्योंकि हमको उन कारणों का विचार करना है जिनसे विद्रोह उत्पन्न होते हैं और शासन-व्यवस्थाओं में परिवर्तन हुआ करते हैं अतएव हमको प्रथम उन (विद्रोहों और परिवर्तनों) के मूलोद्भव और कारणों पर सामान्यतया विचार कर लेना चाहिये। उनकी संख्या बस तीन है, ऐसा कहा जा सकता है, और अब हमको इनमें से प्रत्येक के बाह्य रेखांकन द्वारा इनकी सीमा के निर्धारण का आरंभ करना चाहिये। जिन (तीन) बातों का अन्वेषण करना है वे हैं--(१) वह मनोदशा (अथवा मनोवेग) जिनके वशीभूत होकर मनुष्य विद्रोह किया करते हैं; (२) वे निमित्त जिनके कारण विद्रोह हुआ करते हैं, और (३) वे प्रसंग (या अवसर) जिन पर राजनीतिक उपद्रव पारस्परिक विद्रोह फूट पड़ते (प्रारंभ हो जाते) हैं। क्रान्तिकारी (विद्रोही) मनोवृत्ति का अथवा परिवर्तनकारी मनोदशा का सर्वव्यापी और प्रमुख कारण वही है जो हम बतला चुके हैं। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत

होते हैं; वे यह मानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं जो उनसे अधिक (धन-संपत्ति इत्यादि) पाय हुए हैं, तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम (सुविधाएँ) प्राप्त हैं। दूसरे कुछ लोग जो विद्रोह खड़ा किया करते हैं, वे होते हैं जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है, क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों की अपेक्षा बढ़कर हैं, तथापि उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत या तो दूसरों के बराबर या उससे भी कम (धन इत्यादि) मिलता है। हो सकता है कि यह दोनों मनोविकार न्यायानुमोदित हों और यह भी हो सकता है कि (न्यायानुकूल) न हों। इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिये विद्रोही बना करते हैं, और बराबर स्थितिवाले लोग बड़े बनने के लिये। यही वह मनोदशा है जिससे क्रान्तियों की उत्पत्ति होती हैं।

जिन निमित्तों से विद्रोह उत्पन्न होते हैं वे लाभ और सम्मान की कामना हैं; अथवा इसके विपरीत इच्छाएँ।—अर्थात् निरादर और हानि का भय; क्योंकि राजनीतिक (नागरिक) क्रान्ति करनेवाले व्यक्ति अपने अथवा अपने मित्रों के ऊपर से किसी अपमान अथवा अर्थदण्ड (जुर्माने) को हटाने के लिये नगर में विप्लव खड़ा कर देते हैं।

उपद्रवों के अवसर और आरंभ—वे प्रसंग जो कि मनुष्यों की मनोदशाओं को उपर्युक्त प्रकार की बना देते हैं (=जिनसे मनुष्य उपर्युक्त प्रकार से प्रभावित होते हैं), तथा जिनके कारण वे ऊपर कहे हुए निमित्तों की ओर प्रवृत्त होते हैं—एक प्रकार की विचार-दृष्टि से संख्या में सात माने जा सकते हैं, तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से इस संख्या से अधिक भी हो सकते हैं। इनमें से दो तो वही हैं जिनका वर्णन किया जा चुका है (अर्थात् लाभ और सम्मान); पर जब उन पर क्रान्ति के प्रसंग के रूप में विचार किया जाता है तो वे वैसे नहीं रहते। जब लाभ और सम्मान लक्ष्य-स्वरूप होते हैं तो वह मनुष्यों में परस्पर द्वेष को इसलिये भड़काते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इनको अपने ही लिये चाहता है; पर जब वे अवसर (प्रसंग-) स्वरूप होते हैं तो वह प्रथमोक्त प्रकार से द्वेष को नहीं भड़काते, प्रत्युत इसलिए भड़काते हैं कि लोग यह देखते हैं कि दूसरे लोग—न्याय्य अथवा अन्याय्य उपायों से—इन (लाभ और सम्मान) को बहुत अधिक मात्रा में स्वायत्त किये हुए हैं। (लाभ और सम्मान के अतिरिक्त क्रान्ति के अन्य कारण धृष्टता (दर्प), भय, अत्यधिक प्रमुखता, तिरस्कार तथा राष्ट्र के किसी भाग में समानुपात से अधिक वृद्धि हैं। दूसरे (अर्थात् आनुषंगिक) प्रकार के कारण हैं चुनावों के

षड्यंत्र (छल, कपट), असावधानी, छोटी बातों के संबंध में प्रमाद, (राष्ट्र-संघटना में तत्वों की असदृशता। (इस प्रकार कुल मिलाकर विद्रोह भड़कने के ११ प्रसंग हो सकते हैं।)

३

स्वल्प प्रसंगों के गंभीर परिणाम

उपर्युक्त अवसरों में से (शासनाधिकार-सम्पन्न व्यक्तियों की) धृष्टता और लाभ की इच्छा क्या प्रभाव रखती हैं और किस प्रकार से विद्रोह का कारण होती है, यह बात लगभग स्पष्ट ही है।[1] जब शासनपदारूढ़ व्यक्ति धृष्टताप्रवण होते हैं तथा अपने न्यायोचित भाग से अधिक पाने के इच्छुक होते हैं तो जनता विद्रोह कर बैठती है—यह विद्रोह परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध भी होता है और उस शासन-व्यवस्था के विरुद्ध भी जो ऐसे (पदाधिकारियों) को ऐसी शक्ति प्रदान करती है। अपने न्यायोचित भाग से अधिक पाने की इच्छा का लक्ष्य या तो व्यक्तियों को हानि पहुँचाकर अपना घर भरना हो सकता है अथवा सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाकर। और फिर यह भी स्पष्ट ही है कि सम्मान पाने की इच्छा कितनी बलवती होती है और किस प्रकार विद्रोह का कारण बन जाती है। जब (कुछ) मनुष्य स्वयं तो अपमान भोगते हैं और दूसरों को सम्मानित हुआ देखते हैं तो वे विद्रोही बन जाते हैं। यह दोनों ही बातें न्याय के प्रतिकूल तब होती हैं जब किसी का बिना योग्यता के ही सम्मान अथवा अपमान किया जाता है पर जब सम्मान अथवा अपमान योग्यतानुसार किया जाता है तो यही बातें न्यायानुकूल होती हैं। किसी प्रकार की प्रमुखता का भाव विद्रोह का कारण तब होता है जब कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों का गुट इतनी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह शक्ति नगर-राष्ट्र की शक्ति और नागरिक समाज की शक्ति से भी अधिक हो जाती है। ऐसी ही परिस्थितियों में से एकराट्ता अथवा आनुवंशिक धनिकतंत्र की उत्पत्ति हुआ करती है। इसीलिए कुछ स्थानों में—उदाहरणार्थ आर्गास और अथेन्स में निर्वासन-नीति का अनुसरण किया जाता है। पर इससे अधिक अच्छी नीति तो यह होगी कि आरंभ से ही इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि इस प्रकार की प्रमुखतावाले व्यक्ति उत्पन्न ही न हों; न कि यह कि प्रथम तो ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न होने दिया जाय, और पीछे से उनका उपचार सोचा जाय।

भय के कारण वे लोग विद्रोह किया करते हैं, जो या तो अपराध किये होते हैं पर दण्ड से भय खाते हैं; या जिनको अपने प्रति अन्याय किये जाने की आशंका (संभावना) होती है तथा जो अपने प्रति किये जानेवाले अन्याय के पूर्व ही उसका प्रतिकार करना चाहते हैं। जैसा कि रहोड्स[2] में साधारण जनता के किये हुए बहुत से अभियोगों के आरोप की आशंका से वहाँ के गण्यमान लोगों ने वहाँ की जनता के विरुद्ध विद्रोह (षड्यंत्र) कर दिया था। तिरस्कार के कारण भी लोग क्रान्ति और विद्रोह किया करते हैं; उदाहरणार्थ धनिकतंत्र पद्धति में उस समय क्रान्ति होती है जब कि बहुसंख्युक लोग ऐसे होते हैं जिनको नागरिक (राजनीतिक) अधिकार प्राप्त नहीं होते, और वे अपने को अधिक शक्तिशाली अनुभव करते हैं; और जनतंत्रों में तब विद्रोह होता है जब सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को राष्ट्र में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के प्रति घृणा हो जाती है। जैसे कि थेबैस् नगर में औइनोफ़ीता[3] के युद्ध के पश्चात् प्रजातंत्र-पद्धति कुशासन होने के कारण विनष्ट हो गई। मैगारा[4] में जनतंत्र का नाश अव्यवस्था और अराजकता के कारण हुई पराजय से हुआ। सीराकूज़ में गैलोन[5] की तानाशाही के उदय के पूर्व जनतंत्र के विरुद्ध घृणा की भावना के कारण जनतंत्र का क्षय हुआ। रहोड्स में पूर्व-वर्णित गण्यमान व्यक्तियों के विद्रोह के पूर्व जनतंत्रात्मक पद्धति का पतन हुआ। (इस प्रकार घृणा अथवा तिरस्कार की भावना से प्रजातंत्रों के पतन के अनेकों उदाहरण मिलते हैं।)

राष्ट्र के किसी अंग की असंगत वृद्धि भी शासन-व्यवस्था के परिवर्तन का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिये (मानव-) शरीर को ही लीजिये; शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बनता है, और यदि शरीर का संतुलन बना रहना है तो सब अंगों को संगत प्रकार से बढ़ना चाहिये। यदि ऐसा नहीं हुआ—यदि पैर बढ़कर चार हाथ लम्बा हो गया और शेष शरीर केवल दो बालिश्त का रह गया—तो वह नष्ट हो जायगा।[6] और यदि यह असंगत वृद्धि केवल मात्रागत न होकर गुणगत भी हुई तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि परिवर्तन किसी अन्य प्राणी का आकार धारण कर ले। यही बात राष्ट्र के विषय में भी ठीक बैठती है—राष्ट्र भी अनेकों अंगों से मिलकर बनता है, तथा कोई भी एक अंग अज्ञात भाव से असंगत वृद्धि को प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिये जनतंत्र-प्रणाली और "व्यवस्था" नाम की प्रणाली में निर्धन लोगों की संख्या अनुचित रूप से बढ़ सकती है। ऐसी घटना कभी कभी आकस्मिकतया भी घट सकती है। उदाहरणार्थ तरैन्तम् नगर में मीडिक (पर्शिक) युद्ध के थोड़े समय उपरान्त इयापिगो लोगों के विरुद्ध युद्ध में पराजय होने के कारण बहुत से गण्यमान पुरुषों के मर

जाने से नगर की शासन-पद्धति "व्यवस्था" से बदलकर जनतंत्रात्मक हो गई।[9] और आर्गोस में सप्तमी के मनुष्यों को लाकैदायमॉन् के राजा क्लियोमिनीस द्वारा हत्या हो जाने पर, आर्गोस निवासियों को, अपने कुछ ग्राम-निवासियों को नागरिकों की श्रेणी में सम्मिलित करने के लिये बाध्य होना पड़ा (और इस प्रकार शासन-प्रणाली का पलड़ा जनतंत्रात्मकता की ओर झुक गया)। एवं अथेन्स में पैलोपोनेसस के युद्ध के समय पयादों के युद्ध की पराजय से गण्यमान लोगों की संख्या अत्यन्त क्षीण हो गई; क्योंकि प्यादे सिपाहियों की भर्ती नागरिकों की सूची में से की जाती थी (इस प्रकार वहां भी जनतंत्र-प्रणाली की ओर प्रवृत्ति हो गई)। इन्हीं कारणों से इसी प्रकार के परिवर्तन जनतंत्र-प्रणाली में भी घटित होने संभव हैं—पर अपेक्षाकृत ऐसा कम होता है। जब सम्पन्न लोगों की संख्या बढ़ जाती है, अथवा सम्पत्तियों की वृद्धि हो जाती है तो जनतंत्र-प्रणाली धनिकतंत्र अथवा कुलपुत्रतंत्र (दीनास्टिया) में बदल जाती है।

कभी कभी शासन-व्यवस्थाएँ बिना क्रान्ति के भी निर्वाचन संबंधी छल-कपट के कारण बदल जाती हैं, उदाहरण के लिये जब हेराइया में निर्वाचन का परिणाम छलपूर्ण दलबन्दी पर निर्भर देखा गया तो मतदान का स्थान गुटिका-पद्धति ने ले लिया (और इस प्रकार शासन-पद्धति में परिवर्तन हो गया)। प्रमाद भी परिवर्तन का कारण हो सकता है; ऐसा तब होता है जब कि ऐसे व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता के पदों पर आरूढ़ हो जाने दिये जाते हैं जो व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् नहीं होते। यूबोइया का ओरेयस्[10] नगर इस विषय में उदाहरण-स्वरूप है, जहाँ हेराक्लियोडोरस् को सत्तारूढ़ हो जाने दिये जाने पर उसने धनिकतंत्र को उखाड़ फेंका और उसके स्थान पर व्यवस्थापरक और जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति के निर्माण का श्रीगणेश कर दिया।

फिर एक कारण स्वल्प परिवर्तनों के प्रति प्रमाद भी है। यदि स्वल्प परिवर्तनों की ओर ध्यान न दिया जाय तो बहुधा सभी संस्थाओं के मंडल में (अथवा सभी नियमों में) बड़ा भारी परिवर्तन अलक्षित प्रकार से हो जाना संभव है। उदाहरण के लिये अम्ब्राकिया में, आरंभ में शासन-पदाधिकार के लिये बहुत थोड़ी साम्पत्तिक योग्यता नियत की गई थी पर अंत में उस योग्यता को बिल्कुल शून्य हो जाने दिया गया क्योंकि विचार यह किया गया कि थोड़ी योग्यता और योग्यता के अभाव में कुछ भी अन्तर नहीं है।

और यदि किसी राष्ट्र के निवासियों में एक जाति की भावना न हो तब भी विद्रोह हो सकता है; कम से कम उस समय तक तो इसकी संभावना रहती ही है जब तक कि

एक राष्ट्र में रहनेवाली विभिन्न जातियाँ मिलकर एक जाति की भावना का अनुभव नहीं करने लगतीं।[११] क्योंकि कोई भी राष्ट्र न तो आकस्मिक एकत्रित हुई भीड़ से निर्मित होता है और न इसी प्रकार किसी आकस्मिक कालांश में बन सकता है। अतएव जो कोई नगर-राष्ट्र या तो नगर की स्थापना के समय अथवा उसके पश्चात् विजातियों को नगर में वास देता है (या विदेशियों का अपने नगर में स्वागत करता है) प्रायः विद्रोह से कष्ट पाता है। उदाहरण के लिये सिबारिस[१२] नामक नगर को त्रौइज़ेनी लोगों के साथ मिलकर अखैयी लोगों ने बसाया था; पर जब अखैयी लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई तो उन्होंने त्रौइज़ेनियों को निकाल बाहर किया। इसी कारण (तभी से) सिबारिस पर अभिशाप छा गया। थुरियायी[१३] नगर में सिबारिसवालों का उन अन्य जातिवाले लोगों के साथ झगड़ा हुआ जिनके साथ मिलकर उन्होंने इस उपनिवेश को बसाया था; इस मान्यता के आधार पर कि भूमि पर उनका अधिकार था उन्होंने विशेष सुविधाओं को पाने का दावा किया, (परिणाम यह हुआ कि) वे वहाँ से निकाल दिये गये। विजान्तियम्[१४] में पीछे आकर बसनेवाले लोग आद्य उपनिवेशकों के विरुद्ध षड्यंत्र में लिप्त पाये गये थे और उनको बलात्कार से निकाला गया था। अन्तिस्सा[१५] नगर के निवासियों ने प्रथम तो अखियॉस नगर के निर्वासितों को अपने नगर में प्रवेश करने दिया पर पीछे उनको लड़कर निकाल दिया। पर जाङ्कली[१६] के आदिवासी तो (जिन्होंने साभी लोगों को अपने नगर में प्रवेश करने दिया) पीछे उन्हीं के द्वारा अपने नगर से निकाल दिये गये। यूक्षीन (कृष्ण सागर) के तट पर बसी हुई अपौलोनिया नामक नगरी के निवाँसियों में नवीन आकर बसनेवाले लोगों के कारण क्रान्ति हुई। सिराकूज़ नगरवालों ने तानाशाहों के शासन की समाप्ति पर विदेशियों और वेतनार्थी (सिपाहियों) को नागरिकता के अधिकार दे दिये, परिणाम हुआ विद्रोह और आन्तरिक कलह। अस्फ़ीपोलिस नगर में वहाँ के मूल निवासी तो, खाल्किदौन के उपनिवेशकों को अपने यहाँ बसाकर स्वयं उनके द्वारा लगभग पूर्णतया निर्वासित कर दिये गये।

जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं, धनिकतंत्र में तो जनसाधारण इस कारण विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि उनके साथ उचित व्यवहार नहीं किया जा रहा है; क्योंकि वे हैं तो सबके समान पर उनको समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं। प्रजातंत्र में गण्यमान लोग इस कारण विद्रोह किया करते हैं कि यद्यपि वे गुणों (योग्यता) में अन्य लोगों से बढ़कर हैं तथापि उनको अन्य लोगों के समान मात्र अधिकार मिले हुए हैं।

कभी कभी स्वयं नगर की स्थिति के कारण भी विद्रोह घटित हुआ करते हैं ऐसा तब हुआ करता है जब कि नगर का भूमि-विन्यास प्रकृत्या राजनीतिक एकता के अनुकूल नहीं होता। उदाहरण के लिये क्लाजोमेनाए में खितस् के उपनगर के निवासी, द्वीप-निवासियों से सहमत होकर नहीं रह सके; इसी प्रकार का कलह कोलोफ़न नगर और उसके बन्दरस्थान नोतियम् के निवासियों के बीच भी था। और अथेन्स में भी इसी प्रकार अन्तर पाया जाता है: बन्दरस्थान पाइरायस के रहनेवाले ऊँचे नगर के निवासियों की अपेक्षा (अथेन्स-निवासियों की अपेक्षा) अधिक जनतन्त्रात्मक हैं। जिस प्रकार युद्धक्षेत्र में खाई को पार करने में, फिर चाहे वह खाई कितनी ही छोटी क्यों न हो, सेना को तितर-बितर हो जाना पड़ता है, इसी प्रकार, नगर में प्रत्येक प्रकार का भेद (अथवा अन्तर) कलह उत्पन्न कर देता है। सबसे बड़ा विरोध तो स्यात् सद्-वृत्ति और दुर्वृत्ति (सदाचार और दुराचार) के बीच में है; तदुपरान्त सम्पन्नता और निर्धनता का विरोध है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य कारणों से उत्पन्न (अन्यान्य भेदों से उत्पन्न) होनेवाले और भी छोटे-मोटे विरोध होते हैं, जिनमें से एक विरोध यह ऊपर कहा गया (स्थानकृत) विरोध भी है।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खंड के अन्त में अरिस्तू ने राज्यक्रान्ति के ११ प्रसंगों का जिस क्रम से उल्लेख किया है उसका अनुसरण उनके वर्णन में यहाँ उसने नहीं किया है। यहाँ उस क्रम को उसने थोड़ा बदल दिया है।

२. इस प्रसंग का अधिक विवरण इसी पुस्तक के ५वें खंड के आरंभ में दिया गया है।

३. ओइनोफी(फे)ता का युद्ध ई० पू० ४५६ की घटना है।

४. इस घटना के समय के विषय में मतभेद है। या तो यह घटना ई० पू० ४४७ में अथवा ई० पू० ४२४ में हुई।

५. गैलोन् से संबंध रखनेवाली घटना ई० पू० ४८५ के आसपास की है।

६. न्यूमैन् के मत में ग्रीक लोगों की धारणा थी कि शरीर की विकृति से मानवता के गुण में भी विकृति उत्पन्न हो जाती थी।

७. यह घटना ई० पू० ४७३ की है। स्वयं भारतवर्ष में कुछ लोगों की धारणा है कि महाभारत में कुरुक्षेत्र के युद्ध में जो श्रेष्ठ वीरों के जीवन-नाश से क्षति हुई वह आगे कभी पूरी नहीं हो सकी। गीता के प्रथम अध्याय के अन्त में अर्जुन ने इस प्रकार की आशंका को स्पष्टतया व्यक्त किया है।

८. सप्तमी का अर्थ स्पष्ट नहीं है। दो अर्थों की कल्पना की गई है (१) सप्तमी तिथि को जिनकी हत्या की गई थी वे मनुष्य अथवा (२) सातवें कबीले के मनुष्य। विलयोमेनी (ने)स का समय ई० पू० ५२० से ई० पू० ४९० के लगभग माना जाता है।

९. पैलोपौनेशियन् युद्ध का समय ई० पू० ४३१ से ई० पू० ४०४ तक है। यह युद्ध मुख्यतया अथेन्स और स्पार्टा के बीच में हुआ था और इसमें अथेन्स की पराजय हुई थी।

१०. औरेयस् का पहला नाम हैस्तियाइया था। यहाँ जिस घटना की ओर संकेत है वह ई० पू० ३७७ की घटना है।

११. यह चेतावनी भारतवर्ष के लिये ध्यान देने योग्य है।

१२. सीबारिस दक्षिण इटली में था।

१३. यह यूरियाई नगर सीबारिस के समीप था।

१४. बीजान्तियन् (म्) का परिचय दिया जा चुका है।

१५. अन्तिस्सा नगरी एओलिस् में थी।

१६. ज़ाङक्ली (ले) सिसिली द्वीप के उत्तरपूर्व भाग में अवस्थित था।

१७. अम्फ़ीपोलिस मकैदौनिया के पूर्व में है।

वि० अरिस्तू ने विजातीय शब्द का प्रयोग अन्य नगर-निवासी के अर्थ में किया है।

१८. क्लाज़ोमेनाए नगर का एक भाग एक द्वीप पर बसा हुआ था, दूसरा भाग मुख्य स्थल पर था और इन दोनों भागों के निवासियों में झगड़ा बना रहता था।

वि० इस खंड से अरिस्तू के इतिहास-संबंधी ज्ञान की विशदता का पता चलता है। जिस प्रकार जातियों की कलह प्राचीन काल में अनेक युद्धों का कारण बनी उसी प्रकार आज भी एक बड़े पैमाने पर वही स्थिति है। जब तक मानव मात्र मानव को बन्धु मानना नहीं सीखेगा तब तक यही स्थिति बनी रहेगी।

४

क्रान्तियों के अन्य प्रसंग

चाहे विद्रोह (क्रान्ति) कितने ही छोटे (या तुच्छ) प्रसंग से क्यों न आरंभ हो उसका परिणाम छोटा नहीं होता। जब उनका संबंध सत्ताधारियों से होता है तब छोटी छोटी बातें भी महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। जैसी कि प्राचीन काल में सिराकूज़ में घटना घटित हुई कही जाती है, कि प्रेम-प्रसंग के कारण दो शासन-सत्तारूढ़ नवयुवकों के बीच में होनेवाले झगड़े के परिणामस्वरूप नगर की शासन-व्यवस्था ही बदल गयी। जब उन दोनों में से एक अपने घर पर नहीं था तो दूसरे व्यक्ति ने (प्रथम व्यक्ति का सहयोगी

होते हुए भी) उसके मित्र के प्रणय को फुसलाकर अपने लिये प्राप्त कर लिया और फिर उस वंचित व्यक्ति ने मारे क्रोध के अपने सहयोगी की पत्नी को फुसलाकर, अपनी हानि का बदला लिया। तब उन दोनों ने समग्र नगर के शासकवर्ग को अपने झगड़े में घसीट लिया और सारे नगर को दो विद्रोही दलों में विभक्त कर दिया। इस कथा से हमको यह शिक्षा मिलती है कि ऐसी कलहों के आरंभ से ही बड़ी सावधानी बरतनी जानी चाहिये और नेतृत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्तियों के झगड़े शीघ्र ही समाप्त कर दिये जाने चाहिये। गलती तो आरंभ में ही हो जाती है, और क्योंकि (जैसा कि लोकोक्ति में कहा जाता है) प्रारंभ किसी भी कार्य का आधा होता है; अतएव आरंभकी थोड़ी-सी गलती शेष कार्य की सारी गलतियों के बराबर होती है।[2] सामान्य रूपेण यह कहा जा सकता है कि जब प्रमुख गण्यमान व्यक्ति झगड़ते हैं तो उनके झगड़े में सारा नगर लिप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ मीडिक युद्ध के उपरान्त हैस्तियाइया[3] में ऐसी ही घटनाएँ घटित हुईं। दो भाई अपने पिता की सम्पत्ति के विभाजन के विषय में लड़े; उन दोनों में से अधिक निर्धन ने (इस कारण से कि, दूसरा भाई न तो सम्पत्ति को ही प्रकट कर रहा है और न पिता के द्वारा स्थापित कोष की मात्रा को ही उद्घाटित कर रहा है) सार्वजनिक दल को अपने पक्ष में मिला लिया, दूसरे; भाई ने (जिसके पास विशाल सम्पत्ति थी) धनिक-वर्ग को अपनी ओर कर लिया।

डैल्फ़ी[4] में सब पश्चात्कालीन झगड़ों के मूल में जो विवाद था वह एक विवाह के प्रसंग में घटित हुआ था : वधू के घर पर हुई कुछ घटना को अपशकुन मानकर वर वधू को लेने के लिये आया तो सही पर बिना उसको साथ लिये लौट गया। इस पर वधू पक्षवालों ने अपने को अपमानित मानकर, जब वह (वर) यजन कर रहा था उसकी पूजा-सामग्री में देव-संबंधी धन मिला दिया और तदुपरान्त दिव्य सम्पत्ति की चोरी के अपराध के व्याज से उसकी हत्या कर डाली। इसी प्रकार मितीलीनी[5] नगर में भी एक उत्तराधिकारिणी कन्या के विवाह का विवाद पीछे के अनेक विवादों (दुर्भाग्यों) का श्रीगणेश सिद्ध हुआ--इसी के परिणामस्वरूप इस (नगर) का अथेन्स वासियों से युद्ध हुआ, जिसमें पाखी (वीर योद्धा) ने उसके नगर पर अधिकार कर लिया। तिमोफ़ानीस नामक एक सम्पन्न नागरिक ने अपनी मृत्यु के उपरान्त दो कन्याएँ छोड़ी। एक दूसरा नागरिक था देक्षान्द्रॉस, जो उन लड़कियों को अपने लड़कों के साथ ब्याहना चाहता था, परन्तु जब उसका एतद्विषयक अभियोग अस्वीकार कर दिया गया, तो उसने विद्रोह खड़ा कर दिया और अथेन्स निवासियों का उस नगर में मत्री होने के नाते उसने उनको इस विषय में हस्तक्षेप करने के लिये भड़काया। फ़ोकिस[6] नामक

नगर में भी इसी प्रकार उत्तराधिकारिणी कन्या के विषय में म्नासन के पिता म्नासिया और ओनोमार्कस के पिता यूथीक्रातीस् के बीच में झगड़ा हो गया जो कि उस धर्मयुद्ध का श्रीगणेश सिद्ध हुआ जिसमें समग्र फोकिस नगर फँस गया। ऐपीदाम्नस[9] नामक नगर में भी एक विवाह-संबंधी झगड़ा शासन-तंत्र में परिवर्तन (क्रान्ति) का कारण हुआ। किसी पुरुष ने अपनी कन्या की सगाई एक दूसरे व्यक्ति के साथ कर दी थी, जिसके साथ सगाई की थी उसके पिता ने सत्ताधिकारी (मजिस्ट्रेट) हो जाने पर वाग्दत्ता कन्या के पिता पर अर्थदण्ड (जुर्माना) किया, उसने अपने को अपमानित हुआ समझकर (शासन-व्यवस्था को उलटने के लिये) नगर के मतसत्तारहित लोगों को अपनी ओर मिला लिया।

किसी शासनपद अथवा राष्ट्र के किसी विभाग की ख्याति या शक्ति में वृद्धि होने के कारण भी शासन-व्यवस्था धनिकतंत्र, जनतंत्र अथवा व्यवस्थातंत्र की दिशा में बदल जाती है। उदाहरण के लिये अरियोपागस्[8] की परिषद् की ख्याति मीदिक (पर्शिक) युद्धों के समय बहुत बढ़ गयी थी। इसका परिणाम यह प्रतीत हुआ कि शासन-व्यवस्था कुछ समय के लिये कसी हुई और कठोर हो गयी (अर्थात् उसका झुकाव धनिकतंत्र की ओर हो गया।) दूसरी ओर, जब नौसेना में नौकरी करनेवाली साधारण जनता सालामिस्[9] की लड़ाई में विजय का कारण बनी, और उसने नौशक्ति पर निर्भर साम्राज्य (अथेन्स) को प्राप्त करा दिया तो इसका परिणाम यह हुआ कि जनतंत्र की शक्ति पूर्वापेक्षा अधिक हो गई। और आर्गोस् में गण्यमान लोगों ने मान्तीनिया[10] के युद्ध में जो कि लाकैदायमॉन् निवासियों के विरुद्ध लड़ी गई थी, विशेष ख्याति (= कीर्त्ति) प्राप्त की, परिणामतः उन्होंने जनतंत्र शासन-पद्धति को दबाने का प्रयत्न किया। सिराकूज़ नगर में जनसाधारण के कर्तृत्व से ही अथेन्स निवासियों के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त हुई थी अतएव जनता ने व्यवस्था-प्रणाली को जनतंत्र-प्रणाली के रूप में बदल दिया।[11] खाल्किस नगर में फोक्षस्[12] नामक तानाशाह को हटाने के लिये (समाप्त करने के लिये) साधारण जनवर्ग गण्यमान लोगों के साथ मिल गया और उसने अविलम्ब शासनतंत्र को हस्तगत कर लिया। और फिर अम्ब्राकिया में भी बहुत कुछ इसी प्रकार से जनता पेरियाण्डर नामक तानाशाह को निकालने के लिये षड्यंत्रकारियों से मिल गयी और उसने शासनतंत्र को बदलकर जनप्रिय रूप दे दिया।[13] सामान्य रूपेण अनुभव यह सिखाता है कि यह तथ्य कदापि नहीं भुला देना चाहिये कि जो कोई भी राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाने (राष्ट्र को शक्ति प्रदान करने का) कारण होता है—चाहे वह व्यक्ति हो, चाहे अधिकारी-मण्डल हो, चाहे कोई जाति (कबीला) हो, चाहे राष्ट्र का कोई खण्ड हो और चाहे किसी प्रकार का जनसमूह हो—उसकी प्रवृत्ति विद्रोह खड़ा

करने की ओर हो सकती है। क्योंकि या तो इन (महत्त्व-प्राप्त लोगों) के गौरव की ईर्ष्या से अन्य लोग विद्रोह करने के लिये आकृष्ट हो जाते हैं, अथवा स्वयं यही लोग अपने बड़प्पन के गर्व से अन्य लोगों के साथ समानता के नाते से नहीं रहना चाहते।

क्रान्तियाँ तब भी हुआ करती हैं जब कि राष्ट्र के परस्पर विरुद्ध समझे जानेवाले भाग—जैसे कि धनिकवर्ग और साधारण धनहीन जनता—संतुलित हों, तथा दोनों का मध्यवर्ती दल या तो बहुत छोटा हो अथवा उसका पूर्णतया अभाव हो। क्योंकि जहाँ उभय पक्षों में से कोई-सा पक्ष स्पष्ट ही दूसरे पक्ष से शक्ति में बढ़कर होता है, तो दूसरा पक्ष कभी प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई का भय मोल लेने का इच्छुक नहीं हुआ करता। यही कारण है कि जो व्यक्ति अन्य लोगों से सद्वृत्ति अथवा सद्गुणों में बढ़कर होते हैं वे कदापि विद्रोह खड़ा नहीं करते, क्योंकि वे तो बहुसंख्यक साधारण लोगों की तुलना में अल्पसंख्यक हुआ करते हैं। साधारण रूप में सब प्रकार के राष्ट्रों में उपद्रवों और क्रान्तियों के उद्गम और कारण इसी प्रकार के होते हैं।

राष्ट्रों की क्रान्तियाँ कभी बल-प्रयोग के द्वारा और कभी प्रवंचना के द्वारा घटित होती हैं। बल-प्रयोग या तो क्रान्ति के आरंभ में किया जाता है अथवा पीछे किसी अन्य अवसर पर। प्रवंचना दो प्रकार की होती है। कभी ऐसा होता है कि प्रथम तो नागरिक लोग स्वेच्छा से सर्वसम्मति से शासनतंत्र के परिवर्तन को मानने के लिये (छल से) तैयार हो जाते (अथवा कर लिये जाते) हैं; पर पीछे वही नागरिक लोग क्रान्तिकारी व्यक्तियों द्वारा उन (नागरिकों की इच्छा) के विपरीत बलात् (अधीनता में) रखे जाते हैं। जैसे कि अथेन्स के ४०० व्यक्तियों ने जनता को यह कहकर धोखा दिया कि फ़ारस का सम्राट् अथेन्स वासियों को लाकैदायमॉन से लड़ने के लिये धन देगा, और इस प्रकार जनता को धोखा देकर भी वे बराबर शासनतंत्र को अपने अधीन बनाये रखने का उद्योग करते रहे। कभी ऐसा भी होता है कि जनता को आरंभ में बहला फुसलाकर मना लिया जाता है, और पीछे भी बार बार फुसलाकर उन (नागरिकों) की अनुमति से ही उनपर शासन किया जाता है। सामान्यरूपेण सभी राष्ट्रों में जो क्रान्तियाँ घटित हुआ करती हैं वे सब उपर्युक्त कारणों से ही घटित होती हैं।

टिप्पणियाँ

१. पुरुष-संभोग की ओर संकेत है। यह घटना ई० पू० ४८५ से कुछ पहले की है और संभवतया "गभौरी" के शासन-काल में हुई थी।

२. ग्रीक भाषा में "आरंभ" और "शासनाधिकारी" दोनों के लिये "आर्खे" शब्द का प्रयोग होता है। अतएव श्लेष द्वारा यह ध्वनित होता है कि आरंभ की भूल या त्रुटि मानों अधिकारियों द्वारा की गई भूल मानी जानी चाहिये।

३. हेस्तियाइया नगर (इ) यूबोइया प्रदेश में है और यह घटना ई० पू० ४४६ से कुछ थोड़े समय पूर्व की प्रतीत होती है।

४. डैल्फ़ी अथवा दैल्फ़ी में वर्णित विवाह के अवसर पर मदिरापात्र टूट गया। इस अपशकुन के कारण दुर्घटनाओं की शृंखला आरंभ हो गई।

५. मितीलीनी (लेने) का परिचय दिया जा चुका है। अरिस्तू स्वयं कुछ समय के लिये इस नगर में रहा था, अतएव संभव है कि उसने इस कहानी को तिमोफ़ानीस् के किसी वंशधर से सुना हो।

६. फोकिस् की घटना के संबंध में भी यह कहा जाता है कि म्नासन् अरिस्तू का मित्र था और संभव है, उसने स्वयं यह कहानी अरिस्तू को सुनाई हो।

७. एपीदाम्नस् नगर के संबंध में जिस घटना का उल्लेख यहाँ किया गया है वह संभव है कि वही घटना है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

८. अरि (रे) योपागस् से तात्पर्य अरियोपागस् की परिषद् अथवा न्यायालय से है। इसके विषय में अथेन्स के संविधान को देखना चाहिये।

९. सालामिस् अथेन्स के पश्चिम में एक छोटासा द्वीप है। ई० पू० ४८० में यहाँ पर अथेन्स ने फ़ारस के सम्राट् जरक्सीस को सामुद्रिक युद्ध में परास्त किया था। इसके उपरान्त नाविकों का महत्त्व अथेन्स के शासन में बढ़ गया।

१०. मान्तीनिया (नेइया) अर्कादिया में है। जिस युद्ध का यहाँ उल्लेख किया गया है उसका समय ई० पू० ४१८ है।

११. यह घटना ई० पू० ४१३ की है।

१२. फोक्षस् संबंधी घटना के संबंध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

१३. यह घटना ई० पू० छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है। पेरियान्द्रॉस् के विषय में लिखा जा चुका है।

५

जनतंत्रात्मक व्यवस्थाओं की क्रान्तियाँ

अब हमको शासन-पद्धतियों के प्रत्येक प्रकार को पृथक् पृथक् लेना चाहिये और क्रमश: यह अध्ययन करना चाहिये कि उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्तों से प्रत्येक प्रकार के शासनतंत्र के संबंध में क्या निष्कर्ष निकल सकते हैं।

जनतंत्रों में क्रान्तियाँ प्रायेण लोकनायकों के उच्छृङ्खल व्यवहार के कारण हुआ करती हैं। वे या तो अपने आप (व्यक्तिगत प्रकार से) धनवान लोगों की चुगली खाते रहते हैं, जिससे कि वे लोग (उनके विरुद्ध) संबद्ध होने के लिये विवश हो जाये (क्योंकि सामान्य भय तो घोरतम (कटुतम) शत्रुओं को भी मिला देता है); या वे उनके (धनिक-) वर्ग पर आक्रमण करते हुए साधारण जनता को उनके विरुद्ध भड़काते हैं। इस प्रकार के कार्य का परिणाम बहुत से उदाहरणों में देखा जा सकता है।[1] कॉस् नामक नगर में जनतंत्र में परिवर्तन इसी कारण हुआ कि दुष्ट प्रकृतिवाले लोकनेता पैदा हो गये और गण्यमान लोग (उनके विरुद्ध) संगठित हो गये। रोड्स[2] में भी ऐसा ही हुआ; वहाँ के लोकनायकों ने प्रथम तो जनसाधारण के लिये (परिषद् में उपस्थित होने के निमित्त) वेतन बँधवाया, और इस कार्य के लिये रुपया प्राप्त करने के निमित्त उन लोगों को नौ शासकों का (नौका प्रस्तुत करने में हुआ) व्यय देने से रोक दिया; परिणाम यह हुआ कि अपने विरुद्ध लगाये गये अभियोगों से उद्विग्न होकर वे आपस में संगठित होने के लिये विवश हो गये और संगठित होकर उन्होंने जनतंत्र को मिटा दिया। हेराक्लिया[3] नामक नगर में तो उपनिवेश की स्थापना के अनन्तर ही लोकनायकों के अन्यायपूर्ण व्यवहार के कारण जनतंत्र का विनाश हो गया; इनके दुर्व्यवहार के कारण गण्यमान[4] बड़े लोग नगर से बाहर निकाल दिये गये; निर्वासित हुए उन लोगों ने अपनी शक्ति को एकत्रित किया और फिर लौटकर उन्होंने प्रजातंत्र को समाप्त कर दिया। मैगारा में भी प्रजातंत्र का विनाश लगभग इसी प्रकार से हुआ। वहाँ के लोकनायकों ने विशिष्टजनों की सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाने के लिये बहुत से गण्यमान लोगों को निर्वासित कर दिया, यहाँ तक कि निर्वासितों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी, और उन्होंने लौटकर जनता को युद्ध में परास्त कर दिया एवं धनिकतंत्र स्थापित कर दिया। कीमे[5] नगर के जनतंत्र की भी यही दशा हुई, इस जनतंत्र को थ्रासीमाकस ने समाप्त कर दिया। और अन्य बहुत से (ग्रीक) राष्ट्रों के निरीक्षण से भी यही पता चलता है कि उनमें जो शासनतंत्र में परिवर्तन हुए हैं वे इसी प्रकार के हैं। कभी कभी तो लोकनायक जनता की अनुकूलता संपादन करने के लिये सम्पन्न प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रति अन्याय करके उनको संगठित करने के लिये विवश कर देते हैं—वे या तो उनकी संपत्ति का विभाजन कर देते हैं अथवा उनकी आय पर सार्वजनिक सेवा का भार डालकर उनकी आय को घटा देते हैं। कभी वे (लोकनायक) संपन्न लोगों की सम्पत्ति को सार्वजनिक संपत्ति बना देने के लिये (न्यायालयों में) उनके विरुद्ध झूठे आरोपों का भी अभियोग किया करते हैं।

प्राचीन काल में, जब कि लोकनेता सेनानायक भी हुआ करता था, तब जनतंत्र शासन तानाशाही के रूप में बदल जाता था। प्राचीन समय के बहुत से तानाशाह लगभग वही व्यक्ति थे जो आरंभ में लोकनायक थे। उस समय ऐसा होता था पर अब नहीं होता। इसका कारण यह है कि उस समय (जब कि भाषण-कला बलवान नहीं हुई थी) लोकनायक प्रायः सेनानायकों में से निकलते थे; पर अब तो भाषण-कला की बहुत अधिक उन्नति हो गई है; अतएव जिनको वाक्शक्ति प्राप्त होती है वही अपने को लोकनायक बनाते हैं, पर युद्धकला के अनुभवी न होने के कारण वे शक्ति को हड़पकर तानाशाह बनने का प्रयत्न नहीं करते; —अपवाद स्वरूप भले ही कोई विरला उदाहरण इसके विपरीत हुआ हो। प्राचीन काल में आजकल की अपेक्षा अधिक तानाशाहियाँ इस कारण भी थीं कि बड़े बड़े शासनाधिकारपद उस समय व्यक्तियों के हाथों में रहते थे। उदाहरणार्थ मिलैतम् में (थ्रासीबूलस्[1] की) तानाशाही उसके मुख्याधिष्ठाता पद पर पहुँचने के कारण प्रादुर्भूत हुई, इस पद को बहुत से विशाल अधिकार (सत्ताएँ) प्राप्त थीं। और फिर उन दिनों नगरों का आकार प्रकार बहुत बड़ा न होने के कारण, जनसाधारण सामान्यतया अपने कृषिकार्य में लगे हुए खेतों पर रहा करते थे; और उनके मुखिया लोग (यदि युद्ध-संबंधी योग्यता से संपन्न होते थे तो) अपनी तानाशाही की स्थापना करने में सफल हो जाते थे। और यह सब वे लोग जनसाधारण का विश्वास-संपादन करके ही कर पाते थे और जनता का विश्वास उनको धनवानों के प्रति द्वेष प्रदर्शित करने से प्राप्त हो जाता था। उदाहरणार्थ अथेन्स में पाइसिस्ट्राटस[2] मैदान में रहनेवाले धनिकों के दल के विरुद्ध असंपन्न लोगों के विद्रोह का नेतृत्व करके तानाशाह के पद पर पहुँचा था; और मैगारा में थियागैनीस[3] ने धनवान लोगों के पशुओं की हत्या की जिनको उन्होंने नदी के किनारे दूसरों की भूमि में चरने छोड़ दिया था, और इस प्रकार से (असंपन्न जनता का विश्वासभाजन बनकर उसने तानाशाह का पद प्राप्त किया।) तथा (सिराकूज़ नगर में) दियौनिसियस् ने डाफ्नाइयस्[4] और अन्य सम्पत्तिशाली लोगों की भर्त्सना की; धनवानों के प्रति उसकी द्वेष-भावना से उसको जनता का विश्वास प्राप्त हुआ और वह तानाशाह बनने के योग्य समझा गया।

पुरातन अथवा पैतृक जनतंत्रात्मक पद्धति से परिवर्तन होकर उसका रूप नवीनतम जनतंत्र का भी हो सकता है। जहाँ शासनपदों पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होती है, निर्वाचन के लिये आर्थिक योग्यता नियत नहीं होती, और सभी जनता को चुनने का (मतदान का) अधिकार होता है, तो शासनपद को पाने के इच्छुक लोग ही लोकनायक बनने का अभिनय करने लगते हैं और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि नियम तक की

शक्ति जनता के अधिकार के अन्तर्गत आ जाती है। ऐसी परिस्थिति को न उत्पन्न होने देने, अथवा कम उत्पन्न होने देने का इलाज यह है कि विभिन्न जातियां शासनाधिकारियों का चुनाव करें, न कि सारी जनता। जनतंत्र-पद्धतियों में प्राय सभी परिवर्तनों के कारण मुख्यतया यह ही हैं।

टिप्पणियाँ

१. कॉस् के शासन-परिवर्तन की तिथि का पता नहीं है। यह द्वीप है जो लघु एशिया के दक्षिण पश्चिम में है।

२. रोड्स अथवा रोदॉस् यूनानी द्वीपों में सबसे अधिक पूर्व की ओर है और लघु एशिया के दक्षिण पश्चिम में है। कॉस् द्वीप इससे उत्तर की ओर है।

३. हेराक्लिया कृष्णसागर के दक्षिण तट पर अवस्थित है।

४. गण्यमान के लिये मूल ग्रीक "ग्नोरिमॉस्" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सुविज्ञात है।

५. कीमे अथवा क्यूमे नाम के दो नगर थे एक लघु एशिया में था और दूसरा इटली में। इटली का क्यूमे नगर लघु एशिया के नगर का उपनिवेश था।

६. थ्रासीवूलस् का परिचय पहले दिया जा चुका है।

७. पाईसिस्त्रातस् ने अथेन्स में ई० पू० ५७० में मैगारा के विरुद्ध में पराक्रम दिखलाकर ख्याति प्राप्त की। कुछ समय उपरान्त वह तानाशाह बन गया। इसका शासन अच्छा ही रहा। उसकी मृत्यु ई० पू० ५२७ में हुई। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिये अथेन्स का संविधान देखिये।

८. थियागेनी (ने) स् के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

९. डाफनाइयस् अथवा दाफ्नाइयस् नौसेनाध्यक्ष था। वह कार्थेज के अभियान से अग्रीगैन्तुम की रक्षा नहीं कर सका। दियोनिसियस् ने उसको पदच्युत करवाकर उसका स्थान प्राप्त कर लिया और फिर उसके विरोधी बन जाने पर उसको मरवा डाला।

६

धनिकतंत्रों में क्रान्ति के कारण

धनिकतंत्रों में क्रान्तियां होने के दो विशेष और स्पष्टतम ढंग (उपाय) हैं। एक है (शासन-सत्ता द्वारा) जनता के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार। ऐसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति समुपयुक्त अग्रणी वीर बन जाता है; विशेषकर तब जब कि नेता स्वयं

उन धनिकतंत्रियों में से ही निकल आता है; जैसा कि नाक्षॉस् द्वीप के लिग्दामिस् नामक नेता के प्रसंग में घटित हुआ, जो आगे चलकर उस द्वीप का तानाशाह वन गया। पर जो विद्रोह शासक-दल के वाहर उत्पन्न होता है, उसके अनेकों भेद (प्रकार) होते हैं। कभी कभी तो धनिकतंत्र का अंत स्वयं उन धनिक लोगों के द्वारा कर दिया जाता है जो शासन-कार्य में सम्मिलित नहीं होते। ऐसा तव होता है जव कि शासन करनेवालों की संख्या वहुत ही थोड़ी होती है; जैसा कि मस्सालिया[1] इस्त्रॉस्, हेराक्लिया एवं अन्य नगरों में हो चुका है। (इन सव धनिकतंत्रों में) जिन लोगों को शासन-तंत्र में भाग नहीं मिला था वे तव तक उत्पात करते रहे जव तक कि अन्ततोगत्वा पहले वड़े भाइयों और पीछे छोटे भाइयों को भी शासन-सत्ता में कुछ भाग प्राप्त न हो गया। क्योंकि, कुछ स्थानों (नगरों) में तो पिता और पुत्र एवं कुछ स्थानों में वड़े और छोटे भाई एक साथ शासन-सत्ता में भागीदार नहीं हो सकते। परिणाम यह हुआ कि वहाँ (मस्सालिया में) तो धनिकतंत्र वदलकर वहुत कुछ "व्यवस्थातंत्र" जैसा हो गया; इस्त्रॉस् में अन्तिम परिणति जनतंत्र के रूप में हुई, और हेराक्लिया नगरी में शासक-दल की संख्या थोड़े से वढ़कर ६०० तक पहुँच गई। क्नीदॉम्[2] नगरों के धनिकतंत्र में भी क्रान्ति हुई; यहाँ गण्यमान लोगों ने स्वयं अपने दल के लोगों के प्रति विद्रोह किया; इसका कारण यह था कि शासन-सत्ता में वहुत थोड़े लोगों को भाग प्राप्त था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन लोगों में यह नियम था कि यदि पिता को शासनकार्य में अधिकार प्राप्त होता था तो पुत्र को अधिकार नहीं मिलता था, और यदि कई भाई होते थे तो केवल सवसे वड़े भाई को ही अधिकारांश प्राप्त होता था। धनिकों के इस आन्तरिक विद्रोह में साधारण जनता ने भी दखल दिया और लाभ उठाया; उन्होंने गण्यमान लोगों में से ही एक को अपना अग्रणी वनाया और धनिकतंत्रियों पर आक्रमण करके उनको जीत लिया; क्योंकि उनमें फूट के कारण विभाजन था और विभाजन तो सदा ही दुर्वलता का कारण होता है। और एरीथ्राए नामक नगर में पुराने समय में वसीलीदाए[3] नामक कुल का धनिकतंत्र भली भाँति शासनतंत्र चला रहा था; और शासन-प्रवंध अच्छा था; तो भी साधारण जनता शासकों की अत्यन्त सीमित संख्या से रुष्ट हो गई और उसने शासनतंत्र को वदल डाला।

धनिकतंत्र में स्वतः अपने भीतर[4] से जो क्रान्ति हुआ करती है उसका कारण धनिकतंत्री शासकों की पारस्परिक ईर्ष्या है, जिससे वे स्वयमेव लोकनेता का स्वाँग भरने लगते हैं। यह लोकनेतृत्व दो प्रकार का होता है; एक तो है लोकनायक-कला को स्वयं धनिकतंत्री शासकों पर ही चरितार्थ करना; क्योंकि लोकनायक एक सीमित

समाज में भी उत्पन्न हो सकता है ; जैसे कि अथेन्स में तो खरीक्लीज[5] और उसके अनुयायियों ने "तीस"[6] के दल को फुसलाकर ही (ई० पू० ४०५ में) शक्ति हस्तगत कर ली थी, और "चार सौ" के शासन-काल में (४११ ई० पू०) फ्रीनीकस[7] और उसके पक्षवालों ने भी इसी उपाय से शक्ति प्राप्त की थी। दूसरा प्रकार है धनिकतंत्री शासकों द्वारा लोकनायक कला का साधारण जनता पर प्रयोग होना। ऐसा प्रसंग (उदाहरणार्थ) लारिस्सा[8] नगरी में घटित हुआ था जहाँ कि जनरक्षा का कार्य करनेवाले शासनाधिकारियों ने जनता के द्वारा चुने जाने के कारण उसके प्रति इसी कला का प्रयोग करके जनता को फुसलाया था। तथा ऐसा तो उन सभी धनिकतंत्रों में सामान्यतया हुआ करता है जिनमें शासनपदाधिकारी केवल अपने वर्ग के ही द्वारा नहीं चुने जाते, प्रत्युत जहाँ वे चुने तो बहुत सम्पत्तिशाली लोगों के वर्ग में से अथवा राजनीतिक दल-विशेष में से है, पर चुने जाते हैं (एक विशाल मतदाताओं के समूह द्वारा) जिसमें सारा सैन्य-समूह अथवा समग्र जनवर्ग भी सम्मिलित रहता है : जैसा कि अबीदास[9] नामक नगर में होता था। और ऐसी ही स्थिति वहाँ भी उत्पन्न हुआ करती है जहाँ न्यायालय के अधिकारी शासनसत्ताधारियों के ही वर्ग में से नहीं होते ; ऐसी दशा में धनिकतंत्री लोग अपने अनुकूल निर्णय प्राप्त करने के लिये लोकनायकों की चालों का प्रयोग किया करते हैं और शासन-पद्धति में क्रान्ति कर देते हैं। पौन्तस् (काले सागर) के तट पर स्थित हेराक्लिया नामक नगर में ऐसा ही हुआ था। और फिर उस समय भी धनिकतंत्र में परिवर्तन हुआ करता है जब कि शासक-वर्ग के कुछ सदस्य अपने वर्ग को और भी छोटा (संकुचित) बनाने का प्रयत्न करते हैं; क्योंकि ऐसी स्थिति में जो लोग समानाधिकार के लिये उद्योगशील होते हैं वे जनता की सहायता अपने पक्ष में प्राप्त करने के लिये बाध्य हो जाते हैं।

धनिकतंत्र में उस समय भी क्रान्ति हुआ करती है जब कि धनिकतंत्र के सदस्य अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को विलासितापूर्ण अपव्ययी जीवन-क्रम में नष्ट कर देते हैं, क्योंकि ऐसे ही व्यक्ति (नवीनता =) क्रान्ति को लाने के लिये उद्योगशील हुआ करते हैं, और या तो वे स्वयं अपने आपको तानाशाह के रूप में स्थापित करते हैं अथवा अन्य किसी को तानाशाह बना देते हैं; जैसे कि सिराकूज नगर में हिप्पारिनस्[10] ने दियोनीसियस् को तानाशाह बनाया था, और इसी प्रकार अम्फीपोलिस् (आम्बीकपुर) में क्लियोतिमस्[11] नामक व्यक्ति ने (क्षीणवित्त होने पर) प्रथम तो नगर में खल्कीदान् के उपनिवेशिकों को प्रवेश कराया और पीछे उनके बस जाने पर उनको धनवानों के विरुद्ध भड़का दिया। एवं आएगिना[12] में जो व्यक्ति खारेस् के साथ सन्धि-व्यवहार

चला रहा था उसने भी शासन-पद्धति को लौटने का उद्योग इसी कारण से किया था। इस प्रकार के लोग कभी कभी सीधे ही (प्रत्यक्षरूपेण) परिवर्तन के लिये प्रयत्न किया करते हैं, कभी वे सार्वजनिक कोष की चोरी किया करते हैं, और इसका भी परिणाम अन्ततोगत्वा विप्लव (विद्रोह) ही होता है; क्योंकि या तो यह चोर ही शासकों से झगड़ा छेड़ देते हैं अथवा (जैसा कि काले सागर के तट की नगरी अपोलोनिया में हुआ) वे लोग विद्रोह खड़ा किया करते हैं जो इन चोरी करनेवालों का विरोध करते हैं। जो धनिकतंत्र अपने में ऐक्यपूर्ण होता है वह स्वतः सरलता से अपने द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। इसका उदाहरण फार्सालिस्[१६] नगर की शासन-व्यवस्था है; वहाँ के शासक लोग थोड़े से होते हुए भी बहुत बड़ी (नगरी की) जनता पर इसलिए शासन-सत्ता चलाते हैं क्योंकि वे परस्पर एक दूसरे (शासकों के) प्रति अत्यन्त अच्छा व्यवहार करते हैं।

जब एक अल्पजनतंत्र (धनिकतंत्र) के भीतर दूसरा धनिकतंत्र उत्पन्न हो जाता है तब भी उसका विनाश हो जाया करता है। ऐसा होता है तब जब कि राजनीतिक अधिकार-प्राप्त जनसमूह के थोड़े होने पर भी वे महान् शासन-पदों में समान रूप से भागीदार नहीं होते। एक समय ऐलिस[१८] नगर में ऐसा ही हुआ। शासन-व्यवस्था थोड़े से वृद्धों (सीनेटर्स) की परिषद् के हाथ में थी, पर इस परिषद् में बहुत थोड़े (नये) व्यक्तियों की नियुक्ति कभी ही स्यात् होती थी : क्योंकि इस वृद्ध परिषद् की संख्या ९० थी और इसके सदस्य आजीवन पदारूढ़ रहते थे एवं इनका चुनाव, लाकैदायमॉन (स्पार्टा) की परिषद् के चुनाव के समान कतिपय परिवारों के हित की दृष्टि से हुआ करता था।

धनिकतंत्रों में (आन्तरिक कारणों से) युद्धकाल में और शान्तिकाल में दोनों में ही परिवर्तन (= क्रान्ति) हो सकता है। युद्धकाल में तो क्रान्ति इसलिए होती है कि धनिकतंत्र में शासक-वर्ग अपने नगर के लोगों का विश्वास न कर सकने के कारण (बाहरी) वेतनार्थी सैनिकों को नियुक्त करने के लिये बाध्य हो जाते हैं; और जिस किसी एक व्यक्ति को इन वेतनार्थी सिपाहियों के नायकत्व का कार्य सौंपा जाता है वह अन्ततोगत्वा तानाशाह बन जाता है, जैसे कि तिमोफानीस[१९] कॉरिंथ नगरी में तानाशाह बन गया था। और यदि उनका नेतृत्व अनेक सेनानायकों को सौंपा जाता है तो वे सब मिलकर अपने को शासकों का एक गुट बना लेते हैं। कभी कभी, इसी परिणाम की आशंका से, धनिकतंत्री शासक जनता को भी शासनतंत्र में से कुछ भाग प्रदान कर

देते हैं क्योंकि जनता की सेवा उनके लिये अनिवार्य हो जाती है। शान्तिकाल में परिवर्तन (क्रान्ति) तब हुआ करते हैं जब धनिकतंत्री शासकों के दो प्रतिपक्षी दल एक दूसरे के अविश्वास के कारण रक्षाकार्य वेतनार्थियों की सेना को और दोनों दलों के बीच मध्यस्थता करनेवाले व्यक्ति को सौंप देते हैं जो कभी कभी दोनो झगड़नेवाले दलों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। ऐसा लारिस्सा नगर में तब हुआ जब अल्यूआद् कबीले का सिमियास्[१६] मध्यस्थ सरपंच के रूप में वहां शासन कर रहा था, एवं अबीदॉस् नगर में ऐसी ही घटना इफ़ियादीस[१७] (की मध्यस्थता) के काल में राजनीतिक दलों (के कलह के कारण) घटी थी।

धनिकतंत्री शासन-व्यवस्था में विवाहों और अभियोगों के प्रसंग को भी लेकर आंतरिक विद्रोह उत्पन्न हुआ करते हैं, जिनके कारण एक दल दूसरे दल के द्वारा अपदस्थ कर दिया जाता है और झगड़ों की जड़ जम जाती है। विवाह के कारण उत्पन्न हुए झगड़ों के उदाहरण तो मैं पहले ही वर्णन कर चुका हूं, पर (इसी संबंध में) दियागोरास्[१८] के द्वारा एरैट्रिया नगर के अश्वारोही सरदारों के धनिकतंत्र के निपात का भी उल्लेख किया जा सकता है जो उसने एक विवाह संबंधी अन्याय से रुष्ट हो जाने के कारण किया था। (कालेसागर के तट पर स्थित) हेराक्लिया नगरी में तथा थीबैस नगरी में तो व्यभिचार[१९] के अभियोग में किये हुए न्यायनिर्णय के कारण क्रान्तियां हुई। दोनों ही प्रसंगों में अभियोग व्यभिचार-संबंधी ही था और जो दण्ड दिया गया था वह उचित था पर दोनों ही स्थानों में—हेराक्लिया में यूरीनियान् को और थीबैस में आर्कियास् को —दण्ड दलगत पक्षपात की भावना से चरितार्थ किया गया। अपराधियों के शत्रुओं ने इतनी कलह-प्रियता दिखलाई कि उन्होंने उनको खुले हाट में गल-बन्ध दिलवाया। बहुत से धनिकतंत्र तो अपने अतिशय स्वेच्छाचारित्व के कारण ही, दुर्व्यवहार से उद्विग्न हुए शासक-दल के सदस्यों के रुष्ट हो जाने से नष्ट हो गये। उदाहरणार्थ क्नीडॉस् और ख़ियोस् नगरों के धनिकतंत्रों के साथ ऐसा ही प्रसंग घटित हुआ।

कभी कभी व्यवस्था-विषयक क्रान्तियां आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण भी हो जाया करती हैं। ऐसा या तो तथाकथित "व्यवस्था" (पालितेइया) नामक शासन-पद्धति में हुआ करता है या ऐसी धनिकतंत्री व्यवस्था में हुआ करता है, जिसमें परिषद्, न्यायालय और अन्य शासन-पदों की सदस्यता के लिये आर्थिक योग्यता आवश्यक होती है। आरंभ में योग्यता (= आर्थिक योग्यता) तत्कालीन परिस्थिति को दृष्टि में

रखते हुए इस प्रकार नियत की गयी होगी कि जिससे धनिकतंत्र-पद्धति में थोड़े से व्यक्ति एवं (तथाकथित) व्यवस्था-पद्धति में केवल मध्यवित्त लोग शासन-कार्य में भागीदार हो सकें। पर इसके कुछ समय पश्चात् चाहे तो शान्ति-काल के कारण अथवा अन्य किसी शुभ संयोग से समृद्धिकाल आ जाता है, जिससे कि पूर्वकालीन सम्पत्ति का मूल्य बढ़कर पहले की अपेक्षा अनेक गुना अधिक हो जाता है, परिणाम यह होता है कि सबको सब शासन-कार्यों में भाग प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है। कभी तो ऐसा परिवर्तन धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा करके अनजाने प्रकार से हो जाता है पर कभी ऐसा बड़ी शीघ्रता से भी हो(सक)ता है।

धनिकतंत्रों में क्रान्ति और विद्रोह इन्हीं कारणों से हुआ करते हैं। जनतंत्र (प्रजातंत्र) और धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र) के विषय में सामान्यरूपेण यह कहा जा सकता है कि वे कभी कभी परिवर्तित होकर अपने पूर्वरूप का विरोधी रूप धारण नहीं करते, प्रत्युत अपने ही किसी अवान्तर प्रकार में परिणत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ नियम से नियंत्रित जनतंत्र और प्रजातंत्र नियमातीत रूप ग्रहण कर सकते हैं और यह (नियमातीत) पद्धतियाँ नियमनियंत्रित पद्धतियों का।

टिप्पणियाँ

१. मस्सालिया अथवा मस्सीलिया नगरी आधुनिक काल में मार्सेइ (Marscilles) कहलाती है। यह फ्रांस के दक्षिण में है। जिन तीन नगरियों का यहाँ उल्लेख किया गया है वहाँ ऐसा नियम था कि एक समय पिता-पुत्र अथवा एक से अधिक भाई शासनपदाधिकारी नहीं हो सकते थे। यह सब नगर-राष्ट्र ग्रीक सभ्यता के छोरों पर बसे हुए थे।

२. क्नीदॉस् में भी उपर्युक्त प्रतिबन्ध लागू था।

३. बसीलीदाए वंश के लोग कई स्थानों पर बसे हुए थे। संभवतया, जैसा कि इनके नाम से सूचित होता है, यह लोग पुराने राजाओं के वंशधर थे।

४. अब तक जो उदाहरण इस खंड में दिये गये गये हैं उनमें तो क्रान्ति के कारण धनिकतंत्र से बाहर उत्पन्न हुए थे। अब ऐसे प्रसंगों का विचार किया जायगा जिनमें परिवर्तन के कारण स्वयं धनिकतंत्र के भीतर ही उत्पन्न हुए थे।

५. खरीक्लीस पहले निर्वासित कर दिया गया था। जब वह लौटकर आया तो उसका विचार अथेन्स को स्पार्टा का दास बनाने का और उस पर स्वयं शासन करने का था। यहाँ पर जिस घटना का उल्लेख किया गया है वह ई० पू० ४०५ की है।

६. अथेन्स जब स्पार्टा से पराजित हो गया तो क्रीतियास् के नेतृत्व में "तीस" धनिकवर्ग के लोगों का शासन आरंभ हुआ।

७. यह घटनाएँ भी स्पार्टा के युद्ध के समय से संबंध रखती हैं। फ़्रीनीक(ख)स् धनिकतंत्र का एक सदस्य था जो ४०० की परिषद् में से एक था। यह अतिवादी नेता था। स्यात् थ्रासीवूलस् द्वारा इसकी हत्या कर दी गई।

८. लारिस्सा नगरी थेसालिया में पेनेयस् नदी के तट पर बसी हुई थी।

९. अवीदॉस हैलैस्पोण्ट के एशियावाले तटपर बसा हुआ है।

१०. हिप्पारिनस् एक सेनाध्यक्ष था। यह दियोनीसियस् का संबंधी भी था।

११. विलयोतिमस् के विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि उसने अपना धन उड़ा दिया था और वह या तो स्वयं तानाशाह बनना चाहता था अथवा किसी व्यक्ति को बनाना चाहता था।

१२. अएगिना की घटना संभवतया ई० पू० ३६७ की है। इसके अतिरिक्त इस विषय में और कुछ पता नहीं है। संभवतया यहाँ भी उद्देश्य तानाशाही की स्थापना ही था।

१३. फार्सालस् नगरी थेसाली में लारिस्सा से दक्षिण दिशा में है।

१४. ऐलिस् पैलोपोनेसस् के उत्तर-पश्चिम में है।

१५. तिमोफ़ानी(ने)स् वास्तव में तानाशाह नहीं बना पर वह तानाशाह के सदृश कार्य अवश्य करता था।

१६. लारिस्सा में सिमियास् संभवतया ई०पू० चौथी शताब्दी में अधिनायक बना।

१७. इफ़ियादी(दे)स् एक चतुर सैनिक भी था।

१८. संभवतया यह फ़ारस के युद्ध से पूर्व की घटना है।

१९. व्यभिचार के लिये अथेन्स एवं अन्य यूनानी नगर-राष्ट्रों में बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था। यदि कोई पुरुष परस्त्री के साथ व्यभिचार करते हुए पकड़ा जाता था तो उस स्त्री के पति को उस व्यक्ति को मार डालने का अधिकार था। यदि स्त्री अविवाहिता अथवा विधवा होती थी तो उसके पिता अथवा भाई अथवा पितामह को भी यही अधिकार था। गलवन्ध एक प्रकार का लकड़ी का जुआ होता था जो दण्डित व्यक्ति की ग्रीवा के पीछे रख दिया जाता था। इससे उसकी गर्दन भले प्रकार सीधी उठ नहीं पाती थी। इसी प्रकार का दण्ड चोरों को भी दिया जाता था।

७

श्रेष्ठजनतंत्र में क्रान्तियों के कारण

श्रेष्ठजनतंत्र में थोड़े से मनुष्यों के शासन-व्यवस्था में सम्मान के भागी होने के कारण विद्रोह हुआ करते हैं। यह एक ऐसा कारण है जो, (जैसा कि हम वर्णन

कर चुके हैं) अल्पजनतंत्र (=धनिकतंत्र) में भी हलचल पैदा किया करता है; क्योंकि श्रेष्ठतंत्र भी एक प्रकार के अल्पजनतंत्र (धनिकतंत्र) ही होते हैं। दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में शासन-कार्य करनेवाले थोड़े से व्यक्ति हुआ करते हैं-- यद्यपि उनके थोड़ा होने का कारण दोनों में भिन्न होता है। इसी कारण ऐसा होता है कि श्रेष्ठजनतंत्र अल्पजनतंत्र (=धनिकतंत्र) जैसा प्रतीत हुआ करता है। इस (उपर्युक्त) कारण पर आश्रित विद्रोह विशेष प्रकार से अनिवार्यतया तब घटित होते हैं जब कि जनसमूह में ऐसे मनुष्यों का बाहुल्य होता है, जो अत्यधिक ओजस्विता से परिपूर्ण होते हैं और जिनका यह विचार होता है कि वे (स्वयं भी) योग्यता में अपने शासकों के समान हैं। उदाहरण के लिये लाकैदायमॉन (स्पार्टा) में पार्थेनियाए कहलानेवाले लोगों के संबंध में ऐसा ही हुआ। ये लोग स्पार्टा के सामन्तों की (अवैध, जारज) सन्तान थे और इन्होंने अपने अधिकारों के स्थापनार्थ षड्यंत्र रचा, पर उसका पता लग जाने पर वे तारैन्तम[1] नामक स्थान पर उपनिवेश बसाने के लिये भेज दिये गये। और फिर जब अधिक सम्मानित और उच्च शासन-पदों पर स्थित व्यक्तियों के द्वारा ऐसे मनुष्यों का अपमान किया जाता है जो महान् होते हैं और योग्यता में (=गुणों में) किसी से कम नहीं होते, तब भी इसी प्रकार के विद्रोह उत्पन्न हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ लीसान्दर स्पार्टा के राजा के द्वारा इसी प्रकार अपमानित किया गया था। अथवा उस समय भी विद्रोह का जन्म होता है जब कि वीर पुरुषों को शासक-पद पर आरूढ़ होने का सम्मान प्राप्त नहीं होता; जैसा कि स्पार्टा के राजा अगीसिलाउस्[3] के समय में किर्नादौन के संबंध में हुआ और जो स्पार्टा के उच्च जनों के विरुद्ध विद्रोह का नेता बना। और फिर तब भी विद्रोह हुआ करता है जब (शासक-वर्ग के लोगों में से) कुछ बहुत निर्धन हो जाते हैं और कुछ अन्य लोग बहुत सम्पन्न बन जाते हैं; ऐसी अवस्था प्रायः युद्धकाल में हो जाया करती है। स्पार्टा में इस प्रकार की सामाजिक अवस्था मैसिनिया[4] के युद्ध के समय हो गई थी। यह तथ्य तिर्तेइयस्[5] नामक कवि की "सुनियमा" शीर्षक कविता से स्पष्टरूपेण लक्षित होता है। इस कविता में उसने यह वर्णन किया है कि जो लोग युद्ध में बर्बाद हो चुके थे उन्होंने भूमि के पुनर्विभाजन की माँग प्रस्तुत की थी। इसके अतिरिक्त, जब कोई व्यक्ति महान् पद पर आरूढ़ होता है, एवं उसमें और भी अधिक महान् होने की क्षमता होती है तो वह इसलिए विद्रोह खड़ा किया करता है कि जिससे वह एकच्छत्र शासक बन सके; जैसा कि मीडिक युद्ध में स्पार्टा के सेनापति पौसानियास्[6] और कार्खीदौन् (कार्थेज) में हन्नो[7] का उदाहरण दिया जा सकता है।

वास्तव में व्यवस्था नामक पद्धति और श्रेष्ठ जनतंत्र का पराभव प्रायेण मुख्यतया स्वयं व्यवस्था के न्याय के मार्ग से भ्रष्ट हो जाने से होता है। (दोनों ही पद्धतियों में) आदि या मूल कारण विभिन्न तत्त्वों की सुसंगति स्थापित न कर पाना है; "व्यवस्था" में यह तत्त्व जनतंत्र और धनिकतंत्र होते हैं, तथा श्रेष्ठजनतंत्रमें इन दोनों के साथ सद्वृत्त अथवा सद्गुण और मिल जाता है। पर फिर भी मुख्य तत्त्व तो दो ही हैं—अर्थात् जनतंत्र और धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र); क्योंकि इन्हीं दो तत्त्वों को तो व्यवस्था नामक पद्धति और अधिकांश में तथाकथित श्रेष्ठजनतंत्र परस्पर मिलाने का प्रयत्न किया करते हैं। व्यवस्था नामक पद्धतियों और श्रेष्ठजनतंत्रों में भेद केवल इन तत्त्वों के मिश्रण के प्रकार में ही होता है। और इसी भेद के कारण एक कम और दूसरी अधिक स्थायी होती हैं। वे शासन-पद्धतियाँ जो (इन तत्त्वों का इस प्रकार मिश्रण करती हैं) कि उनका झुकाव धनिकतंत्र की ओर अधिक होता है श्रेष्ठ जनतंत्र कहलाती हैं तथा जिनमें मिश्रण का झुकाव जनता की ओर अधिक होता है "व्यवस्था" कहलाती हैं। इसीलिए यह "व्यवस्थाएँ" उन (श्रेष्ठजनतंत्रों) की अपेक्षा अधिक स्थिर और सुदृढ़ होती हैं। क्योंकि जितनी ही अधिक जनता की संख्या (शासन-व्यवस्था की सहायता करनेवाली होती है) शासन-व्यवस्था उतनी ही शक्तिशाली होती है; और जनता उस समय शासन-व्यवस्था के साथ सहमत होने को अधिक तैयार रहती है जब कि उनको शासन-कार्य में समान भाग प्राप्त होता है। जहाँ तक सम्पत्तिशाली लोगों का संबंध है उनकी बात दूसरी है, जब शासन-व्यवस्था उनको उच्च सत्तापूर्ण स्थान प्रदान करती है तो उनकी प्रवृत्ति और अधिक उच्छृंखल और उद्दण्ड बनने की ओर तथा पूर्वपेक्षा अधिक लोलुप (परिग्रहशील) बनने की ओर हो जाती है। सामान्यरूपेण, यह कहा जा सकता है कि शासन-व्यवस्था जिस ओर झुकी होती है, उसकी प्रवृत्ति उसी दिशा में परिवर्तित होने की होती है; दोनों तत्त्वों में से जिसकी भी शक्ति बढ़ती जाती है उसकी ही दिशा में शासन-व्यवस्था भी झुकती जाती है, उदाहरणार्थ "व्यवस्था" नामक पद्धति बदलकर प्रजातंत्र का रूप धारण कर लेती है और श्रेष्ठ-जनतंत्र अल्पजनतंत्र के रूप में बदल जाती है।

पर यह भी संभव है कि परिवर्तन विरोधी दिशा में हो, उदाहरण के लिये यह संभव है कि श्रेष्ठजनतंत्र प्रजातंत्र के रूप में बदल जाय, क्योंकि जब निर्धन लोगों को ऐसा अनुभव हुआ करता है कि उनके प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है तो वे शासन-व्यवस्था की प्रवृत्ति को हठात् प्रतिकूल दिशा में मोड़ देते हैं। इसी प्रकार "व्यवस्था" नामक पद्धति का रूपान्तर धनिकतंत्र के रूप में हो सकता है। शासन-

व्यवस्था के स्थायित्व का सिद्धान्त केवल यह है कि सर्वत्र आनुपातिक (योग्यतानुसार) समानता वरती जाय; और प्रत्येक व्यक्ति को अपना योग्य भोग्यांश (अधिकार) मिले। उपर्युक्त प्रकार का (विरोधी दिशा में जानेवाला) परिवर्तन थ्यूराई नामक नगरी में घटित हुआ, जहाँ आरंभ में शासन-पदाधिकार की आर्थिक योग्यता बहुत ऊँची होने के कारण घटा दी गई और परिणामतः इसके साथ ही शासनाधिकारियों की संख्या में भी वृद्धि हो गई। गण्यमान लोगों के, नियम के प्रतिकूल, सारी भूमि को खरीद लेने के कारण (क्योंकि शासन-व्यवस्था की धनिकतंत्रात्मक प्रवृत्ति ने उनको ऐसी मनचाही करने दी और वे उसको आत्मसात् कर सके) गृहयुद्ध छिड़ गया। जनता तो युद्धों के कारण कठोर और सबल हो चुकी थी, नगर-रक्षकों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई और अन्ततोगत्वा जिन लोगों के पास नियमानुमोदित मात्रा से अधिक भूमि थी उनको उसे छोड़ना पड़ा। इसके अतिरिक्त, क्योंकि सभी श्रेष्ठ जनतंत्रों का झुकाव धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र) की ओर हुआ करता है, अतएव इसका परिणाम यह होता है कि गण्यमान लोगों में अधिक लोलुप और परिग्रही बनने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिये लाकैदायमॉन में सम्पत्ति के थोड़े से मनुष्यों के हाथों में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वहाँ उन लोगों को अपने इच्छानुसार कुछ भी करने की तथा किसी के भी साथ इच्छानुसार विवाह-संबंध जोड़ने की अत्यधिक शक्ति प्राप्त है। और इसीलिए (दक्षिण इटली का) लौक्री नामक नगर तो वहाँ के एक व्यक्ति की पुत्री के साथ सिराकूज़ के दियौनीसियस् का विवाह होने से विनाश को प्राप्त हो गया (और अन्ततोगत्वा उस नगर पर सिराकूज़ की तानाशाही स्थापित हो गई)। इस प्रकार की घटना न तो प्रजातंत्र-व्यवस्था में घटित हो सकती थी और न सुसंतुलित श्रेष्ठजनतंत्र में।

यह सामान्य उक्ति, कि क्रान्तियों के (प्रसंगोपात्त) कारण छोटी छोटी बातें भी हो सकती हैं, जिसका उल्लेख हम सभी शासन-व्यवस्थाओं के संबंध में पहले ही कर चुके हैं, श्रेष्ठजनतंत्र के विषय में विशेष प्रकार से लागू होती है। धीरे धीरे थोड़े थोड़े (क्षीण) खोखले होकर श्रेष्ठजनतंत्र विशेषतया अज्ञात भाव से परिवर्तित हो जाया करते हैं। जब नागरिक लोग एक बार व्यवस्था के किसी अंग को त्याग देते हैं, तो फिर इसके पश्चात् कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण अंग को त्यागना उनके (जनता अथवा शासन-सत्ता) के लिये अधिक सरल हो जाता है, अन्त में यहाँ तक होता है कि सारी व्यवस्था पूर्णतया परिवर्तित हो जाती है। थूराई नगर की व्यवस्था के विषय में यही बात वास्तव में घटित हुई। वहाँ नियम यह था कि सेनापतियों का (चुनाव एक बार हो जाने पर)

दूसरा चुनाव पाँच वर्ष पश्चात् होना चाहिये। कुछ नवयुवकों ने समरोचित वीरता के कारण सैनिक-समूह में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। कार्य-संचालकों की बिल्कुल अवहेलना करके इन लोगों ने (इस विश्वास के आधार पर कि उनका मन्तव्य सरलता से सिद्ध हो जायगा) प्रथम तो इस नियम को हटाने का प्रयत्न किया, क्योंकि उनकी इच्छा थी कि सेनापतियों को लगातार पदारूढ़ रहने दिया जाय, एवं यह जानते थे कि साधारण जनता बड़े हर्षपूर्वक हाथ उठाकर इन्हीं को मतदान देगी। इस पर, जिन लोगों के कर्तव्य में इस प्रस्ताव पर विचार करना था तथा जो पारिषद् कहलाते थे, उन्होंने आरंभ में तो (पूर्वकालीन नियम के) हटाने का विरोध करने का प्रयत्न किया, तथापि, पीछे वह इस विचार से इस नियम को हटाने के लिये सहमत हो गये कि यदि इस नियम में यह परिवर्तन कर लिया जायगा तो शेष व्यवस्था अछूती बनी रहेगी। (पर यह सब भ्रम था) अन्य परिवर्तनों के प्रस्ताव इसके पश्चात् शीघ्र ही प्रस्तुत किये गये जिनका विरोध करने का प्रयत्न करने में यह लोग कुछ सफलता नहीं पा सके, और सम्पूर्ण व्यवस्था की योजना ही बदल गई तथा शासन-सत्ता क्रान्तिकारीदल के हाथ में चली गई जिन्होंने एक कुलक्रमागततंत्र की स्थापना की।"

(सभी व्यवस्थाओं का पतन (विनाश) या तो आन्तरिक कारणों से होता है अथवा बाह्य कारणों से। बाह्य कारणों (=प्रभावों) से पतन तब होता है जब किसी राष्ट्र का विरोध किसी ऐसे विरोधी व्यवस्थावाले राष्ट्र के द्वारा किया जाता है जो या तो उसका निकटवर्ती पड़ोसी होता है या दूर होते हुए भी अत्यन्त बलशाली होता है। पुराने समय में अथेन्स और लाकैदायमॉन् के साम्राज्यों में ऐसा ही प्रसंग घटित हुआ। अथेन्सवालों ने सर्वत्र धनिकतंत्र का दमन किया एवं लार्कदायमॉन्वालों ने प्रजातंत्रों का।

अब मैं लगभग इस बात का वर्णन कर चुका कि शासन-व्यवस्थाओं में क्रान्ति और विद्रोह किन (मुख्य) कारणों से हुआ करते हैं।

टिप्पणियाँ

१. तारन्तम की स्थापना ई० पू० ७०८ में हुई थी।

२. लीसान्दर अथवा लीसान्द्रॉस् के विषय में पहले लिख आये हैं।

३. अगी(गे)सिलाउस् का समय ई० पू० ४४४-३६१ है। यह स्पार्टा का राजा था। इसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। शरीर से यह लँगड़ा था। अन्त में यह मिस्र के सम्राट् की ओर से फ़ारस के विरुद्ध लड़ते हुए मारा गया। किनादोन् इसी के समय का एक योग्य व्यक्ति था पर उसको शासन-कार्य में भाग नहीं दिया गया था।

४. मैसिनिया के युद्ध में अरिस्तौमेनेस् के आक्रमणों से स्पार्टा के खेतों को बहुत अधिक हानि पहुँची।

५. तिर्तेइयस् का समय लगभग ई० पू० ६५० है और उसकी पुस्तक का नाम इयुनोमिया = सुनियमा था।

६. पौसानियास् स्पार्टा का राजा था। संभवतया वह स्पार्टा की "एफ़ौर" मण्डली को हटाकर स्वयं एकच्छत्र शासक बनना चाहता था।

७. अन्नो अथवा हन्नो कार्खीदौन् (कार्थेज) का एक सेनापति था।

८. अरिस्तू शासन-व्यवस्था में सर्वदा समानुपातिक समानता का पृष्ठपोषक है।

९. थूराई दक्षिण इटली के लूकानिया प्रदेश में ४४३ ई० पू० में बसाया हुआ अथेन्स का उपनिवेश था।

१०. लौक्री के एक संभ्रान्त नागरिक की कन्या का विवाह दियोनीसियस् के साथ हुआ। इस विवाह के ४० वर्ष पश्चात् सिराकूज के शासक द्वितीय दियौनीसियस् ने ई० पू० ३५६ में सिराकूज़ को त्यागकर लौक्री को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ ६ वर्ष तक अत्यन्त अत्याचारपूर्ण शासन किया। लौक्री की जनता ने इसके पश्चात् उसकी अनुपस्थिति में भयंकर विप्लव खड़ा कर दिया और उसकी पत्नी और परिवार के लोगों से उसके कुकृत्यों का बदला लिया।

११. तुलना कीजिये संस्कृत की लोकोक्ति से—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते ।
तथा चलितवृत्तस्तु शेषवृत्तं न रक्षति ॥

८

पूर्वोक्त शासन-व्यवस्थाओं को स्थायी बनाने के उपाय

अब इसके पश्चात् यह विचार करना है कि सामान्यरूपेण सभी प्रकार की व्यवस्थाओं की एवं विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं की पृथक् पृथक् प्रकार से रक्षा करने के क्या उपाय हैं? प्रथम तो यह स्पष्ट ही है कि यदि हम उन कारणों को जान लें जो व्यवस्थाओं को नष्ट करनेवाले हैं तो यही व्यवस्थाओं की रक्षा करनेवाले कारणों को जान लेना भी है। विरोधी कारणों से विरोधी परिणाम उत्पन्न होते हैं; एवं विनाश संरक्षण का विरोधी है। सुगठित अंगोंवाली व्यवस्था में अन्य किसी बात के विषय में इतनी सावधानी नहीं बरती जानी चाहिये जितनी इस विषय में कि कभी नियम-

विरोध नहीं होना चाहिये; छोटी छोटी बातों के विषय में यह सावधानी और भी अधिक बरती जानी चाहिये। इस प्रकार से नियमहीनता अज्ञात भाव से राष्ट्र में प्रविष्ट होकर उसको (इसी प्रकार नष्ट कर देती है) जिस प्रकार थोड़े से ही (अप-) व्यय के बार बार होने से (विशाल) सम्पत्ति का विनाश हो जाता है। क्योंकि यह व्यय (अथवा नियम-विरोध) एक साथ बहुत सा नहीं होता अतएव यह अज्ञात रहता है. हमारा ध्यान इससे इसी प्रकार धोखा खा जाता है जिस प्रकार इस हेत्वाभास (कुतर्क) से कि "यदि प्रत्येक अंश छोटा होता है तो समग्र अंशी भी छोटा होगा।" एक प्रकार से यह सच है पर दूसरे प्रकार से सच नहीं है : क्योंकि समग्र अंशी अथवा सब (चाहे वे छोटे छोटे अवयवों से ही मिलकर क्यों न बने हों) छोटा नहीं होता।

प्रथम सावधानी जो बरती जानी चाहिये वह यही है कि नियमहीनता के छोटे छोटे कार्यों को आरंभ में ही रोक दिया जाय। दूसरी बात यह है कि उन चालाकियों का विश्वास कदापि नहीं किया जाना चाहिये जो जनसाधारण की आँखों में धूल झोंकने के लिये रची जाती हैं; क्योंकि व्यवहार में उनकी कलई खुल जाया करती है। यहां जिन राजनीतिक चालों की ओर मेरा संकेत है उनका वर्णन मैं पहले ही कर चुका हूं।

फिर हमको यह भी ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि कुछ शासन-व्यवस्थाएं (और वह भी केवल श्रेष्ठजनतंत्र ही नहीं, प्रत्युत अल्पजनतंत्र भी) किसी अपनी आन्तरिक दृढ़ता (स्थिरता) के कारण स्थायी नहीं बनी रहती, प्रत्युत उनकी स्थिरता का कारण शासक-वर्ग का वह सुव्यवहार होता है जो वह नागरिकता से बाहरवालों और नागरिकता के अधिकार भोगनेवाली जनता के प्रति किया करते हैं। ऐसे राष्ट्रों में नागरिकताके अधिकार से वंचित जनताके प्रति कभी अनुचित व्यवहार नहीं किया जाता; प्रत्युत उस जनता में से जो व्यक्ति अग्रणी होते हैं उनको राजनीतिक अधिकारों में प्रविष्ट कर लिया जाता है। जो लोग सम्मान को प्रेम करनेवाले (= महत्त्वाकांक्षी) होते हैं, ऐसे राष्ट्रों में उनके सम्मान को ठेस पहुँचानेवाला कोई अनुचित व्यवहार उनके प्रति नहीं किया जाता, तथा साधारण जनता के प्रति धन और लाभ के विषय में कोई अन्याय नहीं बरता जाता। (इसी प्रकार) इन व्यवस्थाओं (= राष्ट्रों) में शासक-वर्ग एवं नागरिकता के अधिकार भोगनेवाला जनसमूह परस्पर जनतन्त्रात्मक समानता की भावना से व्यवहार किया करता है। जनतंत्री लोग जिस समानता (के सिद्धान्त) को सब जनता के लिये लागू करने का प्रयत्न करते हैं, उसका (अपने) समान लोगों में प्रयोग करना न केवल उचित ही है, प्रत्युत उपयोगी भी है।

अतएव किसी भी ऐसे राष्ट्र में, जिसमें राजनीतिक अधिकारों से सम्पन्न लोगों की संख्या अधिक हो, वहुत सी जनतंत्रात्मक संस्थाओं (अथवा नियमों) का होना लाभदायक होता है। उदाहरण के लिये, ऐसे राष्ट्रों में शासन-पदाधिकार का काल छः मास के लिये नियमित करने देना उपयोगी होगा जिससे वे सब लोग जो एक समान हैं पदाधिकार का भोग कर सकें। समान लोगों का एक विशाल समूह स्वयमेव एक प्रकार का जनतंत्र ही तो है। इसीलिए तो, (जैसा हमने पहले ही कहा है) इसी वर्ग में से वहुधा लोकनायकों की उत्पत्ति हुआ करती है। इस (अल्पकालीन पदाधिकार की) नीति को अपनाने से अल्पजनतंत्र (=धनिकतंत्र) और श्रेष्ठजनतंत्र के वंशानुक्रम-व्यवस्था के रूप में पतित हो जाने की प्रवृत्ति (संभावना) कम हो जाती है। थोड़े से समय के लिये शासन-पद पर आरूढ़ व्यक्ति के लिये उतनी हानि करना सरल काम नहीं जितनी कि दीर्घकालीन शासक के लिये; दीर्घकालीन पदाधिकार के कारण ही अल्पजन-तंत्रों एवं प्रजातंत्रों में तानाशाहियों का जन्म होता है। जो व्यक्ति इन दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में तानाशाही स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं, वे या तो प्रमुख व्यक्ति हुआ करते हैं (जो जनतंत्र में लोकनेता और धनिकतंत्र में अभिजात कुलों के स्वामी होते हैं) अथवा ऐसे लोग हुआ करते हैं जो किसी उच्च शासन-पद पर सुदीर्घ काल से आरूढ़ रहे हैं।

राष्ट्रों (=व्यवस्थाओं) की रक्षा केवल इसी कारण नहीं होती कि उनको विनष्ट करनेवाला दूर होता है, (प्रत्युत कभी कभी तो) उसके समीप होने के कारण भी हुआ करती है। (विनाशक के समीप होने के कारण) भयभीत हुए लोग अपनी राष्ट्र-व्यवस्था को अधिक अच्छे प्रकार से अपनी मुट्ठी (हाथ) में रखते हैं। अतएव जो (शासक) लोग राष्ट्र (की रक्षा) के लिये चिन्तित हों उनको चाहिये कि वे भयों की सृष्टि करते रहा करें, जिससे कि लोग चौकन्ने रहें, तथा राष्ट्र की चौकीदारी में अपनी सावधानता इसी प्रकार कभी शिथिल न करें जिस प्रकार रात्रि के पहरेदार अपनी चौकसी को कभी शिथिल नहीं करते। और इस प्रकार उनको जो दूर है (उस भय को) समीप ला देना चाहिये। इसके अतिरिक्त नियम-निर्धारण एवं व्यक्तिगत कार्य द्वारा गण्यमान लोगों की कलहप्रियता और पारस्परिक झगड़ों से राष्ट्र की रक्षा का प्रयत्न किया जाना चाहिये; वे लोग जो झगड़ों में अभी तक नहीं फँसे हैं, उन पर भी उनके इन झगड़ों में लिप्त होने के पूर्व ही सजग दृष्टि रखी जानी चाहिये जिससे कि वे इनमें कभी लिप्त न हो सकें। बुराई के आरंभ को पहले से ही जान लेना ऐरे गैरे आदमी का काम नहीं है, प्रत्युत यह काम सच्चे राष्ट्रदक्ष व्यक्ति का ही है।

धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र) और "व्यवस्था"-तंत्र में आर्थिक योग्यता के आधार पर होनेवाले परिवर्तनों के संबंध में, (जब भी ऐसा परिवर्तन आर्थिक योग्यता की मर्यादा में बिना हेर-फेर हुए, सार्वजनिक व्यवहार में चालू धन की वृद्धि के कारण ही घटित हो) यह अच्छा होगा कि जिन नगरों में सामान्य सम्पत्ति की पड़ताल वार्षिक होती है उनमें सामान्य सम्पत्ति के वर्त्तमान अंकन को पिछले वर्ष के अंकन से तुलना करके देख लिया जाय[३]; और बड़े नगर-राष्ट्रों में जहाँ कि सामान्य आर्थिक पड़ताल तीसरे या पाँचवें वर्ष में हुआ करती है वहाँ इन्हीं अंतरालों के अंकन की तुलना की जानी चाहिये और यदि इस तुलना से यह पता चले कि उस पूर्वकालीन सामान्य आर्थिक अंकन की अपेक्षा (जब कि व्यवस्थान्तर्गत विहित आर्थिक योग्यता स्थिर की गई थी) इस समय का आर्थिक अंकन अनेकगुना अधिक अथवा अनेक गुना कम हो गया है तो आर्थिक योग्यता को भी तदनुरूप बढ़ा देने या घटा देने का नियम होना चाहिये। यदि आर्थिक अंकन बहुत ऊँचा उठ गया हो तो आर्थिक योग्यता को भी उतने ही गुना बढ़ा देना चाहिये और यदि आर्थिक अंकन घट गया हो तो आर्थिक योग्यता को भी घटाकर उसके अनुरूप बना देना चाहिये। धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र) में और "व्यवस्था"-तंत्र में जहां भी यह नीति नहीं बरती जायगी वहाँ परिवर्तन (=क्रान्ति) अवश्यमेव होकर रहेगा। कभी तो (अर्थात् जब अंकन घट जायगा पर आर्थिक योग्यता पूर्ववत् रहेगी) ऐसा होगा कि "व्यवस्थातंत्र" अल्पजनतंत्र में बदल जायगा और अल्पजनतंत्र कुलतंत्र (दिनास्ते-इया) में; और कभी (अर्थात् जब आर्थिक अंकन बढ़ जायगा और आर्थिक योग्यता ज्यों की त्यों बनी रहेगी) यह होगा कि "व्यवस्थातंत्र" बदलकर जनतंत्र हो जायगा और धनिकतंत्र हो जायगा "व्यवस्थातंत्र" अथवा जनतंत्र।

एक नियम जो कि सामान्यरूपेण जनतंत्र एवं धनिकतंत्र तथा (एकराट्तंत्र)—सभी तंत्रों में लागू होता है, यह है कि राष्ट्र को किसी भी एक व्यक्ति को कभी अनन्य-सामान्य रूप से बढ़ावा नहीं देना चाहिये। अधिक अच्छी बात यह है कि थोड़े समय में बहुत सा सम्मान देने की अपेक्षा थोड़े थोड़े सम्मान सुदीर्घ काल तक प्रदान किये जायं। मनुष्य बहुत जल्दी बिगड़ते हैं : और सब सम्पत्ति को सहन नहीं कर सकते। यदि इस नियम का अनुसरण न किया जाय, तो कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि एक साथ प्रदान किये हुए ढेर के ढेर सम्मान एकदम सब के सब न लौटा लिये जायं प्रत्युत शनैः शनैः थोड़े थोड़े करके लौटाये जायें। यह भी बड़ी अच्छी नीति है कि नियम-निर्माण द्वारा इस बात का प्रयत्न किया जाय कि कोई भी व्यक्ति, चाहे तो मित्रों के सहारे और चाहे धन के बल पर, अत्यधिक शक्तिशाली न बन जाय। यदि ऐसा न हो

सके तो जिस व्यक्ति ने ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लिया है उसको देश से निर्वासित करके उस स्थिति से हटा देना चाहिये। क्योंकि मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन की परि-स्थितियों के कारण भी क्रान्तिकारी हो जाया करते हैं, अतएव एक ऐसे पदाधिकार (मजिस्ट्रेसी) की सृष्टि की जानी चाहिये जो ऐसे लोगों के जीवन पर दृष्टि रखे जो राष्ट्र की शासन-व्यवस्था से विसंवादी प्रकार से जीवन यापन करते हैं--अर्थात् जो जनतंत्र में जनतांत्रिक ढंग से नहीं रहते, धनिकतंत्र में धनिकतंत्री ढंग से नहीं रहते ; इसी प्रकार प्रत्येक अन्य प्रकार के शासनतंत्र में भी जिनका जीवन स्थापित तंत्र से विसंवादी है। इसी प्रकार के कारणों से समाज के उस अंग पर भी चोकसी की दृष्टि रखी जानी चाहिये जो किसी समय विशेषरूप से फल फूल रहा हो। इस बुराई का इलाज यह है कि सर्वदा कार्यों का प्रबंध और शासनपदों का उपभोग उपर्युक्त अंग के विरोधी अंग के हाथ में सौंप दिया जाय (ऐसे विरोधी अंग या तो (थोड़े से) सद्गुणी और बहुत से सामान्य जन समझे जाने चाहिये या निर्धन और धनवान् लोग)--और इस प्रकार से निर्धन और धनवानों का संतुलन अथवा सम्मिश्रण कर दिया जाय, अथवा इन दोनों (विरोधी अंगों के मध्यवर्ती) मध्यम श्रेणी की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय। इस नीति से असमानता के कारण उत्पन्न होनेवाले विद्रोहों की समाप्ति हो जायगी।

पर सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि न केवल कानून के द्वारा प्रत्युत साधारण आर्थिक व्यवस्था द्वारा भी ऐसा प्रबंध किया जाना चाहिये कि जिससे शासनाधिकारी लोग (=मजिस्ट्रेट लोग) अपने पद का उपयोग अपने लिये धन कमाने के लिये न करें। धनिकतंत्र में इस विषय पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये। जन साधारण शासनपदों से पृथक् रखे जाने से अधिक अप्रसन्न नहीं होते--(सच तो यह है कि अपने व्यक्तिगत कार्यों को ध्यान देने का अवकाश पाने पर वे प्रसन्न ही होते हैं) पर जिस बात से वे रुष्ट होते हैं वह यह है कि शासनपदारूढ़ लोग सार्वजनिक धन की चोरी करते हैं। ऐसा होने पर उनको दुगनी पीड़ा होती है, क्योंकि न तो उनको शासकपद के सम्मान में भाग मिलता है और न सार्वजनिक सम्पत्ति में--(यह उनकी दोहरी हानि है।) यदि कोई ऐसा प्रबन्ध हो सके जिसके द्वारा पदाधि-कारियों (मजिस्ट्रेटों) को अपने पद से आर्थिक लाभ उठाने से रोका जा सके तो केवल इसी उपाय से जनतंत्र और श्रेष्ठजनतंत्र का सम्मिलन संभव हो सकता है; क्योंकि ऐसा होने पर गण्यमान लोग और जन साधारण दोनों ही की इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं। इस प्रकार से सब कोई पदाधिकार प्राप्त कर सकेंगे, जैसा प्रजातंत्र में होना उचित है ; और (वास्तव में) श्रेष्ठजन पदारूढ़ रहेंगे, जैसा कि श्रेष्ठ जनतंत्र में होना चाहिये।

यदि पदाधिकार का धनोपार्जन का साधन बनना असंभव कर दिया जाय तो यह उपर्युक्त परिणाम प्राप्त हो सकता है। जब पदों से कुछ भी आर्थिक लाभ नहीं होगा तो निर्धन लोग पदाधिकार की कामना नहीं करेंगे—इसकी अपेक्षा वे तो अपने धंधों पर ही अधिक ध्यान देना चाहेंगे। धनवान् लोग उन (पदों) को ग्रहण कर सकेंगे क्योंकि उनको अपने व्यक्तिगत खर्चे के लिये सार्वजनिक सम्पत्ति में से कुछ भी लेने की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार निर्धन लोगों को अपने कार्य में ध्यान लगाकर धनवान् बनने की सुविधा प्राप्त हो जायगी ; गण्यमान लोगों को यह संतोष होगा कि उनको किसी ऐरे-गैरे से शासित नहीं होना पड़ा। सार्वजनिक सम्पत्ति (=धन) का किसी व्यक्ति (पदाधिकारी) द्वारा हड़पा जाना रोकने के लिये उसका हस्तान्तरीकरण सब नागरिकों के सम्मेलन के समक्ष होना चाहिये ; तथा उसकी विवरण सूची की प्रतिलिपियाँ सब बिरादरियों, मण्डलियों और कबीलों के पास जमा कर दी जानी चाहिये। शासनपदाधिकार से कोई व्यक्तिगत आर्थिक लाभ उठाया जा सके इसके लिये कानून के द्वारा उन लोगों को सम्मान प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिये जिनको (निर्दोष होने की) सुख्याति प्राप्त हो।

जनतंत्र में धनवानों को छूट मिली होनी चाहिये। केवल इतना ही नहीं होना चाहिये कि उनकी सम्पत्ति विभाजित न की जाय, प्रत्युत उनकी जागीरों की आय भी सुरक्षित रहनी चाहिये। कुछ राष्ट्रों में इस आय को विभाजित करने की जो पद्धति अज्ञातभाव से उत्पन्न हो गई है उसको चालू नहीं होने देना चाहिये। यह भी अच्छी नीति है कि धनवान् लोगों को, गायनमण्डली, मशालदौड़ और ऐसे ही अन्य अपव्यय-साध्य सार्वजनिक सेवा के कार्यों से उनकी इच्छा रहते हुए भी रोका जाय। इसके विपरीत धनिकतंत्र में निर्धन लोगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये, तथा जिन शासनपदों से धन की प्राप्ति हो सकती है वे उनको दिये जाने चाहिये। और यदि कोई धनवान् व्यक्ति उनके प्रति हिंसक (हिंसापूर्ण) अपराध करे तो उसको जितना दण्ड अपने वर्ग के व्यक्ति के प्रति अपराध करने पर दिया जाता उससे भी अधिक दण्ड दिया जाना चाहिये। उत्तराधिकार दान के आधार पर नहीं प्रत्युत सन्ततिक्रम से मिलना चाहिये एवं किसी भी व्यक्ति को कभी भी एक से अधिक उत्तराधिकार नहीं मिलना चाहिये।[६] इस प्रकार से जागीरें अपेक्षाकृत अधिक समान (बराबर) हो जायँगी और निर्धन लोग अधिक संख्या में संपन्न हो सकेंगे। लोकतंत्र और अल्पजनतंत्र दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में यह अधिक उपयोगी नीति है कि जिन लोगों को शासन-तंत्र में कम अधिकार प्राप्त हो (जैसे कि लोकतंत्र में धनिक लोगों को और अल्पजनतंत्र

और क्या जिस प्रकार अनात्मसंयमी पुरुष अपने स्वार्थ को जानते हुए और उसमें श्रद्धा रखते हुए भी आत्मसंयम के अभाव में अपने ही स्वार्थ के साधन में कृतकार्य नहीं होते, क्या ठीक उसी प्रकार यह लोग (आत्मसंयम के अभाव में) सार्वजनिक हितों (स्वार्थों) के साधन में भी असफल (= अवरुद्ध) नहीं होंगे ?

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि जिन नियमों को हमने शासन-व्यवस्थाओं के लिए उपयोगी वर्णन किया है वे सव उनकी रक्षा करते हैं। और शासनतंत्र की रक्षा का सवसे महान् सिद्धान्त जो कि कई वार वर्णित हो चुका है, यह है––(नित्य) इस वात का ध्यान रखा जाय कि शासनतंत्र के पक्ष को चाहनेवाले की संख्या उसके न चाहनेवालों से अधिक (प्रवल) हो।

इन सव वातों के अतिरिक्त एक और वात है जिसको नहीं भुलाया जाना चाहिये पर जो आजकल विकृत शासन-व्यवस्थाओं में वास्तव में भुला दी जाती है। यह वात है मध्यस्थिति का महत्त्व। वहुत सी ऐसी वातें (कार्य, उपाय) हैं जो जनतंत्रात्मक समझी जाती हैं पर वास्तव में जनतंत्र की जड़ खोदनेवाली हैं, (अन्य) वहुत सी ऐसी हैं जो अल्पजनतंत्रात्मक मानी जाती हैं (पर वास्तव में) उसकी विघातक हैं। इन दोनों पक्षों को माननेवाले लोग यह विचार करते हुए कि सव अच्छे गुण उनके पक्ष में हैं (समुचित मर्यादा का उल्लंघन करके) व्यवहार में अति कर देते हैं। वे यह नहीं जानते कि समुचित अनुपात (= मर्यादा) राष्ट्र के लिए इसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार नासिका के लिए। यह न समझते हुए कि नासिका सरलता के सुन्दरतम आदर्श से थोड़ा वक्रपन अथवा थोड़ा चिपटेपन की ओर हटकर भी देखने में सुन्दर और सुलक्षण वनी रहती है। यदि इस (नाक) को उपर्युक्त विकारों की दिशा में और अधिक वढ़ाया जाय (अर्थात् यदि नासिका अत्यधिक टेढ़ी अथवा अत्यधिक चपटी हो जाय) तो पहले तो नासिका शेष आकृति की तुलना में अपना आंगिक (आंशिक) अनुपात गवाँ वैठेगी। और इसी प्रकार अन्त में किसी दिशा में अतिशय अथवा किसी अन्य दिशा में त्रुटि (दोष अथवा अभाव) के कारण नासिका को देखने से नासिका रह ही नहीं जायगी। यही वात (मानव-शरीर के) अन्य अंगों के विषय में भी सत्य है। यही समानुपात (उचित मर्यादा) का सिद्धान्त शासन-व्यवस्थाओं के विषय में भी लागू होता है। अल्पजनतंत्र और प्रजातंत्र दोनों ही यद्यपि श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था से कुछ हटती हुई व्यवस्थाएँ हैं तो भी पर्याप्तरूपेण भली और सहन करने योग्य व्यवस्थाएँ हो सकती हैं। पर यदि इन दोनों में से किसी को भी उस दिशा में दूर तक

खींचा जाय जिसमें कि इनकी प्रवृत्ति है तो पहले तो यह दुर्व्यवस्था (बुरी व्यवस्था) बन जायगी और अन्ततोगत्वा कोई भी (कुछ भी) व्यवस्था शेष नहीं रह जायगी।[1]

अतएव नियम बनानेवालों और राजनीतिज्ञों को इस विषय में अनभिज्ञ नहीं रहना चाहिये कि ऐसे कौन से जनतंत्रात्मक कार्य हैं जिनसे जनतंत्र का त्राण होता है तथा ऐसे कौन से कार्य हैं जिनसे जनतंत्र का विनाश होगा, इसी प्रकार यह भी जानना उनका कर्त्तव्य है कि कौन से धनिकतंत्रात्मक कार्यों से धनिकतंत्र की रक्षा अथवा विनाश होगा। इन दोनों में से किसी का अस्तित्व बना रहना बिना (अल्पसंख्यक) संपन्नजनों और बहुसंख्यक साधारण जनों दोनों के ही समावेश के संभव ही नहीं है। अतएव यदि (इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में) संपत्ति की समानता का सिद्धान्त लागू किया जाय तो व्यवस्था अनिवार्यतया पूर्वापेक्षा दूसरा ही रूप धारण कर लेगी। क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाले कानूनों द्वारा अल्पसंख्यक धनिक तत्व और बहुसंख्यक सामान्य जन तत्व दोनों ही तत्त्वों की समाप्ति हो जाने पर इन तत्त्वों के भेद पर आश्रित व्यवस्थाओं की समाप्ति कर दी जायगी।

(उपर्युक्त ज्ञान[2] के अभाव में) जनतंत्रों और धनिकतंत्रों दोनों में ही राजनीतिज्ञों द्वारा गलतियाँ तो की ही जाती हैं। उदाहरण के लिए लोकनायकों द्वारा इस प्रकार की गलतियाँ उन प्रजातंत्रों में की जाती हैं जिनमें जनसमूह नियमों (कानूनों) से अधिक सत्ताशाली होता है। वे (लोकनायक) सर्वदा नगर-राष्ट्र को दो भागों में विभाजित किये रहते हैं और धनवानों के विरुद्ध युद्ध छेड़े रहते हैं। (पर जनतंत्र की रक्षा के लिए इनको) इसके विपरीत आचरण करना चाहिये, उनको तो सर्वदा अपने को सम्पन्न लोगों के पक्ष का समर्थन करते हुए प्रदर्शित करना चाहिये। इसी प्रकार अल्पजनतंत्रों में उसके समर्थकों को अपने को जनसाधारण के हितों का समर्थक दिखलाना चाहिये; तथा उनको ऐसी शपथें करनी चाहिये जो उनकी आजकल की शपथों से उल्टी हों। कुछ नगरों में आजकल उनकी शपथ इस प्रकार की है, "मैं साधारण जनसमूह का द्वेषी बना रहूँगा, तथा उसके प्रतिकूल जितनी भी बुराई मैं कर सकता हूँ उनकी योजना करता रहूँगा।"[3] (पर अपनी शासनव्यवस्था की रक्षा के लिए) उनको इनके विपरीत सम्मति (= शपथ) को धारण और प्रदर्शित करना चाहिये; तथा उनकी शपथ में यह स्पष्ट घोषणा होनी चाहिये कि "मैं जनता के प्रति कोई अन्याय नहीं करूँगा।"

शासन-व्यवस्थाओं की स्थिरता की साधना के लिए जितने उपाय हमने बतलाये हैं उनमें सब अधिक महत्त्वपूर्ण—किन्तु आजकल जिसकी सर्वत्र अवज्ञा की जा रही है—

है लोक-शिक्षा को शासन-व्यवस्था के अनुरूप वनाना। जव तक किसी राष्ट्र की जनता आदत के जोर और शिक्षा के प्रभाव से शासन-व्यवस्था की आत्मा में रम नहीं जाती—अर्थात् यदि नियम जनतंत्रात्मक हों तो जनतंत्रात्मक और अल्पजनतंत्रात्मक (धनिक-तंत्रात्मक) हों तो धनिकतंत्रात्मक नहीं वन जाती, तवतक श्रेष्ठ कानूनों से भी कोई लाभ नहीं हो सकता, चाहे उन नियमों को समग्र नागरिक जनता का अनुमोदन भी प्राप्त क्यों न हो। जिस प्रकार एक व्यक्ति में आत्मसंयम का अभाव हो सकता है उसी प्रकार राष्ट्र (शासनतंत्र) में भी होना संभव है। (अतएव जिस प्रकार व्यक्ति को शिक्षा की आवश्यकता होती है इसी प्रकार राष्ट्र को भी हो सकती है)। पर शासन-व्यवस्था की आत्मा के अनुरूप शिक्षित होने का भाव यह नहीं है कि वे लोग (जनता) उन कार्यों को करें जिनको प्रजातंत्र के पक्षपाती अथवा धनिकतंत्र के अनुगामी (माननेवाले) सहर्ष किया करते हैं; प्रत्युत इसका तात्पर्य यह है कि जनता उन कार्यों को करे जिनसे जनतंत्र अथवा धनिकतंत्र में अपने को स्थायी वनाने की सामर्थ्य प्राप्त हो। आजकल धनिकतंत्री व्यवस्थाओं में शासकों (मजिस्ट्रेटों) के पुत्र विलासितामय जीवन-यापन करते हैं, जव कि निर्धन लोगों के लड़के व्यायाम और दैनिक परिश्रम के द्वारा कठोर और सशक्त वनते जा रहे हैं, और इस प्रकार नवीन क्रान्ति के लिए अधिक इच्छुक और सामर्थ्यवान् होते जा रहे हैं। दूसरी ओर परले सिरों के प्रजातंत्रों में—जो कि विशेष प्रकार से प्रजातंत्रात्मक समझे जाते हैं—जो नीति वरती जा रही है वह उस नीति से विलकुल उलटी है जो उनके लिए लाभदायक है। इस (स्खलन) का कारण स्वतंत्रता की असत् भावना है। दो तत्त्व ऐसे हैं जो सामान्यतया प्रजातंत्र के लक्षणरूप समझे जाते हैं, एक है (वहुमत में) सत्ता का निहित होना तथा दूसरा है व्यक्ति की स्वतंत्रता।[६] (जनतंत्र के पक्षपाती) यह मानकर चलते हैं कि न्याय का अर्थ वरावरी है और वरावरी वहुमत की सर्वोपरिता है। और अन्ततोगत्वा उसकी धारणा हो जाती है कि स्वतंत्रता और समानता का अर्थ है मनमानी करना। परिणामतः ऐसे प्रजातंत्रों में प्रत्येक मनुष्य जैसा चाहता है (और जैसी उसकी आवश्यकता होती है) वैसा जीवन व्यतीत करता है। (अर्थात्) जैसा यूरीपिदेस ने कहा है "किसी यथेच्छ लक्ष्यानुसार" जीवन यापन करता है। पर स्वतंत्रता की ऐसी भावना (अथवा धारणा) असत् (वुरी) भावना है। शासन-व्यवस्था के अनुसार जीवन-यापन करना दासता नहीं प्रत्युत त्राण (= मोक्ष) समझा जाना चाहिये।[७]

सामान्यरूपेण, शासन-व्यवस्थाओं की क्रान्तियों और विनाशों के कारण तथा उनकी रक्षा और स्थायित्व के उपाय यही हैं जो मैंने वर्णन कर दिये।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खण्ड का ही विषय इस खण्ड में भी चालू रखा गया है। शासन-व्यवस्था के विघटन के कारणों से जो अन्य सामान्य निष्कर्ष उनकी रक्षा के लिये निकलते हैं उनका दिग्दर्शन इस खण्ड में कराया गया है।

२. जैसी राज्य-व्यवस्था वैसा न्याय। "राजा कालस्य कारणम्।"

३. अति सर्वत्र वर्जयेत्।

४. उन उपायों के भेद का ज्ञान जो वास्तव में व्यवस्था की रक्षा कर सकते हैं तथा जो रक्षा करनेवाले प्रतीत होते हैं पर यथार्थ में विघटन करते हैं।

५. इस प्रकार की शपथ उन धनिकतंत्रों में ली जाती होगी जो जनता से लड़ाई के उपरान्त स्थापित होते थे।

६. परन्तु यह दोनों धारणाएँ एक दूसरे की विरोधी भी हो सकती हैं। बहुमत की सर्वोपरि सत्ता व्यक्ति की स्वतंत्रता को नियंत्रित अथवा समाप्त कर सकती है। आधुनिक नवीनजनतंत्र से यही तो कुछ लोगों को शिकायत है।

७. कहा नहीं जा सकता कि अरिस्तू की स्वतंत्रता का लक्षण क्या है? संभवतया उसके मत में स्वतंत्रता का अर्थ सुविहित नियमों का अनुसरण करना है।

१०

एक राट्तंत्र—१ राजतंत्र और २ तानाशाही

अब मुझे एकराट्तंत्र के विषय में यह विवेचन करना शेष रह गया है कि कौन से कारणों से इसका विनाश तथा कौन से उपायों से इसका रक्षण हुआ करता है। जो कुछ पूर्वोक्त शासन-व्यवस्थाओं के विषय में कहा जा चुका है, लगभग वही बातें राजतंत्र और तानाशाही के विषय में भी समानरूपेण लागू होती हैं। (एक-) राजतंत्र स्वरूप में श्रेष्ठ जनतंत्र के ही समान है। तानाशाही (अधिनायकतंत्र) धनिकतंत्र और जनतंत्र के आत्यंतिक (पराकाष्ठा को पहुँचे हुए) रूपों का सम्मिश्रण है, अतएव यह शासितों के लिये (अन्य किसी भी शासनतंत्र की अपेक्षा) अधिक हानिकारक है: क्योंकि यह दो बुरे शासनतंत्रों से मिलकर निष्पन्न होती है और इनमें दोनों की विकृतियाँ और त्रुटियाँ पाई जाती हैं। एक जनतंत्र के यह दोनों प्रकार बिल्कुल आरम्भ से ही एक दूसरे के बिल्कुल उलटे हैं। राजतंत्र की उत्पत्ति अपेक्षाकृत भले लोगों की साधारण जनता से रक्षा (=सहायता) के लिये होती है और वे लोग राजा को अपने मध्य में से या

तो स्वयं उसके अथवा उसके कुल के सद्‌गुण और सदाचार के प्रामुख्य के आधार पर चुना करते हैं, इसके विपरीत अधिनायक (तानाशाह) जनसाधारण अथवा लोकसमूह में से उनकी गण्यमान लोगों से रक्षा के लिये चुना जाता है जिससे वे (जनसाधारण) उन (गण्यमान लोगों) के अन्याय से बचे रहें। यह तथ्य इतिहास की घटनाओं से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। लगभग सभी तानाशाह लोकनायकों में से ही निकले हैं और जैसा कि कहा जा सकता है उन्होंने जनता के गण्यमान लोगों की निन्दा करके ही सर्वसाधारण की विश्वासपात्रता को प्राप्त किया है। कम से कम जिन दिनों में नगरों की जनसंख्या बहुत बढ़ गई थी उन दिनों तो तानाशाही की उत्पत्ति का ढंग यही था। पर कुछ और भी तानाशाहियाँ थीं जो अधिक पुरानी थीं और जिनकी उत्पत्ति राजाओं के पैतृक मर्यादा का उल्लंघन करके अधिनायक की शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से हुई थी। कुछ तानाशाहियाँ ऐसे लोगों के द्वारा स्थापित की गई थीं जो आरंभ में प्रमुख शासनाधिकार पदों के लिये चुने गये थे---(ऐसा अधिक सरलता से इसलिए हो सका) क्योंकि उस पुरातन काल में जनता शासनाधिकारियों को (चाहे तो वे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हों[२], चाहे अध्यक्षों[३] का कार्य करनेवाले) बहुत लंबा कार्यकाल दिया करती थी। कुछ अन्य अधिनायकतंत्र अल्पजनतंत्रों में प्रचलित उस प्रथा से उत्पन्न हुए जिसके अनुसार प्रमुख शासनाधिकारियों के ऊपर भी किसी व्यक्ति को अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था। इन सब प्रकारों से किसी भी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को, यदि उसकी इच्छा भर होती तो, अपना उद्देश्य सिद्ध करनेवाले (अधिनायक पद प्राप्त करने) को मिल जाता था। क्योंकि कहीं राजा के रूप में और कहीं किसी अन्य उच्च पदाधिकारी के रूप में शक्ति तो उसके हाथ में होती ही थी। उदाहरण के लिये, आर्गस में फेइदोन[४] एवं अन्य व्यक्ति, आरंभ में राजा थे पर अन्त में अधिनायक हो गये। दूसरी ओर इयोनिया[५] के अधिनायकों और अग्रिगैन्तुम के फालारिस्[६] ने अन्य पदों से आगे बढ़कर अधिनायकत्व प्राप्त किया। लियोन्तिनी नगर में पनाएतियस्[७], कौरिन्थ में क्युप्सेलस्[८], अथेन्स में पिसिस्त्रातस[९], सिराकूज़ में दियोनीसियस् तथा इनके अतिरिक्त और भी कई एक तानाशाह आरंभ में लोकनायक ही थे।

राजतंत्र तो, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, (श्रेष्ठजनतंत्र के अन्तर्गत गिना जाता है, क्योंकि श्रेष्ठ जनतंत्र के समान ही) यह योग्यता पर निर्भर करता है। इस योग्यता का आधार या तो व्यक्तिगत गुण होते हैं अथवा कुल के गुण, अथवा (जनता के प्रति किए हुए) भलाई के काम होते हैं ; अथवा इन सब गुणों का सामर्थ्य (क्षमता, शक्ति) के साथ योग होता है। जिन लोगों ने इस (राजपद के) सम्मान को प्राप्त किया है

वे सब या तो ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने नगरराष्ट्र अथवा देश को लाभ पहुंचाया था या उनको लाभ पहुँचाने की योग्यता रखते थे। कुछ ने कोद्रस्'' के समान अपने देश को युद्ध में (पराजित होकर) दास बनने से बचाया था और कुछ कीरुस्' के समान अपने देश को मुक्त करनेवाले थे। अथवा कुछ ऐसे थे जिन्होंने लाकेदायमोन्'' मकेदोनिया'' अथवा मॉलोसिया'' के राजाओं के समान अपने राज्य की भूमि (की सीमाओं) को निर्धारित किया था अथवा उसको प्राप्त किया था। राजा का लक्ष्य समाज का रक्षक होना होता है; वह सम्पत्ति के स्वामियों को अन्यायपूर्ण व्यवहार से रक्षा करता है और जन साधारण को (बड़े लोगों की) धृष्टता और यंत्रणा से बचाता है। इसके विपरीत अधिनायक (अथवा तानाशाह) सर्वसाधारण की भलाई की (यदि उससे अपनी व्यक्तिगत भलाई न हो तो) तनिक भी चिन्ता नहीं करता। अधिनायक का लक्ष्य होता है अपना प्रिय करना और राजा का लक्ष्य होता है शोभन (कार्य) करना। अतएव वे अपनी इच्छाओं में भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं: अधिनायक धन का लोलुप अधिक होता है और राजा सम्मान (ख्याति) अधिक चाहता है। राजा का रक्षकदल नागरिक जनों का होता है तथा अधिनायक का रक्षकदल विदेशी वेतनार्थी सिपाहियों का होता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि तानाशाही में जनतंत्र और धनिकतंत्र दोनों की ही बुराइयां हुआ करती हैं। धनिकतंत्र से यह अधिनायकतंत्र अपने धन एकत्रित करने के लक्ष्य को प्राप्त करता है; क्योंकि वह अपने रक्षकदल और विलासपूर्ण ऐश्वर्य को अवश्यमेव एकमात्र धन के द्वारा ही बनाये रख सकता है। साधारण जनसमूह का विश्वास न करने की आदत भी अधिनायकतंत्र धनिकतंत्र से ही ग्रहण करता है। परिणामतः उनको शस्त्रास्त्र से वंचित करने की नीति भी वहीं से लेता है। जन साधारण को पीड़ा पहुँचाने, उनको नगर से निकाल कर देहात में खदेड़ देने में धनिकतंत्र और अधिनायकतंत्र दोनों एक समान हैं। गण्यमान्य लोगों के विरुद्ध युद्ध छेड़ देना, उनको प्रच्छन्न अथवा प्रत्यक्ष प्रकार से नष्ट कर देना, तथा क्योंकि वे उनकी शक्ति के प्रतिद्वन्द्वी और उनके मार्ग में बाधा डालते हैं अतएव उनको निर्वासित कर देना, यह सब बातें अधिनायकवाद जनतंत्र से ग्रहण करता है। अधिनायकतन्त्र इसलिए भी गण्यमान्य लोगों के प्रति ऐसा व्यवहार करता है क्योंकि यही लोग उनके विरुद्ध सक्रिय रूप से षड्‌-यंत्र के कारण हुआ करते हैं, और ऐसा इसलिए होता है कि उनमें से कुछ तो स्वयं शासन करना चाहते हैं और कुछ दासता से बचना चाहते हैं (दासता नहीं करना चाहते)। इसी कारण तो पेरियाण्डर् ने अपने साथी अधिनायक थ्रासीबुलस को बहुत अधिक

बढ़ी हुई अन्न की बालियों को काट कर सलाह दी थी ; जिसका संकेत यह था कि उस (थ्रासीबूलस) को सर्वदा उन नागरिकों को नष्ट कर देना चाहिये जो अन्य समान नागरिकों से बढ़े चढ़े हों।[१७] अतएव, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ एकराट्तंत्र में भी क्रान्ति (अथवा परिवर्त्तन) के आरंभिक कारण वही समझे जाने चाहिये जो व्यवस्थातंत्र में हुआ करते हैं। प्रायः शासित लोग अपने राजा के विरुद्ध, अन्यायपूर्ण पीड़ा पहुँचाने के कारण, भय के कारण और तिरस्कार के कारण विद्रोह किया करते ह। बहुधा जिस अन्यायपूर्ण यातना के कारण विद्रोह हुआ करता है वह अनाचारपूर्ण तिरस्कार है ; पर कभी कभी धन संपत्ति के अपहरण के कारण भी ऐसा हुआ करता है।

एकराट्तंत्र (चाहे वह अधिनायकतंत्र हो चाहे राजतंत्र) के विरुद्ध षड्यंत्र (विद्रोह) जिन लक्ष्यों का अनुसरण करते हैं वे वही होते हैं जिनका अनुसरण अन्य शासनतंत्रों के विरुद्ध होनेवाले षड्यंत्रों के द्वारा किया जाता है। एकतंत्री शासकों के पास बहुत अधिक धन और सम्मान हुआ करता है ; एवं धन और सम्मान की एषणा सभी की होती है। (क्रान्तिकारियों के) आक्रमण कभी तो शासक के शरीर पर हुआ करते हैं और कभी उसके शासनपद पर। अपमान-जनित आक्रमण शरीर पर ही हुआ करते हैं। अपमान के बहुत से प्रकार होते हैं ; पर उनमें से प्रत्येक क्रोध (उत्पन्न करने) का कारण हो जाता है। तथा जो लोग क्रोध के वशीभूत होकर (राजा पर) आक्रमण करते हैं वे प्रायः बदला लेने की भावना से ऐसा करते हैं न कि किसी महत्वाकांक्षा के कारण। उदाहरणार्थ अथेन्स में पैइसिस्त्रातस् के पुत्रों पर जो आक्रमण हार्मोदियस और (अरिस्तोगितन) के द्वारा किया गया था उसका कारण हार्मोदियस की बहन का अपमान और उस (हार्मोदियस) का धृष्टतापूर्ण तिरस्कार था। हार्मोदियस ने अपनी बहन की प्रतिष्ठा के कारण आक्रमण किया और अरिस्तोगितन ने अपने मित्र के कारण उसका साथ दिया।[१८] अम्ब्राकिया के अधिनायक पैरियाण्ड्रस के विरुद्ध भी एक षड्यंत्र इसलिए रचा गया था क्योंकि एक समय अपने लड़के (मित्र) के साथ मदिरापान करते समय उसने उससे यह प्रश्न पूछा था कि "अभी तक क्या तुम्हें मेरे सहवास से गर्भ नहीं रहा ?"[१९] पौसानियास द्वारा जो आक्रमण फिलिप पर किया गया था वह इस कारण था कि फिलिप ने अत्तालस और उसकी मण्डली को पौसानियास पर अत्याचार करने दिया था। छोटे अमिन्तास पर दैर्दास का आक्रमण इसलिए हुआ था कि उसने यह दर्पोक्ति की थी कि मैंने तेरे यौवन की बहार को भोगा था। कीप्रस के ऐवागौरस पर षण्ड (हिजड़े) का आक्रमण भी इसी प्रकार की भावना से हुआ था--ऐवागौरस के पुत्र ने उसकी पत्नी का अपहरण कर लिया था, इस कारण उस (हिजड़े)

ने क्रुद्ध होकर उसके पिता की हत्या कर डाली। एकतंत्री राजाओं के अपने प्रजाजनों के शरीर के प्रति लज्जाजनक व्यवहार करने के कारण भी बहुत से आक्रमण (षड्यन्त्र) हुए हैं। उदाहरण के लिये माकैदौनिया के आर्ख़ीलाउस पर क्रातेयस के आक्रमण को ले सकते हैं। क्रातेयस् को राजा के साथ अपने इस (यौन) संबंध से सर्वथा बुरी घृणा थी। अतएव छोटा-सा कारण भी बदला लेने का पर्याप्त बहाना हो सकता था। पर स्यात् उसके आक्रमण का वास्तविक कारण यह था कि आर्ख़ीलाउस ने अपनी दो कन्याओं में से एक को उसके साथ व्याह देने की प्रतिज्ञा करके भी किसी (एक) कन्या का विवाह उसके साथ नहीं किया। इसके विपरीत जब उसने अपने को सिर्रास और आर्राबेयस् के युद्ध में बुरी तरह दबता हुआ देखा तो अपनी बड़ी कन्या का विवाह एलीमेइया के राजा के साथ कर दिया। तथा छोटी कन्या का विवाह उसने (अपनी पूर्वपत्नी से उत्पन्न हुए) पुत्र अमीन्तास के साथ इस विचार से कर दिया कि ऐसा करने से इस पुत्र और (उसकी दूसरी पत्नी) क्लियोपात्रा के पुत्र के बीच झगड़ा होने की संभावना बहुत कम रह जायगी। अस्तु, जो भी हो, उन दोनों के मनोमालिन्य के आरंभ का वास्तविक कारण तो आर्ख़ीलाउस के साथ उसकी इस अप्राकृतिक यौन संबंध के कारण उत्पन्न घृणा और कुढ़न ही थी। इसी प्रकार के कारण से प्रेरित होकर लारिसा निवासी हैलानीक्रातीस ने इस षड्यंत्र में क्रातेयस् का साथ दिया। जब आर्ख़ीलाउस ने उसके यौवन का भोग करके भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसको उसके जन्मस्थान से वापिस नहीं भेजा तो उसने सोचा कि राजा के उसके साथ अप्राकृतिक (यौन) संबंध किसी सच्चे प्रेम के आवेग के कारण नहीं हुआ था प्रत्युत धृष्ट उच्छृंखल शक्ति के दर्प के कारण था। अएनस् निवासी पारोन् और हैराक्लैदीस् ने अपने पिता (के प्रति किये गये अत्याचार) का बदला लेने के लिये कौतीस् की हत्या की थी। अदामास् ने कौतीस् के विरुद्ध विद्रोह उस उद्दण्डतापूर्ण अत्याचार का बदला लेने के लिये किया था जो उसकी आज्ञानुसार अदामास् के बाल्यकाल में उसको अंगभंग द्वारा नपुंसक बनाकर किया गया था।[३०]

बहुत से लोगों के शरीरों पर प्रहारों द्वारा यातना पहुँचाये जाने के कारण उन्होंने अपने को अपमानित समझा और उन्होंने क्रुद्ध होकर उन पदाधिकारियों अथवा राजकुल के पुरुषों को जिनके द्वारा वे पीड़ित किये गये थे, या तो मार डाला या तो उनको मारने का उद्योग किया। उदाहरण के लिये मितीलीन नगरी में मैगाक्लीस् और उसके मित्रों ने मिलकर पैन्थैलिड् कुटुम्ब के लोगों पर (जो कि स्वयं सोटे लिये घूमा करते थे और दूसरे नगरनिवासियों को मारा करते थे) आक्रमण किया और उनको मार डाला।

और कुछ समय पश्चात् स्यार्दिस् ने, जो कि कोड़ों से पीटा गया था और अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया गया था, पैन्थीलस् को मार डाला। आर्खीलाउस् के विरुद्ध षड्यंत्र (विद्रोह) में दैकाम्नीखस् आक्रमण का नेता बना और उसने ही (क्रातेयस् और हैलानौक्रातीस इत्यादि षड्यंत्रकारियों की) कोपाग्नि को भड़काया और उनको उत्तेजित करनेवालों में वही प्रथम था। वह आर्खीलाउस् के प्रति इसलिए क्रुद्ध था कि उसने दैकाम्नीखस को यूरीपिदीस (कवि के) हाथों में कोड़े लगाने के लिये सौंप दिया था ; कवि यूरीपिदीस दैकाम्नीखस से इसलिए रुष्ट था क्योंकि उसने कवि के दुर्गन्धयुक्त श्वासोच्छ्वास के विषय में कुछ अशोभन बात कह दी थी। इसी प्रकार और भी अनेकों हत्याओं और षड्यंत्रों के उदाहरण को उपस्थित किये जा सकते हैं जो उपर्युक्त प्रकार के कारणों से ही घटित हुए थे।[21]

इसी प्रकार भय भी, जैसा कि हम कह चुके हैं, एकजनतंत्र और अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं में भी समान प्रकार से, विद्रोह का कारण होता है। उदाहरणार्थ पारसीक सेनापति आर्त्तपानीस् (सं० आर्त्तपाणि) ने अपने स्वामी क्षरक्षीस् की हत्या इस भय के कारण की थी कि उस (आर्त्तपाणि) पर क्षरक्षीस् की आज्ञा के बिना दारियुस (दारा) को फाँसी देने का झूठा आरोप लगाया जायगा। पर ऐसा उसने किया इस विचार से था कि मदिरा-पान और भोजन के समय कहीं बात को भूल जाने के कारण क्षरक्षीस उसके अपराध को क्षमा कर देगा।[22]

षड्यंत्रों और विद्रोहों को तिरस्कार की भावना से भी प्रेरणा मिलती है। उदाहरणार्थ असीरिया के सार्दानापलस को एक ऐसे आदमी ने (तिरस्कार की भावना के वशीभूत होकर) मार डाला था जिसने उसको स्त्रियों के बीच में ऊन को काढ़ते हुए देखा था।[23] उसके विषय में यह कपोलकथा कही अवश्य जाती है फिर चाहे यह सत्य हो अथवा न हो; पर यदि यह कथा उसके विषय में सत्य न भी हो तो अन्य किसी (राजा) के विषय में सत्य हो सकती है। छोटे दियौनीसियस पर दियौन् ने तिरस्कार की भावना से ही आक्रमण किया था; उसने देखा कि उस (दियौनीसियस्) के प्रजाजन भी उसको तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और वह सर्वदा मदिरा पीकर मत्त पड़ा रहता था।[24] कभी कभी तो एकतंत्री शासक के मित्र तक उसके प्रति तिरस्कार की दृष्टि रखते हुए उसपर आक्रमण किया करते हैं; राजा जो अपने मित्रों को अपना (अंतरंग) विश्वास-भाजन बना लेता है इस कारण से उनके मन में उसके प्रति तिरस्कार-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है ; और वे यह समझने लगते हैं कि वह (राजा) कुछ नहीं

देख पायेगा। (अथवा वे यह समझने लगते हैं कि उनके द्वारा की हुई हत्या अथवा आक्रमण का पता नहीं चलेगा।) (विद्रोहियों का) यह समझ लेना भी कि वे राजशक्ति को हस्तगत कर सकते हैं, एक प्रकार की तिरस्कार की ही भावना है; क्योंकि वे अपने को शक्तिशाली समझते हैं अतएव प्रहार करने के लिये सन्नद्ध रहते हैं एवं अपनी शक्ति के ही आसरे वे सब प्रकार के खतरों (आशंकाओं) को तुच्छ समझते हैं। यही तो कारण है कि (प्रायः) सेनापति लोग राजाओं पर आक्रमण किया करते हैं। जैसे कि सेनापति कीरस् ने राजा अस्त्यागीस[२५] पर आक्रमण किया था, क्योंकि उसको उसके विलासिता में डूबे हुए जीवन और क्षीणता को प्राप्त हुई शक्ति के कारण उससे घृणा हो गई थी। और थ्राकनिवासी स्यूथीस ने भी, जब कि अमादोकस् का सेनापति था, इसी कारण से अमादोकस् पर आक्रमण किया था।[२६] कभी कभी इस प्रकार के आक्रमण अनेकों कारणों से हुआ करते हैं, (केवल एक कारण से नहीं)। उदाहरणार्थ घृणा (तिरस्कार) के साथ धन के लोभ का भी संयोग हो सकता है, जैसा कि मिथ्रिदातीस् के द्वारा अपने (पिता) अरियोबारजानी पर किये आक्रमण में घटित हुआ था।[२७] पर इस प्रकार के विद्रोह का प्रयत्न बहुधा ऐसी प्रकृति के मनुष्यों द्वारा किया जाता है जो स्वभावतः साहसी होते हैं तथा राजा के द्वारा उच्च सैनिक सम्मान के पद पर स्थापित किये जाते हैं। साहस के साथ शक्ति का संयोग होने से शौर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। इन दोनों के संयोग के कारण ही, सरलतापूर्वक सफलता की प्राप्ति की आशा के आधार पर, विद्रोह की ओर प्रवृत्ति हुआ करती है।

ख्याति (= सम्मान, लोकैषणा) के कारण होनेवाले विद्रोहों का कारण उपर्युक्त विद्रोहों के कारणों से इतर प्रकार का ही हुआ करता है। जिस प्रकार कुछ लोग बड़े लाभ और महान् सम्मान को दृष्टि में रखते हुए अधिनायकों के प्राण लेने का प्रयत्न किया करते हैं, उस प्रकार वे लोग नहीं करते जो कीर्त्ति (अथवा ख्याति) के प्रेम के कारण प्रत्येक प्रकार के भय का सामना करते हुए विद्रोह करने का उद्योग करते हैं। प्रथम प्रकार के मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार के कारणों (लोभ और महत्त्वाकांक्षा) से प्रेरित हुआ करते हैं। जो मनुष्य राजा पर आक्रमण कर नामवरी प्राप्त करने के लिये उनके प्राण लेने का प्रयत्न करते हैं वे तो कुछ इस प्रकार प्रवृत्त होते हैं जिस प्रकार वे अन्य मनुष्यों में ख्याति (कीर्ति) प्राप्त करानेवाले किसी अन्य महान् पराक्रमपूर्ण कार्य के करने का अवसर प्राप्त होने पर उसको करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। उनको एक नये राज्य को प्राप्त करने की चाह नहीं होती, वे तो नाम (= यश) प्राप्त करना चाहते हैं। यह सत्य है कि इस प्रकार के कारणों से प्रवृत्त होनेवाले लोगों की संख्या बहुत ही

थोड़ी हुआ करती है। यह तो उनके कार्य की पूर्वनिश्चित शर्त्त होती है कि यदि वे उसमें असफल हुए तो अपने जीवन की रक्षा का तो उनको कभी ख्याल ही नहीं करना चाहिये। उनके हृदय में दियौन् की धारणा के सदृश दृढ़ संकल्प होना चाहिये; निश्चय ही बहुत से मनुष्यों के लिये ऐसा होना सरल नहीं है। उसने अपने थोड़े से साथियों के सहित दियौनीसियस् के विरुद्ध अभियान-यात्रा करते समय कहा था, "मेरा तो यह विचार है कि इस उद्यम में जितना आगे बढ़ सकूँ उतना ही अच्छा है। यदि (नाव में से) पृथ्वी पर पैर रखते ही थोड़ी सी देर में मेरा अन्त हो जाय तो भी इस प्रकार मेरी मृत्यु शोभन ही होगी।

एक और प्रकार (=उपाय) जिससे अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के समान तानाशाही विनष्ट हुआ करती हैं (राष्ट्र के) बाहर वाला है। ऐसा संभव है कि कोई दूसरा राष्ट्र जिसकी व्यवस्था तानाशाही की व्यवस्था के प्रतिकूल हो, उससे अधिक बलवान् हो। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसा राष्ट्र विरोधी शासनसिद्धान्तों[८] के कारण अधिनायकतंत्र का विनाश चाहेगा, और जहाँ चाह होती है और उसके साथ सामर्थ्य भी होती है तो सब ही चाहा हुआ काम किया करते हैं। शासन-व्यवस्थाओं का विरोध (विविध प्रकार का हो सकता है)। जनतंत्र (अपने अत्यन्तगामी रूप में जनसाधारण की तानाशाही होने के कारण) उसी प्रकार अधिनायकतंत्र का विरोध करता है जिस प्रकार हीसियॉडम् के शब्दों में एक कुम्हार दूसरे कुम्हार से झगड़ा किया करता है। राजतंत्र और श्रेष्ठजनतंत्र विरोधी प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ होने के कारण अधिनायकतंत्र का विरोध करते हैं। इसीलिए लाकैदायमॉन राष्ट्र ने (राज-तंत्र होने के कारण) बहुत से अधिनायकतंत्रों को कुचला था और सिराकूसवालों ने भी अपने सुशासनकाल में ऐसी ही नीति का अनुसरण किया था।

फिर अधिनायकतंत्र के नष्ट होने का एक प्रकार आन्तरिक कलह भी है। ऐसा तब होता है जब कि अधिनायक के साझेदार स्वयं आपस में ही लड़ने लगते हैं; जैसा कि (सिराकूस में) गैलो के परिवार में हुआ था और अभी (आजकल) फिर छोटे दियौनीसियस् के परिवार में हो चुका है। गैलो के द्वारा स्थापित अधिनायक का विनाश थ्रासीबूलस ने किया। (थ्रासीबूलस गैलो और उसके उत्तराधिकारी हीरो का भाई था; हीरो की मृत्यु के पश्चात्) थ्रासीबूलस ने दूसरे उत्तराधिकारी (अर्थात् गैलोके पुत्र) की चापलूसी प्रारंभ कर दी, एवं उसके नाम से शासनतंत्र को अपनी मुट्ठी में करने के लिए उसको फुसलाकर विलासितामय जीवन में डाल दिया।

इस पर उसके कुटुम्बियों ने थ्रासीबूलस से पीछा छुड़ाने और अधिनायकतंत्र की रक्षा करने के लिये अपना एक संघटित दल बनाया। पर (अन्त में) उसके साथ षड्यंत्र रचनेवाले लोगों ने उचित अवसर देखकर तानाशाह के सारे परिवार को ही निकाल बाहर किया। दियोनीसियस् का पराभव तो उसके संबंधी (बहनोई) दियोन् के द्वारा किया गया। दियोन् ने दियोनीसियस् के विरुद्ध अभियान आरंभ किया। और जनता की सहायता प्राप्त करके उसको निकाल दिया"—पर दियोन् अन्त में स्वयं मृत्यु को प्राप्त हुआ।

ऐसे मुख्य कारण, जिनके निमित्त अधिनायकतंत्र (तानाशाही) पर बहुधा आक्रमण किये जाते हैं, दो हैं—घृणा और तिरस्कार (नफरत और हिकारत)। घृणा की भावना तो सभी अधिनायकतंत्र अवश्यमेव उत्पन्न करते ही हैं, पर तिरस्कार की भावना बहुधा इन तंत्रों के पराभव का वास्तविक कारण हुआ करती है। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि जो लोग अपने प्रयत्नों से अधिनायक-पद को प्राप्त करते हैं वे तो अधिकांश में उसकी रक्षा करने में सफल रहते हैं; पर जो इस पद को उत्तराधिकार में पाते हैं वे इसको तत्काल खो डालते हैं। विलासितामय जीवन व्यतीत करने के कारण वे अपने को तिरस्कार योग्य बना देते हैं और अपने ऊपर आक्रमण करने वालों को ऐसा करने के बहुत से अवसर प्रदान करते हैं। क्रोध को भी घृणा का ही एक स्वगत अंश माना जाना चाहिये और यह क्रोध भी वैसा ही परिणाम उत्पन्न करता है जैसा कि घृणा करती है। इतना ही नहीं, सच तो यह है कि क्रोध प्रायः घृणा से भी अधिक प्रबल (और प्रभावशाली) उत्तेजक है; क्रोधी मनुष्यों का तीव्र आवेग उनको शान्त-विवेचना नहीं करने देता अतएव वे अधिक आवेग के साथ आक्रमण किया करते हैं।" अपमानित होने के कारण मनुष्य बहुत अधिक अपने आवेगों के वशीभूत हो जाते हैं; इसी कारण से पाइसिस्त्रातस् के पुत्रों के अधिनायकतंत्र का तथा और भी अन्य अनेकों तानाशाहियों का विनाश हुआ। पर घृणा अधिक (विचारपूर्ण होती है); किन्तु क्रोध के साथ पीड़ा का साहचर्य रहता है अतएव पीड़ा के रहते हुए विचार करना सरल नहीं होता; इसके विपरीत घृणा पीड़ारहित होती है।

संक्षेप में सार यह निकला कि वे सब कारण जिनको कि मैंने पहले धनिकतंत्र के परम विशुद्ध और चरम प्रकार को तथा जनतंत्र के आत्यन्तिक प्रकार को नष्ट करनेवाला कहा है, अधिनायकतंत्र के लिए भी वैसे ही माने जाने चाहिये। वास्तव में शासन-पद्धतियों के यह प्रकार कई एक व्यक्तियों के मध्य में बँटी हुई तानाशाहियाँ ही

हो जाती हैं। राजतंत्रव्यवस्था ऐसी शासन-पद्धति है जो वाह्य कारणों से सबसे कम नष्ट हो सकती है ; और इसीलिए यह चिरकाल तक स्थिर रहनेवाली होती है। प्रायेण यह व्यवस्था आन्तरिक कारणों से ही नष्ट हुआ करती है। यह विनाश दो प्रकार से संभव हुआ करता है ; एक तो प्रकार है राजपरिवार के सदस्यों में ही कलह और विद्रोह उत्पन्न हो जाना ; दूसरा प्रकार है, राजा का वहुत कुछ अधिनायकों के समान शासन का प्रवन्ध करने का प्रयत्न करना, और अपनी सत्ता को नियमों (कानूनों) की सीमा के परे वढ़ाने की चेष्टा करना। और फिर अव तो राजतंत्र की उत्पत्ति भी नहीं होती; यदि इस प्रकार की कोई शासनपद्धति प्रकट भी होती है तो वह एकतंत्र अथवा अधिनायकतंत्र ही अधिक होती है। राजतंत्र वह शासन-व्यवस्था है जो प्रजाजनों के इच्छानुसार उनपर चला करती है तथा जिसमें महत्त्वपूर्ण विपयों की सर्वोपरि सत्ता (राजा के) हाथों में निहित होती है [इस प्रकार का शासन आजकल के समय में विपरीत है]। आजकल तो समता का वहुत अधिक प्रचार है, और कोई भी व्यक्ति अन्य लोगों से इतना भिन्न (वढ़कर) नहीं है जो राजा के पद की महत्ता और योग्यता के लिए पूरा पहुँच सके। अतएव इस कारग से जनता इस प्रकार के शासन को धैर्यपूर्वक स्वेच्छा से सहन नहीं करेगी ; और यदि छल अथवा वल से उसको जनता पर लाद भी दिया जाय तो वह उसको तत्काल तानाशाही का ही प्रकार समझ लेगी। कुलक्रमागत राजतंत्र का विनाश तो एक और कारण से भी होना संभव है, यह कारण अभी वर्णन किया जाना है। इस प्रकार के राजा वहुधा वड़ी सरलता से (अपने प्रजाजनों के) तिरस्कार के पात्र हो जाते हैं; एवं उनको यद्यपि अधिनायकों की क्षमता प्राप्त नहीं होती, केवल राजपद का गौरवमात्र उनके पास होता है, तथापि वे इस वात को भूलकर दूसरों का अपमान और हानि कर(वैठते) हैं। वस तव उनका विनिपात एक सरल काम हो जाता है। ज्यों ही राजा के प्रजाजन उसके प्रजाजन नहीं वना रहना चाहते, त्यों ही राजा, राजा नहीं रह जाता; किन्तु अधिनायक तो, यदि उसके प्रजाजन भी चाहें तो भी, तानाशाह वना रह सकता है।

राजतंत्र का क्षय इन्हीं तथा इन्हीं प्रकार के अन्य कारणों से हुआ करता है।

टिप्पणियाँ

१. एकराट्तंत्र से तात्पर्य एक व्यक्ति का शासन है। इसको एकजनतंत्र भी कह सकते हैं। प्राचीन यूनान में इसके दो प्रकार उपलब्ध होते हैं। एक को वसीलेइया

अथवा राजतंत्र कहते थे और दूसरे को तिरान्ने, तिरान्नी अथवा तानाशाही या अधि-नायकतंत्र।

२. सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये मूल में "देम्यर्गोइ" शब्द का प्रयोग किया गया है। पर इस शब्द का अर्थ 'कारीगर' भी होता है।

३. अध्यक्षों के लिये "थियोरोइ" शब्द प्रयोग में आया है जिसका अर्थ दर्शक होता है।

४. फेइदोन् ई० पू० सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आर्गस् नगरी का राजा था। इसके शासन-काल में आर्गस् का महत्त्व बहुत बढ़ गया था।

५. थ्रासीबूलस् (मिलेतस में) इत्यादि व्यक्ति इयोनिया में अधिनायक थे।

६. फालारिस् सिसिली द्वीप की अक्रागास् अथवा अग्रीगेन्तुम् नामक नगरी में ई० पू० छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शासन करता था। इसके पास एक धातुनिर्मित साँड़ था जिसके भीतर यह उन व्यक्तियों को भून डालता था जो इसको रुष्ट कर देते थे। इससे इसकी असामान्य निर्दयता स्पष्ट है।

७. पनाएतियस् न केवल लोकनायक था प्रत्युत सेनाध्यक्ष भी था।

८. (क्यु की) प्सेलस् भी लोकनायक एवं सेनाध्यक्ष दोनों ही था।

९. पिसिस्त्रातस् अथवा पैइसिस्त्रातस् के विषय में पहले लिख आये हैं।

१०. दियोनीसियस् के विषय में भी लिखा जा चुका है। प्रायः वही लोकनायक तानाशाह बन सके जो या तो सेनाध्यक्ष भी थे अथवा अत्यन्त साहसिक योद्धा थे। आधुनिक युग के अधिनायकों के विषय में भी यही बात अधिकांश में चरितार्थ हुई है।

११. क्रौद्रस् के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह अथेन्स का राजा था और उसने दौरियन् लोगों के आक्रमण से उसकी रक्षा की थी और इस प्रयत्न में उसने अपने जीवन को बलिदान कर दिया था। ऐसा कहना संभवतया ठीक नहीं है कि उसने अपने नगर की रक्षा करके राजा का पद पाया था। संभवतया अरिस्तू का वर्णन इस विषय में त्रुटिपूर्ण है।

१२. कीरस् महान् ई० पू० छठी शताब्दी में ईरान में अत्यन्त प्रतापी सम्राट् हुआ है। यही फ़ारस के साम्राज्य का संस्थापक था। इसने लघु एशिया के यूनानी राज्यों को भी परास्त करके अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इसके जीवन की अनेक घटनाएँ श्रीकृष्ण के चरित्र से मिलती हैं।

१३. लाकैदायमॉन् अथवा स्पार्टा ने ई० पू० ८वीं और ७वीं शताब्दी के युद्धों में मैसेनिया को जीता था।

१४. मकैदोनिया के राजाओं ने अपने राज्य को बहुत बढ़ाया था। विशेष फ़िलिप द्वितीय और उसके पुत्र अलैक्ज़ाण्डर ने तो उसको साम्राज्य ही बना दिया। फ़िलिप अरिस्तू का सखा और अलैक्ज़ाण्डर अरिस्तू का शिष्य था।

१५. इलियाद् काव्य के प्रसिद्ध योद्धा अखिल्लीस् के पुत्र नेयोप्तोलेमस् ने भूमि और अनुयायियों को प्राप्त किया और तब मॉलोसिया का राजा बन गया।

१६. कालिदास की उक्ति "राजा प्रकृति–रंजनात्" से तुलना कीजिये।

१७. इस कथा की ओर संकेत किया जा चुका है। पर हीरोदोतस् ने थ्रासीबूलस को उपदेष्टा और पैरियाण्ड्राल्ट्रास् को उपदिष्ट कहा है।

१८. इस कथा का उल्लेख किया जा चुका है।

१९. यह कथा यूनानियों में अप्राकृत-मैथुन-प्रथा के प्रचलन को सूचित करती है।

२०. न्यूमैन ने इन घटनाओं की तिथियाँ इस प्रकार दी हैं। (१) मकैदौनिया के आर्खीलाउस् की हत्या ई० पू० ३९९ में; (२) कीप्रस् के सालामिस् नगर के तानाशाह ऐवागौरास् की हत्या ई० पू० ३७४ में; (३) फैराए के यासन् की हत्या ई० पू० ३७० में; (४) सिकियॉन् के तानाशाह इयूफ्रौन् की हत्या ई० पू० ३६७ में; (५) फैराए के अलैक्ज़ाण्डर तथा औद्रीसाए के राजा कौतीस् की हत्याएँ ई० पू० ३५९ में; (६) कृष्णसागर के तट पर स्थित हेराक्लिया के तानाशाह क्लेआर्खस् की हत्या ई० पू० ३५२ में तथा मकैदौनिया के फिलिप् की हत्या ई० पू० ३३६ में हुई। इनमें से अधिकांश हत्याएँ उत्तर ग्रीस, मकैदौनिया और थ्राके में हुई। इनके वर्णन करने का उद्देश्य यही है कि तिरस्कार और अपमान से भी वह आग प्रज्वलित होती है जो राजाओं और तानाशाहों को समाप्त कर देती है।

२१. यह कथाएँ भी अपमानों की कथायें हैं। यूरीपिदेस् की कथा के संबंध में चर्चा करना भी प्राचीन काल में सहन नहीं किया जाता था।

२२. आर्त्तपानी (ने) स् के संबंध में जो कथा यहाँ कही गई है उसका ऐतिहासिक स्वरूप बहुत कुछ विवादग्रस्त है।

२३. कहते हैं सार्दानापलस् को उसके सेनाध्यक्ष "अर्वाकेस्" ने ऊन काढ़ते हुए देखा। ऊन काढ़ना स्त्रियों का काम माना जाता था। अतएव सेनापति ने ऐसे राजा का तत्काल वध कर डाला। इस कथा का एक दूसरा रूप यह है कि युद्ध में अपने सेनापति से हारकर सार्दानापलस् ने स्वयं आत्महत्या कर ली।

२४. यह घटना सिराकूज की है। पर आक्रमण का कारण इससे भी बढ़कर यह था दियौनीसियस् द्वितीय ने दियौन् की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया था और उसकी पत्नी को भी एक दूसरे व्यक्ति तिमौक्रातेस् को दे डाला था।

२५. अस्त्यागी(गे)स् कीरस् का स्वामी था और कीरस् उसका सेनाध्यक्ष। यह घटना ई० पू० छठी शताब्दी के मध्यकाल की है।

२६. यह घटना ई० पू० ३९० और ३८६ के मध्य की प्रतीत होती है।

२७. एक अरियौवारजानी ई० पू० ३६३ से ३३६ तक पौन्तुस् का क्षत्रप था। दूसरा अरियौवारज़ानी ई० पू० ३६७ में हैलेस्पौण्त का क्षत्रप था। पता नहीं कि प्रस्तुत संकेत किस अरियौवारज़ानी के प्रति है।

२८. आजकल की परिभाषा में इसको विचार-पद्धतियों का द्वन्द्व कहा जा सकता है।

२९. यह घटना ई० पू० ३४४ की है। इसके पश्चात् दियौन् स्वयं तानाशाह बना और मारा गया।

३०. तुलना कीजिये--"क्रोधाद् भवति संमोहः"। गीता २।६३

वि०--इस खण्ड का अन्तिम भाग क्रमबद्ध नहीं लगता। फिर इसका कुछ भाग ऐसा भी है जिसको Mysteries of the courts of Greek kings. ग्रीक राजाओं के दरबार के रहस्य कहा जा सकता है।

११

एकराट्तंत्र और तानाशाहियों की रक्षा के उपाय

सामान्यतया स्पष्टरूपेण ही कह सकते हैं कि उन(राजतंत्रात्मक) व्यवस्थाओं की रक्षा, उपर्युक्त कारणों से उलटे उपायों से होती है। और यदि हम उन पर अलग अलग विचार करें एवं सबसे पहले राजतंत्र को ही लें तो कह सकते हैं कि राजतंत्र की रक्षा मध्यमनीति के अनुसरण से हो सकती है। राजा की सत्ता अपेक्षाकृत जितनी थोड़ी(=सीमित) होगी उतने ही अधिक समय तक उसकी शासन-शक्ति अनिवार्यतया अक्षुण्ण (पूरी) बनी रहेगी। ऐसा होने पर वे स्वयं प्रभु-तुल्य व्यवहार कम करते हैं, अधिकांश में अन्य लोगों के साथ बराबरी का बर्ताव करते हैं, परिणामतः शासितों के द्वारा उनके प्रति ईर्ष्या भी कम की जाती है। यही कारण है कि मोलोस्सन्[1] राष्ट्र में सुदीर्घकाल तक राजतंत्र बना रहा। तथा लाकैदायमोन् राष्ट्र (स्पार्टा) के राजतंत्र का स्थायित्व भी (कुछ तो) आरंभ से ही राजतंत्र के दो भागों में बंट जाने के कारण संभव हुआ है और(कुछ)पीछे थियोपॉम्पस्[2] के द्वारा मध्यमनीति के बहु-विधि अनुसरण के द्वारा, जिसमें अन्य बातों से विशेष बात थी अध्यक्ष अथवा निरीक्षक

1039

मंडल की स्थापना। उसने राजा की शक्ति को घटाया पर राजपद के काल में (स्थायित्व) अवश्य वृद्धि कर दी; परिणामतः उसने उस (शक्ति) को एक अर्थ में (=एक प्रकार से) कम नहीं किया, प्रत्युत उसका महत्त्व और बढ़ा दिया। वह तथ्य उसके अपनी पत्नी को दिये हुए उत्तर से स्पष्ट है। उसकी पत्नी ने उससे पूछा "जितनी राज-शक्ति तुमने अपने पिता से पाई थी उससे कम राजशक्ति अपने पुत्रों को देने में, क्या तुमको लज्जा नहीं लगती ?)" उसने उत्तर दिया, "नहीं, मुझे तो (कुछ भी लज्जा) नहीं लगती (क्योंकि) मैं उनको चिरकाल तक स्थायी रहनेवाली शक्ति दिये जा रहा हूँ।"

जहाँ तक अधिनायकतंत्र का प्रश्न है उनकी रक्षा दो प्रकारों (उपायों) से हो सकती है जो एक दूसरे के नितान्त विरोधी हैं। इनमें से प्रथम उपाय तो वही परम्परागत उपाय है जिसके अनुसार अधिकांश अधिनायक लोग अब भी अपने शासन का प्रबंध किया करते हैं। कहते हैं कि इस (उपाय) की बहुत सी विधियाँ कौरिन्थ-निवासी पैरियाण्डूस ने स्थापित की थीं और ऐसी बहुत सी विधियाँ पारसीक लोगों की शासन-पद्धति से भी ग्रहण की जा सकती हैं। इनमें से कुछ विधियाँ तो वही हैं जिनका वर्णन हमने पहले अधिनायकतंत्र की रक्षा (जहाँ तक उसकी रक्षा संभव है) के संबंध में किया था। उदाहरण के लिए अत्युच्च प्रमुख व्यक्तियों को काट (छाँट) डालना और तेजस्वी लोगों को दूर कर देना इत्यादि (ऐसी ही विधियाँ हैं)। इनके अतिरिक्त उसको सार्वजनिक भोजन, सामाजिक सम्मेलन (अर्थात् क्लब इत्यादि), सम्मिलित शिक्षा और इसी प्रकार की अन्य किसी भी बात का निषेध कर देना चाहिये। दूसरे शब्दों में ऐसी सब बातों से अपनी रक्षा के लिए सावधान रहना जो साहस और पारस्परिक विश्वास---इन दो गुणों को जनता में उत्पन्न कर सकती हैं। उसको अवकाशजन्य सांस्कृतिक सभा-समाजों का एवं इसी प्रकार के अन्य सम्मेलनों का निषेध कर देना चाहिये ; एवं प्रत्येक ऐसे उपाय को काम में लाना चाहिये जिससे प्रजाजनों में से प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के लिए इतना अधिक अपरिचित हो कि जितना हो सकता है ; क्योंकि पारस्परिक परिचय मनुष्यों में पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त उसको प्रत्येक प्रजाजन को नित्य सबके सामने प्रकट होने, एवं राज-द्वार पर अपना समय बिताने के लिए विवश करना चाहिये। इस प्रकार उनको यह पता चल जायगा कि वे (=जनता) क्या कर रहे हैं एवं इस नित्यप्रति की थोड़ी दासता के अभ्यास से उनका स्वभाव विनीत बने रहने का पड़ जायगा। इसी भाँति और भी अन्य अनेकों उपाय है जो पारसीक और बर्बर लोगों में समान रूप से पाये जाते हैं एवं जिनका एकमात्र सामान्य प्रभाव अधिनायकतंत्र को पुष्ट करना है।

फिर अधिनायक को यह भी जान लेने का उद्योग करना नहीं भुला देना चाहिये कि प्रजाजनों में से प्रत्येक व्यक्ति क्या कह और कर रहा है ; इनके लिए उसको गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिये, जैसे कि सिराकूस नगर में स्त्रियों की गुप्तचर संस्था थी जो 'पोटागोगिदीस' कहलाती थी ; अथवा जैसी कि कानाफूसी सुननेवाली गुप्त प्रणिधि संस्था हीरो की थी जिसको वह सामाजिक सम्मेलनों और सार्वजनिक सभाओं में (भेद लेने के लिए) भेजा करता था। (एक तो) गुप्तचरों के भय से लोग वहाँ स्वतंत्रता से यों ही नहीं बोलते और यदि वे स्वतंत्रतापूर्वक बोलें भी तो (गुप्तचरों के होते हुए) उनके न पहचाने जाने की बहुत कम संभावना रहती है। इनके अतिरिक्त अधिनायक को चाहिये कि वह मित्र और मित्र में, साधारण जनता और गण्यमान्य लोगों में एवं सम्पन्न लोगों के मध्य में एक दूसरे में फूट और कलह करवा दे। अधिनायकों की एक नीति अपने शासित जनों को निर्धन बनाने की भी रही है, जिससे जनता के पास नागरिक रक्षकदल के भरण-पोषण की सामर्थ्य ही न रहे और दूसरे वे अपनी दैनिक जीविका कमाने में ही इतनी तल्लीन रहें कि तानाशाह के विरुद्ध षड्यंत्र करने का अवकाश ही न मिले। मिस्र देश के पिरामिड्[3] (शवमंदिर) इसी नीति के उदाहरण हैं; किप्सेलस के परिवार द्वारा मंदिरों पर चढ़ाई हुई बहुमूल्य भेंटें, पैइसिस्त्रातस् के परिवार द्वारा ऑलिम्पिया के ज्यौसमन्दिर का निर्माण, तथा सामॉस् में पॉलीक्रातीस् द्वारा निर्मित महान् भवन---यह सब भी इसी नीति के निदर्शन हैं। इन सब कार्यों का उद्देश्य एकमात्र यही है कि शासितों को कार्य में संलग्न रहने के कारण अवकाश न रहे और उनकी निर्धनता बढ़े। कर लगाने का भी परिणाम यही होता है जैसा कि सिराकूस नगर में हुआ, कि बड़े दियोनीसियस् के अधिनायकतंत्र में ऐसी योजना बनाई गई कि पाँच साल में प्रजाजनों को अपनी संपत्ति सरकारी कोष में दे देनी पड़ी।[4] इसी कारण तानाशाह युद्धप्रिय भी होता है जिससे उसके शासित जन सदा किसी न किसी काम में लगे रहें और उनको निरन्तर एक नेता की आवश्यकता बनी रहे। (अविश्वास फैलाना तो अधिनायकों की नीति का इतना विशिष्ट अंग है कि) जब राजतंत्र की रक्षा मित्रों द्वारा की जाती है, तानाशाह यह जानते हुए कि सब मेरा विनिपात चाहते हैं तथा मेरे मित्रों में ऐसा करने की सबसे अधिक क्षमता है, उन्हीं का सबसे अधिक अविश्वास करता है।

परले सिरे को पहुँचे हुए तथा सबसे बुरे जनतंत्र में जो बुराइयां (बुरे कार्य) पाई जाती हैं वे सब की सब अधिनायकतंत्र में उपलब्ध होती हैं। उदाहरणस्वरूप दोनों (जनतंत्र और अधिनायकतंत्र) गृहस्थी में स्त्रियों की शक्ति को प्रोत्साहित करते हैं

जिससे वे अपने पतियों का भण्डाफोड़ कर दें एवं इसी कारण यह दोनों शासनतंत्र दासों को भी ढील देते हैं कि वे अपने स्वामियों के भेदों को बतला दें। दास और स्त्रियाँ तो अधिनायकों के विरुद्ध षड्यंत्र रचते नहीं, इतना ही नहीं प्रत्युत क्योंकि उनको अधिनायकतंत्र में सुदिन का अनुभव होता है अतएव वे उसके प्रतिकूल इसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार जनतंत्र के।[५] और साधारण मनुष्य भी तो एकतंत्री राजा बनने की चाह रखता है। यही कारण है कि इन दोनों तंत्रों में चापलूस व्यक्ति सम्मानित होता है। जनतंत्र में लोकनायक होता है जिसको जनतंत्र का चाटुकार दरबारी कहा जा सकता है; अधिनायकतंत्र में भी विनीत सहचर हुआ ही करते हैं——ये लोग चाटुकार दरबारियों के समान व्यवहार किया करते हैं।

इस प्रकार अधिनायकतंत्र दुर्जनों को मित्र (प्रियजन) माननेवाली शासनपद्धति है। तानाशाहों को चाटुकारी अच्छी लगती है ; तथा ऐसा कोई भी मनुष्य जिसकी अन्तरात्मा स्वतंत्र है अपने को चाटुकारी द्वारा नीचा नहीं बनायेगा। भला आदमी मित्र तो हो सकता है, पर कम से कम वह किसी की चापलूसी नहीं करना चाहेगा। और बुरे आदमी बुरे कामों के लिए उपयोगी होते हैं ; कहावत भी है "काँटा काँटे को निकालता है" (कण्टकेनैव कण्टकम्)।[६] अधिनायक का यह स्वभाव होता है कि वह कभी किसी सम्मानवाले और स्वाधीनता की भावना रखनेवाले मनुष्यों को पसन्द नहीं करता। इस प्रकार की योग्यताओं को तो वह अपना ही एकाधिकार मानता है ; जो कोई अन्य व्यक्ति उसके बराबर (प्रतिस्पर्द्धा में) सम्मान की भावना और स्वाधीनता की भावना का प्रदर्शन करता है तो वह ऐसा मानता है कि मानों वह व्यक्ति उस (अधिनायक) के विशेषाधिकारों और एकाधिपत्य का अपहरण कर रहा हो; तथा वह (तानाशाह) उसको ऐसी घृणा की दृष्टि से देखता है जैसे वह उसकी शक्ति (पद) का विनाश करनेवाला हो। अपने नगर के लोगों की अपेक्षा विदेशियों के साथ खानपान करना एवं अपने दिन उन्हीं की संगति में अपेक्षाकृत अधिक व्यतीत करना यह भी अधिनायकों का स्वभाव होता है; क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि नागरिक लोग तो हमारे शत्रु हैं पर विदेशी कभी हमारा विरोध नहीं करेंगे। यही अधिनायक की कला है और इसी के द्वारा वह अपनी शासनशक्ति की रक्षा का उपाय किया करता है। किसी भी नीचता (दुष्टता) को वह शेष नहीं छोड़ता। जो कुछ कहा गया है उसका संक्षेप तीन शीर्षकों में किया जा सकता है जो तीनों अधिनायकों के जीवन के तीन लक्ष्यों के संवादी हैं। उसका प्रथम लक्ष्य शासित जनों की आत्मा को हीन बनाना होता है; क्योंकि वह जानता है कि हीनात्मा लोग कभी किसी के विरुद्ध षड्यंत्र नहीं करते।

दूसरा ध्येय प्रजाजनों के बीच में पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न करना होता है : क्योंकि जब तक लोग एक दूसरे का विश्वास नहीं करने लगते तब तक अधिनायक का विनिपात नहीं हो सकता। इसी कारण अधिनायकों की सदा भले आदमियों से ठनी रहती है. वे यह समझते हैं कि नेक आदमी उनकी शक्ति के लिये केवल इसी लिए हानिकारक नहीं होते कि उनके ऊपर ऐसा शासन नहीं चल सकता जैसा स्वामी का दास के ऊपर चला करता है ; प्रत्युत इसलिए भी हानिकारक होते हैं कि वे आपस में एक दूसरे के और अन्य लोगों के भी विश्वासभाजन हैं और न तो आपस में किसी को धोखा देकर उनकी चुगली खाते हैं और न अन्य किसी व्यक्ति की। अधिनायक का तीसरा और अन्तिम लक्ष्य होता है अपने शासित जनों को किसी भी कार्य के अयोग्य बना देना। असंभव कार्य को करने का तो उद्योग कोई भी नहीं करता है। अतएव जब कोई भी किसी कार्य को करने की क्षमता नहीं रखता होगा तो वे अधिनायकतंत्र को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न नहीं करेंगे। अधिनायकों की सब व्यवहार-नीतियाँ इन्हीं तीन सिद्धान्तों में अन्तर्भुक्त की जा सकती हैं तथा उनके द्वारा प्रयुक्त सब उपाय इन्हीं में से किसी न किसी एक उद्देश्य से संबद्ध किये जा सकते हैं—अर्थात् शासितों में पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न करना. (२) उनको असमर्थ बना देना और (३) उनकी आत्मा को दीन-हीन बना देना।

तो यह उपर्युक्त उपाय उन दो उपायों में से एक है, जिससे अधिनायकतंत्र की रक्षा की जा सकती है। पर एक दूसरा उपाय भी है जिसमें उपयोग में आनेवाली कार्यप्रणाली उपर्युक्त कार्य-प्रणाली से बिलकुल उलटी है। इस उपाय के स्वरूप को हम राजतंत्रों के विनाश के कारणों के तुलनात्मक अध्ययन से भली भाँति समझ सकेंगे। जिस प्रकार कि राजतंत्र के नष्ट होने का एक कारण राजपद का अधिनायक-पद में बदल जाना था, ठीक उसी प्रकार अधिनायक-पद की रक्षा का एक उपाय उसका राजपद में बदल जाना है। केवल एक बात के विषय में अधिनायक को सावधान रहना चाहिये : इतनी शक्ति तो सुधरे हुए तानाशाह को भी अपने पास सुरक्षित रखनी चाहिये कि अपने प्रजा-जनों पर—चाहे उनकी उससे शासित होने की इच्छा हो और चाहे न हो—शासन कर सके। इस शक्ति को छोड़ देना तो अधिनायकता को ही छोड़ देना है। इस प्रकार अधिनायकतंत्र की सत्ता की आधारशिला (मुख्य शर्त) के रूप में यह शक्ति स्थिर रहनी चाहिये ; अन्यथा अन्य सब बातों में अधिनायक को राजा की भूमिका के अच्छे अभिनेता के समान कार्य करना चाहिये अथवा कम से कम इस प्रकार कार्य करते हुए प्रतीत होना चाहिये। प्रथम तो उसको सार्वजनिक धन के विषय में अपने को अत्यधिक चिन्ता-परायण प्रकट करना चाहिये। उसको ऐसे उपहारों के देने में धन का अपव्यय नहीं करना

चाहिये जिससे जनसाधारण में कटुता और रोष उत्पन्न होता है (और जब यह धन खेती-बाड़ी और मेहनत-मशक्कत करनेवाले लोगों से थोड़ा थोड़ा करके निचोड़ा जाता है और फिर मुक्त हस्त से वारांगनाओं, विदेशियों और विलासिता की कलाओं पर उड़ाया जाता है तो कटुता और रोष उत्पन्न होना अवश्यंभावी है)। अपने आय-व्यय का लेखाजोखा भी उसको (सबके समक्ष) प्रस्तुत कर देना चाहिये—यह ऐसी नीति है जिसको कुछ अधिनायकों ने व्यवहार में अपनाया है। इस प्रकार के शासनप्रबन्ध में वह एक गृहप्रबंधक प्रतीत होगा न कि तानाशाह और जब तक वह नगर के शासन पर अपनी सत्ता बनाये रखता है तब तक उसको यह भी भय नहीं खाना चाहिये कि उसको कभी धन की कमी पड़ेगी। और यदि उसको अपने घर से बाहर जाना पड़े तो पीछे कोषसंग्रह छोड़ जाने की अपेक्षा उसके लिये यही उपयोगी होगा कि वह कुछ भी न छोड़ जाय; क्योंकि ऐसी स्थिति में, वह जिन शासन-रक्षकों को अपने पीछे नगर की रक्षा के लिये छोड़ जायगा, उनकी उसकी शक्ति के प्रति विद्रोह करने की बहुत कम संभावना होगी। जो अधिनायक बाहर विदेश में आक्रमण करने जाता है उसको नागरिकों की अपेक्षा शासनरक्षकों से अधिक भय खाना आवश्यक है; क्योंकि नागरिक तो अभियान में अपने शासक के साथ रहते हैं पर शासन-रक्षक पीछे घर पर ही रह जाते हैं। फिर, दूसरी बात यह है कि कर लगाने में और अन्य प्रकार के चंदे और सेवाएँ माँगने में यही प्रकट करना चाहिये कि यह सब (धन) सार्वजनिक कार्यों के निमित्त संचित किया जा रहा है अथवा आवश्यकता आ पड़ने पर इसका उपयोग युद्ध संबंधी कार्यों के लिये किया जायगा। सामान्यतया उसको सार्वजनिक कार्यों के रक्षक अथवा प्रबन्धक के रूप में न कि अपने निजी कार्य को संपादन करनेवाले के रूप में कार्य करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये।

(ज़नता के साथ व्यक्तिगत संपर्क में उसको) कठोर नहीं किन्तु प्रशान्त (गंभीर) दिखलाई देना चाहिये; उसकी मुद्रा ऐसी होनी चाहिये कि जो भी व्यक्ति उसके संपर्क में आयें वह भयभीत न हों किन्तु श्रद्धावनत हों। पर यदि वह जनता के हृदय में श्रद्धा की भावना उत्पन्न न कर सके तो उसके लिये इस लक्ष्य (श्रद्धाभाजन होने) की प्राप्ति सरल कार्य नहीं होगा। अतएव यदि वह चाहे तो अन्य किसी भी गुण की उपेक्षा कर सकता है, पर उसको योद्धा के गुणों को अपने में अवश्य विकसित करना होगा, और दर्शकों में यह धारणा (भावना) उत्पन्न करनी होगी कि वह योद्धा के गुणों से युक्त है। उसको यौन अपराधों से भी सदा बचना चाहिये; उसको स्वयं अपनी शासित प्रजाओं में से किसी युवक अथवा युवती के प्रति ऐसे अपराध करने के सन्देह से मुक्त

होना चाहिये, और इसी प्रकार उसके पारिषदों को भी इस प्रकार के दोषों से मुक्त होना चाहिये। एवं उसके अवरोध (अन्तःपुर) की रमणियों को भी अन्य स्त्रियों के प्रति ऐसे ही नियम (संयम) का व्यवहार करना उचित है। स्त्रियों की धृष्टता बहुत से अधिनायकतंत्रों के विनाश का कारण हुई है। (भोजन संबंधी) शारीरिक सुखोपभोग के विषय में तो उसको आजकल के कुछ अधिनायकों से बिल्कुल उल्टा आचरण करना चाहिये। ये लोग न केवल बड़े तड़के से आरंभ करके कई दिन तक लगातार इस प्रकार के सुखोपभोग में निमग्न रहते है, प्रत्युत वे ऐसा करते हुए अपने को दूसरों को दिखाना भी चाहते हैं जिससे वे (दूसरे लोग) उनके सौभाग्य और सौख्य की सराहना कर सके। परन्तु बहुत अच्छा तो यही है कि अधिनायक इन सुखोपभोगों में मध्यमवृत्ति का अनुसरण करे ; यदि ऐसा न कर सके तो कम से कम उसको इनके अन्य लोगो के समक्ष प्रदर्शन से तो बचना ही चाहिये ; (अथवा अन्य लोगों के सामने तो उसको अपने आपको इन बातों से बचनेवाला ही प्रकट करना चाहिये। क्योंकि जो लोग अप्रमत्त और जागरुक होते हैं उन पर आक्रमण करना अथवा उनका अपमान करना सरल काम नहीं प्रत्युत जो लोग प्रमत्त और ऊँघनेवाले होते है उन्हीं पर सरलता से आक्रमण किया जा सकता है और उन्हीं का अपमान भी हो सकता है।

वास्तव में उसका आचरण लगभग उन सभी बातों का उल्टा होना चाहिये जो हमने पहले अधिनायकों के आचरण के विवरण में वर्णन की है। उसको अपने नगर की योजना और सजावट ऐसे अच्छे ढंग से करनी चाहिये मानो वह नगर-राष्ट्र का अधिनायक नहीं प्रत्युत संरक्षक (=ट्रस्टी) है। इसके अतिरिक्त उसको देवताओं के संबंध में तो अपने को विशेषरूप से अत्यन्त उत्साहपूर्ण प्रकट करना चाहिये। यदि प्रजाजन यह ख्याल करते हैं कि उनका शासक देवताओं से भय खानेवाला और उनके प्रति श्रद्धावान् है तो वे उसके किये हुए अन्याय को सह लेने में अधिक भय नहीं खाते : और यदि उनको ऐसा भासित होता है कि स्वयं देवता उसके पक्ष में युद्ध करते है तो वे उसके विरुद्ध षड्यंत्र करने में भी बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। इसके साथ ही साथ उसका यह (धार्मिक आचरण) मूर्खता से रहित प्रतीत होना चाहिये। (नागरिक जीवन के किसी भी विभाग के) भले अथवा गुणी जनों का उसको सम्मान करना चाहिये, और इस प्रकार (अथवा उनका) सम्मान करना चाहिये जिससे वे यह ख्याल न करे कि स्वतंत्र प्रकार की शासन-व्यवस्था होने पर उनका अधिक सम्मान होता। सम्मानों का वितरण उसको स्वयं करना चाहिये, पर दण्ड अन्य शासनाधिकारियों अथवा न्यायालयों द्वारा दिलाना

चाहिये। यह सतर्कता तो सभी एकतंत्र-व्यवस्थाओं में समान रूप से पाई जाती है, कि कोई एक ही व्यक्ति बहुत ऊँचे पद पर नहीं चढ़ा दिया जाना चाहिये ; पर यदि इस प्रकार की पदोन्नति आवश्यक ही हो जाय तो बहुतों की पदवृद्धि करनी चाहिये जिससे वे परस्पर एक दूसरे पर चौकसी की दृष्टि रखें। पर यदि फिर भी किसी को अत्युच्च (महत्त्वपूर्ण) पद पर स्थापित करना पड़े ही तो वह व्यक्ति बहुत अधिक साहसी स्वभाव का नहीं होना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति सभी कार्यक्षेत्रों में बड़ी शीघ्रता के साथ प्रहार किया करते हैं। दूसरी ओर यदि किसी व्यक्ति को उसकी (पदशक्ति) अधिकार-शक्ति से वंचित करने का निर्णय करना हो तो उसकी शक्ति को क्रमशः धीरे धीरे घटाना चाहिये, राशिभूत समग्र सत्ता को उससे एक साथ अपहृत नहीं कर लेना चाहिये। अधिनायक को (यों तो) सब प्रकार के अत्याचारों से बचना चाहिये—पर सबसे अधिक दो प्रकार के अत्याचारों से—एक शारीरिक दण्ड देने से, और दूसरे युवक (और युवतियों) के सतीत्वापहरण से। जो सम्मान को प्रेम करनेवाले व्यक्ति हों उनके साथ व्यवहार में उसको विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। जिस प्रकार धन के प्रति तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से धनवान् लोग रुष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार सम्मान के प्रेमी और साधुजन अपमानपूर्ण व्यवहार से कुपित हो जाया करते हैं। अतएव अधिनायक को इस प्रकार के कार्यों से दूर ही रहना चाहिये ; अथवा दण्ड देते समय उसको कम से कम ऐसा अवश्य भासित करना चाहिये कि दण्ड देने में उसकी दृष्टि सुधार के लिये दंड देनेवाले पिता की दृष्टि के सदृश है, न कि वह दर्प अथवा अपमान करने की भावना से प्रेरित हो रहा है। तथा युवकों के सहवास के उपभोग में उसको ऐसा प्रकट करना चाहिये कि वह ऐसा अधिकार मद के कारण नहीं प्रत्युत सच्चे प्रेम के कारण कर रहा है। सामान्यरूपेण ऐसे सब प्रसंगों में उसको प्रातिभासिक अपमान की पूर्ति बहुत अधिक सम्मान-वृद्धि के द्वारा कर देनी चाहिये।

जो लोग प्राणनाश करने का प्रयत्न करते हैं उनमें से सबसे अधिक भयंकर और जिनकी सबसे अधिक चौकसी करने की आवश्यकता होती है वे व्यक्ति होते हैं जो अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् अपने प्राणों को बचाने की भी चिन्ता नहीं करते। अतएव जो लोग ऐसा ख्याल करते हैं कि या तो स्वयं उनका अथवा जिनके विषय में उनको चिन्ता है उनका अपमान किया गया है, ऐसे लोगों के प्रति विशेष सतर्कता बरती जानी चाहिये। जो लोग आवेश में आकर कोई कार्य करने का उद्योग किया करते हैं वे अपने विषय में कोई चिन्ता नहीं करते। जैसा हेराक्लीतस् ने कहा है, "(रोष=)आवेश के विरुद्ध

लड़कर पार पाना कठिन है क्योंकि वह तो प्राणों का भी मूल्य चुकाकर (प्रतिशोध) लेना चाहता है ।"[१]

समाजनीति के संबंध में उसको सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिये कि क्योंकि राष्ट्र दो अंगों--निर्धन मनुष्य और धनवान् मनुष्यों--से घटित होता है, अतएव उसको उन दोनों अंगों को इस प्रकार की धारणा बनाने देनी चाहिये कि वे उसी के शासन के कारण सुरक्षित हैं और उसी के कारण एक के ऊपर दूसरे का अन्याय (अत्याचार) नहीं हो रहा है । इन दोनों अंगों में जो भी अंग प्रबल हो, अधिनायक को चाहिये कि वह उसको ही अपने (शासनतंत्र के) पक्ष में सम्पृक्त कर ले ; क्योंकि इस कार्य के सिद्ध हो जाने पर (अर्थात् उसको प्रबल पक्ष का समर्थन प्राप्त हो जाने पर) उसको न तो दासों को स्वाधीन करने की आवश्यकता पड़ेगी और न नागरिकों का निरस्त्रीकरण करना पड़ेगा । जो शक्ति पहले से ही उसके पास है उसमें किसी एक अंग की शक्ति का योग हो जाने से वह अपने विरुद्ध आक्रमण करनेवालों से अधिक बलवान् हो जायगा ।

पर इस प्रकार की बातों में से प्रत्येक का सविस्तर वर्णन करना व्यर्थ है । अधिनायक का लक्ष्य स्पष्ट है । शासितों के समक्ष उसको अपने आपको अधिनायक के रूप में नहीं प्रत्युत प्रजाओं के गृहप्रबंधक और राजा के रूप में प्रदर्शित करना चाहिये । उसको उनकी सम्पत्ति को आत्मसात् नहीं कर लेना चाहिये, प्रत्युत उनका रक्षक होना चाहिये । उसके जीवन का लक्ष्य मध्यममार्ग होना चाहिये न कि अति करना । उसको गण्यमान लोगों की संगति की कामना होनी चाहिये पर साथ ही साथ उसको जनसाधारण को भी फुसलाकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिये । ऐसा होने से अवश्यमेव न केवल उसका शासन शोभन और (ईर्ष्या के योग्य) सुखमय होगा; उसके द्वारा शासित प्रजाजन अपेक्षाकृत अधिक भलेमानस होंगे और उनकी आत्मा दलित नहीं होगी ; वह उनके लिये निरन्तर घृणा और भय का पात्र नहीं बना रहेगा; प्रत्युत उसका शासन चिरकाल तक स्थायी रहेगा । इसके अतिरिक्त स्वयं उसका अपना स्वाभाविक चरित्र भी या तो (पूर्णतया) सचमुच सद्वृत्तिमय हो जायगा अथवा कम से कम अर्द्धसद्वृत्ति-मय तो हो ही जायगा; तथा वह पूर्णतया बुरा नहीं रहेगा; केवल आधा बुरा होगा ।

टिप्पणियाँ

१. मॉलॉस्सस् अथवा मॉलॉत्तस् लोगों के नगर-राष्ट्र में राजा और प्रजा समय-समय पर परस्पर शपथ किया करते थे । राजा प्रजाजनों के प्रति शपथ किया करता

था कि मैं नियम या कानून के अनुसार शासन करूँगा और प्रजाजन राजा के प्रति शपथ किया करते थे कि हम राजपद की रक्षा करेंगे।

२. थियौपॉम्पस् ई० पू० आठवीं शताब्दी के मध्य में स्पार्टा का राजा था। कुछ लेखक निरीक्षक-मंडल का स्थापक अन्य किसी व्यक्ति को मानते हैं। स्पार्टा के अतिरिक्त प्राचीन यूनान में और भी अनेक नगर ऐसे थे जहाँ एक से अधिक राजा शासन करते थे।

३. अइजिप्त (मिश्र) के पिरामिड्, क्रिप्सेलस् की भेंटें जिनमें एक विशालकाय स्वर्णनिर्मित जियुस् की मूर्त्ति भी थी, पेइसिस्त्रातस् का द्यौस् (जियस्)-मन्दिर, तथा सामॉस् में पालीक्रातीस् के प्रासाद इत्यादि जनता के शोषण से प्राप्त धन और बेगार से बने थे। इन सब का उद्देश्य था जनता को निर्धन और काम में लगा रखना जिससे उसको संघटित होकर तानाशाहों का विरोध करने का अवकाश न मिले।

४. दियोनीसियस् ने जनता की सम्पत्ति पर २० प्रतिशत कर लगाया था। पर यह उसके शासन के आरंभिक-काल की बात है जब कि वह कार्थेज के विरुद्ध युद्ध में संलग्न था और जिस समय उसको एक विशाल जल और स्थल सेना का पोषण करना पड़ रहा था।

५. स्त्रियों, बच्चों इत्यादि को पतियों और गुरुजनों का जासूस बनाना तो आधुनिक अधिनायकतंत्र में भी पाया जाता है।

६. (चाणक्य) कौटिल्य ने भी तो ऐसे ही उपायों से "कण्टकशोधन" का उपदेश दिया है।

७. क्योंकि शेरों की अपेक्षा पूंछ हिलानेवाले कुत्ते पालना सरल काम है।

८. यहाँ अधिनायकतंत्र की रक्षा के नीच उपाय बतलाये गये। अब उच्च प्रकार के उपाय प्रस्तुत किये जाते हैं।

९. यह उक्ति हेराक्लीतस् की खंडित रचनाओं में उपलब्ध होती है।

१२

प्लातोन के व्यवस्था-परिवर्तन के सिद्धान्त की आलोचना

[तो[1] भी कोई भी शासन-व्यवस्थाएँ इतनी अल्पस्थायी नहीं होतीं जितनी अल्पतंत्र-व्यवस्था और तानाशाहियाँ हुआ करती हैं। जो अधिनायकतंत्र सबसे अधिक लंबे काल तक चला वह सिकीयौन[2] नगर में औथागौरस और उसके वंशधरों का शासनतंत्र था ; यह अधिनायकतंत्र सौ बरस तक चला। इस स्थायित्व का कारण उनका शासितों

के प्रति संयमपूर्ण वर्ताव और बहुत कुछ नियमों की आज्ञानुवर्तिता में चलना था। क्लैइस्थिनीस[3] (जो कि सिकीयोन में तत्कालीन अधिनायक था) तो ऐसा वीर योद्धा था कि कोई उसकी उपेक्षा (तिरस्कार) कर ही नहीं सकता था, और इसके अतिरिक्त भी इस कुटुम्ब ने प्रजाजनों के हित-चिन्तन के द्वारा उनका आनुकूल्य प्राप्त किया था। क्लैस्थिनीस के विषय में कहा जाता है कि उसने (राष्ट्रीय) खेलों में अपने विरुद्ध निर्णय देनेवाले निर्णायक को मुकुट प्रदान किया था; और कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि सिकीयोन के बाजार के चौक में बैठे हुए मनुष्य की मूर्ति उस निर्णायक की ही मूर्ति है। इसी प्रकार की एक कथा पाइसिस्त्रातस के विषय में भी कही जाती है कि उसने एक समय अपने को अरियोपागस न्यायालय के समक्ष आदेशानुसार अभियोग में न्यायार्थ उपस्थित किया था।

दीर्घकालीनता की दृष्टि से दूसरा अधिनायकतंत्र कौरिन्थ[1] नगर में कीप्सैलस के कुल का था, जो ७३ वर्ष और ६ महीने तक चला। कीप्सैलस् ने स्वयं ३० वर्ष तक अधिनायकतंत्र चलाया; पैरियान्ड्रस् ने साढ़े चालीस वर्ष तक और गार्दियास के पुत्र प्साम्मितिखस् ने तीन वर्ष। इनके शासनकाल की दीर्घता के कारण भी वही (उपर्युक्त) थे। कीप्सैलस् लोकप्रिय नेता था, जिसने समग्र शासनकाल में अंगरक्षकों के दल को नहीं रखा; और पैरियाण्ड्रस्! यदि वह स्वेच्छाचारी शासक था तो एक महान् योद्धा भी था। दीर्घकाल की दृष्टि से तीसरा अधिनायकतंत्र पैइसिस्त्रातस् के वंश का था जो अथेन्स में राज्य करता था; पर यह शासन लगातार नहीं चला। अपने राज्यकाल में पैइसिस्त्रातस् को दो बार देशनिकाला हुआ और वह तैंतीस वर्ष के समय में केवल सत्रह वर्ष तक शासन कर सका। उसके पुत्रों ने सब मिलाकर अठारह वर्ष तक राज्य किया—इस प्रकार सारे वंश ने कुल पैंतीस वर्ष शासन किया। शेष अधिनायकतंत्रों में से सबसे अधिक स्थायी अधिनायकतंत्र था सिराकूस नगर में हीरो और गैलो के द्वारा स्थापित अधिनायकतंत्र। पर यह भी कुछ बहुत अधिक समय तक स्थायी नहीं रहा—सब मिलाकर कुल अठारह वर्ष चला। गैलो सात वर्ष तक अधिनायक रहा और अपने शासन के आठवें वर्ष में मर गया। हीरो ने दस वर्ष राज्य किया। थ्रासीबूलस अपने शासन के ग्यारहवें महीने में निर्वासित कर दिया गया। सच तो यह है कि (यह) तानाशाहियां सर्वथा बहुत अल्पकाल तक स्थायी रही हैं।]

अब मैं उन सब कारणों का लगभग वर्णन कर चुका जिनसे शासन-व्यवस्थाओं और एकराट्तंत्रों का विनाश और संरक्षण हुआ करता है।

प्लातोन की पौलितेइया (रिपब्लिक) नामक पुस्तक में साक्रातेस ने क्रान्तियों (परिवर्तनों) का वर्णन किया है पर वह वर्णन ठीक नहीं है। प्रथम तो वह यही नहीं बतला सका है कि उसकी आदर्श अथवा प्रथम (श्रेष्ठ) व्यवस्था में परिवर्तन उत्पन्न करनेवाला विशिष्ट कारण क्या है। वह केवल इतना ही बतलाता है कि कारण यह है कि (संसार में) कोई वस्तु सर्वदा स्थायी नहीं रहती ; किसी नियत समय पर सब वस्तुएँ बदल जाती हैं। इसके आगे वह कहता है कि इस परिवर्तन का मूलारंभ ऐसी संख्याओं से होता है जिनमें ४ के प्रति ३ का वर्गमूलात्मक अनुपात ५ के साथ विवाहित (संबद्ध) होने पर दो संवादिताओं को प्रस्तुत करता है ; उसके कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा तब होता है जब कि आकृति का अंकात्मक मूल्य धन हो जाता है।[७] उसका विचार यह है कि (जब मनुष्य सन्तति-प्रजनन-कार्य में आदर्श गणित-सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करते तो) कभी ऐसी गुणहीन सन्तानों का जन्म हुआ करता है जो शिक्षा के अनुशासन में नहीं आतीं (अथवा जो शिक्षा को ग्रहण करने की योग्यता नहीं रखतीं।) स्यात् यह विचार स्वतः गलत नहीं है; क्योंकि ऐसे कुछ मनुष्यों का होना बिलकुल संभव है जो कि संभवतया सुशिक्षित और भलेमानस नहीं बनाये जा सकते।[८] पर परिवर्तन का यह कारण, अन्य सब प्रकार की व्यवस्थाओं के प्रसंग में सामान्यतया लागू होने की अपेक्षा, अथवा संसार में उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओं के संबंध में लागू होने की अपेक्षा, उसके द्वारा रिपब्लिक में वर्णित श्रेष्ठ अथवा आदर्श नगर-व्यवस्था के विषय में ही क्यों विशेष प्रकार से लागू होना चाहिये ? और क्या समय के कारण, (जो कि सब वस्तुओं में परिवर्तन उत्पन्न करता कहा जाता है)[९] यह भी संभव है कि जिन वस्तुओं की उत्पत्ति एक साथ न हुई हो उनमें एक साथ परिवर्तन उत्पन्न हो जाय ? उदाहरण के लिये क्या, जो वस्तु नियत कालवृत्त के परिवर्तन से एक दिन पहले उत्पन्न हुई है वह अपने से पूर्व उत्पन्न हुई वस्तुओं के साथ परिवर्तन को प्राप्त होगी ?

और फिर, आदर्श अथवा श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था, किस कारण से, बदलने पर लाकैदायमॉन (स्पार्टा) की व्यवस्था का ही रूप ग्रहण करेगी ? सभी व्यवस्थाएँ बदलने पर सजातीय रूप ग्रहण करने की अपेक्षा बहुधा विरोधी रूप ग्रहण किया करती हैं। इसी प्रकार प्लातोन ने जो अन्य परिवर्तनों का विवरण उपस्थित किया है---अर्थात् उसने जो लाकैदायमॉन व्यवस्था से अल्पजनतंत्र (धनिकतंत्र), धनिकतंत्र से प्रजातंत्र, प्रजातंत्र से तानाशाही के रूपान्तरों का वर्णन किया है उनके विषय में भी यही तर्क लागू होता है। इससे बिलकुल उलटे क्रम में परिवर्तन होने की भी इतनी ही संभावना है; उदाहरणार्थ जनतंत्र धनिकतंत्र के रूप में परिवर्तित हो सकता है एवं एक जनतंत्र

के रूप में परिवर्तित होने की अपेक्षा इसका धनिकतंत्र में परिवर्तित होना अधिक संभव-पर है।

इसके अतिरिक्त, अधिनायकतंत्रों के विषय में वह कभी (कहीं) यह नहीं बतलाता कि उनमें भी परिवर्तन होता है या नहीं ; और न यही बतलाता है कि यदि उनमें फेरफार होता है तो किन कारणों से होता है और वे किन व्यवस्थाओं के रूप में बदल जाते हैं। इस चुप्पी का कारण यह है कि इस विषय में कोई भी विवरण देना सरल नहीं था। उसकी युक्तियों में इस समस्या के समाधान के लिये नियम-निर्देश नहीं थे। क्योंकि उसकी तर्कसरणि के अनुसार तो परिवर्तन की शृंखला और क्रमचक्र की पूर्ति के लिये अधिनायकतंत्र को लौटकर प्रथम और श्रेष्ठ व्यवस्था के रूप में बदल जाना चाहिये।[10] पर जहाँ तक वास्तविकता का संबंध है एक अधिनायकतंत्र दूसरे प्रकार के अधिनायकतंत्र के रूप में बदल जा सकता है : जैसे कि सिकीयोन नगर का अधिनायकतंत्र मीरो[11] के अधिनायकतंत्र से क्लैइस्थिनीस के अधिनायकतंत्र में बदल गया। यह (अधिनायकतंत्र) बदलकर धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र) भी हो सकता है, जैसा खाल्किस में अन्तिलियौन्[12] के अधिनायक के विषय में हुआ। इसका रूपान्तर जनतंत्र में भी होना संभव है जैसे कि सिराकूस नगर में गैलो के अधिनायकतंत्र के विषय में हुआ। तथा यह बदलकर श्रेष्ठजनतंत्र भी बन सकता है, जैसे कि लाकैदायमॉन् में खारीलौस[13] के अधिनायकतंत्र और कार्खीदोन्[14] (कार्थेज) नगर के अधिनायकतंत्र के विषय में हुआ। और फिर अधिनायकतंत्र धनिकतंत्र के पश्चात् उत्पन्न हो सकता है (न कि जनतंत्र के पश्चात् जैसा प्लातोन ने सुझाया है) : जैसा कि सिकेलिया (सिसिली) के बहुत से प्राचीन धनिकतंत्रों के विषय में घटित हुआ। उदाहरण के लिये लियौन्तिनी नगर में धनिकतंत्र के पश्चात् पनाएतियस्[15] का अधिनायकतंत्र स्थापित हुआ, गैला नगर में धनिकतंत्र का उत्तराधिकारी क्लियान्द्रॉस् का अधिनायकतंत्र हुआ, एवं रेगियम् नगर का धनिकतंत्र अनाक्सीलाउस् के अधिनायकतंत्र के रूप में बदल गया।[16] और भी बहुत से अन्य नगरों में परिवर्तन का क्रम इसी प्रकार का रहा है।

प्लातोन का यह विश्वास करना "कि (स्पार्टा के ढंग की व्यवस्था का) धनिकतंत्र में बदल जाना केवल शासनाधिकारियों के धनलोलुप और धनोपार्जक हो जाने के कारण होता है न कि अधिक सम्पत्तिशाली लोगों की इस धारणा के कारण होता है कि अत्यन्त निर्धन लोगों का भी शासन-कार्य में उन धनी लोगों के बराबर भाग होना अन्याय है" बड़ी विचित्र (बेहूदा)[17] सी बात लगती है। वास्तविकता यह है कि बहुत से धनिक-

तंत्रों में लाभार्जन का निषेध है और इस (लाभार्जन) को रोकने के लिये विशिष्ट नियम हैं। पर कार्खीदोन में, जिसका शासन जनतंत्रात्मक प्रकार का है, लाभार्जन का प्रचलन है, तो भी वहाँ की शासन-व्यवस्था के रूप में अभी तक कुछ भी क्रान्ति (परिवर्तन) नहीं हुई है। फिर प्लातोन का यह कहना भी मूर्खतापूर्ण (वेहूदा) है कि अल्पतंत्रात्मक दो राष्ट्रों से मिलकर घटित होता है जिनमें से एक धनवानों का राष्ट्र होता है और एक निर्धनों का। क्या अल्पजनतंत्र में यह द्विधापरक लक्षण लाकैदायमॉन की शासन-व्यवस्था की अपेक्षा, अथवा अन्य उन सब राष्ट्रों की अपेक्षा, जिनमें सब वरावर सम्पत्तिशाली अथवा सब एक समान भलेमानस नहीं होते, कुछ अधिक मात्रा में पाया जाता है ? पूर्वापेक्षा विना किसी मनुष्य के अधिक निर्धन हुए भी यदि निर्धनों की संख्या अधिक हो जाय तो सब कुछ पूर्ववत् रहते हुए भी इतने मात्र से ही अल्पजनतंत्र कुछ कम प्रजातंत्र में परिणत नहीं हो जायगा। और इसी प्रकार यदि धनवान् लोग निर्धन लोगों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हों, तथा निर्धन लोग (निश्चिन्त) असावधान हों और सम्पत्तिवान् लोग दत्तचित्त हों तो प्रजातंत्र भी धनिकतंत्र में परिणत हो जायगा।

जिन कारणों से यह परिवर्तन (धनिकतंत्र की प्रजातंत्र में परिणति) घटित होता है वे वहुत से हैं, पर प्लातोन ने उनका वर्णन नहीं किया, केवल एक कारण का उल्लेख किया है—अर्थात् लोगों का अपव्यय के कारण ऋणी होकर निर्धन हो जाना—मानो वह यह मानता है कि सब मनुष्य अथवा अधिकांश मनुष्य आरंभ में धनवान् होते हैं। पर यह वात वितथ है। तथ्य यह है कि जब कोई नेता लोग अकिंचन हो जाते हैं तो वे क्रान्तिकारी बन जाते हैं पर जब अन्य लोग अपनी सम्पत्ति गँवाकर अकिंचन हो जाते हैं तो कोई भयावह परिणाम नहीं होता। और तव भी जो परिवर्तन उपस्थित होता है उसके अन्य किसी प्रकार की व्यवस्था का रूप ग्रहण करने की अपेक्षा जनतंत्र के रूप को ग्रहण करने की अधिक संभावना कभी नहीं होती। इसके अतिरिक्त, चाहे प्लातोन के मतानुसार मनमाना करने की स्वाधीनता की अति के कारण धन का अपव्यय न भी हुआ हो, तथापि यदि प्रजाजनों को नागरिक सम्मान में भाग न मिले, उनके प्रति अन्याय किया जाय, अथवा उनका अपमान हो तो वे विद्रोह कर वैठते हैं और शासन-व्यवस्था को वदल देते हैं।

(अन्तिम वात यह है कि) यद्यपि धनिकतंत्रों और प्रजातंत्रों के वहुत से भेद हैं, तथापि सॉक्रातेस उनके परिवर्तनों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानो इनमें से प्रत्येक केवल एक एक प्रकार ही हो।

टिप्पणियाँ

१. न्यूमैन् एवं अन्य सम्पादकों ने इस खंड के प्रारंभिक भाग को क्षेपक मानकर कोष्ठक में बन्द कर दिया है। अनुवाद में भी हमने ऐसा ही किया है।

२. सिकीयौन् मैगारा के उत्तर-पश्चिम में है।

३. क्लैइस्थिनी(ने)स् ऑर्थागोरस् का प्रपौत्र था। यह ऑर्गस् का कट्टु-विरोधी था। इसका समय ई० पू० छठी शताब्दी है।

४. कौरिन्थ नगर सिकीयौन् से दक्षिण पूर्व की ओर है।

५. पैइसिस्त्रातस् का वर्णन अथेन्स के संविधान में विस्तार के साथ किया गया है।

६. इस विवरण में उन तानाशाहियों का वर्णन नहीं दिया गया है जो अरिस्तू के समय में विद्यमान थीं और पर्याप्त दीर्घ जीवन प्राप्त कर चुकी थीं। इसी कारण इस विवरण की प्रामाणिकता में सन्देह है।

७. इस उद्धरण के विस्तृत विवरण के लिए प्लातोन की "आदर्श नगर-व्यवस्था" (रिपब्लिक के हिन्दी अनुवाद) की आठवीं पुस्तक का तीसरा खंड पृष्ठ ५०६–५०९ देखिये। यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई है। यद्यपि इस प्रजनन के गणितशास्त्र के विषय में विद्वानों ने पर्याप्त माथापच्ची की है पर इसका कोई हल नहीं निकल सका है।

८. प्लातोन का भाव यह था कि शासकों को विवाह और सन्तति-नियमन के द्वारा सुसन्तति उत्पन्न करनी चाहिये।

९. यह प्लातोन के प्रति अन्याय है। प्लातोन का भाव यह नहीं था। उसका भाव यह था कि गणित के शाश्वत नियमों की अवहेलना की जायगी तो सभी वस्तुएँ कालान्तर में बदल जायेंगी।

१०. प्लातोन ने इस प्रकार की चक्राकार गति का संकेत किया है। चक्र के लिये यूनानी भाषा में किक्लॉस् शब्द आया है जो उसका सजातीय है।

११. मीरो नाम के दो व्यक्ति हुए हैं एक क्लैइस्थिनीस् का दादा था, दूसरा उसका भाई था। यहाँ भाई की ओर संकेत है।

१२. अन्तिलियौन् के विषय में केवल इतना ही ज्ञात है जितना यहाँ दिया हुआ है।

१३. खारीलौस् के शासन को कुछ लोगों ने मृदुल बतलाया है और कुछ ने अत्यन्त कठोर। अरिस्तू दूसरे मत को मानता प्रतीत होता है।

१४. यह बात अरिस्तू के एतद्विषयक पूर्वकथन के विरुद्ध है।

१५. पनाएतियस् के विषय में लिखा जा चुका है।

१६. लियोन्तिनी और गैला दोनों नगर सिसिली द्वीप के दक्षिण भाग में हैं। रेगियम् इटली के दक्षिण में है और इसको सिसिली से छोटी पतली सी जलप्रणाली पृथक् करती है।

१७. बेहूदा के लिये मूल अतौपॉन्. शब्द आया है जिसका अर्थ बेहूदा या मूर्खता-पूर्ण होता है। संस्कृत में इसका अनुवाद अ-स्थाने किया जा सकता है।

वि० संक्षेप में अरिस्तू का कहना यह है कि व्यवस्थाओं के परिवर्त्तन के कारण, पद्धति और क्रम इतनी सीधी सरल बात नहीं है जितना उसको प्लातोन ने माना है। अरिस्तू वास्तविकता का भक्त है; उसको अवास्तविक सरलीकरण ग्राह्य नहीं है।

प्रस्तुत खंड कुछ अधिक सुव्यवस्थित रचना प्रतीत नहीं होता। इसमें कुछ बातें तर्कसंगत नहीं हैं और कुछ पूर्वापर-विरोधी हैं। अन्तिम वाक्य भी अधूरा ही छूट गया है।

छठी पुस्तक

१

प्रजातंत्र के प्रकार

हम राष्ट्र के विचार परिषद् के, जो कि व्यवस्था का सर्वोपरि सत्ताशाली अंग है, शासनकारी पदों की संघटना के तथा न्यायालयों के विभिन्न प्रकारों की संख्या एवं उनके स्वरूपों का विवरण प्रस्तुत कर चुके। इसी संबंध में हमने प्रत्येक प्रकार की शासन-व्यवस्थाओंके लिये उपर्युक्त अंगों के समुचित प्रकारों का भी विचार कर लिया।' इसके अतिरिक्त विविध प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं का विनाश और रक्षण किस प्रकार से और किन कारणों से हुआ करता है इसका भी विचार हम कर चुके।'

प्रजातंत्र के एवं अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के बहुत से भेद होते हैं अतएव अब हमको इस प्रत्येक भेद के विषय में जो कुछ कहना शेष रह गया है उसका विचार कर लेना चाहिये ; विशेषकर इस बात का विवेचन कर लेना अच्छा होगा कि इनमें से प्रत्येक भेद के लिये संघटना का कौन-सा ढंग समुपयुक्त और लाभदायक (सुविधापूर्ण) होगा। इसके अतिरिक्त इन उपर्युक्त तीन (अंगों) या शक्तियों की संघटना के जो समग्र ढंग हो सकते हैं उनके सभी संभव संयोगों का भी विचार हमको अवश्य करना चाहिये ; क्योंकि इस प्रकार के संयोगों के परिणाम-स्वरूप शासन-व्यवस्थाएँ परस्पर उपहित (संश्लिष्ट) हो जाती हैं—परिणामतः श्रेष्ठजनतंत्र में धनिकतंत्र के लक्षणों का सम्मिश्रण हो जाता है तथा "व्यवस्थातंत्र" बहुत कुछ जनतंत्र की ओर झुकता पाया जाता है।

वे (संभव) संयोग, जिनका विचार किया जाना चाहिये पर अभी तक किया नहीं गया है, निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगे। जैसे, विचार-परिषद् की संघटना और शासन-पदाधिकारियों के चुनाव का ढंग तो धनिकतंत्र पर आश्रित हो, तथा न्यायालयों की संघटना का आधार श्रेष्ठजनतंत्रात्मक हो, अथवा न्यायालयों और विचार-परिषद् की संघटना धनिकतंत्र पर आश्रित हो और शासनाधिकारियों के चुनाव का ढंग श्रेष्ठजनतंत्र के आधार पर निर्भर हो, अथवा अन्य कोई ढंग जिससे कि व्यवस्था के सब अंगों में पूर्ण सुसंगतता न हो पाये।

किस प्रकार का प्रजातंत्र किस प्रकार के नगर के लिये अनुरूप होता है, किस प्रकार का धनिकतंत्र किस प्रकार के समाज के लिये उपयुक्त होता है ; तथा शेष व्यवस्थाओं में से कौन-सी व्यवस्था कौन-सी जनता के लिये ठीक होती है, यह सब बातें हम पहले ही बता चुके हैं।[3] तथापि केवल इतना ही स्पष्ट नहीं किया जाना चाहिये कि प्रत्येक नगर-राष्ट्र के लिये उपर्युक्त व्यवस्थाओं में से कौन-सी व्यवस्था श्रेष्ठ है, प्रत्युत हमको संक्षेप में यह भी विचार कर लेना है कि इन व्यवस्थाओं और अन्य व्यवस्थाओं की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है। सबसे प्रथम हम प्रजातंत्र से आरंभ करें, ऐसा करने से इसके विपरीत व्यवस्था, (जिसको सामान्यतया धनिकतंत्र के नाम से पुकारा जाता है) का स्वरूप भी स्वतः स्पष्ट हो जायगा। इस अनुसंधान के निमित्त हमको प्रजातंत्र के सब तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये, एवं उन लक्षणों का भी संग्रह करना चाहिये जो जनतंत्र का अनुसरण करनेवाले समझे जाते हैं; क्योंकि इन्हीं के संयोग से प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्थाओं के विविध प्रकारों की उत्पत्ति संभव हुआ करती है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि प्रजातंत्र के एक से अधिक भेद क्यों हैं तथा वे किस कारण एक दूसरे से पृथक् हैं।

प्रजातंत्र के अनेक भेद क्यों होते हैं, इसके दो कारण हैं। इनमें से एक का वर्णन तो पहले ही किया जा चुका है[4]—यह है विभिन्न राष्ट्रों की जनता के लक्षणों की विभिन्नता। कहीं जनता में अधिक संख्या कृषकों की होती है, कहीं शिल्पियों की और कहीं प्रतिदिन मजदूरी करनेवाले श्रमिकों की। (इनसे जिन प्रजातंत्रों की संघटना होती है वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं) पर यदि इनमें से प्रथम का दूसरे के साथ संयोग हो जाय और फिर पीछे तीसरे का इन दोनों से योग हो जाय तो इससे जिस जनतंत्र की उत्पत्ति होती है वह केवल अच्छे या बुरे होने के कारण भिन्न नहीं होता प्रत्युत वह भिन्नता दो निसर्गतः (नितान्त) भिन्न वस्तुओं की भिन्नता होती है।[5] (अर्थात् उनमें गुणकृत नहीं स्वभावकृत भेद उत्पन्न हो जाता है।) दूसरा कारण, जिसका अब वर्णन करना है, निम्नलिखित है ; उन लक्षणों के (जो कि जनतंत्र का अनुसरण करते हैं और उसके अपने गुण माने जाते हैं) विभिन्न संयोगों से भी जनतंत्र विविध प्रकार का हो जाता है। जनतंत्र के किसी एक प्रकार में इनमें से थोड़े से गुण पाये जाते हैं, दूसरे में कुछ अधिक और तीसरे में यह सभी पाये जा सकते हैं। जनतंत्र के इन सब लक्षणों का पृथक् पृथक् ज्ञान प्राप्त कर लेना दोनों ही प्रकार से उपयोगी है, उस नवीन प्रकार के जनतंत्र की स्थापना के लिये भी जिसको कोई दैवात् संघटित करना चाहता है, तथा किसी पूर्व-स्थित जनतंत्र के सुधार के लिये भी। जो लोग शासन-व्यवस्था के निर्माण में संलग्न

होते हैं उनका यह उद्योग हुआ करता है कि जिस भावना पर व्यवस्था आश्रित होती है तत्संबंधी सभी लक्षणों को एक साथ इकट्ठा कर लिया जाय।[6] पर, जैसा कि शासन-व्यवस्थाओं के विनाश और संरक्षण का विवरण उपस्थित करते समय हम पहले ही बतला चुके हैं, ऐसा करना भारी भूल है।

अब हम उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था (प्रजातंत्र) के आधारभूत सिद्धान्त, नैतिक स्वभाव और उद्देश्यों का वर्णन करेंगे।[7]

टिप्पणियाँ

१. पुस्तक ४ के १४-१६ खंडों में।
२. पुस्तक ५ में।
३. पुस्तक ४, खंड १२ में।
४. पुस्तक ४, खंड ४, ६ और १२ में तथा आगे इसी छठी पुस्तक के खंड ४ में।
५. केवल एक वर्ग का जनतंत्र मिश्रित वर्गों के जनतंत्र से भिन्न प्रकार का होता है।
६. देखो पुस्तक ५ खंड ९। पर ऐसा करना स्वयं उस व्यवस्था के हित में नहीं है।

७. आधारभूत सिद्धान्त (अक्षियम्), नैतिक स्वभाव और उद्देश्य इन तीनों से मिलकर किसी भी प्रकार की व्यवस्था की भावना अथवा धारणा का चित्र उपलब्ध होता है और लक्षणों से उसके व्यवहार का।

वि० पाँचवीं पुस्तक में व्यवस्थाओं के विनाश और संरक्षण के कारणों तथा उपायों का विवेचन किया गया। अब विभिन्न व्यवस्थाओं को सुरक्षित रखनेवाली उनकी संघटन-विधि का विचार किया जायगा। इस विवरण की दृष्टि से ४थी और ५वीं पुस्तकें पूर्वपुस्तकों के नाम से अभिहित की जायगी।

२

स्वतंत्रता और समानता

प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था की मूलभूत भावना है "स्वतंत्रता"। सामान्यतया यह कहा जाता है कि इस "स्वतंत्रता" का उपभोग केवल इसी (प्रजातंत्रात्मक) शासन-व्यवस्था में किया जा सकता है—और प्रायेण यह भी कहा जाता है कि सब प्रजातंत्रों का यही लक्ष्य है। स्वतंत्रता के बहुत से प्रकारों में से एक प्रकार यह (भी) है

कि वारी वारी से शासित और शासक होना ; एवं जनतंत्रात्मक न्याय की भावना है संख्यानुसार समानता को प्राप्त करना, न कि योग्यता के अनुपात में समानता को प्राप्त करना । न्याय की इस (संख्यात्मक) भावना के आधार पर जनसमूह ही अनिवार्यतया सर्वोच्च सत्ताधारी होना चाहिये ; तथा जो कुछ बहुसंख्यक जनता को प्रिय लगे वही चरम लक्ष्य और न्याय होना चाहिये । यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिक को (अन्य नागरिकों की) वरावरी प्राप्त होनी चाहिये । इसका परिणाम यह होता है कि (क्योंकि निर्धन लोगों की संख्या अधिक होती है और बहुमत ही सर्वोपरि होता है) प्रजातंत्र में निर्धन लोग धनवानों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं । यह स्वतंत्रता का प्रथम (एक) चिह्न है जिसको सभी प्रजातंत्रवादी अपने इष्ट शासनतंत्र का लक्ष्य बनाने के विषय में एकमत हैं । स्वतंत्रता का दूसरा रूप (नागरिक) है, प्रत्येक व्यक्ति जैसा चाहे वैसा जीवन-यापन कर सके । उन (प्रजातंत्रवादियों) का कहना है कि इस प्रकार का जीवन स्वतंत्र मनुष्य की विशिष्ट वृत्ति है, जिस प्रकार दास के जीवन की वृत्ति जैसा चाहे वैसा जीवन व्यतीत न कर सकना है । यह जनतंत्र का दूसरा लक्षण है । इसका परिणाम यह निकलता है कि आदर्शरूपेण (अथवा जहाँ तक संभव हो) मनुष्य किसी से भी शासित न हों; पर यदि ऐसा संभव न हो तो वह पर्यायक्रम से शासन करे और शासित हो । यह दूसरा लक्षण इस प्रकार से समानता के आधार पर आश्रित स्वतंत्रता के प्रति अंशदान प्रदान करता है ।

ऐसी तो इस प्रजातंत्र की आधारभूत भावना है और ऐसा इसका आदिमूल है जिससे इसका विकास होता है (अतएव) इन्हीं तथ्यों के आधार पर हम अब इसके घटक लक्षणों अथवा संस्थाओं का विवेचन आरंभ कर सकते हैं । (शासनकार्य-संपादन विभाग में) शासनपदाधिकारी सब जनता में से सबके द्वारा चुने जाते हैं ; सब प्रत्येक व्यक्ति पर शासन करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी वारी आने पर सब पर शासन करता है । सब पदों पर, अथवा कम से कम ऐसे पदों पर, जिनके लिये अनुभव-विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, गुटिका द्वारा नियुक्ति होती है; शासन-पदों के लिये या तो विलकुल ही आर्थिक योग्यता आवश्यक नहीं होती, अथवा बहुत ही कम आर्थिक योग्यता आवश्यक होती है । एक ही व्यक्ति एक ही पद पर दो वार अथवा अधिक वार आरूढ़ नहीं हो सकता, अथवा सैनिक-विभाग के पदों को छोड़कर इस नियम के बहुत कम अपवाद हैं । या तो सभी पदों का या जितने अधिक से अधिक पदों का (संभव हो) कार्यकाल बहुत थोड़ा होना चाहिये । (न्यायविभाग में) सार्वजनिक न्यायालयों की प्रथा हुआ करती है, जो समग्र जनता द्वारा घटित होते हैं 'अथवा सारी जनता में से

चुने हुए व्यक्तियों द्वारा घटित होते हैं, जिनको सभी बातों (मामलों) का निर्णय करने का अधिकार होता है; अथवा अधिकांश बातों का (जो अत्यन्त महान् तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, जैसे कि सरकारी बहीखातों की पड़ताल, शासन-व्यवस्था संबंधी मामले तथा व्यक्तिगत ठेके और ठहराव इत्यादि का) निर्णय करने का अधिकार होता है। विचार-परिषद् अथवा मंत्रणा-परिषद् के विषय में यह नियम है कि वह सब विभागों के ऊपर सत्ताशालिनी होती है, अथवा कम से कम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातों में तो इसकी सत्ता सर्वोपरि होती ही है; इसके प्रतिकूल शासनकार्यवाहों (मजिस्ट्रेटों) को किसी विषय पर सत्ता प्राप्त नहीं होती—अथवा कम से कम विषयों पर प्राप्त होती है।

शासनकार्य-विभाग में सबसे अधिक जनतंत्रात्मक (जनप्रिय) संस्था (जहां कहीं विचार-परिषद् में सब मनुष्यों की उपस्थिति के लिये वेतन देने के लिये पर्याप्त धन नहीं होता) कार्यसमिति होती है।[३] पर जहाँ (विचार-परिषद् में उपस्थित होने के लिये समग्र) जनता को वेतन या भृति देने की पर्याप्त व्यवस्था होती है वहां कार्यसमिति अपनी सत्ता (शक्ति) से वंचित हो जाती है; क्योंकि जहां साधारण जनता को वेतन मिला वे (तत्काल) सब बातों का निर्णय अपनी मुट्ठी में करना आरंभ कर देते हैं; जैसा कि मैं एक पूर्व अधिकरण की विवेचना में वर्णन कर चुका हूं।[४] यह वेतन की व्यवस्था प्रजातंत्र का एक और विशिष्ट लक्षण है। अधिक अच्छी बात (आदर्शस्थिति) यह मानी जाती है कि सबको—विचार-परिषद् (नगरसभा), न्याय-परिषद् तथा शासनकार्यवाह मण्डल (मजिस्ट्रेट) को—यथासंभव वेतन मिले। पर यदि ऐसा संभव न हो तो कम से कम न्यायालय, समिति, तथा परिषद् की नियत बैठकों में उपस्थित होने के लिये, और शासनपदाधिकारियों की उपसमितियों में सेवार्थ उपस्थित होने के लिये, अथवा कम से कम ऐसी उपसमितियों में उपस्थिति के लिये जिनके सदस्यों के लिये सहभोज अनिवार्य है, भृति अवश्य मिलनी चाहिये। (फिर इसके अतिरिक्त जब कि धनिकतंत्र के लक्षण हैं आभिजात्य, सम्पन्नता और संस्कृति = शिक्षा, जनतंत्र के लक्षण इसके विपरीत नीच कुल में जन्म, निर्धनता और गँवारूपन हैं)।[५] प्रजातंत्र का एक अन्य लक्षण आजीवन (सार्वकालिक) पदाधिकार का न होना है; अथवा यदि पुरातन शासन-व्यवस्था के परिवर्तन-काल से कोई ऐसे आजीवन पदाधिकार शेष बच रहे हों तो उनकी शक्ति को सर्वथा कम कर देना चाहिये तथा इन पदों पर गुटिका द्वारा नियुक्ति की जानी चाहिये, मतदान द्वारा नहीं।

यह उपर्युक्त लक्षण सव प्रजातंत्रों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। पर जनतंत्र और जनता जैसे कि वह अपने सामान्यतया ठीक समझे जानेवाले रूप में माने जाते हैं उस प्रजातंत्रात्मक न्याय की भावना के साथ संवंध रखते हैं जो सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है—अर्थात् संख्या के आधार पर सवके अधिकारों की समानता। इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्धन लोगों को धनवानों की अपेक्षा शासनकार्य का अधिक भाग प्राप्त होना चाहिये ; दूसरे शव्दों में यह कह सकते हैं कि समग्र शासनसत्ता केवल निर्धन लोगों के ही हाथ में नहीं होनी चाहिये प्रत्युत संख्या के आधार पर सत्ता सव में वरावर वँटी होनी चाहिये। इस व्याख्या के आधार पर ही (प्रजातंत्र के पक्षपाती) मान ले सकते हैं कि उनकी शासन-पद्धति के द्वारा समानता और स्वतंत्रता प्राप्त कर ली गई है।

टिप्पणियाँ

१. विचारपरिषद् के लिये "एक्लेसिया" शव्द का प्रयोग किया गया है।

२. कार्य-समिति के लिये मूल में "वूले" शव्द आया है। अथेन्स की 'वूले' के सदस्यों की संख्या ५०० थी।

३. पुस्तक ४ खंड १५ में।

४. इस वाक्य को प्रक्षिप्त समझा जाता है।

३

समानता की उपलब्धि के उपाय

इसके उपरान्त यह प्रश्न आता है कि "इस समानता को वास्तविकता में किस प्रकार प्राप्त किया जाय ?"[1] क्या ५०० धनवान् मनुष्यों की सम्पत्ति को १००० निर्धन मनुष्यों में वाँट देना चाहिये और क्या हमको ५०० और १००० व्यक्तियों को समान मतदान की शक्ति प्रदान कर देना चाहिये ? अथवा यदि इस ढंग को स्वीकार न किया जाय, तो भी क्या हमको इस समानता को स्थिर रखना चाहिये; पर विभाजन इस प्रकार करना चाहिये कि वरावर वरावर संपत्तिवाले इन पाँच सौ और १००० व्यक्तियों के जत्थों में से वरावर वरावर संख्या में प्रतिनिधि चुन लिये जायँ और इन प्रतिनिधियों को ही (शासन-पदाधिकारियों) के चुनाव तथा न्यायालयों पर अधिकार दे दिया जाय ? तो क्या इस प्रकार की शासन-व्यवस्था, प्रजातंत्र द्वारा गृहीत न्याय की धारणा के अनु-

सार अधिक न्यायोचित है अथवा वह व्यवस्था जो कि केवल संख्या के आधार पर आश्रित है ? (क्योंकि उपर्युक्त दोनों सुझावों में व्यवस्था संपत्ति पर आश्रित है।) प्रजातंत्रवादी इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि न्याय वह है जिसके पक्ष में बहुमत हो, धनिकतंत्रवादी कहते हैं कि जिसके पक्ष में सम्पत्तिशालियों का बहुमत हो वह न्याय है. वे यह भी कहते हैं कि निर्णय संपत्ति की मात्रा के आधार पर किये जाने चाहिये। इन दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ असमानता और अन्याय (अनौचित्य) है। क्योंकि यदि अल्पमत की इच्छा ही न्याय हो तो इसका परिणाम अन्ततोगत्वा अधिनायकतंत्र होगा; और यह इस प्रकार कि यदि हम धनिकतंत्री न्याय की धारणा का अन्त तक अनुसरण करें और उसके तर्कसम्मत परिणाम का विचार करें तो उस व्यक्ति को अकेले शासन करने का अधिकार मिलेगा जो अन्य व्यक्तियों की समग्र सम्पत्ति से भी अधिक सम्पत्ति का स्वामी हो। दूसरी ओर यदि बहुमत की इच्छा ही न्याय हो तो, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, यह बहुमत निश्चयमेव अन्यायपूर्वक काम करेगा और अल्पमतवाले सम्पत्तिशाली लोगों की सम्पत्ति का अपहरण कर उसको सार्वजनिक संपत्ति बना देगा।

दोनों पक्षों द्वारा प्रतिपादित न्याय की परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए अब हमको यह देखना चाहिये कि वह कौन सी समानता हो सकती है जिसके विषय में दोनों पक्ष एकमत हों ? दोनों पक्षों का एक मत से कहना है कि नागरिकों के बहुमत की इच्छा सर्वोपरि होनी चाहिये। यह बात हमको स्वीकार है—पर पूर्णतया नहीं, क्योंकि राष्ट्र दो वर्गों—धनिक वर्ग और निर्धन वर्ग—से घटित होता है, अतएव हम दोनों वर्गों की इच्छा को अथवा दोनों के बहुमत को सर्वोपरि सत्ता मान सकते हैं। पर यदि दोनों पक्षों का मत परस्पर विरोधी हो तो हम ऐसे बहुमत को सर्वोपरि सत्ताशाली मानेंगे जो अधिकांश संपत्ति का भी स्वामी होगा। उदाहरण के लिये मान लो कहीं १० व्यक्ति धनवान् हैं और २० निर्धन : अब कल्पना करो कि धनवानों में से ६ ने निर्धनों में १५ के विरुद्ध मत (निर्णय) दिया है, इसका तात्पर्य यह निकला कि धनवानों में से ४ का अल्पमत निर्धनों में से १५ के बहुमत के साथ एकमत है और निर्धनों में से ५ का अल्पमत धनवानों के बहुमत के साथ सहमत है। ऐसी स्थिति में वह पक्ष सर्वोपरि सत्ताशाली माना जाना चाहिये जिसके सदस्य या घटक दोनों तत्त्वों के जोड़ने पर दूसरे पक्ष के सदस्यों अथवा घटकों की अपेक्षा अधिक संपत्तिशाली हों। यदि दोनों पक्ष पूर्णतया समान हों तो अवरोध उत्पन्न हो जायगा, पर यह कठिनाई तो वैसी ही कठिनाई होगी (उससे अधिक बुरी कठिनाई नहीं होगी) जैसी आजकल नगर-परिषद् अथवा न्यायालय में दो समान पक्षों में मत-विरोध उत्पन्न होने पर

सामान्यतया उत्पन्न हो जाया करती है। ऐसी परिस्थिति में गुटिका द्वारा अथवा किसी ऐसे ही अन्य उपाय द्वारा निर्णय करना पड़ता है।

परन्तु फिर भी यद्यपि समता और न्याय के प्रसंग में सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि मे सत्य को खोज निकालना कठिन काम है, पर शक्तिशाली लोगों को अपने भाग से अधिक न हड़प लेने को मनाने की अपेक्षा यह कार्य सरलतर है, क्योंकि दुर्वल लोग सर्वदा समता और न्याय के लिये अनुसंधान करते रहते हैं पर वलवान् लोग इन दोनों में से किसी की तनिक भी चिन्ता नहीं करते।

टिप्पणी

१. इस विषय में अरिस्तू का सुझाव यह है कि साम्पत्तिक योग्यता की पड़ताल करके सब नागरिकों के जत्थे बना देने चाहिये जो अपने समूह में से इष्ट मात्रा में कर प्रदान करेंगे और शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त करेंगे। इस प्रकार की प्रथा ई० पू० ३७७ में अथेन्स में प्रचलित थी। सारी नागरिक जनता की साम्पत्तिक क्षमता १४ लाख पौंड कूती गई थी और जनता १०० जत्थों में बाँट दी गई थी। यह जत्थे समान मात्रा में कर प्रदान करते थे। मान लीजिये कि जत्था ऐसे व्यक्तियों का था जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति की साम्पत्तिक योग्यता १४० पौड थी और दूसरा जत्था ऐसा था जिसमें प्रत्येक की आर्थिक योग्यता ३५ पौंड थी तो प्रथम जत्थे के मनुष्यों की संख्या दूसरे जत्थे के मनुष्यों की संख्या से १/४ होगी।

४

जनतंत्रों की स्थापना की विधियाँ

प्रजातंत्र के चार प्रकारों में से सर्वोत्तम प्रकार वह है जो (जैसा कि हमारे विवेचन में पहले ही वतलाया जा चुका है) इनके वर्गीकरण में सवसे प्रथम आता है।[१] यही सव प्रकारों में सवसे पुराना भी है। मैं उसको प्रथम जो कह रहा हूँ वह तो विभिन्न प्रकार की जनता के कोटिक्रम के अनुसार कह रहा हूँ। सर्वोत्तम जनता कृपक लोगों से घटित होती है[२]; कारण यह है कि जहाँ अधिकांश जनता कृषि द्वारा अथवा पशु-चारण द्वारा जीवन-यापन करती है वहाँ जनतंत्र का निर्माण सरल कार्य होता है (शब्दशः वहाँ प्रजातंत्र वनाना संभव होता है।) क्योंकि इन लोगों के पास अधिक धन नहीं होता

इसलिए उनके पास अवकाश नहीं होता (वे प्रायः कार्यों में संलग्न रहते हैं) और इसी कारण वे प्रायः परिषदों के रूप में एकत्रित नहीं होते। उनके पास जीवन की आवश्यकताएँ न होने के कारण वे अपना सारा समय काम में लगे हुए व्यतीत किया करते हैं तथा दूसरों की संपत्ति के प्रति ईर्ष्यालु नहीं होते। वास्तव में उनको तो राजनीतिक कार्य और शासन-कार्य की अपेक्षा अपना कार्य ही अधिक आनन्द-प्रद प्रतीत होता है जब तक कि शासन-कार्य में फँसने पर महान् लाभ प्राप्त न हो। जनसमूह सम्मान की अपेक्षा (धन-) लाभ का अधिक लालची हुआ करता है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने प्राचीन काल के अधिनायकतंत्रों को धैर्यपूर्वक सह लिया और धनिकतंत्र को भी सह रहे हैं, बशर्ते कि वे उनके कार्यों में रुकावटें न डालें तथा उनको उनकी सम्पत्ति से वंचित न करें, क्योंकि (सुअवसर मिलने पर) कुछ तो उनमें से बड़ी शीघ्रता से धनवान् बन जाते हैं और कुछ कम से कम निर्धन न रहकर अच्छे खाते-पीते हो जाते हैं। यदि इन (साधारण लोगों) को सम्मान इत्यादि की कोई आकांक्षा भी होती है तो उसके अभाव की पूर्ति शासन-पदाधिकारियों (मजिस्ट्रेटों) के चुनाव, तथा उनके कार्य की पड़ताल के अधिकार की प्राप्ति से हो जाती है। कुछ प्रजातंत्रों में तो यद्यपि उनको शासन पदाधिकारियों में भाग प्राप्त नहीं है; प्रत्युत यह अधिकार जनता में से बारी बारी से चुने हुए व्यक्तियों को प्राप्त है; जैसा कि मन्तिनेइया[1] नगर में होता है, तो भी यदि उनको विचारपरिषद् में राष्ट्रहित का विचार करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वे संतुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार की शासन-पद्धति भी प्रजातन्त्रात्मक ही मानी जानी चाहिये; और मन्तिनेइया नगरी में यह ऐसी ही मानी जाती थी।

अतएव उपादेयता और प्रचलित व्यवहार दोनों ही की दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है कि इस उपर्युक्त (प्रथम) प्रकार के प्रजातंत्र में शासन-पदाधिकारियों को चुनने का, उनके कार्य की पड़ताल करने का तथा न्यायालयों में बैठने का अधिकार सबको प्राप्त होना चाहिये; दूसरी ओर उच्च (महान्) शासन-पदों पर चुनाव के द्वारा नियुक्तियाँ होनी चाहिये तथा वे केवल उन्हीं लोगों में से चुने जाने चाहिये जो आर्थिक योग्यता रखते हों; जो पद जितना ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो उसके लिये आर्थिक योग्यता भी उतनी ही अधिक हो सकती है; अथवा इसका एक विकल्प यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त पदों के लिये किसी आर्थिक योग्यता की आवश्यकता न समझी जाय प्रत्युत विशिष्ट-योग्यता-सम्पन्न व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाय। जो राष्ट्र इस प्रकार शासित होगा वह अवश्यमेव सुशासित होगा। (उसके पद श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथों में होंगे; जनता अपना मत सहर्ष उनको प्रदान करेगी और कोई भी सज्जन

व्यक्तियों से ईर्ष्या नहीं करेगा)। इस प्रबंध से गुणवान् एवं गण्यमान्य व्यक्ति भी संतुष्ट रहेंगे, क्योंकि वे दूसरे एवं अयोग्य व्यक्तियों के द्वारा शासित होने से बच जायँगे, तथा अन्य लोगों को इन (गुणवान एवं गण्यमान्य व्यक्तियों के कार्य की पड़ताल का अधिकार प्राप्त होने के कारण) ये लोग स्वयं न्यायपूर्वक शासन-कार्य करेंगे। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहना तथा जैसा मन चाहे वैसा सब कुछ न कर पा सकना लाभदायक है। मनमाना करने की शक्ति प्राप्त हो जाने पर तो प्रत्येक मनुष्य में छिपी हुई जो बुराइयाँ हैं उनसे रक्षा का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। (परन्तु) उत्तर-दायित्व (=पारस्परिक निर्भरता) के सिद्धान्त के व्यवहार से राष्ट्र में जो सर्वोत्तम कल्याण है उसकी उपलब्धि होती है। शासन-कार्य योग्य (=गुणवान्) लोगों के द्वारा चलाया जाता है, तथा वे गलती करने से बचे रहते हैं; एवं साधारण जनसमूह को भी उनके उचित अधिकार प्राप्त रहते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र का यह (कृषिप्रधान जनसमुदाय पर आश्रित) प्रकार सर्वश्रेष्ठ है। तथा ऐसा क्यों है इसका कारण भी स्पष्ट है—अर्थात् यह शासन-पद्धति जिस जनसमूह पर आश्रित है वह एक विशिष्ट प्रकार का है। कुछ पुराने कानून जो कि पुरातन काल में सामान्यतया प्रचलित थे वे सब के सब कृषिप्रधान जनता के निर्माण के लिये उपयोगी हो सकते हैं; उदाहरणार्थ, इन नियमों के अनुसार भूमि की एक निश्चित मात्रा से अधिक पर अधिकार करने का बिलकुल निषेध था; अथवा कम से कम नगर के केन्द्र अथवा नगर की चतुर्दिक् सीमा से एक निश्चित दूरी तक तो भूमि पर अधिकार रखने का निषेध था ही। पुराने समय में बहुत से नगर-राष्ट्रों में ऐसे नियम थे कि कोई भी अपने कुल की मूलतः प्राप्त भूमि के भाग को न बेचे। (ऐलिस नामक नगर में) भी इसी प्रकार का नियम है जो ऑक्षीलस का बनाया कहा जाता है। प्रत्येक भूस्वामी की धरती के एक निश्चित भाग पर गिरवीं रखकर धन ऋण नहीं लिया जा सकता।[४] (इस प्रकार के कानूनों के अभाव से जो त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं) उनके सुधार के लिये अकीतिस् नगर का नियम उपयोगी है, (क्योंकि) इससे हमारे उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि संभव है।[५] इस नगर के निवासी, यद्यपि संख्या में बहुत अधिक हैं, एवं उनके पास भूमि भी थोड़ी ही है, तथापि वे सब ही कृषिकर्म करते हैं। इसका कारण यह है कि उस नगर में जागीरों का मूल्यांकन पूरी पूरी इकाइयों के रूप में नहीं होता; प्रत्युत मूल्यांकन के लिये जागीरों को ऐसे छोटे छोटे खंडों में विभक्त किया गया है कि निर्धन भूस्वामी भी (नागरिकता के अधिकार की प्राप्ति के लिये आवश्यक आर्थिक योग्यता से) अधिक मूल्य का भूस्वामी है।

कृपक जनता के उपरान्त श्रेष्ठता में दूसरे स्थान पर पशुचारक जनता है जो कि पशुओं के समूह को चराकर अपनी जीविका चलाती है। इनके बहुत से लक्षण तो कृपक जनतासे मिलते-जुलते होते हैं; पर अपनी सुदृढ़ शरीर-दशा और खुले में रहने की सामर्थ्य के कारण यह लोग युद्ध के लिये विशेष प्रकारसे शिक्षित और कठोर हो जाते हैं। अन्य प्रकारकी लगभग सभी जनताएँ जिनसे अन्य प्रकारके जनतंत्र निर्मित होते हैं, इनकी अपेक्षा बहुत निम्न कोटिकी होती है; क्योंकि उनका जीवन इनकी अपेक्षा निचली कोटि का होता है। ये जनताएँ जिन व्यवसायों का (जीविकार्थ) अनुसरण करती हैं—चाहे वे शिल्पी हों, व्यापारी हों अथवा दैनिक श्रम करनेवाले श्रमजीवी—उनमें सद्-वृत्ति की उत्तमता के लिये कोई अवकाश नहीं रहता। इसके अतिरिक्त, इस वर्ग की जनता, नगर के हाट के और केन्द्र के आसपास चक्कर लगाने के कारण, यों कहिये, बड़ी सरलता से नगर-परिषद् की बैठकों में एकत्र उपस्थित हो जाती है। दूसरी ओर इसके विपरीत कृपक लोग हैं, जो देहात में बिखरे होने के कारण न तो बहुधा एकत्रित ही होते हैं और न इस प्रकार की संगति (अथवा समाज) की आवश्यकता का ही अनुभव करते हैं। जहाँ कृषियोग्य भूमि की स्थिति ऐसी होती है कि वह नगर से बहुत दूर तक फैली होती है तो वहाँ ऐसी स्थिति में एक अच्छे प्रजातंत्र अथवा 'व्यवस्था-तंत्र' की स्थापना या निर्माण का कार्य सरल हो जाता है; क्योंकि ऐसी स्थिति में कृपक-समुदाय को अनिवार्यतया अपना निवास-स्थान नगर से बाहर अपने खेतों में बनाना पड़ता है। और यदि इसके पश्चात् ही नागरिक जनसमुदाय शेष रहे तो ऐसा (नियम) होना चाहिये जनतंत्र व्यवस्था में नगर-परिषद् की ऐसी बैठकें नहीं हो सकतीं जिनमें समग्र भूजीवी कृपक-समुदाय उपस्थित न हो सके।

इस प्रकार, इस बात का वर्णन हो चुका कि प्रजातंत्र के प्रथम एवं श्रेष्ठ भेद की स्थापना किस प्रकार की जानी चाहिये। (उपर्युक्त वर्णन से) यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि अन्य प्रकारों की स्थापना किस प्रकार होनी चाहिये। वे (अन्य) प्रकार उस उपर्युक्त श्रेष्ठ प्रकार से, प्रत्येक पग पर निचली श्रेणी की जनता के समावेश के कारण क्रमशः अधिक दूर पड़ते जायँगे।

प्रजातंत्र का अन्तिम भेद, जिसमें सब प्रकार के समुदाय समान रूप से समाविष्ट रहते हैं, ऐसा है जिसको सब नगर वहन (भरण) नहीं कर सकते, तथा जो स्वयं, (यदि नियमों और रीतियों के आधार पर ठीक ठीक संचालित न हो) स्थायी नहीं हो सकता। जिन कारणों से इस और दूसरी शासन-व्यवस्थाओं का विध्वंस (विनाश)

घटित होता है वे अधिकांश में पहले ही (पाँचवीं पुस्तक में) वर्णन किये जा चुके हैं। इस प्रकार के जनतंत्र की स्थापना करने के लिये तथा नागरिक जनसमुदाय को प्रवल वनाने के लिये नेताओं की यह प्रवृत्ति रही है कि नागरिक वर्ग में अधिक से अधिक संख्या की वृद्धि करें। वे न केवल उन लोगों को नागरिक वना लेते हैं जो नागरिकों की वैध सन्तान हैं, प्रत्युत उनको भी जो वैध नागरिक सन्तान नहीं हैं तथा जिनके माता पिता में से केवल एक ही—चाहे पिता अथवा माता—नागरिक था। वास्तविक वात तो यह है कि ऐसे जनतंत्र में इस प्रकार के (उपर्युक्त प्रकार के) सभी प्रवन्ध भले ठहरते हैं। इस प्रकार के प्रजातंत्र की स्थापना के लिये लोकनायक इसी मार्ग का अनुसरण किया करते हैं; जव कि ग्रहण करने योग्य उचित मार्ग यह होना चाहिये कि नागरिकों की संख्या में तव वृद्धि की जाय जव कि सामान्य जनता की संख्या गण्यमान्य लोगों और मध्यवित्त लोगों की सम्मिलित संख्या से वढ़ जाय—इस सीमा से परे जाना ही नहीं चाहिये। जव जनता की संख्या में इस अनुपात का अतिक्रमण हो जाता है तो वह शासन-व्यवस्था को अव्यवस्थित कर देता है; तथा गण्यमान्य व्यक्तियों को अधिक उग्र और उत्तेजित करके प्रजातंत्र का विरोधी वना देता है—अर्थात् ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देता है जैसी कि कीरीनी नगर में विप्लव का कारण हुई थी।[६] अल्पमात्र वुराई की तो उपेक्षा की जा सकती है; पर वहुत अधिक वढ़ जाने पर तो वह दृष्टिगोचर हो ही जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय जो इस प्रकार के प्रजातंत्र की स्थापना के लिये उपयोगी हैं वे उपाय हैं जिनका उपयोग क्लैस्थिनीस ने जनतंत्र की शक्ति को वढ़ाने की इच्छा से अथेन्स में किया था, अथवा जिनका उपयोग कीरीनी में जनप्रिय प्रजातंत्र के संस्थापकों ने किया था। इन उपायों का तात्पर्य यह है कि (पुरानी विरादरियों के साथ साथ) नई विरादरियों और कवीलों की स्थापना की जानी चाहिये। कुटुम्वों की व्यक्तिगत विधियों[७] की काट-छाँट कर उनकी संख्या कम कर दी जानी चाहिये और वे सार्वजनिक (केन्द्रों पर केन्द्रित) कर देनी चाहियें। ऐसी सव युक्तियों से काम लिया जाना चाहिये जिससे सारे नागरिक अधिक से अधिक परस्पर मिल-जुल सकें, और पुरानी प्रथाओं और भावनाओं से अपना नाता तोड़ सकें। फिर, अधिनायकतंत्र द्वारा उपयुक्त सभी उपाय जनतंत्र के स्वभाव के भी उतने ही अनुकूल समझे जा सकते हैं; उदाहरण के लिये हम दासों की स्वच्छन्दता का (जो कि एक सीमा तक लाभदायक हो सकती है) तथा स्त्रियों और वच्चों की स्वतंत्रता का उल्लेख कर सकते हैं। इसी प्रकार मनमाने ढंग से जीवन विताने की नीति की उपेक्षा करने का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार की नीति वरतनेवाली व्यवस्था के वहुत से सहायक हो जाते हैं।

अधिकांश लोग संयत जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा अव्यवस्थित जीवन को अधिक प्रिय (मधुर) समझते हैं।

टिप्पणियाँ

१. यहाँ से विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के निर्माण की विधि का विवेचन आरंभ होता है।

२. अरिस्तू के हृदय में कृषकों और कृषिकर्म के प्रति ममता है।

३. मन्तिनेइया नगरी आर्कादिया प्रदेश में है। इसकी व्यवस्था का वर्णन अरिस्तू ने ठीक नहीं दिया है। वहाँ प्राथमिक परिषद् विचार करने के लिये थी। तथा प्रतिनिधि संसद का उपयोग शासन-पदाधिकारियों के अप्रत्यक्ष चुनाव के लिये होता था।

४. मूल में 'ऐलिस' का नाम नहीं आया है। पर 'ऐलिस' निवासी ऑक्सीलस् के नाम से अनुमान किया जाता है कि यह नियम ऐलिस नगर में रहा होगा। ऐलिस पैलोप.नेसस् के उत्तर पश्चिम में है।

५. अफीतिस् नगर ग्रीकजगत् के उत्तरी भाग में था।

६. कीरीनी अथवा कीरेने नगरी अफ्रीका के उत्तर में लीबिया प्रदेश में थी। ई० पू० ४०१ में इस नगरी में लगभग ६०० धनिक लोग मार डाले गये। बहुत से धनवान् नगर छोड़कर भाग गये। इसके पश्चात् दोनों वर्गों (धनवान् और निर्धन) वर्गों में भयंकर रक्तरंजित संग्राम हुआ। दोनों पक्षों के बहुत से लोग मारे गये। पर अन्त में धनवानों को लौटकर नगर में बस जाने दिया गया।

७. यूनान में जातियों, कबीलों और यजनमंडलों में बहुत से अनुष्ठान होते थे। अरिस्तू इनको घटाने के पक्ष में था।

५

जनतंत्र की रक्षा और स्थायित्व के उपाय

नियम बनानेवालों (स्मृतिकारों) का तथा उन लोगों का, जो इस (आत्यन्तिक) प्रकार की शासन-व्यवस्था की स्थापना करने के इच्छुक हैं केवल इस व्यवस्था की स्थापना करना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है।[1] प्रत्युत इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय। एक, अथवा दो, अथवा तीन दिन तो सभी व्यवस्थाएँ टिक सकती हैं चाहे वे कितनी ही बुरी प्रकार से निर्मित क्यों न हों।

इसलिये नियम वनानेवालों को यह चाहिये कि वे शासन-व्यवस्थाओं की रक्षा तथा विघटन (विनाश) के संबंध में पूर्व-वर्णित सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर दृढ़ता के निर्माण (की स्थापना) का उद्योग करें। उनको विनाशकारी तत्त्वों के विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये; तथा ऐसे नियमों को—चाहे तो वे अलिखित (=लोकाचार में प्रचलित) हों अथवा लिखित हों—निर्धारित करना चाहिये कि जिनमें सव रक्षणात्मक तत्त्वों का संग्रह हो। उनको यह नहीं मानना चाहिये कि प्रजातंत्र एवं धनिकतंत्र के लिये एक समान सच्ची नीति वह है जो उनको अधिक से अधिक मात्रा में जनतंत्रात्मक अथवा धनिकतंत्रात्मक बनाती है, प्रत्युत वह है जो उन दोनों को दीर्घतम काल तक स्थायी वनाती है। आजकल के लोकनायक, साधारण लोकवर्ग को प्रसन्न करने के लिये, न्यायालयों के द्वारा वहुत-सी सम्पत्ति को लोकायत्त कर लेते हैं। पर जो अपनी शासन-व्यवस्था का हित-चिन्तन करते हैं उनको इस प्रकार की नीति का निराकरण करना चाहिये; उनको ऐसा कानून बनाना चाहिये कि न्यायालय द्वारा दण्ड्यमान व्यक्तियों का दण्डशुल्क न तो लोकायत्त हो और न सार्वजनिक कोप में सम्मिलित किया जाय प्रत्युत देवधन वना दिया जाय। ऐसा करने से एक ओर तो अपराध करनेवाले इस समय की अपेक्षा कम सावधान नहीं होंगे, क्योंकि उनको तो दण्डशुल्क देना पड़ेगा ही; और दूसरी ओर, क्योंकि जनसमूह को कोई लाभ नहीं होगा अतएव वह सव अभियुक्तों को दंडित करने के लिये कम प्रवृत्त होंगे। सार्वजनिक अभियोग कम से कम संख्या में होने चाहिये; एवं अभियोक्ताओं को विना विचारे अभियोगों को प्रस्तुत करने से रोकने के लिये भारी दण्ड दिया जाना चाहिये। इस प्रकार के अभियोग साधारण लोगों के विरुद्ध लगाये नहीं जाते प्रत्युत गण्यमान्य लोगों के विरुद्ध ही प्रायेण लगाये जाते हैं। किन्तु उचित रीति तो यह है कि सभी नागरिक लोग शासन-व्यवस्था के प्रति और तदनुमोदित शासनतंत्र के प्रति श्रद्धावान् हों; यदि ऐसा न हो तो कम से कम इतना तो होना चाहिये कि जनसाधारण शासन-सत्ताधारियों को अपना शत्रु तो न मानें।

क्योंकि, जनतंत्र के अन्तिम प्रकार में नागरिक जनता की संख्या वहुत अधिक होती है और विना वेतन दिये नागरिक परिषद् में जनता का उपस्थित होना कठिन होता है; अतएव जब तक शासनतंत्र के पास वेतन देने के लिये कोप में पर्याप्त धन न हो इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का व्यय-भार गण्यमान्य लोगों पर ही पड़ता है (और उनको वुरा लगता है)। क्योंकि आवश्यक धन, सम्पत्ति पर कर लगाकर, धन को लोकायत्त करके और न्यायालय की दूपित प्रवृत्तियों से प्राप्त किया जायेगा; तथा यह सव

वही बातें हैं जो भूतकाल में अनेको जनतंत्रों के विनिपात का कारण हुई हैं; (इससे यह निष्कर्ष निकला) कि जहाँ राजस्व की आय पर्याप्त न हो वहां नगर-परिषद् की बैठकें बहुधा नहीं होनी चाहिये तथा न्यायालयों के पारिषदों की संख्या अधिक होनी चाहिये पर उनकी बैठकें थोड़े दिनों तक ही चलनी चाहिये। इस पद्धति से दो लाभ होंगे; प्रथम तो यह कि यद्यपि स्वयं धनवान् लोगों को वेतन न भी दिया जाय, केवल निर्धन लोगों को ही दिया जाय, तो भी धनवान् लोग इस व्यय से डरेंगे नहीं (क्योंकि यह व्यय अधिक नहीं होगा); दूसरे यह कि न्यायालयों में व्यवहारों का निर्णय अपेक्षाकृत बहुत अच्छा हुआ करेगा; क्योंकि यद्यपि धनवान् लोग अपने निजी व्यवसायों से बहुत दिनों तक दूर नहीं होना चाहते तथापि थोड़े से दिनों के लिये अनुपस्थित रहने से अधिक चिन्तित नहीं होते (अतएव यदि न्यायालय की बैठकें थोड़े दिन चलें तो वे इनमें उपस्थित होना चाहते हैं।) दूसरी ओर जहाँ राष्ट्र के पास पर्याप्त धन हो तो आजकल लोक-नायकों द्वारा जो नीति बरती जाती है उसका वर्जन किया जाना चाहिये. उनकी नीति तो बचे हुए धन को साधारण लोगों में बाँट देने की होती है। साधारण लोगों की यह दशा है कि ज्यों ही उनको कुछ प्राप्त होता है त्यों ही वे फिर और मांगने (चाहते) हैं; इस प्रकार उनकी सहायता करना फूटे घड़े को भरने के प्रयत्न समान है। तथापि सच्चे जनतंत्रवादी (सच्चे जनता के मित्र) को यह ध्यान रखना चाहिये कि साधारण जन-समूह अत्यन्त निर्धन न हों; क्योंकि अत्यन्त निर्धनता प्रजातंत्र की दुरवस्था का कारण होती है। अतएव ऐसे उपाय काम में लाये जायँ जिनसे दीर्घ काल तक उनकी समृद्धि बनी रहे। क्योंकि यह सभी वर्गों के लिये लाभदायक है और धनवानों के लिये भी (लाभदायक है) अतएव उत्तम नीति यह है कि बचे हुए राजस्व को इकट्ठा कर लिया जाय और तब अच्छी राशि में उसको निर्धन लोगों में बांट दिया जाय। (यदि पर्याप्त धन एकत्रित किया जा सके) तो वितरण करने का सबसे अच्छा प्रकार यह होगा कि इतना धन प्रदान किया जाय जो छोटा-सा खेत खरीदने के लिये पर्याप्त हो; यदि इतना न हो सके तो इतना धन प्रदान किया जाय जो उनको कोई व्यवसाय अथवा खेती-बारी का कार्य आरंभ करने के योग्य बना दे। यदि इस प्रकार का दान सब को एक साथ न दिया जा सके तो बारी-बारी से वर्गशः अथवा अन्य किसी विभाजन-विधि के अनुसार उसको वितरित करना चाहिये; इसी बीच में धनवानों को, निर्धन लोगों की परिषद् में अनिवार्य उपस्थिति के निमित्त भत्ता देने के लिये धन प्रदान करना चाहिये, और इसके बदले उन (सम्पत्तिशाली व्यक्तियों) को व्यर्थ की सामाजिक सेवाओं (जैसे कि नाटकीय उत्सवों में गायक-मंडली—खोड़िये—का प्रबन्ध करने) से छुटकारा मिल जाना

चाहिये। कुछ इसी प्रकार की नीति का अनुसरण करते हुए कार्खीदोन (कार्थेज) की सरकार ने जनता के प्रेम को अपने वश में कर रक्खा है (शब्दशः---खरीद रक्खा है)। वे सदा साधारण लोगों में से कुछ को जनपद के नगरों में भेजते रहे हैं और इस प्रकार उनके सम्पन्न बनने में सहायता करते रहे हैं।[३] सद्बुद्धि और भावनावाले गण्यमान्य सम्पत्तिशाली लोग अपने ऊपर निर्धन लोगों को परस्पर बाँटकर एक एक भाग को दान देकर जीविकोपार्जन में लगाने का भार भी ले सकते हैं। तारेन्तम् के धनवानों का उदाहरण भी बहुत अच्छा और अनुकरण करने के योग्य है; यह धनवान् लोग निर्धनों के साथ मिलकर अपनी सम्पत्ति का उपभोग (=उपयोग) करते हैं और इस प्रकार जनसमूह की सदिच्छा का अपने पक्ष में सम्पादन कर लेते हैं।[४] इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपने समग्र शासनाधिकार पदों को दो भागों में विभक्त कर दिया है---एक भाग में चुनाव द्वारा नियुक्तियाँ होती है, दूसरे में गुटिकाग्रहण द्वारा; गुटिकाग्रहण द्वारा नियुक्ति से उनका आशय साधारण जनसमूह को शासन-कार्य में भाग प्रदान करना है एवं चुनाव द्वारा नियुक्तियों का प्रयोजन अच्छा शासन-प्रबन्ध उपलब्ध करना है। इसी परिणाम की प्राप्ति अधिकारिपटलों को दो भागों में विभक्त करने से भी हो सकती है---एक भाग के अधिकारियों की नियुक्ति गुटिका ग्रहण द्वारा और दूसरे के अधिकारियों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होनी चाहिये।

इस प्रकार, प्रजातंत्रों की स्थापना (संघटना) किस ढंग से की जानी चाहिये, इस विषय का वर्णन भले प्रकार हो चुका।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू ने पिछले खंड में जनतंत्र व्यवस्थाओं की स्थापना की विधि का वर्णन किया। उसके पश्चात् अब वह उसकी सुरक्षा और स्थायित्व के उपायों का विचार करता है। पिछली पुस्तक में उसने इस विषय का सामान्यरूपेण वर्णन किया था, प्रजातंत्र के संबंध में इस विषय पर विचार नहीं किया था।

२. इस प्रकार की सामाजिक सेवा का नियम अथेन्स में लागू था। इसके लिये अथेन्स का संविधान देखना चाहिये।

३. उनको कोई शासनाधिकार का पद और वेतन इत्यादि देकर भेजते रहे हैं जैसे कि आजकल के साम्राज्यवादी देश भी करते हैं।

४. अर्थात् इस नियम के अनुसार कार्य करते हैं कि "सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्तियों का सम्पत्ति का उपयोग सब के लिये।"

६

धनिकतंत्र का संघटन

इस (प्रजातंत्र की संघटना) से लगभग यह भी स्पष्ट हो गया कि धनिकतंत्र की संघटना किस प्रकार होनी चाहिये। धनिकतंत्र (अल्पजनतंत्र) का प्रत्येक प्रकार प्रतिकूलता के आधार पर संघटित होना चाहिये—अर्थात् प्रत्येक प्रकार का ढांचा तदनुरूप (अथवा अपने संवादी) प्रजातंत्र के ढांचे के स्वरूप से आकल्पित होकर रचा जाना चाहिये। धनिक तंत्र का सुसयोजिततम (सुसंघटित) और प्रथम भेद बहुत कुछ उस शासन-पद्धति का सजातीय-सा है जो 'व्यवस्था'' तंत्र के नाम से पुकारी जाती है। इस प्रकार के धनिकतंत्र में आर्थिक योग्यता की दो पृथक् कोटियां होनी चाहिये, एक निम्न कोटि और दूसरी उच्च कोटि। जो लोग निम्नकोटि में सम्मिलित हों वे राष्ट्रसेवा के निम्न किन्तु अनिवार्य पदों पर नियुक्त होने योग्य समझे जाने चाहिये, तथा जो उच्च कोटि में अन्तर्भुक्त हों वे अधिक सत्ताशाली पदों पर नियुक्त होने योग्य माने जाने चाहिये। जो कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त कोटियों में प्रवेश करने के लिये नियत धन प्राप्त कर लेता है उसको नागरिकता का अधिकार मिल जाना चाहिये। इस प्रकार से साधारण जनसमूह में से इतने व्यक्तियों को नागरिकतासंपन्न लोगों के वर्ग में सम्मिलित कर लेना चाहिये जितनों से नागरिकता के अधिकारों को भोगनेवाला वर्ग अन्य अधिकार-रहित लोगों के वर्ग से अधिक बलशाली हो जाय। सामान्य जनसमूह में से जो व्यक्ति नागरिक वर्ग में लिये जायं वे उनके अच्छे वर्ग में से ही लिये जाने चाहिये।

धनिकतंत्र का दूसरा भेद भी इसी प्रकार (पदग्रहण करने की योग्यता को) कुछ और संकुचित करके प्रस्तुत किया जाना चाहिये। इस क्रम से अन्त में हम धनिकतंत्र के उस रूप तक जा पहुँचेंगे जो प्रजातंत्र के आत्यंतिक भेद का प्रतिरूप (Corres-ponding) होता है: अल्पजनतंत्र का यह रूप स्वभावतः गुटबन्दी और अधिनायकतंत्र से अधिकतम मिलता-जुलता है, और क्योंकि यह सब से निकृष्ट प्रकार है अतएव इसको उतनी ही अधिक मात्रा में चौकसी की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार कि स्वस्थ दशावाला मानव-शरीर तथा अच्छे प्रकार से तैरने की दशावाला और अच्छे (योग्य) नाविकों (मल्लाहों) से संपन्न जहाज, बहुत-सी दुर्घटनाओं में भी पड़कर उनसे नष्ट न होकर बच रह सकते हैं; पर रोगग्रस्त शरीर, एवं शिथिल शरीर तथा विकृत नाविकों से युक्त जहाज, थोड़ी सी गलती को नहीं सह सकते।

ठीक यही बात शासन-व्यवस्थाओं के विषय में भी सत्य है; (अतएव) सबसे बुरी शासन-व्यवस्थाओं के लिये सबसे अधिक चौकसी की आवश्यकता है। प्रजातंत्र व्यवस्था में जनसंकुलता सामान्यतया उसकी रक्षा कर लेती है; क्योंकि प्रजातंत्रों में जनसंख्या (=नागरिकों की संख्या) की अधिकता, योग्यता के अनुसार न्याय के तत्त्व के स्थान पर काम देती है। इसके विपरीत धनिकतंत्र को अपनी रक्षा के लिये स्पष्ट ही इसके विरोधी तत्त्व--संघटन के अच्छेपन पर निर्भर रहना चाहिये।[२]

टिप्पणियाँ

१. यद्यपि अरिस्तू अल्पजनतंत्र अथवा धनिकतंत्र के प्रत्येक प्रकार को प्रजातंत्र का विप्रतिसंवादी मानकर इस खंड का आरंभ करता है। पर धनिकतंत्र के प्रथम अथवा सर्वोत्तम प्रकार का वर्णन करते हुए वह इस दृष्टिकोण का परित्याग कर देता है क्योंकि वह उसको व्यवस्थातंत्र का निकटवर्ती मानता है और यह व्यवस्थातंत्र प्रजातंत्र के श्रेष्ठ प्रकार का भी समीपवर्ती है। अतएव धनिकतंत्र और जनतंत्र के उत्तम प्रकार परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं निकटवर्ती ठहरते हैं।

२. अर्थात् उनको शासनपदों का वितरण गुणोत्कर्ष पर आश्रित व्यापक वितरणात्मक न्याय के आधार पर करना चाहिये।

वि०--यह दृष्टव्य है कि अरिस्तू कहीं भी अतिवादिता का समर्थक नहीं है। यही कारण है कि वह कोरी सिद्धान्तवादिता की बलिवेदी पर व्यवस्था के स्थायित्व और शासितों के सुखों की बलि देने को तैयार नहीं है।

७

धनिकतंत्र का सैन्य-संघटन

जिस प्रकार साधारण जनसमूह के चार विभाग होते हैं--कृषक, शिल्पी, दूकानदार तथा दैनिकवृत्तिवाले श्रमिक--इसी प्रकार सैनिक बल के भी चार प्रकार होते हैं; अश्वारोही दल, भारी शस्त्रधारी पदातिवर्ग, हलके शस्त्रवाले सिपाही एवं नौ-सेना। जहाँ भूखण्ड अश्वारोही दल के लिये समुपयुक्त होता है वहाँ धनिकतंत्र के दृढ़ प्रकार की स्थापना (संघटना) के लिए अनुकूल स्थान होता है; क्योंकि ऐसे स्थान के निवासियों को अपनी रक्षा के लिये अश्वारोही सैन्यदल की अपेक्षा हुआ करती

है, तथा घोड़ों का पालन-पोषण केवल अधिक सम्पत्तिवाले लोग ही कर सकते हैं। जहाँ भूमि ऐसी होती है कि युद्ध में भारी शस्त्रधारी पदाति-दल का उपयोग उचित हो वहाँ धनिकतंत्र का दूसरा भेद (स्थापित किया जाना) स्वाभाविक है। इस प्रकार की सैनिक सेवा निर्धनों की अपेक्षा धनवानों के लिये अधिक उपयुक्त है। पर हल्के शस्त्रवाले सैनिक और नाविक तो पूर्णतया जनतंत्रात्मक होते हैं। आजकल, जब कि यह (हल्के सैनिक तथा नाविक) इतने बहुसंख्यक हैं, यदि दोनों पक्षों (धनिकतंत्र और जनतंत्र) में परस्पर कलह (युद्ध) छिड़ जाय तो धनिकतंत्र पक्ष को प्रायेण मुँह की खानी पड़ती है।[1] इस स्थिति का सामना और उपचार कुछ ऐसे सेनापतियों की पद्धति के अवलम्बन के द्वारा किया जाना चाहिये जो अश्वारोही सैनिकों तथा भारी शस्त्रधारियों के साथ हल्के शस्त्रधारियों की उचित संख्या को संयुक्त कर देते हैं। गृह-कलह में साधारण जनसमूह जो धनवानों को अभिभूत कर लेते हैं वह इस कारण से कि हल्के शस्त्र धारण किये होने के कारण वे अश्वारोहियों और भारी-भरकम सैनिकों की अपेक्षा युद्ध में अधिक सरलता और सुविधा से शत्रुओं का सामना करके विजय प्राप्त कर लेते हैं। अतएव जो धनिकतंत्र इस (हल्के शस्त्रधारियों के) सैन्यबल को केवल निचले वर्गों में से निर्माण करता है वह स्वयं अपने विरोधी बल का निर्माण करता है। (उसको सेना की भर्ती की पद्धति में परिवर्तन कर देना चाहिये) सैनिकों का वर्गीकरण उनकी आयु के अनुसार होना चाहिये—एक वर्ग अधिक अवस्थावालों का और दूसरा युवकों (थोड़ी अवस्थावालों) का होना चाहिये; जिससे कि धनिकतंत्रवालों के पुत्र अपनी युवावस्था के समय में हल्के शस्त्रोंवाले सैनिकों की चपल गति और व्यायामों के अभ्यस्त हो सकें; यह नवयुवक जब (अधिक अवस्था होने पर) वयःप्राप्त सैनिकों के वर्ग में लिये जायँगे तो यह स्वयं वास्तविक व्यवहार में हल्के शस्त्रधारी सैनिकों का कार्य कर सकेंगे।[2]

धनिकतंत्र को नागरिक अधिकारों का कुछ भाग जनसाधारण को भी देना ही चाहिये और ऐसा या तो, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, उन लोगों के पक्ष में होना चाहिये जो नियत आर्थिक योग्यता प्राप्त कर लेते हैं; अथवा, जैसा कि थीबैस् में होता है, नागरिक अधिकार उन लोगों को मिल जाने चाहिये जिन्होंने सुदीर्घ काल से निम्न कोटि का शिल्पकार्य छोड़ दिया है; अथवा, जैसी प्रथा मस्सालिया नगर में प्रचलित है उसका अनुसरण किया जाना चाहिये कि जो लोग योग्यता-संपन्न हों, (चाहे वे नागरिकों के वर्ग में हों अथवा उसके बाहर हों), उनको चुनकर उनकी एक सूची बना ली जाय।[3]

इसके अतिरिक्त, अधिक महत्त्वपूर्ण और सत्ताशाली पदों के, (जो कि पूर्ण नागरिकों (=शासकवर्ग) के हाथ में ही रहने चाहिये), ऊपर विना धन लिये सार्वजनिक सेवा का कर्तव्य भी आरोपित होना चाहिये; इसका परिणाम यह होगा कि जनसाधारण स्वेच्छापूर्वक शासन-कार्य में भाग लेना नहीं चाहेंगे, तथा वे शासकों के प्रति सहिष्णु हो जायँगे क्योंकि वे देखेंगे कि इस प्रतिष्ठा के लिये उन्हें कितना अधिक व्यय करना पड़ता है। इन उच्च पदाधिकारियों को ऐसा करना भी उचित है कि पदग्रहण के समय एक महान् यज्ञ की योजना करें और पद पर रहते समय किसी सार्वजनिक भवन का निर्माण करें, जिससे कि इन उत्सवों में सम्मिलित होनेवाले जनसाधारण नगर को श्रद्धोपहारों और प्रासादों से अलंकृत होते देखकर हर्षपूर्वक इस (धनिकतंत्र-) पद्धति का स्थायी बना रहना सहन कर लेंगे। रहे धनी-मानी लोग, उनको तो उनके दान का प्रत्यक्ष फल स्मारकों के रूप में प्राप्त हो ही जायगा। पर आजकल धनिकतंत्री इस नीति का अनुसरण नहीं करते; वे तो इसकी विरोधी नीति वरतते हैं। वे सम्मान की अपेक्षा लाभ के कुछ कम लोभी नहीं होते। अतएव (आजकल के) इन धनिकतंत्रों को छोटे प्रजातंत्र कहना ठीक होगा। प्रजातंत्रों और धनिकतंत्रों की स्थापना (=संघटना=रचना) किस प्रकार की जानी चाहिये यह वात इस (उपर्युक्त विवरण के) प्रकार से निर्धारित हो गई।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू ने इस खंड में भौगोलिक परिस्थिति, समाजिक विभाजन और सैनिक पद्धतियों के संबंध पर विचार किया है। सैनिक पद्धतियों के विकास से शासन-व्यवस्था का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है, यह अरिस्तू को मान्य है। इस सिद्धान्त का उल्लेख उसने चतुर्थ पुस्तक के तृतीय खंड में भी किया है।

२. इसका परिणाम यह होगा कि यदि निम्नवर्ग के सैनिक विद्रोह खड़ा करेंगे तो समग्र हलके अस्त्रधारियों की सेना धनिकतंत्र का विरोध नहीं करेगी। उसमें ऐसे सैनिक भी होंगे जो धनिकतंत्र का पक्ष ग्रहण करके निम्नवर्ग के सैनिकों से लड़ेंगे और धनिकतंत्र की रक्षा करेंगे।

३. धनिकतंत्र की आन्तरिक सैनिक सुरक्षा का उपाय वतलाकर अव इस स्थान पर नागरिकता के विस्तार के उपाय और उपयोगिता का विवरण उपस्थित किया गया है।

८

शासक-पदों का विभाजन और संख्या

इस विवरण के पश्चात् क्रमप्राप्त विषय शासनाधिकार-पदों का समुचित वितरण है—अर्थात् अब यह विवेचन करना है कि उनकी संख्या, उनका स्वरूप तथा उनका कर्तव्य क्या है और यह विषय पहले भी विवेचित हो चुका है।[1] जो शासनाधिकारपद नितान्त आवश्यक हैं उनके विना कोई राष्ट्र चल नहीं सकता। सुशासन और सुव्यवस्था के लिये जिन पदों की आवश्यकता है उनके अभाव में राष्ट्र का सुप्रबन्ध-युक्त होना नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त छोटे राष्ट्रों में अवश्य ही पदों की संख्या थोड़ी होनी चाहिये एवं बड़े राष्ट्रों में अधिक, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं।[2] अतएव यह बात भी ध्यान से छूट नहीं जानी चाहिये कि कौन से पदों को संयुक्त कर देना चाहिये और किनको पृथक् रखना चाहिये।

अनिवार्य पदों में प्रथम स्थान उस पद का है जिसका कर्तव्य बाजार की देखरेख (चिन्ता) करना है। इसके लिये एक ऐसे पदाधिकारी के नियुक्त करने की आवश्यकता है जो परस्पर के ठहरावों (ठेकों) की अध्यक्षता करे और सुव्यवस्था बनाये रक्खे। लगभग सभी राष्ट्रों में, पारस्परिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, खरीदना और बेचना समानरूप से आवश्यक होता है। तथा यही (क्रय-विक्रय) (राष्ट्र और व्यक्तियों के लिये) उस आत्म-निर्भरता (स्वतःपर्याप्तता) के शीघ्रतम साधन हैं जो कि मनुष्यों के एक सामान्य राष्ट्र की शासन-छाया में एकत्रित होकर बसने का (प्रमुख) उद्देश्य माना जाता है।

इसी प्रकार का, और इसी से बहुत कुछ मिलता-जुलता, एक दूसरा पद है जिसका कर्तव्य नगर में सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत वास्तुओं[3] (भवनों) की, सुव्यवस्था की दृष्टि से देखभाल रखना, जीर्ण-शीर्ण मकानों और सड़कों की रक्षा और मरम्मत कराना, झगड़े न हों इसलिये सीमा-रेखाओं की देखभाल (अध्यक्षता) करना, एवं इसी ढंग की ऐसी अन्य बातों की भी देखरेख करना जिनकी सार्वजनिक अध्यक्षता होनी चाहिये। साधारणतया इस पद को नगराध्यक्ष (वास्त्वध्यक्ष) का पद कहा जाता है; तथा इसके विभागों की संख्या अनेक हुआ करती है, तथा जो बड़ी जनसंख्यावाले नगरों में पृथक्-पृथक् अधिकारियों के नियंत्रण में रहा करते हैं; उदाहरणार्थ प्राचीर-निर्माण

विभाग, सार्वजनिक जलयंत्रों (फ़व्वारों) की देखभाल करनेवाला विभाग तथा नगर के पत्तनों की चौकसी करनेवाला विभाग।

एक और (तीसरा) अनिवार्य पद बहुत कुछ इस द्वितीय पद का सजातीय है; इस पद के कर्तव्य बिलकुल उपर्युक्त पद के समान ही ह; पर इस पद के कर्तव्य का प्रतिपादन नगर की प्राचीर के परे क्षेत्रों में करना पड़ता है; इस पद पर आरूढ़ व्यक्ति को या तो क्षेत्राध्यक्ष (अग्रॉनौमस) या वनाध्यक्ष कहा जाता है।

अपने पृथक्-पृथक् कर्तव्यों के सहित इन तीन पदों के अतिरिक्त एक चौथा पद और है, जिसका कार्य सार्वजनिक राजस्व को ग्रहण करना और विविध विभागों को नियत मात्रा के अनुसार उसका वितरण करना है। इस पद पर आसीन व्यक्ति राजस्व-ग्रहीता अथवा कोषाध्यक्ष कहलाता है।

एक और (पाँचवाँ) पद व्यक्तिगत ठहरावों (ठेकों) और न्यायालय के निर्णयों को लेखबद्ध करने का कार्य करता है। इसी पद के कार्यो में दोषारोपणों एवं प्रारंभिक कार्यकलापों का लेखा रखना भी (सम्मिलित) होना चाहिये। कभी-कभी (कुछ नगर-राष्ट्रों में) यह पद भी अनेक विभागों में विभाजित होता है, यद्यपि ऐसी अवस्था में एक पदाधिकारी (अथवा पदाधिकारीपटल) सब विभागों के ऊपर नियुक्त रहता है। इन पदों के अधिकारी धर्मलेखक, प्रभु, लेखक एवं इसी प्रकार के अन्य नामों से अभिहित किये जाते हैं।

इसके पश्चात् अब एक ऐसा पद आता है जो अन्य सब पदों की अपेक्षा परम अनिवार्य और अत्यन्त कठिन है; इस पद का कार्य दण्डित अपराधियों पर दण्डाज्ञा को प्रतिपादित करना, सार्वजनिक सूचियों में उल्लिखित जनों से जुर्माना (सरकारी ऋण) वसूल करना तथा बन्दी लोगों का निरोध करना है। यह पद कठिन इसलिये है कि इसके साथ बहुत अधिक घृणा (विद्वेष) चिपटी रहती है। अतएव जब तक बहुत अधिक लाभ-प्राप्तिकी संभावना न हो तब तक या तो कोई भी व्यक्ति इस पद को ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं होता और यदि प्रस्तुत भी होता है तो इस पद के कार्य नियमानुसार कठोरता के साथ प्रतिपादित नहीं कर पाता। तथापि यह परम आवश्यक (अनिवार्य) पद है; क्योंकि यदि न्यायालय के निर्णय अन्ततः कार्यान्वित न किये जा सकें तो अभि-योगों को निर्णय कराने के लिये न्यायालय में ले जाने की कोई उपादेयता ही न रहे। और यदि पारस्परिक सामाजिक जीवन अभियोग-निर्णय-पद्धति के बिना संभव न हो तो उन निर्णयों को कार्यान्वित किये बिना भी संभव नहीं हो सकता। इस पद की

कठिनाई को दृष्टिमें रखते हुए इसको एक व्यक्ति (अथवा एक विशिष्ट व्यक्ति-मंडल) को सौंपना ठीक नहीं होगा प्रत्युत इस पद के कर्तव्यों को विभिन्न न्यायालयों से ग्रहण किये गये विभिन्न प्रतिनिधियों को सौंपना अच्छा होगा। इसी प्रकार से, उन लोगों के नामों को जो कि सार्वजनिक कर्जदारों की सूची में हैं, प्रदर्शित करने के कार्य को भी विभिन्न (पदाधिकारी) व्यक्तियों में बाँटने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त शासनाधिकारियों के विविध पटल भी कुछ निर्णयों को कार्यान्वित करने में कुछ सहायता दे सकते हैं; विशेष रूप से पदरिक्त करनेवाले अधिकारियों द्वारा आरोपित अर्थदण्ड को प्रवर्त्तित या कार्यान्वित करने का काम पदग्रहण करनेवाले अधिकारियों के ऊपर छोड़ दिया जाना चाहिये। और एक ही समय पदारूढ़ (वर्त्तमान काल में पदारूढ़) पदाधिकारियों द्वारा दिये गये अर्थदण्ड के संबंध में यह व्यवस्था होनी चाहिये कि उसको कार्यान्वित या प्रवर्त्तित करने का काम दण्ड देनेवाले अधिकारीपटल से भिन्न अधिकारी-पटल पर छोड़ दिया जाय; उदाहरणार्थ आपणाध्यक्ष द्वारा लगाये गये अर्थदण्ड को वास्तु-अध्यक्ष को वसूल करना चाहिये तथा इनके द्वारा लगाये गये अर्थदण्ड को अन्य अधिकारियों को वसूल करना चाहिये। किसी अर्थदण्ड को प्रवर्त्तित करने में (= वसूल करने में) जितनी ही कम बदनामी होगी उतनी ही सरलता अन्ततः उसको कार्यान्वित अथवा प्राप्त करने में होगी। जब दण्ड का निर्णय करनेवाले और उसको कार्यान्वित करनेवाले अधिकारियों का वर्ग एक ही होता है तो वह दुगुनी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है; तथा जब एक ही अधिकारी-वर्ग को सब दण्डों को कार्यान्वित करना पड़ता है तो वे तो सब के ही शत्रु हो जाते हैं।

कई एक नगर-राष्ट्रों में बन्दियों की चौकसी करनेवाला पद, दण्ड को कार्यान्वित करनेवाले पद से भिन्न है; जैसे कि अथेन्स में बन्दियों की चौकसी रखना "एकादश" अधिकारियों का कर्तव्य था।[४] अतएव इस (जेलर के) पद को पृथक् रखना और फिर इसके लिए भी उन्हीं उपर्युक्त चतुराइयों का प्रयोग करना अधिक अच्छा होगा जिनका प्रयोग दण्ड वसूल करने के लिए बतलाया गया (जिससे यह पद कम अप्रिय बना रहे।) यह जेलर का पद दण्ड को कार्यान्वित करनेवाले पद से कम अनिवार्य नहीं है। पर यह एक ऐसा पद है जिससे भले आदमी दूर भागने का भरसक प्रयत्न करते हैं, तथा बुरे आदमियों को यह सत्ता देना समुचित अथवा भला नहीं हो सकता क्योंकि वे दूसरों की चौकसी कर सकें इसकी अपेक्षा तो स्वयं उनकी ही चौकसी अधिक की जानी चाहिये। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि इस पदके कर्तव्य को न तो इसी के लिए विशेष रूप से नियुक्त किसी एक अधिकारी (अथवा अधिकारीवर्ग) को सौंप देना चाहिये और न

लगातार सर्वदा के लिए ही सौंप देना चाहिये; प्रत्युत यह ऐसा पद है जिसके कर्तव्य का पालन विभिन्न अधिकारियों द्वारा बारी बारी से किया जाना चाहिये। तथा यह अधिकारीवर्ग कुछ तो, (जहाँ युवकों को कुछ सैनिकों और पुलिस के कार्य की शिक्षा दी जाती हो वहाँ) युवकों में से लिये जाने चाहिये और कुछ शासन-पदाधिकारियों के पटलों में से लिये जाने चाहिये।

यह छः पद अनिवार्य होने के कारण प्रथम कोटि के माने जाने चाहिये। इनके पश्चात् कई एक अन्य पद आते हैं जो इन्हीं के समान अनिवार्य हैं, इनसे महत्त्व में किंचिन्मात्र भी घटकर नहीं हैं, प्रत्युत जो महत्त्व की दृष्टि से इनसे ऊँचे हैं, एवं जिनके लिए विशाल अनुभव और विश्वासपात्रता की अपेक्षा होती है। ऐसे पदों में सब से प्रथम गणना उनकी होती है जिनमें नगर की रक्षा का भार निहित होता है तथा जिनमें सैनिक उपयोगिता के कार्य नियोजित रहते हैं। शान्तिकाल में और युद्धकाल में एक समान ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता होती है जिनका कर्तव्य नगर के द्वारों और प्राचीरों की रक्षा एवं अध्यक्षता करना एवं नागरिकों का सैनिक निरीक्षण और संघटन करना होता है। कुछ नगरों में तो उन कार्यों के प्रतिपादन के लिए बहुत से पद होते हैं और कुछ में थोड़े से ही होते हैं, तथा छोटे नगरों में इन कार्यों के लिए केवल एक पद रहता है। इन पदों पर आरूढ़ अधिकारी लोग युद्धाधिकारी अथवा सेनाध्यक्ष कहलाते हैं। फिर इसके अतिरिक्त जहाँ अश्वारोही दल, अथवा हलके शस्त्रों वाले सैनिकों के दल, अथवा धनुर्धारियों की सेना अथवा नाविक-दल होता है तो कभी-कभी इनमें से प्रत्येक के लिए एक-एक पृथक् सेनानी नियुक्त किया जाता है तथा इनकी अध्यक्षता करनेवाला सेनानी (पदाधिकारी) नौसेनाध्यक्ष, या अश्वसेनाध्यक्ष अथवा हलके अस्त्र-धारी सैनिकों का अध्यक्ष कहलाता है। फिर इनके पश्चात् इनके अधिनायक-पदाधिकारी होते हैं जो नौसेना-अधिनायक, शताधिकारी, अश्वसेनाधिनायक इत्यादि कहलाते हैं, और इसी प्रकार के नाम इससे भी छोटी-छोटी टुकड़ियों के अधिकारियों को दिये जाते हैं। यह सब पद-संघटना एक विभाग के अन्तर्गत होती है, जो है—युद्ध का विभाग। इस प्रकार इस सेना के शासन-प्रबन्ध के विषय में इतना ही अलं है।

पर क्योंकि, इनमें से यदि सब नहीं तो बहुत से पदाधिकारी लगातार सार्व-जनिक धन का उपयोग किया करते हैं, अतएव इसके लिए अनिवार्यतया एक दूसरे पद की आवश्यकता होती है जिसका कार्य अन्य पदों के लेखे-जोखों को संग्रह करना और उनका निरीक्षण-परीक्षण करना होता है, तथा इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई

कार्य नहीं होता। इस पद के अधिकारी कहीं तो आय-व्यय-निरीक्षक कहलाते हैं, कहीं गणक कहलाते हैं, कहीं परीक्षक और कहीं समर्थक (वकील) कहलाते हैं।

इन उपर्युक्त सब पदों से परे एक ऐसा पद है जो इन सबके ऊपर अपनी सत्ता रखता है। बहुत से नगरों में इस पद में नवीन विषयों को आरंभ (प्रस्तुत) करने और अन्त में उनको स्वीकार करने का अधिकार न्यस्त होता है। अथवा कम से कम, जहाँ शासनतंत्र जनता के हाथ में होता है, वहाँ यह पद नगर-परिषद् का सभापतित्व करता है; क्योंकि कोई ऐसी समिति (संस्था) होनी चाहिये जो नगर की शासन-सत्ता की संयोजना कर सके। कहीं कहीं इस पद के अधिकारी प्रोबूली (प्राग्विचारक) कहलाते हैं क्योंकि वे राष्ट्र के हित का विचार सबसे पहले प्रारंभ करते हैं। पर जहाँ जन परिषद् होती है वहाँ वे 'बूली' अथवा समिति कहलाते हैं। राजनीतिक पदों का स्वरुप कुछ इसी प्रकार का होता है।

पर इसके अतिरिक्त सार्वजनिक कार्यों अथवा पदों का एक और क्षेत्र है जो देव और धर्म संबंधी कार्यों की देखरेख करता है। इसके लिए पुजारियों और संरक्षकों जैसे पदाधिकारियों की आवश्यकता होती है---इन संरक्षकों का कर्तव्य देवालयों की रक्षा करना, तथा पतनोन्मुख होने पर उनकी मरम्मत कराना, एवं देव संबंधी अन्य ऐसी ही बातों का प्रबंध करना होता है। कहीं कहीं, (जैसे कि छोटे नगर-राज्यों में) यह समग्र कर्तव्य-भार एक ही पद (= पदाधिकारी) को सौंप दिया जाता है; पर अन्य (बड़े) राष्ट्रों में (इस क्षेत्र में) बहुत से पद होते हैं और यह पद पुजारी के पद से पृथक् होते हैं; उदाहरणार्थ सार्वजनिक धर्मकृत्यों के अध्यक्ष, देवधामों के संरक्षक, धार्मिक अथवा देव संबंधी सम्पत्ति के प्रबंधकों (अथवा कोपाध्यक्षों) के पद (भी हुआ करते हैं)। इन उपर्युक्त पदों से निकट संबंध रखनेवाला एक पृथक् पद भी हो सकता है, जिसका कर्तव्य उन सब सार्वजनिक यज्ञों का संपादन होता है, जो कानून द्वारा (साधारण) याजकों को नहीं सौंपे जाते हैं, तथा जिनको सार्वजनिक यज्ञशाला (अग्निशरण) में संपादित किये जाने का सम्मान प्राप्त होता है। इस पद को ग्रहण करनेवाले कहीं आर्खन्, कहीं बसिलियस् (राजा) और प्रीतानैइस् (पुरोहित) कहलाते हैं।

अतएव जो पद सब राष्ट्रों में अनिवार्यतया आवश्यक हुआ करते हैं उनको संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं; प्रथम तो सार्वजनिक पूजा अथवा धर्म संबंधी पद, युद्ध संबंधी पद, राजकीय आय (राजस्व) और व्यय संबंधी पद, हाट-बाजार संबंधी

पद, नगरवास्तु संबंधी पद, पत्तन (वन्दर) संवंधी पद एवं भूक्षेत्र संबंधी पद हैं; इनके पश्चात् न्यायालय संबंधी पद, ठेकों अथवा ठहरावों के लिपिवद्ध करनेवाले पद, दण्डों को प्रवृत्त अथवा कार्यान्वित करानेवाले पद, वंदियों की चौकसी करनेवाला पद, पदाधिकारियों के खातों की पड़ताल, देख-रेख और निरीक्षण करनेवाले पद आते हैं; और अन्त में सार्वजनिक मामलों पर विचार करने से संवंध रखनेवाले पद हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पद भी हैं जो अपेक्षाकृत अधिक अवकाश और अधिक समृद्धिवाले राष्ट्रों में ही, जो सुव्यवस्थाके लिए भी चिन्ताशील रहते हैं, विशेप रूप से पाये जाते हैं--यह हैं, महिलाध्यक्ष का पद, नियमाध्यक्ष का पद (जिसका कार्य जनता से नियमों=कानूनों का पालन कराना है), शिशु-रक्षक का पद, शारीरिक व्यायाम संबंधी पद। इनके अतिरिक्त व्यायाम संबंधी प्रतियोगिताओं, दियौनीसियस् के उत्सव के संबंध में होनेवाली नाट्य प्रतियोगिताओं एवं इसी प्रकार के अन्य सब संभव खेल-तमाशों और मनोरंजनों के अध्यक्षों के पद भी इन्हीं के साथ जोड़े जा सकते हैं। इनमें से कुछ पद--उदाहरणार्थ महिलाध्यक्ष और शिशुअध्यक्ष के पद-स्पष्ट ही जनतंत्रात्मक नहीं हैं; निर्धन लोगों को (क्योंकि उनके पास दास नहीं होते) अपनी स्त्रियों और वच्चों से अनिवार्यतया नौकरों का जैसा काम लेना ही पड़ता है।

फिर, जिन पदाधिकारियों के निर्देश के अनुसार (कुछ) राष्ट्रों में निर्वाचकों द्वारा सर्वोच्च पदाधिकारियों का निर्वाचन किया जाता है, वे तीन हैं; प्रथम--नियमाध्यक्ष, दूसरे--नगर-परिपद् (प्राक्-परिपद्), तीसरे समिति। इनमें से नियमाध्यक्ष श्रेष्ट-जनतंत्रात्मक, प्राक्-परिपद् धनिकतंत्रात्मक तथा समिति जन-तंत्रात्मक शासन-पद्धति से संवंध रखनेवाली संस्थाएँ हैं।

इस प्रकार हम लगभग सभी प्रकार के शासनाधिकार-पदों का संक्षिप्त रेखाचित्र के रूप में वर्णन कर चुके; परन्तु....[५]

टिप्पणियाँ

१, २. चतुर्थ पुस्तक के १५ वें खंड में।

३. वास्तु के लिये मूल ग्रीक भाषा में आस्तु अथवा अस्ती शब्द का प्रयोग किया गया है। लिडैल् और स्कॉट के ग्रीक भाषा के कोश में इसको संस्कृत के "वास्तु" का सजातीय वतलाया है। इसके अर्थ वसति = नगरी और मकान दोनों हैं।

४. इनका कर्तव्य इसके अतिरिक्त मृत्युदण्ड को कार्यान्वित करना भी था।

५. यह अन्तिम वाक्य अधूरा ही रह गया है। इस प्रकार के अधूरे वाक्य अरिस्तू की रचनाओं में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं अरिस्तू की उपलब्ध रचनाएँ उसके प्रवचनों की रूपरेखा अथवा टिप्पणियाँ हैं। उसके स्वयं पूर्णरूपेण लिखे हुए ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते।

सातवीं पुस्तक

१

सौख्य और सम्पत्ति का विवेचन

श्रेष्ठ अथवा आदर्श प्रकार की शासन-व्यवस्था के स्वरूप के खोजने का कार्य समुचित प्रकार से आरंभ करने के पूर्व अभीष्टतम जीवन-पद्धति के स्वरूप को निर्धारित कर लेना परमावश्यक (अनिवार्य) कार्य है। इस (अभीष्टतम जीवन-पद्धति) के अस्पष्ट रहने पर वह आदर्श व्यवस्था भी अवश्यमेव अनिश्चित ही रहेगी। अतएव यह आशा की जा सकती है कि यदि कोई अप्रत्याशित अनोखी घटना न घटे तो सर्वश्रेष्ठ जीवन-पद्धति तथा किसी नियत परिस्थिति में संभव सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था का साहचर्य होगा।[1] अतः हमको सबसे पहले जीवन-पद्धति का वह सर्वसम्मत प्रकार खोज निकालना चाहिये जो सब अवस्थाओं में सब मनुष्यों के लिए सबसे अधिक वांछनीय हो; और तत्पश्चात् यह पता लगाना चाहिये कि क्या वही जीवन प्रकार, जो व्यक्ति के प्रसंग में वांछनीय है, समग्र समाज के प्रसंग में भी वांछनीय है अथवा नहीं।

यह मान लेते हुए कि श्रेष्ठ जीवन के संबंध में हमारे द्वारा वाह्य (सार्वजनिक) रचनाओं में[2] पर्याप्तरूपेण बहुत सा विवेचन (कथन) किया जा चुका है, अब हमको यहाँ उसी का उपयोग कर लेना चाहिये। श्रेष्ठ जीवन के तत्त्वों के एक विभाजन के प्रति तो निश्चय ही किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह तत्त्वविभाजन जीवन सम्पत् को तीन सम्पदाओं---वाह्य सम्पदा, शारीरिक सम्पदा, और आध्यात्मिक सम्पदा---में विभक्त करता है। यह बात भी साधारणतया सर्वसम्मत है कि सुखी मनुष्य को यह सबकी सब सम्पदाएँ प्राप्त होनी चाहिये। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं होगा जो ऐसे व्यक्ति को सुखी कहे जिसमें कि साहस, औचित्य (विवेक) न्याय और सूझबूझ तो लेशमात्र भी नहीं है; प्रत्युत जो पास उड़नेवाली मक्खियों तक से भय खाता है, जो क्षुधा और तृषा की उत्कण्ठा किसी भी अति को वर्जित नहीं करता, जो एक पैसे के लिये अपने प्रिय से भी प्रिय मित्र की बलि दे सकता है; तथा जिसकी बुद्धि (अथवा ध्यान) इतनी बेसमझ और विक्षिप्त (दुर्बल, झूठी) है जितनी कि किसी बच्चे अथवा पागल मनुष्य की होती है। यह सभी कथन ऐसे हैं जो उच्चारण

किये जाने पर प्रायः सभी मनुष्यों द्वारा तत्काल स्वीकार कर लिये जायेंगे। पर मत-भेद तो तब उत्पन्न होता है जब यह प्रश्न पूछा जाता है कि प्रत्येक (उपर्युक्त संपदा) में से प्रत्येक मनुष्य को कितनी मात्रा अधिकृत करनी चाहिये ? अथवा इन सम्पदाओं का आपेक्षिक तारतम्य क्या है ? भलाई (अर्थात् आध्यात्मिक सम्पदा) का तो अल्पांश-मात्र पर्याप्त मान लिया जाता है; पर धन, सम्पत्ति, सामर्थ्य, ख्याति और इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की लोग असीम कामना किया करते हैं। ऐसे मनुष्यों के प्रति हमारा उत्तर यह है कि, 'इस विषय में आप लोगों को सरलतापूर्वक आश्वस्त करा देने के लिये (अथवा विश्वास प्राप्त करा देने के लिये) वास्तविक तथ्य स्वयमेव समर्थ हैं। आप स्वयं देखते ही हैं कि सद्वृत्ति (आध्यात्मिक संपदा) की प्राप्ति और रक्षा बाह्य धनदौलत से नहीं होती; प्रत्युत इस (बाह्य-सम्पत्ति) की रक्षा उस (आध्यात्मिक संपदा) के द्वारा होती है। आप स्वयमेव देख सकते हैं कि सुख—चाहे तो उसके प्रेय के अन्तर्गत मानो, चाहे सद्वृत्त के अन्तर्गत, और चाहे उभयगत (=उन लोगों की अपेक्षा (जिन्होंने बाह्य-सम्पत्ति को उपयोगिता की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध कर लिया है पर जो आध्यात्मिक सम्पदा की उपलब्धि में पिछड़े हुए हैं) उन मनुष्यों को अधिक उपलब्ध होता है जिन्होंने अपने आचरण और बुद्धि का तो अत्यधिक विकास किया है पर जिन्होंने बाह्य-सम्पत्ति की प्राप्ति को साधारण (मध्यम) सीमा में रहने दिया है। [यह तो जीवन के वास्तविक अनुभव का दिया हुआ उत्तर है।] पर फिर भी विचार द्वारा भी इसको एक दृष्टिपात में युक्तिसंगत सिद्ध किया जा सकता है।

अन्य सब उपकरणों के समान बाह्य सम्पत्तियों के आकार की एक सीमा हुआ करती है; सच तो यह है कि सभी उपयोगितापूर्ण वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जहाँ कहीं उनकी अति हुई वहीं या तो वे अपने अधिकारी की कोई हानि कर देती हैं, अथवा उसको कोई लाभ नहीं पहुँचातीं। इसके प्रतिकूल आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ जितनी ही अधिक मात्रा में होती हैं उतनी ही अधिक उनकी उपयोगिता भी होती है; बशर्ते कि हमको इस प्रसंग में केवल मूल्य शब्द का प्रयोग न करना हो और वास्तव में 'उपयोगिता' विशेषण तनिक भी उपयुक्त हो। सामान्यरूपेण हम स्पष्ट ही निम्नलिखित कथन को स्वयं-सिद्ध कथन के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, कि "दो वस्तुओं की सर्वोत्तम अवस्थाओं की यदि हम उनके उत्कर्ष के तारतम्य की दृष्टि से तुलना करें तो उनका परस्पर एक दूसरे के प्रति वैसा ही अनुपात होता है जैसा कि उन दो वस्तुओं में अन्तर (दूरी) है जिन वस्तुओं की अवस्थाएँ हम इन अवस्थाओं को बतलाते हैं।[३] अतएव यदि आत्मा,

एकान्ततः भी और हमारे संबंध से भी हमारी सम्पत्ति और हमारे शरीरों से अधिक मूल्यवान् वस्तु है, तो आत्मा की सर्वोतम अवस्था का भी हमारी संपत्ति और शरीरों की सर्वोत्तम अवस्था के प्रति अवश्यमेव यही अनुपात होगा (अर्थात् आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था हमारी सम्पत्ति और शरीरों की सर्वोत्तम अवस्था से अनिवार्यतया अधिक मूल्यवान् होगी।) और इसके अतिरिक्त आत्मा ही के लिये यह अन्य वस्तुएँ (अर्थात् सम्पत्ति और शरीर) वांछनीय हुआ करती हैं, तथा सब सद्बुद्धिवाले व्यक्तियों को उनकी अभिलाषा इसी (आत्मा के) निमित्त करनी चाहिये, न कि इनके निमित्त आत्मा की आकांक्षा।[६]

अतएव हमको इस विषय में एकमत होना मान लेना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य के भाग्य में जो सुख उपलब्ध होता है वह उतना ही होता है जितनी उसमें भलाई और सद्बुद्धि होती है तथा जितने भले और सद्बुद्धिपूर्ण कार्य वह किया करता है।[७] भगवान् (का स्वरूप) स्वयं इस तथ्य का साक्षी है। वह आनन्दमय और मंगलमय है; तथापि वह ऐसा किसी बाह्य सम्पत्ति के कारण नहीं है प्रत्युत वह स्वतः और अपनी सत्ता के स्वरूप के कारण ऐसा है। इससे यह बात समझ में आ जायगी कि सौभाग्यशाली होना और सुखी होना अवश्य ही एक दूसरे से भिन्न बातें हैं। आत्मा से बाहर की जो सम्पदाएँ हैं उनके कारण (उनको जन्म देनेवाले) यदृच्छा और दैव हैं (अतएव मनुष्य के सौभाग्यशाली होने के कारण भी यही हैं) पर कोई भी व्यक्ति केवल दैवात् 'अथवा दैव द्वारा न्यायपरायण एवं संयमी (अर्थात् सुखी) कभी नहीं हो सकता।

इसके अनन्तर इसी से मिलता-जुलता तथा इसी प्रकार की सामान्य युक्ति परम्परा पर आश्रित यह सिद्धान्त आता है कि जो नगर सदाचार की दृष्टि से श्रेष्ठ है तथा शोभन कार्य करता है वही सुखी (और सफल) है। भला कार्य करना तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उचित कार्य करने का अभ्यास न किया जाय। (अथवा भला तब तक हो नहीं सकता जबतक भला किया न जाय।) तथा बिना भलाई और सद्बुद्धि के भला काम न तो व्यक्ति से ही बन सकता है और न नगर (—राष्ट्र) से। इस प्रकार नगर (—राष्ट्र) का साहस (शौर्य), न्याय और बुद्धिमत्ता वही शक्ति (सामर्थ्य) और आकृति रखते हैं जो कि उन गुणों में पाई जाती हैं जिनको धारण करनेवाले मनुष्य साहसी, न्यायपरायण और बुद्धिमान कहलाते हैं।

पर वह (उपर्युक्त) कथन, (वे जितने हैं उस सीमा तक) हमारे विवेचन के लिये तात्त्विक भूमिका का काम दे सकते हैं। इनका जिन विषयों से संबंध है उनको अछूता

छोड़ देना संभव नहीं है पर, साथ ही साथ यहाँ पर उन सब युक्तियों का प्रपंच-विस्तार करना भी संभव नहीं है जो इस विषय से संबद्ध हैं। यह तो एक दूसरे ही पृथक् विज्ञान का काम है। यहाँ तो अब इतना ही मान लेना चाहिये कि पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के लिए तथा समष्टिभूत नगर के लिये श्रेष्ठ जीवन वह है जो सद्वृत्तिमय हो तथा साथ ही साथ आवश्यक बाह्य उपकरणों की इतनी मात्रा से युक्त हो जिससे भलाई के कार्यों में भाग लिया जा सके (अर्थात् भले काम किये जा सकें)।[७] इस कथन का विरोध किया जा सकता है, पर इस प्रस्तुत विवेचन में तो हम इस विरोध को सहन कर लेंगे और यदि कुछ व्यक्ति ऐसे होंगे जो हमारे इस कथन को स्वीकार नहीं करेंगे तो उनकी आपत्तियों का भविष्य में उत्तर देने का प्रयत्न किया जायगा।

टिप्पणियाँ

१. विशुद्ध तर्क की दृष्टि से अरिस्तू की यह स्थापना बिलकुल ठीक है कि श्रेष्ठ जीवन-पद्धति और श्रेष्ठ (आदर्श) व्यवस्था का साहचर्य है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या सार्वकालिक एवं विश्वजनीन श्रेष्ठ जीवन की कल्पना का श्रेय किसी के भाग्य में बदा भी है? अरिस्तू स्वयं पूर्णतया आश्वत प्रतीत नहीं होता अतएव उसने अप्रत्याशित घटना न घटने की शर्त्त लगाई। इसी कारण मनु ने भी कहा--

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानरूपतः ॥१।८५

कुछ मनीषियों के विचार में जीवन की आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति में हम शाश्वत आदर्शों की स्थापना कर सकते हैं। जीवन का अथवा श्रेष्ठ जीवन का बाह्यरूप तो निरन्तर बदलता रहा है और बदलता रहेगा। बीसवीं शताब्दी में आध्यात्मिक अनुभूति की शाश्वतता पर भी कम ही लोगों को आस्था है।

२. अपने विद्यालय में सायंकाल को अरिस्तू साधारण जनता के लिये उपयोगी और बोधगम्य विषयों पर सरल शैली में प्रवचन किया करता था। इन प्रवचनों का लिखित रूप भी था। पर वह आजकल उपलब्ध नहीं।

३. अर्थात् एक वस्तु को 'क' नाम दें और दूसरी को 'ख' तो इस वाक्य को इस अनुपात के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं:--

क की सर्वोत्तम अवस्था; ख की सर्वोत्तम अवस्था : : क : ख ॥

४. यह वाक्य तो बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।५ में याज्ञवल्क्य के निम्नलिखित वाक्य का साक्षात् अनुवाद जैसा प्रतीत होता है--"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

५. यद्यपि अरिस्तू ने अपने गुरु प्लातोन की बहुत आलोचना की है पर वह उसका पदे-पदे ऋणी भी प्रतीत होता है। भला होना ही सुखी होना है, यह सिद्धान्त प्लातोन की रचनाओं से ग्रहण किया गया है। अरिस्तू ने अपने गुरु की प्रशंसा में जो कविता लिखी थी उसकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

वाचा और कर्मणा जिसने प्रथम व्यक्त यह किया विचार ।
जो है साधु सुखी है सोई, और सभी निष्फल निःसार ॥

पौलिटिक्स की अन्तिम दो पुस्तकों में तो प्लातोन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। डॉ० विल ड्यूरैण्ट ने The Life of Greece नामक पुस्तक के ५२४ पृष्ठ पर अरिस्तू के विषय में लिखा है कि "He refuted Plato at every turn because he borrowed from him on every page" अर्थात् क्योंकि वह अपनी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर प्लातोन का ऋणी है अतएव उसने जहाँ तहाँ उसका खंडन किया है।"

६. यहाँ दैव अथवा दैवात् से तात्पर्य यदृच्छा या भाग्य से है। तुलना कीजिये

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहंकरोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

७. यह है अरिस्तू का मध्यममार्ग, न केवल अध्यात्मवाद और न कोरा भौतिकवाद। फिर भी उसका झुकाव अध्यात्म की ओर है।

२

राष्ट्रीय जीवन का लक्ष्य सुख अथवा सैनिक-विजय ?

अब यह विवेचन करना शेष रह गया है कि व्यक्ति और नगर (=राष्ट्र) के सुख को एक और अभिन्न कहना चाहिये या नहीं। पर यह बात भी स्पष्ट है, इस विषय में सब एक मत हैं कि (व्यक्ति और नगर का सुख) एक ही है। जो लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन की भलाई धन में है वे यह भी मानते हैं कि समग्र नगर की भलाई उसके धनवान् होने में है। जो लोग अधिनायक या तानाशाह के जीवन को सबसे अधिक आदरणीय मानते हैं, वे सबसे अधिक मनुष्यों पर शासन करनेवाले नगर को (सबसे बड़े साम्राज्यवाले नगर को) सबसे अधिक सुखी बतलाते हैं; जब कि वह मनुष्य जो व्यक्ति के जीवन की श्लाघा उसकी भलाई (=सद्वृत्ति=साधुता) के आधार

पर करता है, जो नगर जितना ही अधिक सद्गुण-सम्पन्न होता है उसको उतना ही अधिक सुखी बतलाता है।

यहाँ दो विचारणीय प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि अन्य नागरिकों के साथ मिलकर नगर के कार्यों में भाग लेना, अथवा एक विदेशी के समान नागरिक जीवन के सब बन्धनों से स्वतंत्र रहना, इन दोनों प्रकार के जीवनों में कौन-सा जीवन (अधिक) वांछनीय है? दूसरा प्रश्न यह है कि किस प्रकार की शासन-व्यवस्था और नगर की कौन-सी अवस्था श्रेष्ठ है---फिर चाहे तो हम यह मानते हों कि नगर के सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना सबके लिये वांछनीय है, अथवा नहीं, या केवल अधिकांश लोगों के लिये वांछनीय है? क्योंकि यह दूसरा प्रश्न, (अर्थात् किस प्रकार की शासन-व्यवस्था और नगर की अवस्था सर्वश्रेष्ठ है) राजनीति के ध्यान देने और चिन्तन करने का विषय है, और व्यक्ति के लिये क्या वांछनीय है यह विचारना राजनीति का काम नहीं है, तथा क्योंकि हम इस समय इसी विषय के परीक्षण में लगे हुए हैं, प्रथम प्रश्न का विषय हमारे लिये गौण महत्त्व रखता है, अतएव हम इसको (दूसरे प्रश्न के विषय को) प्रस्तुत अन्वेषण का कार्य मान सकते हैं।

सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था के विषय में इतना विलकुल स्पष्ट है कि श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वह है जिसके प्रबन्ध में प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, श्रेष्ठ प्रकार से कार्य कर सकता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। परन्तु जो लोग इस बात पर एकमत हैं कि भला जीवन (सद्वृत्तिमय जीवन) ही श्रेष्ठ जीवन है वे भी इस विषय पर विवाद खड़ा करते हैं कि जीवन की कौन-सी पद्धति अधिक वांछनीय है?—क्या राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन वांछनीय है? अथवा सब बाह्य वस्तुओं से स्वाधीन जीवन (अर्थात् चिन्तनपरायण जीवन, जो कि तत्त्वज्ञ (दार्शनिक) के लिये एक मात्र समुचित प्रकार का जीवन कहा जाता है) अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय है? यही दो प्रकार के जीवन—राजनीतिज्ञ का जीवन तथा दार्शनिक का जीवन—ऐसे हैं जो प्राचीन काल में और आजकल भी उन लोगों के द्वारा स्पष्टतया अधिक पसन्द किये गये हैं जो सद्वृत्ति (सदाचारमय जीवन की) की ख्याति प्राप्त करने के अत्यन्त उत्कंठित रहे हैं। इन दोनों पक्षों में से सत्य किसके साथ है यह तत्त्व कोई कम अन्तर डालनेवाला नहीं है। क्योंकि चाहे तो एक व्यक्ति हो और चाहे नागरिक समाज हो, दोनों के समझदार होने का अनिवार्य कर्तव्य उत्तम लक्ष्य को प्राप्त करना ही है। कुछ लोग यह मानते हैं कि अपने पड़ोसी नगर-राष्ट्रों पर स्वेच्छा-

चारित्रपूर्ण शासन करना अन्याय की पराकाष्ठा है, और यदि शासन-पद्धति व्यवस्थात्मक हो तो भी यद्यपि वह उन (शासितों के लिये) अन्यायपूर्ण नहीं होती, तथापि वे इसको भी स्वयं अपने कल्याण (=सुदिन) के लिये अच्छा नहीं मानते। कुछ अन्य लोगों की राय इसके विपरीत है; उनका विचार है कि मनुष्य के लिये तो क्रियात्मक और राजनीतिक जीवन ही (आदर्श जीवन है); उनका विश्वास है कि प्रत्येक सद्वृत्ति के व्यवहार के क्षेत्र में एकान्त व्यक्तिगत जीवन, सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन की अपेक्षा अधिक अवकाश (अवसर) प्रदान नहीं करता। (क्रियात्मक और राजनीतिक जीवन के) कुछ समर्थक इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं; पर कुछ अन्य इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, उनका तो (यहाँ तक) कहना है कि स्वेच्छाचारी और तानाशाही शासन-पद्धति का ही ढंग एक मात्र ऐसा है जो सुख प्रदान करता है। वास्तव में कुछ राष्ट्र-व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें शासन-पद्धति और नियम (कानून) दोनों का ही लक्ष्य यह होता है कि समीपवर्ती नगरों पर किस प्रकार स्वेच्छाचारी-शासन चलाया (=स्थापित किया) जाय।

और इसीलिए यद्यपि अनेकों नगरों में नियम (कानून) बहुत ही गड़बड़ की दशा में पड़े हुए कहे जा सकते हैं, तथापि यदि वे सब कहीं किसी एक दिशा की ओर लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होते भी हैं तो वह (दिशा) शक्ति की रक्षा करना है। उदाहरण के लिए लाकैदायमॉन और क्रीती में शिक्षा-पद्धति और अधिकांश कानूनों की रचना युद्ध को दृष्टि में रखकर की गयी है। इसके अतिरिक्त वे सब (बर्बर) जातियाँ जो कि दूसरी जातियों को अभिभूत करने की सामर्थ्य रखती हैं, युद्ध-संबंधी शौर्य का ही सबसे अधिक सम्मान करती हैं; शक, पारसीक, थ्राकनिवासी और कैल्ट[1] इन जातियों के उदाहरण हैं। इन जातियों में से कुछ के तो कानून ही ऐसे हैं जो युद्ध-संबंधी गुणों को प्रोत्साहन देते हैं; जैसे कि कार्खीदौन (कार्थेज) के विषय में कहा जाता है कि वहाँ जो योद्धा जितने युद्धों में लड़ता है उसको उतने कंकणों से अलंकृत होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। मर्कदौनिया में एक समय ऐसा कानून था कि जिस व्यक्ति ने किसी शत्रु का कभी वध न किया हो उसको कटिपट्टिका के स्थान पर रस्सी (लगाम) पहननी पड़ती थी। शक लोगों में इस प्रकार की प्रथा थी कि जिस व्यक्ति ने किसी शत्रु की कभी हत्या न की हो उसको विशेष उत्सव (अथवा भोज) के अवसर पर चारों ओर सबके पास भेजे जानेवाले प्याले (अथवा सुराही) से मदिरा पीने का अधिकार नहीं होता था। इबेरी[2] लोगों में, जो कि एक योद्धा जाति है, ऐसी प्रथा

है कि मृतक योद्धाओं की समाधियों के चारों ओर उतने ही शंकु-स्तम्भों को पृथ्वी में गाड़कर खड़ा किया जाता है जितने शत्रुओं को उन्होंने मारा हो।

इसी प्रकार वहुत सी विभिन्न प्रथाएँ विभिन्न जातियों में प्रचलित हैं, इनमें से कितनी ही नियमों (कानूनों) द्वारा स्थापित की गई हैं और कितनी ही परम्परागत प्रथाएँ वन गयी हैं। तथापि जो भी व्यक्ति चिन्तन करने का इच्छुक होगा उसको यह वात वड़ी विचित्र (वेहूदी, वेतुकी) प्रतीत हुए विना न रहेगी कि राजनीतिज्ञ का यह कार्य है कि वह यह पता लगा सके (देख सके) कि पार्श्ववर्त्ती राष्ट्रों पर किस प्रकार शासन और प्रभुत्व किया जा सकता है, फिर चाहे वे (पार्श्ववर्ती राष्ट्र) इस शासन को चाहते हों अथवा न चाहते हों। भला जो वात नियमानुमोदित भी नहीं है वह राज-नीतिवेत्ता अथवा नियमनिर्माता के लिए समुचित किस प्रकार हो सकती है? जो शासन केवल न्यायानुकूल नहीं, प्रत्युत अन्यायपरक है वह नियमानुसारी तो निश्चय ही नहीं है। ऐसे शासन में वल का प्रयोग तो अवश्य होता है पर वह न्यायानुकूल नहीं होता। पर अन्य विद्याओं में इस प्रकार का व्यवहार कभी नहीं देखा जाता। वैद्य अथवा निर्यामिक का यह कार्य कदापि नहीं होता कि वह रोगियों अथवा नाव के यात्रियों को वहलाये-फुसलाये अथवा धमकाये। पर राजनीति के क्षेत्र में अधिकांश मनुष्यों का विचार ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरों पर स्वेच्छाचारी प्रभुत्व जमाना ही राजनीतिज्ञता है; तथा जिस वात को वे अपने प्रति किये जाने पर न तो न्यायोचित मानते हैं और न उपयोगी, उसी का दूसरों के प्रति व्यवहार करते हुए वे लज्जित नहीं होते। स्वयं अपने लिए और अपने आपस के व्यवहार में यह लोग न्यायोचित शासन की माँग (खोज) करते हैं, पर अन्य लोगों के प्रति व्यवहार करने में यह लोग न्याय की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। यदि (दुनिया में) कुछ वस्तुएँ (=तत्त्व) अधीन रखने योग्य और कुछ अधीन न रखने योग्य न हों तो यह वड़ी विचित्र (अनोखी) सी वात हो; यदि दुनिया का ढंग वास्तव में ऐसा ही हो तो सव पर ही प्रभुत्व चलाने का उद्योग नहीं किया जाना चाहिये, प्रत्युत यह उद्योग केवल उन्हीं के प्रति किया जाना चाहिये जिन पर प्रभुत्व चलाना उचित है। उदाहरण के लिए भोज (अथवा भोजन) एवं देववलि के निमित्त कोई मनुष्य का शिकार तो कभी नहीं करता, प्रत्युत उन्हीं का शिकार करता है जिनका इस निमित्त शिकार किया जाना चाहिये; और इस कार्य के लिए जिनके शिकार का विधान है, वे हैं वन्यपशु, जो कि खाये जाने योग्य हों। पर ऐसे नगर की कल्पना करना संभव है जो सव से पृथक् अकेला हो और अपने आप में स्वयं सुखी हो। मान लो कि ऐसा नगर कहीं न कहीं अलग निराले में स्थित है और सुन्दर

नियमों के नियंत्रण में है। इसका विधान स्पष्ट ही बड़ा अच्छा होगा, पर इस शासन-पद्धति की योजना का युद्ध से कोई संबंध नहीं होगा; और न शत्रुओं को जीतने से उसका कोई संबंध होगा, क्योंकि हमारी मान्यता के अनुसार इन (युद्ध और शत्रु) का कोई अस्तित्व ही नहीं होगा।

अतएव यह स्पष्ट ही है कि युद्ध-संबंधी समग्र अनुशीलन यदि शोभन माने भी जायँ तो मनुष्य जीवन के आत्यन्तिक उद्देश्य के (परमार्थ) के रूप में नहीं, प्रत्युत परमार्थ की प्राप्ति के उपाय के रूप में ही माने जाने चाहिये। अच्छे नियमनिर्माता को जिस लक्ष्य को दृष्टि में रखना है वह यह है कि कोई, नगर अथवा मानवजाति अथवा अन्य सब समाज किस प्रकार भले जीवन के और उससे उत्पन्न होनेवाले सुख के संभोग करनेवाले बन सकते हैं। पर उसके द्वारा बनाये हुए कुछ नियम परिस्थितियों के अनुसार कुछ भिन्न प्रकार के भी होंगे। यदि किसी नगर के पास कई पड़ोसी होंगे तो नियमनिर्माता का कर्तव्य होगा कि वह यह देखे किस पड़ोसी के लिए किस प्रकार की युद्धविद्या व्यवहार में लाई जानी चाहिये, तथा सामान्यतया प्रत्येक पड़ोसी के द्वारा प्रस्तुत की गई चुनौती का सामना किस प्रकार किया जाय। पर यहाँ पर प्रस्तुत की गयी समस्या को—अर्थात् श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को किस लक्ष्य की प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये—भविष्य में विवेचन करने के लिए रख छोड़ना उचित होगा।[3]

टिप्पणियाँ

१. प्राचीनकाल में यूरोप के पश्चिम प्रदेश के निवासी कैल्ट कहलाते थे। यह आर्य परिवार की भाषा बोलते थे।

२. स्पेन, पोर्त्तुगाल और फ्रांस का दक्षिण पश्चिमी-भाग आइबेरी प्रायद्वीप कहलाता है। यहाँ के प्राचीन निवासी आइबेरियन् कहलाते थे।

३. यह विवेचन आगे चलकर १३ और १४ वें खण्डों में किया गया है।

३

राष्ट्ररत जीवन और आत्मरत जीवन

अब हमको उन लोगों के मतों का विचार करना चाहिये, जो इस बात में तो सहमत हैं कि भलाई (या सद्वृत्ति) का जीवन सबसे अधिक वांछनीय है, परन्तु जो इस सिद्धान्त के व्यवहार के ढंग पर एकमत नहीं हैं। इस प्रकार दो पृथक्-पृथक मतों का विवेचन

करना है। एक वर्ग ऐसा है जो राजनीतिक पदों से दूर रहता है, तथा स्वतंत्र व्यक्ति जीवन को राजनीतिज्ञ के जीवन से पृथक् मानते हुए, इसी जीवन को सबसे अधिक वांछनीय समझता है। पर दूसरा वर्ग राजनीतिज्ञ के जीवन को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है।[1] उनका कहना है कि कुछ न करनेवाले, भला करते नहीं कहे जा सकते; तथा उनके मत में भला करना और सुख यह दोनों एक ही वस्तु हैं। दोनों ही पक्षों से हमारा कहना है कि आप दोनों अंशतः ठीक कहते हैं और अंशतः ठीक नहीं कहते। प्रथम वर्ग का यह मानना सत्य (ठीक) है कि स्वतंत्र मनुष्य का जीवन (कितने ही दासों के) स्वेच्छाचारी प्रभु से अधिक अच्छा है; क्योंकि दास के रूप में दासों से काम लेना (अथवा दासों पर शासन चलाना) कोई बड़ी गौरवपूर्ण बात नहीं है; तथा परमावश्यक कार्यों के विषय में दासों को आज्ञा देने में भी शोभनता का लेशमात्र अंश नहीं है। पर दूसरी ओर यह मान लेना कि सभी शासनकार्य दासों के ऊपर चलनेवाला स्वेच्छाचारपूर्ण प्रभुत्व ही है, गलत है। स्वतंत्र लोगों पर किये जानेवाले शासन, और दासों पर किये जानेवाले शासन का अन्तर स्वभावतः स्वतंत्र मनप्य और स्वभावतः परतंत्र मनुष्य के अन्तर से कम नहीं होता। इस विषय में इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में पर्याप्त रूप से विवेचन किया जा चुका है। (उपर्युक्त प्रथम वर्ग का) अक्रियता को सक्रियता से अधिक बढ़कर बताना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सुख तो सक्रियता ही है। इसके अतिरिक्त न्यायपरायण और संयमशील (अथवा बुद्धिमान) के कार्य एक बड़ी सीमा तक शोभनता की ही परिपूर्णता होते हैं।

अब हम जिस निश्चय पर पहुँचे हैं स्यात् उसका यह अर्थ किया जा सकता है कि सर्वोपरि सत्ता ही सर्वोपरि भलाई है; क्योंकि यही (सर्वोपरि सत्ता) सबसे अधिक संख्या में सबसे अधिक शुभ कार्यों के करने की शक्ति भी है। यदि ऐसा है तब तो इससे यह अनुमान सिद्ध होगा कि जो व्यक्ति शासन करने की सामर्थ्य रखता है उसको अपने पड़ोसी को अपनी शक्ति में से कोई भी अंश देना नहीं चाहिये (अथवा जिस शक्ति से वह अपने पड़ोसी पर शासन कर रहा है उसमें से कुछ भी शक्ति पड़ोसी के अधीन नहीं कर देनी चाहिये) प्रत्युत उसकी शक्ति का अपहरण ही करना चाहिये। पिता को अपने पुत्रों की ओर कुछ ध्यान नहीं देना चाहिये और न पुत्रों को पिता की ओर; तथा न किसी भी प्रकार के मित्रों को मित्रों के प्रति कोई ध्यान देना चाहिये; इस सर्वोपरि सिद्धान्तबिन्दु को समक्ष रखते हुए किसी को किसी की भी कोई गणना नहीं करनी चाहिये। सबको इस सिद्धान्त के अनुसार काम करना चाहिये कि जो सबसे श्रेष्ठ है वही सबसे अधिक वांछनीय है और भलाई करना ही सबसे श्रेष्ठ (सम्पत्ति) है। इस

दृष्टिकोण में स्यात् कुछ सत्य होना संभव था यदि ऐसा होता कि जो लोग लूटपाट और हत्या करते हैं उनको परम वांछनीय तत्व की उपलब्धि हो गयी होती। पर उनको इस प्रकार की सिद्धि की प्राप्ति असंभव है; एवं उनको इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त हुई मान लेना एक झूठी मान्यता है। कार्यों का भला होना तब तक संभव ही नहीं है जब तक कि उनको करनेवाला स्वयं अन्य मनुष्यों से इतना बढ़कर नहीं हैं जितना कि पुरुष नारी की अपेक्षा, पिता अपने बच्चों की अपेक्षा अथवा प्रभु अपने दासों की अपेक्षा बढ़ कर होता है। अतएव नियम का अतिक्रमण करनेवाला भविष्य में कोई ऐसा लाभ प्राप्त नहीं कर सकता जो भलाई की उस हानि को पूर्ति कर सके जो उसके नियमातिक्रमण से हो चुकी है। बराबरीवाले समाज में शोभन और न्यायानुमोदित मार्ग यही है कि सब शासनाधिकार पद को बारी-बारी से भोगें, जैसा कि समानता और सदृशता के सिद्धान्त के अनुकूल है। पर यह बात तो प्रकृति के प्रतिकूल है कि समान लोगों को समान भाग न मिले तथा जो परस्पर एक सदृश हैं, उनको सदृश भाग न मिले (अथवा उनके प्रति सदृशता का व्यवहार न किया जाय) और जो बात प्रकृति के प्रतिकूल है वह कभी शोभन हो नहीं सकती। अतएव यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो सद्वृत्ति में अन्य लोगों से अपेक्षाकृत अधिक अच्छा हो तथा श्रेष्ठ कार्य करने में सामर्थ्यवान् हो, तब ऐसा संयोग घटित होता है कि ऐसे अन्य (अपने से भिन्न) व्यक्ति का अनुसरण करना और विश्वास करना (आज्ञा पालन करना) न्यायोचित होता है। केवल भलाई ही पर्याप्त नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत उसके साथ ही भलाई करने में सक्रिय होने के लिये क्षमता भी चाहिये।

यदि हमारा यह कथन (मत) ठीक है और यदि भले कार्य करना ही सुख माना जाय, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि सामूहिक रूप से समग्र नगर के लिये तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये सक्रिय जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है। पर सक्रिय जीवन के लिये (जैसा कि कुछ लोगों का विचार है) यह अनिवार्य नहीं है कि उसका संबन्ध अन्य लोगों से हो ही; तथा ऐसा भी नहीं है कि वे ही विचार सक्रिय समझे जायँ जो ऐसे पदार्थों के प्रति निर्दिष्ट हों जो कि करनी के द्वारा प्राप्त किये जाने हैं; प्रत्युत वे विचार जो स्वयं अपना अन्तिम लक्ष्य हैं (जो अन्य लक्ष्य से मुक्त हैं) तथा वह चिन्तन और ध्यान की सरणियाँ जो स्वतः अपने में पूर्ण हैं तथा जिनका उद्देश्य स्वयं अपना अनुसरण करना, कहीं अधिक सक्रिय "विशेषण" के पात्र हैं। हमारा (अन्तिम) लक्ष्य है भलाई करना; अतएव किसी न किसी प्रकार का कार्य हमारा उद्देश्य है; पर बाह्य (भौतिक) कार्य के क्षेत्र में भी "कार्य करना" इस शब्द का प्रयोग पूर्णार्थ में

कार्यों के निर्देश करनेवाले मस्तिष्क (विचारों) के प्रति भी किया जा सकता है।[२] और न यही वात अनिवार्य है कि जो नगर अन्य नगरों से पृथक् स्थित हैं, तथा जिनका अकेला रहने का निश्चय है उनको निष्क्रिय समझा जाय; वे अपने (आन्तरिक) विभागों द्वारा इस (सक्रियता) को प्राप्त कर सकते हैं; नगरों के विभिन्न सामाजिक विभागों के परस्पर संपर्क के वहुत से प्रकार हो सकते हैं।[३] यही वात प्रत्येक मनुष्य के विपय में भी इसी के समान लागू होती है। यदि ऐसा न होता तो, ईश्वर और जगत, जिनमें स्वगत क्रियाकलाप के अतिरिक्त और कोई वाह्य कार्य नहीं है, दोनों में ही कुछ न कुछ स्खलन अवश्य होता।

अतएव यह स्पप्ट है कि जो जीवन-पद्धति एक व्यक्ति के लिये श्रेप्ठ है, वही अनिवार्यतया समग्र नगर के लिये और उस नगर के सव मनुप्यों के लिये (व्यप्टितः) भी श्रेप्ठ है।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खंड के प्रारंभ में जो दो प्रश्न प्रस्तुत किये गये थे उनमें से प्रथम का विवेचन यहाँ आरंभ किया गया है।

२. अरिस्तू के मत में चिन्तन भी एक कार्य है।

३. आत्मतुष्ट नगर अरिस्तू के मत में सुखी और सक्रिय दोनों ही होता है।

४

आदर्श-नगर की जनसंख्या की मर्यादा

प्रस्तुत विवेचन की इतनी भूमिका (पूर्वपीठिका) को दृप्टि में रखते हुए तथा, जो कुछ अन्य आदर्श राप्ट्रों के विपय में हम पहले अन्वेपण कर चुके हैं उसको भी ध्यान में रखते हुए हम अव अवशिप्ट विपय का विवरण आरंभ कर सकते हैं, जिसमें सर्वप्रथम ज्ञातव्य वात यह है कि किसी आदर्श नगर-राप्ट्र के निर्माण के लिये परमावश्यक आधार क्या होने चाहिये? आदर्श राप्ट्र की सत्ता समुचित उपादानों[१] के विना तो संभव हो ही नहीं सकती। अतएव हमको वहुत सी ऐसी आदर्श अवस्थाओं की पूर्वकल्पना करनी चाहिये जो कि आदर्श होते हुए भी असंभव न हों। इन आदर्श दशाओं में से उदाहरणस्वरूप नागरिक जनसमूह और (निवास)-भूमि का उल्लेख किया जा सकता

है। जिस प्रकार अन्य शिल्पियों (कारीगरों) को, उदाहरणार्थ जुलाहों तथा जहाज़ बनानेवालों को अपने अपने शिल्प के अनुरूप और समुचित उपादान मिलने चाहिये (और जिस मात्रा में यह उपादान अधिक अच्छे प्रस्तुत किये गये होंगे, उतनी ही मात्रा में शिल्प द्वारा प्रस्तुत शिल्पकृति भी अवश्य ही उत्तम होगी), इसी प्रकार राजनीतिज्ञ को और नियमनिर्माता को भी अपने कार्य के अनुरूप उपादान मिलने चाहिये जो उनके विशिष्ट उद्देश्य के लिये समुपयोगी हों।

नगरराष्ट्र के निर्माण में राजनीतिज्ञ को जो उपादान चाहिये उनमें प्रथम उपादान मानव-समूह है, (जिसके विषय में यह विचार करना है) कि स्वाभाविकतया उस (मानव-समूह) की मात्रा (संख्या) कितनी और उसका प्रकार (अथवा गुण) कैसा होना चाहिये। इसके उपरान्त दूसरा उपादान भूमि है; उसके विषय में भी इसी प्रकार विचार करना है कि उसकी मात्रा और लक्षण कैसे होने चाहिये। बहुत से लोगों का विचार है कि सुखी नगर को बड़ा होना उचित है। यदि यह विचार ठीक भी हो तो भी वे लोग यह नहीं जानते कि वास्तव में बड़ा अथवा छोटा नगर कौन-सा होता है। वे तो नगर के बड़प्पन का निर्णय निवासियों के समूह की संख्या के आधार पर किया करते हैं; पर वास्तव में उनको निवासियों के समूह की संख्या को नहीं प्रत्युत उनकी क्षमता (शक्ति) को देखना चाहिये (और उसके आधार पर महत्ता का निर्णय करना चाहिय)। अन्य वस्तुओं (अथवा व्यक्तियों) के समान नगर का भी कोई अपना कार्य होता है; अतएव जो नगर अपने नगरत्व के कार्य को संपादित करने में सबसे अधिक क्षमता का परिचय देता है उसको इसी प्रकार सबसे महान् नगर समझा जाना चाहिये, जिस प्रकार हिप्पौक्रातीस्[२] (अश्वबल) मनुष्य-शरीर में तो नहीं पर वैद्य के रूप में स्वाभाविकतया उस मनुष्य से बढ़कर कहा जायगा जो शरीर की विशालता में उससे बढ़कर हो। पर यदि हम किसी नगर की महत्ता का निर्णय उसके निवासियों के समूह को देखकर करें, तो भी हमको किसी भी निवासियों की संख्या पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिये। क्योंकि किसी भी नगर में सर्वदा ही दासों की, बसे हुए विदेशियों और परदेशियों की एक बड़ी संख्या अनिवार्यतया होती है। अतएव यदि हम संख्या को निर्णय का आधार बनायें तो भी हमको नगर-निवासियों की गणना में उनको ही सम्मिलित करना चाहिये जो नगर के वास्तविक सदस्य हैं और नगर की रचना के सारभूत घटक हैं। ऐसे लोगों की संख्या की अत्यन्त अधिकता किसी नगर की महत्ता का चिह्न (प्रमाण) हो सकती है। पर वह नगर जिसमें से केवल शिल्पी ही बहुत बड़ी संख्या में (युद्धक्षेत्र में जाते हैं) उत्पन्न होते हैं तथा जिसमें भारी शस्त्रास्त्र-

वाले योद्धा वहुत थोड़ी संख्या में होते हैं, संभवतया महान नहीं हो सकता। नगर का महान होना तथा वहुत घना बसा होना दोनों एक वात नहीं है।

फिर एक वात यह भी है कि अनुभव से यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी भी वहुत जनसंख्यावाले नगर के लिये सुनियमित (नियमों का अनुसरण करनेवाला) होना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। निरीक्षण ने यह वतलाया है कि जो राष्ट्र सु-प्रवन्ध (सुशासन) के लिये विख्यात हैं उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो जन-संख्या के विषय में अमर्यादित हो। यही तथ्य दार्शनिक युक्तियों के वल पर भी सिद्ध किया जा सकता है। नियम (कानून) किसी प्रकार की व्यवस्था ही तो है, और सुनियमता अवश्य ही सु-व्यवस्था होनी चाहिये; पर संख्या की अत्यन्त अधिकता का व्यवस्था का भागी होना शक्य नहीं है। असीम में व्यवस्था की सृष्टि करना दैवी-शक्ति का काम है जो इस समग्र विश्व को एकत्र संघटित रखती है, जिस (विश्व में) सौन्दर्य, संख्या और विशालता निहित पायी जाती है। अतएव, जो नगर विशालता के साथ उपर्युक्त व्यवस्था के आदर्श को समन्वित कर सकेगा, वही अनिवार्यतया सवसे सुन्दर नगर होगा। पर जिस प्रकार अन्य वस्तुओं में—जैसे कि, प्राणी, उद्भिज, तथा करणों में—एक (सीमित) मात्रा होती है इसी प्रकार नगरों के विस्तार (विशालता) की एक सीमित मात्रा है। और इनमें से प्रत्येक, अत्यधिक छोटा रहने पर अथवा अतिशय विशाल होने पर, अपना कार्य करने योग्य रह नहीं जाता। ऐसा होने पर कभी तो यह विलकुल ही अपनी प्रकृति को खो वैटता है, और कभी दोषपूर्ण हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि एक जहाज़ एक वालिश्त लम्वा हो तो वह कोई जहाज़ नहीं होगा और यदि वह दो स्तादियन् (१२०० फ़ीट) लम्वा हो तो भी ज़हाज़ नहीं होगा; और फिर इन दोनों आकारों के मध्यवर्ती आकार के जहाज़ भी ऐसे हो सकते हैं जो या तो वहुत अधिक छोटे होने के कारण अथवा अतिशय वड़े होने के कारण तैरने के कार्य में कठिनाई उत्पन्न (दोष उत्पन्न) कर सकते हैं। यही वात नगर के संवंध में भी ठीक है, जो कि वहुत छोटा होने पर आत्मनिर्भर न हो, जैसा कि उसको परिभाषानुसार होना चाहिये; और दूसरी ओर वहुत ही वड़ा नगर सव अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओं में तो अवश्य ही आत्मनिर्भर हो सकता है जैसे कि कोई भी जाति होती है, पर तो भी वह (वास्तविक अर्थ में) नगर नहीं होगा; क्योंकि उसकी शासन-व्यवस्था करना सरलता से संभव नहीं होगा। भला इतने अतिशय विशाल जन-समूह का सेनानायक कौन होगा? तथा जवतक किसी को स्तेन्तोर[१] का कण्ठ प्राप्त न हो तवतक उस नगर का आदेशक कौन होगा?

अतएव प्रारंभ में तो अवश्य ही नगर की जनसंख्या ऐसी होनी चाहिये कि वह प्रारंभिक जनसंख्या नागरिक समाज की दृष्टि से सत् जीवन के निमित्त आत्मनिर्भर हो; जो नगर इस (प्रारंभिक) जनसंख्या का अतिक्रमण करता है वह फिर भी एक बड़ा नगर बना रह सकता है; पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ यह जन-वृद्धि सीमारहित नहीं हो सकती। वृद्धि की सीमा क्या हो, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर अनुभव (अथवा तथ्यों) के आधार पर देना सरल है। नगर के कार्यों में से कुछ तो शासकों के कार्य होते हैं और कुछ शासितों के; शासकों का कार्य आदेश (आज्ञा) करना और निर्णय करना होता है (तथा शासितों का कार्य शासकों का निर्वाचन करना)। विवादग्रस्त विपयों का ठीक-ठीक निर्णय करने के लिये तथा योग्यता के अनुसार शासनाधिकार-पदों को (शासकों में) वितरण करने के लिये, किसी भी नगर के नागरिकों को एक दूसरे का चरित्र (=यह बात कि कौन कैसा है) अवश्यमेव जानना चाहिये। जहाँ कहीं ऐसा ज्ञान घटित नहीं होता वहाँ शासनाधिकार-पदों पर शासकों का निर्वाचन तथा विवादों का निर्णय, यह दोनों ही त्रुटि-(=दोष)पूर्ण रहेंगे।[४] यह दोनों ही कार्य ऐसे हैं जिनमें यों ही बिना विचार किये निर्णय कर डालना ठीक नहीं; पर जहाँ जनसंख्या बहुत अधिक होती है वहाँ प्रत्यक्षतया बहुत कुछ निर्णय इसी प्रकार किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, (अधिक जनसंख्यावाले नगर में) बसे हुए विदेशी और परदेशी लोग सरलता से नागरिकता के अधिकार प्राप्त कर लेते हैं; बहुत अधिक संख्या में उनका ध्यान से विस्मृत हो जाना (अर्थात् यह तथ्य विस्मृत हो जाना कि वे नागरिक नहीं विदेशी हैं) कठिन नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि नगर की जनसंख्या की सर्वोत्तम सीमा वह अधिकतम संख्या है जो जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो तथा जो सन्निरीक्ष्य हो। नगर की जनसंख्या के आकार की सीमा निर्धारण करने के विषय में इतना विवेचन पर्याप्त है।

टिप्पणियाँ

१. उपादानों के लिये ग्रीक भाषा में "खोरेगिया" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ व्यय अथवा सम्बल भी होता है।

२. हिप्पोक्राती(ते)स् का जन्म कॉस् नामक द्वीप में ई० पू० ४६० के लगभग हुआ था। इनको यनान का धन्वन्तरि कहना चाहिये। इनकी रचनाओं की संख्या

७२ कही जाती है। पर वास्तव में इनमें से अनेकों रचनाएँ इनकी नहीं हैं। इनकी कुछ रचनाएँ सूत्रात्मक भी हैं। उदाहरण-स्वरूप एक सूत्र का अनुवाद इस प्रकार है "जीवन छोटा है, विद्या विशाल है, प्रयोग भयपूर्ण है, निर्णय कठिन है।" इनकी मृत्य लम्बी आयु भोगकर लारिस्सा नगरी में हुई।

३. स्तैन्तोर त्रॉय में रहता था इसका कण्ठ-नाद पचास मनुष्यों के कण्ठनाद के समान था।

४. न्यायकर्ताओं को वादी-प्रतिवादियों से व्यक्तिगत रूप से परिचित होना चाहिये, नहीं तो वे ठीक निर्णय नहीं कर सकेंगे।

५. अरिस्तू ने आदर्श जन-संख्या की दो कसौटियाँ प्रस्तुत की हैं--(१) संख्या इतनी और इतने विविध प्रकार की हो कि अच्छे जीवन की आवश्यकताओं के संबंध में भले प्रकार और पूर्णतया आत्मनिर्भर हो सकें; (२) इतनी अधिक न हो कि नागरिकों को एक दूसरे से पूरा और अच्छा परिचय न हो सके।

वि० यद्यपि मकँदौनिया का फिलिप और उसका पुत्र अरिस्तू की आँखों के सामने ग्रीक नगर-राष्ट्र की स्वतंत्र सत्ता को मिटाकर साम्राज्य का निर्माण कर रहे थे पर ज्ञानियों का गुरु (master of those that know) अरिस्तू समय की गति को देखकर भी नहीं देख सका। वह साधुतापूर्ण आत्मनिर्भर सुव्यवस्थित नगर के सुन्दर स्वप्न को ही अपने हृदय से चिपटाये रहा। क्योंकि यूनानी जगत् स्वेच्छा से नगर-प्रेम को त्यागकर अधिक विशाल राजनीतिक इकाई का निर्माण नहीं कर सका तथा अलैक्ज़ाण्डर की मत्यु अल्पायु में ही हो गई अतएव यूनान का विलय रोमन साम्राज्य में हो गया। २०वीं शताब्दी के मध्य का नागरिक इन विचारों पर केवल मुस्करा सकता है।

५

आदर्श नगर का भूमिक्षेत्र

लगभग यही विवेचन भूक्षेत्र के विषय में भी लागू होता है। जहाँ तक इस प्रश्न का संबंध है कि नगर का भूक्षेत्र कैसा हो तो इस संबंध में यह स्पष्ट है कि सब ऐसे भूक्षेत्र को प्रशंसनीय बतलायेंगे जो सबसे अधिक आत्मनिर्भर हो। ऐसी भूमि वही होगी जो सब प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करती है, क्योंकि आत्मनिर्भरता का लक्षण है सब कुछ अपने पास रखना तथा किसी वस्तु के अभाव से पीड़ित न होना। विस्तार और

आकार में भूक्षेत्र ऐसा होना चाहिये उससे उस पर निवास करनेवाली जनता संयम और उदारता से समन्वित अवकाशपूर्ण जीवन विता सके। यह सीमा-निर्धारण ठीक है या नहीं इस विषय का ठीक ठीक यथातथ्य अनुसंधान हम आगे चलकर तव करेंगे जव कि हम सम्पत्ति और सम्पत्ति के अधिकार के प्रश्न का सामान्य विवरण प्रस्तुत करेंगे तथा इस विषय की मीमांसा करेंगे कि सम्पत्ति (के स्वामित्व) और उपयोग का क्या संवंध होना चाहिये।[१] यह एक ऐसा विषय है जो अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है; क्योंकि सामान्यतया मनुष्यों का झुकाव कुछ इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का है कि वह दो अतिशयों में से एक न एक की दिशा में चला ही जाता है—या तो कंजूसी की दिशा में अथवा अपव्यय की दिशा में।

भूखंड की सामान्य अवस्था का निर्धारण करना कठिन काम नहीं है (यद्यपि इस विषय से संवंध रखनेवाली वहुत सी वातें ऐसी हैं जिन पर युद्धाध्यक्षों की सम्मतियों को भी ध्यानपूर्वक सुना जाना चाहिये।) नगर की भूमि ऐसी होनी चाहिये कि वह शत्रुओं के लिये दुष्प्रवेश्य हो और नगर-निवासियों के लिये उससे वाहर निकलना सरल हो। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हमने नगर-निवासियों की संख्या के विषय में कहा था कि वह सन्निरीक्ष्य होनी चाहिये, वैसा ही भूखंड के विषय में भी होना चाहिये। वह भूखंड जो सुसन्निरीक्ष्य[२] होता है उसकी रक्षा भी सरलता से की जा सकती है। जहाँ तक (केन्द्रीय) नगर की स्थिति का प्रश्न है, यदि हमारे इच्छानुसार स्थान मिल सके तो उसको ऐसे स्थान पर स्थापित किया जाना चाहिये जहाँ जल (समुद्र) और स्थल दोनों से सरलता से पहुँचा जा सके। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रथम वात तो यह होनी चाहिये कि वह ऐसी सुविधाजनक मण्डी (व्यापारिक केन्द्र) हो जहाँ सव प्रकार के फल और क्षेत्रों की उपज लाई जा सके तथा मकान वनाने की लकड़ी, और अन्य किसी स्थानीय कला-कौशल के लिये कच्चा माल सरलता से लाया तथा ले जाया जा सके।

टिप्पणियाँ

१. यह प्रतिज्ञा आगे चलकर पूरी नहीं की गई। पर इस विषय का विवेचन प्रथम और द्वितीय पुस्तक में किया जा चुका है। वहाँ यह सुझाया गया है कि सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति के हाथ में होना चाहिये तथा उसका उपयोग सार्वजनिक होना चाहिये।

२. जिसको भले प्रकार देखा और समझा जा सके।

६

नगर और पत्तन = बन्दरगाह

किसी सुव्यवस्थित नगर के लिये समुद्र का संपर्क लाभदायक होता है अथवा हानि-कारक, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर वहुत अधिक विवाद होता रहा है। कुछ लोगों की धारणा है कि अन्य नियमों (काननों) की छत्रच्छाया में पले हुए लोगों का आगमन और उसके फल-स्वरूप जनसंख्या की वृद्धि यह दोनों ही वातें नगर की सुव्यवस्था के प्रतिकूल हैं। उनका कहना है कि जव बहुत से व्यापारी माल के आयात और निर्यात के लिये समुद्र का उपयोग करते हैं तो इससे जनसंख्या में उपर्युक्त (विदेशियों की) वृद्धि हो ही जाती है, तथा यह वृद्धि सुव्यवस्था की विरोधिनी है। पर दूसरी ओर यह वात भी अस्पष्ट नहीं है कि यदि जनता की यह वृद्धि घटित न हो तो किसी भी राष्ट्र के पुर और जनपद दोनों के लिये समुद्र से सम्पर्क होना, सुरक्षितता और आवश्यक वस्तुओं के प्रभूत आयात दोनों की दृष्टि से अधिक अच्छा है। (सुरक्षितता का उप-भोग करने के लिये) तथा शत्रुओं के आक्रमण का सरलता से सामना करने के लिये नगर की स्थिति ऐसी होनी चाहिये जिससे उसको स्थल तथा जल (समुद्र) दोनों ही ओर से सहायता पहुँचाकर वचाया जा सके। यदि नगर का संवंध समुद्र से हो तो यह स्थिति आक्रमणकारी शत्रुओं का विरोध करके उनको हानि पहुँचाने के लिये भी अच्छी होती है; यदि नगर-रक्षक जल और स्थल दोनों का उपयोग कर सकते हों तो चाहे वे दोनों का एक साथ उपयोग न भी कर पायें तो (कम से कम) किसी एक क. उपयोग कर (शत्रु को हानि पहुँचा सकते हैं।) फिर आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि जिन वस्तुओं को कोई राष्ट्र स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता उनको दूसरे राष्ट्रों से ग्रहण करे तथा जो वस्तुएँ अपने यहाँ आवश्यकता के अतिरिक्त हों उनको वाहर भेज दे; नगर को अपने लिये, न कि दूसरों के लिये, अवश्यमेव सौदागरी करनी ही चाहिये। जो नगर अपने आपको दुनिया भर के लिये हाट में परिणत कर देते हैं वे ऐसा केवल लाभ (आय) के लिये करते हैं। और यदि किसी राष्ट्र को ऐसी लाभ-प्राप्ति का लोलुप नहीं होना चाहिये तो उसको अपने आपको ऐसा हाट भी नहीं वनाना चाहिये। आजकल हम प्रदेशों (जनपदों) और नगरों में वहुधा एसे नौद्वार और नौशरण देख पाते हैं जो नगर से वड़ी ही सुविधाजनक स्थिति में स्थित हैं, जो नगर से स्पष्टतया पृथक् हैं पर वहुत दूर नहीं हैं, पर प्राचीरों एवं इसी प्रकार के अन्य रक्षा-साधनों से मुट्ठी (वश) में रक्खे जा सकते हैं।[1] स्पष्ट है कि यदि नगर के

नौद्वार के साथ संबंध से कोई लाभ (सुविधा) प्राप्त होना संभव है तो उसको यह नगर इस ढंग से प्राप्त कर लेंगे। यदि कोई असुविधा अथवा हानि होना संभव हो तो उसको ऐसे नियमों (कानूनों) के द्वारा बचाया जा सकेगा जो इस तत्त्व को घोषित और निर्धारित करेंगे कि किसको किसके साथ परस्पर संसर्ग नहीं करना चाहिये और किसको करना चाहिये।

नौसेना की सामान्य मात्रा में शक्ति को अधिकार में रखना नगर के लिये लाभदायक होता है, यह बात अस्पष्ट (संदिग्ध) नहीं है। यह केवल आत्मरक्षा का ही उपाय नहीं है; प्रत्युत जो कुछ निकटवर्ती अन्य पड़ोसी नगर हों तो हमारे प्रकृत नगर को उनको डराने की क्षमता रखनी चाहिये, अथवा (आवश्यकता पड़ने पर) जल और स्थल दोनों ही मार्गों से सहायता करने की क्षमता रखनी चाहिये। इस नौसेना की संख्या और विशालता (आकृति) नगर के जीवन-प्रकार पर निर्भर होगी। यदि कोई राष्ट्र (अन्य राष्ट्रों के मध्य में) राजनीतिक जीवन में नेतृत्व पाने का इच्छुक हो तो यह अनिवार्य होगा कि उसकी नौसेना की शक्ति इतनी हो जितनी इस प्रकार के कार्यों के लिये पर्याप्त मात्रावाली हो। नाविकों के समूह से जनसंख्या की वृद्धि होने के विषय में हमारा यह कहना है कि नगर में ऐसा होना अनिवार्य नहीं है; क्योंकि यह नाविक नगर के घटक (नागरिकों के अधिकार पाये हुए) नहीं होने चाहिये।[२] पर नौसैनिक जो कि पूर्णतया स्वाधीन नागरिकों की कोटि के अन्तर्गत हैं, पदाति सेना के भी अंग होते हैं; तथा नौकाओं पर नियंत्रण और आदेश किया करते हैं। पर यदि बँधुओं और भूमिहार कृषक-श्रमिकों की बहुत बड़ी संख्या विद्यमान हो तो फिर तो ढेरों नाविक (मल्लाह, खेवट) अवश्य ही मिल जायँगे। और इस प्रथा का व्यवहार हम आजकल कुछ नगरों में (वास्तव में) देखते हैं। उदाहरणार्थ, (कृष्णसागर के तट पर स्थित) हेराक्लिया नामक नगरी इसी प्रथा का अनुसरण करती है; यद्यपि इस नगरी में (नागरिकता का अधिकारप्राप्त) जनसंख्या अन्य नगरों की अपेक्षा बहुत कम है, तथापि वह बहुत सी नौकाओं को पूर्णतया प्रस्तुत कर सकी है। भूखंड (जनपद), बन्दरगाह, नगर (पुर), समुद्र और नौ-सेना की शक्ति के विषय में हमारे निर्णय इसी प्रकार के हैं।

टिप्पणियाँ

१. स्पष्ट ही इस कथन का उदाहरण स्वयं अथेन्स ही था। अथेन्स का पत्तन (बन्दरगाह) नगर से पाँच मील की दूरी पर था। उसका नाम पैइरायस् था। नगर

से इसका संबंध लम्बी दीवारों के द्वारा स्थापित किया गया था। यह दीवारें अथेन्स को पैइरायस् और फालेरस् से जोड़ती थीं। पैरीक्लेस की आज्ञा से एक तीसरी दीवार और बनाई गई थी जो मध्यम दीवार कहलाती थी, पैइरायस् की दीवार के समानान्तर उससे २०० गज की दूरी पर स्थित थी। यह पैइरायस् को जोड़नेवाली दीवारें १२ फुट मोटी और ४ मील लम्बी थीं। इनके टूटे-फूटे अवशिष्ट खँडहर १८ वीं शताब्दी तक यात्रियों द्वारा देखे गये थे। इनका निर्माण ई० पू० ४०० और ई० पू० ४४५ में हुआ था।

२. अरिस्तू नाविकों की उपयोगिता का तो अनुभव करता है पर वह उनको नागरिकता का अधिकार नहीं देना चाहता। उसको भय है कि नाविकों को नागरिक बनाने से आदर्श नगर में अतिगामी जनतंत्र-व्यवस्था स्थापित हो सकती है और वह इस व्यवस्था को वांछनीय नहीं मानता।

७

आदर्श नगर के नागरिकों का स्वभाव

नागरिक जनों की संख्या के विषय में नगर का क्या मानदंड होना चाहिये, इसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। अब हम यह बतलायँगे कि नागरिकों की प्रकृति किस प्रकार की होनी चाहिये। यदि हम ख्यातिप्राप्त हैलैनीस (ग्रीक) नगरों पर, तथा समग्र निवासयोग्य भूमंडल पर बिखरी हुई मानव जातियों पर सामान्यतया दृष्टिपात करें तो यह बात (कि नागरिकों की प्रकृति कैसी होनी चाहिये) लगभग भली प्रकार समझ में आ जायगी। शीतप्रधान स्थानों में रहनेवाली जातियों में (सामान्य रूपेण) तथा यूरोप में रहनेवाली जातियों में विशेषरूपेण ओजस् (साहस[1]) तो भरा रहता है पर उनमें बुद्धिमत्ता[2] तथा कौशल का अपेक्षाकृत अधिक अभाव रहता है। अतएव वे अन्य लोगों की अपेक्षा लगातार स्वतंत्र तो अधिक बने रहते हैं पर न तो स्वयं ही उनका राजनीतिक विकास हुआ है और न वे अपने पड़ोसियों पर शासन करने की क्षमता ही रखते हैं। एशिया-निवासी बुद्धिमत्ता तथा कौशल इत्यादि आध्यात्मिक गुणों से युक्त होते हैं पर उनमें ओजस् (साहस) का अभाव होता है; अतएव वे निरन्तर शासित और दास बने रहते हैं। हैलैनीस जनता इन दोनों प्रदेशों (यूरोप और एशिया) के मध्य में बसी हुई है अतएव उभय प्रकार की जातियों के गुणों से समन्वित है (अथवा उभय प्रकार की जातियों के गुणों का अंश इसको प्राप्त है।) इसको ओजस् तथा बुद्धिमत्ता दोनों ही उपलब्ध हैं; अतएव यह निरन्तर स्वतंत्र भी

बनी रहती है, तथा अन्य सब जातियों की अपेक्षा अधिक सुशासित है; और यदि यह जाति केवल एक बार राजनीतिक एकता प्राप्त कर ले तो सब (संसार) पर शासन करने की क्षमता (भी) रखती है।[3] (जिस प्रकार का भेद ग्रीक और अन्य जातियों में पाया जाता है) कुछ इसी प्रकार का अन्तर ग्रीक (हैलैनीस) जातियों में भी परस्पर उपलब्ध होता है; उनमें से कुछ एकांगी स्वभाववाली हैं; दूसरी कुछ जातियों में दोनों उपर्युक्त क्षमताओं का शुभ संयोग घटित हुआ है।

अतः यह स्पष्ट है कि नियम-निर्माता को जिन लोगों को सदाचार के मार्ग पर ले चल सकना सरल कार्य होगा वे वह लोग होंगे जिनको यह बुद्धिमत्ता और ओज (साहस) का संयोग स्वभावतः प्राप्त होगा। कुछ लोगों का कहना है कि रक्षकों की प्रवृत्ति अपने परिचित व्यक्तियों के प्रति मित्रतापूर्ण होनी चाहिये तथा अपरिचितों के प्रति कठोर होनी चाहिये; इस प्रकार की प्रवृत्ति ओजः पूर्ण स्वभाववाले व्यक्ति की हो सकती है।[4] यही (ओजस्) हमारी आत्मा की ऐसी शक्ति है जो प्रेम और मित्रता के रूप में परिणत होती है। इसका प्रमाण यह है कि जब कभी हम अपने को किसी के द्वारा अवमानित हुआ अनुभव करते हैं तब हमारी यह राजस् (ओजस्) वृत्ति अपरिचितों की अपेक्षा परिचितों, मित्रों की ओर कहीं अधिक विक्षुब्ध हो उठती है। अतएव आर्खिलोखस,[5] अपने मित्रों के प्रति अधिक्षेप करते हुए अत्यन्त औचित्य के साथ अपनी राजस् वृत्ति को ही सम्बोधन करके कहता है—

निश्चय मित्रों के ही गृह में तू आहत (क्षतपूर्ण) हुआ।

आदेश करने की (शासन करने की) और स्वतंत्रता का अनुभव करने की शक्ति सब मनुष्यों में इसी प्रवृत्ति पर निर्भर हैं, क्योंकि रागवृत्ति आदेशपूर्ण और अजेय है। यह जो कहना है कि (रक्षकों को) अपरिचितों के प्रति कठोर होना चाहिये, तो यह भी कोई अच्छी बात नहीं है; उनको किसी के भी प्रति कठोर नहीं होना चाहिये। उदारचेता महात्मा लोग स्वभावतः किसी के भी प्रति कठोर नहीं होते, हाँ, कुकर्म करनेवाले इसके अपवाद हैं (अर्थात् उनके प्रति महात्मा रुष्ट और कर्कश हो सकते हैं)। तथापि यदि उनको ऐसा लगे कि उनके प्रति दुर्व्यवहार करनेवाले उनके परिचित व्यक्ति ही हैं तो, जैसा कि हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं, वे सम्भवतया कहीं अधिक कठोरता प्रदर्शित करेंगे तथा यह बात युक्तिसंगत भी है। ऐसी स्थिति में हमको ऐसा लगता है कि जिन लोगों को हम पूर्व सेवाओं के कारण अपने प्रति उपकार करने के लिये बाधित

मानते हैं वह हमको अपमान के सहित हानि पहुँचा रहे हैं और कृतघ्नता के सहित हमारा अपकार कर रहे हैं। जैसा कि कहा है—

अति कठोर भाई भाई के होते विग्रह।[६]

और फिर,

अतिशय प्रणय किया करते जो, वही घृणा करते अत्यन्त।

इस प्रकार हमने (आदर्श) राष्ट्र के आधारभूत तत्त्वों—जनसंख्या और भूक्षेत्र—के विषय में सामान्यरूप से यह निर्धारित कर दिया कि उसके जनसमूह की समुचित संख्या कितनी होनी चाहिये तथा उनके स्वाभाविक गुण क्या होने चाहिये एवं उसके जनपद का क्या आकार होना चाहिये तथा भूमि का लक्षण क्या होना चाहिये। 'सामान्य रूप से' इसलिये कहा क्योंकि दार्शनिक विवेचन में उतने ही यथातथ्य की आवश्यकता नहीं होती जितनी कि परिदृश्यमान पदार्थों के विवरण में आवश्यक होती है।

टिप्पणियाँ

१. ओजस् अथवा साहस के लिये ग्रीक भाषा में थीमॉस् अथवा थ्यूमॉस शब्द का प्रयोग किया गया है। यह संस्कृत के धूम शब्द का सजातीय है।

२. बुद्धिमत्ता के लिये मूल में "दियानोइया" शब्द आया है एवं कौशल अथवा शिल्प-कौशल के लिये 'तेखने' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों की तुलना संस्कृत के ध्यान और तक्षण शब्दों से की जा सकती है।

३. अरिस्तू संभवतया मकँदोनिया के सम्राटों द्वारा आरोपित एकता को दृष्टि में रख कर यह लिख रहा है। पर वास्तविक एवं स्थायी एकता यूनानी नगर राष्ट्रों में स्थापित नहीं हो सकी।

४. यहाँ प्लातोन के आत्मत्रैगुण्य के सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। इसके लिये प्लातोन की आदर्श नगर-व्यवस्था की चतुर्थ पुस्तक देखनी चाहिये।

५. यह ई० पू० ७ वीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध ग्रीक कवि का नाम है। यद्यपि इसके पिता का कुल अत्यंत विख्यात था तथापि इसकी माता दासी थी। इसका स्नेह लीकाम्बेस की पुत्री नेओबूले से था पर उसके पिता ने अपनी पुत्री का विवाह दासीपुत्र के साथ करना स्वीकार नहीं किया। इस पर कवि ने पिता और पुत्री के विषय में ऐसी तीक्ष्ण निन्दात्मक कविता लिखी कि वे दोनों आत्महत्या करके मर गये। इयुस्ताथियस् नामक आलोचक ने आखिलोखस् को वृश्चिक-जिह्व कहा है।

६. यह पंक्ति प्लूटार्क के मतानुसार यूरीपिदेस् की रचना से उद्धृत है। अगली पंक्तियों के रचयिता का पता नहीं चला।

८

नगर के सेवाकार्य और अंग

जिस प्रकार अन्य प्राकृतिक (भौतिक) संयोगों में देखा जाता है कि वे अवस्थाएँ (अथवा परिस्थितियाँ) जिनके विना किसी अवयवी की सत्ता संभव नहीं होती, उस अवयव-संघात के अवयव नहीं होतीं, इसी प्रकार राष्ट्र की भी दशा है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो तत्त्व राष्ट्र की अथवा अन्य किसी पूर्ण अवयव संघातरूप अवयवी की सत्ता के लिये आवश्यक (अनिवार्य) हैं, वे राष्ट्र अथवा अवयवी के अंग (अथवा अवयव) नहीं माने जा सकते।[१]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई एक ऐसी वस्तु होनी चाहिये जो किसी संघात के सभी अवयवों में सामान्य रूप से वर्त्तमान हो तथा उस एकमेवाद्वितीय का सबसे संबंध हो, चाहे वे सब उसके समान अथवा असमान अंश के भागी हों। (वह वस्तु स्वयं विभिन्न प्रकार की हो सकती है) जैसे कि भोजन, भूखण्ड अथवा ऐसी ही अन्य कोई वस्तु। परन्तु जहाँ ऐसी दो वस्तुएँ होती हैं जिनमें से एक उपायरूप है और दूसरी उद्देश्य रूप तो उनमें उभयनिष्ठ अथवा उभयसंपृक्त कोई वस्तु नहीं होती--इन दोनों का संबंध तो इस प्रकार का होता है कि इनमें एक (उपाय) तो कुछ उत्पादन करता है तथा दूसरा (उद्देश्य) उस उत्पादन को ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिये कारीगर, कारीगर के यंत्रादि उपकरण तथा उनके द्वारा सम्पन्न कार्य के संबंध को लीजिये। भवन-निर्माण करनेवाले कारीगर (वास्तुकार) और उसके द्वारा निर्मित भवन में (दोनों में) कोई एक सामान्य उभयनिष्ठ तत्त्व नहीं है, बस उनका नाता यह है कि वास्तुकार की कला भवन-निर्माण का उपाय है और वह कला वसतिगृह के निमित्त है जो उस कला का उद्देश्य है।[२] अतएव (यद्यपि) सम्पत्ति नगर के लिये आवश्यक तो है पर तो भी सम्पत्ति नगर का अंग नहीं है। यह सत्य है कि सम्पत्ति के बहुत से सजीव अंग (अर्थात् दास इत्यादि) होते हैं और निर्जीव भी; (फिर भी सम्पत्ति नगर का अंग नहीं होती); क्योंकि नगर तो केवल समान और सदृश तत्त्वों का संघात है, जिसका लक्ष्य ऊँचे से ऊँचा और अच्छे से अच्छा जीवन है (जिसके भागीदार दास लोग नहीं हो सकते)। सर्वोत्तम भलाई सुख है, और यह सुख सद्वृत्त

(सदाचार) की क्षमता एवं परिपूर्ण व्यवहार है। पर वास्तविक जीवन में जो होता है वह यह है कि कुछ लोग तो इसके (पूर्णतया) भागीदार होते हैं, कुछ केवल अंशतः (थोड़े ही) भागीदार होते, अथवा विलकुल ही भागीदार नहीं होते। इसका परिणाम स्पष्ट है कि मनुष्यों के गुणों की विविधता के कारण ही विविध प्रकार के राष्ट्रों की उत्पत्ति होती है और अनेक प्रकार की वहुसंख्यक शासन-पद्धतियों का जन्म होता है। विविध प्रकारों एवं विविध उपायों से सुख का अनुसंधान करते हुए विविध मनुष्य अपने लिये विविध प्रकार के जीवनों और शासन-व्यवस्थाओं की सृष्टि किया करते हैं।

अव हमको यह भी परीक्षण करना चाहिये कि कितनी वस्तुओं के विना नगर की सत्ता ही नहीं हो सकती। और जिनको हम नगर के अवयव कहते हैं वे नगर की सत्ता के लिये अनिवार्यतया अपेक्षित वस्तुओं की सूची के अन्तर्गत आ जायँगे। इस प्रकार की सूची प्रस्तुत करने के लिये हमको (प्रथम) राष्ट्र द्वारा किये जानेवाले सेवा-कार्यों की गणना करनी चाहिये, इससे राष्ट्र (नगर) के अनिवार्य तत्त्वों की संख्या स्पष्ट हो जायेगी।

प्रथम वस्तु जिसका प्रवन्ध नगर को करना चाहिये भोजन है; इसके पश्चात् (दूसरी वस्तु) कला-कौशल है, क्योंकि जीवन के लिये वहुत से उपकरण होने चाहिये। तीसरी आवश्यक वस्तु हथियार हैं; क्योंकि कुछ तो शासन-कार्य चलाने के लिये, शासनावज्ञा के दमनार्थ और कुछ वाहरी आक्रमणकारियों के उपद्रवों का सामना करने के लिये, राष्ट्र के सभी सदस्यों को स्वयं (अपने शरीर पर) शस्त्र धारण करने चाहिये। इसके अतिरिक्त चौथी वस्तु, जिसका प्रबंध किया जाना चाहिये कुछ धन-सम्पत्ति है जो स्वतः राष्ट्र के आन्तरिक उपयोग के लिये भी आवश्यक है, और युद्धकार्य के लिये भी। पाँचवीं (पर महत्त्व की दृष्टि से प्रथम) बात है देवसेवा-कार्य की देखभाल जिसको सामान्यतया देवपूजा भी कहा जाता है। छठी, और सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है यह निर्णय करना कि सार्वजनिक हित क्या है तथा व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में न्यायोचित वात क्या है ?

यह छः सेवाकार्य ऐसे हैं जिनके विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्र को इनकी आवश्यकता है। नगर (-राष्ट्र) कोई दैवात् एकत्रित हुए मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है। वह तो, जो कि हम कह चुके हैं, ऐसा मानव-समाज है जो जीवन के उद्देश्य के लिये पर्याप्त है। अतएव यदि किसी नगर में उपर्युक्त सेवा-कार्यों में से किसी एक का भी अभाव हो तो उस नगर के समाज का पूर्णतया आत्मनिर्भर होना संभव

नहीं हो सकता। अतएव नगर की व्यवस्था (संस्थापना) इन उपर्युक्त सेवा-कार्यों के सम्पादन की दृष्टि से की जानी चाहिये। इसलिये (प्रत्येक नगर में) वहुत से कृपक (जो कि भोजन प्रस्तुत कर सकें), शिल्पीगण, योद्धा लोग, धनिकसमूह, पुरोहितगण एवं (यह निर्णय करने के लिये कि क्या अनिवार्य है और क्या उपादेय) निर्णायक होने चाहिये।[3]

टिप्पणियाँ

१. यहाँ अरिस्तू ने एकाधिक दार्शनिक संज्ञाओं का प्रयोग किया है। वह इनका प्रयोग पीछे तृतीय पुस्तक के प्रथम खंड के आरंभ में भी कर चुका है। यहाँ पर जिस शब्द का अनुवाद 'अवयवी' शब्द से किया गया है वह ग्रीक का "होलन्" शब्द है। अवयव के लिये मूल में "मेरॉस्" शब्द का प्रयोग किया गया है एवं अवयव-संघात के लिये "सिस्तासिस्" शब्द आता है। वह आवश्यक परिस्थितियाँ जिनके विना अवयवी का जीवन संभव नहीं होता पर जो उसकी अंतरंग अवयव नहीं होतीं उसकी अनिवार्य अथवा अपरिहार्य आवश्यक परिस्थितियाँ मानी जाती हैं।

२. पर काण्ट के दर्शन के अनुसार व्यक्ति कभी उपाय नहीं हो सकता।

३. अरिस्तू ने राष्ट्र के आवश्यक कार्यों का विवरण यहाँ पर आदर्श राष्ट्र की दृष्टि से दिया है। इसके अतिरिक्त उसने इस विषय का विवरण चौथी पुस्तक के तीसरे और चौथे खंडों में भी दिया है। पर यह वर्णन परस्पर सुसंगत नहीं प्रतीत होते।

९

नागरिक सेवा करनेवाले अंग और उपांग

इस वात का निर्धारण हो जाने के पश्चात् अव यह विचार करना शेष रह जाता है कि क्या उपर्युक्त सव सार्वजनिक सेवाओं में सव लोगों को समान रूप से भाग लेना चाहिये। क्या यह संभव है वहीं सव लोग एक साथ कृपक, शिल्पकार, पारिषद् और न्यायाध्यक्ष इत्यादि हो सकें? अथवा उपर्युक्त सेवाकार्यों में से प्रत्येक कार्य एक पृथक् व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) को सौंपा जायगा? अथवा कुछ कार्यों को अलग अलग व्यक्तियों (अथवा व्यक्ति-समूहों) के लिये नियत कर दिया जाय और कुछ में सव भागीदार हो सकें? सव शासन-पद्धतियों में एक ही प्रकार की प्रथा का अनुसरण नहीं किया जाता। जैसा कि हम कह चुके हैं, विभिन्न प्रकार की प्रणालियाँ

संभव हैं; सब (नागरिक) सब कार्यों में भाग ले (हाथ बँटा) सकते हैं; अथवा सब, सब कार्यों में भाग न लें, प्रत्युत कुछ (नागरिक) कुछ ही कार्यों में भागीदार हों। इन्हीं विभिन्न संभावनाओं के कारण शासन-पद्धतियाँ विभिन्न प्रकार की हो जाती हैं। जनतंत्रात्मक पद्धतियों में सब लोग सब कार्यों में भाग लेते हैं, जबकि अल्पजनतंत्र-शासन-पद्धतियों की कार्यप्रणाली इससे उलटी है। पर क्योंकि, इस समय तो हम सर्वश्रेष्ठ पद्धति का विचार कर रहे हैं, (अर्थात् उस पद्धति का जिसकी छत्रच्छाया में नगर सबसे अधिक सुखी हो सकेगा), तथा सुख की सत्ता, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, बिना सद्वृत्त (सदाचार, भलाई) के असंभव है, अतएव यह स्पष्ट बात है कि उस नगर के नागरिक, जिसकी शासन-व्यवस्था सुन्दरतम है तथा जिसके सदस्य निरपेक्ष भाव से न्यायपरायण हैं---न कि किसी विशेष मानदण्ड की दृष्टि में न्यायपरायण हैं, मजदूरों (श्रमिकों) और दूकानदारों का जीवन-यापन नहीं कर सकते; क्योंकि इस प्रकार का जीवन निकृष्ट प्रकार का एवं सद्वृत्तिमय जीवन का विरोधी होता है। और न वे कृषक ही हो सकते हैं; क्योंकि सदाचार के विकास तथा राजनीतिक कार्यों का संपादन दोनों के ही लिये अवकाश होना चाहिये।[1]

और फिर दूसरी ओर सैनिकों का समूह, और सार्वजनिक हित का चिन्तन करने के लिये तथा न्याय संबंधी बातों का निर्णय करने के लिये विचारकों का समूह, यह दोनों ही स्पष्टतया एक नितान्त विशिष्ट अर्थ में नगर (-राष्ट्र) के अंग हैं। क्या यह दोनों अंग एक दूसरे से पृथक् रक्खे जायँ अथवा दोनों को एक ही जनवर्ग को दे दिया जाय? यह बात भी बिलकुल स्पष्ट है; इसलिये कि एक प्रकार से तो उनको एक ही जनवर्ग को सौंप देना चाहिये, पर एक दूसरे अर्थ में उनको पृथक् पृथक् वर्गों को दिया जाना चाहिये। एक ओर तो यह दोनों कार्य जीवन की पृथक् पृथक् प्रकार की पराकाष्ठाओं की अपेक्षा करते हैं---(हितचिन्तन के लिये) परिपक्व बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा और (युद्ध के लिये) यौवनसुलभ शक्ति की पराकाष्ठा अपेक्षित होती है--- इस दृष्टिकोण से यह कार्य अलग अलग जनसमूहों को दिये जाने चाहिये। दूसरी ओर, जो मनुष्य शक्ति के प्रयोग और निरोध की क्षमता रखते हैं, उनके सर्वदा अधीनता में रहने की आशा करना संभव नहीं है; इस दृष्टिकोण से दोनों कार्य एक ही लोक-वर्ग को सौंपे जाने चाहिये; क्योंकि जो लोग शस्त्रास्त्रों की शक्ति धारण करते हैं, राष्ट्र-व्यवस्था का स्थायी होना अथवा न होना भी उन्हीं के वश की बात होती है। इस प्रकार हमारे लिये एक मात्र यही मार्ग बच रहता है कि इन दोनों व्यवस्थात्मक कार्यों को (सैन्य संबंधी और चिन्तन संबंधी कार्यों को) एक ही लोकवर्ग को दे दिया

जाय, पर ऐसा एक ही समय पर नहीं करना चाहिये, किन्तु आनुक्रमिक ढंग से करना चाहिये जो कि प्रकृति का अनुमरण करनेवाला है। प्रकृति का क्रम यह है कि वह नवयुवकों को बल और वृद्धों को बुद्धि प्रदान करती है।[२] अतएव इन कार्यों का इस प्रकार दोनों (युवकों और वृद्धों के) वर्गों में विभाजन करना उपयोगी और न्यायोचित दोनों ही है[३] क्योंकि यह वितरण योग्यता के आधार पर अधिकार प्रदान करने के सिद्धान्त पर आश्रित है।

जो नागरिक इस प्रकार के अधिकारों को काम में लाते हैं वे ही सम्पत्ति के स्वामी भी होने चाहिये; किसी भी नगर (-राष्ट्र) के व्यक्ति सुसंपन्न होने चाहिये (जिससे कि उनको सद्वृत्ति के विकास और नागरिक कार्यों के लिये अवकाश प्राप्त हो सके; और केवल यही लोग (जो उपर्युक्त दोनों कार्य करने के अधिकारी हैं) वास्तविक नागरिक हैं। श्रमिकों का नगर (-राष्ट्र) में कोई भाग नहीं होता और न अन्य ही किसी ऐसे लोकवर्ग का होता है जो भलाई (अथवा सद्वृत्त) का निर्माता (अथवा संपादक) न हो। यह निष्कर्ष तो (आदर्श राष्ट्र के) आधारभूत सिद्धान्तों से ही स्पष्टतया निकलता है। वह सिद्धान्त यह है कि सुख का संबंध अनिवार्यतया सद्वृत्त (भलाई) से होना चाहिये। और नगर को, उसके किसी एक अंग को ही दृष्टि में रखते हुए सुखी नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत समग्र नागरिकों को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है। तथा यह स्पष्ट ही है कि सम्पत्ति इन्हीं (नागरिकों) के हाथ में रहनी चाहिये, क्योंकि कृपक लोग तो अवश्य ही या तो दास होंगे या बर्बर (या) परिवासी होंगे।[४]

जिन छः वर्गों की हमने ऊपर गणना की है उनमें से केवल एक वर्ग—पुरोहित वर्ग-शेष बचा है। जिस योजना पर यह वर्ग आश्रित होना चाहिये वह स्पष्ट है। पुरोहित पद पर न तो किसी कृपक की नियुक्ति होनी चाहिये और न किसी श्रमिक की। देवताओं का सम्मान (पूजा, अर्चना) तो नागरिकों के द्वारा ही किया जाना उचित है। और क्योंकि (उपर्युक्त योजना के अनुसार) नागरिक लोग दो भागों में विभाजित होते हैं—(युवावस्था के) योद्धा और (वृद्धावस्थावाले) हितचिन्तक; तथा क्योंकि देवताओं की उपासना समुचित प्रकार से संपादित होना उचित है, एवं जो लोग सुदीर्घावस्था के कारण सक्रिय सेवा को त्याग चुके हैं उनको सेवा से विश्राम भी मिलना ही चाहिये, अतएव पुरोहित-पद का कार्य इन्हीं (वृद्ध) लोगों को सौंपा जाना चाहिये।

(इस प्रकार) हमने यह वर्णन कर दिया कि नगर की संघटना के लिये अनिवार्य परिस्थितियाँ क्या हैं एवं राष्ट्र के घटक अंग कौन से हैं।[५] कृपक, शिल्पकारवर्ग

एवं सामान्य श्रमिकवर्ग; यह सब नगर की सत्ता के लिये अनिवार्यतया आवश्यक हैं (अर्थात् यह नगर-संघटना की अनिवार्य परिस्थितियाँ हैं) पर राष्ट्र के अंग तो शस्त्र-धारी योद्धा तथा सार्वजनिक हित का चिन्तन करनेवाले पारिषद् ही हैं। इनमें से प्रत्येक (योद्धा और पारिषद्) एक दूसरे से पृथक् हैं--यह पृथक्ता कहीं तो सार्वकालिक हैं और कहीं आनुक्रमिक है--अर्थात् कुछ लोग अपनी आयु के पूर्वभाग में एक वर्ग के अन्तर्गत रहते हैं और उत्तरकाल में दूसरे वर्ग में।

टिप्पणियाँ

१. आदर्श राष्ट्र के नागरिक सुखी होने चाहिये और सुखी वही व्यक्ति हो सकते हैं जिनका जीवन क्रियात्मक अच्छाई अथवा सद्वृत्ति से युक्त होता है, अर्थात् जो अपने जीवन में (१) सहिष्णुता, (२) संयम, (३) न्याय और (४) बुद्धिमत्ता का नित्य व्यवहार करते हैं। ऐसा होना कृषकों और श्रमिकों के जीवन में संभव नहीं है।

२. मनुष्य की अवस्था के विचार से अरिस्तू युवकों में शारीरिक बल की पूर्णता मानता था, वृद्धों में बुद्धि की पराकाष्ठा और अधेड़ अवस्थावालों में इन दोनों के सामंजस्य से उत्पन्न अभीष्ट मध्यम स्थिति।

३. उपयोगी इसलिये कि नगर-राष्ट्र को बलिष्ठ सेना की और बुद्धिमान् शासकों की उपलब्धि हो सकेगी और न्यायोचित इसलिये कि जो जिस योग्य है उसको वही पद प्राप्त हो जायगा।

४. प्लातोन ने अपनी "आदर्श नगर-व्यवस्था" नामक रचना में नगर के रक्षकों को और शासकों को सम्पत्ति रखने का निषेध किया है और कृषकों को सम्पत्ति का स्वामित्व दिया है। अरिस्तू ने इससे बिलकुल उलटे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार अरिस्तू के मत में प्लातोन ने राष्ट्र के रक्षकों और शासकों को सौख्य से भी वंचित कर दिया है।

"परिवासी" के लिये मूल में पेरि-ऑइकस् शब्द आया है जो संस्कृत के परि+विश् का सजातीय है। यूनान की समाज-व्यवस्था में इस शब्द से उन व्यक्तियों का बोध होता था जिनको सामाजिक स्वतंत्रता तो प्राप्त होती थी पर राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते थे।

५. आठवें खंड के अन्त में अरिस्तू ने राष्ट्र के सेवा-कार्यों को ६ विभागों में बाँटा था। उनमें से (१) भोजन उत्पन्न करने और (२) शिल्पकर्म करनेवाले कृषकों को, शिल्पियों को तो उसने नगर-राष्ट्र की सत्ता की आवश्यक और अनिवार्य शर्त्त तो

माना पर नगर का अंग नहीं माना (३) योद्धाओं का कार्य उसने युवक नागरिकों को सौंपने की सलाह दी और (४) न्याय एवं हितचिन्तन का कार्य अधेड़ अथवा मध्य अवस्थावाले नागरिकों को। (५) सम्पत्ति का स्वामित्व भी इन्हीं नागरिकों का भागधेय वतलाया। (६) देव पूजा का कार्य वृद्धनागरिकों को दिया गया। पिछले चार-कोटियोंवाले व्यक्ति नगर के अंग माने गये हैं। प्रथम दो को हम उपांग कह सकते हैं।

१०

सहभोज की प्रथा तथा कृषि-भूमि की व्यवस्था

शासन-व्यवस्था के तत्वज्ञान में यह न तो आज की खोज है और न कोई नया आविष्कार है कि नगर विभिन्न जनवर्गों में विभाजित होने चाहिये तथा योद्धा और कृषकों के वर्ग एक दूसरे से पृथक् होने चाहिये। ईगिप्तॉस्[१] (मिस्र) देश में यह प्रथा आजकल तक प्रचलित है, तथा क्रीती में भी ऐसा ही है। कहते हैं कि मिस्र देश में इस प्रथा को सैसोस्त्रिस[२] ने स्थापित किया था, और क्रीती में इस प्रकार का नियम मिनोस् ने बनाया था।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि सहभोज की प्रथा भी पुरातन व्यवस्था है; क्रीती में इसकी उत्पत्ति राजा मिनोस् के राज्यकाल में हुई थी; पर इटालिया (के दक्षिण) में यह प्रथा और भी अधिक पुरानी है। उस देश के इतिहासकारों का कहना है कि कभी ओयनोट्रिया में कोई इटालस् नाम का राजा हुआ जिससे ओयनोट्रिया के निवासी नाम वदलकर इटालियन कहलाने लगे तथा जिसने यूरोप के उस समुद्र तट को इटालिया नाम प्रदान किया जो कि स्किलीतिकस् और लामीतिकस् आखातों के मध्य में विद्यमान है[४] ---यह दोनों आखात एक दूसरे से आधे दिन की यात्रा की दूरी पर स्थित हैं। कहते हैं कि उसने (इटालस्ने) ओयनोट्रिया निवासियों को (जो कि घुमक्कड़ चरवाहे थे) कृषक वना दिया था, एवं अन्य नियमों की स्थापना के अतिरिक्त उसने सवसे पहले सहभोज की प्रथा प्रचलित की। अतएव उसके अनुयायियों के वंशधरों में यह प्रथा और उसके कुछ नियम अभी तक वचे हुए हैं। उपर्युक्त स्थान से (इटालिया) से पश्चिमोत्तर की ओर तिर्रहीनिया[१] के पास तक औपिकस् जाति के लोग रहा करते थे, जो कि प्राचीन काल में (आदि में) और आज तक भी औसोनेस् उपनाम से पुकारे जाते हैं। इयापीगिया और इयोनिया के आखात की ओर अर्थात् उपर्युक्त स्थान के उत्तरपूर्व की ओर, उस प्रदेश में जो कि सिरितिस् कहलाता है खोनैस् जाति के लोग निवास करते थे; यह खोनैस् भी मूलतः औयनोट्रियन जाति के ही थे। इस प्रकार से

सहभोज की प्रथा मूलतः इस स्थान (इटालिया) से प्रचलित हुई; नागरिक जनसमूह को विभिन्न वर्गों (गणों) में विभाजित करने की प्रथा ईगिप्तास् से आरंभ हुई; क्योंकि सैसोस्त्रिस का शासन-काल राजा मिनोस् के समय की अपेक्षा वहुत अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार वहुत-सी अन्य प्रथाओं के विषय में भी हुआ है। सुदीर्घ प्राचीन काल में (युगयुगान्तरों में) यह और इसी प्रकार की अन्य वहुत-सी प्रथाएँ विविध अवसरों पर—एक वार ही नहीं अनेक वार आविष्कृत हो चुकी हैं[६]—वास्तव में असंख्यों वार आविष्कृत हो चुकी है। स्वयं आवश्यकता मनुष्य को अनिवार्य आविष्कारों को सिखा देती है ऐसा विचार युक्तिसंगत है। एक वार इनकी प्राप्ति हो जाने पर इन्हीं के आधार पर तत्पश्चात् यह युक्तिसंगत और संभव है कि अन्य आविष्कार, जो कि जीवन को सुविभूषित और मंडित करते हैं, शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। यह सामान्य नियम जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में लागू होता है उसी प्रकार राजनीति के विषय में भी सत्य है। ईगिप्तास् से इन सव राजनीतिक संस्थाओं की प्राचीनता प्रमाणित होती है। संसार भर की जातियों में ईगिप्तास्-निवासी सवसे अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं; तथा उनके यहाँ नियमों के समूह और शासन-व्यवस्था अनादि काल से चले आ रहे हैं। अतएव जो वात पहले ही भली भाँति अभिव्यक्त हो चुकी है हमको उसको ग्रहण करके उसका सदुपयोग कर लेना चाहिये और स्वयं उसी वात का आविष्कार करने का प्रयत्न करना चाहिये जिसकी अभी कमी वनी हुई है।

यह तो पहले ही वतलाया जा चुका है कि (हमारे आदर्श-राष्ट्र में) भूमि पर शस्त्र धारण करने वाले योद्धाओं और शासन-व्यवस्था के संचालन में भाग लेनेवाले नागरिकों का अधिकार होना चाहिये। तथा यह भी समझाया जा चुका है कि कृपक-वर्ग इन उपर्युक्त वर्गों से पृथक् होने चाहिये, एवं जन-पद का भूविस्तार कितना होना चाहिये और भूमि किस प्रकार की होनी चाहिये। अव हमको भूमि के विभाजन का विवेचन करना चाहिये, और यह निर्णय करना चाहिये कि खेती किस प्रकार की जानी चाहिये और कृपक वर्ग किस प्रकार का होना चाहिये। क्योंकि मेरा विचार है कि सम्पत्ति का अधिकार सार्वजनिक नहीं होना चाहिये (जैसा कि कुछ लोगों (प्लातोन) का कहना है) प्रत्युत उसका उपयोग सार्वजनिक होना चाहिये जिस प्रकार मित्र लोग अपनी सम्पत्ति का परस्पर उपयोग किया करते हैं। दूसरी ओर यह भी होना चाहिये कि कोई भी नागरिक जीविका के अभाव में न रहे। सहभोज की प्रथा के विषय में यह सर्वसम्मत वात है कि यह सव सुव्यवस्थित नगरों के लिये हितकारी प्रथा है। हम इस दृष्टिकोण से जिन कारणों से सहमत हैं उनको आगे चलकर समझायेंगे।[७] इन सहभोजों में

सम्मिलित होने का अधिकार सब नागरिकों को होना चाहिये। पर निर्धन लोगों के लिये अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति में से (जब कि उन्हें अपनी गृहस्थी के अन्य कार्यों के लिये भी व्यय करना पड़ता है) सहभोजों के व्ययके लिये अपना अंश देना सरल नहीं होगा। (अतएव सहभोज का व्यय कोश से दिया जाना चाहिये) इसी प्रकार सार्वजनिक देवपूजा का व्यय भी सार्वजनिक धन में से ही होना चाहिये।

अतएव भूक्षेत्र को अवश्य ही दो भागों में बाँट देना चाहिये; इन में से एक भाग सार्वजनिक सम्पत्ति और दूसरा व्यक्तिगत सम्पत्ति होना चाहिये। इन दोनों भागों में से प्रत्येक का पुन: दो दो भागों में विभाजन होना चाहिये। सार्वजनिक भूमि की आय का एक भाग देवार्चन के निमित्त समर्पित होना चाहिये तथा दूसरा भाग सहभोज पर व्यय किया जाना चाहिये। (जो भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति है उसका विभाजन इस प्रकार हो कि) एक भाग तो राष्ट्र की सीमा पर स्थित होना चाहिये तथा दूसरा नगर के समीप दोनों प्रकार के भागों में से प्रत्येक को एक एक मिलाकर दो भाग प्राप्त होने से, सबके सब नागरिकों को दोनों स्थानों पर सम्पत्ति मिलेगी। इस प्रकार का विभाजन समानता और न्याय दोनों ही से समन्वित है, तथा सीमासंबंधी युद्धों में इसके कारण जनता में ऐकमत्य का पोषण होता है। जहाँ इस प्रकार की विभाजन-व्यवस्था नहीं होती वहाँ कुछ नागरिक तो (जिनकी भूमि सीमा पर नहीं होती) सीमावर्ती राष्ट्र से शत्रुता करने की बहुत थोड़ी चिन्ता करते हैं, तथा दूसरे कुछ नागरिक (जिनकी भूमि सीमा पर स्थित होती है) इस युद्ध की इतनी अधिक चिन्ता करते हैं कि जितनी चिन्ता करना शोभन नहीं होता। इसी कारण कुछ (राष्ट्रों) में ऐसा नियम है कि पड़ोसी राष्ट्रों से युद्ध करने के विषय में मंत्रणा करते समय सीमावर्ती निवासियों को उस मंत्रणा में भाग लेना मना है; इसका कारण यह है कि उनके व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण परिषद् की मंत्रणा ठीक नहीं रह सकती।

अतएव पूर्वोक्त कारणों से, भूमि को अवश्यमेव इसी ढंग से विभाजित करना चाहिये। कृषि कार्य करनेवालों के विषय में यदि हमारी मनोकामना पूर्ण हो सके तो सबसे अच्छी बात यह होगी कि वे दास हों, सब एक ही जाति के न हों और न साहस-पूर्ण ही हों। यदि वे ऐसे होंगे तो अपने कार्य के लिये उपयोगी होंगे, तथा उनके क्रान्ति करने का भय बिलकुल नहीं होगा। यदि दास न मिलें तो दूसरे स्थान पर यही अच्छा होगा कि वे विदेशी, असभ्य परिवासी हों जिनका स्वभाव उपर्युक्त दासों के स्वभाव के सदृश ही हो। इनमें से कुछ तो सम्पत्तिशाली व्यक्तियों के अपने (दास अथवा

सेवक) होने चाहिये जो उनके खेतों पर काम करें, तथा कुछ सार्वजनिक दास होने चाहिये जो सार्वजनिक भूमि पर कृपिकार्य करें। दासों के साथ किस ढंग से वर्ताव करना चाहिये, तथा सब दासों के समक्ष उनके परिश्रम के पुरस्कार के रूप में उनकी स्वतंत्रता की आशा को रखना क्यों अच्छा (हितकर) है, इसका विवेचन हम आगे करेंगे।[८]

टिप्पणियाँ

१. इगिप्तॉस् अथवा अइगिप्तॉस् मिस्र देश का यूनानी नाम है।

२. सैसोस्त्रिस् नाम के दो राजा मिस्र में हुए हैं। प्रथम का नाम औसीर्तासैन् भी था। दूसरे का नाम रमैसेस् द्वितीय है। यह दूसरा राजा मिस्र के इतिहास में अत्यन्त विख्यात व्यक्ति हुआ है। एक भारतीय ईसाई सज्जन ने तो इसी को भगवान् रामचन्द्र माना है। देखिये विल्किन्सन् : ए पौपुलर अकाउण्ट ऑफ़ दी एनशियैण्ट इजिप्शियन्स् प्रथम जिल्द पृ० ३०७ और राम, दी ग्रेट फारोह आफ़ ईजिप्ट (ले. मल्लादि वेङ्कटरत्नम्)। पता नहीं कि अरिस्तू किस "सैसोस्त्रिस्" की ओर संकेत कर रहा है। एक सैसोस्त्रिस् का समय तो प्रथम ओलिंपियद् संवत् से २९३६ वर्ष पूर्व माना जाता है। प्रथम ओलिंपियद् ई० पू० ७७६ से आरंभ होता है।

३. क्रीती (अथवा क्रेते) और मिनोस् के विषय में पहले लिख चुके हैं।

४. जिसको आजकल इटली का अँगूठा कहा जाता है।

५. तिर्रहीनिया इटली के उत्तर-पश्चिम प्रदेश को कहते हैं।

६. अरिस्तू का मत यह है कि एक प्रथा एक ही स्थान से अनकों स्थानों पर नहीं फैलती। आवश्यकता के अनुसार एक ही प्रथा अनेकों देशों में अनेक समयों पर स्वतंत्र रूप से आविष्कृत और प्रचलित हो सकती है।

७. अरिस्तू ने इस प्रतिज्ञा को नहीं निवाहा। पर इतना तो मानता ही है कि सहभोज प्रथा से सम्पत्ति का सार्वजनिक उपभोग चरितार्थ होता है अतएव इतना कारण ही पर्याप्त माना जाना चाहिये।

८. यह प्रतिज्ञा भी पूरी नहीं की गई। पर अरिस्तू ने अपने वसीयतनामे में अपने कुछ दासों को स्वतंत्रता प्रदान करके इस सिद्धान्त को अपने व्यवहार में चरितार्थ किया।

वि० इस खंड के आरंभ में जो इटली का प्राचीन भूगोल और इतिहास आदि वर्णन किया गया है वह कुछ सम्पादकों के मत में प्रक्षिप्त है। यहाँ पर जिन ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है उनके आधार के विषय में भी बहुत कुछ मतभेद है।

११

नगर और दुर्ग की स्थिति और निर्माण

यह तो हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि राष्ट्र का नगर, जहाँ तक संभव हो, स्थल और जल से तथा समग्र जनपद से समान रूप से संवद्ध और समवस्थित होना चाहिये। अपने आन्तरिक स्वरूप में और वसति-स्थान में हमारे अभीष्ट नगर की योजना चार वातों[1] को दृष्टि में रखते हुए की जानी चाहिये (अथवा सफल या सौभाग्यशाली होनी चाहिये)। सर्वप्रथम वात जिसको दृष्टि में रखना चाहिये तथा जो एक अनिवार्य आवश्यकता है, है स्वास्थ्य। जो नगर पूर्व की ओर ढलवाँ होते हैं तथा पूर्व की ओर से आनेवाली वायु (पवन) जिन पर वहा करती है वे नगर स्वस्थ-तर हुआ करते हैं। इससे उतरकर दूसरे स्थान पर वे नगर आते हैं जो उत्तरीय वायु (के झोंकों) से सुरक्षित होते हैं, ऐसे नगर शीतकाल में स्वास्थ्य के लिये हितकर होते हैं। नगर-स्थान के विषय में दो शेष ध्यान में रखने योग्य वातें हैं राजनीतिक और सामरिक कार्यों की दृष्टि की सुविधा। सामरिक दृष्टि से नगर की स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि नगर-निवासी सरलता से नगर के वाहर जा सकें तथा किसी भी शत्रु के लिये उसमें प्रवेश करना अथवा उस पर घेरा डालना कठिन (दुःसाध्य) हो। नगर में यथासंभव प्राकृतिक जलाशयों और स्रोतों का वाहुल्य भी होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो इस अभाव की पूर्ति वर्षा के जल के संग्रहार्थ विशाल और विपुल जलाशयों के निर्माण द्वारा की जानी चाहिये, जिससे युद्धकाल में शत्रु के द्वारा नगर का जनपद से संबंध कट जाने पर भी जनता को जल का अभाव कभी न हो। नगर-निवासियों के स्वास्थ्य के विषय में विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये, तथा अच्छा स्वास्थ्य नगर के स्वस्थ स्थान पर स्थित होने पर तथा इस वात पर निर्भर रहेगा कि नगर को स्वस्थ पवन का रुख मिलता है अथवा नहीं; दूसरे इस वात पर भी निर्भर होगा कि उनको स्वास्थ्यप्रद जल प्राप्त हो। स्वास्थ्यप्रद जल ऐसी वात नहीं है जिसका महत्त्व गौण समझा जाय। अपने शरीरों के पोषण के लिये जिन तत्त्वों का हम सवसे अधिक और वहुधा उपयोग करते हैं वे ही तत्त्व हमारे शरीरों के स्वास्थ्य में अत्यधिक योगदान करते हैं; तथा पानी और पवन इसी प्रकार का प्रभाव रखते हैं।[2] अतएव वुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से व्यवस्थित सभी नगरों में ऐसा नियम वना देना चाहिये कि यदि सव स्रोतों का जल एक समान अच्छा न हो तथा स्वास्थ्यवर्द्धक जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तो पीने के जल को अन्य उपयोगों में आनेवाले जल से पृथक् कर दिया जाय।

गढ़ (दुर्ग)-निर्माण के विषय में ऐसी कोई नीति नहीं है जो सब शासन-पद्धतियों के लिये एक समान उपयोगी (लाभदायक) हो। उदाहरण के लिये, धनिकतंत्र और एकराट्तंत्र के लिये ऊँचा दुर्ग (अक्रोपौलिस) उपयुक्त होता है पर जनतंत्र-पद्धति के लिये खुला समतल मैदान ही ठीक होता है। श्रेष्ठ जनतंत्र के लिये इन दोनों में से कोई भी उपयुक्त नहीं होता ; इसके लिये तो कई एक सुदृढ़ स्थान ठीक होते हैं। व्यक्तिगत भवनों की निर्माण-व्यवस्था, शान्तिकाल के कार्यकलापों को दृष्टि में रखते हुए, तब मनोरम और उपयोगी (सुविधानजक) समझी जाती है जब वे हिप्पोदामस[३] द्वारा प्रचारित नवीन पद्धति के अनुसार सीधी (सड़कों की) पंक्तियों के किनारे ठीक ढंग से बनाये जाते हैं। पर युद्धकाल की सुरक्षा की दृष्टि से तो इसकी बिलकुल उलटी पद्धति ही ठीक है। प्राचीन काल की अनियमित भवन-निर्माण-पद्धति, जिससे विदेशी सैनिकों को बाहर निकलना तथा आक्रमणकारियों का नगर में प्रवेश करना दुःसाध्य हो जाता है, युद्धकाल के लिये अधिक उपयोगी है। अतएव नगरों को उपर्युक्त दोनों भवन-निर्माण-पद्धतियों के मिश्रण का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार की "अनियमित" भवन-निर्माण-व्यवस्था उस पद्धति को अंगीकार करने से संभव हो सकती है जिसका अनुसरण अंगूरों की कृषि करनेवाले द्राक्षाकुंजों को लगाने में करते हैं।[४] (इसका विकल्प यह हो सकता है) कि समग्र नगर की भवन-निर्माण-योजना सीधी भवन-पंक्तियों में न की जाय, प्रत्युत नगर के कुछ भागों और स्थानों के भवनों को इस प्रकार बनाया जाय। इस प्रकार सुरक्षा और सुन्दरता का दोनों का सुयोग एक साथ उपलब्ध हो सकेगा।

नगर की प्राचीरों के संबंध में जिन लोगों का यह कहना है कि यौद्धिक योग्यता का अभिमान (दावा) करनेवाले नगरों को इन प्राचीरों को नहीं रखना चाहिये, उनका मत अत्यन्त पुराना (खूसट) प्रतीत होता है। विशेषकर जब कि हम सब अपनी आँखों से देख रहे हैं कि जो नगर इस विषय में बड़ा दर्प रखते थे वे तथ्यों द्वारा अभिभूत हो रहे हैं।[५] यह तो ठीक है कि जब शत्रु अपने ही समान हो और संख्या में भी बहुत अधिक न हो तो दुर्ग की प्राचीर की आड़ में सुरक्षितता पाने के प्रयत्न में कोई शोभन (सम्मान की) बात नहीं है। पर कभी कभी ऐसा घटित हो जाता है—तथा ऐसा घटित होना संभव तो सर्वदा ही है—कि आक्रान्ता का बलातिशय साधारण मानवीय साहस से, और उस साहस से जो कि थोड़े से ही व्यक्तियों में पाया जाता है, दोनों से ही बहुत अधिक हो ; तब ऐसी स्थिति में कोई राष्ट्र अपनी रक्षा किया चाहे, तथा पराजय भोगने और अपमान सहने से बचना चाहे, तो सुदृढ़तम प्राचीर ही को श्रेष्ठ युद्धनीति समझा जाना

चाहिये ; विशेषकर आजकल जब कि युद्ध के यंत्र—अर्थात् गोफण६ और अन्य अवरोध यंत्र इतनी पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। नगर के चारों ओर प्राचीर न बाँधना, तथा उसको ऐसे स्थान पर स्थापित करना जहाँ वह शत्रु के आक्रमण के लिये खुला हो एवं ऊँचे स्थलों को खोदकर समतल कर देना यह बातें एक समान हैं। ऐसा करना मानो व्यक्तिगत घर के चारों ओर इस भय से दीवार न बनाने के समान होगा कि कहीं घर में रहने वाले डरपोक न बन जायँ। फिर हमको यह बात भी कदापि न भुला देनी चाहिये कि जिन लोगों के नगर के चारों ओर प्राचीरें होती हैं उनको उभय विकल्पों की सुविधा प्राप्त होती है, वे चाहें तो नगर को परिवेष्टित मानकर (रक्षात्मक युद्ध कर सकते हैं) अथवा अपरिवेष्टित मानकर (आक्रमणात्मक) युद्ध कर सकते हैं। पर जिन लोगों का नगर प्राचीर से परिवेष्टित नहीं होता उनको कोई अन्य विकल्प अथवा गति शेष रहती ही नहीं।

यदि इस युक्ति को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका निष्कर्ष यही नहीं निकलेगा कि नगर प्राचीरावेष्टित हो, प्रत्युत यह भी निकलेगा कि दीवारों को इस प्रकार सुव्यवस्थित रखने की सावधानी बरती जानी चाहिये जिससे वे नगर के सौंदर्य की तथा सामरिक आवश्यकता की दृष्टि से सन्तोषप्रद हों, विशेषकर उन सामरिक आवश्यकताओं की दृष्टि से जो आजकल के आविष्कारों के कारण प्रकाश में आई हैं। जिस प्रकार नगर के आक्रान्ता यह जानने के लिये चिन्तित रहते हैं कि हम किस प्रकार से अधिक हितकर (सुविधाजनक) स्थिति ग्रहण कर सकते हैं, इसी प्रकार नगर के रक्षकों को भी इस बात के लिये चिन्तित होना चाहिये कि जो आविष्कार हो चुके हैं उनका नगर की रक्षा के लिये उपयोग करें और अन्य उपायों को सोचें और उनका आविष्कार करें। जो लोग अपने नगर की रक्षा के लिये पहले से ही प्रस्तुत रहते हैं उनके शत्रु उनके नगर पर आक्रमण करने का यत्न ही नहीं करते।

टिप्पणियाँ

१. चार बातें हैं (१) स्वास्थ्य, (२) नागरिक जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयोगिता, (३) सैनिक दृष्टि से उपयोगिता और (४) सौन्दर्य; यद्यपि इस अन्तिम तथ्य का अरिस्तू ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

२. स्वास्थ्य-संबंधी विषयों की विवेचना में अरिस्तू ने अपने प्रारंभिक जीवन में अपने पिता से प्राप्त किये हुए वैद्यकशास्त्र के ज्ञान का भी उपयोग किया है। संभव

है कि उसने हिप्पोक्रातेस की कही जानेवाली "पेरी अएरोन्, हुदातोन्, तौपोन्" (पवन, जल और स्थल के विषय में) नामक पुस्तक का भी इस प्रसंग में उपयोग किया है। उत्तर की ठंडी वायु से वचने की ओर संकेत उत्तर की ठंडी हवा की कठोरता को सूचित करता है।

३. हिप्पोदामस् नगर-निर्माण-पद्धति का विशेषज्ञ था।

४. द्राक्षालताएँ पंचकों में लगाई जाती थीं। एक चोकोर वर्ग के चार कोणों पर चार लताएँ आरोपित की जाती थीं और पाँचवीं लता केन्द्र-स्थान में, जैसा कि निम्नलिखित आकृति से स्पष्ट होगा।

× ×
×
× ×
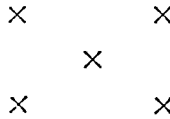
५. यह संकेत स्पार्टा की ओर है। स्पार्टा नगर को अपने योद्धाओं का वड़ा गर्व था और वह प्राचीर और दुर्ग का परिहास किया करता था। पर ई० पू० ३६९ में ऐपा-मिनौन्दास् ने उसके गर्व को खर्व कर दिया।

६. गोफण के स्थान पर मूल ग्रीक भाषा में "कातापैल्तेस्" शव्द का प्रयोग किया गया है। इसका आविष्कार सिराकूस नगर में प्रथम दियौनीसियस् के शासन-काल में हुआ था। गोफण विलकुल शव्दानुवाद नहीं है केवल यह सूचित करने के लिये है कि जिस प्रकार गोफण पत्थर फेंकने के लिये काम में आता है इसी प्रकार "कातापैल्तेस्" वड़े-वड़े पत्थर अथवा अन्य अस्त्र फेंकने के काम आता था।

१२

सहभोजों की व्यवस्था

यदि यह मान लिया जाय कि नगर-निवासियों को सहभोज-मंडलों में विभाजित किया जाना चाहिये तथा प्राचीरों में समुपयुक्त स्थानों पर रक्षक-गृह और धवलगृह (धौरैरे) होने चाहिये, तो स्पष्ट ही इस विचार से यह दूसरा विचार उद्भूत होगा कि कुछ सहभोज-पट्टिकाएँ रक्षक-गृहों में स्थापित की जानी चाहिये। सहभोजों की विभा-जन-व्यवस्था का एक प्रकार यह हो सकता है। नगर के शासनाधिकारियों के सहभोज का प्रवन्ध देवस्थानों के लिये नियत स्थलों पर किया जाना चाहिये, अथवा किसी ऐसे ही अन्य स्थान पर किया जाना चाहिये। अपवाद-स्वरूप वह मन्दिर और स्थान होंगे

जो नियम के अनुसार अथवा पीथिया की देववाणी के अनुसार विशिष्ट और पृथक् रहने चाहिये ।[1] यह स्थान किसी ऐसे स्थल पर होना चाहिये जो ऊँचा हो और जहाँ पर मनुष्य सद्वृत्ति (भलाई) को भली प्रकार स्थापित हुआ देख सकें, तथा जो पास पड़ोस के स्थानों से पर्याप्तरूपेण ऊँचा और सुदृढ़ हो । इस स्थान के कुछ नीचे सार्वजनिक चौक (अगोरा[2]) की व्यवस्था होनी चाहिये; वह ऐसा होना चाहिये जैसा कि थैसाली में "स्वाधीन जनता का चौक" कहलाता है । यह स्थान सब पण्य वस्तुओं (सौदे सुलफ) से रिक्त होना चाहिये तथा जब तक कोई शासनाधिकारी न बुलाये तब तक किसी श्रमिक, कृषक अथवा अन्य किसी ऐसे व्यक्ति को यहाँ प्रवेश करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये । यदि इसी स्थान पर वयोवृद्ध लोगों के व्यायाम की व्यवस्था भी कर दी जाय तो यह स्थान अत्यन्त मनोरम हो जायगा । इस प्रकार के मनोरंजन की व्यवस्था में विभिन्न आयुओं के व्यक्तियों को एक दूसरे से पृथक् रक्खा जाना चाहिये । यदि इस योजना का अनुसरण किया जाय तो कुछ शासनाधिकारी लोग तो नवयुवकों के साथ (रक्षक गृहों के पास) रह सकते हैं तथा वयोवृद्ध लोग शेष शासनपदाधिकारियों के साथ (सार्वजनिक चौक में) रह सकते हैं । शासनपदाधिकारियों की आँखों के सामने रहने से जनता के हृदय में वह सच्ची विनय (लज्जा) और ग्लानि के भय की भावना का जन्म होगा जिससे प्रत्येक स्वतंत्र जन अनुप्राणित होना चाहिये ।[3] क्रय और विक्रय का बाजार इस चौक से भिन्न होना चाहिये और इससे कुछ दूरी पर पृथक् स्थान पर स्थित होना चाहिये; इस बाजार को ऐसा स्थान अधिकृत करना चाहिये जो समुद्र के पार से आयात की गई वस्तुओं के लिये तथा स्वयं राष्ट्र के समस्त क्षेत्र में उत्पन्न हुई वस्तुओं के लिये एक सुन्दर संग्रह-स्थल का काम दे सके ।

नगर के जनसमूह[4] का विवरण उपस्थित करते समय (अथवा नगर के निर्देशकों का विवरण करते समय) हमको शासनाधिकारियों के समान पुरोहितों का भी उल्लेख करना चाहिये, तथा इन लोगों के लिए भी, शासनाधिकारियों के समान ही देवमन्दिरों के समीप सहभोज का प्रबन्ध करना समुचित होगा । वह शासनाधिकारी जिनका संबंध ठेकों, दोषारोपणों, अदालत (न्यायालय) में आमंत्रणों तथा इसी प्रकार की अन्य बातों से है—इसके अतिरिक्त जिन शासनाधिकारियों का संबंध बाजार की अध्यक्षता से है, और नगर की अध्यक्षता से है वे बाजार के पास अथवा किसी सार्वजनिक सम्मिलन के स्थान पर अवस्थित होने चाहिये । इस प्रकार की आवश्यकता के लिये व्यापारियों का बाजार सबसे अधिक उपयुक्त स्थान है; ऊँचे पर स्थित जो सार्वजनिक चौक है उसको हमने सावकाश जीवन के लिये नियोजित किया है, तथा यह दूसरा

बाजारवाला चौक जीवन की व्यापारिक आवश्यकताओं के लिये। यही सामान्य व्यवस्था, जिसका हमने वर्णन किया है जनपद के विषय में भी लागू होनी चाहिये। वहाँ पर भी विभिन्न शासनाधिकारियों के लिये, जो कि कहीं तो वनाध्यक्ष कहलाते हैं और कहीं ग्रामाध्यक्ष, उनके कार्य के संबंध में रक्षक गृहों और सहभोज पट्टिकाओं का प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त समग्र जनपद मन्दिरों से ग्रथित होना चाहिये, जिनमें से कुछ तो देवताओं के निमित्त समर्पित हों और कुछ वीर पुरुषों के निमित्त।

पर अब इस विषय की बाल की खाल खींचते हुए तथा बारीक विवरण उपस्थित करते हुए इसी में अटके रहना समय व्यर्थ खोना है। ऐसे विषय में (नवीन) कल्पना अथवा विचार करना कठिन नहीं है किन्तु उन विचारों को कार्यरूप में परिणत करना कहीं अधिक कठिन कार्य है। हम ऐसे विषयों पर अपनी इच्छा (=आवश्यकता) के अनुरूप बातचीत किया करते हैं, पर जो कुछ होना होता है वह संयोगात् (=दैवात्) घटित होता है। अतएव अब इस विषय में अधिक कुछ कहने से हम विरत होते हैं।

टिप्पणियाँ

१. इसका निष्कर्ष यह है कि पचास वर्ष से कम अवस्थावाले योद्धा नागरिकों का सहभोज रक्षकों के कक्ष में होना चाहिये और उससे अधिक अवस्थावाले नागरिकों का सहभोज मन्दिरों में होना चाहिये। जो मन्दिर दैल्फ़ी की देववाणी की आज्ञानुसार सब से पृथक् रहते हैं उनमें सहभोज नहीं होना चाहिये।

२. अथेन्स का सार्वजनिक चौक प्राचीन काल में दो भागों में विभक्त था (१) दक्षिण भाग (२) उत्तर भाग। दक्षिण भाग नागरिक कार्यों के लिये काम में आता था और उत्तर भाग व्यापार इत्यादि के लिये काम में आता था। अरिस्तू समग्र चौक को व्यापार इत्यादि से मुक्त रखना चाहता था। व्यापार के लिये वह एक अन्य चौक का विधान करता है।

३. यदि लोगों के आमोद-प्रमोद शासनाधिकारियों की दृष्टि के समक्ष रहेंगे तो उनमें अप्राकृतिक मैथुन जैसी निर्लज्ज प्रवृत्तियों को बाधा पहुँचेगी।

४. इस स्थान पर एक पाठान्तर आया है। यदि "तो प्लेथॉस्" पाठ को स्वीकार करें तो अर्थ जनसमूह होगा, और यदि "तो प्रोएस्तॉस्" पाठ लें तो निर्देशक अर्थ होगा।

१३

नगर (राष्ट्र) किन तत्त्वों से घटित हो ?

अब[1] हमको स्वयं शासन-व्यवस्था के विषय में ही चर्चा करनी है, और यह बतलाना है कि यदि किसी नगर (राष्ट्र) को सौभाग्यशाली (सुखी) और सुशासित होना है तो वह किन और किस प्रकार के तत्त्वों से घटित होना चाहिये। दो बातें ऐसी हैं जिनमें सर्वत्र और सर्वदा सब भलाई सन्निहित रहती है। इनमें से एक तो अपने कार्यों का लक्ष्य और अन्तिम उद्देश्य ठीक प्रकार से निर्धारित करना है, दूसरे उन कार्यों का आविष्कार करना है जो उस अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उपयोगी होंगे। यह दोनों तत्त्व—अन्तिम लक्ष्य और उसके साधन—परस्पर परविसंवादी भी हो सकते हैं और संवादी भी। कभी कभी लक्ष्य का निर्धारण तो ठीक हो जाता है पर क्रियात्मक रूप में उसको प्राप्त करने में मनुष्य असफल रहा करते हैं। कभी ऐसा होता है कि अन्तिम लक्ष्य के साधनों की प्राप्ति में सफलता प्राप्त हो जाती है, पर जो उद्देश्य मनुष्य अपने समक्ष रखते हैं वह दोषपूर्ण होता है। कभी कभी दोनों के ही विषय में असफलता रहती है। उदाहरण के लिये आयुर्वेद विद्या को ले सकते हैं; कभी कभी वैद्य न केवल प्राकृतिक स्वास्थ्य की अवस्था का निर्णय करने में ही भूल करते हैं, प्रत्युत वह उन साधनों का आविष्कार करने में भी असफल रह सकते हैं जो उसके लक्षित उद्देश्य को निष्पन्न कर सकते हैं। सब कलाओं और विद्याओं में यह दोनों ही—अन्तिम लक्ष्य भी और उस लक्ष्य की सिद्धि के साधन-स्वरूप कार्य-कलाप—अपनी मुट्ठी में (=संगृहीत) होने चाहिये।

सुन्दर अथवा सुखी जीवन अथवा सुख ही वह वस्तु है जो प्रत्यक्षेण सब (मनुष्यों) का अभीष्ट लक्ष्य है। पर कुछ मनुष्यों में तो इस लक्ष्य को सिद्ध करने की शक्ति होती है, किन्तु अन्य मनुष्य किसी संयोग (दैवयोग) अथवा अपने ही प्रकृति-दोष के कारण उसको उपलब्ध नहीं कर पाते। सुन्दर जीवन के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है; जब किसी की अपनी प्राकृतिक संपदा की स्थिति अच्छी हो तो इन बाह्य उपकरणों की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम मात्रा में हुआ करती है ; पर जिसके प्रति प्रकृति की देन तुच्छ हो उसके लिये इनकी आवश्यकता अधिक मात्रा में हुआ करती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि यद्यपि उनको सुख-प्राप्ति के उपादान प्राप्त होते हैं, तथापि वे आरंभ से ही सुख की खोज में गलत मार्ग पर चल पड़ते हैं। पर क्योंकि हमारा लक्ष्य श्रेष्ठ शासनव्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करना है, और श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वह है

जिसके अनुसार नगर का शासन श्रेष्ठ प्रकार से हुआ करता है, श्रेष्ट-शासित नगर वह है जिसमें नगर के सुखी होने की संभावना सबसे अधिक होती है, अतएव स्पष्ट ही हमको यह नहीं भुला देना चाहिये कि सुख का स्वरूप क्या है (अर्थात् हमको यह निश्चय रूप से जान लेना चाहिये कि सुख का स्वरूप क्या है) ।

हमने ईथिकस् नामक पुस्तक में (यदि उस पुस्तक में निरूपित युक्तियों में कुछ सार हो) ऐसा कहा है कि सुख भलाई का पूर्णता की सीमा तक पहुँचनेवाला क्रियात्मक व्यवहार और अभ्यास है, तथा यह व्यवहार और अभ्यास सापेक्षिक प्रकार का नहीं प्रत्युत आत्यन्तिक (निरपेक्ष) प्रकार का है। सापेक्षिक शब्द का प्रयोग मैंने ऐसे कार्य के लिये किया है जो आवश्यक और बाधित हो और निरपेक्षिक से हमारा तात्पर्य उस कार्य से है जो स्वतः अपने में ही अच्छा हो। उदाहरण के लिये न्याय्य कार्यों को ही ले लीजिये ; प्रतीकारात्मक यंत्रणा और न्यायोचित दंड यह दोनों ही सद्वृत्ति से ही उत्पन्न होते हैं ; पर साथ ही साथ यह कार्य अनिवार्य भी हैं तथा इनमें जो भलाई है वह इनकी अनिवार्यता के कारण है । यह कहीं अधिक वांछनीय बात होती यदि न तो व्यक्ति को और न नगर को कभी इस प्रकार के कार्यों की शरण लेनी पड़ती। पर वह कार्य जो कि दूसरों को सम्मान और सम्पत्ति प्रदान करने की दृष्टि से किये जाते हैं निरपेक्षतया सर्वोत्कृष्ट भले कार्य हैं।[३] (दण्ड देने का) पूर्वोक्त कार्य तो ऐसा कार्य है जिसमें कुछ बुराई का वरण करना पड़ता है (क्योंकि पीड़ा पहुँचाना बुराई ही तो है); पर यह जो सम्मान और सम्पत्ति प्रदान करनेवाले कार्य हैं यह एक दूसरे विरोधी प्रकार के कार्य हैं वे भलाई की आधार-भित्ति और सृष्टि हैं। अच्छा मनुष्य, निर्धनता, रुग्णता और जीवन की ऐसी ही अन्य विपदाओं का भी भला से भला उपयोग कर सकता है ; तथापि सुख तो इसके विपरीत अवस्थाओं में ही प्राप्त हो सकता है ।[४] और यह बात तो हम सदाचार-संबंधी युक्तियों (ग्रंथों) में वर्णन कर चुके हैं कि वही मनुष्य वास्तव में भला होता है जो स्वयं अपने सद्वृत्त के कारण भला होता है, तथा इसी कारण जिसको निरपेक्ष भाव से भली वस्तुएँ भली (प्रतीत) होती हैं । यह बात बिलकुल स्पष्ट है, उसका इन सुविधाओं का उपयोग भी अवश्य ही निरपेक्ष भाव से सद्वृत्तिमय और निरपेक्षभाव से शोभन होगा । इससे (कभी कभी) मनुष्यों का विचार यह हो जाया करता है कि यह बाह्य-साधन-(संपत्ति)ही सौख्य (सौमनस्य)का कारण हैं; जैसे मानों कोई यह कहे कि वीणा के सुस्पष्ट प्रांजल वादन का कारण वह वाद्ययंत्र है न कि बजानेवाले कलावन्त की कला ।

अतएव जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्र के कुछ तत्त्व तो स्वतः पहले से ही उपलब्ध होने चाहियें, तथा कुछ का प्रबंध नियम-निर्माता को करना होगा। इसलियें हमको यह प्रार्थना (कामना) करनी चाहिये कि, जहाँ तक उन संपदाओं का संबंध है जिनको प्रदान करना भाग्य की शक्ति में है, हमारा राष्ट्र ऐसा संघटित हो कि वह उन सम्पदाओं से संपन्न हो—क्योंकि प्राकृतिक देन के क्षेत्र में हमको भाग्य की सत्ता मान्य है। इसके विपरीत जहाँ तक राष्ट्र में भलाई की सत्ता का प्रश्न है, यह भाग्य का कार्य नहीं है; प्रत्युत मानवीय विज्ञान (विद्या) और उद्देश्य का परिणाम है।[५] राष्ट्र तो तभी अच्छा हो(सक)ता है जब कि उसके शासन-प्रबंध में भाग लेनेवाले नागरिक भी भले हों। हमारे (आदर्श) राष्ट्र में तो सभी नागरिक शासन-कार्य में हाथ बँटाते हैं, (अतएव सभी को भलामानस होना चाहिये।) इसलिए अब हमको यह देखना (विचार करना) चाहिये कि मनुष्य भले किस प्रकार बन सकते हैं। यद्यपि (नगर के) प्रत्येक व्यक्ति के भला न होते हुए भी सब नागरिकों का समष्टिरूपेण भला होना संभव है, तथापि अधिक अच्छी बात यही है कि प्रत्येक नागरिक व्यक्तिशः भला हो; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की भलमनसाहत में सबकी भलमनसाहत अनुस्यूत रहती है।

पर मनुष्य भले और सदाचारी तीन उपायों से हुआ करते हैं। यह तीन उपाय हैं, जन्म के समय प्रकृति की देन, हमारे द्वारा बनाई हुई आदतें और मनुष्य में रहनेवाला विवेक-तत्त्व। सबसे प्रथम जन्म से प्रकृति की देन का विचार करें तो प्रथम बात यह है कि जन्मना हम अन्य किसी प्रकार के जीवधारी न होकर मनुष्य हैं और फिर मनुष्य भी कैसे कि जिनको शरीर और आत्मा की कुछ विशिष्टताएँ प्राप्त हैं। कुछ गुण ऐसे होते हैं कि उनका जन्म के साथ प्राप्त होना उपयोगी नहीं है। हमारी आदतें उन गुणों को बदल डालती हैं। कुछ सहज गुण उभय वृत्तिवाले होते हैं, और वे हमारी आदतों से बुरे अथवा भले बना दिये जाते हैं। अन्य जीवधारी तो प्रायेण प्राकृतिक प्रेरणाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं; यद्यपि उनमें से कुछ थोड़ी मात्रा में आदतों का भी अनुसरण करते हैं; पर मनुष्य इन (सहज प्राकृतिक प्रेरणा और आदतों के अनुसरण) के अतिरिक्त विवेक-तत्त्व के अनुसार भी अपना जीवन-यापन करता है; पर यह (विवेक) केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। इससे यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि यह तीनों (उपाय) परस्पर संवादी (समन्वित) होने चाहियें। बहुधा जब मनुष्यों को विवेक द्वारा यह पता चल जाता है कि कोई अन्य मार्ग अच्छा है तो वह आदतों और सहज स्वभाव द्वारा बतलाये मार्ग का अनुसरण नहीं करते। यह तो हम पहले

ही (७वें अधिकरण में) निर्धारित कर चुके हैं कि यदि हमारे नागरिकों का स्वभाव नियम-निर्माताओं (स्मृतिकारों) की कला के द्वारा सरलता से ढाला जाने योग्य होना है तो उनके साहजिक गुणों का स्वरूप क्या होना चाहिये। यदि उनको यह साहजिक गुण प्राप्त हों तो शेष कार्य तो शिक्षा का कार्य रह जाता है। मनुष्य कुछ बातें तो आदतों के अभ्यास से सीखते हैं और कुछ शिक्षण-संस्थान से (=दूसरों से सुनकर)।

टिप्पणियाँ

१. अब तक नगर-राष्ट्र की पूर्वपीठिका का विवरण उपस्थित किया गया है। नाटयशास्त्र की भाषा में कह सकते हैं कि रंगभूमि का निर्माण हो चुका है, पात्रों की कल्पना भी की जा चुकी है, अब वास्तविक अभिनय की चर्चा होगी।

२. अरिस्तू श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था, श्रेष्ठ जीवन-पद्धति और सबसे अधिक सुखी जीवन इनको एक ही बात मानता है।

३. दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड देना विवशता के कारण की हुई भलाई है अतएव स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष भलाई नहीं है; पर दूसरों के प्रति भलाई करना निरपेक्ष भलाई है, स्वतंत्र भलाई है।

४. निरपेक्ष भलाई के लिये नीरोगता, सम्पन्नता एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं की सम्प्राप्ति आवश्यक है। यहाँ ग्रन्थों से तात्पर्य निकोमाखियन एथिक्स से भिन्न अन्य दो सदाचार संबंधी ग्रंथों से है।

५. अर्थात् बाह्य साधन भाग्यायत्त हैं पर भलाई ("अरैते") पुरुषायत्त है, पुरुषार्थ है।

१४

क्या शासक और शासित एक दूसरे से पृथक् रहें ?

क्योंकि सब राजनीतिक (नागरिक) समाज शासकों और शासितों से मिलकर संघटित (निर्मित) होते हैं, अतएव हमको यह विचार करना है कि क्या शासक और शासित आजीवन एक दूसरे से पृथक् रहें अथवा दोनों एक ही रहें। स्पष्ट ही इस प्रश्न का जो उत्तर हम देंगे उसी के अनुसार शिक्षा में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी होगा। यदि कोई मनुष्य ऐसे हों जो अन्य सब मनुष्यों से इतने अधिक अन्तरवाले हों जितने कि देवता और वीर पुरुष साधारण मनुष्यों से बढ़कर हुआ करते हैं (जो प्रथम तो शरीर

में ही अन्य सबसे अतिशय महत्ता रखते हैं तथा दूसरे मस्तिष्क में भी), जिससे कि शासकों की उच्चता शासितों की अपेक्षा निर्विवाद स्पष्ट हो, तो ऐसी अवस्था में यह निश्चयरूपेण स्पष्ट ही अच्छा होगा कि शासक और शासितों के बीच का अन्तर एक बार ही सर्वदा के लिये स्थापित (स्थिर) कर दिया जाय। पर क्योंकि इस अवस्था को प्राप्त करना सरल नहीं है, और क्योंकि हमारे यहाँ राजाओं और शासितों के बीच इतना महान् अन्तर नहीं है जितना कि स्किलाक्ष ने इण्डिया (भारत)[1] के राजाओं और प्रजा के बीच वर्णन किया है, अतएव यह अनेक कारणों से स्पष्ट है कि (हमारे यहाँ तो) सब नागरिकों को समान रूप से बारी बारी से शासन-प्रबंध में भाग लेना चाहिये और पर्याय-क्रम से शासन करना और शासित होना चाहिये। बराबरीवाले सदस्यों के समाज में समानता का अर्थ होता है सदृश लोगों के साथ एक समान व्यवहार; तथा कोई भी संस्था न्याय के अतिक्रमण पर स्थापित होकर स्थायी नहीं हो सकती। क्योंकि यदि शासन अन्याय पर स्थित हो तो सारे शासित नागरिक जन सब जनपदवासियों के साथ मिलकर क्रान्ति कर डालने की इच्छा पर एकमत हो जायँगे; तथा यह तो एक असंभव बात है कि शासक-मंडल की संख्या इतनी अधिक हो कि वे अपने सब एकत्रित शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली हों। दूसरी ओर यह भी निर्विवाद (तथ्य) है कि शासकों और शासितों में (कुछ) अन्तर तो होना ही चाहिये। यह (अन्तर) किस प्रकार होगा और साथ ही साथ) वे (शासक और शासित) राज्य-प्रबंध में एक समान भाग ले सकेंगे, इस समस्या पर नियम निर्माताओं को विचार करना चाहिये। इस (समस्या) के विषय में हम तो पहले ही अपने विचार प्रकट कर चुके हैं।[2]

हमने (वहाँ यह सुझाव प्रस्तुत किया है) कि एक ही जाति के जीवों में से कुछ को युवा तथा कुछ को वृद्ध बनाकर प्रकृति ने स्वयं ही यह विभाजन प्रदान कर दिया है, जिनमें से एक को उसने शासित होने और दूसरे को शासन करने योग्य बनाया है। युवकों को शासित होने पर अप्रसन्नता नहीं होती और न वे अपने को शासकों की अपेक्षा अधिक योग्य ही समझते हैं; और जब वे यह जानते हैं कि समुचित अवस्था को प्राप्त करने पर शासन-कार्य को ग्रहण कर लेंगे तो उनके रुष्ट होने की संभावना और भी कम हो जाती है।

अतएव इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एक अर्थ में शासकों और शासितों को एक और अभिन्न कहना चाहिये, तथा दूसरे अर्थ में पृथक्। यही बात उनकी शिक्षा के विषय में भी सत्य होगी कि एक दृष्टिकोण से सबकी शिक्षा एक ही होगी, तथा दूसरे

से भिन्न भिन्न होगी। इस विषय में लोकोक्ति है "यदि तुम भले प्रकार शासन करना सीखना चाहते हो तो पहले तुमको आज्ञाकारिता (शासित होना) सीखना चाहिये।" जैसा कि हम अपनी इस पुस्तक के प्रारंभिक भाग में कह आये हैं कि शासन-कार्य एक तो शासकों के हित में होता है और दूसरा शासितों के हित में।[३] प्रथम प्रकार की शासन-पद्धति प्रभु (का दासोंपर) -शासन होता है, दूसरे प्रकार की शासन-पद्धति स्वतंत्र लोक-शासन होता है। कुछ आज्ञाएँ एक दूसरी से, किये जानेवाले कार्य के कारण, भिन्न नहीं होतीं, प्रत्युत कार्य के उद्देश्य के कारण भिन्न होती हैं। अतएव बहुत सी ऐसी सेवाएँ, जो आपाततः निकृष्ट कोटि की सेवाएँ समझी जाती हैं, ऐसी हो सकती हैं जिनको नवयुवक सम्मान के साथ संपन्न कर सकते हैं। कोई कार्य शोभन (सम्मानपूर्ण) है अथवा शोभन नहीं है, यह भेद कार्यों के अपने स्वरूप के कारण नहीं है, यह तो उस अन्तिम लक्ष्य अथवा उद्देश्य पर निर्भर है, जिसके निमित्त कोई कार्य किया जाता है।[४] पर क्योंकि हम यह कह चुके हैं कि शासन-कार्य में भाग लेनेवाले (पूर्ण) नागरिक की उत्तमता (भलाई) और श्रेष्ठ मनुष्य की भलाई दोनों एक और अभिन्न हैं[५] तथा यह भी कह चुके हैं कि एक ही मनुष्य प्रथम शासित रहेगा और (उचित आयु होने पर) वही पीछे शासक बनेगा, अतएव नियम-निर्माता का कार्य यह हो जाता है कि वह पता लगाये कि मनुष्य किस प्रकार नेक बन सकते हैं तथा किन उपायों (अथवा संस्थाओं) द्वारा इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है, एवं श्रेष्ठ (पूर्ण) जीवन का अन्तिम (तलस्पर्शी) उद्देश्य क्या है।

मनुष्य की आत्मा दो भागों में विभक्त है; इनमें से एक में स्वान्तर में स्वरूपतः विवेक तत्त्व पाया जाता है, दूसरे में वह तत्त्व इस प्रकार नहीं पाया जाता, पर वह इस विवेक तत्त्व की आज्ञा का पालन करने की क्षमता रखता है। जब हम यह कहते हैं कि कोई मनुष्य भला है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस मनुष्य की आत्मा के इन दोनों अंशों की भलाई प्राप्त है। पर मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य इन दोनों में से अपेक्षाकृत किसमें विशेषतया उपलब्ध होगा, यह बात उनको तो बिलकुल ही अस्पष्ट नहीं होगी जो हमारे सुझाये हुए इस विभाजन को स्वीकार करते हैं। कला के जगत् में और प्रकृति के जगत् में दोनों में ही एक समान निकृष्ट की सत्ता उत्कृष्ट के लिये है।[६] (आत्मा का) उत्कृष्ट भाग वह है जिसमें विवेक-तत्त्व रहता है। पर हम सामान्यतया जिस विभाजन-पद्धति का अनुसरण करते हैं उसके अनुसार आत्मा के इस विभाग के फिर दो भाग हो सकते हैं। इस विभाजन-योजना के अनुसार विवेकतत्त्व का एक भाग व्यावहारिक (=क्रियात्मक) है और दूसरा विमर्शात्मक।[७] अतएव यह स्पष्ट है कि आत्मा का वह भाग, जिसमें इस विवेक तत्त्व का निवास है, इसी प्रकार दो भागों

में विभक्त होना चाहिये। जिस प्रकार आत्मा के भागों का (उच्चावच) कोटिक्रम होता है इसी प्रकार उन भागों के कार्यों का भी कोटिक्रम होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो सब (=तीनों) प्रकार की कार्यावलियों को उपलब्ध कर सकते है, अथवा तीन में से दो प्रकार के कार्यों को कर सकते हैं वे अनिवार्यतया उस भाग के कार्य को अन्य भागों के कार्यों की अपेक्षा अधिक वरेण्य मानेंगे जो प्रकृत्या उच्चतर हैं; क्योंकि जिस ऊँचे से ऊँचे तक हमारी पहुँच होती है वही हम सबके लिये वरेण्यतम होता है।[8]

फिर जीवन स्वयं सामग्रयेण विभिन्न द्वन्द्वों में विभक्त किया जा सकता है—जैसे कार्य और अवकाश, युद्ध और शान्ति; तथा कार्यों के क्षेत्र में भी,अनिवार्यतया आवश्यक कार्य, उपयोगी कार्य तथा शोभन (सम्मानपूर्ण) कार्य (इत्यादि) कार्यभेद हो सकते हैं। जीवन के अंगों तथा उनकी विभिन्न कार्यावलियों के वरण करने में हम जो अभिरुचियाँ प्रदर्शित करते हैं उनको अनिवार्यतया उसी सामान्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जिसका अनुसरण आत्मा के भाग तथा उनकी विभिन्न कार्यावलियों को वरण करते समय हमारी अभिरुचियाँ किया करती हैं। अतएव युद्ध शान्ति के निमित्त होना चाहिये; कार्य अवकाश के लिये, तथा अनिवार्यतया आवश्यक कार्य और उपयोगी कार्य शोभन कार्यों[9] के निमित्त होने चाहिये। सच्चे राजनीतिज्ञको इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए नियम-निर्माण करना चाहिये। उसको आत्मा के भागों और उनकी कार्यावलियों को दृष्टि में रखना चाहिये; तथा (इस क्षेत्र में) उसको (निकृष्ट की अपेक्षा) उत्कृष्ट का, एवं (साधनों की अपेक्षा) साध्य (अन्तिम लक्ष्य) का अधिक ध्यान रखना चाहिये। इसी ढंग से उसको अपने नियमों के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न भागों अथवा प्रकारों[10] और कार्यों की विभिन्न कोटियों[11] को भी ध्यान में रखना चाहिये। यह सत्य है कि हमारे आदर्श नगर के नागरिक सक्रियता और युद्ध का जीवन व्यतीत करने की क्षमता रखनेवाले होने चाहिये; पर इससे भी अधिक क्षमता उनमें शान्ति और अवकाश का जीवन-यापन करने की होनी चाहिये। फिर जो कार्य अनिवार्यतया आवश्यक हैं और जो कार्य उपयोगी हैं उनको करने की क्षमता उनमें होनी चाहिये, पर इससे भी अधिक क्षमता उनमें शोभन कार्य (शुभ कर्म) करने की होनी चाहिये। बच्चों की शिक्षा तथा युवावस्था की उन सब भूमिकाओं की शिक्षा (जिनको कि शिक्षा की आवश्यकता होती है) इन्हीं उपर्युक्त लक्ष्यों के अनुसार होनी चाहिये।

पर जहाँ तक आजकल के हैलेनी लोगों की श्रेष्ठ मानी जानेवाली शासन-व्यवस्थाओं का तथा उन शासन-व्यवस्थाओं का निर्माण करनेवाले नियम-निर्माताओं का संबंध है,

ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनकी व्यवस्थाएँ जीवन के उच्चतर लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर संघटित की गई हैं, अथवा उनका नियम-विधान और शिक्षाविधान सब सद्गुणों की उपलब्धि की दृष्टि रखकर बनाया गया है, प्रत्युत इसके विपरीत उनमें ऐसे गुणों की ओर एक गँवारू झुकाव प्रतीत होता है जो कि उपयोगी और अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक माने जाते हैं। हमारे कुछ पिछले खेवे के उन लेखकों में लगभग ऐसी ही भावना पाई जाती है, जिन्होंने इस प्रकार की सम्मति को अंगीकार कर लिया है। यह लोग लाकैदायमौन (स्पार्टा) की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए वहाँ के नियम-निर्माता की इसलिए स्तुति करते हैं कि उसने अपने समग्र नियम निर्माण का लक्ष्य विजय और युद्ध बनाया है। यह एक ऐसी सम्मति है जो तर्क के द्वारा सरलता से खंडित की जा सकती है और अब तो यह हाल की घटनाओं के आधार पर तथ्यों द्वारा भी खंडित की जा चुकी है।[१२] क्योंकि बहुत से मनुष्य तो इस आशा में साम्राज्य-प्राप्ति के उद्योगी बन जाते हैं कि साम्राज्य के सौभाग्य से भौतिक समृद्धि की विपुल उपलब्धि होती है।[१३] इसी कारण थिब्रौन[१४] ने, स्पार्टा की शासन व्यवस्था के विषय में लिखने वाले अन्य लेखकों के समान, वहाँ नियम-निर्माता की प्रशंसा की है कि उसने मनुष्यों को भय का सामना करने में शिक्षित करके, स्पार्टा के लिए एक साम्राज्य की सृष्टि कर दी। अब लाकैदायमौन (स्पार्टा) का साम्राज्य नष्ट हो चुका और यह स्पष्ट ही है कि वे सुखी नहीं हो सके, तथा न उनका नियम-निर्माता ही ठीक (पथप्रदर्शक) था। यह कैसी उपहासयोग्य स्थिति है कि यद्यपि सारी जनता उसके नियमों के पालन में लगातार लगी रही है और उनके पालन करने में कभी किसी प्रकार अड़चन नहीं पड़ी है, तथापि जीवन में जो कुछ सुन्दर है उसको यह जाति गँवा बैठी है। नियम निर्माता को जिस प्रकार की शासन-पद्धति के प्रति आदर प्रदर्शित करना चाहिये इसके विषय में भी यह स्पार्टा के पक्षपाती सही मार्ग पर नहीं हैं। स्वतंत्र लोगों का शासनप्रबंध कहीं अधिक शोभन होता है तथा स्वेच्छाचारी शासन के किसी भी प्रकार की अपेक्षा सद्वृत्त (अथवा सदाचार) से अधिक संबद्ध होता है। फिर, इसके अतिरिक्त, न तो उस नगर को सुखी माना जाना चाहिये और न उस नियम-निर्माता की ही प्रशंसा की जानी चाहिये जो अपने नागरिकों को यह शिक्षा देता है कि वे अपने पड़ोसियों को युद्ध में जीतकर अपने अधीन करने के अभ्यस्त हों। इस नीति में (स्वतः अपने ही राष्ट्र के प्रति) एक महान् बुराई निहित है। क्योंकि इसके अनुसार तो स्पष्ट ही किसी भी नागरिक को, (यदि उसमें ऐसा करने की सामर्थ्य हो) अपने ही नगर के शासन को हस्तगत (स्वायत्त) करने के उद्योग का अनुसरण करना चाहिये।[१५]

और यह वही अपराध है जिसके करने का दोष लाकैदायमाँन् (स्पर्टा) निवासी अपने राजा पौसानियास पर लगाते हैं—जो इतने महान् सम्मान का पद पाये हुए था।

इस प्रकार के कोई भी तर्क, तथा इस प्रकार के कोई भी नियम, न तो राजनीतिज्ञता के सूचक हैं, न उपयोगी हैं और न उचित (सत्य) ही हैं। चाहे तो एक व्यक्ति हो और चाहे समाज, दोनों के लिये जो श्रेष्ठ (या भला) है वह एक ही है। और प्रत्येक नियम-निर्माता को इस (भलाई) को ही अपने नागरिकों की आत्मा में आरोपित करना चाहिये। युद्धविद्या का अभ्यास इस दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिये कि उन लोगों को भी दास बनाया जाय जो दास होने के योग्य नहीं हैं; प्रत्युत इसलिए किया जाना चाहिये कि प्रथम तो मनुष्य अपने को ही स्वयं दास बनाये जाने से रोक सकें, दूसरे इसलिए कि शासितों की भलाई के लिये (न कि सामान्य प्रभुता की स्थापना के लिये) नेतृत्व (अथवा साम्राज्य) की प्राप्ति का प्रयत्न किया जा सके और तीसरे इसलिये कि उन लोगों पर प्रभुत्व प्राप्त किया जा सके जो दास बनने के योग्य हैं।[१६] नियम-निर्माता को अपने समग्र युद्ध संबंधी उपायों एवं अन्य नियम-निर्धारित उपायों का लक्ष्य अवकाश और शान्ति (की प्राप्ति) को बनाना चाहिये—यह एक ऐसा तथ्य है, जिसका समर्थन घटनाओं के साक्ष्य (और तर्कों) के द्वारा किया जा सकता है। अधिकांश ऐसे नगर (जो युद्ध को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं) तभी तक सुरक्षित (सकुशल) रहते हैं जब तक कि वे लड़ते रहते हैं, पर साम्राज्य प्राप्त करने के उपरान्त वे तत्काल विनष्ट हो जाते हैं; उपयोग से बहिष्कृत लोहे (तलवार) के समान, शान्तिकाल में उनके स्वभाव की तीक्ष्णता कुंठित हो जाती है।[१७] उनको अपने अवकाश का ठीक उपयोग करने की शिक्षा न देने का कारण इसका दोष नियम-निर्माता के मत्थे है।

टिप्पणियाँ

१. स्किलाक्ष कारिया प्रदेश में कर्यान्दा नगर का रहनेवाला था। उसको फ़ारस के सम्राट् दारा (दारयवस अथवा दरियुस्) ने सिन्धु नदी से अरब प्रायद्वीप तक की यात्रा करने और भौगोलिक वृत्तान्त जानने के लिये भेजा था। उसने अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा था। न्यूमैन का कहना है कि इस समय जो पुस्तक उसकी यात्रा के वृत्तान्त के सम्बन्ध में मिलती है वह प्रामाणिक नहीं है और उसमें वह उल्लेख नहीं मिलता जिसकी ओर अरिस्तू संकेत कर रहा है। अरिस्तू के समय संभवतया उसकी असली पुस्तक अरिस्तू को प्राप्त रही होगी। इस पुस्तक और लेखक का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी है।

२. देखिये इसी पुस्तक का खंड ९।

३. देखिये पुस्तक ३ खंड ४ और ६।

४. दासों और स्वतंत्र पुरुषों दोनों को ही आज्ञाकारिता और निम्न कहे जानेवाले कार्य सीखने और करने चाहिये। परन्तु दोनों के लिये उद्देश्य भिन्न होंगे। दास इन कार्यों को दास के रूप में करेगा। स्वतंत्र व्यक्ति इस आज्ञाकारिता इत्यादि को आगे चलकर शासन करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये करेगा।

५. देखिये पुस्तक ३ खंड ४।

६. कला के जगत् में निकृष्ट की सत्ता उत्कृष्ट के लिये है। इसके दो अर्थ संभव हैं–(१) कलाकृति जो कलाकार से निकृष्ट है उत्कृष्ट (अर्थात् कलाकार) के लिये है (२) कलाकार अपनी कला के विकास-क्रम में पहले निकृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत करता है पर वे धीरे धीरे उसको उत्कृष्ट रचनाओं की ओर अग्रसर करती हैं और इस प्रकार इस चरम उत्कृष्टता की सिद्धि के लिये (साधन) हैं। प्रकृति के जगत् में प्रत्येक निकृष्ट पदार्थ का विकास-क्रम अपने से उत्कृष्ट की ओर प्रकृति को प्रेरणा करता है। अमीवा से लेकर मनुष्य तक जीवों का विकास इसी प्रकार हुआ है।

७. ग्रीक भाषा में क्रियात्मक के लिए "प्रावतीकस्" और विमर्शात्मक के लिये "थियौरेतिकस्" शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

८. तीन प्रकार की कार्यावलियाँ यह हैं:—(१) विमर्शात्मक कोटि की सविवेक कार्यावलि, इसका फल बुद्धिमत्ता है; (२) व्यावहारिक कोटि की सविवेक कार्यावलि, इसका फल सदाचार-परक व्यावहारिक चतुरता है जिसको ग्रीक भाषा में फ्रौनेसिस् कहते हैं और (३) विवेक तत्त्व की आज्ञाकारिता-परक कार्यावलि, इसका फल आत्म-संयम होता है। अरिस्तू ने आत्मा के स्वरूप का विवरण इस प्रकार दिया है—
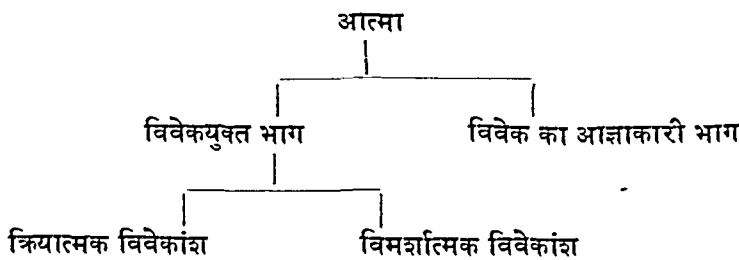
आत्मा के इन विभागों के अनुसार उपर्युक्त तीन प्रकार की कार्यावलियाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ कार्यावलि वह है जिसका फल बुद्धिमत्ता है। दूसरे स्थान पर व्यावहारिक बुद्धिमत्ता आती है। आत्मसंयम का स्थान तीसरा है।

९. ऐसा सत्कर्म जो स्वतः अच्छा हो।

१०. जीवन के भाग अथवा प्रकार हैं क्रियात्मक जीवन और अवकाशमय जीवन एवं युद्धरत जीवन और शान्तिपरायण जीवन।

११. कार्यों की कोटियाँ हैं जीवन के लिये आवश्यक कार्य एवं स्वतः शोभन कार्य या सत्कर्म।

१२. क्योंकि स्पार्टा की युद्धतत्पर व्यवस्था को ऐपामिनौन्दास द्वारा ध्वस्त किया जा चुका है।

१३. संभवतया अरिस्तू अपन समय के अथेन्स के युद्धदल और शान्तिदल की ओर भी संकेत कर रहा है। पर यह समस्या तो सनातन है और २०वीं शताब्दी में भी उग्रतम रूप में विद्यमान है। भौतिक समृद्धि के इच्छुक युद्धों की नींव पर साम्राज्य का भवननिर्माण किया करते हैं पर उसको नाम अच्छे अच्छे चुनकर दिया करते हैं।

१४. थिब्रौन के संबंध में अधिक ज्ञात नहीं है।

१५. तथाकथित दूसरों को सताने अथवा पददलित करने के लिये यदि बुराई का अभ्यास किया जायेगा तो वह अवश्य ही एक दिन अपने लिये भी घातक होगा। पर इस बुराई से बचने का एक मात्र मार्ग विश्वात्मैक्य के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

१६. अरिस्तू के मत में आदर्श ग्रीक नगर अन्य ग्रीक नगरों का हितचिन्तक नेता किन्तु बर्बर (ग्रीकेतर जातियों) का प्रभु हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि अरिस्तू बुराई की दीवार को अधिक दूरी पर स्थापित करने का पक्षपाती है बिलकुल दूर करने का पक्षपाती नहीं है। सारे पश्चिम की दृष्टि आज भी यही बनी हुई है और इसी समस्या से संसार दुःखी है।

१७. आज का जगत् भौतिक साधनों के बाहुल्य में आकण्ठ निमग्न होते हुए शान्ति-पूर्वक रहना नहीं जानता।

१५

नागरिक कौन ?

क्योंकि समष्टिरूप में और व्यष्टि (व्यक्ति) रूप में मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य एक (अभिन्न) है, अतएव श्रेष्ठ मनुष्य और श्रेष्ठ शासनव्यवस्था का मानदण्ड (अथवा मर्यादा) भी एक ही होना चाहिये; इसलिए यह स्पष्ट है कि अवकाश के सदुपयोग का गुण उन दोनों (व्यक्ति और नगर) में ही होना चाहिये ; क्योंकि जैसा हमने बहुधा कहा है, युद्ध का चरम लक्ष्य है शान्ति और व्यापार का लक्ष्य है अवकाश। अवकाश के उपयोग के लिये तथा मानसिक परिष्कार के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है

उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अवकाश[1] के समय में चालू रहते हैं तथा कुछ ऐसे हैं जो व्यापारकाल[2] में भी चालू रहते हैं। अवकाश की प्राप्ति के संभव होने के लिये उसके पूर्व वहुत सी अनिवार्य आवश्यकताओं (अवस्थाओं) की उपलब्धि होनी चाहिये। इसलिए नगर को संयमवान, साहसी और सहिष्णु (अर्थात् तितिक्षावान्) होना चाहिये। जैसा कि लोकोक्ति में कहा गया है, "दासों के लिये अवकाश नहीं होता", तथा जो लोग साहसपूर्वक मर्दों के समान भय का सामना नहीं कर सकते वे किसी भी आक्रान्ता के दास वन जाते हैं। साहस और सहिष्णुता (तितिक्षा) यह (दोनों) गुण व्यापार के लिये आवश्यक हैं; तत्वज्ञान (=वुद्धिमत्ता) अवकाश काल के लिये अपेक्षित है।[3] संयम और न्याय इन दो गुणों की आवश्यकता दोनों ही कालों में हुआ करती है; यद्यपि विशेषरूप से उनकी आवश्यकता शान्ति और अवकाश के काल में ही हुआ करती है। युद्ध तो मनुष्य को अनिवार्यतया स्वयं ही न्यायपरायण और संयमी वना देता है; पर समृद्धि (सौभाग्य) का और शान्ति के साथ अवकाश का उपयोग ही मनुष्य को विशेषरूप से घमंडी (ढीठ) वना दिया करता है। अतएव जो लोग सर्वोत्तम सौभाग्यदशा का उपभोग करते प्रतीत होते हैं, तथा जो उन सव पदार्थों को भोग रहे हैं, जिनका उपभोग सौख्यपूर्ण माना जाता है जिनकी दशा उन लोगों के समान है जिनको कवियों ने "सुखी द्वीपों वासी" कहकर गान किया है, उनमें विशेषरूप से वहुत अधिक मात्रा में न्याय और संयम की आवश्यकता हुआ करती है। ऐसे अच्छे सुखोपभोगों के अतिशय के मध्य में रहते हुए इन लोगों को जितना ही अधिक अवकाश प्राप्त होगा उतने ही अनुपात में उनको तत्वज्ञान (वुद्धिमत्ता), संयम और न्याय की अधिक आवश्यकता पड़ेगी। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि जो नगर सुखी और अच्छा वनने की आकांक्षा करता है उसको इन गुणों का भागीदार क्यों वनना चाहिये। यदि जीवन को सुखी वनानेवाले पदार्थों का ठीक उपयोग न कर सकना (सर्वदा) लज्जाजनक समझा जाता हो, तो अवकाशकाल में उनका ठीक ठीक उपयोग न कर सकना तो और भी अधिक लज्जाजनक माना जायगा; यह कितनी निन्दायोग्य वात है कि जो मनुष्य व्यापारकाल में और युद्धकाल में तो अपने को अच्छा प्रदर्शित करें वही शान्तिकाल और अवकाशकाल में दासवत् व्यवहार करें। अतएव सद्वृत्ति (सदाचार, भलाई) की प्राप्ति का अभ्यास लाकैदायमॉननिवासियों की पद्धति के अनुसार नहीं किया जाना चाहिये। यह (स्पार्टा निवासी) अन्य (देशों के) मनुष्यों से इस वात में तो भिन्न नहीं हैं कि यह जीवन की सवसे अधिक महान् वस्तु वही न मानते हों जो अन्य लोग मानते हों; अन्य लोगों से ये केवल इस वात में भिन्न हैं कि इनका विचार है कि इस (सवसे

अधिक महान् वस्तु) की प्राप्ति केवल एक सद्गुण (के अभ्यास) के द्वारा हो सकती है (अर्थात् युद्ध-वीरता के द्वारा हो सकती है)। क्योंकि इन (स्पार्टा-निवासियों) की दृष्टि में बाह्य साधन-सम्पत्ति अन्य सम्पत्तियों की अपेक्षा महत्तर है और उनसे प्राप्त होनेवाला आनन्द भी उस आनन्द की अपेक्षा अधिक अच्छा है जो कि सद्वृत्ति के अभ्यास से प्राप्त होता है (अतएव यह लोग केवल उसी एक सद्गुण का अभ्यास करते हैं जो इन बाह्य साधन सम्पत्तियों की उपलब्धि का उपाय है। पर अभ्यास तो सकल सद्वृत्ति का ही किया जाना चाहिये)[८] और जैसा कि हमारे विवेचन से स्पष्ट है यह अभ्यास ही स्वतः अभ्यासार्थ ही किया जाना चाहिये। पर अब यह देखना शेष रह जाता है कि मांग सद्वृत्ति के अभ्यास की प्राप्ति कैसे और किन साधनों द्वारा संभव हो सकती है।

जैसा कि पहले निर्णय किया जा चुका है, इस कार्य के लिये, प्राकृतिक देन, आदतें और विवेक तत्त्व यह तीन वस्तुएँ होनी चाहिये। इन तीनों में नागरिकों की प्रकृति (की देन) कैसी होनी चाहिये इसका निर्धारण भी पहले ही किया जा चुका है। अब अन्य शेष दो उपायों का विचार करना और यह निर्णय करना बच रहता है कि विवेक तत्त्व में शिक्षित होना प्रथम स्थान पर आना चाहिये, अथवा आदतों में शिक्षित होना। इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं को परस्पर संवादी होना चाहिये, तभी यह श्रेष्ठ संवादिता को प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा विवेकतत्त्व से गलती हो सकती है और वह सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने में असफल रह सकता है; एवं आदतों के द्वारा दी जाने-वाली शिक्षा भी इसी प्रकार त्रुटिपूर्ण हो सकती है। यह स्पष्ट है कि प्रथम तो मानव-जीवन के क्षेत्र में (जैसे कि अन्य क्षेत्रों में भी होता है) जन्म का एक पूर्वारंभ (अर्थात् माता-पिता का सम्मिलन) होता है पर ऐसे आरंभ से जिस लक्ष्य की सिद्धि होती है वह किसी अन्य भावी लक्ष्य का आरंभ (अथवा साधन) बन जाता है। मानव-प्रकृति का अंतिम लक्ष्य विवेक तत्त्व और विचार शक्ति (की प्राप्ति) है। अतएव नागरिकों के जन्म तथा आदतों की शिक्षा का नियमन आरंभ से ही उन्हीं दोनों को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया जाना चाहिये।[९] दूसरे, क्योंकि आत्मा और शरीर दो पृथक् वस्तुएँ हैं, और उसी प्रकार आत्मा के भी दो भाग हैं—सविवेक भाग और अविवेकी भाग, तथा इन भागों में एतदनुरूप दो अवस्थाएँ भी हैं—एक कामना (-पूर्ण) दूसरे विचार (-पूर्ण)। जिस प्रकार कि उत्पत्तिकाल में शरीर आत्मा से पूर्व उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अविवेकी भाग सविवेक भाग का पूर्ववर्ती है। यह बात बिलकुल स्पष्ट है; क्योंकि बच्चों में कामना के सब लक्षण—जैसे क्रोध, इच्छा और कामना यह सभी बातें सीधे जन्मकाल से ही पाई जाती हैं, इसके विपरीत विवेक और बुद्धि इत्यादि शक्तियाँ उसके बड़े होने

पर ही प्रकट होती हैं। अतएव शरीर-विषयक चिन्ता आत्म-विषयक चिन्ता के पूर्व की जानी चाहिये ; और तदुपरान्त कामनात्मक भाग की चिन्ता की जानी चाहिये; तथापि कामनात्मक भाग की चिन्ता विचारात्मक भाग के निमित्त और देह की चिन्ता आत्मा के निमित्त होनी चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. २. अवकाश के लिए ग्रीक भाषा में "स्खौले" तथा व्यापार के लिये "अस्खौलिया" शब्द का प्रयोग किया गया है। पर अवकाश का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। अरिस्तू की धारणा के अनुसार अवकाश उच्चकोटि की चिन्तनात्मक क्रिया का नाम है जो मानवात्मा के विवेकांश की क्रिया है। इसका प्रतिपक्षी है "व्यापार" या अस्खौलिया जिसका अर्थ है ऐसे कार्य जो किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिये किये जाते हैं।

३. ग्रीक लोग चार गुणों को सर्वोच्च मानते थे। (१) साहस और (२) सहिष्णुता इन दो गुणों की आवश्यकता व्यापार में होती है। तत्त्वज्ञान (विवेक की क्रिया) अवकाश-काल में अपेक्षित है। न्याय और संयम की आवश्यकता अवकाश "स्कौले" और "अस्खौलिया" (व्यापार) दोनों ही के साथ होती है।

४. यह उस खिलांश का रूपान्तर है जिसको न्यूमैन् ने अपनी कल्पना द्वारा सुझाया है।

५. मानव जीवन के विकास की तीन कोटियाँ हैं--(१) जन्म, (२) बच्चे को अच्छी आदतों की शिक्षा और (३) समझदारी की अवस्था को पहुँचे हुए बच्चे को विवेक की शिक्षा।

१६

विवाह और सन्तानोत्पत्ति

क्योंकि आरंभ से ही नियमनिर्माता को यह देखना है कि राष्ट्र के बढ़ते हुए (पालित) बच्चों के शरीर[1] किस प्रकार से सर्वश्रेष्ठ हो सकते हैं, अतएव उसको सबसे पहले विवाह के विषय में चिन्ता करनी चाहिये--अर्थात् उसको यह देखना चाहिये कि विवाह के भागीदारों, वरवधुओं, की कितनी आयु होनी चाहिये तथा उनमें किस प्रकार के गुण (अथवा लक्षण) होने चाहिये। विवाह के विषय में नियम (कानून) बनाते समय सर्वप्रथम जिस बात पर ध्यान देना चाहिये वह यह है कि पतिपत्नी के कितने समय तक

साथ जीवित रहने की (अथवा जीवन व्यतीत करने की) संभावना है। उचित बात यह है कि वे दोनों अपने यौन-जीवन की समान भूमिकाओं पर एक साथ पहुँचें। उनकी शारीरिक क्षमता में भी अन्तर नहीं होना चाहिये; ऐसा नहीं होना चाहिये कि पुरुष तो आधान करने की क्षमता रखता हो पर पत्नी धारण करने की क्षमता से शून्य हो, अथवा पत्नी धारण की सामर्थ्य रखती हो पर पुरुष में आधान की शक्ति न हो। इस प्रकार की स्थिति विवाहित स्त्री पुरुषों में परस्पर कलह और भेद उत्पन्न करती है। दूसरी बात जो विचारणीय है वह यह है कि बच्चों और माता पिता की आयु में कितना अन्तर है (और वे कितने समय पश्चात् माता-पिता का स्थान ग्रहण कर लेंगे।) एक ओर न तो माता-पिता और सन्तान की आयु के बीच में बहुत लम्बा अन्तराल होना चाहिये; क्योंकि अत्यधिक आयवाले माता-पिता अपनी सन्तानों (को अपने पथ-प्रदर्शन का लाभ न पहुँचा सकने के कारण उनके लिये) लाभदायक नहीं होते; तथा बहुत छोटी अवस्थावाली सन्तानें भी माता-पिता की सहायता (सेवा-सुश्रूषा) नहीं कर सकतीं; दूसरी ओर उनकी आयु एक दूसरे के बहुत समीप भी नहीं होनी चाहिये। ऐसा होने से भी बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं; बच्चों का माता पिता के प्रति आदर-भाव इसलिए कम हो जाता है क्योंकि वे उनके प्राय: समकालीन जैसे होते हैं; फिर इसी कारण गृह-प्रबन्ध में भी बहुत से झगड़े उठ खड़े होते हैं। तीसरी बात जिसको नियम निर्माता को ध्यान में रखना चाहिये वह यह है---(अब हम फिर उसी बात की ओर लौट रहे हैं जिससे विषयान्तर हुआ था)---कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे नवजात शिशुओं के शरीर उस (नियम-निर्माता) की इच्छा के अनुसरण के लिये (अथवा उसकी आकांक्षा की पूर्त्ति के लिये) पर्याप्त रूपेण स्वस्थ हों।

लगभग यह सभी बातें एक बात की चिन्ता करने से संभव हो सकती हैं। क्योंकि पुरुष के पक्ष में प्रजननकाल सामान्यतया सत्तर वर्ष की अवस्था में पूर्णतया समाप्त हो जाता है, तथा स्त्रियों के पक्ष में पचास वर्ष की अवस्था में, अतएव दोनों पक्षों के लिये समागम का आरंभ इसी कालान्तर को दृष्टि में रखकर स्थिर किया जाना चाहिये। (विवाह के समय पति की अवस्था पत्नी की अवस्था से २० वर्ष अधिक होनी चाहिये।) सन्तानोत्पत्ति के लिये थोड़ी अवस्थावाले मातापिता का समागम दोषपूर्ण होता है। समग्र प्राणि जगत् में यह देखा जाता है कि थोड़ी आयुवाले माता-पिताओं की संतान सदोष होती है; वे प्राय: स्त्रीलिंगवाली और लघु आकारवाली होती हैं। अतएव मानव-जाति में भी अनिवार्यतया इसी प्रकार का परिणाम होना संभव है। इसका अचूक प्रमाण यह है कि जिन नगरों में अल्पायु युवकों और युवतियों के विवाह की प्रथा है

वहाँ के निवासी पूर्णतया विकसित नहीं होते और आकार में छोटे होते हैं। फिर, थोड़ी अवस्थावाली माताओं को बच्चे जनते समय बहुत अधिक पीड़ा होती है और उनमें से बहुत सी (माताएँ) मर भी जाती हैं। अतएव कुछ लोगों का मत है कि त्रायज़ीन[२] के निवासियों को देववाणी ने जो यह उत्तर दिया था कि ("अल्पायु धरती को मत जोतो") उसका कारण भी यही था कि अल्पायु में विवाह होने के कारण बहुत सी लड़कियाँ मर जाती थीं ; इस (देववाणी) का खेतीवाड़ी की देखभाल से कोई संबंध नहीं था। इसके अतिरिक्त यदि लड़कियों का कन्यादान अधिक अवस्था में किया जाय तो यह संयम के लिये भी लाभदायक होता है। ऐसा ख्याल किया जाता है कि अल्पायु युवतियाँ समागम का अनुभव (उपभोग) करके प्रायः असंयत हो जाती हैं। और पुरुषों के विषय में ऐसा समझा जाता है कि यदि पुरुष-बीज की वृद्धि के पूर्णता को पहुँचने के पूर्व ही स्त्री-समागम आरंभ कर दिया जाता है तो पुरुष के शरीर की वृद्धि भी रुक जाती है (पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होती।) पुरुषबीज की वृद्धि का समय नियत है, जिसका अतिक्रमण वह बहुत अधिक मात्रा में नहीं करता। अतएव विवाहार्थ कन्यादान १८ वर्ष की अवस्था की कन्या का किया जाना चाहिये और पुरुष का विवाह ३७ वर्ष अथवा इसके आसपास की अवस्था में होना चाहिये।[३] यदि इन आयु-सीमाओं का पालन किया जायगा तो दोनों पक्षों के शरीरों की परिपक्वता के समय समागम-काल आरंभ होगा तथा दोनों पक्षों में प्रजनन शक्ति के समाप्त होने पर समकाल में ही इसकी समाप्ति हो जायगी। फिर, बच्चे भी माता-पिता के स्थान को यथोचित समय पर ग्रहण करेंगे। (जैसा कि युक्तियुक्त प्रकार से आशा की जा सकती है) यदि बच्चों का जन्म होना (विवाह के पश्चात्) शीघ्र ही आरंभ हो जाता है तो, वे अपने जीवन के परिपक्वता के समय माता पिता का स्थान ग्रहण करने के लिये तैयार हो जायँगे, जब कि उनके पिता ७० वर्ष की अवस्था के लगभग अपने शक्तिपूर्ण जीवन की समाप्ति पर पहुँच रहे होंगे।

इस प्रकार विवाह के लिये समुचित अवस्था का विवेचन हम कर चुके। वर्ष की समुचित ऋतु का भी विचार कर लेना चाहिये ; इस विषय में तो उस समझदारी की प्रथा का अनुसरण करना ही सर्वोत्तम होगा, जिसका अनुसरण आजकल बहुसंख्यक जनता करती है---अर्थात् विवाह के कार्य को (गृहारम्भ कार्य को) हिमऋतु में सीमित कर देना चाहिये। बच्चों के प्रजनन के संबंध में डाक्टरों और प्रकृतिविदों से जो शिक्षा ग्रहण की जानी चाहिये उसको माता पिताओं को स्वयं उसका ज्ञानार्जन कर लेना चाहिये। वैद्य लोग उनको शारीरिक अवस्था के समुचित समय के विषय में पर्याप्त

बोध करा देंगे और प्रकृति-वेत्ता उनको पवनों के विषय में ज्ञान प्रदान करेंगे; उदाहरण के लिये वे दक्षिण-पवन की अपेक्षा उत्तरीय पवन को अधिक अच्छा मानते हैं।

माता-पिताओं की शरीर संबंधी कौन सी आदतें और अवस्थाएँ, उनकी भावी सन्तान की शरीरावस्था के लिये अत्यन्त लाभदायक होंगी, यह एक ऐसा विषय है जिसके प्रति हम तब अधिक ध्यान देंगे जब कि बच्चों के प्रबन्ध का विचार करेंगे।[४] इस समय तो इस विषय में सामान्य बातों का ही वर्णन किया जायगा। पहलवानों की सी शारीरिक दशा न तो नागरिक जीवन की सुदशा के लिये उपयोगी है, न स्वास्थ्य के लिये और न शिशु-प्रजनन के लिये; इसी के समान उन लोगों की शरीर-दशा भी इतनी ही बुरी है जो नित्य रोगी रहते हैं और जो परिश्रम के योग्य नहीं रहते। श्रेष्ठ शरीर-दशा वह है जो इन दोनों (मल्ल और नित्य रोगी) की शरीर-दशाओं की मध्यवर्तिनी है। मानव-शरीर-गठन में कुछ परिश्रम करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिये; पर परिश्रम-शीलता न तो अत्यन्त उग्र प्रकार के श्रम के लिये होनी चाहिये और न केवल एक विशिष्ट प्रकार के श्रम की ही ओर प्रवृत्त होनी चाहिये, जिस प्रकार कि किसी मल्ल की परिश्रमशीलता होती है; साधारण नागरिक का शरीर-गठन ऐसा होना चाहिये कि वह स्वतंत्र जनों के सब प्रकार के कार्य करने के योग्य हो। पुरुष और स्त्री दोनों ही के विषय में यह बातें समान रूप से लागू होती हैं।

जो स्त्रियाँ गर्भवती हों उनको अपने शरीर की चिन्ता रखनी चाहिये; न तो उनको आलसी होना चाहिये (प्रत्युत नियमित व्यायाम करना चाहिये) और न अपुष्टिकर भोजन ही करना चाहिये (अर्थात् पुष्टिकर भोजन करना चाहिये)। नियम-निर्माता उन गर्भवती स्त्रियों के लिये प्रतिदिन शिशु-जन्म की अधिष्ठात्री देवियों के मन्दिर में पूजा के लिये जाने का विधान करके सरलता से उनकी नियमित व्यायाम की आदत डलवा सकता है।[५] तथापि उनको अपने मन को (शरीर के प्रतिकूल) लगातार शान्त बनाये रखना चाहिये; क्योंकि स्पष्टतया ही जायमान शिशु अपनी माता से (अपना स्वभाव और पोषण) इसी प्रकार ग्रहण किया करते हैं जिस प्रकार पौदे पृथ्वी से ग्रहण करते हैं।[६]

बच्चों के परित्याग[७] और पोषण के विषय में निश्चय ही ऐसा नियम होना चाहिये कि किसी भी विकृताकृति बच्चे का पोषण नहीं किया जाना चाहिये। इसके विपरीत, उन सब राष्ट्रों में जहाँ कि जनता को सीमित रखने का प्रबंध है, ऐसा नियम होना चाहिये कि केवल जनसंख्या को सीमित रखने के लिये ही बच्चों का परित्याग रोक

दिया जाय। इसके लिये उचित उपाय प्रत्येक परिवार के लिये वच्चों की संख्या को निर्धारित (अथवा सीमित) कर देना होगा; और यदि विवाहित दम्पतियों के निर्धारित संख्या से अधिक सन्तानें हो जायँ, तो गर्भगत वच्चे में चेतना और जीवन के संचार के पूर्व ही गर्भपात कर देना चाहिये। गर्भपात कराना (प्रकृति के) नियम के अनुकूल है अथवा नहीं यह वात तो इस पर निर्भर होगी कि गर्भ में चेतना और प्राण का संचार हुआ है अथवा नहीं। अव क्योंकि हमने यह निर्धारित कर दिया कि पुरुप और स्त्रियाँ किस अवस्था से लेकर अपना वैवाहिक जीवन आरंभ करें, अतएव अव यह निर्धारित करना शेप रह जाता है कि कितनी अवस्था तक शिशु-प्रजनन द्वारा राष्ट्र की सेवा करते रहें। अधिक अवस्थावाले माता-पिताओं की सन्तानें, थोड़ी अवस्थावालों की सन्तानों के समान ही, शरीर और मस्तिप्क दोनों में ही अपरिपक्व (=अपूर्ण) हुआ करती हैं; तथा अत्यन्त बूढ़े माता-पिताओं की सन्तान तो दुर्वल होती ही है। अतएव प्रजनन-काल की सीमा मानसिक शक्ति की पराकाष्ठा की दृष्टि से निर्धारित कर सकते हैं। जैसा कि मानव-जीवन को सात वर्षों के युगदण्ड से नापने को कुछ कवियों ने सुझाया है, यह (मानसिक शक्ति की पराकाप्ठा) अधिकांश मनुप्यों में, पचास वर्प की अवस्था के लगभग प्राप्त होती है।[८] अतएव इस अवस्था की प्राप्ति के चार अथवा पाँच वर्प पश्चात् उनको संसार में वच्चों को उत्पन्न करने के कार्य से (स्पप्ट ही) छुट्टी मिल जानी चाहिये। इसके उपरान्त शेप आयु में वह स्वास्थ्य के निमित्त अथवा अन्य किसी ऐसे ही कारण से पारस्परिक सहवास करते माने जा सकते हैं।

पति और पत्नी के लिये परस्त्री अथवा परपुरुप गमन करना——ऐसा उनके समग्र विवाहित जीवन-काल में किसी भी समय और किसी भी प्रकार से घटित क्यों न हो, (जव तक वे परस्पर पति-पत्नी कहे जाते हैं) तव तक——यह घोर लज्जा की वात समझी जानी चाहिये। पर यदि इस प्रकार की कोई घटना शिशु-प्रजनन-काल में घटित हुई प्रकट हो तो ऐसी अवस्था में तो यह वात अपराध के ही अनुपात में वदनामी के दण्ड से दण्डित होने योग्य मानी जानी चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. इस खण्ड में अरिस्तू ने अपनी पैतृक वैद्यविद्या का अच्छा परिचय दिया है।

२. त्रायज़ीन और क्रेते (अथवा क्रीत।) में विवाह अल्प अवस्था में हो जाते थे। देववाणी ने इसी विषय में उपदेश दिया था जिसका आशय यह था कि अपरिपक्वावस्था में सन्तानोत्पत्ति नहीं की जानी चाहिये। न्यूमैन ने पौलिटिक्स की तीसरी जिल्द के

पृ० ४६४ पर मॉ० कोरोसी का एक उद्धरण दिया है। कोरोसी ने ३०००० तथ्यों का अध्ययन किया था और उसके आधार पर उन्होंने लिखा था —-२० वर्ष से कम की माताओं और २४ वर्ष से कम के पिताओं की सन्तानें परिपक्वावस्थावाले माता-पिताओं की सन्तानों से दुर्बल होती हैं। इनकी सन्तानें श्वास-संबंधी रोगों को अधिक भोगती हैं। सब से अधिक स्वस्थ सन्तानें वह होती हैं जिनके पिताओं की आयु २५ और ४० वर्ष के मध्य में और माताओं की आयु २० और ३० वर्ष के मध्य में हों।

३. रेतोरिक नामक पुस्तक में अरिस्तू ने बतलाया है कि पुरुष ३० वर्ष की अवस्था के लगभग शरीर की पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होता है।

४. यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं की गई।

५. इन देवियों के नाम ऐलैथिया और आर्त्तेमिस् हैं।

६. अरिस्तू के मत में गर्भिणी माता को अचेतन धरती के समान व्यवहार करना चाहिये।

७. ग्रीक लोगों में बच्चों को (विशेष कर नवजात लड़कियों को) नगर के पास के पहाड़ों पर डाल देने की घटनाओं का अनेक बार उल्लेख मिलता है।

८. यह पति के संबंध में आयु की मर्यादा है, स्त्री के संबंध में नहीं।

१७

बच्चों के विकास का काल

बच्चों के जन्म के पश्चात्, उनके वृद्धिकाल में, उनको किस प्रकार का पोषण दिया जाता है, इससे भी उनकी शारीरिक शक्ति में बहुत अन्तर पड़ जाता है। अन्य पशुओं के उदाहरण से, तथा उन बर्बर जातियों के उदाहरण से, जो शरीर को युद्ध-क्षम बनाने का लक्ष्य रखती हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वह भोजन जिसमें दुग्ध की मात्रा बहुत अधिक होती है, मानव-शरीर (शिशु-शरीर) के विकास के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। यदि उनको रोगों से बचा रहना है तो उनको जितनी कम मदिरा दी जाय उतना ही अच्छा। इसके अतिरिक्त बच्चों के नन्हें से शरीर जितने भी प्रकार की गति और हिलना-डुलना संभवतया कर सकते हैं वह सब उनके लिये लाभदायक है। पर उनके कोमल अंगों को वक्र और विकृत होने से बचाने के लिये कुछ बर्बर जातियाँ अभी तक कुछ ऐसे यांत्रिक साधनों का उपयोग करती हैं जो उनके गात्रों को सीधा रखते हैं। बच्चों को उनके शैशवकाल से ही शीत को सहने का अभ्यासी बना देना बड़ी अच्छी बात है ;

यह आदत स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त लाभदायक है और उनके शरीर को युद्धकार्य के लिये कठोर (सहिष्णु) बना देती है। इसी लिये बहुत सी बर्बर जातियों में बच्चों को जन्मते ही नदी की ठंडी धारा में डुबकी दे देने की प्रथा है; अन्य जातियों, जैसे कि कैल्ट लोगों में बच्चों को थोड़े (हल्के) वस्त्रों में लपेटने की प्रथा है। जिन सब बातों की आदत डालना संभव है, उन सब की आदत बिलकुल आरंभ से ही डालना अच्छा होता है, पर यह अभ्यास-क्रम शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। बच्चों का प्राकृतिक शरीर-गठन, उनकी स्वाभाविक उष्णता के कारण शीत के सहन करने का सरलता से अभ्यस्त हो सकता है। बच्चों के आरंभिक जीवन को इसी उपर्युक्त प्रकार की देखभाल (चिन्ता) रखकर अथवा इसी से मिलती-जुलती सावधानी करके विकसित करना उपयोगी है।

बाल्यावस्था का दूसरा खंड, जो कि पाँचवें वर्ष (के अन्त) तक चलता है, ऐसा होता है कि उसमें कहीं किसी प्रकार बालक के विकास में रुकावट न पड़े इसलिये उसमें न तो उस पर पढ़ाई का बोझ डालना अच्छा है और न कोई आवश्यक (अनिवार्य) परिश्रम का काम लेना। पर इस अवस्था में शरीर से कुछ हिलने-डुलने का अभ्यास कराना आवश्यक होता है, जिससे शरीर के गात्र आलस्य के कारण निकम्मे होने से बच सकें। इस अंग-संचालन का प्रबंध कुछ तो मनोरंजक खेलों के द्वारा और कुछ अन्य उपायों द्वारा किया जाना चाहिये; तथापि खेल ऐसे होने चाहिये जो न स्वतंत्र नागरिकों के लिये अनुचित हों और न अत्यधिक श्रमसाध्य हों और न स्त्रियोचित सुकुमारता को बढ़ानेवाले हों। इतनी अवस्थावाले बच्चों को किस प्रकार की कथाएँ और गल्पें सुननी चाहिये, इस विषय में भी शिक्षा विभाग के अधिकारियों को (जो कि शिक्षा-निर्देशक कहलाते हैं) सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार की सब बातों को भावी जीवन के व्यवसायों के लिये मार्ग तैयार करनेवाला होना चाहिये। अतएव बच्चों के खेल अधिकांश में उन कार्यों की अनुकृति होना चाहिये जिनके विषय में वे (बच्चे) भावी जीवन-काल में दत्तचित्त होंगे। बच्चों के चीखने और रोने को जो व्यक्ति (प्लातौन) अपने नियमों में (नियम=कानून नामक पुस्तक में) रोकने का उद्योग करता है उसका यह करना ठीक नहीं है। ऐसा करने से (अर्थात् चीखने और रोने से) उनके विकास को लाभ पहुँचता है; यह तो एक प्रकार से उनके शरीर का व्यायाम है। जिस प्रकार प्राणवायु (श्वास) को रोकना (युवकों) को परिश्रम करने के लिये शक्ति प्रदान करता है इसी प्रकार फेफड़ों पर ज़ोर देना (और चीखना) बच्चों के लिये हितकर होता है।[२] शिक्षाध्यक्षों को इस बात पर दृष्टि रखनी चाहिये कि बच्चे अपना समय किस प्रकार (किस मनोरंजन से) व्यतीत करते हैं। विशेषकर उनको

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वे यथासंभव कम से कम समय तक दासों के साथ में रहें। सातवें वर्ष तक के बच्चों की अवस्था अवश्य ही घर पर के ही पालन-पोषण में व्यतीत होगी। यद्यपि उनकी अवस्था अभी इतनी छोटी होती है, तथापि यह हो सकता है कि वे जो कुछ भी गँवारू (स्वाधीन पुरुषों के अयोग्य) बात सुनें अथवा देखें उस कुप्रभाव से अछूते न रह सकें। संक्षेप में नियम-निर्माता को जितनी सावधानी राष्ट्र में से अपशब्दों को बहिष्कृत करने में बरतनी चाहिये उतनी अन्य किसी भी वस्तु के लिये आवश्यक नहीं है। किसी भी प्रकार की कुवाच्य वाणी का बेधड़क प्रयोग करना कुकर्म करने के अत्यन्त निकट की वस्तु है। सुकुमार बच्चों को विशेष सावधानी के साथ किसी ऐसी बात को कहने अथवा सुनने से बचाना चाहिये। निषेध के होते हुए भी, जो लोग लज्जाजनक वाक्यों को बोलने और निन्दनीय कर्मो के करने के दोषी पाये जायँ (देखे जायँ) उनको यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि कोई ऐसा स्वतंत्र युवक इस अपराध का दोषी हो जिसको सामान्य भोज की पट्टिकाओं पर शयन करने का अधिकार अभी प्राप्त नहीं है[३] उसको अपमानित होने और पीटे जाने का दण्ड दिया जाना चाहिये; और यदि कोई वृद्धावस्थावाला स्वतंत्र व्यक्ति इस प्रकार के अपराध का दोषी हो तो उसको उसके दासोचित कार्य के निमित्त पदच्युति के अपमान से यथापराध दण्ड देना चाहिये। क्योंकि हम इस प्रकार की भाषा को नगर से निर्वासित कर रहे हैं, अतएव स्पष्ट ही है कि हमको अनुचित (अश्लील) चित्रों के प्रदर्शन और अश्लील नाटकों की भाषा को भी रंग-मंच पर अभिनीत होने से रोकना चाहिये। शासकों को इस विषय में सचेत (सावधान) रहना चाहिये कि कोई भी मूर्त्ति अथवा चित्र ऐसे न हों जो कि इस प्रकारके अशोभन (अश्लील) कार्यों की अनुकृतियाँ हों। इस नियम का अपवाद ऐसे देवताओं के मन्दिर अथवा उत्सव हो सकते हैं जिनके उत्सवों में अश्लील परिहास का भी नियम द्वारा विधान किया गया है।[४] पर इस विषय में हमको यह ध्यान रखना चाहिये कि कानून ने एक विशिष्ट परिपक्व अवस्था को पहुँचे हुए पुरुषों को, अपने बच्चों और स्त्रियों के लिये और स्वयं अपने लिये स्वयमेव देवमन्दिरों में पूजा प्रदान करने की छूट दे रखी है।[५] नियम-निर्माताओं को युवकों के लिये तब तक निन्दा नाटकों और प्रहसनों के देखने का प्रतिषेध कर देना चाहिये जब तक वे उस अवस्था को प्राप्त न कर लें जिसमें कि उनको सार्वजनिक भोजों में वृद्ध मनुष्यों के साथ शयन करने का एवं मधुपान करने का अधिकार प्राप्त होता है; उस समय तक उनकी शिक्षा उनको इस प्रकार के सब अनुकरणों के कुप्रभाव से (आघात से) अभेद्य बना चुकेगी।

इस विषय का हमने इस समय यह चलताऊ सा संक्षिप्त विवेचन किया है। पर भविष्य में हम इस विषय पर अवश्य ध्यान देंगे और अधिक परिपूर्ण विवेचना के पश्चात् यह निर्धारित करेंगे कि इस प्रकार वैधानिक नियमन होना चाहिये अथवा नहीं होना चाहिये, और यदि हो तो किस प्रकार का होना चाहिये। इस समय तो हमने इस विषय पर केवल इतना ही विचार किया जितना कि अनिवार्य था। स्यात् दुःखान्त नाटकों के अभिनेता थियोडोरस्[१] ने यह कुछ बुरी बात नहीं कही थी कि उसने अभी तक कभी भी किसी अभिनेता को (चाहे वह कितना ही निचले प्रकार का अभिनेता क्यों न हो) अपने से पूर्व रंगमंच पर उपस्थित (प्रविष्ट) नहीं होने दिया क्योंकि दर्शक लोग जिन वाक्यों को (अथवा जिसकी वाणी को) पहले सुन लेते हैं उसी के अनुरागी हो जाते हैं। यही तथ्य हमारे मानवीय संपर्कों के विषय में भी घटित होता है और वस्तुओं के सम्पर्कों में भी; हम सर्वदा उसी वस्तु अथवा व्यक्ति में अधिक अनुरक्त होते हैं जिससे हमारा प्रथम सम्पर्क होता है। अतएव युवकों को उन सब बातों से जो कि बुरी हैं अपरिचित बनाये रखना चाहिये; विशेषकर ऐसी वस्तुओं से जो कि दुष्टता और दौर्मनस्य से युक्त हों। प्रथम पाँच वर्ष समाप्त हो जाने पर अगले दो वर्ष सातवें वर्ष की समाप्ति तक उनको अन्य लोगों को उन अध्ययनों में लगे हुए देखना चाहिये जिनको इन्हें स्वयं आगे चलकर सीखना होगा।

अवस्था के दो खण्डों को दृष्टि में रखते हुए अनिवार्यतया शिक्षा को विभाजित किया जाना चाहिये; एक तो सात वर्ष की अवस्था से लेकर मसें भीगने तक और दूसरा मसें भीगने के पश्चात् से लेकर इक्कीस वर्ष की अवस्था तक। जो लोग मानवीय आयुष्य को सात वर्षों के सप्तकों में विभक्त करते हैं वे सामान्यतया सामग्र्येण ठीक ही करते (कहते) हैं। पर हमको (शिक्षा के क्षेत्र में) स्वयं प्रकृति द्वारा किये हुए विभागों का अनुसरण करना चाहिये। सारी कला और शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति की कमियों को पूर्ण करने का प्रयत्न करना है।[८] प्रथम तो यह देखना चाहिये कि क्या (बच्चों की शिक्षा के नियमन) के लिये किसी प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिये (अथवा नहीं।) दूसरी बात यह है कि क्या इस विषय की देखरेख सार्वजनिक प्रकार से की जानी चाहिये अथवा व्यक्तिगत प्रकार से—जैसी कि आजतक अधिकांश नगरों में प्रथा चली आ रही है। तीसरा प्रश्न जो विचारणीय है वह यह है कि शिक्षा-संबंधी नियमों का स्वरूप कैसा होना चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू ने अन्य असभ्य कही जानेवाली जातियों की प्रथाओं का विस्तृत अध्ययन किया था।

२. इससे पता चलता है कि अरिस्तू को प्राणायाम की महिमा का कुछ कुछ पता था।

३. अधिक अवस्था के व्यक्ति यूनान में भोजन की मेज़ के पास पड़े हुए कोच पर अर्द्धशयित स्थिति में भोजन किया करते थे। कम अवस्थावाले युवकजन कुर्सियों पर बैठकर भोजन करते थे। युवकों के लिये अर्द्धशयित स्थिति में भोजन करना अशिष्ट व्यवहार का सूचक था।

४. इस प्रकार के देवता दियौनीसस्, देमेतर और कोरे इत्यादि हैं।

५. अर्थात् ऐसे अवसरों पर प्रत्येक व्यक्ति को यह छूट थी कि वह स्वयं जाकर अपने लिये तथा अपनी स्त्री के लिये एवं बच्चों के लिये पूजा कर आये।

६. थियोडोरस् अरिस्तू के समय से अव्यवहितपूर्व का श्रेष्ठ त्रागेदी का अभिनेता था। इसके अभिनय की प्रशंसा इसके उच्चारण की स्वाभाविकता के कारण एवं करुण-रस का अत्यन्त मार्मिक अभिनय करने के कारण थी।

७. यह शिक्षा की परिभाषा मनन करने योग्य है।

आठवीं पुस्तक

१

समाज में शिक्षा का स्थान

इस विषय में तो किसी को कोई सन्देह (दुविधा) हो ही नहीं सकता कि नियम निर्माता को बच्चों की शिक्षा को अपना सबसे मुख्य कर्त्तव्य बना लेना चाहिये ।[1] जिस नगर में ऐसा नहीं होता (अर्थात् शिक्षा के प्रबन्ध के विषय में प्रमाद किया जाता है) वहाँ की शासनव्यवस्था को हानि पहुँचती है । जिस नागरिक को जिस प्रकार की शासन-व्यवस्था की छत्रच्छाया में अपना जीवन व्यतीत करना है उस नागरिक को (शिक्षा द्वारा) उसी के साँचे में ढाल देना चाहिये ।[2] क्योंकि प्रत्येक शासनपद्धति का अपना विशिष्ट स्वभाव (ही वह शक्ति) होता है जो आरंभ में उसकी स्थापना करता है और तत्पश्चात् उसकी सत्ता को सुरक्षित रखता है । उदाहरणार्थ जनतंत्रात्मक स्वभाव जनतंत्रात्मक शासनपद्धति को तथा धनिकतंत्रात्मक स्वभाव धनिकतंत्रात्मक पद्धति को जन्म देता है और उसकी रक्षा करता है । इसी प्रकार सर्वदा जितना ही अच्छा स्वभाव होता है वह उतनी ही उत्तम शासनपद्धति का कारण बनता है । फिर इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार की क्षमता और कला के अभ्यास के लिये कुछ पूर्व शिक्षण और पहले से ही आदत डालने की आवश्यकता हुआ करती है । अतएव स्पष्ट है कि सद्वृत्ति के अभ्यास के लिये भी ऐसा ही होना चाहिये ।

क्योंकि समग्र नगर का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है, अतएव स्पष्ट ही नगर में सबके लिये अवश्यमेव एक ही शिक्षापद्धति होनी चाहिये । तथा इस शिक्षापद्धति की देख रेख (चिन्ता) सार्वजनिक विषय होना चाहिये न कि व्यक्तिगत ।[3] ऐसा नहीं होना चाहिये जैसा कि आजकल होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों की स्वयं चिन्ता करता है ; तथा जैसा जिसको उचित प्रतीत होता है वह वैसी ही शिक्षा अपने बच्चों को अलग व्यक्तिगत रूपसे दिलाता है । जो लक्ष्य (अथवा हित) सार्वजनिक हैं उनकी प्राप्ति के लिये दी जानेवाली शिक्षा भी सबके लिये एक समान होनी चाहिये । और न हमको प्रत्येक नागरिक को स्वयं अपने ऊपर अधिकार रखनेवाला मानना चाहिये, प्रत्युत यह मानना चाहिये कि सब नागरिक नगर के हैं (अर्थात् नगर अथवा राष्ट्र का

स्वामित्व सब पर है)। प्रत्येक नागरिक नगर का अंश है।[४] प्रत्येक अंश के लिये जो चिन्ता अथवा प्रबन्ध होगा वह प्रकृत्या ही सब के लिये किये जानेवाले प्रबन्ध को दृष्टि में रख कर होगा। इस विशेष क्षेत्र में, और ऐसे ही कुछ अन्य विषयों की दृष्टि से लाकैदायमौन (स्पार्टा) के निवासी प्रशंसा के पात्र हैं। क्योंकि वे अपने बच्चों की शिक्षा के विषय में अत्यन्त उद्यमशील और कष्ट उठाने वाले हैं तथा उनका यह सारा प्रयत्न सार्वजनिक होता है व्यक्तिगत नहीं। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि शिक्षा के संबंध में भी नियम बनाये जाने चाहिये तथा शिक्षा सार्वजनिक (राष्ट्रीय) होनी चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. मनुष्य को प्राकृतिक पशुता से उठाकर मनुष्य नाम का वास्तविक अधिकारी शिक्षा ही बनाती है अतएव सुव्यवस्थित समाज में शिक्षा का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२. अरिस्तू के मत में शासन-पद्धति केवल शासनाधिकार के पदों की व्यवस्था ही नहीं है वह तो समग्र राष्ट्र की जीवन-पद्धति भी है। अतएव नागरिकों के जीवन और नागरिक-शासन-पद्धति इन दोनों में सामंजस्य घटित करने के लिये शिक्षा द्वारा नागरिकों का जीवन अभीष्ट शासन-पद्धति के अनुकूल बना दिया जाना चाहिये।

३. यदि नगर-राष्ट्र का लक्ष्य एक है और उस लक्ष्य की प्राप्ति शिक्षा द्वारा होनी है तो यह आवश्यक है कि शिक्षा राष्ट्रायत्त होनी चाहिये।

४. अर्थात् नगर एक अवयवी है और प्रत्येक नागरिक उसका अवयव है।

वि० इस खंड में अरिस्तू ने पिछली पुस्तक के अन्त में उपस्थित किये गये प्रश्नों में से दो का उत्तर दिया है। संक्षेप में यह प्रश्न इस प्रकार हैं--(१) क्या बच्चों की शिक्षा के लिये नियम होने चाहिये? और (२) शिक्षा की व्यवस्था नगर की ओर से होनी चाहिये अथवा व्यक्तिगत नागरिकों की ओर से? अरिस्तू ने इनका उत्तर अत्यन्त स्पष्टता और दृढ़ता के साथ दिया है। (१) शिक्षा के लिये नियम बनाना नियम निर्माता का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है (२) शिक्षा की व्यवस्था राष्ट्र की ओर से की जानी चाहिये।

२

शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा[१] का स्वरूप क्या है और बच्चों को शिक्षा किस प्रकार दी जानी चाहिये,[२] यह प्रश्न विस्मरण नहीं कर देना चाहिये। आजकल शिक्षा के विषयों के संबंध में

मतभेद है। सदाचार[1] को दृष्टि में रखते हुए अथवा श्रेष्ठ जीवन की दृष्टि से नवयुवकों (बच्चों) को क्या सिखाया जाना चाहिये, इस विषय में सब लोग एक ही समझ नहीं रखते। न यही स्पष्ट है कि शिक्षा बुद्धि के (विकास) लिये होना अधिक उचित है अथवा आध्यात्मिक सदाचरण के लिये। यदि हम शिक्षा की वर्त्तमान प्रक्रिया पर दृष्टिपात करें तो परिणाम अत्यन्त भ्रान्तिकारक निकलता है। इस (वर्त्तमान प्रक्रिया) से यह स्पष्ट नहीं होता कि किन विषयों का अध्ययन किया जाना चाहिये—क्या उनका जो जीवन के लिये उपयोगी हैं, अथवा उनका जो सद्वृत्ति के विकास में सहायक हैं, अथवा उनका जो उच्च ज्ञान की मात्रा को बढ़ानेवाले हैं ? इन तीनों विकल्पों में से प्रत्येक को कुछेक लोगों की वरणीयता प्राप्त हुई है (यद्यपि स्पष्ट सर्वोपरि विशिष्टत्व किसी का नहीं है।) जो विषय सद्वृत्ति के विकास के लिये हितकर हैं उनके विषय में भी ऐकमत्य का अभाव है। प्रथम तो जो लोग सद्वृत्त (सदाचार) का सम्मान करते हैं उन सबके लिये भी इसका कोई एक ही सीधा-सादा अर्थ नहीं है। और जब लोग सदवृत्त के अर्थ के विषय में एकमत नहीं हैं तब तो उसके अभ्यास (व्यवहार) के ढंग उनका भिन्न होना युक्ति-संगत है ही।[४] इस विषय में कोई सन्देह (अस्पष्टता) हो ही नहीं सकती कि बच्चों को वे उपयोगी विषय[५] तो पढ़ाये ही जाने चाहिये जो अनिवार्य हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षा में प्रत्येक उपयोगी विषय का समावेश होना चाहिये। सब प्रकार के व्यापार दो भागों में विभक्त किये जाते हैं, एक तो वे व्यापार जो स्वतंत्र नागरिकों के लिये उचित हैं दूसरे वे जो उनके लिये उचित नहीं हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चों को केवल ऐसी शिक्षा का वितरण केवल इतनी ही मात्रा में करना चाहिये जितनी मात्रा में वह उनके लिये उपयोगी तो हो सके पर उनको श्रमिक मनो-वृत्तिवाला (गँवार) न बना दे। गँवारू (बनौसस्) शब्द का प्रयोग ऐसे व्यापार, कला अथवा विज्ञान के लिये होना चाहिये जो स्वतंत्र मनुष्य के शरीर, आत्मा और बुद्धि को सद्वृत्त के अनुसरण एवं व्यवहार के अयोग्य बना डालता है। इसलिए हम "गँवारू" शब्द से किसी भी ऐसे कलाकौशल को अभिहित कर सकते हैं जो कि मनुष्य की शारीरिक क्षमता को बिगाड़ डालता है, तथा ऐसे व्यापारों (कार्यों) को अभिहित कर सकते हैं जो वेतन के लिये किये जाते हैं तथा जो मनुष्य की बुद्धि को व्याप्त और पतित करके अवकाशरहित[६] बना देते हैं। कुछ उदार कलाएँ भी ऐसी हैं जो स्वतंत्रजनों के द्वारा प्राप्त किये जाने के योग्य हैं, पर एक सीमा तक ही इनका प्राप्त किया जाना गँवारूपन (अस्वतंत्रजनौचित्य) के बिना हो सकता है पर यदि कोई व्यक्ति पूर्णता (तलस्पर्शिता) प्राप्त करने के लिये उनके प्रति अत्यधिक ध्यान लगायेगा तो परिणाम में वही बुराइयाँ

उत्पन्न होंगी जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। जिस प्रयोजन के लिये कोई मनुष्य किसी कार्य को करता है अथवा किसी विषय का अध्ययन करता है उससे भी बहुत कुछ अन्तर पड़ जाता है। जो कोई भी कार्य स्वयं अपने लिये, किसी मित्र के लिये अथवा सद्वृत्ति की प्राप्ति के लिये किया जाता है अथवा सीखा जाता है तो वह अस्वतंत्रजनोचित नहीं होता। पर वही कार्य यदि दूसरों के द्वारा प्रेरित किये जाने पर बार बार बहुधा किया जाय तो कमीना और दासोचित गिना जाने लगता है। अध्ययन (शिक्षा) के क्रमागत विषय (जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ) दोनों ओर झुकते हुए से हैं। (अथवा दो दृष्टिकोणों से देखे जा सकते हैं।)

टिप्पणियाँ

१. कुछ संस्करणों में इस खंड को उस वाक्य से आरंभ किया गया है जिसको हमने प्रथम खंड के अन्त में दिया है।

२. यह शिक्षा-संबंधी तीसरा प्रश्न है जो सातवीं पुस्तक के अन्त में उठाया गया था। अरिस्तू ने इसका उत्तर आठवीं पुस्तक के शेष भाग में देने का प्रयत्न किया है।

३. सदाचार के स्थान पर मूल में "अरैते" शब्द का प्रयोग किया गया है। बार्कर ने इसका अनुवाद "प्लेन गुड्नैस्" किया है। इसका अनुवाद सद्वृत्त भी हो सकता है।

४. अरिस्तू को जो व्यापक दुविधा सब ओर दिखलाई पड़ रही है उसका कारण यह है कि यद्यपि सदाचार (अथवा सद्वृत्त), श्रेष्ठ जीवन एवं वद्धि और उसका विकास इत्यादि शब्दों का प्रयोग तो विद्वान् लोग बड़ी "दरिया-दिली" से करते हैं पर इन शब्दों का कोई सुनिश्चित और सर्वसम्मत नपा तुला यथातथ्य अर्थ निर्णीत नहीं हो पाया है।

५. न्यूमैन के मत में उपयोगी विषय लिखना, पढ़ना, अंकगणित, भूमितिशास्त्र और गार्हस्थ्य शास्त्र हैं। पर यह सबके सब सबके लिये आवश्यक नहीं हैं।

६. अर्थात् वुद्धि उच्चचिन्तन के लिये अक्षम बना देते हैं।

३

शिक्षा के विषय और अवकाश

लगभग चार ऐसे विषय हैं जो प्रथानुसार पढ़ाये जाते आ रहे हैं। वे हैं (१) पढ़ना और लिखना (२) व्यायाम (३) संगीत और (कुछ लोगों के अनुसार) (४) चित्रकारी। इनमें से पढ़ना लिखना और चित्रकारी यह दोनों अनेकों विभिन्न प्रकारों

से जीवनकार्यों के लिये उपयोगी समझे जाते हैं। शारीरिक व्यायाम साहस के विकास के लिये उपयोगी होता है। संगीत की शिक्षा का उद्देश्य संदेह और विवाद का विषय है। आजकल तो बहुत से लोग इसकी शिक्षा केवल आनंद के लिये ही ग्रहण करते हैं; पर मूलतः (आदि से) इसकी व्यवस्था शिक्षा के अन्तर्गत इस कारण हुई थी कि स्वयं हमारा स्वभाव ही (जैसा कि बहुधा कहा जाता है) यह अपेक्षा करता है कि हम न केवल भली प्रकार काम ही कर सकें प्रत्युत अपने अवकाश का भी शोभन उपयोग कर सकें। क्योंकि यह बात मैं पुनः एक बार कहूँगा कि अवकाश का शोभन उपयोग ही अन्य सब कार्यो का मूलाधार है।[1] यह सत्य है कि (व्यापार और अवकाश) दोनों ही अपेक्षित हैं, तथापि व्यापार की अपेक्षा अवकाश अधिक उच्च है, और क्रियाशीलता का लक्ष्य यही अवकाश होना चाहिये।[2] अतएव हमारी समस्या (अथवा प्रस्तुत प्रश्न) यह है कि अवकाश के समय हमको क्या करना चाहिये। निश्चयमेव हम अपने अवकाश को केवल क्रीड़ा (या मनोरंजन) से ही नहीं भर सकते। ऐसा करना तो अवश्य ही क्रीड़ा (अथवा मनोरंजन) को ही जीवन का लक्ष्य बना देना होगा। यदि ऐसा होना असंभव हो, और यदि व्यापारकाल के मध्य में ही मनोरंजन (अथवा क्रीड़ा) का अधिक उपयोग हो (क्योंकि परिश्रम करनेवाले को ही विश्राम की आवश्यकता होती है, तथा मनोरंजन विश्राम देने के ही निमित्त है; जब कि व्यापार में श्रम और प्रयत्न का साहचर्य रहता है) अतएव मनोरंजन (और क्रीड़ा) का समावेश तो हमको केवल उचित समय और ऋतुओं को देखते हुए ही करना चाहिये एवं उनका उपयोग श्रमापनोदनार्थ औषधि के रूप में किया जाना चाहिये। मनोरंजन और क्रीड़ा जिस मनोदशा (मनोगति) को उत्पन्न करते हैं वह व्यापार-दशा के तनाव के शैथिल्य की दशा है, तथा इस शैथिल्य में जो आनन्द प्राप्त होता है वह विश्राम प्रदान करता है। पर अवकाश को स्वयं अपने में ही आनन्द देनेवाला, सुख प्रदान करनेवाला और जीवन को सौभाग्यपूर्ण बना देनेवाला समझा जाता है।[3] इस प्रकार आनन्दादि का उपभोग (अनुभव) व्यापार में संलग्न मनुष्यों के द्वारा नहीं किया जाता, किन्तु अवकाशवान् मनुष्यों के द्वारा ही किया जा सकता है। जो व्यक्ति किसी व्यापार में लगा होता है उसकी दृष्टि में कोई ऐसा लक्ष्य होता है जो अभी सिद्ध नहीं हुआ होता। पर सौख्य एक (प्रस्तुत लक्ष्य) है, और सब कोई यह मानते हैं कि इससे सर्वदा आनन्द ही रहता है, पीड़ा नहीं। सौख्य के साथ जो आनन्द रहा करता है उसके स्वरूप के विषय में सबका ऐकमत्य नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने व्यक्तित्व और स्वभाव के अनुसार इसके स्वरूप को पृथक् प्रकार का समझता है। श्रेष्ठ

जनों का आनन्द ही सर्वोत्तम हुआ करता है जो कि सुन्दरतम उद्गम से उत्पन्न होता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि विद्याध्ययन और शिक्षा की कुछ ऐसी शाखाएँ हैं जिनका अनुशीलन मन:संस्कार की प्राप्ति के लिये अवकाश का समुचित उपयोग करने के निमित्त किया जाना चाहिये। तथा यह भी स्पष्ट है कि यह शिक्षा और अनुशीलन स्वयं अपने ही लिये होना चाहिये (अर्थात् इसका लक्ष्य वह स्वयं ही होना चाहिये)। इसके विपरीत जो शिक्षा और अनुशीलन व्यापार के लिये है उसको अनिवार्यतया आवश्यक तथा परिनिमित्त माना जाना चाहिये। और इसी लिये हमारे पूर्वपुरुषों ने संगीत की व्यवस्था शिक्षा के अन्तर्गत की थी। उन्होंने ऐसा इसलिये नहीं किया कि वह एक आवश्यक वस्तु है क्योंकि यह आवश्यक तो विलकुल नहीं है। और न इसी कारण से किया था कि यह उपयोगी है, क्योंकि यह उस प्रकार उपयोगी नहीं है जिस प्रकार पढ़ना लिखना, धन कमाने, ज्ञान की प्राप्ति करने, गृह का प्रवन्ध करने, और अनेकों प्रकार के राजनीतिक कार्यों के संपादन के लिये उपयोगी है; अथवा जिस प्रकार चित्रकला (ड्राइंग) कलाकारों की कृतियों के भले प्रकार से परीक्षण करने के लिये उपयोगी है; या शारीरिक-व्यायाम-विद्या के समान उपयोगी है जो स्वास्थ्य और सामरिक साहस प्रदान करती है; क्योंकि संगीत से इन दोनों पर कोई परिदृश्यमान प्रभाव नहीं होता।[४] अतएव अवकाश के समय मन:संस्कार के लिये ही इसकी एकमात्र उपयोगिता शेष रह जाती है। स्पष्टतया इसके शिक्षा में सम्मिलित किये जाने का कारण यही है। यह वास्तव में उन प्रकारों में से एक है जिससे स्वतंत्र मनुष्य अपने मन:संस्कार पूर्वक अपना अवकाश व्यतीत किया करते हैं। अतएव होमेर ने इस प्रकार कहा है :—

ऐसे हैं वे जो केवल हों आमंत्रित शुभ भोजों में।[५]

इसके पश्चात् (अन्य अनेकों अभ्यागतों का उल्लेख करके) वह यह कहता है कि—

और वुलाते वादक को भी, कर दे सवको संगीत-तृप्त।[६]

और फिर एक और स्थान पर ओडीसियस कहता है कि जव मनुष्य प्रसन्न हों तो संगीत से वढ़कर अन्य कोई विनोद नहीं है, तथा—

शाला में भोजन करते, सुनते होकर नीरव संगीत,
आसीन हुए क्रम में सुन्दर,[७]

अतएव यह स्पष्ट है कि एक शिक्षा का प्रकार ऐसा है जिसमें माता-पिताओं को अपने पुत्रों को शिक्षित कराना चाहिये, पर इसलिये नहीं कि वह शिक्षा उपयोगी

है अथवा परमावश्यक (अनिवार्य) है, प्रत्युत इसलिए कि वह स्वतंत्रजनोचित और स्वयमेव अच्छी है। इस प्रकार की शिक्षा (का विषय) एक ही है अथवा अनेक (=बहुत), यदि बहुत हैं तो वे कौन कौन हैं और उनका अध्ययन किस प्रकार किया जाना चाहिये--इस सबका विवेचन आगे चलकर किया जाना चाहिये।[८] परन्तु इस समय इतना तो कहने का हम अवश्य साहस कर सकते हैं कि पुरातन लोगों का साक्ष्य हमारे दृष्टिकोण के पक्ष में है, क्योंकि प्राचीनकाल से अध्ययन के जो विषय निर्धारित किये हुए चले आ रहे हैं उनसे ऐसा ही सूचित होता है कि संगीत-विद्या को वह स्पष्ट ही एक परम्परागत अध्ययन का विषय मानते हैं। फिर इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्टतया कह सकते हैं कि कुछ उपयोगी विषय--उदाहरणार्थ पढ़ना-लिखना--बच्चों को इसलिये नहीं सिखाये जाने चाहिये कि वे उपयोगी हैं, प्रत्युत इसलिये भी सिखाये जाने चाहिये कि उनके द्वारा ज्ञान की अन्य बहुत-सी शाखाएँ प्राप्त करना संभव है। इसी प्रकार चित्रकला की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत क्रयविक्रय में गलती करने से बचाना इतना नहीं है, और न वस्तुओं के क्रय-विक्रय में उनको अवंचनीय बनाना ही है, जितना कि (इसका उद्देश्य) मनुष्यों को शरीर के सौंदर्य के विषय में दृष्टिसंपन्न बना देना है। सर्वत्र उपयोगी के ही अनुसंधान में लगे रहना महात्माओं और स्वाधीनचेताओं को सबसे कम शोभा देता है।[९]

अतएव यह स्पष्ट है कि बच्चों को पढ़ाने में विवेक के पूर्व अभ्यास (या आदत) का उपयोग करना चाहिये तथा बुद्धि के पूर्व शरीर को शिक्षित करना चाहिये। अतएव पहले पहल बच्चों को व्यायाम सिखानेवालों और खेल सिखानेवाले शिक्षकों के हाथ में सौंपा जाना चाहिये ; इनमें से प्रथम (अर्थात् व्यायामशिक्षक) उनको शरीर की स्वस्थ दशा प्रदान करेगा और दूसरा क्रिया-कुशलता।

टिप्पणियाँ

१. अवकाश में मानव की सर्वोच्च क्रिया चिन्तन संभव है। जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से मानव-समूह को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) कुछ लोग ऐसे हैं जो भरपूर परिश्रम करते हैं पर उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। यह वर्ग निर्धन श्रमिकों का है। (२) कुछ लोग ऐसे होते हैं जो भरपूर परिश्रम करते हैं और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है पर उनको इससे आगे कुछ करने के लिये अवकाश नहीं बचता।

यह वर्ग भी श्रमिकों का ही है पर इनकी स्थिति प्रथम कोटि के श्रमिकों से कुछ अच्छी है। (३) कुछ लोग ऐसे होते हैं जो परिश्रम अथवा काम करते हैं जिससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाती है और अवकाश भी बचता है। (४) कुछ लोग ऐसे हैं जो कुछ नहीं करते पर उनको सब कुछ प्राप्त है और उनको अवकाश ही अवकाश है काम है ही नहीं। (५) कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो काम, अवकाश इत्यादि की चिन्ता से पूर्णतया मुक्त हैं। यह उस कोटि के प्राणी हैं जिनके विषय में कवि ने कहा है "अजगर करें न चाकरी पंछी करें न काम।" इन सब कोटियों में से संसार की उन्नति न तो उन लोगों से हो सकी है जिनको अवकाश का पूर्णतया अभाव रहता है और न उन लोगों के द्वारा जो भौतिक आवश्यकताओं की चिन्ता से पूर्णतया मुक्त हैं। संसार की उन्नति उन लोगों के द्वारा हुई है जिनको समधिक अवकाश प्राप्त है और जिन्होंने उसका सदुपयोग किया है।

२. अर्थात् ऐसी सामाजिक स्थिति उत्पन्न होनी चाहिये जिसमें श्रम और अवकाश का संतुलन हो सके।

३. अर्थात् व्यापार में आन्तरिक आनन्द नहीं होता अतएव उसकी थकान को मिटाने के लिये आमोद-प्रमोद की आवश्यकता होती है। पर अवकाश में आन्तरिक आनन्द रहता है और उसका अनुभव हमको प्रत्येक क्षण उपलब्ध होता है। भारतीय दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या यह होगी कि आत्मा स्वरूपतः निष्क्रिय है और सच्चिदानन्द है अतएव अवकाशावस्था में वह उपाधिरहित होकर अपने स्वरूप में "आनन्द" में स्थित होता है।

४. पर आधुनिक समय में रोग-निवारण के लिये संगीत की परिमित उपयोगिता मानी जा चुकी है।

५. यह पंक्ति इसी रूप में होम (मे) र की ओडिसी में नहीं मिलती।

६. ओडिसी ९।७। वादक के लिये मूल में इसी का सजातीय शब्द "आओइदॉस्" प्रयुक्त हुआ है एवं तृप्त करने के लिये इसी से मिलता हुआ "तॅरपो" धातु का रूप आया है।

७. ओडिसी १७।३८५।

८. यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं की गई।

९. निकम्मे ज्ञान और काम ने भी संसार को बहुत कुछ दिया है।

४

शारीरिक व्यायाम की मर्यादा

उन नगरों में जो कि आजकल बच्चों की शिक्षा के विषय में सबसे अधिक चिन्ता-शील समझे जाते हैं कुछ ऐसे हैं जो बच्चों में मल्लों की-सी आदत उत्पन्न करना अपना लक्ष्य बनाये हुए हैं ; पर ऐसा करके वे उनकी आकृति और शरीर की वृद्धि इन दोनों को ही बहुत अधिक हानि पहुँचाते हैं । यद्यपि लाकैदायमौन्-निवासियों ने इस प्रकार की त्रुटि करने की भूल तो नहीं की है, तथापि वे उनके ऊपर अत्यन्त कठोर व्यायामों को लादकर, यह समझते हुए कि इन व्यायामों से वे साहसी बन जायेंगे, उनको पशुतुल्य नृशंस बना डालते हैं । परन्तु, जैसा कि हमने बहुधा कहा है, बच्चों की शिक्षा एकान्ततः और मुख्यतया केवल एक इसी गुण (साहसिकता) को दृष्टि में रखते हुए कदापि प्रेरित नहीं होनी चाहिये । और यदि साहस को ही मुख्य उद्देश्य मान लिया जाय तो भी वे उसको प्राप्त करने में सफल नहीं हुए हैं । अन्य पशुओं एवं बर्बर जातियों में भी निरीक्षण द्वारा यह देखा जा सकता है कि साहस (शौर्य) क्रूरता की संगति में नहीं पाया जाता किन्तु एक मृदुल एवं सिंह-तुल्य स्वभाव के साहचर्य में पाया जाता है । (निस्संदेह) बहुत सी ऐसी बर्बर जातियाँ हैं जो हत्या और मनुष्य-भक्षण के लिये नित्य कटिबद्ध रहती हैं, जैसे कि कृष्णसागर के तट पर रहनेवाली जातियों में अखैयी और हीनियोखी ऐसी ही जातियाँ हैं, तथा महाद्वीप के आन्तरिक भाग में रहनेवाली अन्य कई जातियाँ इसी प्रकार की अथवा इनसे भी अधिक नृशंस हैं जो कि दस्युकर्म किया करती हैं---पर वे वास्तव में साहसपूर्ण जातियाँ नहीं हैं । जैसा कि हमको अनुभव से ज्ञात है, स्वयं लाकैदायमॉन-निवासी (स्पार्टा-निवासी) तब तक अन्य जातियों से साहस में बढ़कर थे जब कि केवल वही कठोर परिश्रमपूर्ण व्यायाम का अभ्यास करनेवाले थे, परन्तु अब तो वे व्यायाम और युद्ध दोनों में ही पराजित हो चुके हैं । उनकी प्राक्-कालीन श्रेष्ठता उनके बच्चों की विशिष्ट प्रकार की शिक्षा के कारण नहीं थी, परन्तु केवल एक इस बात के कारण थी कि उनमें तो किसी न किसी प्रकार का अनुशासन और शिक्षा थी, पर उनके शत्रुओं में इसका नितान्त अभाव था । इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रमुखता (प्रथम स्थान) उदाराशय व्यक्ति को न कि क्रूर स्वभाववाले व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिये । वास्तव में किसी शोभन भय का सामना डटकर न तो कभी कोई भेड़िया ही कर सकता है और न कोई अन्य वन्य पशु; इस प्रकार के भय का सामना करना वीर पुरुषों का काम है ।[२] बच्चों को अत्यधिक इस प्रकार के (कठोर)

अनुशासन-कार्य में लगाकर उनको बर्बर बन जाने देना, तथा जो शिक्षा उनके लिये अनिवार्यतया आवश्यक है उससे उनको वंचित रखना, वास्तव में उनको असभ्य गँवार बना डालना है। क्योंकि इस प्रकार तो वे उनको केवल एक गुण में ही राजनीतिज्ञ के काम के योग्य बना पाते हैं; तथा जैसा कि हमारी युक्तियों से सिद्ध होता है इस गुण में भी वे अन्य प्रकार से शिक्षित व्यक्तियों से हीनतर ही बन पाते हैं। हमको स्पार्टा-निवासियों का परीक्षण उनके पूर्वकार्यों के आधार पर नहीं करना चाहिये, प्रत्युत हमको यह देखना चाहिये कि उनकी वर्तमान दशा क्या है। आजकल तो उनकी शिक्षा की प्रतिस्पर्धा करनेवाले (अनेक) प्रतिद्वन्द्वी हैं। पहले कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नहीं था।

यह बात तो आजकल सर्वसम्मत है कि शारीरिक व्यायाम की शिक्षा उपयोगी और आवश्यक है तथा यह भी सर्वसम्मत है कि यह शिक्षा किस प्रकार दी जानी चाहिये। मसें भीगने के समय तक (यौवनागम के समय तक) व्यायाम हलके प्रकार का (दिया जाना) चाहिये; कठोर भोजन तथा उग्र परिश्रम को अपवर्जित कर देना चाहिये जिससे शरीर का ठीक ठीक विकास न रुक जाय। बच्चों के जीवन के आरंभ में ही अत्यधिक शारीरिक व्यायाम का बुरा प्रभाव तो बड़ी प्रबलता के साथ स्पष्ट सिद्ध है। ऑलिम्पिक विजेताओं की सूची[३] में दो या तीन व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जिन्होंने पूर्ण पुरुषावस्था और बाल्यावस्था दोनों में पुरस्कार जीते हैं; इसका कारण यह है कि जीवन के आरंभ में शारीरिक शिक्षा और अनिवार्य व्यायाम ने उनकी शक्ति को क्षीण (अपहृत) कर दिया। इस (यौवनागम की) अवस्था के प्राप्त हो जाने के उपरान्त, तीन वर्ष अन्य प्रकार के अध्ययन (यथा पढ़ना-लिखना) में व्यतीत किये जाने चाहिये; इसके उपरान्त आनेवाली अवस्था का भाग कठोर व्यायाम और बाधित (संयत) भोजन के निमित्त अर्पित किया जा सकता है। बुद्धि और शरीर दोनों से एक साथ परिश्रम नहीं किया जाना चाहिये; क्योंकि दो पृथक् पृथक् प्रकार के परिश्रम पृथक् पृथक् प्रकार का परिणाम उत्पन्न करते हैं। शारीरिक परिश्रम बुद्धि को कुंठित कर देता है और बुद्धि का श्रम शरीर को।[४]

टिप्पणियाँ

१. यह दोनों जातियाँ कृष्णसागर के पूर्वी तट पर बसी हुई थीं। अखैयी जाति के लोगों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ट्रॉय को जीता था। हीनियोखी लोग तो लाकैदायमौन-निवासियों की एक शाखा माने जाते थे।

२. वीरता और क्रूरता दो विरोधी गुण हैं।
३. अरिस्तू ने इस प्रकार की सूचियों को वड़ी खोज से प्रस्तुत किया था।
४. पर दोनों का सन्तुलन तो स्वास्थ्य और वुद्धि दोनों के लिये हितकर हो सकता है।

५

संगीत विद्या का अध्ययन

संगीत विद्या के संवंध में कुछ प्रश्न तो हमारे विवेचन में पहले ही उठाये जा चुके हैं; यह अच्छा होगा कि हम इन्हीं प्रश्नों के सूत्र को पुनः हाथ में लें और विवेचन के मार्ग में आगे वढ़ चलें; जिससे कि हमारे कथन उन सव विचारों की भूमिका (मूल ध्वनि) रूप में काम दे सकें जो कि इस विषय के पूर्ण निदर्शन के लिये प्रस्तुत किये जायँगे। संगीत के स्वरूप (अथवा प्रभाव) का ठीक ठीक निरूपण कर सकना कोई सरल काम नहीं है; और न यह वतला सकना ही सरल है कि अमुक उद्देश्य की सिद्धि के लिये इसका अध्ययन किया जाना चाहिये। क्या वह मनोरंजन अथवा विश्राम के लिये है जैसा कि सोना और मदिरापान करना है? सोना और मदिरा पीना स्वतः कोई अच्छी वातें नहीं हैं, किन्तु वे आनन्ददायक हैं, और जैसा यूरीपिदेस् ने कहा है, वे दोनों "चिन्ता को एकदम रोक देती हैं।"[१] इसी कारण कभी कभी संगीत को भी इन दोनों के साथ एक ही कोटि में सम्मिलित कर दिया जाता है, तथा सोना, मद्यपान, एवं संगीत (जिनके साथ नृत्य को भी जोड़ दिया जाता है) सव का एक सा उपयोग किया जाता है। अथवा (एक और दृष्टिकोण) इसके विषय में यह है कि संगीत विद्या सद्वृत्ति की प्राप्ति के लिये उपयोगी है; क्योंकि हमको ठीक ढंग से आनन्दित होने का अभ्यस्त वनाकर यह हमारे चरित्र को इसी प्रकार विशिष्टता प्रदान करने की शक्ति रखती है जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम शरीर को विशिष्टता प्रदान करने की शक्ति रखता है। अथवा (यह कह सकते हैं कि) संगीत विद्या मनोरंजन द्वारा काल-यापन में योगदान देती है और वुद्धि के संस्कार में सहायक होती है—यह हमारे वतलाये हुए विकल्पों में से तीसरा विकल्प है।[३]

यह वात अस्पष्ट नहीं है (अर्थात् नितान्त स्पष्ट है) कि वच्चों की शिक्षा मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं होनी चाहिये; क्योंकि अध्ययन मनोरंजन के साथ नही किया जाता प्रत्युत वह दुःख के साथ चलता है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मन का संस्कार ऐसा कार्य नहीं है जो वच्चों के लिये, अथवा सुकुमार अवस्था के नवयुवकों के लिये समुचित (शोभन) हो; जो स्वयं अभी अपनी पूर्णता (परिपक्वता) को प्राप्त नहीं हुए हैं

वे परिपूर्णता अथवा अन्तिम ध्येय (या लक्ष्य) को प्राप्त नहीं कर सकते। पर स्यात् यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि बच्चों के गुरुतापूर्ण अध्ययन (जिनमें संगीत का भी समावेश है) मनोरंजन के ही उपाय हैं, जिसका उपभोग वे बड़े होकर—पूरे मनुष्य होने पर—करेंगे। किन्तु यदि यह बात ऐसी हो तो फिर उनको स्वयमेव इस संगीत विद्या के अध्ययन करने का क्या प्रयोजन ? भला उनको पारसीक और मीडिक राजाओं के अनुसार ऐसे अन्य लोगों की कला का श्रवण करते हुए आनन्द और शिक्षा को प्राप्त क्यों नहीं कर लेना चाहिये जिनका व्यापार ही ऐसा (संगीत) है ? क्योंकि निश्चय ही वे लोग (जिन्होंने कि ऐसा करना ही अपना व्यापार और कलावृत्ति बना ली है) उन लोगों की अपेक्षा अधिक अच्छे कलावन्त होंगे जो इसका अभ्यास केवल इतने समय के लिये करते हैं जितने में वे उसको सीख भर सकें। यदि बच्चों को संगीत सीखने के लिये परिश्रम करना ही चाहिये, तब तो इसी सिद्धान्त के अनुसार उनको भोजन पकाने के व्यापार को सपरिश्रम सीखना चाहिये। पर यह एक बेहूदा-सी बात है।

और यदि यह भी मान लिया जाय कि संगीत के द्वारा चरित्र का निर्माण किया जा सकता है तो भी यह कठिनाई तो बनी ही रहती है कि बच्चों को स्वयमेव संगीत का अभ्यास क्यों करना चाहिये ? भला दूसरों के संगीत को सुनकर ही हम ठीक आनन्द का उपभोग, सच्चा निर्णय करना क्यों नहीं प्राप्त कर सकते ? जिस प्रकार लाकैदायमॉन-निवासी कर लेते हैं ? वे स्वयं संगीत का अध्ययन नहीं करते, तथापि कहा जाता है कि अच्छे और बुरे रागों के भेद का ठीक ठीक निर्णय करने की क्षमता रखते हैं। यदि संगीत को सुख-समृद्धि और उदार (स्वाधीन जनोचित) मनःसंस्कार के विकास के लिये उपयोगी माना जाय तो भी बहुत कुछ यही युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि हम दूसरों की संगीत-कला के प्रदर्शन से लाभान्वित न होकर, भला उसको स्वयं क्यों सीखें ? हम देवताओं के स्वरूप के विषय में जो विचार रखते हैं उस पर दृष्टिपात करना यहाँ ठीक होगा। कवियों (की रचनाओं में) वर्णित ज्यौस्[४] न तो स्वयं गाता-बजाता है और सितार-वादन ही करता है ; (वह तो केवल अन्य लोगों के संगीत का आनन्द लिया करता है।) जो लोग अन्यथा आचरण करते हैं उनको हम अशिष्ट (गँवार) समझा करते हैं ; और उनके व्यापार के विषय में हम ऐसा विचार किया करते हैं कि कोई भी भला आदमी, यदि वह मदमत्त न हो अथवा परिहास न कर रहा हो तो ऐसा आचरण नहीं करेगा। पर इन बातों पर तो फिर आगे चलकर विचार करना उचित होगा।

प्रथम तो हमको इस विषय का अन्वेषण करना चाहिये कि संगीतविद्या को शिक्षा के अन्तर्गत स्थान दिया जाय अथवा न दिया जाय, तथा इसी से यह प्रश्न भी उठता है कि पूर्ववर्णित तीन प्रभावों में से यह कौन-सा प्रभाव उत्पन्न करता है--शिक्षा, अथवा मनोरंजन (क्रीड़ा) अथवा मनःसंस्कार ? इसका संबंध तीनों से ही जोड़ना सयुक्तिक हो सकता है क्योंकि स्पष्ट ही इसमें ऐसे तत्वों का समावेश है जो इन तीनों में समान रूपेण पाये जाते हैं। मनोरंजन विश्राम के निमित्त होता है, और विश्राम अवश्य ही आनन्ददायक (प्रिय, मधुर) होता है, क्योंकि यह श्रम के कारण उत्पन्न हुई पीड़ा का उपचार(औषधि) है। फिर इसी प्रकार मनःप्रसाधन (अथवा मनःसंस्कार) में भी केवल शोभनता ही नहीं होती प्रत्युत आनन्द-तत्त्व भी पाया जाता है; क्योंकि सच्चे सौमनस्य (अथवा सौख्य) का संघटन इन दोनों ही तत्त्वों (शोभनता और आनन्द) से होता है। यह तो सभी कहते हैं कि संगीत, (चाहे वह केवल यांत्रिक हो, चाहे गीत के बोल के साथ) संसार में एक महान् से भी महान् आनन्द की वस्तु है। और मुसाइयस् ने कहा ही जो है कि

"मर्त्य मानव के लिये संगीत है सबसे मधुर"

इसीलिए और सकारण ही मनुष्य अपने सामाजिक समारोहों और मनोरंजनों में इसकी सहायता ग्रहण किया करते हैं, इसमें मनुष्यों के हृदयों को आह्लादित करने की क्षमता है। अतएव इस (आनन्द-प्रदता) के ही आधार पर हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि बच्चों को संगीत की शिक्षा दी जानी चाहिये। सब निर्दोष आनन्द न केवल जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उपयुक्त होते हैं, प्रत्युत श्रमापनोदन करनेवाले विश्राम के लिये सहायक होते हैं। मनुष्य अपने अन्तिम लक्ष्य को तो अत्यन्त विरलतया प्राप्त कर पाते हैं पर विश्राम बहुधा कर सकते हैं एवं मनोरंजन से भी अपने को प्रसन्न कर सकते हैं (और ऐसा किसी अन्य लक्ष्य की सिद्धि के लिये नहीं, प्रत्युत इनसे प्राप्त होनेवाले आनन्द के लिये करते हैं), और इसीलिये बच्चों को भी संगीत से प्राप्त होने-वाले आनन्द में विश्रान्ति और मनोरंजन का उपभोग करने देना अच्छा ही होगा।

कभी कभी ऐसा हो सकता है कि मनुष्य मनोरंजन को ही अपना ध्येय बना लेते हैं, क्योंकि स्यात् जीवन के अन्तिम लक्ष्य में कुछ आनन्द तत्त्व भी सम्मिलित रहता है, यद्यपि वह आनन्द साधारण कोटि का आनन्द नहीं होता, तथापि उस (परम) आनन्द की खोज करते हुए मनुष्य गलती से उसके स्थान पर साधारण कोटि के आनन्द को ही ग्रहण कर लेते हैं; और उनके ऐसा करने का कारण यह है कि साधारण कोटि के आनन्द और मानवीय कर्मों के अन्तिम लक्ष्य में साधारणतया एक प्रकार की कुछ समता पाई

जाती है। यह चरम लक्ष्य किसी भावी परिणाम के लिये वांछनीय नहीं होता, किन्तु स्वयं अपने ही लिये इष्ट होता है ; इसी प्रकार मनोरंजन से प्राप्त होनेवाला आनन्द भी किसी भावी परिणाम के निमित्त वांछनीय नहीं होता, प्रत्युत भूतकाल में घटित हुई बातों के—अर्थात् परिश्रम और पीड़ा के—निमित्त वांछनीय होता है। (यह आनन्द परिश्रम और पीड़ा को हलका करनेवाला होता है।) यह बात युक्तियुक्त समझी जा सकती है कि यही कारण है जिससे मनुष्य इस प्रकार के आनन्दों में सुख की खोज किया करते हैं।

पर मनुष्य जो संगीत का अनुसरण करते हैं वह केवल आनन्द के कारण ही नहीं करते; उनके ऐसा करने का एक दूसरा कारण है विश्राम प्रदान करने में उसकी उपयोगिता। इसके पक्ष की स्थिति कुछ इसी (उपर्युक्त) प्रकारकी है। पर तो भी यह अनुसंधान किया जाना चाहिये कि क्या इस संगीत के जिन उपायोंगों का वर्णन किया जा चुका है उनकी अपेक्षा इसका कोई अधिक उदार (महत्त्वपूर्ण) और साररूप उद्देश्य (उपयोग) है या नहीं। संगीत के उस आनन्द के अतिरिक्त जिसका अनुभव सबके द्वारा किया जाता है, तथा सभी जिसके भागीदार हैं (जो आनन्द सचमुच ही स्वाभाविक और साहजिक होता है, और जो इसी कारण इसका उपयोग सब अवस्थाओं और सब प्रकार के चरित्र-वाले मनुष्यों को प्रिय लगता है) हमको यह भी देख लेना चाहिये कि कहीं (=यदि) यह संगीतविद्या हमारे चरित्र और आत्मा पर भी तो कुछ प्रभाव न रखती हो। यदि हमारे चरित्र वास्तव में इससे प्रभावित होते हों तब तो स्पष्ट ही इसमे ऐंसा प्रभाव है (यह मानना पड़ेगा)। हमारे चरित्र पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ता है, यह बात तो बहुत सी अन्य राग-रागिनियोंके प्रभाव से स्पष्ट ही है,पर विशेषकर यह बात औलिम्पस[६] के रागों से (कुछ कम) सिद्ध (=स्पष्ट) नहीं होती (अर्थात् औलिम्पस के रागों से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है)। (औलिम्पिस के) यह राग, सर्वसम्मति से, सुननेवालों की आत्मा को उत्साह से परिपूर्ण कर देनेवाले हैं, तथा उत्साह की भावना आत्मा के चारित्र्यिक अंश से संबंध रखनेवाला मनोवेग है।[७] इसके साथ ही हम यह भी जोड़ सकते हैं कि सभी मनुष्य केवल अनुकरणात्मक शब्दों को सुनकर (जहाँ कि लय और सुर का कोई संबंध नहीं होता) सहानुभूति से आप्लावित हो जाते हैं।

क्योंकि संगीत एक प्रकार का आनन्द है (अथवा आनन्द से संबद्ध है) और सद्वृत्त ठीक प्रकार से आनन्दित होना और ठीक प्रकार से प्रेम और घृणा करना है, अतएव स्पष्ट ही हमको न तो किसी अन्य पाठ (अध्ययन) को सीखने की, और न किसी

अन्य आदत को प्राप्त करने की इतनी अधिक आवश्यकता है, जितनी कि उदार चरित्रों और शोभनकर्मों के विषय में ठीक ठीक निर्णय करने की और इनके द्वारा आनन्दित होने की है।[6] फिर संगीत के लय और सुर हमको चरित्रदशाओं की प्रतिकल्पना (प्रतिमूर्ति) प्रदान करते हैं—क्रोध और शान्ति, सहिष्णुता और संयम इत्यादि चरित्रदशाओं तथा इन दशाओं की सब प्रतिकूल दशाओं की प्रतिमूर्तियाँ प्रदान करते हैं; इनके अतिरिक्त अन्य चारित्रिक गुणों की प्रतिकल्पना भी प्रदान करते हैं—तथा यह प्रतिमूर्तियाँ ऐसी होती हैं जो अन्य किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा वास्तविक दशाओं के अधिक समीप पहुँचती हैं। यह तथ्य स्वयं हमारे अपने अनुभव से स्पष्ट सिद्ध है। ऐसी रागिनियों को सुनते हुए हमारी आत्मा (आन्तरिक मनोदशा) में परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। और किसी अभिव्यक्ति अथवा प्रतिमूर्ति से (में) पीड़ा और आनन्द अनुभव करने का स्वभाव (आदत) बना देना, वास्तविक सत्ता से पीड़ित अथवा आनन्दित होने से अत्यन्त निकटता का संबंध रखना है। उदाहरणार्थ यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु की मूर्ति को देखकर, अन्य किसी कारण से नहीं, प्रत्युत केवल उसकी आकृति से आनन्दित होता है, तो निश्चयमेव वह व्यक्ति उस वस्तु को देखकर भी आनन्दित होगा, जिसकी मूर्ति देखकर वह प्रसन्न हुआ था। अन्य इन्द्रियों के—जैसे कि त्वचा और स्वाद के—विषय चारित्रिक दशाओं की प्रतिमूर्ति अथवा सादृश्य उपलब्ध नहीं करा सकते। नेत्रेन्द्रिय के विषय ऐसा कर सकते हैं, पर बहुत थोड़ी मात्रा में। वास्तव में ऐसी आकृतियाँ होती हैं जो चरित्रदशाओं के साथ सादृश्य रखती हैं, पर यह सादृश्य अत्यन्त अल्प मात्रा में होता है। फिर हमको यह भी याद रखना चाहिये कि सभी मनुष्यों को नेत्रेन्द्रिय प्राप्त होती है।[9] इसके अतिरिक्त, (दृश्यकलाओं के) आकृति और वर्णों में चरित्रदशाओं का सादृश्यानुकरण नहीं होता, प्रत्युत चिह्न मात्र होते हैं, और चिह्न भी वे होते हैं जो कि किसी भावदशा में शरीर पर प्रकट होते हैं। यों तो इनका चरित्र से कोई संबंध नहीं है, पर जहाँ तक विभिन्न कला-कृतियों के देखने से उत्पन्न होनेवाले प्रभाव के अन्तर का नाता है यह कहा जा सकता है कि बच्चों को पाउसॉन् की कृतियों को देखने के लिये प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिये, प्रत्युत पोलिग्नॉतस् की कृतियों को देखने के लिये उत्साहित किये जाना चाहिये; यही प्रोत्साहन उन कलाकारों—चित्रकारों और मूर्तिकारों—की कृतियों के विषय में भी बरता जाना चाहिये जो चरित्र का चित्रण करते हैं।

इसके विपरीत रागों की बात ही दूसरी है। वे तो, स्वतः स्वभाव से ही चरित्रदशाओं के अनुकरण हैं। और यह एक स्पष्ट बात है। प्रथम तो संगीत के राग

स्वभावतः एक दूसरे से भिन्न होते हैं, अतएव विभिन्न रागों को सुनने से श्रोताओं पर पृथक् पृथक् प्रकार का प्रभाव पड़ेगा। इनमें से कुछ का प्रभाव सुननेवालों को अधिक विपण्ण और गंभीर बना देना होता है; उदाहरणार्थ मिक्षोलीडियन[११] नामक राग का ऐसा ही प्रभाव होता है। अन्य रागों का (जो कि अधिक कोमल होते हैं) प्रभाव बुद्धि को अपेक्षाकृत मृदुल (अथवा शिथिल) कर देना होता है। तीसरे का प्रभाव मध्यम प्रकार का और अधिक स्थायी स्वभाव निर्माण करना होता है; दोरिकपद्धति के रागों का प्रभाव ऐसा समझा जाता है; इसके विपरीत फ्रीगियन रागों का प्रभाव स्फूर्ति और उत्साहवर्धन करना माना जाता है। शिक्षा की इस शाखा का विवेचन दार्शनिक लेखकों ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है; तथा उन्होंने भी इस विषय से संबंध रखनेवाली अपनी युक्तियों का वास्तविक तथ्यों के साक्ष्य से समर्थन किया है।

जो बात अभी संगीत की पद्धतियों के विषय में कही गयी है वही बातें संगीत के लय के विषय में भी लागू होती हैं। इनमें से कुछ का लक्षण स्थिरता (विश्रान्त) पूर्ण होता है और अन्य कुछ का लक्षण गतिमय होता है। जो गतिमय लक्षणवाली लय का संगीत उसका एक भेद गँवारू गतिमयता से और दूसरा स्वाधीन जनोचित गतिमयता से युक्त होता है। जो कुछ अब तक संगीत के विषय में कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि संगीत में अन्तरात्मा के चरित्र पर प्रभाव डालने की शक्ति रहती है। यदि यह इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न कर सकता है तो स्पष्ट ही इसको पाठ्यक्रम के अन्तर्गत एक विषय के रूप में सम्मिलित किया जाना और बच्चों को पढ़ाया जाना चाहिये। संगीत की शिक्षा इतनी (अपरिपक्व) अवस्थावाले युवकों की प्रकृति के भी अनुकूल है। अपनी सुकुमार अवस्था के कारण बच्चे किसी भी अमधुर वस्तु को स्वेच्छापूर्वक सहन नहीं करते; और संगीत तो प्रकृत्या ही मधुर होता है। संगीत की राग-रागिनियों और लयों का मानवात्मा के साथ सहज संबंध है (सजातीयता है)। इसी लिए बहुत से विचारकों में से कुछ का कहना है कि आत्मा स्वयं स्वरसंवादिता (हार्मनी) स्वरूप है,और कुछ अन्य का कहना है कि आत्मा में 'स्वरसंवादिता' का निवास है।[१२]

टिप्पणियाँ

१. यह शब्द यूरीपिदेस् के "बक्खाए" नामक नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

२. सच्चरित्र और सद्वृत्ति का निर्माण अच्छे कार्यों और अच्छे विचारों के अभ्यास से होता है। संगीत हमको ठीक ढंग से आनन्दित होने का अभ्यस्त बनाकर हमारे चरित्र के निर्माण में सहायक होता है।

३. मानवात्मा के तीनों विभाग इस प्रकार संगीत से संबद्ध और लाभान्वित होते हैं। जो भाग स्वयं विवेकरहित है तथा सविवेक भाग का आज्ञाकारी है, संगीत मनोरंजन और विश्रान्ति प्रदान करता है; क्रियात्मक विवेकांश को इसके द्वारा सदाचार के अभ्यास की आदत बनती है; एवं विमर्शात्मक विवेकांश के लिये यह बुद्धि के संस्कार में सहायक होता है। देखिये ७वीं पुस्तक के १४ वें खण्ड की ८वीं टिप्पणी।

४. गाने-बजाने का काम ग्रीक देवताओं में अपौलो और म्यूज़ों का है। देवाधिदेव ग्रौस् (ज्यूस) तो संगीत का आनन्द लेता है।

५. यूनान में दो मुसाइयस् नाम के कवि हुए हैं। एक होमे (म)र का पूर्ववर्ती था। दूसरा कवि ई० पू० ५वीं अथवा ४ थी शताब्दी में हुआ था। इसने हेरो और लेआन्ड्रॉस की प्रेमकथा को काव्य में निबद्ध किया था।

६. औलिम्पस् फ्रीगिया का फ्लूट बजानेवाला था।

७. क्योंकि इससे मनुष्य कर्तृत्व प्रेरणा ग्रहण करता है अतएव इसका संबंध मनुष्य के चरित्र से है।

८. अच्छी प्रकार का संगीत हमारे मन में उचित प्रकार के कामों और व्यक्तियों के प्रति आनन्द की भावना उत्पन्न कर सकने के कारण अच्छाई को प्रादुर्भूत कर सकता है, क्योंकि उचित प्रकार से आनन्द का अनुभव करना ही तो भलाई (अच्छाई) है।

९. इन्द्रियों के विषयों में उपर्युक्त योग्यता का अभाव है।

१०. पाउसॉन् संभवतया अरिस्तौफानेस् का समकालीन था उसकी कलाकृतियों में चरित्र को प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी। अरिस्तौफ़ानेस् ने उसको "दुष्ट विकृति-चित्रक" (Perfectly wicked caricaturist) कहा है। अरिस्तू ने इन दोनों चित्रकारों का उल्लेख अपने "काव्यशास्त्र" (पोएटिक्स) में भी किया है और वहाँ यह बतलाया है कि पोलिग्नॉतस् ने मानव का चरित्र उदात्ततर अंकित किया है और पाउसॉन् उसको वास्तव से हीनतर चित्रित करता है। अन्य कलाओं की तुलना में पोलिग्नॉस् को होमे(म)र की कोटि का समझा जाता था और पाउसॉन् को हीन कवियों के सदृश।

११. इस प्रकार का संगीत रुदन और परिवेदन को व्यक्त करता था।

१२. पायागोरस् के अनुयायियों के मत में आत्मा स्वयं स्वरसंवादिता (हार्मनी) है और प्लातोन के मत में आत्मा में "स्वरसंवादिता" रहती है। अरिस्तू का मत इन दोनों का मध्यवर्ती है।

६

क्या बच्चों को गाना-वजाना सिखाया जाय ?

अव उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये जो पहले ही उठाया जा चुका है कि वच्चों को स्वयं गाना वजाना सिखाया जाना चाहिये या नहीं। यह तथ्य तो अस्पष्ट नहीं है (अर्थात् यह सवको स्पष्ट ज्ञात है) कि किसी कार्य (=कला) के अभ्यास में स्वयं भाग लेने से मनुष्य के स्वभाव (चरित्र) में महान् अन्तर पड़ जाता है। जिन लोगों ने स्वयं किसी कार्य (कला) के अभ्यास (अथवा गाने वजाने) में भाग नहीं लिया है उनके लिये अन्य व्यक्तियों के गाने वजाने का अच्छा परीक्षक होना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। फिर इसके अतिरिक्त वच्चों को सर्वदा कुछ न कुछ करने को भी चाहिये, इस दृष्टि से आर्खीतास्[1] के झुनझुने को (जिसको माता पिता वच्चों का ध्यान वटाने और घर की वस्तुओं को तोड़ फोड़ करने से रोकने के लिये वच्चों को दे देते हैं) वहुत ही प्रशंसनीय आविष्कार माना जाना चाहिये। क्योंकि वच्चे तो चैन से वैठ ही नहीं सकते। पर झुनझुना तो वच्चों के शैशव में ही समुपयुक्त होता है। वड़ी आयु के वच्चों का झुनझुना तो शिक्षा (अथवा संगीत की शिक्षा) ही है। इन विचारों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वच्चों को संगीत की शिक्षा इस प्रकार से दी जानी चाहिये कि उनको इस कला का क्रियात्मक ज्ञान भी अंशतः प्राप्त हो जाय।

इस प्रश्न का निर्णय करना कि विभिन्न आयुवालों के लिये क्या उपयुक्त है और क्या उपयुक्त नहीं है, कोई कठिनाई नहीं है। तथा जो लोग यह कहते हैं (आपत्ति करते हैं कि संगीत का सक्रिय अध्ययन गँवारू (कमीना) काम है उनको उत्तर देना भी कठिन नहीं है। प्रथम तो वच्चों को जिस उद्देश्य से संगीत के सक्रिय ज्ञान में भाग लेना चाहिये वह यह है कि उनको दूसरों के गाने वजाने का परीक्षण करने के योग्य होना चाहिये। इस कारण उनको संगीत का अभ्यास छोटी अवस्था से ही आरंभ कर देना चाहिये ; यद्यपि वृद्धावस्था में (जव कि अपनी युवावस्था की शिक्षा के द्वारा वे अच्छे संगीत के ठीक ठीक परीक्षण करने और उसके द्वारा भली प्रकार आनन्दित होने की क्षमता प्राप्त कर लें) तव उनको संगीतकला के सक्रिय अभ्यास से छुटकारा मिल जाना चाहिये। और रही संगीत की इस निन्दा की वात जो कभी कभी प्रस्तुत की जाती है कि संगीत गँवारूपन का प्रभाव उत्पन्न करता है, इसका समाधान करना (उत्तर देना) तव कठिन नहीं होगा जव कि हम निम्न प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर लेंगे। जो व्यक्ति नागरिक सद्वृत्ति की प्राप्ति के लिये शिक्षित किये जा रहे हैं, उनको किस सीमा तक संगीत के

सक्रिय अभ्यास में भाग लेना चाहिये ? दूसरे उनको कौन-से राग और कौन-सी लयों के अभ्यास में भाग लेना चाहिये ? तीसरे उनकी संगीत की शिक्षा में किस प्रकार के वाद्य-यंत्रों का उपयोग किया जाना चाहिये ? (क्योंकि इससे भी अन्तर पड़ना संभव है) । इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में उपर्युक्त निन्दा का निराकरण निहित है । क्योंकि ऐसा होना बिलकुल संभव है कि संगीत के (सीखने और सिखाने के) कुछ प्रकार मनुष्य को पतित करने का प्रभाव रखते हैं । अतएव यह स्पष्ट है कि संगीत के अध्ययन का अनुसरण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि वह न तो आगामी परिपक्व अवस्था के कार्यों में बाधक हो और न शरीर-दशा को ऐसा पतित बना दे कि वह सामरिक और नागरिक शिक्षा के लिये अनुपयुक्त हो जाय—अर्थात् आरंभ में तो शारीरिक व्यायाम के अयोग्य हो जाय और आगे चलकर अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन के अयोग्य हो जाय ।

यदि संगीत के विद्यार्थी उस प्रकार की कला का अभ्यास न करें जिसका व्यवहार संगीत व्यवसायियों की प्रतिस्पर्धाओं में हुआ करता है, और न संगीत की प्रतिक्रिया में उन असाधारण और चमत्कारपूर्ण कलाबाजियों को प्राप्त करने की चेष्टा करें जिनका उपर्युक्त प्रतिस्पर्धाओं में चलन हो गया है तथा जो वहाँ से शिक्षा में (भी) प्रविष्ट हो गयी हैं तो संगीत की शिक्षा उपर्युक्त मार्ग का अनुसरण कर सकती है । ऐसा होने पर भी संगीत का अभ्यास उस सीमा तक चालू रखना चाहिये जहाँ तक कि विद्यार्थी अच्छे रागों और लयों से आनन्दित होने की योग्यता प्राप्त कर लें ; उनको संगीत के केवल उस साधारण अंश से आमोदित होने से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये जिससे कि कुछ पशु तक और प्रायः सभी दास और बालक तक आनन्दित होते हैं ।

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार के (वाद्य) यंत्रों का उपयोग किया जाना चाहिये । संगीत की शिक्षा में न तो वंशी का उपयोग होना चाहिये और न किसी ऐसे वाद्ययंत्र का उपयोग होना चाहिये जिसके लिये विलक्षण कौशल की आवश्यकता हो, जैसे सितार इत्यादि । इसी प्रकार के अन्य यंत्रों का उपयोग भी नहीं होना चाहिये । जिन वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाय वह ऐसे हों, जो विद्यार्थियों को संगीत की शिक्षा अथवा अन्य किसी शिक्षा में भी अच्छा (कुशाग्र-बुद्धि) बना सकें । इसके अतिरिक्त वंशी ऐसा वाद्ययंत्र नहीं है जो चरित्रदशा की अभिव्यंजना करता हो, प्रत्युत यह तो बहुत अधिक उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है । अतएव इसका उपयोग ऐसे अवसरों पर होना चाहिये जब कि गायनवादन का उद्देश्य शिक्षा देना नहीं प्रत्युत दर्शकों के आवेगों का विरेचन[२] (शमन) हो । शिक्षा के लिये वंशी

के उपयोग के विरुद्ध, उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त एक और कारण यह भी है कि वंशी का वजाना विद्यार्थी की वाणी के उपयोग में वाधक होता है। अतएव हमारे पूर्वपुरुषों ने युवकों और स्वतंत्र नागरिकों के लिये मुरली (वंशी) के उपयोग का निषेध करके ठीक ही किया था––यद्यपि अत्यन्त पुरातनकाल में कभी एक वार उन्होंने इसके उपयोग की आज्ञा दे रखी थी। उस समय उनकी सम्पदा ने उनको अपेक्षाकृत अधिक सावकाश वना दिया था और उत्तमता की उपलब्धि के लिये उनकी आत्मा विशदतर हो गई थी, मीडिक युद्ध का पूर्ववर्ती और परवर्ती सफलताओं ने उनके अभिमान को वढ़ा दिया था, अतएव विवेक की अपेक्षा उत्साह से अधिक प्रेरित होकर उन्होंने समग्र विद्याओं को अपना अध्ययनक्षेत्र वना डाला। इसलिए उन्होंने वंशीवादन को भी शिक्षा-विधान में सम्मिलित कर दिया है। लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) में तो यहाँ तक हुआ कहा जाता है कि गायकमंडल के एक मुखिया[3] ने स्वयं वंशी वजाते हुए अपनी मंडली का नेतृत्व किया था ; पर अथेन्स में तो वंशी वजाना इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि लगभग सभी स्वतंत्र नागरिक इस चलन में भागीदार हो गये। वंशीवादन की लोकप्रियता तो उस पट्टिका से स्पष्ट है जो थ्रासिप्पस ने (जिसने कि एक्फान्तिदीस् के सम्मान में एक गायकमंडल भी प्रस्तुत किया था) एक्फान्तिदीस् के सम्मानार्थ स्थापित की थी। कुछ समय के उपरान्त, जव कि मनुष्य इस वात का अधिक अच्छा निर्णय करने के योग्य हो गये कि क्या उत्तमता (सद्वृत्त) के लिये उपादेय है और क्या नहीं है, तव विशाल अनुभव के आधार पर इसका अन्तिम वार परित्याग कर दिया गया। इसी प्रकार और भी वहुत से पुराने वाद्ययंत्र इसके साथ ही त्याग दिये गये––जैसे कि, (वीस तारोंवाली) वीणा, विपंची इत्यादि जो केवल श्रोताओं को मुग्ध करने के लिये उपयोगी हैं, अन्य किसी उपयोग के नहीं होते। इन्हीं के साथ साथ सप्तकोण, त्रिकोण, साम्वुकस् (एक विशेष प्रकार का त्रिकोण) इत्यादि ऐसे सव वाद्ययंत्र भी त्याग दिये गये जिनके वजाने के लिये असामान्य हस्तकौशल की आवश्यकता होती है। पुराने लोगों की वंशी के विषय में जो दन्तकथा चली आती है उसमें भी (अत्यन्त) वुद्धिमत्ता प्रतीत होती है। इस कथा में यह कहा गया है कि अथीनी (अथीन्स की अधिष्ठातृ देवी) ने स्वयं प्रथम वंशी का आविष्कार किया और तदुपरान्त उसको फेंक दिया। शेष कथा में जो विचार है वह भी कुछ वुरा नहीं है कि इसको वजाते समय मुखाकृति के अभद्र दिखलाई पड़ने के कारण देवी इस वाद्ययंत्र से चिढ़ गयी (और उसने इसे फेंक दिया)। पर अथीनी वह देवी है जिसको ज्ञान और कला-कौशल की प्रदात्री माना जाता है अतएव यह कहीं अधिक युक्तियुक्त वात प्रतीत होती है कि उसने इस वाद्ययंत्र

को इसलिए फेंक दिया क्योंकि वंशीवादन-शिक्षा का बुद्धि (के विकास) से कोई संबंध नहीं है।

तो इस प्रकार से हम यंत्रों के संबंध में भी वांछित और कौशल के संबंध में भी व्यावसायिक शिक्षाविधि को अस्वीकार करते हैं (और व्यावसायिक शिक्षा-विधि से हमारा तात्पर्य उस शिक्षापद्धति से है जो विद्यार्थियों को प्रतिस्पर्धा के लिये प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखती है)। इस पद्धति के अनुसार अभ्यास करनेवाला विद्यार्थी कला का अभ्यास आत्मोन्नति के उपाय के रूप में नहीं करता, प्रत्युत अपने श्रोताओं को आनन्द——सो भी गँवारू आनन्द——प्रदान करने के लिये करता है। इसी लिए हम इस प्रकार के संगीत के अभ्यास को स्वतंत्र नागरिक के लिये अनुचित समझते हैं, किन्तु वेतनभोगी व्यवसायी के ही लिये उचित मानते हैं; इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के वादन का अभ्यास करनेवाले स्वयं गँवारू हो जाते हैं। जिस आदर्श को दृष्टि में रखकर वे अपना लक्ष्य स्थिर करते हैं वह आदर्श ही बुरा है। दर्शकों का गँवारूपन संगीत के गुण को भी गिरा देता है। कलाविद् स्वयं भी अपने श्रोताओं की ओर दत्तदृष्टि होने के कारण, जैसे वे (श्रोता) होते हैं वैसे ही बन जाते हैं; और यह परिवर्तन (केवल मानसिक ही नहीं होता) शारीरिक भी होता है, क्योंकि उन अपने श्रोताओं की रुचि के अनुकूल ही शरीर को हिलना डुलना पड़ता है।

टिप्पणियाँ

१. आर्खीतास् एक शिल्पकार था और उसको बच्चों के साथ खेलने का शौक था। पर यह कहना ठीक नहीं है कि वह झुनझुने का आविष्कारक था क्योंकि यूनान में झुनझुने का उल्लेख उसके समय से पहले भी मिलता है।

२. इसके स्थान पर मूल में "काथार्सिस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह अरिस्तू के काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण संज्ञा है। संगीत और नाट्य के द्वारा मानवीय विकारों की विस्फोटक अवस्था का शमन होता है। इसके विषय में विस्तार सहित आगे चलकर अरिस्तू के काव्यशास्त्र के अनुवाद की भूमिका में लिखा जायेगा।

३. सामान्यतया गायकमंडली का मुखिया जो "खोरैगस्" कहलाता, गायकमंडली के साथ संगीत में भाग नहीं लिया करता था। गायकमंडली के सदस्य सामाजिक स्थिति में हीन माने जाते थे और मुखिया धनवान् और ऊँची स्थिति का व्यक्ति हुआ करता था। पर यहाँ जिस मुखिया का उल्लेख किया गया है वह वंशी बजाने से इतना आनन्दित होता था कि वह वंशी बजाते हुए अपनी मंडली का नेतृत्व किया करता था।

४. अथेंस में दियौनीसियस् के उत्सव के अवसर पर जो नाटकों का अभिनय हुआ करता था उसमें धनवान् लोग कवियों की रचनाओं के लिये गायकमंडली (खोरस) का प्रवन्ध किया करते थे। यदि कवि को विजयोपहार मिलता था तो उसके नाम की पट्टिका भी दियौनीसियस् को अर्पित की जाती थी। थ्रासिप्पस् धनी खोरैंगस का नाम है। एक्फान्तिदी (दे)स् अथेन्स का सुखान्त नाटक लिखनेवाला आरंभिक काल का कवि था।

७

संगीत की पद्धतियों का विचार

अब संगीत की विविध पद्धतियों और लयों का, एवं शिक्षा में उनके उपयोग का विचार करना शेष रह गया है। यह भी देखना है कि क्या सभी प्रकार की पद्धतियों और लयों का उपयोग किया जाना चाहिये अथवा उनमें कुछ भेद करना चाहिये। हमको यह भी निर्णय करना है कि जो लोग शिक्षा की दृष्टि से संगीत का अभ्यास करते हैं उनको भी उसी नियम का अनुसरण करना है (जिसका अनुसरण अन्य संगीतविद् किया करते हैं) अथवा अन्य किसी नियम का। हम देखते हैं कि संगीत दो वस्तुओं के योग से—राग (स्वर) और लय के योग से उत्पन्न होता है; अतएव हमको यह जान लेना चाहिये कि इनमें से प्रत्येक के द्वारा शिक्षा पर पृथक् पृथक क्या प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। तथा हमको यह भी मालूम कर लेना चाहिये कि सुस्वर और सुन्दर लयवाले संगीत में से किसको वरणीय माना जाय। पर हमारा विश्वास है कि आजकल के कुछ संगीत-वेत्ताओं ने तथा दार्शनिकों ने (जो कि संगीत-शिक्षा के विशेषज्ञ हैं) इस विषय का बहुत अच्छा वर्णन प्रस्तुत कर दिया है; अतएव इन विषयोंमें से प्रत्येक के संबंध में ठीक ठीक ज्ञान के इच्छुक विद्यार्थियों को हम इन व्यक्तियों के कथनों का अध्ययन करने की सम्मति देंगे; हम स्वयं तो इस समय, नियमों की पद्धति के अनुसार इस विषय के सामान्यतया व्यापक नियमों का ही निर्धारण करेंगे।

रागों का जो विभाजन कुछ दार्शनिकों ने किया है वह हमको स्वीकार है—इसके अनुसार राग तीन प्रकार के हैं (१) सदाचार संबंधी राग (२) सक्रियतोत्तेजक राग (३) उत्साह (स्फूर्ति) वर्द्धक राग; तथा उनका यह कहना है कि इनमें से प्रत्येक विभाग से मेल खाता हुआ संगीत-पद्धतियों का स्वरूप है, अर्थात् प्रत्येक पृथक् संगीतपद्धति प्रत्येक पृथक् पृथ्क् विभाग के अनुरूप है। पर हमारा कहना तो यह

है कि संगीत का अनुसंधान (अभ्यास) केवल किसी एक लाभ के निमित्त नहीं, प्रत्युत अनेक लाभों के लिये किया जाना चाहिये। अर्थात् (१) शिक्षासंबंधी लाभ के लिये (२) विरेचनात्मक लाभ के लिये ('विरेचन' शब्द को हम यहाँ तो यों ही बिना व्याख्या किये प्रयोग कर रहे हैं, पर जब पुनः भविष्य में काव्यप्रकरण में हम इसका प्रयोग करेंगे तो इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की जायगी), (३) मनःसंस्कार के लाभ के लिये, जिसके साथ मनोरंजन और श्रमापनोदन का लाभ भी जोड़ा जा सकता है।[1] अतः यह तो (हमारे कथन से) स्पष्ट ही है कि सभी संगीत-पद्धतियों का प्रयोग किया जाना चाहिये। पर सबका प्रयोग एक ही ढंग से नहीं किया जाना चाहिये। शिक्षा के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए तो अत्यधिक सदाचारसंबंधी पद्धति का उपयोग किया जाना चाहिये; पर किसी दूसरे के संगीत-प्रयोग को सुनने का प्रसंग हो तो कार्योत्तेजक और स्फूर्तिदायक पद्धति के संगीत को भी स्वीकार किया जा सकता है कोई भी आवेग जो कुछेक मनुष्यों की आत्मा को प्रबलतापूर्वक आन्दोलित करता है सबकी आत्मा को आवेगमय बना सकेगा, तथा एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के प्रसंग में उसके प्रभाव में केवल थोड़ी अथवा बहुत मात्रा का अन्तर रहेगा ; करुणा, भय, और उत्साह इसी प्रकार के मनोवेग हैं। किसी प्रकार की उत्तेजना (उत्साह) मे आविष्ट होने की दशा कुछ मनुष्यों के लिये विशेपरूप से संभव है। जैसा कि हम स्वयं देख सकते हैं, ऐसे व्यक्ति धार्मिक गीत सुनकर अत्यन्त प्रभावित हो जाते हैं तथा जब यह लोग ऐसे संगीत के प्रभाव में होते हैं जो कि आत्मा को धार्मिक आवेश से ओतप्रोत कर देता है तो वे इस प्रकार के शान्त और प्रकृतस्थ (स्वस्थ) हो जाते हैं मानो उनका ओपधोपचार किया गया हो अथवा उनको विरेचन कराया गया हो। इसी प्रकार का प्रभाव उन लोगों पर भी अनिवार्यतया पड़ेगा जो करुणा और भय के आवेगों के वशीभूत हो जाया करते हैं, अथवा किसी भी अन्य प्रकार के भावों के वशीभूत हो जाते हैं; वास्तव में इस प्रकार का प्रभाव उतनी मात्रा में तो अन्य शेप व्यक्तियों पर भी पड़ेगा जितनी मात्रा में वह इन भावों के वशवर्ती हो जाते हैं; परिणामतः (समुचित संगीत के प्रभाव से) सभी कुछ शोधन का (विरेचन) का अनुभव करेंगे तथा आवेगों के शमन से सबको कुछ आनन्द की उपलब्धि होगी। इसी प्रकार जो संगीत विशेपरूप से भाव विरेचन के लिये निर्दिष्ट है उससे समग्र मानव-जाति को निर्दोप आनन्द की प्राप्ति होती है।[2]

अतएव, जो लोग रंगशाला में संगीत-प्रयोग की प्रतिस्पर्द्धा में भाग लेते हैं उनसे इसी प्रकार की पद्धति के इसी प्रकार के रागों में प्रतिस्पर्द्धा करने की अपेक्षा की जानी चाहिये।

क्योंकि दर्शक (=सामाजिक) दो प्रकार के होते हैं—एक तो स्वतंत्र नागरिक और शिक्षित लोग, दूसरे गँवारों की भीड़, जिसमें श्रमिक, मजदूर इत्यादि प्रकार के लोग होते हैं, अतएव इस दूसरी प्रकार के सामाजिकों के श्रमापनोदनार्थ भी संगीत-प्रतिस्पर्द्धा और उत्सव (तमाशे) इत्यादि की व्यवस्था होनी चाहिये। तथा जिस प्रकार इन लोगों की अन्तरात्मा अपनी वास्तविक प्रकृति से भ्रष्ट होकर विकृत हो (जाती हैं) उसी प्रकार की विकृत संगीत-पद्धतियाँ भी होती हैं, तथा वैसी ही अतिसन्तानित और अतिरंजित रागरागिनियाँ भी होती हैं (जो इस प्रकार के श्रोतावर्ग के अनुरूप हुआ करती हैं)। प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु से आनन्द प्राप्त करता है जो उसकी प्रकृति के अनुरूप होती है। अतएव हमको प्रतिस्पर्द्धा में भाग लेनेवाले व्यवसायी संगीतज्ञों (गवैयों) को इस कोटि के श्रोताओं के समक्ष घटिया प्रकार के संगीत का प्रदर्शन करने की आज्ञा देनी चाहिये।

पर शिक्षा के लिये, (जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ) जो राग और पद्धति प्रयुक्त की जानी चाहिये, वे आचरण को अभिव्यक्त करनेवाली होनी चाहिये। जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, इस प्रकार की एक संगीतपद्धति दौरिकपद्धति है। पर हमको इसी प्रकार की उन अन्य पद्धतियों को भी अंगीकार कर लेना चाहिये जो दार्शनिक अध्ययन और संगीत की शिक्षा में संलग्न रहनेवाले विद्वानों के द्वारा अनुमोदित हो चुकी हैं। "पालितेइया" नामक रचना में सॉक्रातेस् ने दौरिक-पद्धति के साथ केवल फ्रीगीयपद्धति का संग्रह करने में गलती की है (ठीक नहीं किया है), तथा पहले ही वंशी का परित्याग कर देने के पश्चात् तो यह गल्ती और भी विकट प्रतीत होती है। अन्य पद्धतियों के मध्य में फ्रीगीयपद्धति वही प्रभाव रखती है जो अन्य वाद्ययंत्रों के मध्य वंशी का है; दोनों का प्रभाव उत्तेजनात्मक और भावुकतापूर्ण होता है। काव्य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। दियोनीसियस संबंधी भावोद्रेक एवं अन्य प्रकार के मनःक्षोभ, अन्य किसी यंत्र की अपेक्षा वंशी-वादन के साहचर्य से अधिक अच्छे ढंग से व्यक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार पद्धतियों के विषय में भी यह देखा जाता है कि उपर्युक्त प्रकार की मनोदशाओं को व्यक्त करने के लिये फ्रीगीयपद्धति के राग अधिक उपयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये हम डीथीराम्ब[1] को ले सकते हैं जो सामान्यतया सभी के द्वारा फ्रीगीयपद्धति से संबद्ध माना जाता है। संगीत-कला-विशारदों के द्वारा डीथीराम्ब के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिये बहुत से उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, अन्य उदाहरणों के साथ वे फिलोक्सेनस् का उदाहरण भी देते हैं कि उसने 'मीसिन' नामक डीथीराम्ब को दौरिकपद्धति पर रचने का उद्योग किया, पर वह असफल रहा;

प्रत्युत इस (राग) के स्वभाव से विवश और प्रेरित होकर उसे पुनः फ्रीगीय पद्धति की शरण लेनी पड़ी क्योंकि यही पद्धति इस प्रकार की रचना के लिये अधिक उपयुक्त (सिद्ध) प्रतीत हुई। दौरिकपद्धति के विषय में यह बात सर्वसम्मत है कि यह पद्धति अत्यन्त गंभीर और पौरुषपूर्ण स्वभाव को सूचित करनेवाली है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि हमारा कहना यह है कि मध्यमार्ग, जो दो अतिगामी मार्गों के मध्य में स्थित हो, अनुमोदनीय है और उसका अनुसरण किया जाना चाहिये; और क्योंकि दौरिकपद्धति अन्य पद्धतियों के मध्य में इसी स्वभाव (मध्यमार्गीय स्वभाव) वाली है, अतएव यह स्पष्ट है कि हमारे नवयुवकों (बच्चों) की शिक्षा के लिये दौरिकपद्धति के गीत ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं।

दो लक्ष्य हैं जिनका मनुष्य अनुसरण करते हैं---एक संभव और दूसरे समुचित। इसके अनुसंधान में, प्रत्येक व्यक्ति को विशेष रूप से यह ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं उसके अपने प्रसंग से क्या संभव और क्या समुचित है। पर यह उसके लिये उसकी आयु द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये जो लोग वृद्धावस्था के कारण शक्तिहीन होते हैं उनके लिये तारस्वरवाली पद्धति में गाना सरल नहीं होता, और प्रकृति स्वयमेव यह सङ्केत करती प्रतीत होती है कि उनकी आयु के लिये नीचे और मृदुल स्वर का ही प्रयोग ठीक है। इसलिए कुछ संगीतविद् जो सॉक्रातेस् की इस कारण निन्दा करते हैं कि उसने मादकता के संबंध के कारण निम्नस्वर की मृदुल संगीतपद्धति को शिक्षा में से निकाल दिया तो इस निन्दा में कुछ औचित्य है---पर (सॉक्रातेस् का) यह तर्क मद्य के तात्कालिक प्रभाव पर आश्रित नहीं है (क्योंकि मद्य तो मनुष्य को उत्तेजित ही अधिक करता है) प्रत्युत उसके पीछे के प्रभाव पर निर्भर है जो कि शिथिलता उत्पन्न करनेवाला है (इसी प्रकार यह मृदुल संगीत पद्धति भी शक्तिशून्य है)। अतएव उस आगे आनेवाली अवस्था को दृष्टि में रखते हुए, जब कि मनुष्य वृद्ध हो जाते हैं, निम्न और मृदुल स्वरवाली पद्धतियों और रागों का भी अभ्यास किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि कोई ऐसी संगीतपद्धति हो जो सुव्यवस्था और शिक्षाप्रदता की क्षमता के कारण लड़के की सुकुमार अवस्था के लिये समुचित हो---जैसे कि अन्य सब पद्धतियों की अपेक्षा लीडियनपद्धति इन गुणों से अधिक युक्त है---तो उसको भी (बच्चों की शिक्षा में) सम्मिलित किया जाना चाहिये। अतएव यह स्पष्ट है कि (संगीत) की शिक्षा में तीन आदर्श होने चाहिये---एक मध्यम, दूसरे शक्य (=संभव) तथा तीसरे समुचित।

(२६।६।'४९)

टिप्पणियाँ

१. संगीत की यह उपयोगिता उस उपयोगिता से कुछ पृथक् है जिसका उल्लेख अरिस्तू ने इसी पुस्तक के पाँचवें खण्ड के आरंभ में किया है।

२. जिस प्रकार विरेचक औषधि से उदर का दवाव हल्का हो जाता है इसी प्रकार संगीत के सुनने और गम्भीरान्त नाटक को देखने से भावों के दवाव की कमी से मानसिक अथवा आध्यात्मिक स्वास्थ्य और आनन्द की प्राप्ति होती है।

३. वाद्य और नृत्य के साथ चलनेवाला यह एक प्रकार का गीत था जिसका संवंध दियौनीसियस् के जन्म से संवद्ध था।

वि० पौलिटिक्स के अन्य अनेक खंडों की भाँति यह खण्ड भी अपूर्ण ही रह गया है। शिक्षा के एक विषय का भी विवेचन भलीभाँति पूरा नहीं हो पाया है।

परिशिष्ट

अरिस्तू के अथेनाइयोन् पौलितेइया

(अथेन्स के संविधान)

का

हिन्दी अनुवाद

प्रथम भाग

संविधान के विकास का इतिहास

अध्याय १ से ४१ तक

१

(अल्क्मेओनिदी कुल के लोगों का) दंडित होना। ऐपीमैनीदेस् द्वारा नगर की शुद्धि।)

यज्ञ में जिन्होंने शपथ ग्रहण की थी ऐसे चुने हुए कुलीन लोगों के न्यायाधिकरण के समक्ष उनका[2] अभियोग निर्णय के लिये प्रस्तुत हुआ। दोपारोपक का काम मीरॉन ने किया। वे धर्मग्लानि के अपराधी ठहराये गये। उनके मृतशरीर कब्रों में से निकालकर फेंक दिये गये, तथा उनके वंशधर आजीवन नगर से निर्वासित कर दिये गये। इस पर क्रीती-निवासी ऐपीमैनीदेस[3] ने (अथेंस) नगर की शुद्धि की।

२

(देश का धनिकवर्गीय संविधान, तथा साधारण जनता की दयनीय अवस्था)

इस घटना के पश्चात् बहुत समय तक गण्यमान संभ्रान्त जनों और साधारण जनता के बीच में कलह चलती रही। उस समय न केवल संविधान पूर्णरूपेण धनिकवर्गीय था, प्रत्युत निर्धन जनता के लोग—पुरुष, बच्चे और स्त्रियाँ—सब के सब धनिकवर्ग के बँधुआ दास थे। उनको पैलात्ताए और (हेक्टीमोरोइ)[1] पष्ठांशी कहा जाता था, क्योंकि वे लोग धनवानों की भूमि पर इसी लगान की दर से खेती किया करते थे; सारी भूमि थोड़े से व्यक्तियों के अधिकार में थी; और यदि उस भूमि पर भाड़े पर खेती करनेवाले किसान लगान नहीं चुका पाते थे तो वे स्वयं और उनके बालबच्चे बंधक रक्खे जा सकते थे। सारे ऋणों की जमानत अधमर्ण के व्यक्तिगत शरीर पर थी, यह प्रथा सोलॉन के समय तक चालू रही। सोलॉन (दीन और निर्धन) साधारण जनता के पक्ष का समर्थन करनेवाला प्रथम व्यक्ति था। पर सर्वसाधारण के लिये

इस संविधान का सबसे कठोर और कड़वा भाग था उनका दासत्व; तिस पर भी वह अपने दुर्भाग्य के प्रत्येक अंग से असंतुष्ट थे; क्योंकि सामान्यतया कहा जा सकता है कि उनको किसी भी अधिकार में कोई भाग प्राप्त नहीं था।

३

(द्राको के पूर्ववर्त्ती संविधान का सार। आर्खन पद की उत्पत्ति, उनको शासनावधि और निवासों का वर्णन। अरियोपामस का संविधान के संरक्षकों में प्रमुख स्थान।)

द्राको (अथवा द्राकोन्तॉस) से पूर्व संविधान की व्यवस्था कुछ इस प्रकार थी। शासनाधिकारी (मजिस्ट्रेट) लोगों की नियुक्ति कुलीनता और धनवत्ता के आधार पर होती थी। आरंभ में तो यह लोग नियुक्ति के पश्चात् आजीवन शासन-कार्य[1] किया करते थे, पर पीछे इनके शासन की अवधि दस वर्ष कर दी गई। शासनाधिकारियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अग्रगण्य थे, राजा (वैसीलियस्), सेनापति (पॉले-मार्खस्) तथा शासक (आर्खन्)[2]। इनमें भी सर्वप्रथम स्थान (पद) राजा का था जो अत्यन्त प्राचीन काल से पैत्रिक परम्परा से चला आ रहा था। तदुपरान्त, कुछ राजाओं के युद्ध-कार्य में अक्षम (मृदुल) होने के कारण दूसरा पद सेनापति का और जोड़ दिया गया; क्योंकि इसी कारण तो एक कठिन सेवा के अवसर पर इयौन् को इस पद को ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया गया था। तीनों[3] में अन्तिम पद आर्खन् का था, जो कि अधिकांश लोगों के मतानुसार मैदॉन् के समय में प्रस्थापित हुआ था। कुछ अन्य लोगों का मत है कि ऐसा अकास्तस् के समय में हुआ। इसका निश्चित प्रमाण वह यह प्रस्तुत करते हैं कि नौ (९) आर्खन् अपनी शपथों को उसी प्रकार कार्यान्वित करने की सौगंध लिया करते थे "जिस प्रकार वह अकास्तस के समय में की जाती थीं।" इससे यह भी सूझ पड़ता है कि उसी (अकास्तस के) समय कौद्रस् के वंशधरों ने भी आर्खनों को विशेषाधिकार दिये जाने पर (अथवा उनके बदले में) अपने राजपद से अवकाश-ग्रहण कर लिया। उपर्युक्त दो प्रकारों में से चाहे जिस प्रकार भी यह (घटना) हुई हो उसके समय में बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु आर्खन् का पद उपर्युक्त तीनों पदोंमें सब से अन्त में स्थापित हुआ था, यह तो इस बात से भी लक्षित होता है कि जिस प्रकार राजा और सेनापति को पुरातन पैत्रिक यज्ञों में भाग मिलता था उस प्रकार आर्खन् को नहीं मिलता था, उसको तो केवल उन्हीं यज्ञोत्सवों में भाग मिलता था जो पीछे से प्रचलित हुए थे। अतएव, इन पीछे से होनेवाली सम्मान-वृद्धियों के योग से, आर्खन् का पद तो अपेक्षाकृत अधिक देर से इतना महत्त्वपूर्ण हो सका। थेस्मो

थीती (नाम के ६ छोटे) आर्खनों के पदों का निर्माण अथवा उनकी नियुक्ति तो इसके बहुत वर्ष पीछे तब हुई जब कि आर्खनोंकी नियुक्ति केवल वर्ष भर के लिये होने लगी थी; उनकी नियुक्ति इसलिये हुई कि वे सब विधि-निर्णयों का सार्वजनिक लेखा रखें तथा विवाद के उभयपक्षों के मध्य में ठीक ठीक निर्णय कराने की दृष्टि से उस लेखे की रक्षा करें। इसी कारण उपर्युक्त सब उच्चपदाधिकारियों (आर्खनों) में केवल इन्हीं (थेस्मोथीतों) आर्खनों का पद अनेक वर्ष तक स्थायी रहनेवाला नहीं हो सका। ऐसी है इन पदों की परस्पर तुलनात्मक समयानुपूर्वी।

उस समय नौ आर्खन् एक साथ नहीं रहते थे। राजा उस भवन में निवास करता था जो आजकल बूकालियन् कहलाता है और प्रितानियन् के समीप है। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट लक्षित होता है कि आज तक भी राजा की पत्नी का दियोनिसस् के साथ (वार्षिक) विवाह[^] वहीं होता है। आर्खन प्रितानियन् में रहता था तथा सेनापति ऐपीलीकियन् में। यह भवन पहले पॉलेमार्खियन् कहलाता था, पर पीछे जब ऐपीलीकस् ने अपने सेनापति-काल में इसका फिर से निर्माण करवाया और इसको सुसज्जित किया तब से यह ऐपीलीकियन् कहलाने लगा। थेस्मोथीती नामक आर्खन् थेस्मोथीतियन् में रहा करते थे। सोलॉन् के समय में वे सब थेस्मोथीतियन् में आकर रहने लगे। उस समय उनको स्वयमेव सब अभियोगों का परम निर्णय करने का अधिकार था; आजकल जो उनको केवल प्रारम्भिक परीक्षण का अधिकार (रह गया) है, ऐसा उस समय नहीं था। उच्च शासनाधिकार-पदों की व्यवस्था उस समय ऐसी थी। अरियोपागस् की परिषद् का विधि-विहित कार्य तो था विधि-नियमों की अध्यक्षता (और संरक्षण), पर वास्तव में राष्ट्र के शासन-कार्य के बहुत बड़े एवं महत्त्वपूर्ण अंश का संचालन वह किया करती थी, और प्रभुतापूर्वक सभी व्यवस्था-लोप करनेवालों को शारीरिक और आर्थिक दण्ड दिया करती थी। (यह सब इस बात का स्वाभाविक परिणाम था कि) आर्खन् लोगों का निर्वाचन कुलीनता और धनवत्ता के आधार पर होता था, और अरियोपागस् (की परिषद् का) संघटन उन लोगों में से होता था जो आर्खन् पद पर काम कर चुकते थे। इसी कारण केवल अरियोपागस् की सदस्यता ऐसा शासनाधिकार-पद है जो आज तक आजीवन चलनेवाला बना हुआ है।

४

(द्राको की व्यवस्था (=संविधान)। सैनिक-सज्जा प्रस्तुत करनेवालों का मताधिकार। आर्खन, कोषाध्यक्ष, सेनानी एवं अश्वाध्यक्ष की योग्यता। ४०१

सदस्यों की परिषद् । सम्पत्ति के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण । अरियो-पागस की स्थिति को अक्षुण्ण रखना ।)

आरंभ के संविधान की रूपरेखा इसी (उपर्युक्त) प्रकार की थी । ऊपर वर्णन किये हुए वृत्तान्तों को घटित हुए अधिक समय नहीं हुआ था जब कि अरिस्ताइख़्मस[1] के शासनकाल में द्राको[2] ने अपने विधि-नियम निर्धारित किये । उसकी विधि-व्यवस्था निम्न-लिखित प्रकार की थी । उन सब लोगों को (नागरिकता) मतदान का अधिकार दे दिया गया जो अपने को सैनिक-सज्जा से सज्जित कर सकते थे । इन नागरिकों के द्वारा नौ आर्खनों और कोशाध्यक्षों का चुनाव ऐसे व्यक्तियों के मध्य में से किया जाता था जिनके पास ऋण-मुक्त सम्पत्ति की मात्रा दस मिना से कम नहीं होती थी । अपेक्षाकृत कम महत्त्ववाले अधिकारियों का चुनाव उन व्यक्तियों में से होता था जो अपने लिये सैनिकसज्जा प्रस्तुत करने की क्षमता रखते थे ।[3] सेनापति और अश्वारोही सेना के अध्यक्ष उन नागरिकों में से चुने जाते थे जो इतनी ऋणमुक्त सम्पत्ति दिखला सकते थे जो १०० मिना से कम न हो, तथा जिनके विधिपूर्वक विवाहिता पत्नी से उत्पन्न हुए दस वर्ष से अधिक अवस्था के बच्चे होते थे । इन अधिकारियों का कर्तव्य यह था कि वे गत वर्ष शासनाध्यक्ष, सेनापति एवं अश्वारोही सेनाध्यक्ष को तब तक जमानत पर रक्खें जब तक कि उनके आयव्यय के लेखे का ठीक ठीक परीक्षण न हो जाय, तथा इस जमानत के लिये उसी वर्ग के चार प्रतिभू आवश्यक होते थे जिस वर्ग के सेनापति एवं अश्वसेनाध्यक्ष स्वयं होते थे । जो लोग मताधिकार-संपन्न थे उन्हीं के मध्य में से शलाकाग्रहण-पद्धति से ४०१ सदस्यों की संसद् का चुनाव होता था । इस (संसद्) के लिये तथा अन्य शासनाधिकार-पदों के लिये शलाकाग्रहण उन व्यक्तियों के मध्य में किया जाता था जो ३० वर्ष से अधिक आयु के होते थे; तथा जब तक मताधिकार-संपन्न प्रत्येक दूसरे व्यक्ति को अवसर नहीं मिल जाता था तब तक कोई व्यक्ति एकपद को दूसरी बार ग्रहण नहीं कर सकता था; तथा इसके पश्चात् पुनः नये सिरे से चुनाव के लिये शलाकाग्रहण किया जाता था । जब संसद् (बूली) अथवा परिषद् (इक्ली-सिया) का सत्र (बैठक) चालू होता था, तब यदि कोई सदस्य उपस्थित न हो पाता तो यदि सदस्य पंचशती[4] होता तो उसको तीन दाख्मा[5], त्रिशती होता तो (अथवा अश्वारोही होता तो) दो दाख्मा और द्विशती होता तो एक दाख्मा दण्ड देना पड़ता था । अरियोपागस की संसद् विधि-नियमों की संरक्षिका थी, तथा वह सब शासनाधि-कारियों पर दृष्टि रखती थी जिससे वे अपने अपने पद के कार्यों को विधि के अनुसार संपादित करें । जिस किसी व्यक्ति को ऐसा लगता था कि मेरे प्रति अन्याय हुआ है

उसको अधिकार था कि वह अरियोपागस की संसद् में जाकर इसकी घोषणा करे और यह बतलाये कि उसके प्रति अन्याय होने से कौन से विधिनियम का उल्लंघन हुआ है। तथापि, जैसा पहले कहा जा चुका है ऋण की जमानत (इस विधान में भी) अधमर्ण के व्यक्तिगत शरीर पर ही थी, एवं पृथ्वी (भूमि) अब भी थोड़े से व्यक्तियों की थी।

५

(उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के लोगों की कलह। सोलॉन् की मध्यस्थ और आर्खन् के रूप में नियुक्ति। सोलॉन् द्वारा अपने कार्य का विवरण।)

तो जब संविधान की व्यवस्था इस प्रकार की थी, एवं बहुसंख्यक जनता अल्पसंख्यक धनिकों की दासता कर रही थी, तब जन-साधारण ने गण्यमान लोगों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। विद्रोह की अवस्था बड़ी प्रबल थी, और सुदीर्घ काल तक दोनों दल एक दूसरे के विरोध में डटे रहे; अन्ततोगत्वा उन्होंने एक मत से सोलॉन् को अपना मध्यस्थ और आर्खन नियुक्त कर दिया और संविधान[1] की व्यवस्था उसी के हाथों में सौंप दी। इस नियुक्ति का कारण थी सोलॉन् की ऐलैगी (कविता) जिसका आरंभ इस प्रकार था :—

देख रहा हूँ, गहरी पीड़ा अन्तर में घर करती जाती ,
भूमि पुरातन यवन जाति की आज दृष्टि में मेरी आती ,
आघातों से नष्ट ,

इस कविता[2] में वह बारी बारी से प्रत्येक दल की ओर से अन्य दलों के विरुद्ध कलह और विवाद करता है, और तदुपरान्त उन सब को (अपनी ओर से) यह सम्मति देता है कि वे पारस्परिक कलह को समाप्त करके आपस में सन्धि कर लें। जन्म (स्वभाव) और ख्याति (जनता की सम्मति) से सोलॉन् अपने समय का सर्वोत्तम व्यक्ति था, पर वित्त और (सामाजिक) स्थिति में मध्यस्थानीय था; उसकी ऐसी स्थिति थी इस विषय में सबका मत एक है। सच तो यह है कि जब वह इस कविता में धनी लोगों को अनुचित प्रकार से लोलुप न होने की सलाह देता है तो उसका सामाजिक स्थान स्वतः उसी के साक्ष्य से निर्णीत हो जाता है। (वह कहता है)

तुम कुछ शान्त बनो निज उर में तनिक धैर्य को धारो ,
तुम, जो हो परिपूर्ण सुसम्पत् से, यह तनिक विचारो ,
बड़े मन को संयम सिखलाओ, लो यह जानी ।
हम न सहेंगे सदा, तुम्हारी अब न चले मनमानी ।।

वह तो वास्तव में इस सामाजिक कलह के कारणों को पूर्णतया धनवानों पर ही अवलंवित मानता है; इसी लिये इस कविता के आरंभ में उसने कहा है कि "रजत-लिप्सा और मदमत्तता से" मुझे भय लगता है, जिससे उसका अभिप्राय यही है कि इन्हीं (दुर्गुणों) के कारण घृणा फूट पड़ी थी।

६

(ऋण-भार-निवारण)

ज्यों ही सोलॉन् शासन-संचालन कार्य का अधिपति वना त्यों ही उसने जनसाधारण के शरीर की जमानत पर ऋण देने के नियम पर प्रतिवन्ध लगाकर सर्वसाधारण को स्वतंत्र कर दिया; तथा उसने ऐसे नियम वनाये, जिनमे उसने व्यक्तिगत एवं सार्व-जनिक सभी ऋणों को समाप्त कर दिया। यह व्यवस्था "सइसा क्थइया" (ऋण-भार-निवारण) कहलाती है; क्योंकि इसके द्वारा साधारण जनता का (ऋण–) भार दूर हो गया। इस व्यवस्था के संवंध में कुछ लोग स्वयं उसके ऊपर भी दोषारोपण करते हैं। हुआ यह कि जव सोलॉन् इस व्यवस्था का विधान करनेवाला था तो उसने अपने इस विचार से कुछ उच्चवर्ग के गण्यमान व्यक्तियों को पहले ही अवगत कर दिया, इस पर, जैसा कि जनसाधारण-दल के लोगों का कहना है, उसके मित्रों ने अत्यन्त शीघ्रता करके पहले ही अपना कार्य सिद्ध कर लिया; दूसरी ओर जो उसके चरित्र को दूषित ठहराने के इच्छुक थे उनका कहना है कि इस प्रतारणा (से होनेवाले लाभ) में उसका भी भाग था। क्योंकि इन लोगों ने ऋण लेकर वहुत अधिक मात्रा में भूमि खरीद ली, तथा जव इसके थोड़े ही समय पश्चात् सव ऋणों का निरसन हो गया तो यह लोग धनसम्पन्न हो गये। कहते हैं, इस प्रकार से उन कुटुम्वों की उत्पत्ति हुई जो आगे चलकर प्राचीन काल के धनी कुटुम्व माने गये। यह सव कुछ होते हुए भी जन-साधारण-दल का मत ही अधिक विश्वास के योग्य प्रतीत होता है। वह व्यक्ति (अर्थात् सोलॉन्) जो अपने सव अन्य कार्यों में इतना मर्यादित एवं सर्वहितनिरत था कि, जव सव को पददलित करके अपने को नगर का अधिनायक वना लेना उसके वश की वात थी तव ऐसे समय में भी उसने अपने व्यक्तिगत महत्त्व को प्राप्त करने की अपेक्षा अपने सम्मान और सार्वजनिक भलाई को उच्च स्थान देकर उभय दलों के विद्वेष को ही वरण किया, उसके विषय में यह उचित नहीं प्रतीत होता कि वह इतनी तुच्छ एवं स्पष्ट दिखलाई देनेवाली प्रवंचना से अपने चरित्र को कलंकित करने के लिये सहमत हुआ होगा। और यह तथ्य कि उसको इतनी महान् (सर्वोपरि) सत्ता प्राप्त थी,

प्रथम तो, देश की तत्कालीन दुर्दशा से ही स्पष्ट है, फिर उसने स्वयं भी अपनी रचनाओं में इसका अनेक बार उल्लेख किया है; तथा इस विषय में सब अन्य व्यक्ति भी एकमत हैं। अतएव हम इस दोषारोपण को झूठा मानने के लिए विवश हैं।

७

(सोलॉन् का संविधान। वित्तानुसार जनता का वर्गीकरण)

इसके उपरान्त सोलॉन् ने दूसरा काम यह किया कि (नये) संविधान को स्थापित और नियमों को निर्धारित किया। ड्राको के विधिनियमों का प्रयोग बन्द हो गया; पर हत्या सम्बन्धी नियम इसमें अपवाद थे। (अर्थात् ड्राको ने जो नियम हत्या के संबंध में बनाये थे वे चालू रहे)। यह विधिनियम काष्ठस्तम्भों[1] पर उत्कीर्ण किये गये और राजा के द्वार-प्रकोष्ठ पर स्थापित कर दिये गये थे, तथा सब ने उनका पालन करने की शपथ ली। नौ प्रमुख शासनाधिकारियों ने शिला[2] के ऊपर शपथ ली थी और यह घोषणा की थी कि यदि वे किसी भी नियम का उल्लंघन करेंगे तो स्वर्ण-प्रतिमा समर्पित करेंगे। इसी से अब तक इसी प्रकार की शपथ की जाती है। सोलॉन् ने इन नियमों को सौ वर्ष के लिये प्रमाणित किया था; तथा संविधान की व्यवस्था उसने निम्नलिखित प्रकार से की थी। जैसे कि पहले जनता का विभाजन था, उसी प्रकार उसने भी जन-संख्या को (व्यक्तिगत)—वित्तानुसार चार वर्गों में विभाजित कर दिया—ये वर्ग थे पंचशती[3], अश्वारोही, द्विशती और थीत (=अर्थात् निर्धनवर्ग)। नौ प्रमुख शासकों, कोषाध्यक्षों, सार्वजनिक ठेकों के आयुक्तों, एकादश (कारागाध्यक्षों), एवं कोषगणकों[4] इत्यादि के शासनाधिकार पदों को उसने पंचशती, अश्वारोही एवं द्विशती लोगों के लिये नियोजित कर दिया; जिसकी परिगणनीय सम्पत्ति का जितना मूल्य होता था उसको उसी के अनुसार पद दिया जाता था। थीतों के वर्ग में गिने जाने-वाले (निर्धन) लोगों को उसने केवल परिषद् और प्रमाणपुरुषमण्डली (जूरी) में ही स्थान प्रदान किया। जो व्यक्ति अपनी भूमि से शुष्क अथवा द्रव (पदार्थ) की पाँच सौ मात्राएँ उत्पन्न करता था वह पंचशती वर्ग के अन्तर्गत गिना जाता था; (इसका ग्रीक नाम पेन्ताकोसिकमेदिम्नम् था)। अश्वारोही वर्ग के अन्तर्गत उनकी गिनती होती थी जो ३०० मात्राएँ उत्पन्न करते थे; अथवा (जैसा कि कुछ लोगों का कहना है) जो एक घोड़े के भरण-पोषण की सामर्थ्य रखते थे। इस (द्वितीय) परिभाषा के समर्थन में वे इस वर्ग के नाम (हिप्पीस=अश्वारोही) को चिह्न स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, जो इसी तथ्य के कारण पड़ा होगा। इसके अतिरिक्त इसके समर्थन में वे कुछ

पुरातन संकल्पानुष्ठित कृतियों का भी साक्ष्य उपस्थित करते हैं; क्योंकि अक्रोपॉलिस-में डिफिलस[1] की मूर्ति एक इसी प्रकार की कृति है, जिस पर निम्नलिखित कथन उत्कीर्ण है :—

डिफिलस का हूँ पुत्र मैं, अंथैमियन् स्वनाम ।
थीत वर्ग को त्याग पा सादी वर्ग ललाम ॥
(देवकृपा मुझ पर हुई, इसका यह परिणाम ।)
उसका मैं इस भाँति से करता हूँ सम्मान ॥

तथा अश्वारोही शब्द का क्या अर्थ होता था इसको लक्षित करने के लिये मनुष्य की मूर्ति के पार्श्व में घोड़ा खड़ा हुआ है। तथापि यह भी समीचीन प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पंचशती वर्ग एक निश्चित मात्राओं की आय को सूचित करता था उसी प्रकार यह वर्ग भी सुनिश्चित मात्राओं की संख्या का निर्देश करता था। द्विशती वर्ग में उन लोगों की गणना होती थी जो शुष्क अथवा द्रव पदार्थ की दो सौ मात्राओं का उत्पादन करते थे; अन्य सब लोग थीतकोटि में आते थे, तथा उनको किसी शासनाधिकार में भाग नहीं मिलता था। इसी लिये आज भी जब किसी शासनपद के इच्छुक व्यक्ति से पूछा जाता है कि वह किस वर्ग का है, तो कोई भी यह नहीं कहता कि मैं थीत वर्ग का हूँ।

८

(शासनाधिकारियों के चुनाव की पद्धति। जातियाँ, तिहाइयाँ, नौक्रारियाँ =बारहवें भाग। चारसौ की संसद। अरियौपागस् की संसद; उसकी अध्यक्षता का अधिकार। नागरिक उपप्लव के समय तटस्थ रहने का दण्ड।)

विभिन्न पदों के अधिकारियों का चुनाव करने के लिए सोलॉन् ने यह नियम बनाया था कि उनका चुनाव प्रत्येक 'गण'[1] अथवा 'जन' के द्वारा चुने हुए प्रार्थियों में से गुटिकाग्रहण (by lot) द्वारा होना चाहिये। नौ आर्खन-पदों के लिये प्रत्येक 'जन' अपने मध्य में से १० प्रार्थी चुनता था और इनके मध्य में से गुटिकाग्रहण द्वारा नौ आर्खन् चुने जाते थे। इसी से यह रीति आज तक चली आ रही है कि प्रथम तो प्रत्येक 'जन' अपने में से गुटिका-ग्रहण द्वारा दस प्रार्थी चुन लेते हैं और तब पुनः इन चुने हुए व्यक्तियों में से शिविकाग्रहण द्वारा चुनाव होता है। सोलॉन् ने शासनपदों के चुनाव को सम्पत्तिशाली वर्गों के अनुसार निर्धारित किया था इसका प्रमाण तो उस नियम में

मिल जाता है जो कोपाध्यक्ष के चुनाव के विषय में आज तक चला आ रहा है; इस नियम की आज्ञा है कि कोपाध्यक्ष पंचशतीवर्ग में से चुने जाने चाहिये। नौ आर्खनों के संबंध में सोलॉन् का नियम इस प्रकार का था। पर इसके पूर्व प्राचीन काल में अरियोपागस् की परिषद्[२] अपनी बुद्धि के अनुसार उपयुक्त व्यक्तियों को आमंत्रित करके उनको वर्ष भर के लिये पृथक् पृथक् पदों पर नियुक्त कर देती थी। जैसा पुरातन समय में था वैसे ही इस समय में (समग्र नगर में) चार 'जन' थे और चार 'जनराज' थे। प्रत्येक 'जन' तीन तिहाइयों में विभक्त था और इन तिहाइयों में से प्रत्येक में १२ "नौकारियाँ"[३] थीं। प्रत्येक नौकारिया के अपने नियुक्त किये हुए पदाधिकारी होते थे जो नौकारी कहलाते थे, तथा जिनका काम होनेवाले (जायमान) आय और व्यय की व्यवस्था करना था। अतएव सोलॉन् के उन नियमों में, जिनका चलन अब नहीं रहा है, अनेक बार ऐसा उल्लेख किया गया है कि "नौकारी लोग नौकारीनिधि का संचय और व्यय कर सकते हैं।" उसने चार सौ सदस्यों की एक संसद की भी स्थापना की जिसमें प्रत्येक 'जन' में से एक सौ सदस्य लिए गये थे; पर अरियोपागस् की परिषद् के लिए उसने नियमों की देखभाल (चौकसी) करने का कार्य नियत किया, अर्थात् जिस प्रकार यह परिषद् आदि काल से पहले भी संविधान की रक्षा का काम करती रही थी, वही कार्य इस समय भी इसको सौंपा गया। जो राज्य संबंधी अधिक महत्त्वपूर्ण विषय थे उनमें से अधिकांश पर यह परिषद् चौकसी रखती थी, एवं उसको अर्थदण्ड एवं शरीरदण्ड दोनों ही प्रकार के दण्ड देने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था (और इसी के द्वारा) वह अपराधियों को सुधारा करती थी। दण्ड द्वारा जो धन प्राप्त होता था उसको यह परिषद् अक्रोपोलिस[४] में एकत्रित करती थी तथा दण्ड के लिए कोई हेतु नहीं बतलाती थी। यह परिषद् उन लोगों पर मुकदमा चलाती थी जो शासन को लौटाने के लिये षड्यंत्र किया करते थे; सोलॉन् ने अपराधियों पर अभियोग चलाने की पद्धति भी निर्धारित कर दी थी। सोलॉन् ने देखा कि राज्य में आन्तरिक कलह उठ खड़ी होती है, जब कि कुछ नागरिक आलस्य और अविचार के कारण किसी भी कलह-परिणाम को स्वीकार कर लेते थे, अतएव उसने ऐसे मनुष्यों को ही दृष्टि में रखकर उनके संबंध में एक विशिष्ट नियम बनाया। यह नियम इस प्रकार का था कि यदि नगर के दो दलों में कलह होने पर जो व्यक्ति उनमें से किसी एक के पक्ष में शस्त्रग्रहण करके नहीं लड़ेगा, तो उसको अयोग्य ठहराया जायगा और उसको नागरिकता का कोई अधिकार नहीं रहेगा।

९

(सोलॉन् के संविधान के जनतंत्रात्मक अंग (क) शरीर की (जमानत) सुरक्षा पर ऋण का निषेध; (ख) अन्याय के प्रतिकार-सामान्य अधिकार; (ग) न्यायमण्डल के समक्ष पुनर्विचार की प्रार्थना का अधिकार।)

शासनाधिकारियों के विषय में उसका नियम-विधान इस प्रकार का था। तीन बातें ऐसी हैं जो सोलॉन् के संविधान की अत्यन्त जनतंत्रात्मक विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अधमर्ण (ऋणी) के शरीर की जमानत (सुरक्षा) पर ऋण देने का निषेध हो गया; दूसरे प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया कि यदि वह चाहे तो ऐसे किसी भी व्यक्ति के पक्ष में जिसके प्रति अन्याय किया गया हो, अन्याय के प्रतिकार की माँग कर सकता है; तीसरी बात, (जिससे सर्वसाधारण जनता को सामान्यतया सबसे अधिक शक्ति प्राप्त हुई कही जाती है), थी सार्वजनिक न्यायालयों के समक्ष पुनर्विचार की प्रार्थना का अधिकार। जब सामान्य जनता को गुटिका पर सत्ता प्राप्त हो जाती है तो उसको संविधान पर भी स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। और फिर क्योंकि नियम न तो सरलता से और न स्पष्टता से लिखे गये थे, प्रत्युत उत्तराधिकार और रक्षितों की सम्पत्ति के नियमों के समान (अस्पष्ट) थे, अतएव अनेक विवाद अनिवार्यतया उत्पन्न होते थे, एवं प्रत्येक विवाद का निर्णय सार्वजनिक न्यायालयों को करना पड़ता था, चाहे तो वे विवाद सार्वजनिक हों और चाहे व्यक्तिगत। कुछ लोग तो वास्तव में यहाँ तक मानते हैं कि सोलॉन् ने नियमों को जानबूझकर इसी उद्देश्य से अस्पष्ट बनाया था जिससे अन्तिम निर्णय करने की सत्ता साधारण जनता की मुट्ठी में रहे। किन्तु यह बात तो सत्य जैसी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि सामान्य भाषा में नियम निर्धारित करने में आदर्श उत्तमता (परिपूर्णता) को प्राप्त कर लेना शक्य नहीं है। हमको उसके अभिप्राय का विचार, उसके नियमों के एतत्कालीन परिणामों के द्वारा नहीं प्रत्युत उसके शेष संविधान के सामान्य दृष्टिकोण से करना चाहिये।

१०

(मुद्रा, भार, एवं माप के मानदण्डों के संबंध में सोलॉन् के सुधार।)

उसके नियमों में वास्तव में यही जनतंत्रात्मक तत्त्व प्रतीत होते हैं; पर इसके अतिरिक्त, इन नियमों की स्थापना के पूर्व उसने ऋणोच्छेद कार्य को पूरा किया एवं

इनके उपरान्त उसने भार और माप (नापतौल) के मानदण्ड और मुद्रा में वृद्धि की। उसके (शासन) काल में नाप फैइदॉन् के समय की अपेक्षा अधिक कर दी गई; मीना नामक मुद्रा जो इसके पूर्व ७० द्राख्मा का होता था अब पूरे सौ द्राख्मा की हो गयी। प्राचीन समय में मुद्रित मुद्रा द्विद्राख्मा थी। उसने तौल को भी मुद्रा के ही अनुरूप कर दिया, एक तलान्त[2] में ६३ मीना होने लगे; यह जो ऊपर के तीन मीना थे यह स्तातीर एवं अन्य (छोटी) मुद्राओं के अंशों में भी बाँटे गये।

११

(सोलॉन् के सुधारों के विषय में जनसाधारण की सम्मति)

जब उसने ऊपर वर्णन किये हुए प्रकार से संविधान की व्यवस्था को पूरा कर दिया, तो उसने देखा कि लोग उसके पास आकर उसको उसके द्वारा निर्धारित नियमों के विषय में तंग करने लगे; वे कभी उनकी निन्दा करते और कभी आलोचना। वह न तो अपने द्वारा निश्चित नियमों को बदलना ही चाहता था और न (अथेंस में रहकर) सबकी घृणा का पात्र बनना, अतएव वह व्यापार और देशदर्शन के उद्देश्य से मिस्र की यात्रा को चला गया और यह कह गया कि दस वर्ष तक नहीं लौटूँगा। उसका विचार यह था कि इन नियमों की स्वयं व्याख्या करना उसका काम नहीं, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को उन नियमों को यथालिखित रूप में पालन करना चाहिये। इससे उसकी स्थिति बहुत अप्रिय हो गयी थी। ऋणों की समाप्ति के कारण धनीमानी गण्यमान लोगों में से बहुत से उससे असहमत हो गये। संविधान में उसके परिवर्तन से जो अनोखी स्थिति उत्पन्न हुई उससे असन्तुष्ट होकर दोनों ही दल उससे अप्रसन्न हो गये। जनसाधारण ने उससे यह आशा लगा रक्खी थी कि वह सम्पत्ति का पूर्णतया नये सिरे से विभाजन कर देगा; दूसरी ओर धनीखोरी लोगों ने यह आशा बाँधी थी कि वह सब बातों को पूर्व पुरातन स्थिति पर पहुँचा देगा, अथवा बहुत थोड़ा-सा परिवर्तन करेगा। पर उसने तो दोनों ही दलों का विरोध किया। (यद्यपि) दोनों दलों में से, वह जिसको भी चाहता उसके साथ मिलकर अपने को अधिनायक (अथवा तानाशाह) बना लेना उसके वश की बात थी, तथापि उसने दोनों ही दलों के दौर्मनस्य का भाजन बनकर भी अपनी पितृभूमि का त्राता एवं श्रेष्ठ संविधाता बनना पसंद किया।

१२

(सोलॉन् की नीति के विषय में उसके अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले उसकी कविता के उद्धरण।)

सोलॉन् की नीति के विषय में इस दृष्टिकोण की तथ्यता एक तो अन्य सब लोगों के मतैक्य से सिद्ध हो जाती है, दूसरे स्वयं उसके अपने उस उल्लेख मे भी सिद्ध हो जाती है जो उसने इस विषय में निम्नलिखित कविता में किया है :—

साधारण जनदल को मैंने पददान दिया समुचित सादर।
अपहरण किया सम्मान नहीं, बढ़ने न दिया हद के वाहर॥
वे जो थे वलशाली समृद्ध सम्पदापूर्ण सव विधि शोभन।
आदेश किया मैंने उनको हों वे न कभी किञ्चित् शोभन॥
दोनों के मध्य खड़ा था मैं दृढ़ ढाल लिये कर में अपने।
कोई पूरे कर पा न सका अन्यायपूर्ण जय के सपने॥

फिर, सर्वसाधारण के विषय में उसने यह प्रदर्शित किया कि उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिये,

यूँ अच्छा जनता नेताओं का मानेगी कहना,
अति मृदुता; कठोरता-वर्जित जव हो उसका रहना।
जन्म दर्प-सुत का होता जव अति सम्पदा वरसती।
उस मानव पर मन में जिसके समता नहीं सरसती॥

फिर एक दूसरे स्थान पर वह उन मनुष्यों के विषय में इस प्रकार कहता है जो भूमि का पुनर्विभाजन चाहते थे।

दृष्टि लूट पर रखते आये आशा करते धन की।
व्यक्ति व्यक्ति सुख सम्पति पाये यही लालसा मन की।
मुझको समझे मृदुल-कोप में छिपा कठिन अन्तस्तल।
तव जड़ता-वश यह विचार, अव मेरे द्वेषी प्रतिपल।
तिरछी आँखों मुझे घूरते वैर झलकता जिनसे—
किन्तु नहीं औचित्य; किया जो कहा रहे सुर त्राता
सीमा लाँघी नहीं मूर्ख हो; और न मुझको भाता
अधिनायकपन, वलप्रयोग औ' पितृभूमि जो प्यारी
भले वुरों से एक तुल्य भोगी जाती न निहारी।

इसके उपरान्त पुनः एक बार वह ऋणभार को दूर करने, तथा जो लोग दासता करते थे उनको ऋण-भार-मोचन द्वारा स्वतंत्र करने की चर्चा करता हुआ कहता है :—

जो विचार ले मैंने जनता को निज सँग में जोड़ा
विना किये कब रुका, अधूरा किसको मैंने छोड़ा ?
समय आय, तू साक्ष्य न्याय के प्रकरण में तब देना
ओलिम्पीय देवताओं की जननी, सुन लेना
श्रेष्ठश्यामवर्ण भुवि, जिसको कभी किया था मैंने—
मुक्त कीलकों[2] से जो बहुधा गड़े वक्ष में तेरे,
तू थी पूर्ववन्दिनी पर अब हुई स्वतंत्र घरे हे !
बहुसंख्यक अथेन्स के वासी देवनिर्मिता भू से
पितरों की बिछुड़े, बिक सागर पार न्याय से झूठे
अथवा नियमों ही से चाहे; और बहुत से जो सब
भाराक्रान्त विवश हो ऋण से, नहीं बोलते थे अब
वाणी अत्तीका[3] प्रदेश की, दूर दूर थे भागे,
मैं सबको घर लाया फिर से भाग्य सभी के जागे ।
और यहीं, दासत्व अशोभन में निमग्न जो जन थे
प्रभु के रोष समक्ष सर्वदा कम्पित जिनके मन थे
मैंने उनको भी स्वतंत्र कर दिया, हुआ यह सब कुछ
नियमों के बल से, फिर जोड़ा शक्ति नीति को संयुत
किया, तथा इस भाँति प्रतिज्ञा अपनी सभी निबाहीं—
बुरे भलों के लिये एक-सा नियम बनाया मैंने,
सीधा प्रति-जन हेतु न्याय का मार्ग चलाया मैंने ।
अंकुश होता अन्य हाथ में, यथा हाथ में मेरे
औ' होता दुर्वृत्त मनुज वह पड़ा लोभ के फेरे ;
उसने कभी न रोका होता जनता को ।[4] यदि भाता
मुझको कभी एक जनदल की मनमानी का खाता ;
और कभी प्रतिपक्षी-दल के कहे मार्ग पर जाता
तो यह राष्ट्र बहुत से वीरों से वंचित हो जाता ।
अतः शक्ति निज सभी ठौर पर मैंने सदा चलाई,
कुक्कुर-दल पर लौट टूट पड़ने वनवृक की नाईं ।

और फिर वह दोनों दलों को पीछे असन्तुष्ट रहने के कारण बुरा-भला कहता है।

दोष योग्य हो यदि कोई तो दोष चाहिये देना
पर जिनको सुख आज प्राप्त है, क्या उस सुख का लेना
देखा था सपने में भी ?
और बड़े जो लोग महत् जीवन जिनका है अभिमत
उन्हें चाहिये योग्य बन्धुवत् करना मेरा स्वागत।

क्योंकि उसने कहा है कि यदि किसी अन्य व्यक्ति को यह सम्मानपूर्ण पदवी प्राप्त हुई होती तो,

न तो रोकता जनदल को ही, और स्वयं कब रुकता
आत्मसात् जब तक न मलाई[४] पूरी वह कर चुकता
मैं तो, किन्तु, मध्य में इनके डटा रहा हूँ ऐसे
शत्रुदलों के मध्य पंक्ति सीमा की रहती जैसे।

१३

(राजनीतिक कलह का चालू रहना। दामासिया का शासन काल। तीन राजनीतिक दल--(१) ससुद्रतट का दल (२) मैदान का दल और (३) पर्वतीय दल।)

अतः सोलॉन् के अपने देश को त्यागने और विदेश में प्रवास करने के कारण उपर्युक्त थे। उसके प्रवास में चले जाने पर भी नगर की दशा क्षुब्ध ही बनी रही। चार वर्ष तो जनता ने जैसे-तैसे शान्ति से बिताये; पर सोलॉन् के शासन के पश्चात् पाँचवें वर्ष में वे पारस्परिक कलह के कारण प्रमुख आर्खन को चुनने में असमर्थ रहे। इसके पश्चात् फिर चार वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्हीं कारणों से उन्होंने अराजकता को ही बनाये रक्खा। इसके उपरान्त पुनः एक ऐसे ही कालांश के व्यतीत हो जाने पर दामासियास्[१] को आर्खन चुना गया; उसने दो वर्ष और दो महीने शासन किया--अर्थात् जब तक बलपूर्वक अपने पद से हटा न दिया गया। तत्पश्चात् समझौते के रूप में दस आर्खन (शासक) चुनने का निश्चय किया गया; पाँच कुलपुत्रों में से, तीन कृषक-दल में से और दो श्रमिक अथवा शिल्पीदल में से। दामासियास् के शासन की समाप्ति के पश्चात् इन्होंने एक वर्ष शासन-कार्य किया। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय आर्खन ही सबसे अधिक शक्तिशाली शासन-पदाधिकारी (मजिस्ट्रेट) था, क्योंकि उसी के पद के (चुनाव के) विषय में सर्वदा कलह होती प्रतीत होती है। सामान्यतया उस समय जनता लगातार आन्तरिक रुग्णावस्था (सामाजिक अव्यवस्था) में निमग्न थी; कुछ लोगों को तो अपने असन्तोष का आरम्भ और मूलभूत-कारण ऋण की

समाप्ति में प्रतीत हुआ, क्योंकि वे इसी के कारण धनहीन हो गये थे; अन्य कुछ लोग संविधान की व्यवस्था से अप्रसन्न थे कि उसमें बहुत अधिक परिवर्तन हो गये थे, और कुछ लोगों की अप्रसन्नता का कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा की भावना थी। इस समय राजनीतिक दल तीन थे; इनमें प्रथम दल समुद्र-तट का दल कहलाता था, जिसका नेतृत्व अलकमियन् के पुत्र मेगाक्लीस के हाथ में था, एवं ऐसा ख्याल किया जाता था कि इस दल का लक्ष्य मध्यम कोटि (संयत प्रकार) की शासन-व्यवस्था प्रचलित करना था। दूसरा दल था मैदान का दल, जो धनिकतंत्र (ऑलिगार्की) स्थापित करने का इच्छुक था, इसका नेता था लिकरगस्। तीसरा दल था पर्वतीय दल जिसका मुखिया पिसिस्त्रातस् था, तथा जिसको घोर जनतंत्रवादी माना जाता था। इस तीसरे दल को कुछ तो उन लोगों ने बढ़ाया जो ऋण-निरसन के कारण निर्धनता के हेतु इससे आ मिले, दूसरे उन लोगों ने बढ़ाया जो शुद्ध जाति[1] के न होने के कारण इसके साथ मिल गये क्योंकि उनका भय व्यक्तिगत था। इसका प्रमाण यह है कि (पिसिस्त्रातस्की)[2] तानाशाही के पतन के पश्चात् मतदाता नागरिकों की सूची का इसलिये संशोधन किया गया कि बहुत से ऐसे लोग मत का प्रयोग कर रहे थे जिनको ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं था। इन दलों के नाम उन प्रदेशों के कारण पड़े थे जहाँ उनके द्वारा अधिकृत क्षेत्र (इत्यादि) थे।

१४

(पिसिस्त्रातस् द्वारा बलपूर्वक शासन ग्रहण। उसका प्रथम निष्कासन एवं पुनः संस्थापन)

पिसिस्त्रातस् के विषय में यह माना जाता था कि वह परले सिरे का जनतंत्री है और तिस पर उसने मेगारा के युद्ध में भी अपने को अत्यन्त विख्यात कर लिया था। इन सब सुविधाओं का लाभ उठाकर, उसने अपने को घायल किया और यह प्रदर्शित किया कि मेरे राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों ने मुझे आहत किया है, तथा अरिस्तियोन द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव पर जनता को अपने लिए अंगरक्षक प्रदान करने के लिए मना लिया। जब उसको यह 'गदाधारी' कहलानेवाले अंगरक्षक मिल गये तो उसने इनके साथ जनता पर चढ़ाई कर दी और अक्रोपोलिस पर अधिकार कर लिया। यह घटना (सोलॉन् के) संविधान की स्थापना के ३२ वर्ष[1] पश्चात् कौमियस् के शासन- (= आर्खन्) काल में घटित हुई। कहते हैं कि पिसिस्त्रातस् के अंगरक्षकों की माँग करने पर सोलॉन् ने उसका विरोध किया और कहा कि इस प्रकार विरोध करके उसने अपने को आधी जनता से अधिक बुद्धिमान् और शेष जनता से अधिक बलवान् (अर्थात् निर्भय)

सिद्ध कर दिया; ––जो लोग यह नहीं जानते कि पिसिस्त्रातस् का लक्ष्य अपने को अधिनायक बनाना है उनसे अधिक बुद्धिमान् और जो यह जानते हुए भी चुप हैं उनसे अधिक बलवान् (निर्भय)। जब उसके सब कुछ कहने-सुनने का कोई फल नहीं हुआ तो उसने अपने कवच को ले जाकर अपने द्वार के सामने रख दिया और कहा कि मैंने तो, जब तक मुझमें शक्ति रही, अपनी पितृभूमि की सहायता की (इस समय वह बहुत वृद्ध हो चुका था) अब अन्य सब लोगों को भी ऐसा ही करना चाहिये। पर उसके इस संप्रबोधन का कुछ भी परिणाम नहीं निकला। पिसिस्त्रातस् ने सर्वोच्च सत्ता को हस्तगत कर लिया; उसका प्रशासन तानाशाही की अपेक्षा विधि-विहित शासन से अधिक मेल खाता था। अभी उसकी शासन-शक्ति की जड़ भले प्रकार नहीं जमने पाई थी कि मेगाक्लीस और लिकरगस् के अनुयायियों ने परस्पर मेल करके उस (पिसिस्त्रातस्) को निकाल बाहर किया। यह घटना उसके शासन की प्रथम स्थापना के ६ वर्ष पश्चात् हेगेसियास् के राज्य-(आर्खन) काल में हुई थी। इसके १२ वर्ष उपरान्त, मेगाक्लीस ने दलबन्दी की कलह से तंग आकर पिसिस्त्रातस् के साथ संधि की चर्चा छेड़ी, और उस (पिसिस्त्रातस्) को अपनी पुत्री ब्याह देने का प्रस्ताव किया, एवं इस शर्त पर वह उसको एक बड़े पुराने और सरल उपाय से पुनः अथेंस में ले आया। पहले तो उसने यह किंवदन्ती फैला दी कि देवी अथेना पिसिस्त्रातस् को पुनः लौटाकर लानेवाली है, और तदुपरान्त उसने एक स्त्री को खोज निकाला जो अत्यन्त विशालकाय और सुन्दर थी, तथा जिसका नाम फूए था (हीरोडोटस के मतानुसार यह स्त्री पेआनिया मुहल्ले की रहनेवाली थी और अन्य लोगों का कहना है कि थ्राक देश की फूल बेचनेवाली (मालिन थी और कौलीटस मुहल्ले में रहती थी)। मेगाक्लीस ने उसको देवी के सदृश वेशभूषा से सज्जित किया और उसको पिसिस्त्रातस् के साथ नगर में ले आया। पिसिस्त्रातस् ने उस स्त्री को अपने पार्श्व में रथ में बैठाकर नगर में प्रवेश किया, तथा नगर-निवासियों ने आश्चर्य से स्तम्भित हो बड़ी पूजा और अर्चा के साथ उसका स्वागत किया।

१५

(पिसिस्त्रातस् का पुनः दूसरी बार निष्कासन, एवं अन्तिम स्थापन। जनता का निःशस्त्रीकरण)

इस प्रकार उसका प्रथम प्रत्यागम घटित हुआ। इस प्रत्यावर्तन के लगभग सात वर्ष उपरान्त उसको दूसरी बार निर्वासित कर दिया गया तथा वह अधिक समय तक इस पद पर नहीं टिक सका; कारण यह था कि मेगाक्लीस की पुत्री के प्रति पत्नी की

भाँति व्यवहार नहीं करना चाहता था। अतएव उसको यह भय हुआ कि कहीं दोनों विरोधी दल उसके विरुद्ध मिल न जायँ, और इसी भय के कारण वह स्वयं देश को छोड़कर निकल गया। पहले तो उसने थर्मेयी की खाड़ी में स्थित रायकेलस् नामक स्थान पर एक उपनिवेश बसाया; वहाँ से वह पांगेयस पर्वत के समीपवर्ती देश की ओर चला गया। यहाँ उसने धनोपार्जन किया और वेतनार्थी सिपाहियों को भाड़े पर एकत्रित किया, एवं जब ११ वर्ष बीत गये तो वह ऐरेट्रिया की ओर लौटा, तथा वहाँ के शासन को बलपूर्वक हस्तगत करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में उसे और बहुत से दूसरे लोगों से सहायता मिली, विशेषकर थीबैंस निवासियों से, नाक्सासनिवासी लीगदामिस से एवं उन अश्वारोही सरदारों से जो ऐरेट्रिया की शासन-व्यवस्था में बहुत सत्ताशाली थे। पल्लेने के युद्ध की विजय के उपरान्त उसने अथेंस को भी हस्तगत कर लिया, और जब उसने प्रजाजनों के शस्त्रास्त्रों को अपने अधिकार में कर लिया तब कहीं जाकर उसके अधिनायकत्व की सुदृढ़ स्थापना हो सकी, और तभी वह नाक्सास् पर अधिकार करके लीगदामिस को वहाँ का शासक बनाने में समर्थ हो सका। जनता के हथियारों का अपहरण उसने निम्नलिखित प्रकार से किया। उसने जनता को सब शस्त्रास्त्रों से पूर्णतया सज्जित होकर थेसियन्[1] के पास सैनिक प्रदर्शन करने का आदेश किया, और वहाँ वह एक व्याख्यान देने लगा। वह अभी थोड़ी देर बोल पाया था कि जनता ने कहा कि हमको सुनाई नहीं दे रहा है। तब उसने उनको आदेश किया कि अक्रोपोलिस के प्रवेश-द्वार के समीप आ जायँ, जिससे कि वे उसके उद्घोष को भली भाँति सुन सकें। जब कि इधर वह उनके समक्ष एक लम्बी वक्तृता दे रहा था, तब दूसरी ओर कुछ मनुष्यों ने, जिनको उसने इसी कार्य के लिये नियुक्त किया था, सब हथियारों को एकत्रित करके समीपवर्ती थेसियन की कोठरियों में ताले में बन्द कर दिया, एवं पिसिस्त्रातस्के पास आकर संकेत किया कि कार्य हो चुका। अतएव, उसने, जो कुछ और कहना शेष रह गया था उसको कहकर, जनता को यह भी बतला दिया कि उनके हथियारों का क्या हुआ; इसके पश्चात् उसने उनसे कहा कि "तुमको चकित अथवा भयभीत नहीं होना चाहिये, किन्तु अपने अपने घर जाकर अपना काम देखना चाहिये; भविष्य में सार्वजनिक (राष्ट्रीय) कार्यों की सार-सँभाल (चिन्ता) केवल मैं ही करूँगा।"

१६

(पिसिस्त्रातस् के शासन की विशेषताएँ)

पिसिस्त्रातस् की तानाशाही[1] के आरम्भ और स्थापना का प्रकार एवं उसमें होनेवाले उतार-चढ़ाव इस (उपर्युक्त) ढंग के थे। पिसिस्त्रातस् ने नगर की व्यवस्था

(जैसा कि कहा जा चुका है) मध्यम (संयत) प्रकार से की, उसका शासन तानाशाह की अपेक्षा, विधि-विहित शासक की पद्धति से अधिक मेल खाता था। वह केवल सर्वथा दयालु एवं मृदुल तथा अपराधियों को क्षमा करने के लिये उद्यत रहनेवाला ही नहीं था, प्रत्युत उसकी एक विशेषता यह थी कि वह निर्धन लोगों को व्यवसाय चलाने के लिये ऋण भी दिया करता था जिसमे कि वे कृषिकर्म करते हुए अपनी जीविका उपार्जन कर सकें। इस उपाय से दो काम वनते थे—प्रथम तो वे लोग अपना समय वस्ती (नगर) में नहीं विता सकते थे। किन्तु नगर के वाहर खेतों में विखरे रहते थे। दूसरे क्योंकि वे साधारणतया सम्पन्न थे और अपने अपने व्यक्तिगत कार्यों में व्यापृत रहते थे, अतएव न तो उनको सार्वजनिक कार्यों में ध्यान लगाने की इच्छा ही हो सकती थी और न समय ही मिल सकता था। इसके साथ ही यह भी हुआ कि क्षेत्रों के पूर्णतया जोते-वोये जाने के कारण उसके कर की आय में भी वृद्धि हुई; क्योंकि उसने सब प्रकार की उपज पर दशमांश कर लगाया था। इसी लिये उसने स्थानीय जनन्यायालयों की स्थापना की थी एवं वह स्वयं भी वहुधा देहात में (उन लोगों की दशा का) निरीक्षण करने तथा व्यक्तियों के झगड़े सुल्झाने के लिये जाया करता था, जिससे वे (कृपक) स्वयं नगर में न आयें और अपने खेतों की उपेक्षा न कर सकें। इन्हीं निरीक्षण-यात्राओं में एक वार पिसिस्त्रातम् की हीमेत्तम्[२] के कृपक के साथ वह प्रसिद्ध भेंट हुई जो कहानी वन गई है; यह किसान वह भूमि गोड़ रहा था, जो आगे चलकर 'करमुक्त क्षेत्र' कहलाने लगी। उसने किसी मनुष्य को एक पूर्णतया पथरीले भूखण्ड को खोदते और गोड़ते देखा; आश्चर्य-चकित होकर उसने अपने सेवक को यह पूछने के लिये उसके पास भेजा कि इस भूमि पर काम करने से उसको क्या (लाभ) मिलता है। उसने उत्तर दिया—"दुःख और दर्द (मिलता है) और इन्हीं दुःख-दर्दों का दशमांश पिसिस्त्रातस् को मिलना चाहिये।" उस मनुष्य ने तो प्रश्नकर्ता को विना जाने ही उत्तर दे दिया था; किन्तु पिसिस्त्रातस् उसकी स्पष्टवादिता और परिश्रमप्रियता से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उस (किसान) को सब प्रकार के करों से मुक्त कर दिया। इस प्रकार सामान्यरूपेण सभी वातों में उसने साधारण जनता पर अपने शासन का भार विलकुल नहीं डाला; किन्तु सर्वदा शान्ति ही वनाए रक्खी और जनता को भी चुपचाप रहने दिया। और इसी लिये पिसिस्त्रातस् की तानाशाही को सामान्य वातचीत में क्रौनॉस[३] का युग (=स्वर्णयुग) कहना एक लोकोक्ति-सी हो गई। पीछे ऐसा हुआ कि उसके पुत्रों के उत्तराधिकार प्राप्त करने पर शासन अत्यन्त कठोर और कर्कश हो गया। पर इस प्रकार की वातों में सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण वात थी उसकी सार्वजनीन

और दयापूर्ण चित्तवृत्ति। सभी मामलों में नियमों के अनुसार प्रबन्ध करना उसकी आदत थी, और वह अपने आपको कभी कोई विशेष सुविधा नहीं देता था। एक बार उस पर मनुष्यहत्या का आरोप लगाया गया और उसको अरियोपागस् के न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने का आदेश हुआ, तो वह स्वयमेव अपने पक्ष का बचाव करने के लिये उपस्थित हुआ; पर अभियोक्ता मारे डर के उपस्थित न हो सका और उसने अभियोग छोड़ दिया। इन्हीं कारणों से शासनसूत्र सुदीर्घ काल तक उसके अधीन रहा, और जब कभी भी उसको निर्वासित किया जाता था वह अपनी पूर्व-स्थिति को पुनः सुगमता से प्राप्त कर लेता था। उच्च वर्ग के गण्यमान व्यक्तियों और साधारण जनता दोनों का ही अधिकांश उसके अनुकूल था, गण्यमान लोग तो उसके सामाजिक संसर्ग से उसके वशीभूत थे और जनसाधारण उससे व्यक्तिगत सहायता पाने के कारण उसकी मुट्ठी में रहते थे, एवं उसका स्वभाव दोनों ही के लिये सुन्दर था। और फिर उस समय के अथेन्स में तानाशाहों के संबंध में जो नियम चालू थे वे अत्यन्त मृदुल थे; विशेष कर अन्य नियमों की अपेक्षा वह नियम जिसका प्रयोग तानाशाही की स्थापना के लिये मुख्यतया होता था वह तो बहुत ही मुलायम था। यह नियम इस प्रकार का था, "यह अथेन्सवासियों के पैत्रिक नियम हैं; यदि कोई व्यक्ति तानाशाही की स्थापना की चेष्टा करेगा, अथवा कोई व्यक्ति तानाशाही की स्थापना में साथ देगा तो वह और उसका कुटुम्ब (गण) दोनों ही नागरिक अधिकारों से वंचित हो जायगा।"

१७

(उसकी मृत्यु और उसका वंश)

इस प्रकार पिसिस्त्रातस् शासन-शक्ति को धारण किये हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ, और फिलोनेयस्[1] के आर्खन-काल में उसकी (शारीरिक) रोग से स्वाभाविक मृत्यु हुई। यह घटना उसके प्रथम बार तानाशाह के रूप में स्थित होने के ३३ वर्ष पश्चात् घटित हुई, जिनमें से १९ वर्ष वह शासन-सत्ता में अधिकृत रहा, और शेष वर्षों में निर्वासित। इससे यह स्पष्ट है कि यह जो कहानी कही जाती है कि वह सौलॉन् का नवयुवक प्रेम-पात्र था, तथा उसने सालामिस्[2] की पुनःप्राप्ति के लिये युद्ध में मैगारा के विरुद्ध सेनापति का काम किया था, यह सब कोरी कपोल कल्पना है। यदि कोई उन दोनों के जीवन-कालों की गणना करे और उनकी मृत्यु की तिथियों का हिसाब लगाये तो उनकी अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए ऐसा होना सम्भव प्रतीत नहीं होगा। पिसिस्त्रातस् की समाप्ति के उपरान्त उसके पुत्रों ने शासनकार्य अपने हाथ में लिया

और उसी प्रकार से कार्य का संचालन किया। उसके दो पुत्र तो विवाहिता पत्नी से थे जिनका नाम हिप्पियास और हिप्पार्कस् था, तथा दो पुत्र आर्गीय संगिनी से थे जिनकेनाम इयो-फोन और हेगेसिस्त्रातस् उपनाम थेत्तालस् थे। पिसिस्त्रातस् ने आर्गस नगर के गौर्गिलस् नामक एक मनुष्य की लड़की तिमोनस्सा को पत्नी के रूप में रख लिया था; वह इसके पूर्व किप्सेलस के वंशधर अम्प्रिया निवासी आर्कीनस् की पत्नी थी। और इसी संबंध से आर्गीय जनता के साथ उसकी मित्रता का सूत्रपात हुआ जिसके कारण उनमें से एक सहस्त्र हेगेसिस्त्रातस् के द्वारा अपने साथ ले आये गये और वे पालेनी के युद्ध में उसके पक्ष में लड़े। कुछ लोगों का कहना है कि उसने आर्गीया को प्रथम निर्वासि-काल में व्याहा था और दूसरे लोगों का कहना है कि उसने ऐसा अथेन्स का शासन करते समय किया।

१८

(पिसिस्त्रातस् के पुत्रों का शासन। हार्मोदियस और अरिस्तॉगैतान् का काण्ड)

योग्यता (प्रतिष्ठा) और अवस्था दोनों ही के कारण शासन-कार्यों का प्रभुत्व हिप्पार्कस् और हिप्पियास् के ही हाथ में था। तथा हिप्पियास्, जो कि अवस्था में वड़ा था, तथा स्वभाव से ही नागरिक (राजनीतिक) प्रवन्ध में कुशल और वुद्धि-मत्तापूर्ण था, वास्तव में शासन-कार्य में मुखिया था। हिप्पार्कस् के स्वभाव में कुछ लड़कपन था,। वह कामुक था और साहित्य (और कलाओं) का प्रेमी था। अनाक्रे-यॉन्[१] सिमौनीदेस्[२] एवं अन्य कवियों को इसने अथेन्स आने के लिए निमंत्रित किया था। थेत्तालस् अवस्था में वहुत छोटा था, तथा स्वभाव मे वड़ा उद्दण्ड और उद्धत। वे सव आपत्तियाँ जो इस शासक-कुल पर आई वे सव इसी के आचरण के कारण उत्पन्न हुई थीं। वह हार्मोदियस् नामक युवक से प्रेम करने लगा था और क्योंकि वह उसकी प्रीति को प्राप्त करने में असफल रहा, अतएव उसके क्रोध पर कोई प्रतिवन्ध नहीं रह गया। कटुता के अन्य प्रदर्शनों के अतिरिक्त उसने अन्त में हार्मोदियस की वहन को पानाथेइना उत्सव-प्रयाण में पेटिकावाहिनी का अभिनय करने से रोक दिया, और ऐसा करने का कारण यह वतलाया कि हार्मोदियस शिथिलचरित्र व्यक्ति है। इस (अपमान) से अत्यन्त उत्तेजित होकर हार्मोदियस् और अरिस्तॉगैतान्[१] ने अपने अनेक साथियों की सहायता से वह सुविख्यात कर्म (=हिप्पार्कस् की हत्या) कर डाला। जव वे पानाथेइना उत्सव के समय अक्रॉपौलिस् में हिप्पियास् की प्रतीक्षा में दृष्टि गड़ाये देख रहे थे (हिप्पियास् उस समय उत्सव-यात्रा के आगमन की प्रतीक्षा में था

और हिप्पार्कस उसके प्रयाण का प्रबंध कर रहा था) उस समय उन्होंने षड्यंत्र में अन्तर्भुक्त किसी व्यक्ति को हिप्पियाम् के साथ अत्यन्त परिचितता से बातें करते देखा। यह मानकर कि यह व्यक्ति हमारे षड्यंत्र का भंडाफोड़ कर रहा है, तथा पकड़े जाने के पूर्व ही कुछ कर डालने की इच्छा करते हुए, वे अपने अन्य साथियों के (आने के) पूर्व ही झपट पड़े, और इस चेष्टा में वे लेओकोरेयन् के समीप उत्सव-यात्रा के प्रयाण का प्रबन्ध करते हुए हिप्पार्कस की हत्या कर सके, पर इस प्रकार समग्र षड्यंत्र-योजना का उन्होंने विनाश कर डाला। दोनों नेताओं में से हार्मोदियस तो भालेधारी अंगरक्षकों के द्वारा उसी ठौर मार दिया गया, जब कि अरिस्तॉगैतान्' पकड़ लिया गया, एवं दीर्घ-काल तक यंत्रणाएँ भोगकर पीछे से मृत्यु को प्राप्त हुआ। शारीरिक यंत्रणा दिये जाने पर उसने ऐसे बहुत से मनुष्यों पर दोषारोपण किया जिनका जन्म अत्यन्त विख्यात कुलों में हुआ था तथा जो तानाशाहों के मित्र थे। तत्काल तो (सरकार को) षड्यंत्र के रहस्य का कुछ भी पता नहीं लग सका; क्योंकि इस विषय में जो यह बात कही जाती है कि हिप्पियाम् ने सब प्रयाणोत्सव में भाग लेनेवालों के हथियार धरवा दिये और तदुपरान्त उन लोगों का पता लगाया जो छिपी हुई कटारें धारण किये हुए थे, सो यह बात सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय प्रयाणोत्सव में लोग हथियार लेकर नहीं चलते थे; इस प्रकार की पद्धति को जनतंत्र शासन ने पीछे से प्रचलित (प्रस्थापित) किया था। जैसा कि जनतंत्रात्मक दल का कहना है, अरिस्तोगैतान् ने तानाशाहों के मित्रों पर इस लिये जान-बूझकर दोषारोपण किया था कि जिससे वे अपावन कृत्य कर डालें तथा ऐसे मनुष्यों को मारकर, जो कि निरपराध थे और उनके अपने मित्र भी, स्वयं ही अपने को निर्बल बना लें। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि उसने झूठी बात नहीं बनाई, प्रत्युत षड्यंत्र में वास्तव में भाग लेने वालों का ही भंडाफोड़ किया। अन्त में जब सब प्रकार के उपाय करके भी वह मृत्यु के द्वारा छुटकारा नहीं पा सका तो उसने और बहुत से अन्य लोगों के विषय में सूचना देने का वचन दिया, तथा अपने वचन को परिपुष्ट करने के लिये हिप्पियाम् को अपना दाहिना हाथ देने को मना लिया, तथा ज्यों ही उसको उसका दक्षिण-हस्त प्राप्त हुआ त्यों ही हिप्पियाम् के मुख पर ही अपने भाई के मारनेवाले को दक्षिण हस्त देने के लिये गाली सुनाई। बात यहाँ तक बढ़ी कि हिप्पियास् आवेश के कारण अपने रोष पर संयम न रख सका और उसने खड्ग खींच उसका काम तमाम कर दिया।

१९

(तानाशाहों के शासन का ह्रास। अल्क्मेयोनीदियों के नेतृत्व में निर्वासितों के आक्रमण; अनेकों असफलताएँ, पर डेल्फ़ी की भविष्यवाणी और स्पार्टावालों की सहायता से अन्त में सफलता। पिसिस्त्रातस् के वंशधरों का देश-निकाला।

इस घटना के पश्चात् तानाशाही शासन अत्यधिक कठोर और कर्कश हो गया। भाई की मृत्यु के प्रतिशोध, बहुत से मनुष्यों के मृत्युदण्ड एवं निर्वासन के परिणामस्वरूप, हिप्पियास का जीवन विश्वासशून्य और कटु हो उठा। भाई की मृत्यु के लगभग चार वर्ष पश्चात्, नगर में अपनी स्थिति बिगड़ी हुई देखकर उसने मूनिखिया की किलेबन्दी आरंभ की, जिससे वह वहाँ अपने को (सुदृढ़ता से) स्थापित कर सके। पर जब वह इस काम में लगा हुआ था, तब स्पार्टा की जनता के देववाणी द्वारा तानाशाहों को उखाड़ फेंकने के लिये लगातार भड़काये जाने के कारण वह (हिप्पियास्) स्पार्टा के राजा क्लेयोमेनस द्वारा खदेड़ दिया गया। देववाणी निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त की गई थी। अथेन्स से भागे हुए निर्वासित व्यक्तियों ने अल्क्मेओनीदी कुल के वंशधरों के नेतृत्व में अथेंस लौटने का प्रयत्न किया, पर वे केवल अपनी ही शक्ति के सहारे लौटने में सफल नहीं हो सके, प्रत्युत बारंबार अपने प्रयत्न में असफल ही रहे। उनके अन्य अनेकों असफल कार्यों में एक यह भी था कि उन्होंने (अत्तिका प्रदेश में) पार्नास् पर्वत के ऊपर लिप्सीद्रियन नामक स्थान पर किलेबन्दी की, जहाँ कि नगर से कुछ अन्य उनके पक्ष के लोग उनसे आकर मिल गये; पर यहाँ पर भी वे तानाशाहों के द्वारा घेरे जाकर परास्त कर दिये गये; जिससे इस दुर्घटना के पश्चात् भविष्य में (निम्नलिखित) पंक्तियाँ सार्वजनिक आपानक-गीत बन गई :––

हाय, लीप्सीद्रियन् प्रवंचक निकले तुम अति भारी,
कैसे कैसे वीर युद्ध में बलि बन गये तुम्हारी।
भले सभी थे और उच्च कुल में जनमे थे सारे,
दिखला दिया समय पर कैसे उत्तम जनक हमारे॥

अन्य सभी उपायों में असफल रह कर, (अन्त में) उन्होंने डैल्फ़ी के मन्दिर के पुनर्निर्माण का ठेका लिया, जिससे उनको पुष्कल द्रव्य प्राप्त हो गया और इसके द्वारा उन्होंने लाकैदायमॉन (स्पार्टा) की सहायता प्राप्त कर ली। इन दिनों जो भी स्पार्टा निवासी डेल्फ़ी के मन्दिर में देववाणी को पूछने आते थे उनको वहाँ की पुजारिन अथेन्स

स्वतंत्र करने का आदेश करती थी, यहाँ तक कि अन्त में वह उनको इस कार्य के लिये प्रेरित करने में कृतकार्य हो गयी, यद्यपि स्पार्टानिवासियों और पिसिस्त्रातस् के कुल में (घनिष्ठ) आतिथ्य का संबंध चला आ रहा था। तथापि स्पार्टावालों का युद्ध करने का निर्णय, पिसिस्त्रातस् के कुल और आर्गसवालों की मित्रता के कारण भी कुछ कम मात्रा में घटित नहीं हुआ। पहले तो उन्होंने अंखीमोलस को समुद्र के मार्ग से सेना के सहित भेजा। पर थेसाली के किनियास के १००० घुड़सवारों की सेना के साथ पिसिस्त्रातस् के पुत्रों की सहायता के लिये आ जाने के कारण अंखीमोलस पराजित हो गया और मार डाला गया। इस विनाशपूर्ण दुर्घटना से क्रुद्ध होकर स्पार्टावालों ने अपने राजा क्लेयोमेनीस को एक बड़ी सेना के सहित स्थल मार्ग से अथेन्स पर अभियान के लिये भेजा; उसने, अत्तिका प्रदेश में अपने प्रयाण को रोकनेवाली थेसाली की अश्वारोही सेना को पराजित करने के उपरान्त, हिप्पियास को पैलार्गिक कहलानेवाली दीवार में अवरुद्ध कर दिया एवं अथेन्सवासियों की सहायता से उस पर घेरा डाल दिया। जब कि वह उनका मार्ग अवरुद्ध किये पड़ा था तब ऐसा हुआ कि पिसिस्त्रातस् के पौत्र छिपकर भागने का प्रयत्न करते हुए पकड़ लिये गये। इस पर तानाशाहों ने अपने पुत्रों की सुरक्षा की शर्त्त पर सन्धि करना स्वीकार कर लिया, उनको अपनी सम्पत्ति को हटाने के लिये पाँच दिन का समय दिया गया और अक्रोपोलिस को उन्होंने अथेंसवासियों को सौंप दिया। यह घटना हार्पाक्तिदस्[१] के आर्खनकाल में घटित हुई, जब कि उनको अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शासन करते (तानाशाही करते) सत्तरह वर्ष, अथवा उनके पिता के शासनकाल को मिलाकर ४९ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

२०

(क्लैस्थेनीस और इसागोरस का द्वन्द्व; क्लेओमेनीस तथा स्पार्टावालों के द्वारा इसागोरस की सहायता; स्पार्टावालों का निकाला जाना; जनता की विजय।)

तानाशाही की समाप्ति के उपरान्त इसागोरस और क्लैस्थेनीस में कलह आरंभ हो गयी; इसागोरस तीसान्दर का पुत्र एवं तानाशाहों का मित्र था एवं क्लैस्थेनीस अल्क्मेओनीदी कुल में उत्पन्न हुआ था। राजनीतिक मित्रमंडलियों[१] में पराजित हो जाने पर क्लैस्थेनीस ने साधारण जनसमुदाय को मतदान का अधिकार प्रदान करके उनका राजनीति क्षेत्र में प्रवेश करा दिया। इस पर इसागोरस ने अपने को शक्ति में हीन पाकर क्लेओमेनीस को, जिसके साथ उसका आतिथ्य का नाता था, पुनः अथेन्स आने का निमंत्रण दिया, और उससे 'कालुष्य' को[१] निकाल बाहर करने के लिये अनुनय

किया, क्योंकि अल्क्मेओनीदी कुल के लोग कलुषित और कलंकित माने जाते थे। ऐसी स्थिति में क्लैस्थेनीस देश छोड़कर चला गया, एवं क्लेओमेनीस ने एक छोटे से दल के साथ अत्तिका में प्रवेश करके सात सौ परिवारों को (कलुषित होने के कारण) निर्वासित कर दिया। इस कार्य को पूरा करके उसने परिषद् के उच्छेदन एवं इसागोरस एवं उसके पक्ष के तीन सौ व्यक्तियों को नगर में सर्वोपरि शक्ति के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया। परिषद् ने इसका विरोध किया, सारी जनता एकत्रित हो गयी तथा क्लेओमेनीस्, इसागोरस एवं उनके अनुयायियों को अक्रोपोलिस में शरण लेनी पड़ी। जनता दो दिन तक यहाँ घेरा डालकर बैठ गयी; तीसरे दिन उन्होंने क्लेओमेनीस और उसके सब साथियों को चले जाने देना स्वीकार कर लिया, एवं क्लेस्थेनीस एवं अन्य निर्वासितों को अथेन्स आने के लिये आह्वान किया। जब इस प्रकार जनता ने सब मामलों पर अधिकार प्राप्त कर लिया तब क्लैस्थेनीस उनका प्रमुख एवं सर्वप्रिय नेता बना। (यह उचित ही था); क्योंकि अल्क्मेओनीदी कुल के लोग स्यात् तानाशाहों के खदेड़े जाने में सब से बड़े कारण थे एवं, उनके शासन-काल के अधिकांश भाग में वे उनसे लगातार लड़ते रहे थे। पर अल्क्मेओनीदियों से भी पहले एक केदौन नामक व्यक्ति ने तानाशाहों पर वार किया था; इसी कारण उसके सम्मान में भी निम्नलिखित आपानक-गीत प्रचलित हो गया––

सम्मान में केदौन के भरना चपक भूलो नहीं।
यदि वीरजन-सम्मान में मदिरानिषेचन हो सही॥

२१

(क्लैस्थेनीस के सुधार। दश गण गोत्रों की स्थापना। पाँच सौ सदस्यों की परिषद्। तीस समूहों में विभाजित मुहल्लों में जनता का बाँटा जाना।)

उपर्युक्त कारणों से जनता का क्लैस्थेनीस में विश्वास था। अतएव, क्योंकि अब वह सर्वजनप्रिय नेता था, उसने तानाशाहों के पलायन के तीन वर्ष पश्चात् इसागोरस के आर्खन काल में, सबसे प्रथम यह काम किया कि समग्र जनता को पूर्वकालीन चार गणों की अपेक्षा दस गणों में विभाजित कर दिया, जिससे कि विभिन्न गणों के सदस्य परस्पर मिल-जुल सकें और पूर्वापेक्षा अधिक संख्या में जनता को मतदान का अधिकार मिल जाय। इसी से जो लोग जातिगोत्र इत्यादि छानबीन करना चाहते थे उनके प्रति कही जानेवाली यह लोकोक्ति प्रचलित हुई कि (अब) "जातिगोत्र मत देखो।" इसके उपरान्त उसने परिषद् की सदस्यसंख्या ५०० स्थिर की, जो पहले ४०० थी,

जिसमें अब प्रत्येक गण में से ५० सदस्य लिये जाते थे, जब कि पहले प्रत्येक गण में से १०० लिये जाते थे। उसने गणों को १२ भागों में इसलिये विभाजित करके व्यवस्थित नहीं किया कि जिससे उसको पहले से ही विद्यमान "तीसी" विभाजन का उपयोग न करना पड़े; क्योंकि पुराने चार गण १२ "तीसियों" में विभक्त थे ही, अतएव यदि वह गणों का पुनर्विभाजन १२ भागों में करता तो उसका जातियों के पुनर्विभाजन का उद्देश्य सफल न होता। इसके अतिरिक्त उसने समस्त प्रदेश को ३० मुहल्लों[२] के समूहों में बाँट दिया, इनमें से दस समूह नगर में थे, दस समुद्रतट के आस पास थे और दस अन्तर्वर्ती प्रदेश में थे। इनको उसने "तीसी" नाम दिया; तथा इनमें से तीन तीन समूहों को शलाकाग्रहण द्वारा उसने इस प्रकार दसों गणों के लिये निर्धारित कर दिया जिससे प्रत्येक गण को तीनों स्थानों म एक एक समूह मिल जाये। प्रत्येक मुहल्ले में निवास करनेवाले लोगों को उसने मुहल्लेवाले कहा; ऐसा उसने इसलिये किया कि जिससे नये नागरिक[३] अपने नाम इत्यादि के वर्णन में पैतृक नाम (गोत्र नाम) का उद्घाटन न करें, प्रत्युत (सरकारी ढंग में) उनका उल्लेख मुहल्ले के नाम से हो। इसी कारण अथेन्सनिवासी परस्पर अपनी चर्चा मुहल्लों के नामों के अनुसार करते है। उसने मुहल्ले के मुखिया (दीमार्ख) का पद भी स्थापित किया, जिसका कर्तव्य वही था जो पहले से चले आते नौक्रारी का था; पुराकालीन नौक्रारी का स्थान अब मुहल्ले (दीये) को दे दिया गया। मुहल्लों का नामकरण उसने (नये सिरे से) किया क्योंकि सब नामों और स्थानों में संवादिता नहीं रह गयी थी; उसने कुछ का नाम तो स्थान के नाम पर निर्धारित किया और कुछ का नाम उनको बसानेवाले व्यक्तियों के नाम पर रक्खा। दूसरी ओर उसने प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुल, जाति-बिरादरी एवं धार्मिक अनुष्ठानों को पुरानी पैतृक विधि के अनुसार बनाये रखने की स्वतंत्रता दी। इन दस गणों को जो नाम दिये गये वे वह दस नाम थे जिनको पीथिया (डैल्फ़ी की पुजारिन) ने सौ चुने हुए राष्ट्रीय वीरपुरुषों के नामों में से नियुक्त किया था।

२२

(राजनीतिक वहिष्कार का नियम; इसका प्रयोग, नीतियों के सार्वजनिक नियंत्रण का विकास। माराथान का युद्ध, मारोनैया की खानों से धन की प्राप्ति तथा थैमिस्टोक्लीस की प्रेरणा से नौसेना का निर्माण। सालामिस की विजय।)

इन सुधारों के हो जाने से यह संविधान सोलॉन् के संविधान की अपेक्षा अधिक जनतंत्रात्मक हो गया। तानाशाही शासनकाल में उपयोग में न आने के कारण सोलॉन्

के नियम अस्पष्ट (धुँधले) हो उठे थे, क्लैस्थेनीस ने, जनसाधारण की अनुकूलता संपादित करने के लिये उनके स्थान पर नये नियम स्थापित किये। इन्हीं नियमों में एक वहिष्कार का नियम भी था। इस व्यवस्था की स्थापना के पाँच[1] वर्ष पश्चात् हैर्मोक्रेऑन् के राज्य (आर्खन-) काल में, प्रथम वार पंचशती परिपद् पर उस शपथ को ग्रहण करना लागू किया गया, जो उसके सदस्य आज तक करते हैं। इसके पश्चात् उन्होंने गणों में से सेनापतियों का चुनाव करना आरंभ कर दिया, प्रत्येक गण में से एक सेनापति चुना जाता था तथा समग्र सेनाओं का अध्यक्ष सर्वोपरि होता था, उसको पॉलीमार्ख कहा जाता था। इसके १२ वर्ष पीछे अथेन्सवासियों ने माराथौन्[2] के युद्ध में विजय प्राप्त की, यह घटना फाएनिप्पस के आर्खनकाल में घटित हुई; विजय के उपरान्त दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर, जब जनता में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी तो उन्होंने पहली वार वहिष्कार संवंधी नियम का प्रयोग किया। यह कानून मूलतः तो उच्च पदों पर आरूढ़ व्यक्तियों के विरुद्ध एक पूर्वाविधान के रूप में वनाया गया था, क्योंकि पिसिस्त्रातस् ने अपने लोकनायक एवं सेनापतिपद की सुविधा द्वारा ही अपने को तानाशाह (अधि-नायक) वना लिया था। सवसे प्रथम व्यक्ति जो वहिष्कृत किया गया उसी (पिसि-स्त्रातस्) का संवंधी, कौलीटस् मुहल्ले का रहनेवाला खार्मस का पुत्र हिप्पार्कस् था; विशेपकर इसी व्यक्ति के निमित्त क्लैस्थेनीस ने यह नियम वनाया था, क्योंकि वह इसी को निकाल वाहर करना चाहता था। फिर भी, अथेन्स-वासियों ने, प्रजातंत्र की सामान्य मृदुलता का व्यवहार करते हुए, तानाशाहों के उन सव वंधु-वांधवों को (जिन्होंने उनके दुष्कर्मों में कोई भाग नहीं लिया था) नगर में निवास करने दिया था; और हिप्पार्कस इनमें प्रमुख व्यक्ति था और इनका नेता भी था। ठीक इसके दूसरे वर्ष तैलैसिनस् के आर्खनकाल में जनता ने तानाशाही प्रारंभ होने के पश्चात् प्रथम वार मुहल्लों में से छाँटे हुए पाँच सौ पदान्वेपियों में से, एक एक गण में से चुनकर शलाकाग्रहण द्वारा नौ आर्खनों को निर्वाचित किया, इससे पहले के आर्खन मतदान द्वारा चुने जाते थे; एवं इसी वर्ष अलौपेकी मुहल्ले में रहनेवाला हिप्पोक्रातीस् का पुत्र मेगाक्लीस वहिष्कृत किया गया। इस प्रकार तीन वर्ष तक उन्होंने तानाशाहों के मित्रों का वहिष्कार करना चालू रक्खा, जिनके निमित्त यह नियम वनाया गया; इसके पश्चात् चौथे वर्ष में उन्होंने अन्य लोगों को भी निकालना आरम्भ कर दिया; जो भी व्यक्ति सामान्य से कुछ अधिक शक्तिशाली प्रतीत होता वही निकाल दिया जाता। जो लोग तानाशाहों से कुछ संवंध न रखते हुए भी निर्वासित कर दिये गये थे उनमें सवसे पहला व्यक्ति अरिफ्रानस् का पुत्र क्षंतिप्पस् था। इसके तीन वर्ष पीछे निकोद्दीमस्

के आर्खनकाल में मारोनैइया स्थान पर खानों का पता चला और इन खानों के काम से सरकार को १०० तालान्त[1] का लाभ हुआ। कुछ लोगों ने जनता में इस धन को सब मनुष्यों में बाँट देने की सलाह दी, पर थेमिस्तोक्लीस ने उनको ऐसा करने से रोका। उसने यह तो नहीं कहा कि धन किस कार्य पर व्यय किया जायगा, पर यह आदेश किया कि अथेन्स के सबसे अधिक धनवान सौ व्यक्तियों में से प्रत्येक को एक एक तालान्त दे दिया जाय, और तब यदि व्यय करने का ढंग जनता को अच्छा लगे तो यह व्यय राष्ट्र के खाते में सम्मिलित कर लिया जाय, और यदि जनता को रुचिकर न हो तो सरकार उन लोगों से इस धन को लौटा ले। इन शर्तों पर धन को लेकर उसने उसके द्वारा सौ धनवानों में से प्रत्येक से एक एक करके त्रिरेमी[1] नाम के सौ युद्धपोत बनवाये; इन्हीं युद्धपोतों की सहायता से अथेन्सवासियों ने बर्बर लोगों से सालामिस्[1] के स्थान पर सामुद्रिक युद्ध लड़ा। लगभग इसी विकट समय में लीसीमाखस का पुत्र अरिस्तीदीस निर्वासित किया गया। तथापि तीन वर्ष पीछे ह्प्सीखिदीस् के आर्खन-काल में, खर्यक्षस की सेना के अभियान के समय यह सभी निर्वासित व्यक्ति फिर से नगर में बुला लिये गये; तथा भविष्य में निर्वासित जनों के लिये यह नियम बना दिया गया कि यदि वे सर्वदा के लिये अपना नागरिक अधिकार न खोना चाहें तो उनको गेराइस्तॉस[1] और स्किल्लाइयन् के मध्य में रहना होगा।

२३

(मीदिक युद्ध में कार्यक्षमता के कारण अरियोपागस की संसद का पुनरुत्थान; इसका सुशासन। अरिस्तीदीस और थेमिस्टोक्लीस। इयोनिया के साथ संघात।)

प्रजातंत्र के साथ शनैः शनैः समृद्धि को प्राप्त होते हुए नगर इस समय इतनी उन्नति कर चुका था; पर मीदिक[1] युद्ध के उपरान्त अरियोपागस् की संसद् पुनः एक बार शक्तिशाली हो उठी और उसने पुनः नगर पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। पर उसने यह सर्वोपरि नेतृत्व किसी प्रस्तावित आदेशमात्र से प्राप्त नहीं किया किन्तु इसलिये किया क्योंकि वह सालामिस् के युद्ध के (सफलतापूर्वक) संचालन में कारण बनी। जब कि सेनापतियों ने इस विकट परिस्थिति का सामना करने की उलझन में पड़कर कान्दिशीक होकर यह घोषणा करवा दी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा स्वयं करनी चाहिये, तब संसद ने धन का प्रबन्ध करके प्रत्येक नाविक को आठ द्राख्मा देकर उनको युद्धपोतों में भेजा। इन्हीं कारणों से जनता उसकी प्रतिष्ठा के समक्ष

नतमस्तक हुई; एवं इस (संकट के) समय में अथेन्स का शासन भी बहुत अच्छा था। अथेन्सवासी इस समय युद्धसंचालन में संलग्न थे एवं ग्रीक जाति में उनकी ख्याति बहुत अधिक थी, जिससे कि लाकैदायमॉन् (स्पार्टा-) वालों के विरोध करने पर भी सामुद्रिक सेना का नेतृत्व उनको ही प्राप्त हुआ। लीसीमाख़स् का पुत्र अरिस्तीदीस् और नेऑक्लीस् का पुत्र थेमिस्टोक्लीस इस समय अथेन्स के जननायक थे; इनमें थेमिस्टोक्लीस युद्ध-कार्य में संलग्न प्रतीत होता था और अरिस्तीदीस् एक अत्यन्त निपुण राजनीतिज्ञ एवं सर्वाधिक न्यायपरायण व्यक्ति होने के नाते विख्यात था। इसी कारण सामान्यतया इनमें एक (थेमिस्टोक्लीस) सेनापति के कार्य में तथा दूसरा (अरिस्तीदीस्) राजनीतिक परामर्शदाता के कार्य में नियुक्त किया जाता था। यद्यपि राजनीति में उनमें परस्पर मतभेद था तथापि नगर की किलेबन्दी का जीर्णोद्धार दोनों ने मिलकर किया; इयोनियावासियों[१] के लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) के संघ से अलग होने के समय अरिस्तीदीस् ही वह व्यक्ति था जिसने, पौसानियास् द्वारा हुई स्पार्टावालों की बदनामी पर दृष्टि रखते हुए अपने नगर की नीति का सफल नेतृत्व किया। इसी लिये, सालामिस् के सामुद्रिक युद्ध के तीन वर्ष पश्चात् तिमॉस्थैनीस के शासनकाल (आर्खनकाल) में विविध संघातभुक्त नगरों के कर का प्रथम बार निर्णय करनेवाला भी वही था; तथा इयोनियावासियों के साथ शत्रुता और मित्रता की संधि के समय (अथेन्स की ओर से) शपथग्रहण करनेवाला भी वही था; कहते हैं कि इसी समय उन्होंने लोहे के पिंडों को समुद्र में डाला था।

२४

(अरिस्तीदीस और ग्रीक संघ। सरकार द्वारा पोषित अथेंस की जन-संख्या।)

इसके उपरान्त यह देखकर कि नगर का आत्मविश्वास बढ़ा हुआ है और धन भी बहुत इकट्ठा हो गया है, उस (अरिस्तीदीस्) ने अथेन्स की जनता को यह परामर्श दिया कि वह ग्रीकसंघ[१] का नेतृत्व हस्तगत कर ले, एवं देहाती स्थानों में रहना छोड़कर नगर में निवास करे। उसने बतलाया कि सभी मनुष्यों को नगर में जीविका प्राप्त हो सकेगी; कुछ सेना की सेवा से जीविका चला सकेंगे, कुछ चौकीदारी से, एवं कुछ सार्वजनिक कार्यों को करके; इस प्रकार संघ का नेतृत्व उनको प्राप्त हो जायगा। इस परामर्श को मानकर, जनता ने संघ पर पूर्णाधिपत्य प्राप्त कर लेने पर, खियौस् लैस्बौस् एवं सामौस् की जनता को छोड़ शेष सब सहयोगियों के प्रति प्रभुता का

व्यवहार करना आरंभ कर दिया। इन लोगों की स्वतंत्रता उन्होंने अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए बनी रहने दी, इनकी "नगर व्यवस्था" यथापूर्व अछूती रहने दी गयी, तथा जो कुछ प्रदेश उनके वशवर्ती था वह उनके ही पास छोड़ दिया गया। जैसे अरिस्तीदीस ने सुझाया था उन्हीं उपायों से अथेन्स[1] के जनसाधारण को प्रचुर जीविका के साधन भी उपलब्ध हुए। कर, चुंगी एवं युद्ध कर से प्राप्त होने-वाले धन से बीस हजार से भी अधिक मनुष्यों का भरण-पोषण होता था। न्यायाधि-करण के सभ्य (जूरी) ६ हजार थे, धनुर्धारियों की संख्या १६०० थी, अश्वारोही योद्धा १२०० थे, पाँच सौ संख्या थी परिषद् के सदस्यों की, पोतपत्तन के चौकीदार भी ५०० थे, इनके अतिरिक्त ५० संरक्षक अक्रोपोलिस के थे। लगभग ७०० शासनाधिकारी आन्तरिक प्रदेश में थे और ७०० ही बाहर के लिए भी। फिर, जब वे आगे चलकर युद्ध करने के लिये गये तो इन (उपर्युक्त सैनिकों) के अतिरिक्त २५०० भारी कवचधारी सैनिक एवं बीस संरक्षक-पोत, तथा कुछ अन्य पोत जो कि कर एकत्रित करते थे (तथा जिनके शलाका-निर्वाचित नाविकों की संख्या २००० थी) और बढ़ाये गये। इसके अतिरिक्त पृतानियन् में रहनेवाले चौकीदार, अनाथ (बच्चे इत्यादि) एवं बंदीगृह के अधिकारी (जेलर) भी थे; क्योंकि इन सबका पालन-पोषण राष्ट्र (सरकार) की ओर से ही होता था।

२५

(अरियोपागस की शक्ति का ह्रास। ऐफियाल्तीस और थैमिस्तोक्लीस के कार्य[1])

मनुष्यों के लिये जीविका इस प्रकार उपार्जित होती थी। अरियोपागस का राजनीतिक प्राधान्य (यद्यपि शनैः शनैः घटता जा रहा था) तो भी मीदिक युद्ध के सत्तरह वर्ष पश्चात् तक बना रहा। जनता की शक्ति बढ़ जाने पर, सोफोनिदीस् के पुत्र एफ़ियाल्तीस ने, (जो उत्कोच ग्रहण न करनेवाला, एवं राजनीति के विषय में न्यायपरायण प्रसिद्ध था), परिषद् पर आक्रमण किया।[2] प्रथम तो उसने अरियो-पागस की परिषद् के कई एक सदस्यों को, उन पर उनके शासन-प्रबन्ध के विषय में अभि-योग चलाकर, विनष्ट कर दिया। तत्पश्चात् कोनोनस्[3] के आर्खन काल में उसने इस परिषद् के द्वारा उपलब्ध किये हुए वे सब विशेषाधिकार अपहरण कर लिये जिनके कारण इसको संविधान की संरक्षकता प्राप्त थी, एवं उनमें कुछ तो उसने पंचशती परिषद् को दे दिये और कुछ जन-संसद् और न्यायालयों को। इस प्रसंग में, थेमिस्टो-क्लीस (जो स्वयं अरियोपागस् का सदस्य था, परन्तु जिस पर मीदिकों के साथ मिले

होने का अभियोग चलाया जानेवाला था) उसका सहायक बन गया। (अपने स्वार्थवश) थेमिस्टोक्लीस की यह इच्छा थी कि अरियोपागस की परिषद् उच्छिन्न हो जाय, अतएव उसने (एक ओर) तो एफियाल्तीस को यह बतलाया कि यह परिषद् तुम्हें पकड़ना चाहती है, (दूसरी ओर उसी समय) अरियोपागस के सदस्यों को यह सूचित किया कि मैं आप लोगों को कुछ ऐसे लोगों को विज्ञापित करूँगा जो संविधान को उलटने का षड्यंत्र रच रहे हैं। इसके पश्चात् वह अरियोपागस के चुने हुए प्रतिनिधियों को वहाँ ले गया जहाँ ऐफियाल्तीस रहता था, जिससे कि वहाँ एकत्रित षडयंत्रकारियों को उन्हें दिखला सके, तथा वहाँ पहुँचकर वह उनके साथ बड़ी एकाग्रता के साथ बातचीत करने लगा। यह दृश्य देखकर ऐफियाल्तीस भयभीत हो गया तथा उसने शरणार्थी की भूषा में वेदी की शरण ली। इस घटना से सभी स्तम्भित हुए, और जब शीघ्र ही पंचशती परिषद् की बैठक हुई तो उसके समक्ष ऐफियाल्तीस और थेमिस्टो-क्लीस दोनों ने अरियोपागस की भर्त्सना की। जन-संसद् के समक्ष भी उन्होंने इस (भर्त्सना) की इसी प्रकार पुनरावृत्ति की, यहाँ तक कि अन्त में अरियोपागस को उसकी शक्ति से वंचित करने में सफल हो गये। यह सब हुए अधिक समय नहीं बीता था कि जब ऐफियाल्तीस तानाग्रानिवासी अरिस्तोदिकस् के द्वारा वंचिका देकर मार डाला गया।

२६

(लोकनायकों की प्रतिस्पर्धा के कारण शासनप्रबंध में शिथिलता का बढ़ना। उदार एवं कुलीन नेताओं की अक्षमता। हलवाही लोगों को आर्खन पद पर चुने जाने का अधिकार। स्थानीय न्यायाधीशों के पद की स्थापना। नागरिक माता-पिता की सन्तान के लिये मतदान का अधिकार।)

इस प्रकार, अरियोपागस की परिषद् राष्ट्र की अध्यक्षता से वंचित कर दी गई। इस घटना (अथवा क्रान्ति) के उपरान्त लोकनायकों[1] की जनता को प्रसन्न रखने की उत्सुकता के कारण राष्ट्र की व्यवस्था अधिकाधिक शिथिल होती गयी। इस समय ऐसा संयोग हुआ कि विवेकवादी (अथवा अनतिवादी) दल का कोई यथार्थ नेता नहीं था; मिल्तियादीस का पुत्र किमोन्[2] उनका नेतृत्व करता था, पर वह अपेक्षाकृत नवयुवक था और उसने राजनीतिक जीवन में बहुत देर से प्रवेश किया था; और इसी से जनसाधारण को युद्ध के कारण घोर विनाश का सामना करना पड़ रहा था। उस समय युद्धकार्य के लिये सैनिकों का चुनाव नागरिकों की सूचियों में से होता था, और

सेनापति लोग युद्ध के अनुभव से रहित होते थे, एवं उनका पद उनके कुल की प्रतिष्ठा पर (ख्याति पर) आश्रित होता था, अतएव सर्वदा ऐसा होता था कि एक एक अभियान में लगभग २ या ३ सहस्र तक सैनिक नष्ट हो जाते थे; इससे परिणाम यह हुआ कि निम्न और उच्च दोनों ही वर्गों के योग्य(तम) व्यक्तियों का क्षय हो गया। वस तब तो सभी शासन-व्यवस्थाओं में कानूनों को उतना ध्यान नहीं दिया जाने लगा जितना पहले दिया जाता था। नौ आर्खनों के चुनाव की पद्धति में इसके अतिरिक्त और कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ कि ऐफियाल्तीस की मृत्यु के ६ वर्ष पश्चात् यह निश्चय किया गया कि आर्खन पद के लिये जो व्यक्ति शलाकाग्रहण के लिये प्रस्तुत किये जायँ वे उच्चतर वर्गों के साथ ही हलवाही लोगों में से भी चुने जा सकते हैं। इस वर्ग में से चुना जानेवाला प्रथम आर्खन म्नीसिथैदीस था। इससे पहले सभी आर्खन अश्वारोही और पंचशती वर्ग में से चुने जाते थे, तथा हलवाही[3] लोग, यदि नियमों की अवहेलना की उपेक्षा न की जाती तो सामान्य शासक-पदों तक ही सीमित रहते थे। इसके पाँच वर्ष उपरान्त, लीसिक्रातीस्[4] के आर्खन-काल में तथाकथित तीस "स्थानीय" न्यायाधीशों का पद पुनः स्थापित किया गया। इसके तीन वर्ष पश्चात्, अन्तिदोतस् के आर्खन-काल में, नागरिकों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो जाने के कारण, पैरीक्लीस के प्रस्ताव पर यह निर्णय किया गया कि किसी ऐसे व्यक्ति को राजनीतिक मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिये जिसके माता-पिता दोनों ही नागरिक न हों।

२७

(पैरीक्लीस का उत्थान। पैलोपॉनीशियन युद्ध का छिड़ना। न्यायालय की चाकरी के वेतन का परिणाम अन्त में अनाचार और भ्रष्टाचार होना।)

इसके पश्चात् पैरीक्लीस एक जनप्रिय लोकनायक के रूप में आगे आया। वह जब युवा ही था तभी उसने किमौन् के सेनानायक-काल के हिसाब की पड़ताल के आधार पर उसपर अभियोग चलाकर सुख्याति प्राप्त कर ली थी। उसके समय में संविधान और भी अधिक जनतंत्रात्मक हो गया। उसने अरियोपागस के कुछ विशेषाधिकारों का अपहरण कर लिया; पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उसने किया वह था राष्ट्र की नीति को नाविकशक्ति की प्राप्ति की दिशा में मोड़ना; इसका फल यह हुआ कि साधारण जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न होने से उसने शासन-व्यवस्था को अधिकाधिक अपने अनुकूल बना लिया और शासन-सूत्र अपनी मुट्ठी में कर लिया। सालामिस् के जलयुद्ध के ४९ वर्ष पश्चात् पीथोदोरस[1] के आर्खन-काल में पैलोपोनीशियन् युद्ध आरंभ हो गया। इस युद्धकाल में जनता नगर में अवरुद्ध रही और सामरिक सेवा के फल-स्वरूप

जीविका उपार्जित करने की अभ्यस्त हो गई। अतः कुछ स्वेच्छा से और कुछ अनिच्छा से जनता शासन-व्यवस्था को अपने हाथ में लेने के लिये कृतसंकल्प हो गई। न्यायालय में की गई सेवा के लिये वेतन की प्रथा को आरंभ करनेवाला प्रथम व्यक्ति पैरीक्लीस ही था। ऐसा उसने इसलिए किया कि इस प्रकार किमौन् की सम्पन्नता और उदारता के मुकाबले में जनता की अनुकूलता प्राप्त कर सके। क्योंकि किमौन् की निजी सम्पत्ति तानाशाहों की सी थी, अतएव वह प्रथम तो सार्वजनिक सेवा-अर्चा बड़े ठाटबाट से करता और फिर अपने मुहल्ले के बहुत से लोगों का भरण-पोषण भी करता था। लाकियादे मुहल्ले का जो भी मनुष्य चाहता, प्रतिदन किमौन के घर जा सकता था और वहाँ से समुपयुक्त मात्रा में (भोजनार्थ) सामग्री पा सकता था; फिर दूसरी ओर उसकी सारी भूमि बाड़ों से सुरक्षित नहीं थी; अतएव जो चाहता वह उसके वृक्षों के फल भी ले जाता था। पैरीक्लीस की निजी सम्पत्ति इस प्रकार की ऐश्वर्यशाली उदारता की तुलना में कहीं अपर्याप्त थी, अतएव उसने ओइथा के दामोनिदीस के परामर्श को मान लिया, जो यह था कि क्योंकि तुम्हारी निजी संपत्ति अपेक्षाकृत कम है अतएव तुम जनता को उसी की सम्पत्ति में से दान दो। (इस दामोनिदीस के विषय में ऐसा (कहा जाता था) ख्याल किया जाता था कि वह पैरीक्लीस को बहुत से कार्यों में उत्तेजित किया करता था एवं इसी लिये आगे चलकर उसको निर्वासित कर दिया गया।) इस प्रकार पैरीक्लीस ने न्यायमंडल (जूरी) के लिये वेतन देने की प्रथा चालू की। कुछ आलोचक उस पर यह आरोप लगाते हैं कि उसने इस प्रथा द्वारा न्यायालयों के कार्य को घटिया कर दिया, क्योंकि (वेतन के लोभ से) जो लोग सर्वदा अपने को जूरर चुनवाने के लिये आगे आते थे वे अच्छी साम्पत्तिक स्थिति की अपेक्षा सामान्य व्यक्ति ही अधिक होते थे। इसके अतिरिक्त इस समय के उपरान्त उत्कोच का भी सूत्रपात हुआ, तथा प्रथम व्यक्ति जिसने इस दिशा में पथप्रदर्शन किया अनीतस्[१] था और उसने पीलस में सेनापतित्व करने के उपरान्त ऐसा किया। पीलस् की हार के कारण कुछ लोगों ने उसके विरुद्ध अभियोग चलाया था, एवं वह जूरियों को उत्कोच देकर साफ छूट गया।

२८

(पैरीक्लीस् की मृत्यु के पश्चात् लोकनायकत्व की वृद्धि। सौलॉन् के समय से लेकर राजनीतिक दलों की स्थिति का सिंहावलोकन। जननायकों का नैतिक अपकर्ष। क्लैयॉन् और क्लैयाफ़ॉन और उनके पीछे आनेवाले जननायक। पश्चात् काल के श्रेष्ठ नेता, निकियास् थूकीदिदीस् और थेरामेनीस्।)

तो भी जब तक पैरीक्लीस[१] लोकनायक रहा, राष्ट्र-व्यवस्था-कार्य अपेक्षाकृत अच्छा

ही चलता रहा, पर पैरीक्लीस् का अवसान हो जाने पर स्थिति बहुत बिगड़ गयी। तब सबसे प्रथम बार जनता ने ऐसे नेता को वरण किया जो अच्छी स्थितिवाले मनुष्यों में (अथवा भलेमानसों में) सम्मानित नहीं था; जब कि इस समय से पहले ऐसे मनुष्य (जिनकी भले आदमियों में नेकनामी थी) सर्वदा जनता के नेताओं के रूप में उपलब्ध होते रहे थे। बिलकुल आरंभ में प्रथम लोकनायक[2] सोलॉन् था, दूसरा था पिसिस्त्रा-तस् और यह दोनों ही उच्चकुल में उत्पन्न हुए थे और अच्छी सामाजिक स्थितिवाले थे। तानाशाहों के विनाश के पश्चात् क्लैस्थेनीस् लोकनायक हुआ जो कि अल्क्मेओनीडी कुल में उत्पन्न हुआ था, एवं इसागोरस् के दल के निर्वासन के पश्चात् उसका कोई प्रतिपक्षी नहीं रह गया था। इसके उपरान्त सामान्य जनता का नेता क्सान्तिप्पस बना और गण्यमान्य (सम्पन्न) लोगों का नेता हुआ मिल्तियादीस्: एवं इनके पश्चात आए थेमिस्टोक्लीस् और अरिस्तैदीस्। इनके भी उपरान्त एफियाल्तीस् साधारण लोकवर्ग का नेता हुआ एवं मिल्तियादीस का पुत्र किमौन् सुसम्पन्न लोगों का। इसके बाद पैरीक्लीस जनता का नेता बना और थूकीदिदीस्[3] (जिसका किमौन् के परिवार से विवाह का नाता था) विरोधी दल का अग्रणी हुआ। पैरीक्लीस का अवसान हो जाने पर गण्यमान लोगोंकेनेताके रूपमें निकियास[4] प्रकट हुआ जो, आगे चलकर सिकेलिया (सिसली के युद्ध) में अन्त को प्राप्त हुआ और क्लियैनेतस का पुत्र क्लेयॉन्[5] लोकनायक बना। यह क्लेयॉन् ही अपनी विकट योजनाओं के कारण जनतंत्र (अथवा जनता) को सबसे अधिक पथभ्रष्ट करनेवाला प्रतीत होता है। वह सबसे प्रथम व्यक्ति था जिसने पीठिका[6] पर से जनता को भाषण देते समय अशोभन तुमुल नाद और अशिष्ट गालियों का प्रयोग किया तथा अपने प्रावारक को समेट कर कटि से बाँधा, जब कि अन्य सब व्यक्ति शिष्टता और व्यवस्था के साथ भाषण करते थे। इसके उपरान्त हाग्नौन् का पुत्र थैरामैनीस्[7] एक (अर्थात् संपन्न लोगों) के दल का नेता हुआ और वीणाकार क्लेयोफान् साधारण जनता का नायक बना; जिसने सबसे प्रथमबार दो ओबल[8] प्रतिदिन के हिसाब से नाटक देखने के लिये जनता को प्रदान करने की प्रथा चालू की। और कुछ समय तक ऐसा दान प्रति व्यक्ति को दिया जाता रहा। इसके पश्चात् पाइयानिया-निवासी कल्लिक्रातीस ने जनता के समक्ष दो ओबल के साथ एक और ओबल देने की प्रतिज्ञा करके उसको उसके स्थान से हटा दिया। आगे चलकर इन दोनों ही व्यक्तियों को मृत्युदण्ड दिया गया; क्योंकि चाहे जनसाधारण कुछ समय के लिये धोखा खा जाय पर अन्ततोगत्वा, जो कोई उनको अशोभन काम करने के लिये बहकाता है वे उनको घृणा करने लगते हैं। क्लेओफोन के पश्चात् सार्वजनिक नेतृत्व पर लगातार ऐसे लोगों का

अधिकार रहा जो बड़ी डींग मारते थे और बहुमत की रुचि को पूर्ण करना चाहते थे, पर यह सब कुछ करते हुए उनकी दृष्टि क्षणिक स्वार्थों की सिद्धि पर लगी रहती थी। आरंभिक काल के नेताओं के पश्चात्, अथेन्स के शासनव्यवस्थापकों में श्रेष्ठ व्यक्ति, निकियास, थूकीदिदीस् और थेरामेनीस् हुए प्रतीत होते हैं। और निकियास तथा थूकीदिदीस के विषय में लगभग सभी की सम्मति यह है कि वे केवल उच्च कुल में उत्पन्न हुए और उदारचरित व्यक्ति ही नहीं थे प्रत्युत कुशल राजनीतिज्ञ भी थे, एवं राजकार्य को पिता के सदृश भावना से चलाते थे। किन्तु थेरामेनीस के विषय में जनता का निर्णय भिन्न भिन्न प्रकार का है क्योंकि उसके समय में शासनव्यवस्था अत्यन्त गड़बड़ी में पड़ गयी थी। पर जो लोग यादृच्छिक विचार नहीं करते (प्रत्युत गंभीरता से सोचते हैं) वे निश्चयमेव उसको, जैसा कि उसके आलोचक झूठमूठ उसको सब प्रकार की व्यवस्था का लोप करनेवाला कहते हैं, वैसा नहीं मानते, प्रत्युत जब तक कोई भी व्यवस्था नियमों (कानूनों) का उल्लंघन न करे तब तक वे उसको प्रत्येक व्यवस्था का समर्थक मानते हैं। इससे यह सूचित होता है कि जैसा कि प्रत्येक भले नागरिक को होना चाहिये वह किसी भी प्रकार की व्यवस्था के आधिपत्य में रहने की योग्यता (क्षमता) रखता था, पर वह नियमशून्यता के साथ समझौता करने को प्रस्तुत न था, प्रत्युत उसको इससे घृणा थी।

२९

(प्रजातंत्र का पतन। 'चारसौ" का संविधान। इसकी स्थापना की विविध अवस्थाएँ; (१) ३० सदस्यों की समिति के द्वारा ५ सहस्र की संविधान सभा बनाने का सुझाव।)

जब तक युद्ध की व्यवस्था संतुलित ढंग से चलती रही तब तक तो अथेन्सवासियों ने प्रजातंत्र को सुरक्षित रक्खा; पर सिकैलिया में हुए भीषण विनाश[1] के उपरान्त, जब कि फारस के सम्राट् की मित्रता के कारण लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) की शक्ति बढ़ गयी तो अथेन्सवासियों ने विवश होकर जनतंत्र को बदल दिया और उसके स्थान पर चारसौ के संविधान को स्थापित किया। मतदान के पूर्व इस प्रस्ताव के पक्ष का समर्थन करते हुए मेलौवियस् ने भाषण किया था, प्रस्ताव की रूपरेखा अनाफ्लीस्तस के पीथोदोरस के द्वारा उपस्थित की गयी, पर वास्तविक युक्ति जिससे बहुमत इस प्रस्ताव को मानने के लिए प्रस्तुत किया जा सका, यह थी कि यदि अथेंस के संविधान को धनिक-

तंत्र अथवा अल्पजनतंत्र बना दिया जाय तो पारसीक सम्राट् अधिक संभवतया उसी (अथेन्स) के साथ संधि कर लेगा। पीथोदोरस के प्रस्ताव का आशय कुछ निम्नलिखित प्रकार का था। लोकपरिषद् जनरक्षासमिति के पहले से ही विद्यमान १० सदस्यों के साथ बीस और ऐसे मनुष्य को चुनेगी जो ४० वर्ष से अधिक अवस्था के होंगे, और यह (३० सदस्य) यह शपथ लेकर कि हम ऐसे नियम रखने की भरसक चेष्टा करेंगे जो हमारे विचार में राष्ट्र के लिये सर्वोत्तम होंगे, सार्वजनिक सुरक्षा के प्रस्तावों को लिखकर तैयार करेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को भी अधिकार होगा कि यदि वह चाहे तो अपने प्रस्ताव उपस्थित करे, जिससे कि सब प्रस्तुत योजनाओं में से जनता सर्वश्रेष्ठ योजना को चुन सके। क्लैतौफॉन ने भी वही बात कही जो पीथौदोरस् ने कही थी पर उसने इसके साथ यह और कहा कि चुनी हुई समिति को क्लैस्थेनीस् के उन पुरातन पैतृक नियमों की भी जाँच करनी चाहिये जो उसने जन तंत्र की स्थापना के समय निर्धारित किये थे, जिससे कि विचार करते समय (सुनते समय) यह नियम भी उनके सामने रहें और वे श्रेष्ठ निर्णय कर सकें; उसके सुझाव का आशय यह था कि क्लैस्थेनीस का संविधान जनतंत्रात्मक नहीं था, प्रत्युत सोलॉन् के संविधान से अत्यधिक मिलता जुलता था। समिति के चुने जाने पर, उसका सर्वप्रथम प्रस्ताव यह था कि प्रीतानीस[3] के लिये यह अनिवार्यतया आवश्यक होना चाहिये कि जो भी प्रस्ताव सार्वजनिक सुरक्षा के निमित्त उपस्थित किया जाय उस पर मत लिये जाने चाहिये। इसके उपरान्त उन्होंने सब अवैध प्रस्तावों पर चलाये जानेवाले अभियोगों को समाप्त कर दिया, एवं सब अभिशंसन पर आश्रित मामलों और सार्वजनिक आरोपों की पद्धति का भी अन्त कर दिया जिससे प्रत्येक अथेन्सवासी को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता हो कि यदि वह चाहे तो प्रस्तुत परिस्थिति पर (निर्भीकता से) अपना मत प्रकाशित कर सके। उन्होंने यह आदेश भी प्रचारित किया कि यदि कोई इस संबंध में किसी व्यक्तिपर धनदण्ड डाले, अभियोग चलाये, अथवा उसको न्यायालय के समक्ष आह्वान करे, तो ऐसा करनेवाले के विषय में सूचना प्राप्त होने पर, उसको तत्काल पकड़कर सेनापतियों के समक्ष उपस्थित किया जाना चाहिये, जो उसे मृत्युदण्ड देने के लिये ११[8] को सौंप दें। इस (आरंभिक) तैयारी के उपरान्त उन्होंने संविधान को निम्नलिखित प्रकार से व्यवस्थित किया। राष्ट्र का धन युद्ध के अतिरिक्त किसी कार्य पर व्यय न किया जाय। जब तक युद्ध चालू रहे तब तक नौ आर्खनों और प्रीतानीओं के अतिरिक्त अन्य सब शासनपदाधिकारियों को बिना वेतन राष्ट्रसेवा करनी चाहिये एवं आर्खनों और प्रीतानी(ने)ओं को प्रतिदिन तीन ओबल्स मिलने चाहिये।

शेष सब का सब शासनकार्य, जब तक कि युद्ध चलता रहे, ऐसे अथेन्सवासियों को सौंप दिया जाना चाहिये जो कि शरीर से (व्यक्तिगत रूप में) अथवा धन से राष्ट्र की सेवा के लिये सबसे अधिक सामर्थ्यवान हों, तथा जिनकी संख्या पाँच सहस्र से कम न हो तथा इस परिषद् को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हों, यहाँ तक कि वे जिसके साथ चाहें उसके साथ संधि भी कर सकें। इन पाँच सहस्र व्यक्तियों की सूची तैयार करने के लिये प्रत्येक गण में से ४० वर्ष से अधिक अवस्थावाले १० प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये जो एक सर्वांगपूर्ण यज्ञ में शपथ ग्रहण करके यह कार्य आरंभ करें।

३०

(पाँच सहस्र के द्वारा संविधान का प्रारंम्भिक रूप प्रस्तुत करने के लिये १०० सदस्यों के आयोग की नियुक्ति। उनके द्वारा तीस वर्ष से अधिक अवस्था वाले मनुष्यों की परिषदों से संघटित भावी संविधान की रचना।)

उसी चुनी हुई समिति के यह प्रस्ताव थे। जब इनको स्वीकार कर लिया गया तो ५ सहस्र[1] व्यक्तियों ने अपने मध्य में से ही एक सौ मनुष्यों को संविधान प्रस्तुत करने के निमित्त एक आयोग के रूप में चुना। उन्होंने अपनी नियुक्ति के उपरान्त निम्न-लिखित प्रस्तावों को संग्रथित करके प्रस्तुत किया। एक वर्ष पर्यन्त चलनेवाली एक ऐसी परिषद् होनी चाहिये जिसके सदस्य ३० वर्ष से अधिक अवस्थावाले हों तथा जो बिना वेतन के राष्ट्र की सेवा करें। सेनापति, नौ आर्खन, धर्मलेखक[2] पदाति दल के अध्यक्ष, अश्वारोहियों के सेनापति, अश्वारोहियों के उपसेनापति, सुरक्षाचौकियों के अधिकारीगण, अथेना एवं अन्य देवी देवताओं की सम्पत्ति के कोपाध्यक्ष (जिनकी संख्या दस होती थी) हैल्लेनीस जाति के कर-कोपाध्यक्ष,[3] धार्मिक सम्पत्ति से भिन्न अन्य धन के कोपाध्यक्ष जिनकी संख्या २० तक हो सकती थी, तथा जो खुले मतदान द्वारा चुने जाते थे, दस यज्ञों के कार्य करनेवाले और दस (रहस्यों के) अध्यक्ष, यह सब अधि-कारी इसी परिषद् के घटक होने चाहिये। यह लोग पूर्णपरिषद् में से पहले चुने हुई एक बड़ी जनसंख्या में से छाँटे जाकर परिषद् के द्वारा नियुक्त किये जाने चाहिये। अन्य पदों पर नियुक्तियाँ शलाकाग्रहण-पद्धति से होनी चाहियें और परिषद् में से नहीं, उससे बाहर से होनी चाहिये। हैलेनीस जाति के कोपाध्यक्षों को, जो कि वास्तव में नव कोप का प्रबन्ध करते थे, परिषद् के साथ नहीं बैठना चाहिये। आगामी (भविष्य) काल के लिये, पूर्व वर्णित अवस्था के ही मनुष्यों की चार परिषदें बनाई जानी चाहिये। तथा इनमें से एक तो शलाकाग्रहण-पद्धति द्वारा तत्काल पदग्रहण करने के लिये चुन

ली जानी चाहिये, तथा शेष को भी शलाकाग्रहण द्वारा प्राप्त हुई बारी के अनुसार पदग्रहण करना चाहिये। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सौ आयोक्ता एवं अन्य सब अपने को यथा-संभव चार बराबर भागों में विभक्त कर दें और प्राथमिकता के लिये शलाका ग्रहण करें, और इस प्रकार चुना हुआ वर्ग एक वर्ष के लिये शासनपद ग्रहण करे। उनको (विशेषतया) कोष की सुरक्षा एवं समुचित व्यय को दृष्टि में रखते हुए और सामान्य-तया अन्य सब शासन संबंधी विषयों को दृष्टि में रखते हुए अपनी योग्यता की श्रेष्ठ क्षमता के अनुसार जो मार्ग सर्वोत्तम प्रतीत हो उसी के अनुसार शासनकार्य करना चाहिये। यदि परामर्श के लिये वे अधिक व्यक्तियों को परिषद् में लेना चाहें तो प्रत्येक सदस्य अपनी पसन्द के एक और व्यक्ति को आमन्त्रित कर सकेगा पर आमन्त्रित सदस्य भी उसी अवस्था का होना चाहिये। जब तक कि अधिक शीघ्रतापूर्वक और अधिक संख्यक बैठकों की आवश्यकता न पड़े तब तक परिषद् की बैठक प्रति पाँच दिन में एक बार होगी। परिषद के लिये शलाकाग्रहण कार्य नौ आर्खनों के अधिकार में रहेगा; मतभेद होने पर मतगणना का कार्य पाँच गणकों द्वारा किया जायगा जो कि शलाकाग्रहण-पद्धति से नियुक्त किये जायँगे, इनके सभापति-पद के लिये इनमें से ही एक व्यक्ति प्रतिदिन गुटिका द्वारा चुना जायगा। जो भी (व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह) परिषद् के समक्ष उपस्थित होना चाहेगा उनकी उपस्थिति की प्राथ-मिकता का निर्णय भी यही पाँच चुने हुए गणक करेंगे, पर उनको प्रथम स्थान धार्मिक मामलों को देना होगा, दूसरा संदेश-वाहकों को, तीसरा राजदूतों को और चौथा अन्य विषयों को। पर युद्धसंबंधी विषयों का विवेचन तो सेनापतियों के प्रस्ताव पर, ज्यों ही आवश्यकता हो, त्यों ही बिना गुटिका ग्रहण के, कभी भी हो सकता था। यदि परिषद् का कोई सदस्य परिषद् की बैठक के लिये नियत घंटे (समय) पर परिषद्-भवन में प्रवेश नहीं करेगा तो, यदि वह परिषद् से अनुपस्थिति की छुट्टी पर न हुआ, तो उस पर प्रति दिन एक द्राख्मा दंड पड़ेगा।

३१

(पूर्ण शासनिक अधिकारों वाली चारसौ सदस्यों की परिषद् पर आश्रित दूसरी योजना जो तत्काल कार्यान्वित्त की जाने के लिए बनाई गयी थी।)

इस संविधान को तो उन्होने आगे आनेवाले समय के लिये अंकित किया था, पर प्रस्तुत कठिन अवसर पर अविलम्ब काम में लाने के लिये उन्होंने निम्नलिखित विधान बनाया था। जैसा कि प्राचीन (पुरखों के)[1] समय में होता था, तदनुसार

परिषद् चार सौ सदस्यों की होनी चाहिये, जिनमें से ४० सदस्य प्रत्येक गण में से आने चाहिये, और यह चालीस सदस्य उनतीस वर्ष से अधिक अवस्थावाले प्रार्थियों में से चुने जाने चाहिये जो कि गण के सदस्यों द्वारा अपने गण में से छाँटकर प्रस्तुत किये गये हों। शासनपदाधिकारियों की नियुक्ति एवं उनके द्वारा ग्रहण की जानेवाली शपथ का रूप निश्चय करना यह इसी परिषद् का काम था, नियमों (कानूनों) से संबंध रखनेवाले सब विषयों में, सरकारी आयव्यय के खातों के निरीक्षण के संबंध में तथा सामान्यतया अन्य विषयों में भी वे अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार उपयोगी समझकर काम कर सकते थे। तो भी संविधान के संबंध में जो भी नियम स्थापित किये जायँ उनको इस परिषद् को अवश्यमेव मानना चाहिये; उन नियमों को बदल देना अथवा अन्य नियमों को स्थापित करना उनके अधिकार में नहीं था। सेनापति इस समय समग्र ५००० के समूह में से चुने जाने चाहिये, पर ज्यों ही परिषद् की स्थापना हो त्यों ही उसको सामरिक सज्जा की पड़ताल करनी चाहिये, एवं इस कार्य के निमित्त एक मंत्री (लेखक) के सहित १० व्यक्तियों को चुन लेना चाहिये ; इन चुने हुए व्यक्तियों को आगामी वर्ष में पदाधिकारी रहना चाहिये, इनको पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिये तथा उनको यह अधिकार भी होना चाहिये कि वे जब भी चाहें तब संसद के विचारविमर्श में सम्मिलित हो सकें। पंचसाहस्री को ही एक अश्वारोही सेना का अध्यक्ष और दस उपाध्यक्षों को चुनना चाहिये ; पर भविष्य में इन अधिकारियों को पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार परिषद् का कार्य होगा। संसद के सदस्यों एवं सेनापतियों के पदों के अतिरिक्त अन्य किसी पद पर, प्रथम पदाधिकारी अथवा उनके उत्तराधिकारी, कभी एक बार के पश्चात् दूसरी बार आरूढ़ नहीं हो सकते। चारसौ व्यक्तियों के भावी चार भागों में विभक्त किये जाने के संबंध में यह निश्चय हुआ कि जब भी अन्य लोगों के साथ नागरिकों का परिषद् में सम्मिलित होने का समय उपस्थित हो[२] तभी सौ आयोक्ताओं को उनको चार भागों में बाँट देना चाहिये।

३२

(चार सौ का शासन। लाकैदायमॉन (स्पार्टा) वालों के साथ संधिवार्त्ता असफल।)

पाँच सहस्र के द्वारा नियुक्त सौ व्यक्तियों के आयोग ने इस प्रकार के संविधान को प्रस्तुत किया। अरिस्तौमाकस् की प्रधानता में साधारण जनता के द्वारा इस संविधान के स्वीकार कर लिये जाने के उपरान्त, कल्लियास् के वर्ष[१] की विद्यमान

परिषद्, अपना पूर्ण समय भोगने के पूर्व ही विघटित कर दी गयी। यह थार्गीलियन् मास की चतुर्दशी के दिन विघटित हुई थी, तथा जब थार्गीलियन[1] मास की समाप्ति के नौ दिन थे तो चार सौ की परिषद् पदारूढ़ हुई। जब कि होना यह चाहिये था कि नियमानुसार गुटिकाग्रहण द्वारा चुनी हुई परिषद् स्किरिफौरियोन्[2] मास की १४वीं तिथि को पदारूढ़ होती। इस प्रकार कल्लियास् के आर्खनकाल में, तानाशाहों के निष्कासन के ठीक लगभग सौ वर्ष पीछे अल्पजनतंत्र की स्थापना हुई। इस क्रान्ति के प्रमुख कारण बने-पिसान्दर, अन्तिफॉन, और थेरामैनीस्, जो सब के सब अच्छे उदार कुलों में उत्पन्न हुए थे, तथा जिनकी योग्यता एवं विवेकपूर्ण होने की ख्याति थी। किन्तु जब यह संविधान स्थापित हो गया तो पाँच सहस्र का चुनाव तो केवल नाम के ही लिये हुआ, एवं चार सौ की परिषद् ने दस उच्च पदाधिकारियों[3] के सहित (जिनको पूर्णाधिकार दे दिया गया था) परिषद्भवन पर अधिकार जमा लिया (अथवा प्रवेश करके आधिपत्य कर लिया) और वास्तविक शासन का संचालन करना आरंभ कर दिया। उन्होंने सबसे प्रथम लाकैदायमॉन (स्पार्टा) के पास यह प्रस्ताव लेकर दूत भेजे कि दोनों पक्षों की जो विद्यमान स्थिति है उसी के आधार पर युद्ध बन्द कर दिया जाय। पर जब स्पार्टावालों ने अथेन्स के सामुद्रिक प्रभुत्व को त्याग करने के पूर्व इनकी बात भी न सुननी चाही तो उन्होंने संधिवार्ता को छोड़ दिया।

३३

(एरेट्रिया के सामुद्रिक युद्ध में अथेंस की पराजय। यूबोइया के विद्रोह पर चार सौ के शासन का पतन। शासन-सूत्र पाँच सहस्र को सौंपा जाना। शुभ परिणाम होना। क्रान्ति के नेता अरिस्तोक्रातीस और थेरामैनीस।)

चार सौ का शासनप्रबंध लगभग चार मास तक चालू रहा, और उनके मनोनीत म्नासीलौखस ने, थियोपौम्पस के आर्खन-वर्ष में दो मास तक आर्खन-पद ग्रहण किया, शेष १० मास थियोपौम्पस आर्खन-पद पर आरूढ़ रहा। तथापि एरेट्रिया[1] के जलयुद्ध में (अथेन्स) की पराजय; एवं औरेयन् को छोड़कर समग्र यूबोइया में विद्रोह हो जाने के कारण, जनता का रोष पूर्ववर्ती किसी भी क्षति (विनाश) की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया, क्योंकि इस समय उनको अत्तिका प्रदेश की अपेक्षा कहीं अधिक साधन-सामग्री (रसद) यूबोइया से प्राप्त हो रही थी। उन्होंने चार सौ की परिषद् को शासकपद से च्युत कर दिया, और शासन का काम, सामरिक सज्जा से युक्त पाँच सहस्र जन की परिषद् को सौंप दिया, तथा साथ ही यह भी प्रस्ताव पास कर दिया कि

किसी सार्वजनिक पद के लिये कोई वेतन न दिया जाय। इस क्रान्ति के प्रमुख पुरस्कर्ता थे अरिस्तोक्रातीस और थेरामैनीस,[२] जो कि चार सौ की परिषद् की इस नीति से संतुष्ट एवं सहमत नहीं थे कि उसने सारा कामधाम अपने ही हाथ में रख लिया था एवं किसी कार्य का भार पाँच सहस्र की परिषद् के लिये नहीं छोड़ा था। इस समय में, शासन-व्यवस्था वहुत अच्छी रही प्रतीत होती है क्योंकि युद्ध इस समय चालू था और शासन की सत्ता एवं मतदान का अधिकार उन लोगों के हाथ में था जो कि सामरिक सज्जा से युक्त थे।

३४

(पाँच सहस्र का पद से वंचित किया जाना। जनसंसद का पुनः शासनाधिकार पाना आर्गिनुसाए का शुद्ध। सेनापतियों को दण्ड। स्पार्टा के सन्धि प्रस्ताव का ठुकाराया जाना। अएगोस्पोतापी का युद्ध। अथेंस का पतन। लीसान्द्रॉस् के द्वारा तीस के शासन की स्थापना।)

तथापि जनता ने शीघ्र ही इन (पाँच सहस्र) को शासनव्यवस्था (के एकाधिपत्य) से वंचित कर दिया। चार सौ के परिषद् के शासन की समाप्ति से सात वर्ष[१] पीछे अंगेले के कल्लियास् के आर्खनकाल में, अर्गिनूसाई का जलयुद्ध हुआ, जिसका परिणाम प्रथम तो यह हुआ कि वे दस[२] सेनापति जिन्होंने इस जलयुद्ध में विजय प्राप्त की थी सव के सव एक वार के मतदान में दण्डित कर दिये गये; क्योंकि क्रोध भड़कानेवाले लोगों के द्वारा जनता वहक गयी थी, यद्यपि तथ्य यह था कि कुछ सेनापतियों ने तो जलयुद्ध में कोई सक्रिय भाग ही नहीं लिया था, एवं दूसरे कुछ स्वयं डूवते हुए अन्य नौकाओं के द्वारा वचाये गये थे।[३] दूसरा परिणाम यह हुआ कि जव लाकैदायमॉन (स्पार्टा) वालों ने विद्यमान स्थिति के आधार पर दैकेलेइया को छोड़कर चले जाने का प्रस्ताव किया तो, यद्यपि कुछ एक अथेन्सवासियों ने शान्ति को लाने के लिये इस प्रस्ताव का समर्थन किया, पर अधिकांश जनता ने उसकी वात सुननी भी न चाही। कारण यह था कि जनता को क्लेऔफॉन ने वहकाकर भड़का दिया था, वह स्वयं सभा में मदिरा के नशे में चूर और वक्षकवच[४] पहने हुए आया था और उसने दोनों पक्षों की शान्ति की स्थापना में यह घोषणा करते हुए वाधा डाली कि जव तक स्पार्टा हमारे साथी नगरों पर से अपना अधिकार नहीं त्यागेगा तव तक हम सन्धि (शान्ति) को स्वीकार नहीं करेंगे। तव तो उन्होंने इस अच्छे अवसर का सदुपयोग नहीं किया पर फिर पीछे अपनी गलती समझने में उनको अधिक समय नहीं लगा। अगले वर्ष अलेक्षियास् के आर्खनकाल में अरगोस्पोतामी[५] (अइगौस नदी) के जलयुद्ध में दारुण विनाश

घटित हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि नगर (अथेन्स) का आधिपत्य लीसाण्डर को प्राप्त हुआ और उसने निम्नलिखित प्रकार से तीस का शासन स्थापित किया। सन्धि की एक शर्त यह थी कि अथेन्स का शासन-कार्य पुरखों की पुरातन पद्धति के अनुसार किया जाना चाहिये। (इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गई।) जनतंत्री दल ने अथेन्स की साधारण जनता का प्रभुत्व अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया। गण्यमान लोगों के दो दलों में से एक ने, जो कि राजनीतिक मंडलियों के सदस्यों[1] और सन्धि के पश्चात् लौटकर आये निर्वासित व्यक्तियों से मिलकर बना था, धनिकतंत्र (=अल्पजनतंत्र) को स्थापित करने की कामना की; दूसरा दल, जिसके सदस्य किसी राजनीतिक मंडली के सदस्य नहीं थे, पर अन्य बातों में इतने ही सुविख्यात थे, जितना कोई दूसरा नागरिक हो सकता है, "पैतृक शासन-पद्धति" को (अर्थात् सौलॉन् के ढंग की पद्धति को) स्थापित करने के लिये यत्नशील था। इस दल के सदस्य आर्खीनॉस्, अनीतॅस, क्लैतौफॉन्, फौर्मीसियस एवं बहुत से व्यक्ति थे, पर उनका सबसे अधिक प्रमुख अग्रणी थेरामेनीस् था। लीसाण्डर ने धनिकतंत्र के पक्ष का समर्थन किया एवं जनता के दल को बलात्कार से भयभीत होकर धनिकतंत्र की स्थापना के लिये मत देना पड़ा। इस उद्देश्य का प्रस्ताव अफिद्नावासी (द्राकौन कुलवाले) द्राकौन्तिदीस् ने उपस्थित किया था।

३५

(तीस का शासन। इसके अतिगामी कार्य। सत्वर ह्रास।)

इस प्रकार से पीथॉदौरस के आर्खन-काल[1] में तीस के शासन की स्थापना हुई। ज्यों ही वे नगर के स्वामी बने त्यों ही उन्होंने उन सब प्रस्तावों की अवज्ञा कर दी जो संविधान की व्यवस्था के संबंध में स्वीकार किये गये थे, और पाँच सौ सदस्यों की परिषद् एवं पहले से ही चुने हुए एक सहस्त्र व्यक्तियों में से अन्य शासन-पदाधिकारियों को नियुक्त करके तथा पिरेइयस के दस आर्खनों, वन्दीगृहों के ग्यारह अध्यक्षों एवं तीन सौ कशाधारियों को अपने साथ लेकर इनकी सेवा-सहायता से उन्होंने नगर को अपने अधिकार में रखा। आरंभ में तो सचमुच उन्होंने नगर-निवासियों के प्रति संयत ढंग से व्यवहार किया और पुरातन व्यवस्था के अनुसार नगर का प्रबन्ध करने का दिखावा किया। इस नीति के अनुसरण करने के लिये उन्होंने अरियोपागस की पहाड़ी पर से एफियाल्तीस और आर्खेस्त्रातस् के नियमों को उतारा, एवं सोलॉन् के उन कानूनों को उन्होंने निरस्त कर दिया जिनका अर्थ विवादग्रस्त था, तथा न्यायालयों की सर्वोपरि सत्ता को उच्छिन्न कर दिया। इन सब बातों के द्वारा वे संविधान को सुधारने और

विवाद (अस्पष्टता)-रहित वनाने का दावा करते थे। उदाहरण के लिये उत्तराधिकार देनेवाले को सर्वदा के लिये अपनी सम्पत्ति को अपने इच्छानुसार छोड़ जाने की स्वतंत्रता प्रदान करने में एवं विक्षिप्तता, वृद्धावस्था एवं अनुचित नारियों के प्रभाव के संवंध में जो विद्यमान मर्यादाएँ थीं उनको निरस्त करने में उनका उद्देश्य यह था कि व्यवसायी अभियोक्ताओं के लिये कोई छिद्र न रह जाय। अन्य मामलों में भी इन लोगों का व्यवहार इसी प्रकार का था। आरंभ में उन्होंने इसी प्रकार से कार्य चलाया एवं व्यवसायी अभियोक्ताओं एवं ऐसे कुटिल तथा दुष्प्रवृत्तिवाले लोगों को नष्ट कर दिया जिन्होंने अपना स्वार्थ साधने के लिये जनतंत्र के अनुग्रह-संपादनार्थ अपने को उससे सन्नद्ध कर दिया था एवं जिनसे जनतंत्र की अत्यन्त हानि हो रही थी। उनके इन सव कार्यों से नगर को वहुत प्रसन्नता हुई और नगर-निवासियों ने सोचा कि यह तीस (शासक) सव कार्य श्रेष्ठ मनःप्रेरणा से कर रहे हैं। पर ज्यों ही उनको नगर पर सुदृढ़ प्रभुत्व प्राप्त हुआ त्यों ही उन्होंने किसी नागरिक को नहीं छोड़ा,प्रत्युत ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को मरवा डाला जो धन, कुल अथवा ख्याति में प्रमुखता रखता था। ऐसा करने में उनका उद्देश्य उन मनुष्यों को मिटा देना था जिनसे उन्हें भय लगता था तथा इसके साथ ही साथ उनकी इच्छा उनके धन को अपहरण करने की भी थी ; थोड़े से ही समय में उन्होंने कोई १५०० मनुष्यों से कम की हत्या नहीं की।

३६

(थेरामेनीस द्वारा इस शासन का विरोध। तीन-सहस्र की परिषद् की नामावली।)

इस प्रकार नगर की दशा का पतन देखकर थेरामेनीस को इन तीस शासकों के कार्यों से वड़ी खिन्नता (व्यग्रता) हुई। उसने उनको यह परामर्श दिया कि वे इस प्रकार के उच्छृंखल कार्यों को वन्द कर दें, और उच्चतर वर्ग के नागरिकों को भी शासन-कार्य में हाथ वँटाने दें। पहले तो उन्होंने उसके परामर्श का विरोध किया, पर जव उसके प्रस्तावों की चर्चा जनता में सव ओर फैल गई और वहुत कुछ जनता उसके साथ मिलने लगी तो इनको यह भय लगा कि कहीं थेरामेनीस जननायक वनकर उनकी इस उच्छृंखल प्रभुता को नष्ट न कर दे। अतएव उन्होंने तीन सहस्र नागरिकों की एक सूची प्रस्तुत की, और यह घोषणा की कि इन तीस सहस्र व्यक्तियों को शासन-सत्ता में भाग मिलेगा। थेरामेनीस ने इस योजना में दोष निकाल दिये ; प्रथम तो उसने यह वतलाया कि जव कि इनका प्रस्ताव तो सभी संभ्रान्त नागरिकों को शासन-कार्य में भाग देने का है, वास्तव में यह केवल तीन सहस्र को शासन में हिस्सा दे रहे हैं, मानो

समग्र सद्‌गुण इन तीन सहस्र में ही सीमित हों ; दूसरे यह कि यह लोग दो परस्पर विरोधी कार्य कर रहे हैं, क्योंकि शासन-पद्धति को वल के आधार पर आश्रित करके ये शासकों को शक्ति में शासितों से हीनतर वना रहे हैं। तथापि, उन्होंने इस आलोचना पर वहुत थोड़ा ध्यान दिया, एवं तीन सहस्र की नामावलि के प्रकाशन को वहुत समय तक टालते रहे, तथा उस सूची में अन्तर्भुक्त नामों को उन्होंने अपने तक ही सुरक्षित रक्खा ; और जव कभी भी उन्होंने इस सूची को प्रकाशित करने का निश्चय किया तभी उन्होंने उसमें सम्मिलित कुछ नामों को निकाल दिया, और जो अव तक उससे वाहर थे ऐसे कुछ अन्य नामों को सम्मिलित कर लिया।

३७

(थ्रासीवुलस का फीले पर अधिकार करना। थेरामेनीस को मृत्युदण्ड। लाकैदाय मान के रक्षादल का अंथेस में प्रवेश।)

अव जव कि शीतकाल आ पहुँचा तो थ्रासीवुलस्[1] ने निर्वासितों के साथ फीले नामक स्थान पर अधिकार कर लिया, तथा जिस सैन्यवल को लेकर "तीस" उन पर आक्रमण करने के लिये वढ़े उसको वुरी तरह पराजित होकर पीछे लौटना पड़ा। इस पर "तीस" ने थेरामेनीस का विनाश करने के लिये, अधिकांश जनता को अस्त्र-शस्त्र से रहित कर दिया और यह कार्य निम्नलिखित प्रकार से किया गया। उन्होंने संसद् में दो नियमों का प्रस्ताव किया और उनको मतदान द्वारा पास कराने का आदेश किया ; प्रथम नियम ने तो "तीस" को ऐसे किसी भी नागरिक को मृत्युदण्ड देने का अधिकार दे दिया, जिसका नाम तीन सहस्र की तालिका में न हो ; दूसरे नियम ने किसी भी ऐसे नागरिक को नागरिक-अधिकार से वंचित कर दिया (रोक दिया) जिसने इयेतियोनैइया[2] गढ़ के ढहाने में हाथ वँटाया हो अथवा जिसने पूर्वकालीन अल्पजनतंत्र की प्रस्थापिका चार सौ की परिषद् के विरुद्ध कुछ भी कार्य किया हो। थेरामेनीस ने इन दोनों ही योजनाओं में सम्मिलित होकर काम किया था; अतएव इन नियमों के स्वीकृत होते ही वह नागरिक अधिकारों से स्वतः वहिष्कृत हो गया एवं "तीस" को उसको मृत्युदण्ड देने की पूर्ण सत्ता प्राप्त हो गई[3]। थेरामेनीस के इस प्रकार हटा दिये जाने के उपरान्त उन्होंने तीन सहस्र को छोड़कर शेष जनता को निःशस्त्र कर दिया एवं अन्य भी वहुत से प्रकारों से उन्होंने निर्दयता और पापों की वृद्धि की। उन्होंने थेरामेनीस के चारित्र्य को कलंकित करने एवं सहायता की याचना करने के लिये लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) को अपने प्रणिधि भेजे; उनकी इस प्रार्थना को सुनकर

लाकैदायमॉन निवासियों ने शासक और सेनाध्यक्ष के रूप में कल्लिवियस् को ७०० सैनिकों के साथ भेजा, जिन्होंने आकर अक्रोपॉलिस पर अधिकार कर लिया और उसी में रहने लगे।

३८

(तीस की पराजय और उनका हटाया जाना। दस की संसद्। जनता का विराग। द्वितीय दस की संसद एवं उसके द्वारा शान्ति की स्थापना।)

इन घटनाओं के पश्चात् फीले में स्थित निर्वासितों द्वारा मूनीखिया पर अधिकार कर लिया गया एवं युद्ध में "तीसों" और उनके सहायकों को परास्त कर दिया गया। इस भयपूर्ण पराजय के उपरान्त नगर का दल युद्धक्षेत्र छोड़कर नगर को लौट आया। दूसरे दिन उन्होंने वीच वाजार में सभा की और "तीस" को उनके स्थान से हटा दिया एवं दस नागरिकों को चुनकर उनको युद्ध समाप्त करने के लिये पूर्ण अधिकार प्रदान किया। पर जव दस ने शासन-सत्ता ग्रहण कर ली तो जिस कार्य के लिये उनका चुनाव हुआ था उसके लिये उन्होंने कुछ भी नहीं किया प्रत्युत सहायता भेजने और धन उधार लेने के लिये दूतों को लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) भेजा। फिर, यह देखकर कि उनके इन कार्यों से मतदान का अधिकार रखनेवाले नागरिक अप्रसन्न हो गये हैं, उनको यह भय लगा कि कहीं यह नागरिक उनको शासनप्रमुख-पद से हटा न दें, अतएव उन्होंने जनता को भयाप्लुत करने के लिये देमारैतस् को, जिसके समान दूसरा कोई नागरिक नहीं था, पकड़कर मरवा डाला; इससे उनके उद्देश्य की सिद्धि हो गई (अर्थात् जनता संत्रस्त हो गई)। राजकाज पर उनका अधिकार दृढ़तर हो गया। इन सव कार्यों में उनको कुछ सरदारों के सहित कल्लिवियस और उसके साथी पेलोपॉनीसियनों की भी सहायता प्राप्त थी; क्योंकि सरदारों के वर्ग के कुछ सदस्य उन नागरिकों में से थे जो फीले के निर्वासितों को न लौटने देने के विपय में अत्यन्त उत्सुक एवं उत्साहपूर्ण थे। परन्तु जव सव जनता का झुकाव पिरेइयस् और मूनिखिया के दलों की ओर हो जाने से युद्ध में इन दलों का पलड़ा भारी हो गया तो नगर के दल ने प्रथमतः चुने हुए दस शासकों को उनके स्थान से हटा दिया और उनके स्थान पर दूसरे दस[1] व्यक्तियों को चुना जो सर्वश्रेष्ठ ख्याति वाले थे। इन्हीं के शासन-काल में, इनके सक्रिय एवं उत्साहपूर्ण सहयोग से सम्मिलन, संधि घटित हुई एवं (इधर-उधर भागी हुई) जनता नगर को लौट आई। इस शासक-पटल के सवसे प्रमुख सदस्य थे दो—पाएनिया का रिनॉन् और आखर्दस् का फौल्लस, जिन्होंने पौसानियास् के आने से पहले ही पिरेइयस के दल से संधि-वार्त्ता आरंभ कर दी थी, एवं उसके आने के

उपरान्त उन्होंने निर्वासितों को लौटाने के उसके प्रयत्नों का उत्साहपूर्ण समर्थन किया। क्योंकि, लाकैदायमॉन् का राजा पौसानियास ही वह व्यक्ति था जिसने, दस[3] मेल करानेवाले पंचों की सहायता से (जो कि उसकी अभिनिविष्ट प्रार्थना पर बाद को स्पार्टा से आये थे) शान्ति और पुनः सम्मिलन को पूर्णता को पहुँचाया था। रिनॉन् (और उसके साथियों) ने जनता के प्रति जो भलमनसाहत प्रकट की उसके लिये उनको धन्यवाद दिया गया अर्थात् उनकी सराहना हुई एवं यद्यपि उन्होंने अपना पदभार अल्पजनतंत्र पद्धति के समय में ग्रहण किया और अपना लेखा-जोखा जनतंत्र के समय सौंपा तो भी न तो नगर में रहनेवाले दल के किसी व्यक्ति ने ही उनकी कोई शिकायत की और न पिरेइयस् से लौटनेवाले निर्वासितों में से ही किसी ने। इसके विपरीत यह हुआ कि अपने इसी कार्य के लिये रिनॉन् अविलम्ब सेनापति-पद के लिये चुन लिया गया।

३९

(सम्मिलन अथवा संधि की शर्तें। "तीस" के पक्षवालों का ऐल्यूसिस में बसना।)

यह संधि युक्लैदीस के आर्खन-काल[1] में निम्नलिखित शर्तों पर हुई। वे सब व्यक्ति जो कि अशान्तिकाल में नगरी में बने रहे थे अब यदि वे अथेन्स को छोड़ना चाहें तो उनको ऐल्यूसिस[2] में बसने की स्वतंत्रता है, उनके सब अधिकार यथापूर्व रहेंगे और उनको आत्मशासन (स्वराज्य) का पूर्ण अधिकार रहेगा एवं वे अपनी निजी सम्पत्ति का उपभोग कर सकेंगे। ऐल्यूसिस का देवमन्दिर दोनों दलों के लिये समान उपयोग में आयेगा, एवं इसकी अध्यक्षता पुरातन नियम के अनुसार केरीकस और यूमौल्पस के वंशधरों[3] द्वारा की जायगी। ऐल्यूसिस में बसनेवालों को अथेन्स में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये और न अथेन्सवासियों को ऐल्यूसिस में प्रवेश करने की, पर रहस्य-लीला काल में दोनों स्थानों के निवासी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकेंगे और यह प्रतिबन्ध नहीं रहेगा। पृथक् होनेवाले नागरिकों को सार्वजनिक सुरक्षा-कोष में अपना अंश इसी प्रकार अर्पण करना होगा जिस प्रकार अन्य अथेन्स-वासियों को। यदि कोई अपसरण करनेवाला व्यक्ति ऐल्यूसिस में मकान लेना चाहेगा तो स्वामी की स्वीकृति दिलाने का प्रयत्न किया जायगा। किन्तु यदि वे परस्पर सहमत न हो सकें तो उभयपक्ष की ओर से तीन तीन मूल्य-निर्णायक नियुक्त किये जाने चाहिये, तथा वे जो मूल्य निश्चय करें वह मकान के स्वामी को मिलना चाहिये। अपसरण करनेवाले ऐल्यूसिस के जिन निवासियों को रहने देना चाहें उनको वहीं रहने दिया जाय। जो लोग नगर को छोड़कर बाहर बसने जाना चाहते हों, उनमें से ऐसे व्यक्तियों

की तालिका, जो देश में हैं, शपथ ग्रहण करने के दस दिन पश्चात् तैयार हो जानी चाहिये एवं उनका वास्तविक वहिर्गमन २० दिन में सम्पादित हो जाना चाहिये ; तथा जो लोग इस समय वाहर हों उनके लौट आने पर यही सुविधा उनको भी मिलनी चाहिये। ऐसा कोई भी व्यक्ति जो ऐल्यूसिस में जाकर वस गया है अथेन्स में किसी पद को ग्रहण करने के योग्य तव तक नहीं हो सकता जव तक कि वह पुनः अथेन्स नगर के निवासियों की तालिका में फिर से अपना नाम सम्मिलित न करा ले। हत्या के सव मामलों का और यदि किसी ने स्वयं अपने हाथ से किसी अन्य व्यक्ति को मारा अथवा घायल किया हो तो ऐसे सव मामलों का निर्णय पुरातन पुरखों की पद्धति के अनुसार होना चाहिये। "तीस", "दस" और "ग्यारह" की शासक मंडलियों एवं पिरेइयस के शासन-पदाधिकारियों के अतिरिक्त अन्य सव व्यक्तियों में परस्पर किसी को किसी के प्रति दौर्मनस्य नहीं रखना चाहिये, सबको सार्वत्रिक क्षमा प्रदान करना चाहिये; और यदि उपर्युक्त पदाधिकारी भी रीत्यनुसार अपना लेखा-जोखा सौंप दें तो इनके प्रति भी दुर्भावना नहीं रहनी चाहिये—इनको भी क्षमा मिल जानी चाहिये। जो लोग पिरेइयस में शासन-कार्य करते थे उनको पिरेइयस के जन-न्यायालय के समक्ष अपना लेखा प्रस्तुत करना चाहिये एवं जो लोग अथेन्स में पदाधिकारी थे उनको वहाँ के जन-न्यायालय के समक्ष[४]। जो पृथक् होना चाहते थे वह इन शर्तों पर पृथक् हो सकते थे[१]। प्रत्येक दल ने युद्ध-संचालन के लिये जो धन उधार लिया था उसको प्रत्येक दल को स्वयमेव (अन्य दलों से अलग) चुकाना चाहिये।

४०

(जनतंत्र का पुनरुद्धार। आर्खीनूस का कुशलनीतिपूर्ण कार्य। अथेंस छोड़कर लोगों का ऐल्यूसिस में वसना वन्द।)

जव उपर्युक्त शर्तों के अनुसार मेल स्थापित हो गया, तो जो लोग "तीस" का पक्ष ग्रहण करके लड़े थे उनको वहुत कुछ आशंका और भय हुआ और वहुत से अथेन्स को छोड़कर चले जाने का विचार करने लगे। पर जैसा सभी का करने का स्वभाव होता है, जव वे अपने नाम लिखाने का कार्य अन्तिम दिन के लिये टालते रहे तो आर्खीनस् ने उनकी इतनी वड़ी संख्या देखकर उनको अथेन्स के ही नागरिकों के रूप में रोक रखने के लिये नाम-तालिका को चालू रखने के शेष दिनों को काट दिया ; इस प्रकार वहुत से व्यक्ति तव तक वड़ी अनिच्छापूर्वक अथेन्स में रहने के लिये विवश हो गये जव तक कि उनको पुनः विश्वास न जम गया। यह एक ऐसा विषय था जिसमें

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्खीनिस ने अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ के समान काम किया; इसके उपरान्त उसने एक अनियमित कार्य करने के कारण थ्रासीवुलस पर अभियोग चलाया; क्योंकि उसने एक प्रस्ताव द्वारा उन सब लोगों को मतदान का अधिकार देना चाहा था जिन्होंने पिरेइयस से लौटने में भाग लिया था यद्यपि उनमें कुछ लोग स्पष्टतया दास थे। और तीसरा इसी प्रकार का कार्य उसने तब किया जब कि एक लौटे हुए निर्वासित व्यक्ति ने क्षमा की शर्त को तोड़ना चाहा। आर्खीनिस ने उसको खींचकर परिषद् के समक्ष उपस्थित किया और परिषद् को समझाकर मनाया कि वह उसको बिना परीक्षण के मृत्युदण्ड दे दे। उसने कहा कि अब आप लोगों को यह दिखलाना होगा कि आप जनतंत्र की रक्षा करना और जिन शपथों को आपने ग्रहण किया है उन पर स्थिर रहना चाहते हैं या नहीं। यदि आप इस व्यक्ति को छूट जाने देंगे तो दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिये प्रोत्साहित करेंगे, और यदि इसको मृत्युदण्ड दिया तो वह सबको सिखानेवाला एक उदाहरण बन जायगा। परिणाम ठीक ऐसा ही हुआ भी ; इस व्यक्ति के मृत्युदण्ड पाने के उपरान्त फिर किसी ने क्षमा की शर्तों को नहीं तोड़ा। इसके विपरीत, ऐसा लगता है कि अथेन्सवासियों ने, भूतकाल की दुर्घटनाओं के संबंध में व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त उत्तमता एवं राजनीतिक कुशलता के साथ व्यवहार किया। न केवल उन्होंने भूतकालीन अपराधों की स्मृति को ही मिटा दिया, प्रत्युत उन्होंने लाकैदायमॉन (स्पार्टा) का वह धन भी सार्वजनिक कोष से चुका दिया जो "तीस" ने युद्ध-संचालन के लिये उधार लिया था ; यद्यपि सन्धि की निर्धारित शर्त के अनुसार होना यह चाहिये था कि प्रत्येक दल ---नगर के दल और पिरेइयस् के दल---अपना ऋण पृथक् पृथक् चुकायें। पर उन्होंने ऐसा यह सोचकर किया कि सममनस्कता की स्थापना के लिये यही प्रथम आवश्यक कार्य है। पर अन्य नगर-राज्यों में (विजयी) जनतंत्री-दल में इस प्रकार से अपनी सम्पत्ति में से दूसरों को दान देने की प्रवृत्ति नहीं पाई गई, वे तो प्रायः भूमि का पुनर्विभाजन ही कर दिया करते हैं। और इस अपसरण के तीन वर्ष पीछे तो क्षेनैनेतस् के आर्ख़नकाल में नगर छोड़कर चले जानेवालों के साथ ऐल्यूसिस में ही अन्तिम सन्धि की गई।[1]

४१

(इयॉन् के समय से लेकर जनतंत्र के पुनरुद्धार के समय तक के सब संविधानों का सिंहावलोकन। परिषद् में उपस्थिति के लिए वेतन की प्रथा का विवरण।)

परन्तु यह सब बातें तो कुछ समय पश्चात् घटित हुई। जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं उस समय तो, जनता ने शासनसत्ता पर प्रभुत्व प्राप्त करके वह

संविधान स्थापित किया जो आज तक विद्यमान है। उस समय पीथोदौरस् आर्खन था। पर ऐसा प्रतीत होता है कि जनतंत्र ने सर्वोच्च शासनसत्ता को पूर्णतया न्यायानुमोदित ढंग से प्राप्त किया था क्योंकि उसने अपना प्रत्यावर्तन अपने ही उद्योग से सिद्ध किया था। अथेन्स के संविधान में यह ग्यारहवाँ परिवर्तन था। नितान्त आदिम अवस्था में प्रथम परिवर्तन तव हुआ जब इयॉन् और उसके साथियों ने जनता को एकत्रित करके समाज के रूप में उसका संघटन किया, क्योंकि उसी समय समग्र जनवर्ग चार गणों (जातियों) में विभक्त किया गया और गणराजाओं की स्थापना हुई। दूसरा,[१] एवं इस स्थापना के पश्चात् प्रथम, संविधान की व्यवस्था-सा प्रतीत होनेवाला परिवर्तन वह था जो थीसियस् के शासनकाल में घटित हुआ, जिसमें एकराट्तंत्र में किञ्चिन्मात्र परिवर्तन हुआ। इसके उपरान्त द्राको के समय के संविधान का नम्बर आता है, जिसमें प्रथम नियम-संग्रह संग्रथित किया गया। तीसरा संविधान नगर-विप्लव के पश्चात् सोलॉन् के समय में वना, जिसमे जनतंत्र का उदय हुआ। चौथा परिवर्तन था पिसिस्त्रातस् की तानाशाही। पाँचवाँ संविधान वह था जो तानाशाहों के विनिपात के पश्चात् क्लैस्थेनीस के द्वारा स्थापित किया गया एवं जो सोलॉन् के संविधान की अपेक्षा अधिक जनतंत्रात्मक था। छठा परिवर्तन मीडिक युद्धों के उपरान्त हुआ जब कि शासनकार्य की अध्यक्षता अरियोपागस् की परिषद् के अधीन थी। सातवाँ परिवर्तन जो इसके पश्चात् हुआ वह था जिसकी रूपरेखा अरिस्तैदीस् ने प्रस्तुत की थी एवं जिसको, एफ़ियाल्तीम् ने अरियोपागस की परिषद् को अधिकारच्युत करके, चरम रूप प्रदान किया था। इस (संविधान के) काल में, नगर ने लोकनायकों के वहकाने पर अपने सामुद्रिक शासन के लिये सबसे बड़ी भूल (गलती) की। "चार सौ" की परिषद् की स्थापना आठवाँ और तदुपरान्त जनतंत्र का पुनरुद्धार नवाँ परिवर्तन था। दसवाँ परिवर्तन था "तीस" और "दस" की तानाशाही। ग्यारहवाँ परिवर्तन फ़ीले और पिरेइयस् से (जनता के) लौटने के उपरान्त घटित हुआ; एवं उस दिन से लेकर आज तक यही पद्धति चालू रही है तथा जनता को निरन्तर अधिकाधिक शक्ति का लाभ होता गया है।

जनता ने सभी विषयों में अपने को सर्वोपरि सत्ता बना लिया है, एवं परिषद् में मतदान के द्वारा एवं न्यायालयों के निर्णयों द्वारा (जिनमें कि इसको पूर्णाधिकार प्राप्त है) जनता ही सब बातों की व्यवस्था करती है। परिषद् के निर्णयों का अधिकार भी (अव) साधारण लोकवर्ग के हाथों में चला गया है एवं यह परिवर्तन ठीक ही हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि वड़े संस्थानों की अपेक्षा छोटे संस्थान, धन अथवा प्रभाव

(दाक्षिण्य) द्वारा सरलता से विकारग्रस्त हो जाते हैं। आरंभ में तो परिषद् में उपस्थिति के लिये भत्ता देना स्वीकार नहीं किया गया था; पर इसका परिणाम यह हुआ कि सदस्य एकत्रित नहीं होते थे। अतः जब प्रीतानी लोगों के, जनता को परिषद् में लाने और मतदान को स्वीकार करने के लिये किये मनुहार के सब उपाय निरर्थक सिद्ध हुए तो अगिर्हियस्[२] ने पहली बार एक ओबल प्रतिदिन की व्यवस्था की जिसको क्लाज़ीमेनाए के हेराक्लैदीस ने (जिसको राजा भी कहते थे) बढ़ाकर दो ओबल कर दिया, एवं अगिर्हियस ने इसके बाद तीन ओबल कर दिया।[३]

द्वितीय भाग ४२-६९

४२

(मताधिकार को प्राप्त करने की विधि। युवकों की शिक्षादीक्षा।)

आजकल अथेन्स के संविधान की स्थिति निम्नलिखित प्रकार की है। नागरिक माता-पिता से जिनका जन्म हुआ हो ऐसे सब व्यक्तियों को संविधान के अनुसार मताधिकार (=नागरिकता का अधिकार अथवा शासन-व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार) प्राप्त होता है। जन्म से १८वें वर्ष की अवस्था में उनको मुहल्लेवालों की सूची में सम्मिलित कर लिया जाता है। सूची में सम्मिलित किये जाने के अवसर पर मुहल्लेवालों को शपथपूर्वक प्रथम तो इस विषय में अपना मत देना पड़ता है कि प्रार्थी नियम द्वारा निर्धारित आयु के प्रतीत होते हैं या नहीं (यदि वे ऐसे प्रतीत नहीं होते तो लड़कों की श्रेणियों में परिगणित होते हैं); दूसरे इस विषय पर कि वे (प्रार्थी) स्वतंत्रजन्मा, एवं ऐसे माता-पिताओं की सन्तान हैं या नहीं जैसे कि नियमानुकूल हैं; (अर्थात् उनके माता-पिता दोनों स्वतंत्र नागरिक हैं या नहीं।) यदि वे ऐसा मत दें कि प्रार्थी स्वतंत्र-जन्मा नहीं है, तब वह न्यायालय में अपील करता है और मुहल्लेवाले अपने में से पाँच व्यक्तियों को अभियोगियों के रूप में चुनकर भेजते हैं। यदि न्यायालय यह निर्णय करता है कि उसका सूची में सम्मिलित किया जाना उचित नहीं है तो राष्ट्र उसको दास के रूप में बेच देता है; पर यदि वह अभियोग में जीत जाता है तो अवश्यमेव मुहल्लेवालों की सूची में सन्निविष्ट कर लिया जाता है। इसके पश्चात् सूची सन्निविष्ट जनोंका परीक्षण परिषद् करती है; और यदि परिषद् यह निर्णय करती है कि उनमें से कोई व्यक्ति १८ वर्ष से कम अवस्था का है, तो वह उन मुहल्लेवालों पर, जिन्होंने उसको सूची में सम्मिलित किया है, अर्थ-दण्ड डालती है; जब युवक इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं तो उनके पिताओं का गणशः सम्मेलन होता है और वे अपने गण में से चालीस वर्ष से अधिक अवस्थावाले तीन ऐसे व्यक्तियों को शपथपूर्वक नियुक्त करते हैं जो उनके मतानुसार इन युवकों की सार-सँभाल करने के लिये श्रेष्ठ एवं परमोपयोगी होते हैं; परिषद् इन व्यक्तियों में से प्रत्येक गण से एक

मनुष्य संरक्षक के रूप में चुन लेती है एवं इन सब का नियमन करने के लिये समग्र अथेन्स की जनता में से एक अनुशासक चुन लेती है। इनकी रक्षावेक्षा में यह युवक (जो एफेबी कहलाते हैं) सबसे पहले मन्दिरों की (देवालयों की) प्रदक्षिणा करते हैं ; तदुपरान्त वे पिरेइयस की ओर प्रस्थान करते हैं और उनमें से कुछ मूनिखिया के रक्षक-मंडल में काम करने लगते हैं और कुछ पिरेइयस के दक्षिण समुद्रतट पर स्थित आक्ते के रक्षा-मंडल (गैरीज़न) में। (इसकी युद्धकला की शिक्षा के लिये) परिषद् कुछ उपाध्यायों के सहित दो आचार्यो को भी चुनती है जो इनको भारी कवच धारण करके युद्ध करने की, वाण और भाला चलाने की तथा गोफण मे अस्त्र चलाने की शिक्षा देते हैं। सरकार प्रत्येक अनुशासक को भरण-पोषण के लिये एक द्राख्मा और प्रत्येक नवयुवक को ३ ओवल देती है। प्रत्येक संरक्षक अपने गण के सब नवयुवकों के लिये भृति को ग्रहण करता है एवं सम्मिलित भंडार के लिये आवश्यक सामग्री खरीदता है (एक गण का भोजन एक साथ होता है) एवं सामान्यतया अन्य सब वातों की सार-सँभाल करता है। इस प्रकार उनका प्रथम वर्ष व्यतीत हो जाता है। दूसरे वर्ष जब (दियौनीसियस के उत्सव पर)[१] परिषद् का सम्मेलन रंगस्थली (थियेतर) में होता है तब वे अपने युद्ध संबंधी कौशल के विकास का सार्वजनिक प्रदर्शन करके सरकार से एक ढाल और भाला पाते हैं ; तदुपरान्त वे सारे देश के रक्षार्थ भ्रमण (गश्त) करते हैं और अपना समय किलों में व्यतीत करते हैं। इन दो वर्षों में वे (वास्तव में) रक्षा कार्य में (गरीज़न ड्यूटी) लगे रहते हैं, सैनिकों के प्रावारक को धारण करते हैं और इतने समय तक सब प्रकार के करों से मुक्त रहते हैं। वे इस समय न तो दूसरों पर कोई अभियोग चला सकते हैं और न उन पर ही अभियोग चलाया जा सकता है, जिससे कि उनको अनुपस्थिति के लिये छुट्टी माँगने का बहाना न मिल सके, यद्यपि उत्तराधिकार एवं रक्षिताओं[२] से संबंध रखनेवाले व्यवहारों में और कुटुम्ब परिवार[३] में विशेष यज्ञोत्सव होने पर इस नियम को बाद दिया जा सकता है। जब इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो जाते हैं तो वे अन्य नागरिकों के मध्य अपना (समुचित) स्थान ग्रहण कर लेते हैं। नागरिकता-प्राप्ति और युवकों की शिक्षा की पद्धति इसी प्रकार की है।

४३

(पाँच सौ की परिषद्। इसके प्रीतानी परिषद् का कार्य-क्रम।)

सैनिक कोषाध्यक्ष, रंगनिधि[१] के आयोक्ता एवं स्रोतों[२] के अध्यक्षों को छोड़कर शेष सब शासन-पदाधिकारी, जो शासन के दैनन्दिन कार्यो की व्यवस्था से संबंध रखते

हैं शलाकाग्रहण की पद्धति से चुने जाते हैं। उपर्युक्त अधिकारी-वर्ग मतदान द्वारा चुने जाते हैं और एक पानाथेनिक उत्सव से दूसरे पानाथेनिक[३] उत्सव तक पदारूढ़ रहते हैं। सब युद्धाधिकारी भी मतदान द्वारा ही चुने जाते थे।

पंचशती परिषद् का चुनाव शलाकाग्रहण पद्धति से होता है, प्रत्येक गण में से ५० सदस्य चुने जाते हैं। प्रत्येक गण के प्रतिनिधि बारी बारी से प्रधान-समिति बनाते हैं एवं कब किसकी बारी हो यह बात पर्ची से निश्चित की जाती है। प्रथम चार प्रधान समितियाँ ३६, ३६ तीन पदासीन रहती हैं, शेष ६ में से प्रत्येक ३५ दिन पदारूढ़ रहती है क्योंकि वर्ष की गणना चान्द्र मास[४] के हिसाब से होती है। जिस समय जो प्रधान समति होती है वह प्रथम तो एक साथ थौलस्[५] में भोजन करती है, तथा उसको अपने भरण-पोषण के लिये राष्ट्र (सरकार) से धन मिलता है; दूसरे वही परिषद् और संसद् का सम्मेलन करते हैं। छुट्टी न होने पर, परिषद् की बैठक तो वे प्रतिदिन बुलाते हैं और संसद् का सम्मेलन एक प्रधानसमिति के स्थितिकाल में चार बार होता है। परिषद् के कार्यक्रम को प्रस्तुत करना, तथा यह निश्चय करना कि प्रत्येक दिन कितना काम परिषद् को करना होगा एवं बैठक कहाँ होगी, यह सब प्रधान-समिति का ही कर्त्तव्य है। अपने कार्यकाल में होनेवाली संसद की बैठकों का कार्यक्रम तैयार करना भी इन्हीं का काम है। इन एक प्रधान समिति के कार्यकाल में होने-वाले संसद् के चार सम्मेलनों में से एक सर्वसत्ताक (श्रेष्ठ) सम्मेलन कहलाता है, जिसमें, जनता को शासनाधिकारियों को (यदि उन्होंने अपना कार्य सुचारु रूप से किया हो तो) आगे भी पदारूढ़ रहने की स्वीकृति देनी होती है; अन्न-(संग्रह) एवं देशरक्षा की समस्या पर विचार करना होता है। इसी दिन जो कोई व्यक्ति किसी के विरुद्ध अभियोग लाना चाहे तो उसका भी आरंभ हो सकता है; सरकार (जनता) द्वारा (ज़ब्त) अपहृत सम्पत्ति की तालिका एवं उत्तराधिकार[६] तथा रक्षिता संबंधी प्रार्थनापत्र स्पष्टतया पढ़े जाते हैं, जिससे कोई भी विषय संबंधित व्यक्ति के अनजाने में बिना आलोचना के निर्णीत न हो सके। छठी प्रधान समिति के कार्यकाल में होने-वाली "श्रेष्ठ" बैठक में उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त यह प्रश्न भी मतदान के लिये प्रस्तुत किया जाता है कि बहिष्कार के विषय में मत देना वांछनीय है या नहीं, अथेन्सनिवासी एवं अथेन्स में बसे हुए विदेशी अभियोग-जीवियों के विरुद्ध दोनों वर्गों में से प्रत्येक के विरुद्ध तीन तक शिकायतें सुनी जाती हैं एवं इसके साथ ही ऐसे मामलों की भी सुनवाई होती है जिनमें किसी व्यक्ति ने जनता के प्रति कोई प्रतिज्ञा करके उसे पूर्ण न किया हो। प्रत्येक प्रधान समिति के कार्यकाल में संसद् की एक दूसरी बैठक प्रार्थनाएँ

सुनने के लिये नियुक्त की होती है। इस बैठक में, प्रार्थी के जितून की (ऊन से लिपटी) शाखा भेंट करने पर किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक विषय में जनता के प्रति बोलने की स्वतंत्रता होती है। शेष दो सम्मेलन अन्य सभी विषयों के निमित्त हो सकते हैं। नियमों का इनके विषय में निर्देश यह है कि इनमें तीन धर्म संबंधी विषयों का विचार हो, तीन संदेशहरों तथा राजदूत संबंधी विषयों का एवं तीन लौकिक विषयों का। कभी कभी कुछ ऐसे विषयों पर भी विचार किया जाता है जिनकी विचारणीयता के विषय में संसद् में प्राक्मतदान नहीं हुआ होता।

संदेशहर एवं राजदूत सबसे पहले प्रधान समिति के ही समक्ष उपस्थित होते हैं तथा लेखहारक भी अपने लेखों को प्रथम प्रधान समिति को ही अर्पित करते हैं।

४४

(प्रितानेइया (प्रधान-सभा) का अध्यक्ष। संरक्षक कार्यवाह। युद्धाध्यक्षों का चुनाव।)

प्रधान समिति का एक अध्यक्ष होता है जो शलाकाग्रहण द्वारा चुना जाता है, तथा जो एक रात और एक दिन के लिये अध्यक्ष का कार्य करता है; वह न तो इतने समय से अधिक पदारूढ़ रह सकता है और न दो बार अध्यक्ष बन सकता है। वह पवित्र भंडारों की कुंजियाँ अपने पास रखता है जिनमें कोप और राष्ट्र का अभिलेख-संग्रह संरक्षित रहता है एवं मुद्रा भी रहती है; उसको अपने द्वारा निर्दिष्ट एक तिहाई प्रधान समिति के साथ अवश्यमेव थौलस् में रहना पड़ता है। जब कभी प्रधान समिति परिपद् अथवा संसद् का सम्मेलन आयोजित करती है तो प्रधान समिति का अध्यक्ष, उस गण को छोड़कर जिसमें से विद्यमान प्रधान समिति का निर्माण हुआ होता है, शेप नौ गणों में से शलाकाग्रहण द्वारा प्रत्येक से एक एक संरक्षक[1] कार्यवाह चुनता है, और फिर इसी प्रकार इनमें से एक को इनके अध्यक्ष के रूप में नियुक्त करता है एवं सम्मेलन का कार्यक्रम उनको सौंप देता है। वे उसको ले लेते हैं और सम्मेलन में सुव्यवस्था की देखभाल करते हैं, जिन समस्याओं (विपयों) पर विचार करना होता है उनको प्रस्तुत करते हैं, मतदान के परिणाम का निर्णय करते हैं एवं सामान्यतया सभी कार्य-संचालन की व्यवस्था करते हैं। उनको सम्मेलन को समाप्त करने का अधिकार भी होता है। कोई भी व्यक्ति एक वर्ष में एक बार से अधिक कार्यवाह-समिति का अध्यक्ष नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्येक प्रधान समिति के कार्यकाल में एक बार कार्यवाह हो सकता है।

प्रधान युद्धाध्यक्ष, अश्वसेनाध्यक्ष एवं अन्य युद्धाधिकारियों तथा सेनापतियों के पदों के चुनाव जन (-संसद) में होते हैं, तथा इन निर्वाचनों का प्रकार जनमत के अनुसार निश्चय किया जाता है। यह निर्वाचन छठी प्रधान-समिति के कार्यकाल के उपरान्त[२] ऐसी प्रधान-समिति के द्वारा किया जाता है जिनके समय लक्षण (शकुन) शुभ हों। पर इस विषय में भी परिषद् के द्वारा पूर्वमेव विचार कर लेना आवश्यक है।

४५

(परिषद् का दण्ड संबंधी निर्णयक्षेत्र। इसकी मर्यादा प्रारंभिक परीक्षण तक है।)

प्राचीन काल में तो परिषद् को, धनदण्ड देने का, कारावास देने का एवं मृत्युदण्ड देने का पूर्ण अधिकार था। पर जब उस (परिषद्) ने लीसिमाखस[१] को घातक को सौंप दिया था, एवं वह तत्काल वध किये जाने की आशा में बैठा था, तो अलोपैकी के यूमेलिदीस ने उसको परिषद् से छुड़ा लिया और यह प्रतिपादित किया कि न्यायालय[२] की जानकारी (अथवा निर्णय) के बिना किसी नागरिक का वध नहीं होना चाहिये। अतएव उस पर न्यायालय में अभियोग चला और लीसिमाखस वहाँ से (अपराध-) मक्त कर दिया गया, एवं इसके अपरान्त उसको "वध मुग्दर से बचा हुआ" यह उपनाम मिला। जनता ने उस समय से परिषद् को मृत्युदण्ड, कारादण्ड एवं अर्थदण्ड देने के अधिकार से वंचित कर दिया; एवं यह नियम निर्धारित किया कि यदि परिषद् किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दण्डनीय निर्णय करे अथवा उस पर अर्थदण्ड डाले तो थैस्मॉथीताए[३] परिषद् के निर्णय अथवा अर्थदण्ड को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करेंगे, एवं इस विषय में अन्तिम निर्णय का अधिकार न्यायपुरुषों (जूरर्स) के मतदान को होगा।

परिषद् प्रायः अधिकांश शासनाधिकारियों के विषय में निर्णय किया करती है, विशेषकर उनके विषय में जिनके हाथ में धन का प्रबन्ध रहता है। तथापि इसका निर्णय अन्तिम नहीं होता, न्यायालय में इस निर्णय का पुनर्विचार (अपील) हो सकता है। सामान्य व्यक्ति भी चाहे तो किसी शासनाधिकारी के विरुद्ध परिषद् में यह घोषणा करने का अधिकार रखता है कि अमुक अधिकारी नियमों का पालन नहीं कर रहा है; परन्तु यदि परिषद् इस आरोप को सिद्ध हुआ घोषित करे तो इसका पुनर्विचार (अपील) न्यायालय में हो सकता है। परिषद् उन लोगों का भी परीक्षण (अथवा निकषण) करती है जो आगामी वर्ष में इस (परिषद्) के सदस्य होनेवाले हैं एवं इसी प्रकार नौ आर्खनों का भी परीक्षण करती है। पहले तो (विविध पदों के) प्रार्थियों को

(अयोग्य होने के कारण) अस्वीकार कर देने का पूर्णाधिकार परिषद् को था, पर अव वे न्यायालय में पुनर्विचार (अपील) कराने का अधिकार रखते हैं। अतएव इन सब मामलों में परिषद् का निर्णयाधिकार सर्वोच्च (अथवा अन्तिम) नहीं है। तथापि जो भी विषय जनसंसद् के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं उनका पूर्व प्रारंभिक परीक्षण करना परिषद् का काम है। जनसंसद् तब तक किसी विषय पर मत नहीं दे सकती जब तक कि परिषद् के द्वारा उस पर विचार करके, प्रधानसमिति के द्वारा उसको कार्यक्रम में सम्मिलित न कर लिया गया हो। क्योंकि कोई भी ऐसा व्यक्ति जो जनसंसद् में कोई प्रस्ताव स्वीकार करा ले तो इस नियम के अनुसार उस पर अनियमित प्रस्ताव पास कराने के कारण अभियोग चलाया जा सकता है।

४६

(पोतनिर्माण-योजना का निरीक्षण और संचालन। सार्वजनिक भवनों का निरीक्षण।)

परिषद् उन सब त्रिरीमी[1] पोतों (नौकाओं) की उनकी साजसज्जा एवं नावघरों के सहित सारसँभाल करती है जो पहले से विद्यमान होते हैं। तथा त्रिरीमी अथवा चतुरीमी (जैसा भी जनसंसद् अपने बहुमत से निर्णय करती है), नये पोतों का तदनुरूप सज्जा और नावघरों के सहित निर्माण भी करती है। इन नौकाओं के निर्माण के लिए प्रमुख निर्माताओं को जनसंसद् अपने बहुमत से नियुक्त करती है। यदि वे लोग इन नौकाओं को परिपूर्ण रूप में बनाकर दूसरी परिषद् को नहीं सौंप देते हैं तो पुरानी परिषद् को वह दान प्राप्त नहीं हो सकता—जो कि चलन के अनुसार उत्तराधिकारी परिषद् के कार्यकाल में विगत परिषद् को मिला करता है। त्रिरीमी नौकाओं को बनाने के लिए परिषद् अपने में से ही १० व्यक्तियों को आयोक्ता के रूप में चुनती है वे ही इन नौकाओं को बनवाते हैं। परिषद् सब सार्वजनिक भवनों का भी निरीक्षण करती है, और यदि उसकी सम्मति में राष्ट्र को धोखा दिया जा रहा हो तो वह धोखा देनेवाले की सूचना जनसंसद् को दे देती है और दण्डादिष्ट होने पर उसको न्यायालय को सौंप देती है।

४७

(अन्य अधिकारियों के साथ परिषद् का सहयोग। कोषाध्यक्ष और सार्वजनिक ठेकों के अध्यक्ष)

परिषद् अन्य शासनाधिकारियों के बहुत से कर्तव्य-कार्यों में उनके साथ मिलकर प्रबन्ध करती है। सबसे पहले अथेना देवी के कोषाध्यक्षों को ही लें; इनकी संख्या १० होती है एवं यह शलाकाग्रहण-पद्धति द्वारा प्रत्येक गण में से एक के हिसाब से चुने जाते

हैं। सोलॉन् के नियम के अनुसार (जो नियम इस समय भी चालू है) यह पंचशतियों (पैंता कौसियोमेदिम्नस्) में से होने चाहिये, पर वास्तविकता यह है कि यदि पर्ची से कोई नितान्त निर्धन व्यक्ति भी चुन लिया जाता है तो वह भी इस पद का कार्य करता है। यह पदाधिकारी परिषद् के समक्ष अथीना और विजया की मूर्त्तियों,[1] मन्दिर के अन्य आभूषणों एवं अलंकारों तथा कोश सब की रक्षा का भार (चार्ज) ग्रहण करते हैं।

इसके उपरान्त सार्वजनिक ठेकों और अभिसमयों के आयोक्ताओं का नम्बर आता है, यह भी दस होते हैं और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति एक एक गण में से गुटिका द्वारा चुना जाता है। यह लोग सब सार्वजनिक ठेकों को उठाया करते हैं। सैनिक कोषाध्यक्ष एवं रंगकोष के आयोक्ताओं के साथ मिलकर यह लोग खानों और करों को परिषद् की उपस्थिति में ठेके पर उठाया करते हैं, तथा परिषद् के मतदान द्वारा निर्दिष्ट व्यक्तियों को उन खानों पर अधिकार प्रदान करते हैं जो सरकार द्वारा ठेके पर दी जाती हैं, जिनमें वे खानें भी सम्मिलित होती हैं जो खोदने योग्य होती हैं तथा जो तीन वर्ष के लिए ठेके पर दी जाती हैं, तथा वे भी होती हैं जो विशेष (रियायती) प्रबन्ध के कारण दस वर्ष[2] के लिए उठाई जाती है। परिषद् की उपस्थिति में वे उन लोगों की सम्पत्ति को बेचते हैं जो अरियोपागस् के न्यायालय से निर्वासित कर दिये गये हैं अथवा अन्य किसी कारण से, तथा ये सब ठेके नौ आर्खनों द्वारा प्रमाणित किये जाते हैं। जिन करों (चुंगी) का वर्ष के लिए ठेका दिया जाता है उनकी तालिकाओं को, श्वेत पट्टिकाओं पर ठेकेदारों का नाम और दिये हुए दाम लिखकर, वे परिषद् के पास जमा कर देते हैं। वे विविध प्रकार की सूचियों को पृथक् पृथक् प्रस्तुत करते हैं; प्रथम सूची उन लोगों की होती हैं जो अपने अंश प्रत्येक प्रधान समिति के कार्यकाल में चुकाते हैं, यह अलग दस पट्टिकाओं पर अंकित होती है; दूसरी सूची उन लोगों की होती है जो वर्ष में तीन अंश चुकाते हैं, इसमें भी प्रत्येक अंश की एक पट्टिका होती है; तीसरी सूची ऐसे व्यक्तियों की होती है जो अपना द्रव्य वर्ष में केवल एक बार नवीं प्रधान-समिति के कार्यकाल में चुकाते हैं। जो खेत और घर न्यायालय के आदेशानुसार (सरकार के द्वारा अपहृत) किये और बेचे गये हैं उनकी भी वे एक तालिका बनाते हैं; क्योंकि यह भी उन्हीं का काम है। घरों का मूल्य अवश्य ही पाँच वर्ष में चुका दिया जाना चाहिये एवं खेतों का दस साल में। इनके मूल्य के वार्षिक अंश प्रतिवर्ष नवीं प्रधान-समिति के कार्यकाल में दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त राजा-आर्खन आवेष्टित देवभूमियों[3] के श्वेत पट्टिकाओं पर अंकित ठेकों को भी परिषद् के समक्ष

प्रस्तुत करता है। यह ठेके भी दस वर्ष के लिए होते हैं और इनके मूल्य के वार्षिकांश भी नवीं प्रधान-समिति के कार्यकाल में ही जमा किये जाते हैं। इसलिए इस नवीं प्रधान-समिति के कार्यकाल में सबसे अधिक धन का संग्रह होता है। दातव्य धनांशों की सूचियों से अंकित पट्टिकाएँ परिषद् में लाई जाती हैं, एवं जनलेखक उनकी रक्षावेक्षा (सार-सँभाल) करता है। जब कभी धनांश जमा करना होता है तो वह कोष्ठकों में ठीक उस धन की तालिका को निकालता है जो उस दिन जमा होकर काट दी जानी चाहिये एवं उस तालिका को मुख्य प्रतिगृहीता को दे देता है। शेष तालिकायें अलग रखी जाती हैं जिसमे जमा होने के पहले किसी धनराशि की तालिका को काट न दिया जाय।

४८

(मुख्य प्रतिगृहता। आयव्यय निरीक्षक। आयव्यय के लेखे के परीक्षक।)

इस धन को ग्रहण करनेवाले मुख्य प्रतिगृहीता (अपोदेक्ताए) होते हैं, यह भी प्रत्येक गण में से एक के हिसाब से गुटिका द्वारा चुने जाते हैं। ये जन-लेखक से पट्टिकाओं को लेकर परिषद् की उपस्थिति में जो ठेकों के धनांश जमा कर दिये जाते हैं उनको तालिकाओं में से काटते जाते हैं और अन्त में पट्टिकाओं को जन-लेखक को लौटा देते हैं। यदि कोई व्यक्ति दातव्य धनांश को जमा नहीं कर पाता है तो इस बात को पट्टिका पर उल्लिखित कर दिया जाता है; तथा उसको कमी का दुगुना धन देने को वाध्य होना पड़ता है, और यदि न दे पाये तो कारावद्ध होना पड़ता है। इस धन को वसूल करने और इस कारादण्ड को देने का पूर्ण अधिकार परिषद् को नियमानुसार प्राप्त है। अतएव वे इन सब धनांशों को पहले तो एक दिन प्राप्त (वसूल) करते हैं और शासनाधिकारियों में बाँट देते हैं, एवं दूसरे दिन वे इस विभाजन के विवरण को काष्ठ के सूचना पटल पर लिखकर प्रस्तुत करते हैं और उसको परिषद्-भवन में पढ़कर सुनाते हैं। इसके उपरान्त वे परिषद् में सबके सामने खुला प्रश्न रखते हैं कि क्या किसी को इस विभाजन के विषय में किसी शासनाधिकारी अथवा अन्य साधारण व्यक्ति के संबंध में किसी अनौचित्य का पता है, और यदि किसी का अनौचित्य समझा जाता है तो उसके विषय में मत लिया जाता है।

परिषद् अपने ही सदस्यों में से गुटिका द्वारा दस आयव्यय-निरीक्षक (लौगिस्ताइ) चुनती है जिनका काम प्रत्येक प्रधान-समिति के कार्यकाल के शासन-पदाधिकारियों के आयव्यय के लेखे का परीक्षण करना होता है। वे प्रत्येक गण में से गुटिका द्वारा

५०

(मन्दिरों के जीर्णोद्धार करने वाले आयोक्ता। नगर-वस्तु आयोक्ता।)

देवमन्दिरों के जीर्णोद्धार (मरम्मत) के लिये भी दस आयोक्ता होते हैं जो गुटिका द्वारा चुने जाते हैं, जो मुख्य आहर्त्ता से तीस मीना लेते हैं और इस धन के द्वारा वे मन्दिरों का परमावश्यक जीर्णोद्धार किया करते हैं। और इसी प्रकार दस नगराध्यक्ष भी हैं, इनमें पाँच पिरेइयस में पदारूढ़ रहते हैं एवं पाँच नगर (अथेन्स) में। उनका काम यह देखभाल करना था कि वंशी, विपंची एवं सितार बजानेवाली स्त्रियाँ (संगीत-जीविकाएँ)[१] दो द्राख्मा से अधिक पर उपनियुक्त न की जायँ; एवं यदि एक से अधिक व्यक्ति एक ही संगीताजीविका को उपनियुक्ति करने के लिये उत्सुक हों, तो यह अध्यक्ष लोग पर्ची डालते हैं तथा जिसके नाम की पर्ची निकले वही उसको उपनियुक्त कर सकता है। इस बात की देखभाल करना भी उनका कर्तव्य है कि कोई भी मल और खाद को इकट्ठा करने वाला व्यक्ति कूड़े-कचरे को नगरप्राचीर से १० स्तदिया[२] से कम दूरी पर न फेंके। वे (नगरनिवासी) मनुष्यों को भवननिर्माण द्वारा मार्ग रोकने, सड़कों पर बाड़ा बाँधने, खुली वायु में सड़क पर गिरनेवाली परनालों को बनाने, सड़कों पर बाहर की ओर खुलनेवाले द्वार (अथवा खिड़कियाँ) बनाने से रोकते हैं। जो लोग नगर की सड़कों पर मर जाते हैं उनके मृतक शरीरों को भी वे ही हटवाते हैं, एवं इस कार्य के लिये कुछ सार्वजनिक दास उनको मिले रहते हैं।

५१

(हट्टाध्यक्ष। नाप-तौल के अध्यक्ष। अन्नाध्यक्ष। हदनियंत्रक।)

हाट के (१०) अध्यक्ष (अगोरानोमी) शलाकाग्रहण-पद्धति से चुने जाते हैं, जिनमें से पाँच पिरेइयस के लिये होते हैं और पाँच (अथेन्स) नगर के लिये। नियम के द्वारा नियोजित उनका कर्तव्य यह है कि बाजार में जो वस्तुएँ विक्रय के लिये लायी जाती हैं वे उनके विषय में यह सारसँभाल रखें कि वे शुद्ध और अविमिश्रित (घालमेल से रहित) हैं।

नापतौल के (१०) अध्यक्ष भी गुटिका द्वारा चुने जाते हैं, पाँच (अथेन्स) नगर के लिये और पाँच पिरेइयस के लिये। यह सब नापतौलों की जाँच पड़ताल रखते हैं जिससे सब बेचनेवाले समुचित नापतौल का ही व्यवहार करें।

पहले गुटिका द्वारा चुने हुए दस अन्नाध्यक्ष हुआ करते थे, पाँच पिरेइयस में और पाँच (अथेन्स) नगरी में ; अब बीस नगरी में हैं और पन्द्रह पत्तन (पिरेइयस) में । प्रथम तो वे इस बात की देखभाल रखते हैं कि बाजार में बेचा जानेवाला असिद्धान्न उचित (ठीक) मूल्य पर बेचा जाता है, दूसरे यह देखते रहते हैं कि पीसनेवाले जौ के आटे को जौ के समानुपातिक मूल्य पर बेचें, तथा रोटी बनानेवाले गेहूँ (अग्निकणान्न) की रोटी को गेहूँ के समानुपातिक मूल्य पर बेचें और ऐसी (इतनी) तौल बनाकर बेचें जैसे (जितनी) अध्यक्षों ने नियत कर दी है । क्योंकि तौल को नियत करने का आदेश नियम (कानून) द्वारा किया गया है ।

मण्डी (हाट) की देखभाल (व्यवस्था) करनेवाले १० अध्यक्ष (नियंत्रक) होते हैं जो गुटिका द्वारा चुने जाते हैं, इनको मंडी की सारसँभाल करने का आदेश किया होता है एवं यह आज्ञा मिली होती है कि जितना अन्न समुद्र के मार्ग से मंडी में आया है उसके २।३ भाग को नगर में लाने के लिये व्यापारियों को विवश करें ।

५२

(ग्यारह काराध्यक्ष । मासिक अभियोग और उनके प्रवर्त्तक ।)

सरकारी कारागारों में वन्दियों की देखभाल करने के लिए ११ काराध्यक्ष गुटिका द्वारा नियुक्त किये जाते हैं । चोर, मानवापहारी (आदमचोर) और गिरहकट लोग इनके पास लाये जाते हैं, और यदि वे अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं तो उनको मृत्युदण्ड दिया जाता है, परन्तु यदि वे अपराध के विषय में विवाद करते हैं तो ये काराध्यक्ष उनके मामले को न्यायालय के समक्ष ले जाते हैं ; यदि वन्दी लोग अपराध-मुक्त कर दिये जाते हैं तो उनको छोड़ दिया जाता है ; यदि ऐसा नहीं होता तो वे उनको मृत्युदण्ड दे देते हैं। जिन खेतों और मकानों को सरकारी घोषित किया जाता है उनकी तालिका को भी वे न्यायालयों के समक्ष उपस्थित करते हैं ; यदि यह निर्णय कर दिया जाता है कि वे सरकारी सम्पत्ति हैं तो वे उनको सरकारी ठेके देनेवाले अधिकारियों को सौंप देते हैं । जो पदाधिकारी अपने पद के अयोग्य समझे जाते हैं उनके विरुद्ध जो सूचना और प्रमाण होते हैं उनको भी यही लोग न्यायालय में उपस्थित करते हैं ; ऐसा करना भी इन्हीं का कार्य है ; पर इस प्रकार के कुछ मामले थैस्मो-थीतियों के द्वारा भी प्रस्तुत किये जाते हैं ।

1089

अभियोग प्रवर्त्तक पाँच व्यक्ति भी गुटिका द्वारा चुने जाते हैं ; इनमें से प्रत्येक व्यक्ति दो गणों के लिए चुना जाता है तथा इनका कार्य मासिक अभियोगों को न्यायालयों में प्रस्तुत करना है । मासिक अभियोग[१] इस प्रकार के होते हैं--जब किसी को दायज (यौतुक) देना हो और उसको न देना चाहे ; १२ प्रतिशत पर ऋण लिये हुए धन पर कोई सूद न देना चाहे; अथवा बाजार में व्यापार आरंभ करने का इच्छुक कोई व्यक्ति आरंभ में किसी दूसरे से ऋण ले ; इसी प्रकार अपमान करने के मामले, पत्तीदारी और साझेदारी के मामले, दास संबंधी अभियोग,भारवाही पशुओं के मामले, नावों के मुखियों के मामले[२] अथवा बैंकों के अभियोग । यह अभियोग मासिक अभियोगों के रूप में इन अधिकारियों द्वारा न्यायालयों में उपस्थित किये जाते हैं; किन्तु करसंग्राहकों के पक्ष अथवा विपक्ष में इसी प्रकार का कार्य मुख्य-आहर्त्ताओं को करना पड़ता है । जिन अभियोगों में विवादग्रस्त धन १० द्राख्मा से अधिक नहीं होता उनको निर्णय करने का अधिकार स्वयं उन्हें ही होता है, पर इस अधिक मूल्यवान् अभियोगों को वे निर्णय के लिये न्यायालयों के समक्ष उपस्थित करते हैं ।

५३

(चालीस स्थानीय न्यायकर्त्ता । मध्यस्थ निर्णेता । सरनाम स्थविर-वर्ग ।)

चालीस स्थानीय न्यायकर्त्ता, प्रत्येक गण में से चार के हिसाब से, शलाकाग्रहण पद्धति से चुने जाते हैं ; आवेदक लोग अन्य सब प्रकार के अभियोग इनके समक्ष उपस्थित करते हैं । पहले इनकी संख्या तीस थी;और यह लोग अभियोगों को सुनने के लिए मुहल्लों की फेरी किया करते थे पर "तीस" के अल्पजनतंत्रात्मक शासन के पश्चात् इनकी संख्या बढ़ाकर चालीस कर दी गयी । जिन अभियोगों में विवादग्रस्त धन की मात्रा १० द्राख्मा तक होती है उनको निर्णय करने की पूर्ण शक्ति (अधिकार) इनको प्राप्त है ; पर इस मूल्य से अधिकवाले मामलों को वे मध्यस्थनिर्णेताओं के पास भेज देते हैं । मध्यस्थ लोग इन अभियोगों को ग्रहण कर लेते हैं और यदि वे दोनों पक्षों में मेल (सन्धि) नहीं करा सकते तो वे अपना निर्णय दे देते हैं । यदि उनका निर्णय दोनों पक्षों को सन्तुष्ट कर दे और वे उनकी शर्तों को मान लें, तो अभियोग की समाप्ति हो जाती है ; पर यदि उभय पक्षों में से कोई भी एक न्यायालय में प्रतिनिवेदन (अपील) करता है तो मध्यस्थ लोग उभय पक्ष द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों, तर्कयुक्तियों एवं नियमों के उद्धरणों को पृथक् पृथक् भाण्डों में (वादी पक्ष के एक में और प्रतिवादी पक्ष के दूसरे में) बन्द कर देते हैं । इन भाण्डों को वे मुद्रा से अंकित एवं हस्ताक्षरों से युक्त कर

देते हैं, इनके साथ में वे मध्यस्थ का निर्णय भी पट्टिका पर लिखकर जोड़ देते हैं; एवं इन भाण्डों को उन चार न्यायकर्त्ताओं की संरक्षा में दे देते हैं जिनका कर्तव्य प्रतिवादी के गण के अभियोगों को निर्णयार्थ (न्यायालय में) उपस्थित करना होता है। ये (चार) अधिकारी इन भाण्डों को ले लेते हैं, और यदि मामला १००० ड्राक्मा तक का होता है तो उसको २०१ जूरियों के न्यायालय में उपस्थित करते हैं और यदि इससे अधिक मूल्य का हुआ तो ४०१ के। (इस अपील में) जो नियम, तर्क, युक्तियां एवं साक्ष्य मध्यस्थ के समक्ष प्रस्तुत किये गये थे तथा जो भाण्डों में बन्द हैं, उनके अतिरिक्त और कोई नियम, तर्क और साक्ष्य उपस्थित नहीं किये जा सकते।

मध्यस्थ लोग ६० वर्ष की अवस्थावाले होते हैं; यह बात आर्खनों एवं ख्यातनामा व्यक्तियों की सूची से स्पष्ट हो जाती है। ख्यातनामा[1] (सन्नाम) व्यक्तियों के दो वर्ग हैं; एक तो उन दस ख्यातनामा पुरुषों का वर्ग है जिनके नाम पर दस गणों के नाम पड़े हैं, दूसरा वर्ग उन ४२ ख्यातनामा पुरुषों का है जिनके नाम पर (सेवा के) वर्षों के नाम पड़े हैं। पहले, जब युवक लोग नागरिकों की सूची मे सन्निविष्ट होते थे तो उनका नाम श्वेतवर्ण की पट्टिका पर लिख लिया जाता था; साथ ही उस आर्खन[2] का नाम भी लिखा जाता था जिसके वर्ष में यह निविष्ट होते एवं उस ख्यातनामा पुरुष का नाम भी लिखा जाता था जिसका नाम गत वर्ष में चालू था; आजकल उनका नाम एक पीतल के स्तम्भ पर लिख दिया जाता है और यह स्तम्भ परिषद् भवन के सामने गणों आदि पुरुषों के समीप स्थित है। तो यह चालीस स्थानीय न्यायकर्त्ता सेवावर्षो के अन्तिम नामदाता पुरुषों को लेते हैं और मध्यस्थता का कार्य उस वर्ष से संबंध रखनेवाले व्यक्तियों को सौंप देते हैं; किसको कौन से मध्यस्थता के कार्य करने होंगे इसके लिए शलाकाग्रहण-पद्धति का उपयोग किया जाता है; एवं शलाकाग्रहण द्वारा जो मध्यस्थता का कार्य जिसके भाग में आता है वह उसको अनिवार्यतया करना ही पड़ता है। इस विषय का नियम ऐसा है कि जो व्यक्ति मध्यस्थता के लिए आवश्यक वयस को प्राप्त होकर मध्यस्थ के रूप में राष्ट्र की सेवा नहीं करेगा वह (यदि वह उस समय अन्य पद पर आरूढ़ न हो अथवा विदेश में न गया हो) नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया जायगा। केवल यही व्यक्ति (अर्थात् अन्य पद पर आरूढ़ और प्रवास में गये हुए व्यक्ति) इस कार्य से मुक्त रहते हैं। यदि किसी के प्रति मध्यस्थ द्वारा अन्याय किया गया हो तो वह समग्र मध्यस्थ पटल के समक्ष प्रतिवेदन (अपील) कर सकता है; यदि वे उस (मध्यस्थ) को अपराधी पायेंगे तो वह अपने नागरिकता के अधिकारों से वंचित हो जायगा। इस प्रकार दंडित हुए

व्यक्तियों को भी प्रतिवेदन का अधिकार है। सैनिक अभियानों के संबंध में भी ख्यात-नामाओं की समयगणना का उपयोग होता है। जब सैनिक अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति सैनिक सेवाकार्य के लिए भेजे जाते हैं तो इस प्रकार की सूचना लिखकर लगा दी जाती है कि अमुक आर्खन और अमुक ख्यातनामा के समय से लेकर अमुक आर्खन और अमुक ख्यातनामा के समय के सैनिकों को अभियान पर जाना है।

५४

(सड़कों के अध्यक्ष। आयव्ययनिरीक्षक। संसद के लेखक और पाठक। सार्वजनिक यज्ञादि के अध्यक्ष। उत्सवों के आयोक्ता। सालामिस और पिरेइयस के प्रमुखशासक।)

निम्नलिखित पदाधिकारी भी शलाकाग्रहण-पद्धति से चुने जाते हैं। पाँच सड़कों के अधिकारी होते हैं जो अपने अधिकार में सार्वजनिक श्रमिकों का एक दल रखते हैं तथा जिनका काम सड़कों को ठीक रखना है। दस आयव्यय निरीक्षक होते हैं एवं दस उनके सहायक होते हैं ; वे सब व्यक्ति जो किसी भी शासन पद पर काम करते रहे हैं अपना अपना हिसाब इनके समक्ष ले जाते हैं। केवल यही अधिकारी ऐसे हैं जो उन सब पदाधिकारियों के हिसाब का निरीक्षण करते हैं जिनका नियमानुसार निरीक्षण होना चाहिये[1] और यही इन हिसाबों को परीक्षण के लिये न्यायालयों में उपस्थित करते हैं। यदि वह किसी पदाधिकारी द्वारा किये गये धनापहरण का उद्घाटन करें, न्यायकर्त्ता उसको चोरी के लिये दंडित कर दें तो उसने जितने धन को अनुचित प्रकार से आत्मसात् किया है, उससे दसगुना धन उसको देना पड़ता है। यदि वे किसी पदाधिकारी के विषय में यह प्रदर्शित (अथवा आरोप) करें कि उसने उत्कोच ग्रहण की है और न्यायकर्ता उसको अपराधी ठहरा दें तो यह उस पर भ्रष्टाचार के कारण अर्थदण्ड डालते हैं एवं उसको यह धन दसगुना लौटाना पड़ता है। अन्यथा यदि वे किसी अनुचित (अन्याय) व्यवहार का अपराधी ठहरायें तो इस दोष के कारण उस पर अर्थदण्ड (जुर्माना) डाला जाता है, और यदि यह धन नवीं प्रधान समिति के कार्यकाल के पूर्व ही चुकता कर दिया जाय तो इसमें वृद्धि नहीं की जाती ; अन्यथा यह द्विगुणित कर दिया जाता है। दसगुना दण्ड द्विगुणित नहीं किया जाता।

वह अधिकारी जो प्रधान समिति का लेखक कहलाता है गुटिका द्वारा चुना जाता है। सब सार्वजनिक आलेख उसके अधिकार में रहते हैं, जो प्रस्ताव संसद के द्वारा

स्वीकार किये जाते हैं उनकी रक्षा भी वही करता है। अन्य सब सरकारी पत्रों की प्रतिलिपियों की जाँच करना भी उसी का काम है, तथा वह परिषद् की बैठकों में भी उपस्थित रहता है। पहले वह हाथ उठाकर खुले मतदान के द्वारा चुना जाता था, एवं सर्वाधिक प्रतिष्ठाप्राप्त तथा विश्वसनीय व्यक्ति ही इस पद के लिये निर्वाचित होता था, पर उसका नाम उन स्तम्भों पर अधिलिखित पाया जाता है जिन पर सन्धियों, राजदूत की पदवी[2] एवं नागरिकता के दानों का अभिलेख है। पर अब वह शलाका-ग्रहण द्वारा चुना जाता है। इसके अतिरिक्त एक नियम (कानून) का लेखक भी होता है, वह भी शलाका-ग्रहण द्वारा चुना जाता है एवं वह परिषद् की बैठकों में उपस्थित रहता है; तथा वह भी सब नियमों की प्रतिलिपियों की जाँच करता है। संसद् अपने और परिषद् के लिये अभिलेखों को पढ़ने के लिये एक पाठक को हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुनती है। उच्च (एवं स्पष्ट) स्वर से अभिलेखों के वाचन के अतिरिक्त इसका अन्य कोई अधिकार (अर्थात् कर्तव्य) नहीं होता।

सार्वजनिक पूजा-अर्चा के कार्य को सम्पादित करनेवाले दस व्यक्तियों को भी संसद् गुटिका द्वारा निर्वाचित करती है; यह यज्ञयाग के आयोक्ता कहलाते हैं एवं देववाणी द्वारा निर्दिष्ट यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और अवसर आने पर दृष्टान्तों के साथ शुभ मुहूर्त्त को भी ग्रहण (अथवा अन्वेपण) करते हैं। संसद् अन्य १० व्यक्तियों को भी शलाकाग्रहण द्वारा निर्वाचित करती है जो (सांवत्सरिक) आयोक्ता कहलाते हैं तथा जो कुछ यज्ञ किया करते हैं एवं जो पानायेनेइया के अतिरिक्त अन्य सब पंचवार्षिक[3] उत्सवों का प्रबन्ध किया करते हैं। पंचवार्षिक उत्सव निम्नलिखित हैं, प्रथम देलॉस का उत्सव (यहीं एक सप्तवार्षिक उत्सव भी होता है) दूसरे ब्राउरोनिया, तीसरे हेराक्लेइया चौथे ऐल्यूसिनिया और पाँचवें पानाथेनिया; इनमें से कोई भी दो एक ही स्थान (अथवा वर्ष) में नहीं हो सकते। केफिस्टोफान के आर्खनकाल में इनके साथ हेफाएस्तिया नाम के एक और उत्सव को जोड़ दिया गया।[4]

सालामिस के लिये भी एक आर्खन शलाकाग्रहण पद्धति से चुना जाता है, एवं पिरेइयस के लिये भी एक लोकनाथ (देमार्ख) (इसी प्रकार) निर्वाचित किया जाता है। यह पदाधिकारी इन स्थानों पर दियोनिसिया उत्सव मनाते हैं और व्यय-वाहकों (खोरेगस्) को नियुक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त सालामिस् में तो आर्खन का नाम सार्वजनिक रूपेण अभिलिखित होता है।

५५

(आर्खन् और उनके चुनाव का विधिविहित अनुष्ठान।)

पूर्वोल्लिखित यह सब शासनाधिकारी शलाकाग्रहण पद्धति से चुने जाते हैं एवं इनके अधिकार भी उपर्युक्त ही हैं। अब इनके उपरान्त नौ आर्खनों का प्रसंग आता है। ये जो अधिकारी नौ आर्खन कहलाते हैं, उनकी नियुक्ति का जो प्रकार आरंभ से चला आ रहा है, वर्णन किया जा चुका है।[1] आजकल ६ थैस्माथीताए(नियमदाता)अपने अभिलेखक (मुंशी) के सहित शलाकाग्रहण पद्धति से चुने जाते हैं ; इनके अतिरिक्त परमार्खन,[2] राजा और युद्धाध्यक्ष भी चुने जाते हैं। इनमें से एक एक व्यक्ति बारी बारी से प्रत्येक जनगण (फिली) में से चुना जाता है। अभिलेखक को छोड़ शेष ९ आर्खनों का सर्वप्रथम परीक्षण (जाँच पड़ताल)पाँच सौ की परिषद् के द्वारा किया जाता है। लेखक का परीक्षण अन्य (=नव आर्खनों को छोड़कर शेष) शासनाधिकारियों की भाँति केवल न्यायालय द्वारा ही किया जाता है (क्योंकि चाहे तो कोई पदाधिकारी शलाकाग्रहण द्वारा चुना जाय और चाहे हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा, न्यायालय द्वारा सभी के परीक्षण का विधान है।) किन्तु नौ आर्खनों का परीक्षण दोनों स्थानों पर होता है ; प्रथम परिषद् में और फिर न्यायालय में। पहले ऐसा होता था कि जिस व्यक्ति को परिषद् अस्वीकार कर देती थी वह आर्खन नहीं हो सकता था ; पर आजकल अस्वीकृत व्यक्ति को न्यायालय में प्रतिवेदन (अपील) करने का अधिकार है, एवं परीक्षण के संबंध में चरमाधिकार न्यायालय को ही प्राप्त है। जब उनका परीक्षण होता है तो सबसे पहले उनसे पूछा जाता है कि तुम्हारे पिता का क्या नाम है, वह कौन दीने (मुहल्ले) का रहनेवाला है ? तुम्हारे पिता का पिता कौन है ? तुम्हारी माता कौन है ? तुम्हारी माता का पिता कौन है ? और कौन से मुहल्ले का रहनेवाला है ? तदुपरान्त उससे यह पूछा जाता है कि तुम्हारे यहाँ पैतृक अपोलो (सूर्यदेव) एवं घर की बाड़ी में स्थित ज्यूस[3] (सं० द्यौस) है अथवा नहीं ; यदि है तो उनका देवागार कहाँ है ? तदुपरान्त यह प्रश्न पूछे जाते हैं, क्या तुम्हारे यहाँ काटुम्बिक शवालय है, यदि है तो कहाँ है ? इसके पश्चात्(अन्त में) यह पूछा जाता है, क्या तुम अपने माता-पिता के प्रति सद्व्यवहार करते हो ? क्या तुम (राजकीय) करों को चुकाते रहते हो, क्या तुमने नियमापेक्षित युद्धाभियानों में सैनिक सेवा की है ? इन प्रश्नों को पूछ लेने के उपरान्त वह प्रार्थी से कहता है, "इन तथ्यों के साक्षियों को बुलाओ" ; जब प्रार्थी अपने

पक्ष के साक्षियों को प्रस्तुत कर चुकता है तो परीक्षक पूछता है "क्या कोई व्यक्ति इस प्रार्थी के विरुद्ध कोई दोषारोपण करना चाहता है ?" यदि कोई दोषारोपक होता है तो वह उभय पक्षों को अपना आरोप एवं आरोप का प्रत्याख्यान प्रस्तुत करने का अवसर देता है। तत्पश्चात् वह परिषद् में प्रस्ताव उपस्थित करता है कि वह परीक्षार्थी के विषय में हाथ उठाकर मतदान से निर्णय कर दे, एवं न्यायालय में भी प्रस्ताव उपस्थित करता है कि वह अपना अन्तिम निर्णय दे दे। यदि कोई भी उस पर आक्षेप न करना चाहे तो सीधे एकदम मतदान होने लगता है। पहले तो (न्यायालय में) केवल ही व्यक्ति सब न्यायकर्ताओं के लिये मतदान कर देता था, पर आजकल प्रत्येक न्यायकर्ता को प्रार्थी के विषय में अनिवार्यतया पृथक् पृथक् मत देना पड़ता है, जिससे यदि कोई अयोग्य (अर्थात् दुश्चरित्र) प्रार्थी आक्षेप करनेवालों से छुटकारा पा भी जाय तो न्याया-लय में उसको अयोग्य सिद्ध करना संभव हो सके।[४] इस प्रकार से परीक्षण समाप्त हो चुकने पर वे उस शिला की ओर जाते हैं जिस पर वलिपशु के खंड पड़े होते हैं तथा जिसके ऊपर मध्यस्थ अपना निर्णय देने के पूर्व शपथ लिया करते हैं एवं साक्षी लोग शपथपूर्वक अपना साक्ष्य देते हैं। आर्खन लोग इस शिला पर खड़े होते हैं एवं इस वात की शपथ करते हैं कि हम न्यायपूर्वक तथा नियमानुसार शासन करेंगे, शासनकार्य के संबंध में किसी प्रकार की भेंट पूजा स्वीकार नहीं करेंगे और यदि स्वीकार की तो स्वर्ण की प्रतिमा का उत्सर्ग करेंगे। यहाँ शपथ लेने के उपरान्त वे अक्रोपोलिस की ओर जाते हैं और वहाँ पर फिर एक वार इसी शपथ को दोहराते हैं; इसके उपरान्त वे पदारूढ़ हो जाते हैं।

५६

(मुख्य आर्खन और उसके कर्तव्य तथा अधिकार; व्ययवाहकों की नियुक्ति; उत्सवों के मनाने में उसका सहयोग; उसके समक्ष आने योग्य अभियोग।)

आर्खन, राजा और युद्धाध्यक्ष इन तीन अधिकारियों में से प्रत्येक को, जिनको यह स्वयं चाहें ऐसे दो दो सहायक मिलते हैं। अपने पद का कार्य आरंभ करने के पूर्व न्यायालय में इनका परीक्षण होता है; एवं जब भी (अर्थात् जितनी बार) ये लोग इस पद पर कार्य करते हैं तब ही इनको अपना हिसाब प्रस्तुत करना होता है।

ज्यों ही आर्खन पदारूढ़ होता है वह तत्काल पहले पहल यह घोषणा करता है कि जो कुछ (धनधान्य) किसी के पास मेरे पदारूढ़ होने के पूर्व था वह मेरे कार्यकाल

की समाप्ति तक उसके पास एवं उसके अधिकार में रहेगा। इसके उपरान्त वह अथेन्स के सब मनुष्यों में जो सबसे अधिक धनवान होते हैं ऐसे तीन व्यक्तियों को त्रागेदी लेखक कवियों की गायकमंडली के लिये व्ययवाहक[1] नियुक्त करता है। पहले वह कॉमेदी-कारों के लिये भी पाँच व्ययवाहक (खॉरेगस्) नियुक्त किया करता था, पर अब इनका व्ययभार सब गण वहन करते हैं। इसके पश्चात् वह गणों के द्वारा भरित दियौनीसिया के उत्सव के पुरुषों और लड़कों के गायकमंडल[2] एवं कामेदीकारों के गायकमंडल के व्ययवाहकों (अथवा मंडल नेताओं) को एवं थार्गेलिया के उत्सव के पुरुषों एवं लड़कों के गायनमंडल के व्ययवाहकों को ग्रहण करता है। (दियौनीसिया के उत्सव में प्रत्येक गण के द्वारा दिया हुआ एक एक गायकमंडल (खोरस) होता है पर थार्गेलिया के उत्सव में दो गणों के पीछे एक मंडल होता है और प्रत्येक गण गायकमंडल के व्यय के अर्द्धांश को वहन करता है।) वह इनके लिये सम्पत्ति के परिवर्तन का प्रबन्ध करता है[3] और यदि कोई यह हेतु प्रस्तुत करे कि मैं तो इस प्रकार के सेवाभार को पहले ही उठा चुका हूँ अथवा मैं तो इस प्रकार के सेवाभार से मुक्त हूँ क्योंकि मैं इसी के सदृश दूसरा भार उठा चुका हूँ और मेरी छूट का समय अभी समाप्त नहीं हुआ है, अथवा अभी मैं इसकार्य के लिये वयःप्राप्त नहीं (क्योंकि लड़कों का गायकमंडल का व्ययवाहक (अथवा नेता) ४० वर्ष से अधिक आयु का होना चाहिये) तो वह इस प्रकार के हेतुओं की सूचना देता है। वह देलास्[4] के उत्सव के लिये भी व्ययवाहक को नियुक्त करता है एवं तीस पतवारों की जो नौका नवयुवकों को देलास् की ओर ले जाती है उसके लिये प्रतिनिधि मंडल के मुखिया को भी नियुक्त करता है। वह दोनों ही पवित्र प्रयाणोत्सव की देखरेख और सारसँभाल भी करता है, एक उसकी जो कि अस्क्लेपियस[5] के सम्मान में चलता है तथा जिसमें दीक्षित लोग अपने घरों पर ही रहते हैं, दूसरे महान् दियोनीसिया के प्रयाणोत्सव की—पर दियोनीसिया के उत्सव की देखभाल वह उत्सव के अध्यक्षों के साथ मिल कर करता है। यह अध्यक्ष लोग, जिनकी संख्या दस होती है, पहले तो हाथ उठाकर होनेवाले खुले मतदान से संसद में चुने जाते थे, एवं जो प्रयाणोत्सव के व्यय को अपने व्यक्तिगत वित्त में से ही भरते थे; पर अब इनमें से प्रत्येक व्यक्ति एक एक गण में से शलाकाग्रहण द्वारा चुना जाता है, और सरकार की ओर से व्यय के लिये उनको १०० मिना दिये जाते हैं। थार्गेलिया के उत्सव में जो प्रयाणोत्सव होता है तथा सुत्राणदाता द्यौस देव के सम्मानार्थ जो यात्रोत्सव होता है उसकी देखभाल सारसँभाल भी आर्खन ही करता है। दियोनीसिया और थार्गेलिया के उत्सव में होने-वाली प्रतिस्पर्द्धाओं की व्यवस्था भी वही करता है। बस यही उत्सव हैं जिनकी सार सँभाल उसको करनी पड़ती है।

सार्वजनिक अपराधों एवं व्यक्तिगत मामलों के जो अभियोग उसके समक्ष आते हैं तथा जिनको प्रारंभिक परीक्षण के पश्चात् वह न्यायालय में भेज देता है, निम्नलिखित हैं। माता पिता को चोट पहुँचाना (ऐसे अभियोगों को प्रस्तुत करने पर वादी (अभियोक्ता) पर कोई दण्ड नहीं पड़ सकता था)[1]; अनाथों को चोट (अथवा हानि) पहुँचाना यह अभियोग अनाथों के संरक्षकों के विरुद्ध चलाये जाते थे, राष्ट्र की रक्षिताओं को चोट (अथवा हानि) पहुँचाना (यह अभियोग उनके अभिभावकों अथवा पतियों के विरुद्ध होते थे); अनाथ की सम्पत्ति (स्थावर) को हानि पहुँचाना (यह भी उनके संरक्षकों के ही विरुद्ध चलाये जा सकते थे); मनोविक्षेप के मामले, जिनमें कि एक पक्ष दूसरे पक्ष पर विक्षिप्तता के कारण अपनी ही सम्पत्ति को विनष्ट करने का अपराध लगाता हो; जब कोई एक पक्ष ऐसी सम्पत्ति को बाँटने से इनकार करे जिसमें दूसरों का भी भाग हो तो ऐसे अवसर पर विभाजक नियुक्त करने के मामले; संरक्षकता की स्थापना के मामले, संरक्षकता के लिये प्रतिस्पर्द्धा होने पर दो पक्षों के मध्य उचित संरक्षक निर्धारित करने के मामले, जिस सम्पत्ति पर कोई दूसरा पक्ष अपने अधिकार का दावा करे उसके निरीक्षण की आज्ञा देना, स्वयं अपने को संरक्षक नियुक्त करना, उत्तराधिकार एवं राष्ट्र संरक्षिताओं से संबंध रखनेवाले विवादों को निर्धारित करना। अनाथों, राष्ट्र संरक्षिताओं एवं ऐसी स्त्रियों की (जो अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने को गर्भवती बतलाती हों) सारसँभाल करना भी आर्खन का ही काम है। अपनी रक्षा में रहनेवाले व्यक्तियों के प्रति अपराध करनेवालों को (अर्थ-) दंड देने का अथवा ऐसे मामलों को न्यायालय में प्रस्तुत करने का अधिकार आर्खन को प्राप्त होता है। जब तक अनाथ और संरक्षिताएँ १४ वर्ष की नहीं हो जातीं तब तक वह उनके मकानों को किराये पर उठाता है और उनको गिरवीं रखता है और यदि संरक्षक लोग अपने संरक्षित बच्चों को भोजन इत्यादि नहीं देते तो वह उनसे उसको वसूल करता है? बस आर्खन के कर्तव्य यही हैं।

(५७)

(राजा – उसके द्वारा लीलाओं और छोटे दियोनीसिया उत्सव की अध्यक्षता। मानव-हत्या का अभियोग।)

प्रथम तो राजा (बासीलियम्) रहस्य लीलाओं के अध्यक्षों के साथ लीलाओं की देखभाल करता है। यह अध्यक्ष लोग संसद में हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा इस प्रकार चुने जाते थे कि इनमें से दो तो अथेन्स की साधारण जनता में से लिये जाते थे, एक यूमोलपस के वंशधरों में से तथा एक केरीकॉस[1] के कुल में से। दूसरे, वह

लेनाइया के दियौनीसिया[२] उत्सव की अध्यक्षता करता है जिसमें एक यात्रोत्सव और एक (नाटकों की) प्रतिस्पर्द्धा होती है। यात्रा का प्रबन्ध तो अध्यक्षगण और राजा मिल कर करते हैं, पर प्रतिस्पर्द्धा की व्यवस्था केवल राजा के द्वारा ही की जाती है। मशालों की दौड़ की सब प्रतिस्पर्द्धाओं का प्रबन्ध भी वही करता है; एवं स्थूलरूप से कहा जा सकता है कि वह पैतृक परम्परा से चले आते हुए सभी यज्ञ-यागों की व्यवस्था करता है। देवनिन्दा (अश्रद्धा) संबंधी अभियोग उसी के समक्ष प्रस्तुत होते हैं एवं पौरोहित्य अनुष्ठानों से संबंध रखनेवाले विवाद भी। पुराने कुलों में तथा पुरोहितों में धार्मिक कृत्यों के संबंध में जो विवाद होते हैं उनको भी वही निर्धारित करता है[३]। मानव हत्या के सभी अभियोग उसके सामने आते हैं, एवं दूषित व्यक्ति को धार्मिक कृत्यों से पृथक् रखने की सार्वजनिक घोषणा करने का अधिकार भी केवल उसी को प्राप्त है। यदि हत्या और आघात जानबूझ कर किये गये हों तो हत्या और आघात के अभियोगों की सुनवाई अरियोपागस् में होती है; तथा विष देकर हत्या की गयी हो अथवा आग लगाने का अभियोग हो तो यह भी वहीं (अरियोपागस में ही) सुने जाते हैं। बस यही ऐसे अभियोग हैं जिनका निर्णय परिषद् किया करती है। बिना संकल्प के हुई मानवहत्या के अभियोग, अथवा किसी दास, अथवा अधिवसित विदेशी को मारने की इच्छा करने के अथवा मारने के अभियोग पल्लादियन[४] के न्यायालय में निर्णय किये जाते हैं। ऐसे अभियोग, जिनमें हत्या तो स्वीकार कर ली जाती है पर उसके लिए नियमानुकूल औचित्य की युक्ति उपस्थित की जाती है (जैसे कि परस्त्रीगामी को व्यभिचार करते पकड़ लेना, अथवा लड़ाई में भूल से (शत्रु के स्थान में) दूसरे को मार डालना, अथवा मल्लयुद्ध में प्रतिपक्षी को मार डालना इत्यादि) दैल्फीनियन् न्यायालय में निर्णीत होते हैं। यदि कोई ऐसी हत्या के कारण निर्वासित है जिसमें क्षमादान[५] (एवं सम्मिलन) संभव है और इसी बीच में यदि फिर वह किसी को मारने अथवा आघात पहुँचाने का अपराधी बन जाता है तो उस पर फ्रैआतम के न्यायालय में अभियोग चलाया जाता है और वह किनारे पर बँधी हुई नौका में से अपने मामले की पैरवी (डिफ़ेन्स) करता है[६]। जो अभियोग अरियोपागस के न्यायालय में निर्णय किये जाते हैं उनको छोड़कर शेष सब मामलों का फैसला वे एफेताए[७] करते हैं जो गुटिका द्वारा चुने जाते हैं। न्यायालय में इन अभियोगों को प्रविष्ट कराता है राजा और इनकी सुनवाई धर्मस्थान में एवं खुली हवा में होती है; और जब कभी राजा किसी अभियोग का निर्णय करता है तो वह अपना मुकुट उतार देता है। मानव हत्या का अभियुक्त मनुष्य अन्य सब समय धर्मस्थानों से बहिष्कृत रहता है, और नियम के अनुसार उसको बाजार में भी प्रवेश करने का अधिकार

नहीं होता ; पर अपने अभियोग की सुनवाई के समय वह मन्दिर में प्रवेश करके अपने पक्ष का बचाव कर (सक) ता है। यदि ठीक (वास्तविक) अपराधी विदित नहीं होता तो लिखित आदेश "काम करनेवाले के विरुद्ध" प्रचारित किया जाता है। राजा और गणराज ऐसे अभियोगों का भी निर्णय करते हैं जिनमें अपराध निर्जीव पदार्थों अथवा पशुओं द्वारा किया गया होता है[1]।

५८

(युद्धाध्यक्ष। उसके धार्मिक कर्तव्य। नागरिकों के अतिरिक्त अन्य मनुष्यों से संबंध रखनेवाले कार्यों में उसका कर्तव्य।)

युद्धाध्यक्ष आखेटिका देवी आर्तेमिस् और ऐन्यालियम्[1] के लिए बलि दिया करता है और युद्ध में मरे हुए वीरों के मृतोत्सव के समय होनेवाले वीरों के दंगल का प्रबन्ध करता है एवं हार्मोदियस तथा अरिस्तागैतान[2] की स्मृति में श्राद्धबलि प्रदान करता है। उसके समक्ष केवल व्यक्तिगत अभियोग ही (निर्णय के लिए) आते हैं, जिनका संबंध साधारण एवं विशेष-सुविधा-प्राप्त दोनों प्रकार के परिनिवसित विदेशियों एवं विदेशों के दूतों से होता है। उसका कर्त्तव्य इन अभियोगों को लेकर इनको दस भागों में विभक्त करना है और तदुपरान्त शलाका-ग्रहण पद्धति द्वारा जो भाग जिस गण के हिस्से में आता है उसको उसी के लिए सौंप देना (आयुक्त करना) है ; इसके वे शासन-पदाधिकारी जो गणों के लिए अभियोगों को आरंभ करते हैं इन अभियोगों को मध्यस्थों को दे देते हैं। ऐसे अभियोगों को तो पॉलीमार्क (सेनाध्यक्ष) स्वयमेव प्रवर्तित करता है जिनमें प्रतिनिवसित विदेशी पर अपने संरक्षक[3] के परित्याग का आरोप किया गया हो, अथवा संरक्षक न बनाने का आरोप लगाया गया हो, अथवा जिनका संबंध विदेशियों के उत्तराधिकार अथवा संरक्षितों से हो ; सामान्यरूपेण, सच तो यह है कि नागरिकों के लिए जो कार्य आर्खन करता है, विदेशियों के लिए वही सब कार्य पॉलीमार्क करता है।

५९

(थैस्मौथीताए = नियमनिर्माता और उनका विधिसंबंधी कार्य।)

थैस्मौथीतियों को प्रथम तो यह निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त होता है कि न्यायालय कौन से दिनों में न्याय-कार्य करेंगे, दूसरे वे उन न्यायालयों को पृथक् पृथक् शासन-पदाधिकारियों के लिए नियत करते हैं क्योंकि जो कार्यविधि थैस्मौथीति निर्धारित करते हैं पदाधिकारियों को अवश्यमेव उसी का अनुसरण करना पड़ता है। इसके अति-

रिक्त वे संसद के समक्ष राष्ट्रीय अपराध से संबंध रखनेवाले अभियोगों को आरंभ करते हैं, निन्दात्मक मतों को प्रस्तुत करते हैं, संसद के समक्ष किसी शासनपदाधिकारी के व्यवहार के प्रति चुनौती को प्रस्तुत करते हैं, अवैध प्रस्तावों की, एवं ऐसे विधि-प्रस्तावों की निन्दा करते हैं जो राष्ट्र के लिए उपयोगी नहीं होते, शासन-प्रमुखों अथवा उनके सभापति के व्यवहार के विषय में तथा सेनापतियों के द्वारा प्रस्तुत आयव्यय के लेखे के विषय में शिकायतें प्रस्तुत करते हैं। ऐसे सब सार्वजनिक अभियोग भी उन्हीं के समक्ष आते हैं जिनमें अभियोक्ता को (आरंभ में) धन जमा करना पड़ता है, जैसे विदेशी-पन को छिपाने का अभियोग, उत्कोच देकर विदेशीपन के छिपाने का अभियोग, धूर्त्तता-पूर्ण अपराध लगाने का अभियोग, उत्कोच ग्रहण करने पर अभियोग, दूसरे को झूठमूट राष्ट्र का ऋणी अभिलिखित कराने पर अभियोग, आह्वान सूचनाप्राप्ति के झूठे साक्ष्य पर अभियोग, किसी व्यक्ति को राष्ट्र के ऋणियों की सूची में निबद्ध करने के षड्यंत्र पर अभियोग, किसी व्यक्ति को ऋणियों की सूची में से निकाल देने पर अभियोग, परस्त्रीगमन करने पर अभियोग। सब शासनाधिकारियों के पदग्रहण करने से पूर्व परीक्षण को भी ये ही प्रस्तुत करते हैं।[१] मुहल्लों की अस्वीकृति एवं परिषद् द्वारा अपराध घोषणा को भी उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त वाणिज्य-सामग्री एवं खानों से संबंध रखनेवाले कुछ व्यक्तिगत मामलों को अथवा ऐसे अभियोगों को जिनमें किसी दास ने स्वतंत्र नागरिक के विषय में बुरा भला कहा हो, ये स्वयमेव प्रस्तुत करते हैं। फिर कौन सा न्यायालय कौन से शासनाधिकारी को सौंपा जायगा, तथा व्यक्तिगत मुकदमों के लिये अथवा सार्वजनिक मामलों के लिए, इसके लिए शलाका ग्रहण करने का कार्य भी वही करते हैं। वे व्यापारिक संधियों को नगर की ओर से स्वीकार करते हैं एवं इनसे उत्पन्न होनेवाले मुकदमों को प्रवर्तित करते हैं। अरियौपागस में होनेवाले झूठे साक्ष्य के मामलों को भी वही चालू करते हैं।

जूरी लोगों के चुनाव के लिये गुटिका-ग्रहण कार्य नौ आर्खनों एवं दसवें थैस्मॉथीतियों के अभिलेखक (मुंशी) द्वारा संपादित किया जाता है; इनमें प्रत्येक अपने गण में जूरियों के चुनाव का कार्य करता है। नौ आर्खनों के कर्त्तव्य इस प्रकार के हैं।

६०

(राष्ट्रीय क्रीडोत्सवों के आयुक्तगण; धर्मक्षेत्र के ज़ितून वृक्षों का तैल।)

राष्ट्रीय क्रीडोत्सव के दस आयुक्त पुरुष होते हैं जो प्रत्येक गण में से एक के हिसाब से गुटिका ग्रहण द्वारा चुने जाते हैं। यह पदाधिकारी एक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात्

चार वर्ष राष्ट्र की सेवा करते हैं। यह लोग पानाथैनी यात्रोत्सव, संगीत की प्रतिस्पर्द्धा, मल्लकार्यों की प्रतिस्पर्द्धा, एवं घुड़दौड़ की व्यवस्था करते हैं। अथीनादेवी के परिधान[1] को भी यही लोग प्रस्तुत करते हैं; परिषद् के साथ मिलकर (पुरस्कार मे दिये जानेवाले) पात्रादिकों[2] को बनवाते हैं तथा (विजयी वीर) मल्लों को तैल का उपहार देते हैं। यह तैल पवित्र जितून वृक्षों मे एकत्रित किया जाता है। आर्खन इस तैल को उन क्षेत्रों के स्वामियों से (जिनमें पवित्र ज़ितून के वृक्ष उगते हैं) ३ अर्द्धचपक प्रति वृक्ष के हिसाब से वसूल करता है। प्राचीन काल में तो सरकार ही फलों को वेचा करती थी, और यदि कोई पवित्र ज़ितून के वृक्षों में से एक को भी खोद कर उखाड़ता अथवा तोड़ डालता था तो अरियोपागस् की परिषद् में उसपर अभियोग चलाया जाता था और यदि अपराध सिद्ध हो जाता था तो उसका दण्ड मृत्यु थी। पर क्योंकि अब तैल क्षेत्रों के स्वामियों के द्वारा दे दिया जाता रहा है, अतएव यद्यपि अभी तक कानून वही चला आता है पर उसकी (पुरातन) प्रक्रिया लुप्त हो गयी है। अब तो सरकार इस भसम्पत्ति से तैल वसूल करती है न कि प्रत्येक वृक्ष की गिनती के आधार पर।[3] जब आर्खन अपने शासन संवत् के तैल को एकत्रित कर लेता है तो वह उसको अक्रोपौलिस में सुरक्षित रखने के लिये कोपाध्यक्षों को सौंप देता है, तथा जब तक वह तैल की पूर्णमात्रा को कोपाध्यक्षों को न सौंप दे तब तक वह अरियोपागस में अपने पद पर आसीन नहीं हो सकता। कोपाध्यक्ष इस तैल को पानाथैनी उत्सव तक अक्रोपौलिस में सुरक्षित रखते हैं और उत्सव आने पर वे उसको नाप कर उत्सव के आयुक्त पुरुषों को दे देते हैं और वे इसको विजयी वीरों को उपहार स्वरूप प्रदान करते हैं। संगीत की प्रतिस्पर्द्धा में विजयी होनेवाले वीरों को मिलनेवाले उपहार हैं रजत और स्वर्ण, पौरुषपूर्ण कार्यों में विजेताओं को उपहार ढालें (चर्म) होती हैं और शारीरिक कौशल (जिमनास्टिक) की प्रतिस्पर्द्धा और घुड़दौड़ के विजेताओं का उपहार तैल है।

६१

(सैनिक अधिकारी (क) सेनापति (ख) गणसेनापति (ग) अश्वाध्यक्ष और (घ) अश्वगणाध्यक्ष।)

सैनिक (युद्धसंबंधी) कार्य के लिये सब पदाधिकारी हाथ उठाकर खुले मतदान के द्वारा चुने जाते हैं। इनमें दस सेनाध्यक्ष (स्त्रातीगस्) होते हैं जो पहले सब गणों में से प्रत्येक से एक के हिसाब से निर्वाचित होते थे, अब समग्र नागरिक समुदाय में से चुने जाते हैं। इनमें से किसको क्या कर्त्तव्य पालन करना है यह बात भी हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा निर्धारित की जाती है। एक सेनापति को कवचधारी पदातिदल का अध्यक्ष

वनाया जाता है, एवं यदि वे युद्ध में जाते हैं तो वही उनका नेतृत्व करता है। एक दूसरा स्वदेश की रक्षा के लिये नियुक्त किया जाता है, जो राष्ट्रभूमि की रक्षा का कार्य करता है एवं यदि राष्ट्र की सीमा के भीतर युद्ध छिड़ जाय तो यह सेनापति युद्ध में जुट जाता है। दो सेनापति पाइरियस (पिरियस) के लिये निर्वाचित किये जाते हैं, इनमें एक मूनीखिया के लिये नियोजित किया जाता है एवं दूसरा आक्ती (ते) (दक्षिण तट) पर, तथा इन दोनों का कर्त्तव्य पाइ (पि) रियस् की रक्षा करना है और उसकी देखभाल करना है। एक और सेनापति सम्पन्न नागरिकों के सैनिक दलों (सिम्मोरियों)[१] की अध्यक्षता करने के लिये चुना जाता है, जो त्रियेरार्कों (पोतनिर्माताओं) का नाम निर्देश किया करता है, उनके लिये सम्पत्ति के विनिमय का प्रबंध करता है[१] एवं इसी निमित्त पारस्परिक विरोधी दावों का निर्णय करने के लिये मुकद्दमों को चालू करता है। इसमें से शेष सेनाध्यक्ष, निर्वाचन के समय जो भी कार्य प्रस्तुत हो उसके लिये भेज दिये जाते हैं। प्रत्येक प्रिनेताइया के समय इन सेनाध्यक्षों की नियुक्ति का प्रश्न समर्थन अथवा पुष्टीकरण के लिये प्रस्तुत किया जाता है, जब कि यह पूछा जाता है कि उनको भली प्रकार अपना कार्य करते हुए समझा जाता है अथवा नहीं। यदि मतदान के द्वारा कोई पदाधिकारी परित्यक्त कर दिया जाता है तो उसका मामला परीक्षण (निर्णय) के लिये न्यायालय में आता है; यदि वह अपराधी सिद्ध होता है तो जनता यह निर्णय करती है कि उसको क्या दण्ड अथवा शुल्क भरना होगा; पर यदि वह अपराध से मुक्त सिद्ध हो जाता है तो पुनः पदारूढ़ हो जाता है। जब सेनापति सक्रिय सेवा में संलग्न होते हैं तो उनको किसी भी व्यक्ति को अविधेयता के कारण वन्दी वनाने का सार्वजनिक घोषणापूर्वक निकाल देने का और जुर्माना करने का पूरा पूरा अधिकार होता है, पर जुर्माना सामान्यतया बहुधा नहीं किया जाता।

प्रत्येक गण में से एक के हिसाब से दस गण सेनापति हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक अपने गण की सेना की कमान करता है। और छोटी टुकड़ियों के नायकों की नियुक्ति करता है।

दो अश्वाध्यक्ष (=अश्वारोही सेना के अध्यक्ष) होते हैं जो समग्र नागरिक समुदाय में से हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुने जाते हैं, एवं प्रत्येक पाँच गणों को अधिकृत करके अश्वारोही सेना की कमान (संचालना) करते हैं। पदातिक सेना के संबंध में जो अधिकार सेनाध्यक्षों के होते हैं वही (अश्वारोही के मध्य) इनके होते हैं। इनकी नियुक्ति के भी पुष्टीकरण की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक गण में से एक के हिसाब से दस अश्वगणाध्यक्ष हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुने जाते हैं एवं जिस प्रकार गण सेनापति गण की सेना का संचालन करते हैं उसी प्रकार यह लोग अपने अपने गण की अश्वारोहियों की सेना की कमान करते हैं।

लैम्नस् द्वीप के लिये भी एक अश्वाध्यक्ष होता है जो हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुना जाता है तथा जो लैम्नस् की अश्वारोही सेना की अध्यक्षता किया करता है।

एक पारालस (नामक पवित्र नौका) का कोषाध्यक्ष होता है जो हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा निर्वाचित होता है, दूसरा अम्मोनिया का।

६२

निर्वाचन का ढंग। विविध पदों के वेतन एवं भत्ते।

जो शासन पदाधिकारी शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा चुने जाते हैं वे सब नौ आर्खनों के सहित, प्राचीन काल में समग्र जाति (समग्र नागरिक समुदाय) में से चुने जाते थे, जब कि दूसरे अधिकारी लोग, अर्थात् वे अधिकारी जिनका चुनाव थीसियन्' नामक मन्दिर में होता था विभक्त होकर मुहल्लों (विशिष्ट क्षेत्रों) में से पृथक् पृथक् चुने जाते थे। पर क्योंकि मुहल्ले निर्वाचन को बेच दिया करते थे अतएव आजकल, परिषद् के सदस्यों और नगर-रक्षकों' को छोड़कर शेष सब अधिकारी समग्र जाति में से चुने जाते हैं (परिषद् के सदस्य एवं नगर-रक्षक) अब भी मुहल्लों में से ही चुने जाते हैं।

(निम्नलिखित सार्वजनिक सेवाओं के लिये वेतन इस प्रकार मिलता है।) प्रथम तो संसद की अन्य (साधारण) बैठकों में सदस्यों को एक द्राख्मा मिलता है, एवं मुख्य बैठकों के लिये ९ ओबल। फिर न्यायालयों के जूरियों को प्रतिदिन ३ ओबल और परिषद के सदस्यों को ५ ओबल मिलते हैं। प्रितानी लोगों को अपने भरण पोषण के लिये प्रतिदिन एक ओबल मिलता है। नौ आर्खन अपने भरण-पोषण के लिये प्रति व्यक्ति ४ ओबल पाते हैं एवं इसके अतिरिक्त उनको एक संवाद-वाहक एवं एक वीन बजानेवाला भी मिलता है, तथा सालामिस के आर्खन को प्रतिदिन एक द्राख्मा मिलता है। राष्ट्रीय क्रीडोत्सवों के आयुक्तगण, हैकातोम्बेयन् मास में (जिसमें कि पानाथैनी उत्सव मनाया जाता है) चौदहवें दिन से लेकर मास के अन्त तक प्रितानियन में ही भोजन किया करते हैं। अम्फिक्तियौनी संघ के प्रतिनिधि जब देलॉस् में संघ के सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये जाते हैं तब देलास के कोष से प्रतिदिन एक द्राख्मा पाते हैं।[3] वे सब शासनाधिकारी जो कि सामोस, स्कीरोस,

लेम्नस् अथवा इम्ब्रौस्[४] को भेजे जाते हैं, अपने भरण-पोषण के लिये भत्ता पाते हैं।

युद्ध संबंधी पदों को जितनी चाहे उतनी बार प्राप्त किया जा सकता है, पर परिषद् की सदस्यता को छोड़ कर (जो कि दो बार प्राप्त की जा सकती है) शेष सब पद केवल एक बार ही ग्रहण किये जा सकते हैं।

६३

(न्यायालयों की पद्धति। साधन-सामग्री। जूरियों की योग्यता। जूरियों के टिकट।)

न्यायालयों के न्यायकर्ता (जूरी लोग) अपने अपने गणों के लिये नौ आर्कनों द्वारा वरण किये जाते हैं एवं दशम गण के लिये थैस्माथीतियों के अभिलेखक के द्वारा। न्यायालयों में दस प्रवेशमार्ग होते हैं, जिनमें से प्रत्येक गण के लिये एक मार्ग निश्चित होता है; बीस कक्ष ऐसे होते हैं जिनमें परची निकाली जाती है, इनमें से एक एक गण के लिये दो दो कक्ष नियत होते हैं; प्रत्येक गण के लिये दस के हिसाब से सौ पेटियाँ होती हैं, अन्य पेटिकाएँ भी होती हैं जिनमें न्यायकर्त्ताओं के टिकट रखे रहते हैं जिन पर परची पड़ती है तथा दो घट होते हैं। और फिर जितने न्यायकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है उतनी ही लकड़ियों की चिप्पियाँ प्रत्येक प्रवेशमार्ग के पास रखी होती हैं; एवं घट में उतनी ही गणनगुटिकायें (counters) रख दी जाती हैं जितनी लकड़ियों की चिप्पियाँ प्रवेशमार्गों के पास रखी होती है। इन गणनगुटिकाओं पर वर्णमाला के ग्यारहवें अक्षर (लाम्बडा) से लेकर उतने अक्षर उल्लिखित होते हैं जितने न्यायालयों को जूरियों से भरना अभीष्ट होता है। ऐसे सब व्यक्ति, जिनकी अवस्था ३० वर्ष से ऊपर हो, यदि वे राष्ट्र के ऋणी न हों अथवा नागरिकता के अधिकार से वंचित न कर दिये गये हों, जूरी का कार्य करने की योग्यता रखते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जूरी का कार्य करता है, जो ऐसा करने की योग्यता नहीं रखता, तो उसके विषय में सूचना प्राप्त होने पर उसको न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाता है, यदि उसका अपराध सिद्ध हो जाता है तो जूरी लोग उस दण्ड अथवा अर्थदण्ड को निर्धारित करते हैं जिसके योग्य वे उसको समझते हैं। यदि उसको धन का दण्ड दिया जाता है तो वह अवश्य ही तब तक के लिये बन्दी बना लिया जाता है जब तक कि वह उस प्रथम ऋण को (जिसके कारण उसके विरुद्ध सूचना दी गयी थी) एवं न्यायालय द्वारा डाले गये अर्थदण्ड को, दोनों को ही न चुका दे। प्रत्येक जूरी (दिकास्तेस्) का टिकट तुन की

लकड़ी का होता है, जिस पर उसका, उसके पिता का एवं उसके मुहल्ले का नाम लिखा होता है और वर्णमाला के अक्षरों में से आरंभ से लेकर "काप्पा"[1] तक कोई एक अक्षर भी अंकित होता है; क्योंकि जूरी लोग अपनी अपनी जाति (गण) में दस भागों में विभक्त होते हैं, तथा प्रत्येक अक्षर में प्रायः जूरियों की संख्या लगभग एक समान होती है। थैस्मौथीतियों के द्वारा यह पर्ची द्वारा निश्चय कर देने पर कि कौन से अक्षर न्यायालयों में उपस्थित होना चाहिये, एक नौकर प्रत्येक न्यायालय के शीर्ष पर वह अक्षर लगा देता है जो पर्ची द्वारा उसके लिये नियुक्त कर दिया गया है।

६४

(जूरियों (=दिकास्तियों) का निर्वाचन एवं न्यायालयों के लिए उनकी नियुक्ति।)

उपर्युक्त दस पेटियाँ पृथक् पृथक् गणों के द्वारा प्रयुक्त प्रवेश मार्गों के सामने रख दी जाती है, एवं इनमें से प्रत्येक पर वर्णमाला के आरंभ (आल्फा) से लेकर दसवें अक्षर (काप्पा) तक एक एक अक्षर अंकित रहता है[1]। जूरी लोगों में से प्रत्येक अपना टिकट उस पेटिका में डालता है जिस पर वही अक्षर अंकित होता है जो उसके अपने टिकट पर है; तब नौकर उन सब पेटियों को हिलाता है, तदुपरान्त थैस्मौथीती प्रत्येक पेटी में से एक एक टिकट खींच लेता है। इस प्रकार से चुना हुआ व्यक्ति टिकट लटकाने वाला कहलाता है और उसका काम यह होता है कि वह अपने अक्षर वाली पेटी में से टिकट निकालकर अपने अक्षर वाली पटरी पर लटकाये। उसको शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा चुना जाता है, जिससे कि यदि टिकट लटकानेवाला सर्वदा एक हो तो टिकट लटकाने में बुराई न करे। जो कमरे पर्ची निकालने के लिये नियत होते हैं उनमें से प्रत्येक में टिकट लटकाने की पाँच पटरियाँ होती हैं। तब आर्खन अक्ष (शलाका) फेंकता है उसके द्वारा प्रत्येक कमरे में से सभी गणों में से जूरियों का वरण कर लेता है। यह पाशक पीतल के बने होते हैं और इनको काला या श्वेत रंगा जाता है. जितने न्यायकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है, उतने ही के लिये, पाँच टिकटों के लिये एक श्वेत पाँसे के हिसाब से श्वेत पाँसे रख दिये जाते हैं, और शेष के लिये इसी हिसाब से काले पाँसे रख दिये जाते हैं। जैसे ही आर्खन शलाका ग्रहण करता जाता है वैसे ही उद्घोषक वरण किये हुए व्यक्तियों के नाम पुकारता जाता है। टिकट लटकानेवाले को वरण किये हुए व्यक्तियों में सम्मिलित कर लिया जाता है। प्रत्येक जूरी, वरण किये जाने और नाम पुकारे जाने पर पुकार का उत्तर देता है और घट में एक गणन गुटिका निकालकर उस पर अंकित अक्षर को ऊपर की ओर प्रदर्शित करते हुए प्रथम

अध्यक्षता करनेवाले आर्खन को समर्पित करता है। आर्खन उसको देखने के पश्चात् जूरी के टिकट को उस पेटी में डाल देता है जिस पर गणनगुटिका का अक्षर अंकित होता है, जिससे कि जूरी को उस न्यायालय में जाना पड़ेगा जो उसके लिये शलाका द्वारा, नियत किया जाता है न कि उसमें जिसे वह स्वयं चुनता है; तथा इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के लिये किसी विशेष न्यायालय के लिये अपनी पसन्द के जूरियों को एकत्रित कर लेना भी संभव नहीं हो सकेगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये, आर्खन के पास इतनी पेटियाँ रख दी जाती हैं जितने न्यायालयों को उस दिन जूरियों से भरना होता है तथा उन पर शलाका द्वारा चुने हुए न्यायालयों के अक्षर अंकित होते हैं।

६५

(जूरियों के अन्यायपूर्वक एक मत न होने देने के लिए उपाय।)

इसके उपरान्त जूरी अपनी गणनगुटिका को पुनः अनुचर को दिखलाकर वाड़े (अथवा बाधा) को पार करके प्रांगण में प्रवेश करता है। अनुचर उसको उसी रंग का एक दण्ड देता है, जो कि उस न्यायालय का रंग होता है जिसका अक्षर उस (जूरी) की गणनगुटिका पर है, जिससे वह अनिवार्यतया उसी न्यायालय में जाय जो शलाका द्वारा उसके लिये नियुक्त हुआ है; क्योंकि यदि वह किसी अन्य न्यायालय में जाये तो उसके दण्ड के रंग से उसका भण्डाफोड़ हो जायगा। प्रत्येक न्यायालय के प्रवेशमार्ग के शीर्ष पर एक विशेष रंग लगा होता है। जूरी अपने दण्ड को लेकर उस न्यायालय में प्रवेश करता है जिसका रंग उसके दण्ड के रंग के तथा जिसका अक्षर उसकी गणन-गुटिका के अक्षर के सदृश होता है। प्रवेश करने के पश्चात् वह एक अधिकारी से अपना चिह्न प्राप्त करता है, इस अधिकारी को यह कार्य भी शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा सौंपा जाता है। बस, इस प्रकार अपनी गणन-गुटिका और दण्ड को लिये हुए न्यायकर्ता लोग न्यायालय में अपना आसन ग्रहण करते हैं, एवं उनकी प्रवेश-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है; जो लोग वरण नहीं किये जाते वे लोग टिकट लटकानेवाले से अपने टिकट वापस ले लेते हैं। सार्वजनिक सेवक प्रत्येक गण से पेटियों को लेकर न्यायालयों को जाते हैं और एक एक पेटी को (जिसमें न्यायालय के काम करनेवाले एक एक गण के सदस्यों के नाम (टिकटों पर) रखे रहते हैं), प्रत्येक कोर्ट में उन अधिकारियों को सौंप देते हैं, जिनका कार्य न्यायालयों में जूरियों को उनके टिकट लौटाना है जिससे उनको उनके नाम से पुकारकर उनका भत्ता उनको दे सकें।

६६

(अधिष्ठाताओं की बाँट। घटिका-नियंत्रक और मतगणकों का चुनाव।)

जब सब न्यायालय भर जाते हैं तो प्रथम न्यायालय में दो मतदान की पेटिकाएं और विभिन्न न्यायालयों के रंग में रंगे कुछ पांसे रख दिये जाते हैं और कुछ अन्य ऐसी शलाकाएँ भी रख दी जाती हैं जिन पर न्यायालयों के अधिष्ठाताओं का नाम अंकित होता है। गुटिका ग्रहण द्वारा चुने हुए दो थैस्मार्थीति, पृथक् पृथक् रंगी हुई शलाकाओं को एक संदूक में डालते हैं और अधिष्ठाता पदाधिकारियों के नाम वाली शलाकाओं को दूसरे में। तब जिस अधिष्ठाता अधिकारी का नाम पहले निकल आता है वह उद्घोषक के द्वारा उस न्यायालय में कार्य करने के लिये विनियोजित हुआ घोषित कर दिया जाता है जिसका (नाम, संख्या) पहले निकली हो, इसी प्रकार दूसरा दूसरे के लिये एवं अन्य अन्यों के लिये इत्यादि ; जिससे किसी अधिष्ठाता को पहले से ही यह ज्ञात न हो सके कि उसको कौन सा न्यायालय कार्य करने को मिलेगा, प्रत्युत प्रत्येक को उसी न्यायालय को स्वीकार करना पड़ता है जो शलाकाग्रहण द्वारा उसको मिलता है।

जब जूरी लोग प्रवेश कर चुकते हैं एवं पृथक् पृथक् न्यायालयों में बाँट दिये जा चुके होते हैं, तब प्रत्येक न्यायालय का अधिष्ठाता दस पेटियों में से प्रत्येक में से एक एक टिकट निकालता है (अर्थात् १० गणों में से प्रत्येक के एक एक सदस्य का टिकट निकालता है) और उनको एक अन्य रीति से पेटी में डाल देता है। इसके उपरान्त वह उनमें से पांच टिकटों को निकाल लेता है। और उनमें से एक को घटिका की अध्यक्षता के लिये नियुक्त कर देता है एवं अन्य चार को (मतसूचक) गुटिकाओं की गणना करने के लिये, जिससे कि न तो पहले से घटिका के अध्यक्ष के द्वारा कुछ तैयारी की जा सके और न गुटिका गिननेवालों के द्वारा (अथवा जिससे न तो कोई पहले से घटिका के अध्यक्ष के साथ छेड़छाड़ कर सके और न गुटिका गिननेवालों के साथ) और न इनके विषय में कोई अनाचार हो सके। शेष पाँच व्यक्ति जो इन कार्यों को करने के लिये नहीं चुने जाते हैं, उनसे उस व्यवस्था के प्रक्रम (प्रोग्राम) को ग्रहण करते हैं जिनके अनुसार जूरियों को भत्ता मिलेगा एवं उस स्थान की जानकारी भी प्राप्त करते हैं जहाँ पर पृथक् पृथक् गणों के सदस्य अपने कर्त्तव्य की पूर्त्ति के पश्चात् न्यायालय में एकत्रित होंगे। ऐसा करने का उद्देश्य यह होता है कि जूरी लोग अपने भत्ते को पाने के लिये छोटे छोटे समूहों में एक दूसरे गण से कुछ दूरी पर स्थित हों न कि सब के सब एक झुंड में एकत्रित होकर परस्पर एक दूसरे को बाधा पहुँचायें।

६७

(व्यवहार-वाद में उभय पक्षों के लिए समय का विभाजन।)

इन प्रारंभिक वातों के समाप्त हो जाने पर मुकदमों को पुकारा जाता है। यदि व्यक्तिगत मुकदमों का दिन हो तो व्यक्तिगत मुकदमों को पुकारा जाता है। विधि अथवा कानून में निर्दिष्ट कोटियों में से प्रत्येक के चार मामले ग्रहण किये जाते हैं, एवं दोनों ही प्रतिपक्षी शपथपूर्वक वचन देते हैं कि वे अपने वक्तव्यों को काम की वात तक सीमित रखेंगे। यदि सार्वजनिक मुकदमों का दिन होता है तो सार्वजनिक मुकदमे के प्रतिपक्षी पुकारे जाते हैं और केवल एक मुकदमे का ही कार्य किया जाता है। (न्यायालय में) जलघटिकाओं का प्रवंध रहता है, जिनमें छोटी छोटी जल डालने की नलियाँ लगी रहती हैं, इनमें पानी उँडेला जाता है और इसी के अनुसार पक्षों के वक्तव्यों की लंबाई का नियमन किया जाता है। यदि मुकदमे में विवादगत धन ५००० द्राख्मा से ऊपर हो तो प्रत्येक पक्ष के प्रथम वक्तव्य के लिये १० और दूसरे के लिये ३ खूस[1] जल डाला जाता है; यदि विवादगत धन १००० से लेकर ५००० द्राख्मा तक होता है तो प्रथम और द्वितीय वक्तव्य के लिये क्रमशः ७ और २ खूस, और जब मामला १००० द्राख्मा से कम होता है तो क्रमशः ५ और २ खूस जल उँडेला जाता है। उभय पक्षों के वीच मध्यस्थ निर्णय के लिये, जिसमें द्वितीय वक्तव्य होता ही नहीं, ६ खूस जल उंड़ेला जाता है। जब न्यायालय का अभिलेखक किसी प्रस्ताव (मत) अथवा, विधि (नियम) अथवा सशपथ साक्ष्य अथवा सन्धि को पढ़नेवाला होता है तो उस जलघटिका की अध्यक्षता के लिये शलाकाग्रहण द्वारा चुना हुआ अधिकारी नली के मुख को वन्द कर देता है। तथापि जब कोई मुकदमा दिन के विनिश्चित कालमान के अनुसार संचालित होता है तो वह नली को नहीं रोकता, प्रत्युत वादी (अभियोक्ता) और (अभियुक्त) प्रतिवादी के लिये जल की बरावर मात्रा प्रदान करता है। दिन के समय की मात्रा आदर्श मानदण्ड पौसीदियोन्[2] मास का दिनमान माना जाता है। इस मानदण्ड के अनुसार नपे हुए दिन का उपयोग ऐसे मामलों में होता है जिनमें वन्दीग्रह सेवन, मृत्यु, निर्वासन, नागरिकता के अधिकार के अपहरण, अथवा सर्वस्वापहरण इत्यादि दण्डस्वरूप विधान किये जाते हैं।

६८

(जूरियों की संख्या। मतदान की गुटिकाओं की आकृति। मतदान की पद्धति।)

अधिकांश न्यायालयों में जूरियों की संख्या ५०० होती है। ....जब सार्वजनिक मामलों को १००० जूरियों के समुदाय के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक हो जाता है

तो इस उद्देश्य के लिये दो न्यायालयों के सदस्य उच्च न्यायालय में एकत्रित होते हैं। जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मुकदमे होते हैं वे १५०० जूरियों अथवा तीन एकत्रित न्यायालयों के समक्ष उपस्थित किये जाते है। मत देने की गुटिका पीतल की होती है जिनके मध्य में एक खोखला छिद्र होता है, इनमें से आधी छिद्रयुक्त होती हैं और आधी ठोस। जो अधिकारी मतग्रहण करने के कार्य के लिये नियुक्त होते हैं वे वक्तव्यों के समाप्त हो जाने के पश्चात् प्रत्येक जूरी को दो गुटिकाएँ देते हैं, एक छिद्रवाली दूसरी ठोस। ऐसा उभय पक्षों की दृष्टि से स्पष्टतया किया जाता है जिससे किसी को दोनों छिद्रवाली अथवा दोनों ठोस ही गुटिकाएँ न मिल जाये। तदुपरान्त एक अधिकारी जो इसी कार्य के लिये नियुक्त होता है, जूरियों के दण्ड को उनसे ले लेता है एवं इसके बदले में प्रत्येक जूरी को मतदान कर देने पर एक ३ संख्या से अंकित पीतल का पत्रक मिलता है (क्योंकि इसको लौटाने पर उसको ३ ओबल मिलते हैं।) ऐसा इसलिये किया जाता है कि प्रत्येक जूरी अवश्य मत दें; क्योंकि जब तक कोई जूरी मत नहीं देता तब तक उसको यह पत्रक नहीं मिलता। दो घट जिनमें से एक पीतल का और दूसरा लकड़ी का होता है न्यायालय में रखे होते हैं, तथा यह ऐसे खुले स्थानों में रखे होते हैं, जिससे कोई छिपकर गुटिकाओं को नहीं डाल सकता; इन्हीं घटों में जूरी अपना मत प्रदान करते हैं। सक्षम (सार्थक) गुटिका पीतल के एवं अक्षम लकड़ी के घट में डाली जाती है, पीतल के घट के ढक्कन में ऐसा छिद्र बना होता है जिसमें एक ही गुटिका एक बार में डाली जा सकती है, जिससे कोई भी एक साथ दो गुटिकाएँ न डाल दे।

इसके उपरान्त ज्यों ही जूरी लोग अपना मतदान आरंभ करने को होते हैं त्यों ही उद्घोषक पहले यह पूछता है कि क्या उभय पक्ष में से कोई भी पक्ष (प्रस्तुत हुए) साक्ष्यों के विरुद्ध कुछ कहना चाहता है, क्योंकि मतदान आरंभ होने के पश्चात् किसी विरोध को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके उपरान्त वह फिर से यह घोषणा करता है कि "सछिद्र गुटिकाएँ प्रथम पक्ष (वादी) के लिये हैं और ठोस दूसरे पक्ष (प्रतिवादी) के लिये।" तत्काल ही जूरी अपनी दोनों मतदान की गुटिकाओं को (दीप) स्तम्भ से उठाकर, एवं अपने हाथ में उनको इस प्रकार दबाकर कि किसी भी पक्ष को सछिद्र और अछिद्र गुटिका न दिखलाई दे, एक को (जिस की सक्षमता के कारण गिनती होनी है) पीतल के घट में डाल देता है, और दूसरी को लकड़ी के घट में।

६९

(मतगणना । जूरियों का भत्ता ।)

जब सब (जूरी) लोग मत दे चुकते हैं तो अनुचर सक्षम मतोंवाले घट को लेकर उन गुटिकाओं को एक गणनपटल पर लौट देता है, इस पटल पर इतने गढ़हे होते हैं जितनी गुटिकाओं की संख्या होती है, जिससे मत गुटिकाएँ उभयपक्ष के सामने ---चाहे वे सछिद्र हों चाहे ठोस---भली प्रकार स्पष्टतया प्रदर्शित हो सकें और गिनी जा सकें। तत्पश्चात् वे पदाधिकारी जो मत ग्रहण करने के लिये नियुक्त होते हैं, गुटिकाओं को गिनते हैं---ठोस गुटिकाओं को एक ओर, सछिद्र को दूसरी ओर। गणना हो चुकने पर उद्घोषक गुटिकाओं की संख्या को---सछिद्र संख्या को वादी (अभियोक्ता) के पक्ष में, तथा अछिद्रों की संख्या को प्रतिवादी (अभियुक्त) के पक्ष में---घोषित करता है। जिस पक्ष की गुटिकाओं की संख्या अधिक होती है, (अर्थात् जिसको बहुमत प्राप्त होता है) वही विजयी होता है, पर यदि उभय पक्ष में मतों की संख्या बराबर होती है तो न्यायालय का निर्णय प्रतिवादी के पक्ष में माना जाता है। यदि किसी मुकदमे में हानि की भरपाई देनी (हर्जाना देना) होती है तो जूरी लोग प्रथम तो अपना भत्ते का पत्रक लौटा देते हैं और दण्ड ग्रहण कर लेते हैं और तब पुनः मतदान करते हैं। हानि की मात्रा का विवेचन करने के लिये प्रत्येक पक्ष के लिये आधा खूस जल उँडेला जाता है। अन्त में जब समग्र प्रक्रिया नियमानुसार विधिपूर्वक समाप्त हो जाती है तब शलाका द्वारा निर्धारित क्रम के अनुसार जूरी लोग अपना भत्ता ग्रहण करते हैं।

टिप्पणियाँ

१

१. कीलान् नामक एक कुलीन युवक ने लगभग ६३२ ई० पू० में अथेंस पर एकाधिपत्य प्राप्त करने की चेष्टा की। असफल होने पर उसके अनुयायियों ने देवमन्दिर में शरण ली। रक्षा का वचन मिलने पर ही वे वहाँ से निकले। उस समय अल्कमेओनिदी कुल का मेगाक्लीस अथेंस का आर्खन् (शासक) था। उसने उन सब को मरवा डाला। इसके पश्चात् नगर पर जो आपत्तियाँ आईं, एवं जो उसकी पराजय इत्यादि हुई, उनका कारण इस वचन-भंग को मानकर मेगाक्लीस के परिवार पर अभियोग चलाया गया और सारे परिवार को निर्वासित कर दिया गया।

२. ऐपीमैनीदेस् ५९६ ई० पू० में अथेंस आया था।

२

१. हेक्टीमोरोइ उन कृषकों को कहते थे जो अपनी आय का षष्ठांश कर-रूप में देते थे। प्राचीन काल में भारतवर्ष में भी राजा को उपज का षष्ठांश कर-रूप में दिया जाता था; इसी कारण राजा को षष्ठांश-वृत्ति कहा जाता था। देखो मनुस्मृति अध्याय ७, श्लोक १३१–३२, अध्याय ९ श्लोक १६४ इत्यादि। कालिदास ने भी रघुवंश और शाकुन्तल में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। पर कुछ विद्वान् हेक्टीमोरोइ का अर्थ यह करते हैं कि कृषकों को उपज का एक षष्ठांश मिलता था और ५।६ भाग भूमिपतियों को दिया जाता था।

३

१. आजीवन शासन––अथेंस में एकाधिराजत्व की समाप्ति तो कौद्रस के समय में हो गयी। कौद्रस का समय १०६६ ई० पू० माना जाता है। उसका पुत्र था मैदॉन्, जिसके समय से शासन-प्रणाली में परिवर्त्तन आरंभ हो गये। शासन की अवधि घटाकर दस वर्ष ७५२ ई० पू० में कर दी गयी। इस नियम के अनुसार चार आर्खनों के शासन करने के उपरान्त, यह पद सभी कुलीन (सुपितृ) लोगों के लिये स्वतंत्र कर दिया गया और वे इसके लिये चुने जाने लगे। ८६२ ई० पू० में दस वार्षिक आर्खनों के स्थान पर नौ आर्खनों का वार्षिक मण्डल नियुक्त किया जाने लगा।

२. आर्खन शब्द का अर्थ है, प्रथम स्थानीय, आदिम अतएव पूज्य आदरणीय इत्यादि। ग्रीक लोगों की राजनीति में इस शब्द का प्रयोग बहुधा होता है। अंग्रेजी

भाषा में इसका अनुवाद मैजिस्ट्रेट शब्द द्वारा किया गया है। सामान्य अर्थ शासन करनेवाला अधिकारी प्रतीत होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान ने इसका मल रूप ऋघो* ऋेघ्मो* शब्दों में कल्पित किया है। पर क्या इस शब्द का संस्कृत, अर्च्, अर्ह् और अर्हन् इत्यादि शब्दों से कोई संबंध नहीं हो सकता ?

३. सर्वोच्च तीन आर्खनों में से प्रथम आर्खन राजा होता था जो आरम्भ में तो कुल-परम्परागत होता था पर पीछे चुना जाने लगा था। उसको राष्ट्र के धार्मिक कृत्यों, यज्ञ याग इत्यादि की अध्यक्षता करना होता था। दूसरा आर्खन सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। प्राचीन काल में ग्रीक लोग प्रत्येक वर्ष का नामकरण इसी आर्खन के नाम पर करते थे। तीसरा आर्खन पॉलेमार्खस अर्थात् महाबलाधिकृत अथवा युद्धाध्यक्ष कहलाता था। इनके अतिरिक्त ६ और छोटे आर्खन होते थे।

४. अथेंस में अंथीस्तीरियॉन् मास में अंथीस्तीरिया नामक उत्सव मनाया जाता था। अंथीस्तीरिया का अर्थ पुष्पोत्सव है। यह लगभग उसी समय होता था जिस समय हमारे देश में वसंतोत्सव अर्थात् होली का उत्सव होता है। इस अवसर पर प्रतिवर्ष राजा की पत्नी का विवाह दियोनीसस नामक देवता के साथ प्रतीकात्मक रूप में किया जाता था।

४

१. अरिस्ताइख्यमस् का नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है।

२. ड्राको का समय ६२१ ई० पू० माना जा सकता है। अनेकों अर्वाचीन विद्वानों के मत में ड्राको संविधान इतना पुराना नहीं है जितना की अरिस्तू ने बतलाया है।

३. अन्य शासनाधिकारपदों से तात्पर्य उन्हीं पदों से है जिनके लिये शलाका-ग्रहण पद्धति द्वारा निर्वाचन किया जाता था। सभी पदों का निर्वाचन नहीं होता था।

४. पंचशती, त्रिशती, द्विशती इत्यादि की व्याख्या के लिये देखो अध्याय ७।

५. द्राख्मा प्राचीन चाँदी का सिक्का था जिसका भार ६६ ग्रेन के लगभग होता था।

५

१. सौलॉन् के संविधान की परम्परागत तिथि ५९४ ई० पू० है।

२. यहाँ जो कविता की पंक्तियाँ दी गई हैं वह अन्यत्र नहीं मिलतीं। संभवतया इसी कविता के अंश का उद्धरण डिमॉस्थिनीस ने भी (De Talsa Legatione) नामक भाषण में प्रस्तुत किया है।

७

१. काष्ठस्तम्भ आरंभ में तो त्रिभुजाकृति शंकु होते थे पर स.लॉन् का संविधान चार आयताकार पटलों को सिरों को जोड़कर बनाये हुए चौकोर स्तम्भों पर उत्कीर्ण किया गया था।

२. शिला के लिए देखो अध्याय ५५।

३. पंचशती के लिए मूल शब्द पेन्ताकोसियोमेदिम्नी है, त्रिशती के लिये हिप्पी, द्विशती के लिये ज्यूगिति है जिसका अर्थ बैलों की जोड़ी रखनेवाला होता है। संस्कृत के युग शब्द से तुलना कीजिये। इन सब शब्दों का अर्थ ७वें अध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है।

४. कोषगणक के लिये मूल शब्द कोलाकैती था। यह लोग जनता से कर वसूल करके कोषाध्यक्षों को रखने के लिये देते थे। पीछे इस पद का लोप हो गया।

५. डिफिलस की मूर्त्ति के स्थान पर "डिफिलस के पुत्र अंथेमियन की मूर्त्ति" ऐसा पाठ होना चाहिये। संभवतया यह गल्ती प्रतिलिपि करनेवाले के प्रमाद के कारण हो गयी है।

८

१. 'गण' या 'जन' अथेंस की जनता के सबसे बड़े विभागों का नाम था। सोलॉन् के समय में सम्पूर्ण नगर चार 'जनों' में विभक्त था।

२. अरियोपागस् की परिषद् का स्थान नगर के मध्य में स्थित एक पहाड़ी थी और इसी पहाड़ी के नाम से परिषद् का नामकरण हुआ था।

३. 'नौक्रारिया' प्रत्येक 'जन' का १२ वाँ भाग था।

४. अक्रोपोलिस् ग्रीक नगर के मध्य में स्थित किले को कहते थे। अथेंस का अक्रोपोलिस् एक ऊँची पहाड़ी पर नगर के मध्य में स्थित था। इसके मध्य में अथीना देवी की एक विशालकाय मूर्त्ति थी जिसके भाले की सुनहरी नोक समुद्र से दिखलाई देती थी।

१०

१. सोलॉन्ने ईगिना के मीना (या मिना) के स्थान पर यूबोइया के मीना का प्रचलन आरंभ कर दिया। प्रथम में ७० ड्राख्मा होते थे, द्वितीय में १००।

२. तलान्त में २० वाँ अंश और बढ़ा दिया गया। यह वृद्धि इसी अनुपात में छोटी मुद्राओं में भी हुई।

१२

१. कीलक से तात्पर्य उन स्तम्भों से है जो वन्धक रक्खी हुई भूमि पर ऋण देने वालों के द्वारा स्थापित किये जाते थे।

२. अत्तीका अथवा अत्तिका यवन भूमि के उस प्रान्त का नाम है जो यूरोप के दक्षिणपूर्व कोण में स्थित है तथा जिसमें अथेंस नगर वसा हुआ है। इस प्रदेश की भाषा ग्रीक साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। देखो जोजेफ़ राइट का कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ़ दी ग्रीक लैंग्वेज पृ० ३ औ ४। जो लोग निर्धनता के कारण अथवा ऋणी होने के कारण विदेश चले जाते थे उनसे उनकी प्रिय मातृभाषा भी छूट जाती थी। सोलॉन् ने इस दयनीय स्थिति को समाप्त कर दिया।

३. "उसने कभी न रोका होता जनता को," अर्थात् उसने प्रतिद्वन्द्वी दलों को परस्पर लड़कर नष्ट होने दिया होता एवं अपनी शक्ति बढ़ाकर वह तानाशाह बन गया होता। इस प्रकार राष्ट्र के अनेकों वीर पुरुष आपस की लड़ाई में मारे जाते।

४. मलाई अर्थात् सारसत्व।

१३

१. दामासियास् लगभग ५८२ ई० पू० आर्खन चुना गया था। अन्य प्रकार की गणना से अन्य तिथि भी संभव है।

२. शुद्ध जातिवाले लोगों को ही मत देने का अधिकार था। शुद्ध जाति (Pure descent) का अर्थ है स्वतंत्र नागरिक माता-पिता से उत्पन्न होना। कभी-कभी केवल स्वतंत्र नागरिक पिता अथवा माता से उत्पन्न होना भी शुद्ध जाति के लिये पर्याप्त माना जाता था।

३. पिसिस्त्रातस् के समय के विषय में मतभेद है। हिन्दी अनुवाद में सर् एफ़. जी. केन्यॉन् के मूल ग्रीक पाठ का ही अनुसरण किया गया है। स्वयं केन्यॉन् ने अपने अंग्रेज़ी अनुवाद में मूल का अनुसरण नहीं किया है।

१४

१. वत्तीस के स्थान पर केन्यॉन् ने ३१ लिखा है। यह भी गणना का एक प्रकार है।

१५

१. थेसियन, पुरातन वीर पुरुष थेसियस (अथवा थीसियस्) के समाधि-मन्दिर का नाम है। यह अक्रौपोलिस के समीप उत्तरपश्चिम में स्थित है।

ऐरेट्रिया अर्थेस की उत्तर दिशा में और नॉक्षास् दक्षिण पूर्व में है।

थीवेस् नगर वोइओतिआ प्रदेश में मुख्य नगर था।

१६

१. तानाशाही अथवा अधिनायकत्व के लिये ग्रीक भाषा में तिरान्निस् शब्द है। अंग्रेजी टाइरॅण्ट, टिरैनी इत्यादि शब्द इसी शब्द से निकले हैं। तिरान्निस ऐसे शासक को कहते थे जो पूर्णतया स्वेच्छा से शासन करता था।

२. हीमेत्तस्, अर्थेस के वाहर थोड़ी दूरी पर एक पहाड़ी।

३. क्रोनॉस्, यूरानस् (संस्कृत वरुण) का पुत्र था। उसने अपने पिता को स्थानच्युत करके अपने को राजा वनाया। उसका शासनकाल स्वर्णयुग कहलाया है। अन्त में इसके पुत्र ज्यूस (सं. द्यौस) ने इसको स्थानच्युत कर दिया। रोमन लोग क्रोनॉस् को सैटर्न अर्थात् शनि के साथ अभिन्न मानते हैं।

१७

१. तानाशाहों से संवंध रखनेवाली घटनाओं के साथ जो आर्खन-काल का संकेत दिया है, उससे तात्पर्य प्रतिवर्ष चुने जानेवाले राजा आर्खन से है, जिसका काम राष्ट्र के धार्मिक कृत्यों की अध्यक्षता करना होता था। किसी वर्ष में होनेवाली घटनाएँ उस वर्ष के आर्खन के नाम के साथ उल्लिखित होती थीं।

२. सालामिस्, अत्तिका के दक्षिण-पश्चिमी समुद्र तट के पास एक द्वीप है। इसके आधिपत्य के संवंध में अथेन्स और मैगारा में कलह चली आती थी। सोलॉन् के शासनकाल में इसको अथेन्स ने जीत लिया। इस विजय के पश्चात् मैगारा की शक्ति का ह्रास होने लगा।

१८

१. अनाक्रेयान् का जन्म इयोनिया प्रदेश के तेओस् नगर में हुआ था। इसकी रचनाएँ सव की सव गीतिकाव्य हैं।

२. सिमौनीदेस का जन्म केओस् नामक द्वीप में हुआ था। इसने अपने जीवन काल में अनेकों स्थानों और राजकुलों को सुशोभित किया। इसकी रचनाएँ भी गीतिकाव्य ही हैं। इन कवियों के विषय में अधिक जानकारी के लिए "आदर्श नगर-व्यवस्था" की भूमिका देखनी चाहिये।

३. हार्मोदियस् और अरिस्तोगैतान् आगे चलकर स्वतंत्रता के भक्तों के रूप में पूजे गये। उनके वंशधरों को कर में विशेष सुविधाएँ प्राप्त हुईं। उनकी मूर्तियाँ नगर में स्थापित की गयीं।

वि० पुरुषों, युवा लड़कों के प्रति प्रेम, (जिसको मज़ाक़े फारसी कहा जाता है, वास्तव में) ग्रीक लोगों में भी प्रचलित था। इसका उल्लेख बहुत से ग्रीक लेखकों में पाया जाता है।

वि० पानाथेइना उत्सव अथेन्स नगर में अथेना देवी के सम्मान में मनाया जाता था। यह उत्सव प्रतिवर्ष हेकातोम्बेयन् (लगभग श्रावण) मास में दो दिन २८ और २९ तिथि को हुआ करता था। पर प्रत्येक चौथे वर्ष (आलिम्पियड के तीसरे वर्ष में) बृहत्पानाथेइना उत्सव मनाया जाता था जो २१ से २८ वीं तिथि तक चलता था। यह अथेंस का अत्यन्त प्रसिद्ध उत्सव था। इसमें अनेकों प्रकार की प्रतिस्पर्धाएँ चलती थीं और सफल व्यक्तियों को पारितोषिक दिये जाते थे। अन्तिम दिन प्रयाण-यात्रा हुआ करती थी, जिसमें आगे देवी अथेना की चादर चलती थी और उसके पीछे कुमारिकाएँ बलिशस्त्रों को पेटिकाओं में लेकर चला करती थीं।

४. हार्मोदियस् और अरिस्तोगेतान् संबंधी घटनाएँ थूकीदिदीस के इतिहास में कुछ थोड़े भिन्न प्रकार से वर्णित हैं। संभवतया अरिस्तू का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सत्य है।

१९

१. डैल्फ़ी का सूर्यदेव (अपोलो) का मन्दिर ग्रीक लोगों में अत्यन्त सम्मानित था। यहाँ वे प्रश्न द्वारा देवता के आदेश को प्राप्त करने जाया करते थे। यह मन्दिर ई० पू० ५४८ में भस्म हो गया था। इस मन्दिर की पुजारिन पीथिया कहलाती थी।

२. तानाशाहों के निकाले जाने की घटना ई० पू० ५१० में घटित हुई। हार्पावितदस का नाम अन्य इतिहास ग्रंथों में नहीं मिलता।

२०

१. यह मित्र मंडलियाँ अथेन्स के गण्यमान्य लोगों के राजनीतिक क्लब थे और राजनीतिक जीवन पर इनका पर्याप्त प्रभाव था।

२. क्लैस्थेनीस और उसके साथियों को "कालुष्य" इसलिये कहा जाता था कि वे अल्क्मेऑनीदी कुल के थे। इसके लिये देखिये प्रथम पृष्ठ और उस पर टिप्पणी।

२१

१. गण के स्थान पर मूल ग्रीक भाषा में फ़ुले अथवा फ़ीले शब्द है। पहले यह शब्द कुल, गोत्र इत्यादि रक्त के संबंध को सूचित करता था। अंग्रेज़ी में इसके समानार्थक शब्द caste, tribe, class, clan इत्यादि हैं। अथेन्स के निवासी

प्राचीन परम्परा से चार गणों में विभक्त थे। कालान्तर में इनमें कलह रहने लगी। क्लैस्थेनीस के सुधार का महत्त्व यह है कि उसने पुराने रूढ़िगत एवं कुलगत विभाजन के राजनीतिक-कलह उत्पन्न करनेवाले मूल का उच्छेदन कर दिया। उसके दस गणों-वाले विभाजन ने एवं मुहल्लों की नयी व्यवस्था ने पुरानी अनेकों बुराइयों को दूर कर दिया। १३वें अनुच्छेद में जिन अन्तःकलहों का वर्णन किया गया है, वे भी इन सुधारों से दूर हो गयीं।

२. मुहल्लों की संख्या क्या थी, यह नहीं बतलाया गया है। हीरोडोटस् के वर्णन से यह संख्या १०० प्रतीत होती है। बढ़ते बढ़ते यह संख्या ई० पू० तीसरी शताब्दी में १७६ हो गयी थी।

३. गणों की संख्या बढ़ने के कारण उन लोगों को भी नागरिक-गणों में स्थान दिया जा सका जो पहले स्वतंत्र नागरिक नहीं थे; या तो दास थे अथवा विदेशी। जो लोग परम्परागत चार गणों में अन्तर्भुक्त थे वे ऐसे नवीन लोगों को अपने गणों में लेने को प्रस्तुत नहीं होते थे। नवीन गणों की स्थापना से यह समस्या भी हल हो गयी।

२२

१. पाँच वर्ष के स्थान पर केन्यान् ने चार वर्ष अनुवाद किया है। हिन्दी अनुवाद में सर्वत्र मूल में दी हुई संख्या का अनुसरण किया गया है। तथापि यह तिथि ठीक नहीं मालूम होती, क्योंकि इसका पूर्वापर संबंध ठीक नहीं है। हर्मेक्रथीन के आर्खन-पद के अनुसार यह समय ई० पू० ५०४ होना चाहिये और माराथन् के युद्ध से गणना करने पर ५०१ ई० पू०। संभव है लिपि-कार ने कुछ प्रमाद किया हो।

२. माराथौन् का युद्ध फ़ारस और यवन सेनाओं में हुआ था। इसमें यूनानी विजयी हुए। यह युद्ध संसार के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि फ़ारस की सेना विजयी होती तो पाश्चात्य सभ्यता का आज दूसरा ही रूप हुआ होता।

३. तालान्त रजत की विशिष्ट मात्रा को कहते थे। यह लगभग ५८ पौंड (भार) का होता था।

४. त्रिरेमी शब्द का अर्थ होता है ऐसी नौका जिसमें पतवारों की तीन पंक्तियाँ हों। इसके स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। इस युद्धपोत में मल्लाह और सैनिक सब मिलाकर २०० व्यक्ति होते थे।

५. सालामिस् के युद्ध में खर्यक्सस के समुद्री बेड़े को यूनानी लोगों ने ४८० ई० पू० में परास्त किया। सालामिस अत्तिका प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम तट के पास स्थित एक छोटा-सा द्वीप है।

६. गेराइस्तॉस्, यूबोइया प्रदेश के धुर दक्षिण में है और स्किल्लाइयन आर्गोलिस के धुरपूर्व में। कुछ विद्वानों के मत में "मध्य" के स्थान पर परे शब्द होना चाहिये।

२३

१. मीदिक--पारसीक

२. इयोनिया, लघुएशिया के पश्चिम तट एवं उसके समीपवर्ती द्वीपों का नाम था। इसी देश के नाम के कारण भारतवर्ष में ग्रीक लोगों को यवन कहा जाता था।

२४

१. पारसीक युद्धों के कारण यूनानियों के छोटे छोटे नगरों ने अपना एक संघ बनाया। अरिस्तीदीस ने अपनी चतुरनीतिमत्ता के कारण अथेंस को इस संघ का नेता बनाया। इसी नेतृत्व के कारण अथेन्स की जनता में साम्राज्य की भावना जागी। पर इस भावना से भावी फूट का सूत्रपात भी हुआ। लोहे के पिंडों को समुद्र में यह सूचित करने के लिये डाला गया था कि जब तक यह लोहा तैर कर जल के ऊपर नहीं आ जायेगा तब तक हमारा संघ नहीं टूटेगा। इस संघ को "डैलियन लीग" Delian League कहा जाता था।

२. ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में अथेंस के नागरिकों की संख्या १५०००० और १७०००० बीच में थी, ऐसा अनुमान किया जाता है। इनमें वयःप्राप्त पुरुषों की संख्या ४००००। नगर की आर्थिक स्थिति संभवतया ऐसी नहीं थी कि वह इतने मनुष्यों को बिना कुछ किये जीविका प्रदान कर सके--हाँ वे शासन-कार्य में अवश्यमेव भाग ले सकते थे।

२५

१. आक्रमण राजनीतिक अर्थ में किया।

२. कोनोनस् का आर्खन काल है ई० पू० ४६२।

वि० थेमिस्तोक्लीस के प्रसंग के विषय में अरिस्तू और थूकीदिदीस के विवरणों में अन्तर है। थूकीदिदीस के मत में थेमिस्टोक्लीस कई वर्ष पूर्व ४६५ ई० पू० में फ़ारस को भाग गया था।

वि० २५ वें अनुच्छेद का अन्तिम वाक्य मूल में खंडित है। सार्थक अंश का अनुवाद दे दिया गया है।

२६

१. लोकनायक के लिये मूल में दीमागोगस है, जिसका अर्थ साधारण लोगों का अगुआ होता है। आरंभमें यह शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता था पर पीछे जब जननायक जनता की निम्नप्रवृत्तियों को उत्तेजित कर उनके नेता बनने का प्रयत्न करने लगे तो इसका अर्थ पतन को प्राप्त हो गया। इसी अर्थ में मूल ग्रंथ में एक और वाक्यांश भी आया है। यह वाक्यांश है "प्रोस्तातीस् तू दीम्"।

२. किमोन् का वर्णन पूर्वापर-विरोधी है पर मूल का अनुसरण करते हुए यही अर्थ निकलता है। मूल के जो पाठभेद सुझाए गये हैं उनका अर्थ यह होता है कि उसने राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने में सुस्ती की। पर यह अर्थ भी पूर्णतया संतोषप्रद नहीं है।

३. नियमानुसार हलवाही से निचले वर्गों में से आर्खन के चुनने का अधिकार कभी नहीं था; पर वास्तविक व्यवहार में "थीती" वर्ग में से भी अनेकों आर्खन चुने गये थे।

४. म्नीसियैदीस का समय ई० पू० ४५७ है। लीसिक्रातीस् का आर्खन्काल ४५३ ई० पू० है। आन्तिदोतस का समय ई० पू० ४५१ है।

२७

१. पीथोदोरस का वर्ष ई० पू० ४३२–३१ है। युद्ध का आरंभ ई० पू० ४३१ के वसंत काल में हुआ था।

२. अनीतस् मध्यमार्गी श्रेष्ठजनदल का नेता था। सॉक्रातेस् के विरुद्ध अभियोग चलानेवालों में यह भी एक था। यह ३० जहाजों के साथ ४११ ई० पू० में पीलस् को पुनः जीतने के लिये भेजा गया था। इसको ई० पू० ४२५ में अथेन्स वासियों ने जीत लिया था। पर प्रतिकूल मौसम के कारण अनीतस् का बेड़ा मलेया अन्तरीप के मोड़ से आगे न बढ़ सका। अतएव पीलस् पर ४०९ ई० पू० में स्पार्टा का अधिकार हो गया। इसी असफलता के कारण अनीतस् पर अभियोग चलाया गया।

२८

१. पेरीक्ली(क्ले)स् का नाम अथेन्स के इतिहास में अमर है। उसका समय ई० पू० ५०० से ४२९ तक है। वह खान्तिप्पस् का पुत्र था। उसका चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली था, कोई उसको भ्रष्ट नहीं कर सका। वह अत्यन्त मितभाषी था। ई० पू० ४४३ से ४२९ तक वह बराबर सेनापति चुना जाता रहा। उसके मित्रों में

प्रोतागोरास् फिदियास्, सौफ़ोक्लेस्, एवं हेरोदोतस् जैसे चोटी के व्यक्ति थे। उसने अश्पाशिया नामक एक वाराङ्गना को अपनी जीवन-सहचरी बनाया; वह अत्यन्त चतुर और विदुषी थी। इसके समय में अथेन्स की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। पर वह स्पार्टा के साथ होनेवाले युद्ध में सफल नहीं हो सका।

२. लोकनायक-पद इस समय अथेन्स में एक अर्द्ध सरकारी–पद जैसा हो चला था। मूल ग्रीक भाषा में इसके लिये "प्रोस्तातेस् तू देम्" शब्द आये हैं। पर इसका प्रयोग केवल जनतंत्रवादी दल के नेता के लिये ही होता था।

३. यह थूकी दि दे(दी) स् इतिहास लेखक थूकीदिदेस् से भिन्न है। इसका पेरीक्लेस् से विरोध था। ई० पू० ४४३ में इसको निर्वासित कर दिया गया।

४. नीकियास् या निकियास् ने उस सन्धि के लिये प्रयत्न किया जो ई० पू० ४२१ में अथेन्स और स्पार्टा के मध्य में स्थापित हुई थी। यह "नीकियास् की शान्ति" कहलाती है। जब इसको सिसिली के अभियान पर भेजा गया तो यह रुग्ण था। वहाँ यह शत्रुओं के द्वारा मार डाला गया। इसके पश्चात् अथेन्स के भाग्य ने पल्टा नहीं खाया।

५. क्लेयॉन् जाति का मोची था। यह बड़े उग्रस्वभाव का था और पैलोपोनेशियन युद्ध में इसने अत्यन्त उग्र और कठोर नीति का समर्थन किया था। युद्ध के बन्दियों और हारे हुए प्रजाजनों को यह ग़ुलाम बनाना या मार डालना उचित समझता था। एकाध स्थान पर इसकी सफलता ने इसको इतना अभिमानी बना दिया कि अन्त में अम्फीपोलिस के युद्ध में इसको पराजय और मृत्यु प्राप्त हुई। इसकी मृत्यु का समय ई० पू० ४२२ है। इसकी मृत्यु के पश्चात् नीकियास् की शान्ति स्थापित हुई।

६. पीठिका के लिये मूल में "बेमा" शब्द है जिसका अर्थ है वह ऊँची पीठिका जिस पर खड़े होकर परिषद् के वक्ता अथेन्स में भाषण किया करते थे।

७. थेरामैनीस् सम्पन्न लोगों के दल का नेता था। इसको ई० पू० ४११ की क्रान्ति के समय प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसने अतिवादी धनिकतंत्री और अतिवादी प्रजातंत्री दल के मध्य की नीति को अपनाया। इसी प्रकार की व्यवस्था का भी प्रतिपादन इसने किया। आगे चलकर यह तीस तानाशाहों में सम्मिलित हुआ। इसका क्रीतियास से विरोध हो गया और ई० पू० ४०४ में मार डाला गया। अरिस्तू इसका प्रशंसक है।

८. दियौनीसियस् के उत्सव पर नाटक देखने के लिये एक स्थान का (टिकट) २ औबल था। क्लेयोफ़ॉन ने इसको सार्वजनिक कोष से दिलाने का नियम चलाया।

२९

१. सिकैलिया अथवा सिसिली का अभियान और उसमें हुआ अथेन्स के बेड़े का विनाश अथेन्स के इतिहास की एक ऐसी विकट घटना थी जिसने अथेन्स की कमर तोड़

दी। अल्कीवियोदस् लामाकस् (खस्) तथा नीकियास् इस अभियान के नेता थे। पर यह आक्रमण जितनी शीघ्रता और स्फूर्ति के साथ चलाया जाना चाहिये था नीकियास् की ढुलमुल नीति से वैसा न हो सका। इसी बीच में सिराकूज को स्पार्टा से सहायता मिल गई। अथेन्स की ओर से भी देमोस्थिनेस् सहायता लेकर पहुँचा। फिर भी ई० पू० ४१३ में अथेन्स का बेड़ा और सेना पूर्णतया विध्वस्त हो गये। इससे अथेन्स के धन और जन की अपार क्षति हुई।

२. यह संभवतया वह जनरक्षासमिति थी जो उपर्युक्त अभियान की दुर्घटना का समाचार अथेन्स पहुँचने पर तत्काल स्थापित की गई थी।

३. प्रीतानी (ने)स् के लिये ४३ वाँ खण्ड देखिये।

४. ११ के लिये आगे ५२ वाँ खंड देखिये।

३०

१. यह पाँच सहस्र या तो सभी शस्त्रधारण करने योग्य व्यक्तियों की संज्ञा थी अथवा यह लोग औपचारिक प्रकार से १०० की परिषद् द्वारा चुन लिये गये थे।

२. यह व्यक्ति यूनानी लोगों की धर्मसभा (अम्फिक्तियौने) में भेजा जाया करता था। इस धर्म सभा की बैठकें वर्ष में दो बार होती थीं, एक बार देल्फ़ी में दूसरी बार थर्मोपीलाए में। इस धर्मलेखक के साथ एक प्रतिनिधि भी और जाता था जो पीलागौरस् कहलाता था।

३. यह पदाधिकारी देलौस के राष्ट्रमंडल के राष्ट्रों से कर उगाहते और एकत्रित करते थे। कुछ समय उपरान्त यह राष्ट्र अथेन्स के साम्राज्य के अधीन हो गए, तब भी यह पदाधिकारी अपना कार्य करते रहे। साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् इनकी आवश्यकता न रही।

३१

१. सोलौन् के विधान के अनुसार।

२. अर्थात् ज्यों ही ५००० की सूची तैयार हो जाय।

३२

१. कल्लियास् का वर्ष ई० पू० ४१२ और इसकी समाप्ति में दो मास शेष थे। अतएव चारसौ के पदग्रहण का समय ई० पू० ४११ था।

२. थार्गी (गे) लियन् लगभग मई मास के आसपास पड़ता था।

३. स्किरौफोरियोन् लगभग जून मास में पड़ता था।

४. दस सेनाध्यक्षों से तात्पर्य है।

३३

१. एरेट्रिया भी यूबोइया द्वीप में ही है जो अथेन्स के पूर्व में है।

२. अरिस्तू थेरामेनी(ने)स् का प्रशंसक है क्योंकि वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करने का परामर्श देता था।

३४

१. ग्रीक गणित में ६ के लिये ७ का प्रयोग होता है।

२. दस सेनापतियों की संख्या ठीक नहीं है। दो युद्ध स्थल पर नहीं थे, दो अथेन्स लौट कर ही नहीं आये। छः पर अभियोग चलाया गया और उनको प्राण-दण्ड दिया गया।

३. अर्थात् वे स्वयं ऐसी परिस्थिति में नहीं थे जो दूसरे जलसैनिकों को डूबने से बचाते। पर वे इसी आरोप के आधार पर दंडित किये गये कि उन्होंने सैनिकों को डूबने से नहीं बचाया। वे बेचारे स्वयं ही डूब रहे थे।

४. युद्ध की तैयारी का प्रदर्शन करते हुए।

५. "अएगोस्पोतामी" का अर्थ "अजा नदी"। इस नदी के युद्ध में अथेंस की पूर्ण पराजय हो गई।

६. अतिवादी धनिकतंत्र दल के सदस्य।

३५

१. ई० पू० ४०४–४०३।

३७

१. थ्रासीबुलस् अथेन्स के जलसेनाध्यक्षों में से एक था। इसके एक साथी का नाम थ्रासीलल्स् था। इन दोनों ने मिलकर ४०० के शासन का विरोध किया और अल्कीबियादी(दे)स् को लौटवाया। इन दोनों ने ई० पू० ४११ में 'कोनोस्सेमा' स्थान पर स्पार्टा के बेड़े को भी परास्त किया। निर्वासितों का नेता बन कर इसने 'तीस' को भी छकाया।

२. यूसगढ़ का निर्माण ४०० के शासनादेश से आरंभ हुआ था। थेरमैनेस् एवं उसके साथियों को इस में धनिकतंत्रवादियों का षड्यंत्र सूझ पड़ा कि स्यात् वे बन्दर-

गाह को स्पार्टा को सौंपना चाहते हैं। अतएव इन लोगों ने जनता को उत्तेजित करके इस गढ़ को ढहवा दिया।

३. कुछ लेखक इस घटना का विवरण भिन्न प्रकार से देते हैं। मुख्य वात यह थी कि उसका क्रितियास् से विरोध हो गया था और क्रितियास् ही ३० के शासन का नेता था। यह घटना ई० पू० ४०४ की है।

३८

१. प्रायः इतिहास लेखकों ने प्रथम "दस" के शासन का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वह वहुत थोड़े समय रहा।

२. क्षेनोफोन् ने यह संख्या १५ वतलाई है।

३९

१. अर्थात् ई० पू० ४०३ में।

२. ऐल्यूसिस् नगर अथेन्स से १० मील की दूरी पर उत्तर पश्चिम में स्थित है। यहाँ देनेतेर देवी का मन्दिर था। इसको पारसीक सैनिकों ने नष्ट कर दिया था पर पैरीक्ली(क्ले)स् के समय में पुनः इसका निर्माण किया गया था।

३. एल्यूसिस् की रहस्य-लीलाओं का प्रवन्ध प्राचीनकाल से इन्हीं दो परिवारों के हाथ में था।

४. यहाँ एक पाठान्तर के अनुसार यह भी अर्थ हो सकता है "उन मनुष्यों के न्यायालय के समक्ष जो कर देने योग्य सम्पत्ति प्रदर्शित कर सकते हों।"

५. एक पाठान्तर के अनुसार यहाँ यह अर्थ भी हो सकता है कि "जो अपना हिसाव न दिखला सकें वह पृथक् हो सकते हैं।"

४०

१. संभवत: ई० पू० ४०१ में।

४१

१. प्रथम परिवर्त्तन इसलिये कि इयॉन् की व्यवस्था तो व्यवस्था का आरंभ थी, परिवर्त्तन नहीं थी।

२. अर्गिहियस् कोई वहुत प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं था। इसका समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम और चतुर्थ आदि भाग है।

३. अरिस्तोफ़ानेस् के "एक्क्लैसियाज़ुसाए" नामक नाटक के अध्ययन से पता चलता है कि तीन ओवल का भत्ता इस नाटक के ई० पू० ३९२ में प्रथम अभिनय से कुछ थोड़े समय पूर्व ही नियत हुआ होगा। भत्ते का आरंभ भी इससे बहुत वर्ष पहले नहीं हुआ होगा।

४२

१. इस उत्सव में सभी नागरिक और विदेशी अतिथि भी एकत्रित होते थे।

२. अथेन्स के उत्तराधिकार के नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति केवल पुत्री को छोड़ कर मर जाता था तो यदि वह सम्पत्तिशाली होता था तो कन्या उसकी सम्पत्ति की स्वामिनी नहीं बन सकती थी। उसका निकटतम संबंधी उसके साथ विवाह करने का अधिकारी होता था और इस विवाह से उत्पन्न पुत्रों को नाना की सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता था। ऐसी कन्याएँ रक्षिताएँ कहलाती थीं। यदि रक्षिता निर्धन होती थी तो या तो उसके निकटतम संबंधी को उसके साथ विवाह करना पड़ता था या उसके लिये यौतुक (दहेज) का प्रबन्ध करना पड़ता था। इस प्रकार की रक्षिताओं की देखरेख करना आर्खन का विशेष कर्तव्य था।

३. यहाँ कुटुम्ब से तात्पर्य अत्तिका और अथेन्स के पुरातन आदि कुटुम्बों से है। यही "खान्दानी" लोग कहलाते थे। साधारण कुटुम्बों के लिये यह सुविधा नहीं थी।

४३

१. रंगनिधि वह कोष था जिससे नागरिकों को थियेटर देखने के लिये अथवा उत्सवों के लिये पैसा दिया जाता था।

२. अथेंस में ताज़े पानी की कमी थी अतएव स्रोतों के अध्यक्ष का भी कुछ महत्त्व था।

३. पानाथेनिक उत्सव अत्तिका के वर्ष के प्रथम महीने के अन्त में मनाया जाता था। आर्खन इसी मास में अपना पदग्रहण किया करता था; संभवतया अन्य पदाधिकारियों के पद-ग्रहण करने का समय भी यही था। बड़ा पानाथेनिक उत्सव चौथे वर्ष में होता था।

४. अत्तिका का वर्ष सामान्यतया ३५४ दिनों का होता था। यह बारह चान्द्रमासों में विभक्त था जो ३० और २९ दिन के मासों के पर्याय से गिने जाते थे। सौरगणना से मेल मिलाने के लिये पहले प्रत्येक दूसरे वर्ष एक अधिक मास जोड़ा जाता था, कुछ समय पश्चात् प्रत्येक आठ वर्षों में तीन अधिक मास जोड़े जाने लगे और अन्त में १९

वर्षों में ७ मास जोड़े जाते थे। अधिक मासवाले वर्षों में प्रीतानियों की पारी ३६ और ३५ दिन के बदले ३९ और ३८ दिन की हो जाती थी।

५. थौलस् (=गोलघर) प्रीतानियों का सरकारी निवास-स्थान था जो अरेयोपागस् के उत्तरपूर्व में संसदभवन के समीप स्थित था।

६. यदि किसी का कोई प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नहीं होता था तो निकटतम संबंधी को उत्तराधिकार के लिये आर्खन के द्वारा राष्ट्र से प्रार्थना करनी पड़ती थी।

७. मूल में शिकायत के लिये 'लेक्षिस्' और प्रार्थनाओं के लिये "हिकैतेरिया" शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

४४

१. संरक्षक के लिये मूल में "प्रोएद्रस्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। पाँचवीं शताब्दी में तो प्रीतानी स्वयं अध्यक्ष का कार्य करते थे। पर चौथी शताब्दी में यह कार्य संरक्षकों के द्वारा किया जाने लगा।

२. सातवीं अथवा उसके पश्चात् की पारी से अभिप्राय है। वर्षा और मेघगर्जन इत्यादि अशुभ लक्षण माने जाते थे। पर प्नीक्ष नामक स्थान पर होनेवाली बैठकों के लिये अच्छे लक्षणों की आवश्यकता भी थी। प्नीक्ष नामक स्थान अक्रोपौलिस से पश्चिम की ओर एक पहाड़ी को काट कर अर्द्धचन्द्राकार थियेटर के रूप में बनाया गया था। इस स्थान पर संसद की बैठक होती थी और यहाँ २०००० मनुष्य बैठ सकते थे। अध्यक्ष के लिये वेदिका भी थी।

४५

१. लीसीमारवस और यूमैलीदी (दे)स् के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है उसके अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नहीं है।

२. न्यायालय से तात्पर्य सार्वजनिक न्यायालय से है जो "दिकास्तेरियौन्" कहलाता था तथा जिसके महत्त्व का वर्णन ९ वें खण्ड में किया जा चुका है।

३. इसके लिये खंड ५९ देखिये।

४६

१. त्रिरीमी और चतुर्रीमी जहाजों अथवा बड़ी नौकाओं के प्रकार हैं। इनमें क्रमशः पतवारों की ३ और ४ पाड़ें होती है। चारपाड़ों वाली नौकाएँ अथेन्स में ई० पू० ३३० से कुछ ही वर्ष पूर्व बननी आरंभ हुई थीं। ई० पू० ३२५ में पाँच पाड़ोंवाली नौकाएँ भी बनने लगी थीं। पर उनका वर्णन इस पुस्तक में नहीं किया गया है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक की रचना अथवा पुनरावृत्ति का समय ई० पू० ३२९ और ३२५ के मध्य में निश्चित होता है।

४७

१. यों तो दोनों मन्दिरों के कोष थे पर अथेना के मन्दिर का महत्त्व बहुत अधिक था। कहते हैं कि विजया की ९ सोने की मूर्त्तियाँ थीं पर पेलोपोनेशियन युद्ध के अन्तिम दिनों इनमें ८ को गला कर उनके सिक्के ढाल दिये गये।

२. यहाँ पर मूलपाठ मिट गया है। पर जो संख्या मिट गई है वह ३ या १० हो सकती है।

३. वाड़ों से घिरी हुई देवभूमियों से तात्पर्य है।

४८

१. सभी अभियोग न्यायालय के समक्ष किसी अधिकारी द्वारा ही ले जाये जाते थे।

४९

१. इनको "प्रोद्रोमॉस्" कहा जाता था।

२. जो पुरानी पहले की नामावलियाँ है वे खोली जाती हैं।

३. इसको लड़कियाँ काढ़ा करती थीं। इस पर कढ़ाई में पौराणिक कक्षाओं को अंकित किया जाता था और प्रत्येक महान् पानाथेनिक उत्सव में यह चादर एक जलूस बनाकर ले जाई जाती थी और अथेना देवी को पहनाई जाती थी।

५०

१. वह स्त्रियाँ जिनकी आजीविका संगीत द्वारा चलती थी। इनको लोग उत्सवों इत्यादि पर (भाड़े पर On hire) उपनियुक्त करते थे।

२. स्तादिया शब्द स्तादियॉन् का बहुवचन है। एक स्तादियॉन् ६०६$\frac{3}{4}$ फुट होता था।

५२

१. वह अभियोग जो इतने आवश्यक होते हैं कि उनका निर्णय एक महीने में ही हो जाना चाहिये।

२. यह अभियोग त्रिरीमी नौका का कप्तान अपने उत्तराधिकारी के ऊपर तब चलाता था जब कि उत्तराधिकारी ठीक समय नाव का कार्यभार अपने ऊपर नहीं लेता था।

५३

१. सरनाम के लिये मूल में "ऐपोनीमी" (बहुवचन ऐपोनीमस् एक वचन) आया है। दस ऐसे ख्यातनामा व्यक्तियों के नाम पर अथेन्स की जनता के दस-गणों के नाम पड़े थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अथेन्सवासी नागरिक से १८ वर्ष की अवस्था से ५९ वर्ष की अवस्था तक ४२ वर्ष सैनिक सेवा का कार्य लिया जा सकता था अतएव ४२ वर्षों की एक नामावली की तालिका भी ४२ ख्यातनामा महापुरुषों के नामों के आधार पर बनी हुई थी। जिस प्रकार भारतीय ज्योतिष वर्षों के नामों का चक्र ६० तक पहुँचता है, यूनान् में यह संख्या ४२ थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सेवा के अन्तिम वर्ष में मध्यस्थ के रूप में कार्य करना पड़ता था।

२. जिस वर्ष में जो व्यक्ति आर्खन होता था उस वर्ष का नाम उसी के नाम पर चलता था।

५४

१. जो व्यक्ति किसी सार्वजनिक पद पर अधिकृत होता था उसको अपने कार्यकाल की समाप्ति पर अपने कार्यों और लेखों (हिसावों) का परीक्षण कराना पड़ता था। इस अवसर पर कोई भी नागरिक उसके प्रति आरोप लगा सकता था।

२ यह पद उन विदेशियों को सम्मानार्थ दिया जाता था जो अपने नगरराष्ट्र में अथेन्स के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे।

३. मूल ग्रीक में इन उत्सवों को पंच वार्षिक और सप्तवार्षिक कहा गया है पर अनुवादकों ने इनका अनुवाद प्रति चार वर्ष में अथवा छः वर्ष में होनेवाले उत्सव का किया है। यहाँ अनुवाद को मूलानुसारी रखा गया है। सम्पादकों ने इन वाक्यों के पाठ को भ्रष्ट माना है।

४. इस घटना के उल्लेख से इस पुस्तक की रचना अथवा संशोधन का समय निश्चित हो जाता है।

५५

१. देखो खंड ३, ८, २४ और २६।

२. जिसके नाम पर शासनवर्ष का नाम पड़ता है।

३. यह अथेन्सवासियों के गृह-देवता हैं।

४. प्रारंभ में यदि कोई आरोप लगानेवाला नहीं होता था अथवा होता भी हो तो मना लिया जाता था तो न्यायालय में एक व्यक्ति सबके लिये औपचारिक मतदान

करके कार्य समाप्त कर देता था। पर पीछे यह अनुभव हुआ कि लोग आरोप लगाने-वालों को वहला-फुसला लेते हैं। अतएव न्यायालय में विलकुल स्वतंत्र प्रकार से परीक्षण और मतदान की प्रथा स्थापित की गई।

५६

१. यह लोग "खौरेगॉस्" कहलाते थे। राष्ट्रीय उत्सवों में तीन त्रागेदी लेखक कवि और तीन कौमेदी लेखक कवि (ई० पू० चौथी शताब्दी में ५ कौमेदी लेखक कवि) प्रतिस्पर्द्धा में भाग ले सकते थे। कौन से कवि भाग लेंगे, इसका निर्णय आर्खन करता था। खौरेगॉस् का कर्तव्य खोरस् (अथवा कोरस्) के शिक्षण, भरणपोषण, और साज-सज्जा का प्रवन्ध करना था। कोरस् का कार्य सामान्यतया नृत्य और गीत प्रदर्शित करना था। पर नाटक के कोरस का कार्य कभी-कभी नाटक के पात्रों और कार्यों की आलोचना करना भी था। नाटक की मुख्य कथा का अभिनय करने के लिये अभिनेता आरंभ में कवि के द्वारा नियुक्त और शिक्षित किये जाते थे। पर कालान्तर में उनकी नियुक्ति राष्ट्र-द्वारा की जाने लगी। इसके विषय में अधिक विस्तार से अरिस्तु के काव्यशास्त्र के अनुवाद की भूमिका में लिखा जायगा।

२. यह "डिथीराम्व" नामक कविता-गायन का कोरस (गायकमंडल) होता था। इसमें गणों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा होती थी। थार्गेलिया का उत्सव मई के मास में होता था एवं दियोनीसिया का मार्च के आस-पास।

३. जिस व्यक्ति को आर्खन व्ययवाहक नियुक्त करता यदि वह समझता कि यह व्यय उसपर नहीं पड़ना चाहिये, किसी अन्य व्यक्ति पर (जो उससे अधिक धनवान् है) पड़ना चाहिये तो वह दूसरे व्यक्ति का नाम सुझा सकता था और यदि दूसरा व्यक्ति चाहता तो उसको उसके साथ परस्पर सम्पत्ति का अदल-वदल करना पड़ता था।

४. दैलॉस् एगियन् सागर में एक छोटा द्वीप है। यह यवन-पुराण-कथा में अपोलो और अर्त्तॆमिस् (सूर्यदेव और चन्द्रमादेवी) का जन्मस्थान माना जाता था। यहाँ पर वसन्त ऋतू में उत्सव होता था और अथेन्ससे एक तीस पतवारोंवाली नौका नवयुवकों को लेकर इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिये जाती थी। जव तक यह नौका लौट कर नहीं आती थी तव तक अथेन्स को पवित्र रखा जाता था। सॉक्रातेस के प्राणदण्ड को इसीलिये विलम्वित किया गया था।

५. अस्क्लेपियस् यूनान के अश्विनीकुमार हैं। यह अपोलो और कौरोनिस् की सन्तान है। अपोलो कौरोनिस् को प्रेम करता था। एक कौए ने अपोलो को यह वत-लाया कि कौरोनिस् व्यभिचारिणी है। इस पर अपोलो ने उसका वध कर दिया। पर पीछे उसको पता चला कि कौआ झूठ वोला था। तव उसने कौओं को श्वेत से काला वना

दिया और कौरोनिस् के पुत्र अस्क्लेपियस् की रक्षा की। अस्क्लेपियस् ने अनेकों चमत्कारपूर्ण चिकित्साएँ कीं। अथेन्स में इसका मन्दिर दियौनीसियस् की रंगभूमि के समीप था। इसके मन्दिर में पवित्र सर्प रखे जाते थे।

६. पर अन्य बहुत से अभियोगों में यदि वादी (अभियोक्ता) को न्यायालय के न्यायकर्ताओं के १।५ मत न मिलें तो उसको दण्ड भोगना पड़ता था।

७. रक्षिताओं के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यह विवाह के पश्चात् तव तक आर्खन की देख-रेख में रहती थीं जव तक कि इनकी सम्पत्ति की अधिकारिणी सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो जाती थी।

५७

१. यह अथेन्स के प्राचीन पुरोहितों के वंशधर थे।

२. यह छोटा दियौनीसिया उत्सव कहलाता था और जनवरी मास में होता था। इस समय ग्रीकभाषा के जो नाटक उपलब्ध होते हैं उनमें से वहुतों का अभिनय इसी उत्सव पर हुआ था। यह वड़े उत्सव के समान ठाट-वाट की वस्तु नहीं थी।

३. देखो खंड २० की टिप्पणियाँ।

४. यह स्थान और दैल्फ़ीनियन् दोनों अक्रोपौलिस् के दक्षिण पूर्व में थे।

५. जो व्यक्ति अनजाने में विना संकल्प के किसी की हत्या कर वैठता था वह मृत व्यक्ति के संवंधियों को धन देता था और उसको एक वर्ष के लिये निर्वासित किया जाता था। पर यदि मृत व्यक्ति के संवंधी उसको आज्ञा दे देते तो वह वर्ष की समाप्ति के पूर्व भी लौट सकता था।

६. इसके लिये "राजनीति" देखिये। स्थल पर आ जाने पर अपराधी पर प्रथम अपराध के लिये अभियोग चलाया जाता था।

७. एफेताये वहुत पुरातन काल से चले आते थे। पर यहाँ पर प्रस्तुत पुस्तक खंडित है कहा नहीं जा सकता कि यहाँ यही पाठ था अथवा नहीं।

८. यह एक अत्यन्त पुरानी प्रथा है। इस प्रकार के अभियोग तथा ऐसे अभियोग जिनमें अपराधी अज्ञात होता था "प्रीतानियन्" न्यायालय में सुने जाते थे।

५८

१. ऐन्यालियस् देवता युद्ध के देवता आरेस् का ही एक रूप है। वह ज्युस और हेरा का पुत्र है।

२. देखिये खंड १८। यह दोनों मित्र स्वतंत्रता के उपासकों के रूप में पूजित होते थे और इनकी मूर्त्तियाँ वनाई गई थीं। जरक्सीस् (क्षैरक्षैस्) इन मूर्त्तियों को

फ़ारस ले गया था। अलैक्ज़ाण्डर ने इन मूर्त्तियों को सूसा नगरी में देखा और वहाँ से इनको पुनः अथेन्स ले आया।

२. अथेन्स में रहनेवाले प्रत्येक विदेशी को किसी अथेन्सवासी नागरिक को अपना संरक्षक बनाना पड़ता था।

५९

१. वह पूर्व परीक्षण जो पदग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक पदाधिकारी के लिये आवश्यक था। जो लोग या अधिकारी वर्ग इस प्रकार का परीक्षण करते थे, ये लोग उनके समक्ष भावी पदाधिकारियों को प्रस्तुत कर देते थे। थैस्मौथीताए संख्या में ६ होते थे।

६०

१. देखिये खंड ४९।

२. मल्लक्रीडाओं इत्यादि में विशेषता प्रदर्शित करने पर एक तैलपूर्ण पात्र तथा जितून के पत्रों की माला उपहार में दी जाती थी।

३. इसका आशय यह है कि चाहे जितून के वृक्षों की दशा कुछ भी हो क्षेत्रस्वामी को इतनी तैल की मात्रा देना अनिवार्य था।

६१

१. युद्ध के व्यय का भार वहन करने के लिये असाधारण मात्रा में कर वसूल करने के लिये धनिक जनों के जो समूह बनाये जाते थे वे सिम्मौरी कहलाते थे। कुल समूहों की संख्या २० और इनमें १२०० धनिक व्यक्ति बटे हुए थे। सिम्मौरी का अर्थ है कर का भाग देने वाला समूह। प्रत्येक गण में २ सिम्मोरी थीं।

२. यह सम्पत्ति का अदल-बदल उसी प्रकार होता था जिस प्रकार का खौरेगॉस के प्रसंग में वर्णन किया जा चुका है। त्रिएरार्क बहुत ही धनवान व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। इनको एक त्रिरीमी नौका को पूर्णतया अपने व्यय से प्रस्तुत करना पड़ता था।

३. लैम्नस द्वीप हैलेस्पौण्ट के दक्षिण पश्चिम में है। यह अथेन्स के अधिकार में था।

४. पारालस् और सालामिनिया यह दो पवित्र राष्ट्रीय नौकाएँ थी। पर अलैक्ज़ाण्डर के समय में अम्मौनिया ने शालामिनिया का स्थान ले लिया था। यह दूसरी अम्मौनिया नामक नौका ज्युस अम्मौन् की पूजा के लिये भेजी जाती थी।

६२

१. थीसियस् का मन्दिर अक्रौपौलिस् के उत्तर पश्चिम में था।

२. अथवा डॉकों के रक्षक (Guards of the dock yards)

३. ग्रीक मुद्रा का अनुपात इस प्रकार है (१) ६ ओवल = १ द्राख्मा (२) १०० द्राख्मा = १ मिना या म्ना (३) ६० मिना = तालैन्त = ५८ पौण्ड चाँदी।

४. सामौस्, स्कीरौस्, लेम्नस और इम्ब्रौस् यह एगियन् सागर के द्वीप हैं।

६३

१. काप्पा ग्रीक वर्णमाला का दसवाँ अक्षर है। समग्र वर्णमाला के २४ वर्णो के नाम इस प्रकार हैं:--(१) अल्फ़ा (२) वेटा (ता) (३) गाम्मा (४) डेल्टा (देल्ता) (५) ऐप्सिलॉन् (६) जेटा (ता) (६) एटा (ता) (८) थेटा (ता) (९) इयोटा (ता) (१०) काप्पा (११) लम्ब्डा (१२) म्यू (१३) न्यू (१४) क्षी (१५) औमिक्रॉन् (१६) पी (१७) र्हो (१८) सीग्मा (१९) ताऑ (२०) अप्सिलॉन् (२१) फी (२२) खी (२३) प्सी (२४) ओमैगा। यूनानी लोग बहुत समय तक गिनने का काम इन वर्णों से ही लेते थे। पुस्तकों के अध्यायों और पृष्ठों की गिनती वर्णो के द्वारा ही की जाती थी। प्रस्तुत प्रसंग में समग्र न्याय-कर्ताओं को दस भागों में बाँट दिया जाता था और यह भाग प्रथम वर्ण से लेकर दसवें वर्ण तक से सूचित किये जाते थे। जितने न्यायालयों के लिये न्यायकर्त्ताओं की आवश्यकता होती थी उनकी संख्या वर्णमाला के ११ वें अक्षर को १ मानकर अगले वर्णों से की जाती थी।

६४

१. न्यायकर्त्ताओं के लिये मूल में दिकास्तेस्-(-तीस्) शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन अथेन्स में आज कल के समान न्याय और कानून के विषय में पारंगत न्यायाधीश नहीं होते थे। साधारण नागरिक ही न्यायकर्ता होते थे। दिकास्तेस् शब्द का अनुवाद अंग्रेजी में जूरर किया गया है। अथेन्स में जितने नागरिक नियमानुसार दिकास्तेस हो सकते थे वे दस भागों में विभक्त थे। एक गण में जितने न्यायकर्ता होते थे वे भी उप-र्युक्त दस भागों में विभक्त किये जाते थे। इससे यह परिणाम होता था किसी भी गण के सब अथवा अधिकांश न्यायकर्ता एक विभाग में ही नहीं हो सकते थे। प्रत्येक गण के एक विभाग के अन्तर्गत आनेवाले न्यायकर्ताओं के नामों के टिकट जो "पिनाकिया" कहलाते थे एक बक्स या पेटी में रखे जाते थे। इस प्रकार की सौ पेटियाँ होती थीं।

जिस समय जितने न्याय-कर्ताओं की आवश्यकता होती थी उसी के अनुपात से प्रत्येक पेटी से टिकटों की एक समान संख्या वारी-वारी से निकाल ली जाती थी। प्रत्येक टिकट पर जिस न्यायालय में उसको काम करना है उसको गुटिका द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। इसके पश्चात् यह सब टिकट दस ऐसी पेटियों में डाले जाते थे जिन पर न्यायालयों की संख्या सूचित करनेवाला अक्षर अंकित होता था। इस प्रकार सब न्याय कर्ता विभिन्न न्यायालयों में काम करने के लिये चुन लिये जाते थे।

२. टिकट लटकानेवाला अपने अक्षरवाली पेटी में टिकट निकाल कर अपने अक्षर-वाली पटरी पर लकटाये इससे उनका क्रम निर्धारित हो जाता था। इसके उपरान्त आर्खन शलाका खींचता था। यदि यह श्वेतवर्ण की होती वह पटरी पर से पहले पाँच व्यक्तियों को ग्रहण कर लेता था और यदि काली होती तो पहले पाँच को त्याग देता था। इस प्रकार चुने हुए न्यायकर्ता पेटी से निकली पर्चियों के अनुसार न्यायालयों में बाँट दिये जाते थे। परिणाम यह होता था कि न तो इस बात की संभावना रहती थी कि एक ही गण के न्यायकर्त्ता एक न्यायालय में आ सकें और न पहले से किसी को यह पता चल सकता कि किस न्यायालय में कौन न्यायकर्ता नियुक्त है।

६६

१. घटिका से तात्पर्य "जलघड़ी" से है। यह "क्लेप्स्ह्य्द्रो" कहलाती थीं। वादी एवं प्रतिवादी को अपना भाषण करने के लिये नियमित समय दिया जाता था अतएव घड़ियों की आवश्यकता होती थी। जब भाषण के मध्य में साक्ष्य देने के लिये भाषण रुक जाता था तो घड़ी के जल को भी रोक दिया जाता था। अगला खंड देखिये।

६७

१. १ खूस लगभग ३।४ गैलन के बराबर होता है।

२. पोसीदियोन् मास दिसम्बर और जनवरी में पड़ता है जब कि दिनमान सबसे कम होता है।

वि० ६६–६८ खंडों का पाठ बहुत खंडित है।

—:०:—

अरिस्तू और राजनीति संबंधी साहित्य

१. वर्त्तमान अनुवाद इत्यादि के लिये प्रयुक्त पुस्तकें।

क. मूल पुस्तक

१. आइज़क कसौवाँ : अरिस्तू की समग्र रचनाएँ लैटिन अनुवाद सहित १६०५ई०
२. न्यूमैन : अरिस्तू की राजनीति ४ जिल्द १८८७-१९०२।
३. कैन्यॉन् : अथेनइयोन् पौलितेइया १९३७
४. रैकहम : „ „ „ „ १९५२

ख. अंग्रेजी अनुवाद

१. विलियम् एलिस्
२. वैल्डन्
३. जौवेट
४. वार्कर : वड़ी पुस्तक
५. „ छोटी पुस्तक
६. कैन्यॉन् : अथेन्स के संविधान का अनुवाद
७. रैक्हम् : „ „ „ „ „

ग. आलोचना इत्यादि

1. **A. E. Taylor** : Aristotle.
2. **W. D. Ross** : Aristotle.
3. **Mure** : Aristotle.
4. **Jaeger** : Aristotle.
5. **D. J. Allan** : The Philosophy of Aristotle.
6. **Barker** : Political thought of Plato and Aristotle.
7. **Thomson** : Plato and Aristotle.
8. **Bhandari and Sethi** : Studies in Plato and Aristotle.
9. **Leon Robin** : Greek Thought.

10. **Stace** : A Critical History of Greek Philosophy.
11. **Joad** : Guide to the Philosophy of Morals and Politics.
12. **Will Durant** : Story of Philosophy.
13. **Will Durant** : The Life of Greece.
14. **Livingstone (Ed.)** : The Legacy of Greece.
15. **Thilly** : History of Philosophy.
16. **Radhakrishnan (Ed.)** : History of Philosophy Eastern and Western.
17. **Bertrand Russel** : History of Philosophy.
18. **Ueberweg** : History of Philosophy.
19. **Windelband** : History of Philosophy.
20. **Lodge** : Great Thinkers.
21. **Thomases** : Living Biographies of Great Philosophers.
22. **Grote** : History of Greece.
23. **Muller and Donaldson** : Greek Literature.
24. **Gilbert Murray** : Ancient Greek Literature.
25. **Norwood** : Writers of Greece.
26. **Paul Harvey** : Oxford Companion to Classical Literature.
27. **Gow** : A companion to School Classics.
28. **Grant** : Aristotle.

अरिस्तू और राजनीति के सम्बन्ध में अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें

1. **Grote** : Aristotle.
2. **Gercke** : Aristotle in Pauly's Real-Encyclopedie.
3. **Gomperz** : Greek Thinkers Vol. IV.
4. **Brentano** : Aristotles und seine Weltanschauung.
5. **O. Hamelin** : Le Systeme d'Aristote.
6. **Zeller** : Aristotle and the Earlier Perpatetics.
7. **Rolfes** : Die Philosophie des Aristoteles.
8. **Stocks** : Aristotelianism.
9. **Robin** : Aristote.
10. **Mansion** : Le Jugement d'Chez Aristote.
11. **Cherniss** : Aristotle's Criticism of Presocratic Philosophy.

12. **Cherniss** : Aristotle's Criticism of Plato and the Academy.
13. **Rose** : De Aristotelio Librorum Ordine et Auctoritate.
14. **Rose** : Aristoteles Pseudepigraphies.
15. **Eucken** : Die Methode der Aristotelischeu Forschung.
16. **Von Arnim** : Zur Entstehungsgeschichte der aristotelischeu Politik.
17. **Plat** : Aristote.
18. **Werner** : Aristote et l'idealisme platonicien.
19. **E. Bignore** : L' Aristotele perduto e la formazione filosofia di Epicuro.
20. **Gilson** : La Philosophie au moyeu âge.
21. **Siebeck** : Aristoteles.
22. **Susemihl** : Politics.
23. **Shute** : On the History of....the Aristotelian Writings.
24. **Schwab** : Bibliographie d' Aristote.

———

1089